

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

# सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

## जिनवाणी-महोत्सव

# सहस्रग्रन्थसंग्रह

❊ जन्मदिवस 19–03–1971 ❊ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ❊ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

# लघु सिद्धान्त कौमुदी भाग-०२

लेखक
भीमसेन शास्त्री

प्रकाशक
भैमी प्रकाशन
दिल्ली-११००६

(परम्परानायक)



परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)



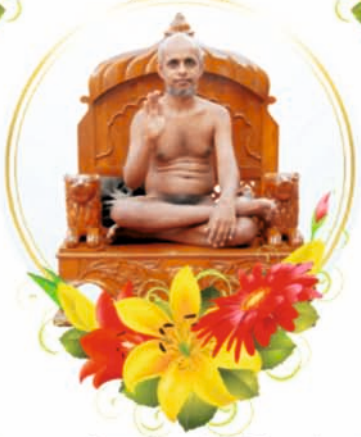
परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)



परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)



परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

# लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

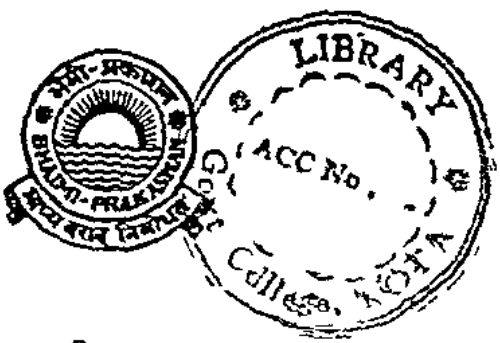
## भैमीव्याख्या

[ द्वितीय भाग ]

(दश गण तथा एकादश प्रक्रिया)


## भीमसेन शास्त्री

एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न



—प्राप्ति-स्थान—

भैमी प्रकाशन

५३७, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली—११०००६

प्रकाशक—

भैमी प्रकाशन

५३७, लाजपतराय मार्केट,

दिल्ली—११०००६



★

LAGHU-SIDDHANTA-KAUMUDI—BHAIMI-VYAKHYA
Part II

(Second Edition 1992)
द्वितीय संस्करण १९९२

102321

BHAIMI PRAKASHAN
537, Lajpat Rai Market, Delhi-110006

© BHIM SEN SHASTRI (1920)

*All rights reserved by the author. The book, or parts thereof may not be reproduced in any form or translated without the written permission of the author.*

**Price : Three hundred rupees only.**
**मूल्य : तीन सौ रुपये केवल**

मुद्रक—
राधा प्रेस, गांधी नगर,
दिल्ली

# व्याकरण-प्रशस्तिः




गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्त स्मर्यते बुधैः ।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ॥१॥

रूपान्तरेण ते देवा विचरन्ति महीतले ।
ये व्याकरण -संस्कार -पवित्रित-मुखा नराः ॥२॥

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥३॥

# ★ वैयाकरणमूर्धन्य की तुला में यह ग्रन्थ ★

वैद्यवर श्रीभीमसेन शास्त्री की नूतनतम कृति लघुसिद्धान्तकौमुदी की भैमीव्याख्या को देखने का अवसर मिला, देख कर चित्त अतीव प्रसन्न हुआ। इतनी विस्तृत व्याख्या आज तक कभी नहीं हुई। वरदराज की मूलकृति पाणिनीय-प्रवेश के लिये है, प्राथमकल्पिक छात्रों के लिये हैं। परन्तु यह व्याख्या न केवल उनके लिये है, अपितु उपाध्यायों के लिये भी है। प्रक्रियांश में यह अद्वितीय ग्रन्थ है। शब्दसिद्धि सर्वत्र स्फटिकवत् स्फुट और हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष और इतनी असन्दिग्ध और परिपूर्ण है कि इस के ग्रहण के लिये अध्यापक की अपेक्षा नहीं रहती। कौमुदीस्थ प्रत्येक धातु की अविकलरूपेण सूत्राद्युपन्यासपूर्वक सविस्तर सिद्धि दी गई है।

व्याख्यांश में भी यह कृति अत्यन्त उपकारक है। सूत्रादि में अनुवृत्ति, पदच्छेद, विभक्तिनिर्देश आदि सर्वत्र अनवद्यरूप से निष्पन्न हुए हैं। स्थान-स्थान पर धात्वर्थ-प्रदर्शन के लिये साहित्य से उद्धरण दिये हैं। धातूपसर्गयोग को भी बहुत सुन्दर काव्य-नाटकों से उद्धृत उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। यह इस कृति की अपूर्वता है।

इस व्याख्या के प्रणयन में शास्त्रीजी ने अथाह प्रयत्न किया है। महाभाष्य, न्यास, पदमञ्जरी आदि का वर्षों तक अवगाहन करके उन्होंने यह व्याख्या लिखी है। प्रक्रिया में शङ्का उठा कर जो जो समाधान भाष्यकारादि ने दिये हैं वे सभी यहां विशद रूप से उद्धृत किये हैं। रुदिहि, स्वपिहि आदि में झलन्त रुद् आदि से 'हि' को 'धि' क्यों नहीं होता, इस के चार समाधान दिये हैं (पृ० २८८)। दूसरे व्याख्याकारों के क्वाचित्क स्खलनों का प्रदर्शन भी यहां यथावसर किया गया है (पृ० २१६)। वृत्त्यादि के सूत्रार्थ में दीक्षित की सूक्ष्म दृष्टि का आश्रयण कर के यथेष्ट संशोधन भी किया गया है (पृ० ६२)।

इस प्रकार सर्वाङ्गसुन्दर यह व्याख्या समान रूप से छात्रों तथा उपाध्यायों के लिये उपादेय है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस का लोक में यथेष्ट प्रचार होगा।

**चारुदेव शास्त्री**

# ★ शुभाशंसनम् ★

उत्तरार्धे तिङन्तभागोऽय श्रीमद्वरदराजाचार्यप्रणीताया लघुसिद्धान्तकौमुद्या भैमीव्याख्ययोद्भासित । व्याकरणशास्त्रे कृतभूरिपरिश्रमाणा भीमसेनशास्त्रि-महोदयानामनन्यसाधारणा भक्तिर्व्याकरणे निष्ठा च छात्रवृन्दे । अत एव तैर्लघुसिद्धान्तकौमुदी स्वकीयया भैमीव्याख्ययोद्भासिता । गहन खलु व्याकरण-शास्त्र भवति च परिभवस्थान छात्राणां नूतनाध्येतृणा च । यद्यपि अध्ययनसौकर्यार्थमेव कौमुदीग्रन्था प्रणीता प्रवृत्ताश्च तथापि सुखबोध तैर्न सजायत इति सार्वजनीनोऽनुभव । अत एव व्याकरणग्रन्थानामाधुनिक भारतीयभाषया व्याख्यानमावश्यकमेवाधुना सञ्जातम् । धन्यवादान् खल्वर्हन्ति भीमसेनशास्त्रिणो यैरीदृश प्रयास समारब्ध । अय स्पृहणीयो विशेषोऽस्य ग्रन्थस्य यदत्र व्याकरणनियमविवेचनानन्तर प्रयोगप्रदर्शनार्थं सकलितानि उदाहरणानि रघु-कुमार-किरात-नैषध-मेघदूत-शाकुन्तल-मृच्छकटिकादिग्रन्थेभ्य । यथाऽहम्पश्यामि अत्र सरल विवेचन सोदाहरण स्पष्टीकरण विलोभनीय प्रमुत्व प्रशसनीय महाकाव्यनाटकादिविदग्धवाङ्मयावलोकनमेतेषा शास्त्रिमहोदयानाम्। न तच्चित्र स्याद्यदेभिर्गुणविशेषैरलङ्कृता भैमी छात्रहृदयप्रवेश लप्स्यते । शब्द-ब्रह्मणि दत्तावधाना एते महोदया अर्थब्रह्मणि निरपेक्षा उदासीनाश्च । अत एव मन्ये तैर्ग्रन्थप्रकाशन ईदृशी अर्थापत्ति स्वीकृता । न मे मनागपि सन्देहो यद् येषा भवति शास्त्रेषु पक्षपात, व्याकरणे रुचि, कृतपरिश्रमेषु आदरस्ते सर्वेऽपि अस्योत्तरार्धस्य एतद्ग्रन्थ-पूर्वार्धवद् हार्दिक्य स्वागत करिष्यन्ति । तथापीदमेव सम्प्रार्थ्यते –

**अलब्धगुरुपाठानां कौमुदी आतपायते ।**
**भैमीव्याख्याप्रसन्ना चेद् भवेत्कौमुदी कौमुदी ॥**


**T G.MAINKAR**
M.A.Ph.D.D Litt.
Bhandarkar Professor of Sanskrit & Head of the department, University of Bombay, BOMBAY – 20

**भाईणकरकुलोत्पन्नो**
**गोविन्दसूनुस्त्र्यम्बक.**
डॉ भाण्डारकराध्यासननियुक्त ,
प्रधानसस्कृतप्राध्यापको विभागाध्यक्षश्च
मुम्बई-विश्वविद्यालये ।

# प्राक्कथन

संस्कृतशिक्षाप्रणाली में व्याकरण का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विना व्याकरण के ज्ञान के शब्दसाधुत्व का ज्ञान नहीं हो सकता। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने इसे स्मृति की उपाधि देते हुए कहा है—**तस्मान्निबध्यते शिष्टैः साधुत्वविषया स्मृतिः** (१.२.९)। उन्होंने इसे सिद्धिसोपान के चरणों में प्रथमचरण और मोक्ष के इच्छुक जनों के लिये ऋजु राजमार्ग वताया है—

**इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।**
**इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः॥**

भारत में समय-समय पर अनेक व्याकरण लिखे जाते रहे हैं। प्रत्येक युग के अपने अलग-अलग व्याकरण हैं—**युगे युगे व्याकरणान्तराणि**। एक कारिका में इन के रचयिताओं की संख्या आठ वताई गई है। इस में आचार्य पाणिनि का भी उल्लेख है। 'आदिशाब्दिकाः' इस रूप में उस कारिका में उन वैयाकरणों का उल्लेख है—**जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः**। उन की संख्या केवल आठ ही नहीं थी इस से कहीं अधिक थी इस में कोई सन्देह नहीं है क्योंकि अपने से पूर्ववर्ती इन शाब्दिकों का उल्लेख तो आचार्य पाणिनि ने अपने सूत्रों में ही किया है। इस से यह सिद्ध है कि व्याकरण की परम्परा भारत में अतिप्राचीन है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में दस शाब्दिकों का उल्लेख होने पर भी उन में से किसी एक का भी समग्र व्याकरण अव उपलब्ध नहीं है। पाणिनि का व्याकरण अपने में इतना पूर्ण था, इतना परिपक्व था कि उस के सामने और कोई व्याकरण टिक नहीं सका। पूर्ववर्ती सभी वैयाकरण कालकवलित हो गये। केवल एक मात्र पाणिनि का व्याकरण ही समस्त संस्कृतसमाज पर छा गया। पाणिनि के सूत्रों से ही भाषा की शुद्धता-अशुद्धता का निर्णय होने लगा। सूत्रों के विरोधी वात कहने वाले की वात प्रामाणिक नहीं मानी जाती थी—**यो सुत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत** (महाभाष्य, पस्पशा०)। भाषा की सही पकड़ की दृष्टि से पाणिनीयव्याकरण का ज्ञान अनिवार्य था। उसी से ही अन्य शास्त्रों को भी जाना समझा जा सकता था। इसी कारण ही संस्कृतसमाज में एक सुप्रसिद्ध उक्ति चल पड़ी थी—**काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्।**

इस सर्वशास्त्रोपकारक पाणिनीय व्याकरण के अध्ययनाऽध्यापन की परम्परा भारत में अव लगभग ढाई हज़ार वर्ष से चली आ रही है। वीच में अनेकानेक व्याकरण वने पर वे पूरी तरह इस का स्थान न ले सके। परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रही। हां, देशकाल के अनुरोध से क्रम आदि में कुछ परिवर्तन अवश्य इसमें हुआ। शब्दसिद्धि की दृष्टि से जिसे कि प्रक्रियापद्धति कहा जाता है पाणिनि के सूत्रों का विषयों के आधार पर नवीन वर्गीकरण किया गया और यह समझा गया कि इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण अधिक सुगमता से समझ आ सकेगा। इस दिशा में सव से पहला प्रयास था वौद्ध वैयाकरण धर्मकीर्ति का जिसने ११वीं शताब्दी के लगभग पाणिनि के कतिपय उपयोगी सूत्रों का नये ढंग से वर्गीकरण कर **'रूपावतार'** की रचना की। इसके अनन्तर १४वीं शताब्दी के लेखक विमलसरस्वती ने **'रूपमाला'** में इस पद्धति को अपनाया। उसके एक शताब्दी पश्चात् रामचन्द्र ने **'प्रक्रियाकौमुदी'** की इसी पद्धति से रचना की। इसे पूर्णता प्रदान की सत्रहवीं शताब्दी के मूर्धन्य वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित ने जिसने **'वैयाकरण-सिद्धान्त-कौमुदी'** में पाणिनि के उन सूत्रों का भी समावेश कर लिया जिसे रामचन्द्र ने छोड़ दिया था। भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्त-कौमुदी अव एक ऐसा ग्रन्थ था जो नवीन पद्धति पर था और जिस में पाणिनि का एक भी सूत्र छूट न पाया था। ११वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई—विषयों

अथवा प्रकरणो के आधार पर पाणिनि के सूत्रो के वर्गीकरण की पद्धति सत्रहवीं शताब्दी मे आ कर पूर्णता को प्राप्त हुई।

इन्हीं महावैयाकरण भट्टोजिदीक्षित के शिष्य थे वरदराज, जिन्होंने बालको और किशोरो की सुगमता को दृष्टि मे रख **मध्यसिद्धान्तकौमुदी** और **लघुसिद्धान्तकौमुदी** नामक ग्रन्थ तैयार किये। इनमें लघुसिद्धान्तकौमुदी अत्यधिक लोकप्रिय हुई। वर्त्तमान में परिस्थिति यह है कि प्राचीनपद्धति के सस्कृत पण्डितों के घरो में सस्कृत-शिक्षा का प्रारम्भ लघुसिद्धान्तकौमुदी एव अमरकोष से किया जाता है। इन दोनों ग्रन्थो से बालक विशाल सस्कृतवाङ्मय में प्रवेश करता है।

इस लघुकौमुदी पर समय-समय पर बीसियो टीकाए और व्याख्याए लिखी गई हैं। इतने लोकप्रिय ग्रन्थ के लिये यह अस्वाभाविक न था। मुख्यतया परीक्षाओ मे इस ग्रन्थ के पाठ्यक्रम मे होने के कारण टीकाकारो व्याख्याकारो एव अनुवादको तथा प्रकाशकों को इस के विभिन्न सस्करण प्रकाशित करने मे उत्साह था। इसी कारण इस के अनेक सस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। उन्हीं सस्करणो की निरन्तर वर्धमान शृखला में वैद्य भीमसेन शास्त्री का प्रस्तुत सस्करण भी है जिसे तैयार करने मे उन्होंने कठोर परिश्रम एव आर्थिक विनियोग किया है। प्रस्तुत सस्करण बहुत सुन्दर बन पड़ा है। विषय को विशदरूप मे प्रस्तुत करने मे वैद्यजी ने अथक प्रयास किया है। व्याख्या कितनी विस्तृत है इस का पता इस से ही लग सकता है कि अकेले तिङन्त प्रकरण पर ही ७०० से अधिक पृष्ठ लिखे गये हैं। इस अश में व्याख्याकार ने कतिपय अन्य प्राचीन व्याख्याकारो का अनुसरण किया है। याज्ञवल्क्यस्मृति की **मिताक्षरा** या सिद्धान्तकौमुदी की **प्रौढमनोरमा** के समान प्रस्तुत ग्रन्थ बहुत कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रतीत होता है। व्याख्याकार ने अपनी व्याख्या में अनेक पाणिनीय एव अन्य वैयाकरणों के मतो का उल्लेख किया है, नाना शास्त्रार्थ दिये हैं, विभिन्न व्याख्याए प्रस्तुत की हैं। इस व्याख्या की विशेषताओ में सभी धातुओ के सभी लकारों के रूप, विभिन्न उपसर्गों के साथ भिन्न-भिन्न अर्थों मे धातुओं के प्रयोग एव च गणो के अन्त में अभ्यासो का उल्लेख किया जा सकता है। कहीं-कहीं व्याख्याकार ने भाषाविज्ञान के क्षेत्र मे भी प्रवेश किया है। इसी प्रकार यदा-कदा उन्होंने भाषा-वैज्ञानिक कल्पनाए भी की हैं। ये कल्पनाए अधिकाश ध्वनिसाम्य पर आधारित हैं। भाषाशास्त्रीय सम्प्रदाय की एक सुप्रसिद्ध उक्ति है–Sound philology is not sound philology (ध्वनि पर आधारित भाषाविज्ञान का आधार सुदृढ नहीं होता)।

लघुकौमुदी के पूर्वार्ध पर वैद्य जी की व्याख्या बहुत पहले प्रकाशित हो चुकी है। विद्वानो ने उस का जिस प्रकार स्वागत किया है उसी प्रकार वे इस के उत्तरार्ध के तिङन्तप्रकरण की व्याख्या का भी स्वागत करेंगे इसका मुझे पूर्ण विश्वास है। वैद्यजी का व्याकरण शास्त्र का अध्ययन गहन है, वे परिश्रमी भी हैं, उनमें सूक्ष्मेक्षिका भी है। इन सब गुणो का परिचय प्रस्तुत व्याख्या मे पदे पदे होता है। मैं वैद्यजी की इस सफल व्याख्या पर भूरि-भूरि साधुवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि उन की सशक्त लेखनी सस्कृतसमाज को इस प्रकार की अनेकानेक कृतियो से समान्वित करती रहेगी।

३/५४ रूपनगर, दिल्ली-७
२७ मई, १९७१

*डा० सत्यव्रत शास्त्री*
आचार्य एव अध्यक्ष,
सस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-७

# आत्मनिवेदन

लगभग २१ वर्षो के महाव्यवधान के वाद भैमीव्याख्या का यह द्वितीय भाग गुणग्राही विद्वज्जनों और विद्यार्थियों के आगे प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस भाग में लघु-सिद्धान्तकौमुदी के तिङन्तप्रकरण अर्थात् दशगण और एकादश प्रक्रियाओं का व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। संस्कृतव्याकरण में तिङन्तप्रकरण (Backbone) पृष्ठास्थि समझा जाता है। इसे पृष्ठास्थि समझे जाने के दो प्रमुख कारण हैं। पहला–इस में धातुओं का विवेचन होने से यह प्रकरण सम्पूर्ण व्याकरण का प्राण है, क्योंकि धातुओं से ही विविध प्रत्ययों के संयोग से अनेकविध शब्दों की सृष्टि होती है। दूसरा–प्रक्रियाविषयक जैसी जटिलता व गम्भीरता इस प्रकरण में देखी जाती है वैसी अन्य किसी भी प्रकरण में दृग्गोचर नहीं होती। जो इस प्रकरण की जटिलतम प्रक्रिया को एक बार हृदयङ्गम कर लेता है उसे फिर अन्यत्र कहीं कठिनाई का अनुभव करना नहीं पड़ता।

इस ग्रन्थ के निर्माण में बहुत काल लगा। दरजनों ग्रन्थों की कई बार आवृत्तियां करनी पड़ीं, अनेक दुर्लभ ग्रन्थों को खोजना पड़ा। किसी एक समस्या को लेकर कई दिनों तक निरन्तर सोचविचार चलता रहा। जब तक निःसन्देह नहीं हुए आगे नहीं बढ़े। केवल नाममात्र की व्याख्या प्रस्तुत करना अभीष्ट न था। ग्रन्थकार के एक-एक रहस्य का उद्घाटन करते हुए उस के अन्तस्तल तक पहुंचने का पूरा-पूरा यत्न करना उद्दिष्ट था। निदर्शनार्थ **'द्विर्वचनेऽचि'** (४७४) सूत्र को ही ले सकते हैं। सिद्धान्तकौमुदी में इसका **'द्वित्वनिमित्तेऽचि परे अच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये'** ऐसा अर्थ दिया गया है। परन्तु वरदराजजी ने लघुकौमुदी में इस का अर्थ देते हुए **'परे'** शब्द को हटा दिया है।–**द्वित्वनिमित्तेऽचि अच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये**। ऐसा क्यों किया गया है? वरदराजजी के आगे ऐसी कौन सी समस्या थी जिससे उन्हें विवश होकर **'परे'** पद को हटाना पड़ा? लघुकौमुदी की अद्यावत् मुद्रित किसी भी व्याख्या में इस के विषय में कुछ प्रकाश नहीं डाला गया परन्तु इस भैमीव्याख्या में इस पर खूब सोच विचार किया गया है और सिद्ध किया गया है कि वरदाराज जी ने यहां से **'परे'** पद को हटाकार अपनी अपूर्व बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है। केवल यही नहीं इस प्रकार के अनेक स्थलों के समाधान इस व्याख्या में यथासम्भव पूर्णरीत्या दिये गये हैं। संक्षेप में इस व्याख्या की निम्नस्थ छः प्रमुख विशेषताएं हैं–

## (१) रूपसिद्धि और रूपमाला

अविकल रूपसिद्धि और रूपमाला इस व्याख्या की पहली प्रमुख विशेषता है। आरम्भिक विद्यार्थियों तथा परीक्षार्थी छात्रों को इस की बड़ी आवश्यकता हुआ करती है। रूपसिद्धि में कहीं कोर-कसर नहीं छोड़ी गई। प्रायः डेढ़ सहस्र रूपों की सिद्धि इस में की गई है। स्पष्टता को दृष्टि में रखते हुए कहीं कहीं पुनरुक्ति की भी चिन्ता नहीं की गई। इस में जहां कहीं वैयाकरणों का मतभेद पाया जाता है उसका भी विस्तृत उल्लेख किया है। ऐसा करना व्युत्पन्न विद्यार्थियों तथा तुलनात्मक अध्ययन करने वालों के लिये अतीव आवश्यक था। इसी प्रकार एतद्ग्रन्थान्तर्गत प्रायः सवा तीन सौ धातुओं में से प्रत्येक धातु के दस लकारों की रूपमाला भी स्पष्ट लिख



भैमीव्याख्याकार डा० भीमसेन शास्त्री

दी है, कहीं भी 'तद्वत्' का प्रयोग नहीं किया। इस से इस व्याख्या के पाठको को धातुरूपावलियो की आवश्यकता नही रहेगी। इस के साथ साथ रूपमालाओ मे जहा कहीं सूत्रो का निर्देश जरूरी था वहा वह कोष्ठक या टिप्पणी मे कर दिया गया है। किञ्च यदि कोई प्रयोग किसी काव्यादि मे प्रयुक्त जान पड़ा है तो वह भी टिप्पण मे दे दिया है। इस से विद्यार्थियों का ध्यान लक्षणो के साथ साथ लक्ष्यो की ओर भी रहेगा। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है – लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्।

## (२) सूत्रो का अर्थ

सूत्रार्थ इस व्याख्या की दूसरी प्रमुख विशेषता है। तीन अक्षरो वाले सूत्र का पैंतीस-चालीस अक्षरो वाला अर्थ कैसे निष्पन्न हो जाता है? इस का यहा पूर्ण विवेचन किया गया है। सूत्र का अर्थ करने मे पदच्छेद, विभक्तिवचन, समास, अधिकार तथा अनुवृत्ति-निर्देश के अतिरिक्त अनेकविध परिभाषाओ तथा न्यायो का आश्रय लेना पड़ता है यह सब यहा प्रति-सूत्र उपपत्तिपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। आजकल के त्वरितवक्ता बनने वाले विद्यार्थी यद्यपि इस आवश्यक नहीं समझते तथापि इस की उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि पाणिनीयप्रवेशाय बनी लघुकौमुदी का अपने मूलस्रोत अष्टाध्यायी से सम्बन्धविच्छेद नहीं किया जा सकता। यदि मूल से इस का सम्बन्ध कट जाये तो कौमुदी कौमुदी (चन्द्रिका) ही न रहे अन्धतमिस्रा बन जाये। तब **'पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) 'असिद्धवदत्रा-ऽऽभात्' (५६२), 'तिङ्ञोप एकादेशे सिद्धो वाच्य' (वा०), 'पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तर बलीय', 'परमपि स्वरत्यादिविकल्प बाधित्वा–', 'विप्रतिषेधे पर कार्यम्' (११३)** आदि सब व्यर्थ हो जाये और सारा खेल ही बिगड़ जाये।

## (३) धातुओ के अर्थों का विवेचन

धात्वर्थों का विवेचन इस ग्रन्थ की तीसरी प्रमुख विशेषता है। शालाओ के छात्र धातुपाठ के सस्कृत अर्थ को रट तो लेते हैं परन्तु उन को धातुओ के अर्थ का वास्तविक ज्ञान नहीं होता। वे **'ध्वसुँ गतौ च' 'भ्रस्जँ पाके'** इत्यादि तो बता सकते हैं परन्तु **'गतौ** और **'पाके'** का यहा क्या अभिप्राय है – यह नहीं बता सकते। इसी प्रकार – **श्रा पाके, दुङ् प्रपूरणे, दिङ् उपचये, पुष पुष्टौ** आदि के विषय मे समझना चाहिये। इस व्याख्या म यथासम्भव प्रत्येक धातु के अर्थ को स्पष्ट करने का यत्न किया है। इस के लिये कहीं कहीं पाणिनीतर वैयाकरणो का उल्लेख भी किया है और कई जगह विशाल सस्कृतसाहित्य से चुने हुए प्रयोग भी उपस्थित किये हैं। साधारण अर्थ की व्यापकता तथा लाक्षणिकता का भी उदाहरणों द्वारा भरसक स्पष्टीकरण किया गया है (यथा - **रुधिँर् आवरणे, भिदिँर् विदारणे** आदि पर)। कुछ धातुओ के निम्न प्रयोग नहीं मिलते केवल उन से बने शब्द ही दृग्गोचर होते हैं, इसी प्रकार कुछ धातुए सस्कृत में इस समय सर्वथा लुप्त हो चुकी हैं परन्तु प्राकृत आदि अन्य भाषाओं मे उन के प्रयोग पाये जाते हैं – इन सब का विवेचन यथासम्भव तत्तत्स्थानो पर किया गया है। कुछ स्थानो पर भारोपीय भाषाओ के साथ सस्कृत धातुओ की तुलनाए भी दी गई हैं, परन्तु ये अन्तिम निष्कर्ष नहीं हैं इन मे वाद-विवाद की पूरी सम्भावना है। इस मे सस्कृत-विद्यार्थियों को भाषाविज्ञान की ओर आकृष्ट करना मात्र उद्देश्य रहा है। इस प्रकार के प्रयास आप्टे तथा मोनियर विलियम

के कोषों में भी किये गये हैं। कई लोग केवल ध्वनि-साम्य को भाषाविज्ञान का सुदृढ़ आधार नहीं मानते परन्तु जब एक ही परिवार की भाषाओं में अर्थ और ध्वनि का साम्य मिल जाता है तब वह भाषाविज्ञान के क्षेत्र में अवश्य विचारणीय बन जाता है। लघुकौमुदी पर इस प्रकार के भाषाविज्ञानसम्बन्धी टिप्पणों का यह प्रथम प्रयास है।

## (४) उपसर्गयोग

इस व्याख्या की चौथी प्रमुख विशेषता है उपसर्गयोग। प्रायः सब प्रसिद्ध २ धातुओं के अन्त में उपसर्गयोग दिये गये हैं। इस प्रकार लगभग चार सौ से अधिक उपसर्गयोग एकत्रित किये गये हैं। इन के साथ अर्थ तो दिये ही हैं परन्तु उन के लगभग एक सहस्र उदाहरण **वेद, ब्राह्मण, उपनिषत्, श्रौतसूत्र, आयुर्वेद, स्मृति, रामायण, महाभारत, पुराण, स्तोत्र, भास-नाटकचक्र, रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत, शाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, भट्टिकाव्य, किरातार्जुनीय, माघ, भर्तृहरिकृत शतकत्रय, हितोपदेश, पञ्चतन्त्र, कथासरित्सागर, कादम्बरी, उत्तररामचरित, महावीरचरित, अनर्घराघव, नैषध, भामिनीविलास, गीतगोविन्द** आदि सुप्रसिद्ध संस्कृतग्रन्थों से यत्नपूर्वक चयन किये गये हैं। सब के पते ठिकाने भी यथा-सम्भव दे दिये गये हैं ताकि मूलग्रन्थ में उन को खोजा जा सके। इस प्रकार इस व्याख्या के पाठक को **अनु √ भू** का उदाहरण केवल 'अनुभवति' ही नहीं बल्कि **'अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णम्'** यह कालिदास का सुन्दर वचन दृग्गोचर होगा। **अनु √ गम्** का उदाहरण **'विपत्तौ च महाँल्लोके धीरतामनुगच्छति'** यह हितोपदेश की सुन्दर उक्ति उपलब्ध होगी। **वि √ धा** का उदाहरण **'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्'** यह – किरातार्जुनीय की सुन्दर लोकोक्ति मिलेगी। **प्र √ भू** का उदाहरण **'नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति'** यह भर्तृहरि की सुन्दर स्वानुभूति प्राप्त होगी। उदाहरणों के चयन में प्रायः दृष्टिकोण यह रहा है कि इन से कुछ शिक्षा अथवा सूक्ति प्राप्त हो सके तो अच्छा है इस से व्याकरण और साहित्य का अभूतपूर्व समन्वय हो जाता है जो आगे चल कर विद्यार्थियों के लिये परम लाभप्रद सिद्ध होता है।

## (५) अभ्यास तथा नानाविध तालिकाएं

प्रथम भाग की तरह इस भाग में भी प्रत्येक प्रकरण के अन्त में दिये गये अभ्यास इस व्याख्या की पाञ्चवीं प्रमुख विशेषता हैं। ये अभ्यास अत्यन्त सावधानी वा श्रम से एकत्र किये गये हैं। इन में कुछ ऐसे प्रश्न भी दिये गये हैं जिन से विज्ञजन भी चौंक पड़ते हैं। परन्तु अभ्यासगत प्रश्नों के उत्तर सब इसी व्याख्या में निहित हैं। जो इस व्याख्या का सावधानी से मनन करेगा वह इन प्रश्नों को तुरन्त हल कर लेगा। संक्षेप में ये अभ्यास सारे प्रकरण को विलोडित कर नवनीतवत् निकाले गये सार हैं। इन अभ्यासों का हल करना मानो सारे प्रकरण को दुहरा कर आत्मसात् करना है। अभ्यासों की तरह नानाप्रकार की तालिकाएं भी इस व्याख्या की अपनी विशेषता हैं। यथा – णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त और भावकर्म-प्रक्रिया में सुप्रसिद्ध धातुओं के एक एक सौ रूपों का सार्थ संग्रह प्रस्तुत किया गया है। यङ्लुगन्त और कण्ड्वादियों का सार्थ संग्रह भी यत्न से गुम्फित है। इन से विद्यार्थियों को बहुत लाभ होगा।

## (६) तुलनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहन

इस व्याख्या मे स्थान स्थान पर पाणिनीतर वैयाकरणो तथा पाणिनीय व्याकरण के भी अनेक व्याख्याकारो के मतो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इस का उद्देश्य विद्यार्थियो मे तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति को जागृत करना है। आज के युग में तुलनात्मक अध्ययन के विना अध्ययन को अधूरा समझा जाता है और यह है भी ठीक। अत विद्यार्थियो को विद्यार्थिकाल में ही इस ओर रुचि बढ़ानी चाहिये। इससे अधीत विषय उत्तरोत्तर परिमार्जित तथा सुस्पष्ट होता चला जाता है। एक बार इस प्रवृत्ति के जागृत होने पर पाठक को स्वय इस के विना चैन नही आता। इस व्याख्या मे कहीं कहीं सूत्रो के अर्थों का ऐतिहासिक अनुशीलन भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। यथा **अस्तिसिंघोऽपृक्ते (४४५), अतो लोपः (४७०)** आदि पर।

इन प्रमुख विशेषताओ के अतिरिक्त इस व्याख्या की अन्य भी अनेक छोटी मोटी विशेषताए हैं। यथा–

**(क)** प्रत्येक धातु के अनुबन्धो का प्रयोजन वहीं सोदाहरण स्पष्ट किया गया है।

**(ख)** दरजनो परिभाषाओ का सोदाहरण विवेचन किया गया है।

**(ग)** प्रत्येक सूत्र के अवतरण से पूर्व उस की पूर्वपीठिका दी गई है जिस से समझने मे सुविधा रहे।

**(घ)** प्रत्येक फक्किका वा कठिनस्थल को अनेक उदाहरणो वा दृष्टातो से समझाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया गया है। निदर्शनार्थ आप **असिद्धवदत्राभात्, अच परस्मिन्पूर्वविधौ, स्वतन्त्र कर्ता, कण्ड्वादिभ्यो यक्, पुष्यसुपपदे०, सन्वल्लघुनि०, अत एकहल्०, लिँङ्निमित्ते लृङ्०, झदिनियम, परमपि स्वरत्यादिविकल्प बाधित्वा–स्थानषष्ठीनिर्देशाद्रोप धयोर्निवृत्ति, उप्रत्यये लघूपधस्य गुणो वा, यङ्लुगन्त** आदि की व्याख्या को देखे, आप की बुद्धि मे कोई सशय अवशिष्ट नहीं रहेगा।

**(ङ)** सूत्रो के अर्थों को हृदयङ्गम कराने के लिये अनेक स्थानो पर काशिका की शैली का अनुसरण करते हुए यथासम्भव प्रत्युदाहरण भी दिये गये हैं। परन्तु वे बाझिल न हो इसका पूरा ध्यान रखा गया है।

**(च)** प्रथम भाग की तरह इस भाग मे भी उपदेशावस्था के अनुनासिकचिह्नो को यथावत् अङ्कित किया गया है, इसे गुरु-परम्परा पर छोड़ा नहीं गया। यथा–लँट्, लिँट्, सिँच् आदि। कई स्थानो पर इस के प्रयोजनो पर ऊहापोह करते हुए विशेष टिप्पण भी दिये गये हैं। यथा–सिँच् के इकार के विषय मे पृष्ठ ७९ पर तथा तासि के इकार के विषय मे पृष्ठ ४१ पर टिप्पणी दी गई है।

**(छ)** लघुकौमुदी मे धातुओ की सख्या बहुत थोड़ी है। अत्यन्त प्रसिद्ध **पठ्, चल्, रक्ष्, भक्ष्, घ्रा, खाद्, धाव्, कम्प्** आदि धातुओ का भी उल्लेख नहीं है। इस कमी को पूरा करने के लिये व्याख्या में यत्र तत्र डेढ़ सौ के लगभग अत्यन्त प्रसिद्ध धातुओ की सार्थ रूपमाला प्रस्तुत की गई है। इस मे प्रधानत उन धातुओ का सग्रह किया गया है जिनकी सिद्धि वा रूपमाला मे लघुकौमुदी के सूत्रो से ही काम चल जाता है अन्य कोई सूत्र लगाना नहीं पड़ता।

**(ज)** कई स्थानों पर गणशब्दों को संगृहीत करने के लिये अथवा विषय के झटिति स्मरण कराने के लिये निज श्लोकों का भी निर्माण किया गया है। यथा मुचादियों को श्लोकवद्ध किया गया है।

**(झ)** कुछ स्थानों पर व्याकरणसम्बन्धी लोकप्रसिद्ध सुभाषितों, प्रहेलिकाओं तथा अन्य सुन्दर वचनों की भी व्याख्या प्रस्तुत की गई है। यथा–**'अपकमत'** (पृष्ठ २३९) तथा **'दो अन्तकर्मणि'** (पृष्ठ ४२०) पर।

लघुकौमुदी के प्रणयन में वरदराजजी का चाहे कुछ उद्देश्य रहा हो परन्तु आज लघुकौमुदी जहां बालकों के लिये उपयोगी है वहां वह प्रौढों के लिये भी है। इसे M.A. जैसी आलोचनाप्रधान उच्च कक्षाओं में अनेक विश्वविद्यालयों द्वारा पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत किया गया है। अन्य अनेक विषयों के स्नातकोत्तर प्रौढ व्यक्ति भी संस्कृत सीखने के लिये इस का सहारा लेते हैं। नवीन शैली से संस्कृत पढ़ने के बाद कई लोग प्राचीन शैली के रसास्वादन के लिये लघुकौमुदी का अध्ययन करते हैं। कुछ लोग भाषाविज्ञान के भारोपीय क्षेत्र में विशेष दक्षता प्राप्त करने के हेतु भी इस के अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं। ऐसे लोग आलोचनाप्रधान होते हैं। उन का मानस प्रतिक्षण नई नई शङ्काओं से तरङ्गित रहता है। वे बालकों की तरह सूत्रों के केवल शब्दार्थ से ही सन्तुष्ट नहीं हो सकते, उन को कुछ और भी चाहिये। इधर ऐसे विद्यार्थियों को पढ़ाने वाले प्राध्यापकों की संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है जो प्रायः नवीन शैली से संस्कृत का अध्ययन कर अध्यापनकार्य में प्रवृत्त हुआ करते हैं। पढ़ाते समय उन के मन में भी तरह तरह की शङ्काओं की ज्वाला उठा करती है, वे भी समाधान के लिये इधर-उधर दौड़ा करते हैं–पर सन्तुष्ट नहीं हो पाते। इसी प्रकार प्राचीन शैली से पढ़नेवाले छात्र भी जब प्रारम्भिक परीक्षाओं को उत्तीर्ण कर सिद्धान्तकौमुदी आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों को पढ़ने लगते हैं तो उन को वे स्थल समझ में नहीं आते कारण कि उन का लघु का ज्ञान ही कच्चा होता है। वे उन स्थलों को लघु में ही समझे नहीं होते। तब वे साहाय्य के लिये इधर-उधर दौड़ा करते हैं। इन सब को ध्यान में रखते हुए इस व्याख्या का प्रणयन किया गया है। यह व्याख्या न केवल प्रारम्भिक बालकों के लिये है अपितु प्रौढ विद्यार्थियों, उपाध्यायों, व्याकरणाध्यापकों, अन्वेषण-प्रेमियों एवं व्याकरण में रस लेने वाले जिज्ञासुओं के लिये भी लिखी गई है। सब को अपने अपने काम की बातें इस एक ही व्याख्या में उपलब्ध हो सकती है।

ध्यान रहे कि संस्कृतव्याकरण शुष्क विषय नहीं है। जो विद्यार्थी अपने अन्दर गहरा पैठने की प्रवृत्ति को एक बार जागृत कर लेता है उसे व्याकरण में भी काव्यों जैसा आनन्द आने लग जाता है। व्याकरणशास्त्र भी आनन्द की उद्भूति कराने में किसी अन्य शास्त्र से कम नहीं है। इस में काव्य जैसी सरसता, योगाभ्यास जैसी समाहितता, संगीत जैसी हृदय-द्रावकता तथा तर्कशास्त्र जैसा बुद्धिकौशल आदि सब गुण विद्यमान हैं। व्याकरण के शङ्कासमाधानों से भयभीत होकर इनको हेय नहीं समझना चाहिये। वस्तुतः ये शङ्कासमाधान ही व्याकरण के प्राण हैं। इन से ही व्याकरण की परिपक्वता, पररिनिष्ठितता, आनन्द की अपूर्व उद्भूति तथा व्याकरणशास्त्र की पूर्ण सफलता प्राप्त होती है। जिस प्रकार आजकल गणित आदि से बुद्धि को विकसित करने का कार्य लिया जाता है उसी प्रकार भारत में सदियों से व्याकरण द्वारा बुद्धिविकास तथा तर्कशक्ति को जागृत करने का कार्य लिया जाता रहा है।

यहां विद्यार्थियों के लिये भी एक बात कहनी आवश्यक है। जो लोग संस्कृतव्याकरण में विशेष दक्षता प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करनी ही चाहिये। क्योंकि बिना इसके न तो कोई व्याकरण का पण्डित हुआ है और न हो ही सकता है। इस युग में संस्कृतव्याकरण के सूर्य मातृ स्मरणीय गुरुवर्य स्वर्गीय प० हरनारायण जी त्रिपाठी (तिवारीजी) भी प्रतिदिन अष्टाध्यायी का पाठ करने के अनन्तर ही विद्यार्थियों को व्याकरण पढ़ाया करते थे। यह कार्य कठिन भी नहीं है। कोई भी विद्यार्थी धैर्यपूर्वक इसका नित्य पारायण करते करते इसे कुछ मासों में ही कण्ठाग्र कर सकता है। यदि कोई इतना न भी करे तो भी उसे मूल अष्टाध्यायी अपने पास रख कर कौमुदीपठित सूत्रों का अर्थ समझने का प्रयत्न करना चाहिये इस से उस में सूत्रार्थ समझने का सामर्थ्य उत्तरोत्तर बढ़ता चला जायेगा और आनन्द का अनुभव भी होने लगेगा। व्याकरण पढ़ने में सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि व्याकरण के ग्रन्थ उपन्यास आदि की तरह एक बार पढ़नेमात्र से कभी बुद्धिस्थ नहीं होते। इन का तो बार बार मनन और आवर्तन करना पड़ता है। कुछ बातें अभी समझ में आ जायेंगी, कुछ बातें दूसरी-तीसरी या और अधिक आवृत्तियों में स्पष्ट होंगी। आगे आगे पढ़ने से पूर्व पूर्व विषय स्वच्छ, स्पष्ट और परिमार्जित होता चला जाता है। विद्यार्थी को ज़रा धैर्य रखना चाहिये। अध्यापक वा गुरुजनों से एक बार समझ लेने के बाद इस व्याख्या की स्वयं अनेक आवृत्तियां करनी चाहियें। जो विद्यार्थी इस व्याख्या को ठीक ढंग से समझ कर इस में आनन्द लेने लगेगा उस को आगे चल कर **सिद्धान्तकौमुदी, तत्त्वबोधिनी, काशिका वा महाभाष्य** के गूढ़ स्थलों को समझने में भी किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होगी। उस की प्रवृत्ति व्याकरण के गहन वा गूढ़ स्थलों को समझने समझाने में अपने आप होती चली जायेगी।

इस ग्रन्थ के मुद्रण में भी बड़ा श्रम करना पड़ा है। इसी में प्राय दो वर्ष लग गये। कोई भी प्रेस इस कठिन कार्य को करने के लिये उद्यत नहीं होता था। बड़ी कठिनता से इस का मुद्रण दो प्रेसों और एक कम्पोजिंग एजेन्सी के द्वारा सम्पन्न हुआ है। संस्कृतव्याकरण का ग्रन्थ सुनते ही प्रेस वाले मुंह फेर लेते थे। संस्कृतव्याकरण में भी यह रूपमालामय तिङन्तप्रकरण ठहरा। इस में प्रतिपद नये नये टाइपों का उपयोग होता है। कई टाइप तो इस में ऐसे भी प्रयुक्त हुए हैं जो शायद दुबारा अन्यत्र कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुए। कुछ विशिष्ट टाइपों के लिये कई टाइप-फाउण्ड्रियों के लगातार कई दिनों तक चक्कर भी लगाने पड़े हैं। कुछ अक्षरों को अनुनय-विनयपूर्वक विशेष रीति से ढलवाया गया है। इस मुद्रणकार्य के प्रमुख सञ्चालक मेरे सुपुत्र चिरञ्जीव **पतञ्जलि शास्त्री** रहे हैं। अन्य बच्चों ने भी यथासम्भव सहयोग दिया है। इतना करने पर भी अनुदात्तेत् और स्वरितेत् धातुओं के लिये अनुदात्त और स्वरित चिह्नों की व्यवस्था नहीं कर सके इस का हम सब को खेद है। सम्पूर्ण दिल्ली नगर में इस की कोई व्यवस्था नहीं थी और दिल्ली से बाहर मुद्रण करा नहीं सकते थे।

यह तो सब हुआ सो हुआ पर सब से बड़ा सहयोग **श्री प० दीनानाथ जी शास्त्री सारस्वत**, भूतपूर्व प्रिंसिपल रामदलसंस्कृतमहाविद्यालय, दरीबा कला दिल्ली का प्राप्त हुआ है। आदरणीय शास्त्रीजी ने इस व्याख्या के प्रथमभाग में भी इसी प्रकार का सहयोग दिया था। इन्होंने आदि से अन्त तक इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को अक्षरशः विचारपूर्वक दो बार पढ़ा और स्थान स्थान पर अपने उपयोगी सुझाव दिये। शास्त्री जी व्यवहार में अत्यन्त विनम्र सरल और सात्विक पुरुष हैं। मैं हृदय से उनका कृतज्ञ हूँ।

**श्रद्धेय श्री पं० चारुदेवजी शास्त्री एम० ए० एम० ओ० एल० (पाणिनीय)** महोदयों ने भी इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि का अधिकांश भाग पढ़ कर अपने उपयोगी सुझाव दिये हैं। पितृकल्प वयोवृद्ध शास्त्री जी पाणिनीय व्याकरण में कृतभूरिपरिश्रम और स्नेह के अवतार हैं। उन से पितृतुल्य स्नेह पा कर मैं अपने आप को कृतकृत्य समझता हूं। उन के द्वार मेरे लिये सदा अनावृत रहे–इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूं। उन के सुझावों को भी इस ग्रन्थ में यथास्थान गुम्फित किया गया है। इस व्याख्या के विषय में पूज्य शास्त्री जी की सम्मति पहले दे चुके हैं।

**श्रीमान् डा० सत्यव्रत जी शास्त्री व्याकरणाचार्य, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग दिल्लीविश्वविद्यालय** का मैं हृदय से आभारी हूं जिन्होंने अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी मेरे आग्रह पर समय निकाल कर इस व्याख्या को यत्र-तत्र पढ़ा तथा इस का प्राक्कथन लिखकर मुझे तथा समस्त विद्वज्जनों को उपकृत किया है।

**श्रीमान् डा० त्र्यम्बक गोविन्द माईणकर, अध्यक्ष संस्कृतविभाग, बम्बई विश्वविद्यालय एवं डा० भाण्डारकर अध्यासननियुक्त** महोदयों का मैं चिरकृतज्ञ हूं। इन्होंने अत्यन्त आत्मीयतापूर्वक इस ग्रन्थ का शुभाशंसन लिखकर मुझे सम्मानित किया है। डा० जी सौजन्य की मूर्ति तथा संस्कृत के अनन्य भक्त हैं। सुरभारती की सेवा के लिये उन की तत्परता हम सब के लिये सदा अनुकरणीय है।

यह ग्रन्थ किसी आर्थिक लाभ के उद्देश्य से प्रकाशित नहीं किया गया। इसके प्रथम भाग के प्रकाशन में भी कई सहस्र रु० की हानि उठानी पड़ी थी। संस्कृतव्याकरण में इस प्रकार के वैज्ञानिक तुलनात्मक एवं विश्लेषात्मक अध्ययन को प्रोत्साहन देना तथा जनता की संस्कृतव्याकरण के प्रति अधिक से अधिक रुचि जागृत कराना ही उद्दिष्ट है। इस ग्रन्थ का तृतीय भाग भी तैयार होकर प्रेस में जा रहा है। आशा है अगले कुछ वर्षों में वह भी पाठकों के हाथों में पहुंच जायेगा। मैं इस पुनीतकार्य में प्रत्येक उस विद्यार्थी, अध्यापक, अनुसन्धानप्रेमी, संस्कृतानुरागी अथवा व्याकरणप्रेमी का सहयोग चाहता हूं जो इस व्याख्या के प्रशंसक हैं या रहे हैं, मेरा उन से नम्र निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ का अधिकाधिक प्रचार कर मेरे हाथ मजबूत करें ताकि उत्साहित होकर इस प्रकार की अष्टाध्यायी वा सिद्धान्तकौमुदी की भी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकूं।

इस ग्रन्थ के प्रूफसंशोधन का कार्य यद्यपि सुचारुरूप से हुआ है तथापि मानवसुलभ प्रमाद का यह अपवाद नहीं है। अतः क्वचित् अशुद्धियों का रह जाना स्वाभाविक है। आशा है विद्वज्जन अपनी उदारवृत्ति से क्षमा करेंगे।

यह है मेरा आत्मनिवेदन। अब आगे पाठकों का काम है कि लेखक को उत्साहित कर आगे सेवा करने का अवसर दें या न दें।

**अलमतिपल्लवितेन बुद्धिमद्वरशिरोमणिषु।**

मुकर्जी स्ट्रीट,
गांधीनगर, दिल्ली
१.७.१९७१ ई०

विदुषामनुचरो
**भीमसेनः शास्त्री**

द्वितीय आवृत्ति पर

# विशेष वक्तव्य

भैमीव्याख्या के इस द्वितीय भाग (तिङन्त-प्रकरण) का पुनर्मुद्रण हुआ है। छात्रो एवं प्राध्यापको की ज़ोरदार मांग के कारण वहुत दिनो से अप्राप्य भैमीव्याख्या का यह द्वितीय भाग अब आफ़्सेट् द्वारा पुनः छपवाया गया है। इस संस्करण मे अनेक स्थानो पर लेखक द्वारा संशोधन वा लघु परिवर्त्तन-परिवर्धन भी किये गये है। प्रथमसंस्करण की अनेक जगह टूटी मात्राओ वा अक्षरो को भी सुधार दिया गया है। सब से वड़ी दो बातें इस संस्करण मे मुख्यतः ध्यातव्य है—(१) अनुदात्तेत् वा स्वरितेत् धातुओ पर स्वर के चिह्न अङ्कित करना जो विश्व भर मे लघुकौमुदी पर किया जाने वाला प्रथम प्रयास है। इससे विद्यार्थियों को पाणिनिकालिक शैली का पूरा पूरा आभास मिल सकेगा। (२) ग्रन्थ के अन्त मे व्याख्यागत विशेष स्मरणीय पद्यो वा वचनों का संग्रह। इस से विद्यार्थियो को उनके कण्ठस्थ करने मे महती सुविधा रहेगी। अब सम्पूर्ण लघुकौमुदी पर यह भैमीव्याख्या छः खण्डो मे पूर्णतः मुद्रित वा प्राप्य है। विद्यार्थी, परीक्षार्थी वा व्याकरण के विशेषजिज्ञासु इस के पृथक् पृथक् खण्ड अपनी रुचि के अनुसार खरीद सकते हैं। विश्व भर के विद्वज्जनों ने इस व्याख्या की जो भूरि भूरि प्रशंसा की है लेखक उसके लिये उन का चिर आभारी रहेगा।

विनीत लेखक

३१.१. १९९२ ई०

भीमसेन शास्त्री

# लघु-सिद्धान्त-कौमुद्याः

## ★ तिङन्तप्रकरणस्य विषयानुक्रमणिका ★


(१) व्याकरण-प्रशस्तिः ..... [३]
(२) वैयाकरणमूर्धन्य की तुला में यह ग्रन्थ ..... [४]
(३) शुभाशंसनम् ..... [५]
(४) प्राक्कथन ..... [६-७]
(५) आत्मनिवेदन ..... [८-१५]
(६) दशगण्याम्–
१. भ्वादिगणः ..... १-२८३
२. अदादिगणः ..... २८३-३७१
३. जुहोत्यादिगणः ..... ३७१-४११
४. दिवादिगणः ..... ४११-४४९
५. स्वादिगणः ..... ४४९-४६१
६. तुदादिगणः ..... ४६१-५२०
७. रुधादिगणः ..... ५२०-५५०
८. तनादिगणः ..... ५५०-५६८
९. क्र्यादिगणः ..... ५६९-५९६
१०. चुरादिगणः ..... ५९७-६०८
(७) प्रक्रियाप्रकरणे–
१. ण्यन्त-प्रक्रिया ..... ६०९-६२०
२. सन्नन्त-प्रक्रिया ..... ६२१-६२८
३. यङन्त-प्रक्रिया ..... ६२९-६३७
४. यङ्लुगन्त-प्रक्रिया ..... ६३७-६४४
५. नामधातु-प्रक्रिया ..... ६४४-६५८
६. कण्ड्वादि-प्रक्रिया ..... ६५८-६६२
७. परस्मैपद-प्रक्रिया ..... ६६२-६७३
८. आत्मनेपद-प्रक्रिया ..... ६७४-६७८
९. भावकर्म-प्रक्रिया ..... ६७८-७०२
१०. कर्मकर्तृ-प्रक्रिया ..... ७०२-७०६
११. लकारार्थ-प्रक्रिया ..... ७०६-७१५
(८) परिशिष्टे–
१. अष्टाध्यायीसूत्रतालिका ..... ७१७-७२१
२. वार्त्तिकगणसूत्रतालिका ..... ७२१-७२१
३. धातुतालिका ..... ७२१-७२५
४. कारिकादितालिका ..... ७२५-७२६
५. विशेषद्रष्टव्यस्थलतालिका ..... ७२६-७२८
६. परिभाषादितालिका ..... ७२८-७२८
७. विशेष स्मरणीय पद्य या वचन ..... ७२९-७३२



# श्रीमद्वरदराजाचार्यप्रणीता

# लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

## (उत्तरार्धम्)

श्रीभीमसेनशास्त्रिनिर्मितभैमीव्याख्ययोद्भासिता



विश्ववाह पर ध्यात्वा पूर्वेषा वचनानि च ।
छात्र-ध्वान्त-हरा भैमी द्वितीयेऽर्धे वितन्यते ॥१॥
पूर्वार्धं भैमीव्याख्याया यद्वदत्यादृत बुधै. ।
तद्वदुत्तरमप्यर्धं भावीत्यत्र न सशय ॥२॥
श्रमस्य मे महन्मूल्य ज्ञास्यन्ति वीतमत्सरा ।
नापि सद् भासते सम्यग्दर्पणे मलिने क्वचित् ॥३॥

अब यहाँ से आगे धातुओं का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। यह प्रकरण संस्कृतव्याकरण का प्राणस्वरूप है। धातुओं से ही विविध प्रकार के क्रियारूपों तथा कृदन्तरूपों की सृष्टि हुआ करती है। शाकटायन आदि वैयाकरण तो प्रत्येक शब्द की निष्पत्ति किसी न किसी धातु से ही मानते हैं। अत विद्यार्थियों को यह प्रकरण प्राणपन से आत्मसात् करने का प्रयत्न करना चाहिये। जिस विद्यार्थी की इस प्रकरण मे जितनी गति होगी उसका संस्कृत-भाषा पर भी उतना अधिकार होगा—यह शतश अनुभूत सत्य है। यह भी ध्यान रहे कि व्याकरणप्रक्रिया मे तिङन्त-प्रकरण ही सबसे अधिक जटिल है, इस प्रकरण पर जितना परिश्रम करना पडता है उतना और किसी प्रकरण पर करना नहीं पडता। हम इस प्रकरण को पदे पदे विस्पष्ट करने का पूरा यत्न करेंगे, विद्यार्थियों से अनुरोध है कि यदि एक बार पढ़ने

से उन्हें पूरा पूरा बोध न भी हो तो भी वे हतोत्साह न हों। आगे आगे पढ़ने से पिछला पिछला अधिकाधिक स्पष्ट होने लगता है। अब सर्वप्रथम तिङन्तप्रकरण में अनुस्यूत दस लकार दर्शाए जाते हैं—

## अथ तिङन्ते भ्वादयः ॥

[लघु०] लँट्, लिँट्, लुँट्, लृँट्, लेँट्, लोँट्, लँङ्, लिँङ्, लुँङ्, लृँङ्। एषु पञ्चमो लकारश्छन्दोमात्रगोचरः ॥

अर्थः - (१) लँट्, (२) लिँट्, (३) लुँट्, (४) लृँट्, (५) लेँट्, (६) लोँट्, (७) लँङ्, (८) लिँङ्, (९) लुँङ्, (१०) लृँङ्। इन में से पाँचवाँ (लेँट्) लकार केवल वेद में ही प्रयुक्त होता है।

व्याख्या—लँट्, लिँट् आदि अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय में पढ़े गये प्रत्यय हैं। इन प्रत्ययों के अनुबन्धों का लोप होकर 'ल्' मात्र अवशिष्ट रहता है अतः इनको लकार कहते हैं। लकारों का दस प्रकार का होना अनुबन्धभेद के कारण ही समझना चाहिये, क्योंकि वस्तुतः तो ल् (लकार) यहाँ एक ही प्रकार का है।

इन दस लकारों में पांचवां अर्थात् लेँट् केवल वेद में ही प्रयुक्त होता है। लघु-कौमुदी में वैदिकप्रकरण नहीं अतः इस लेँट् लकार की आगे व्याख्या न कर शेष नौ लकारों की ही व्याख्या की जायेगी। लेँट् का वर्णन सिद्धान्तकौमुदी की वैदिक-प्रक्रिया के तृतीयाध्याय में किया गया है, विशेषजिज्ञासु उसे वहीं देखें।

लकारों में प्रथम छः लकार टित् और शेष चार ङित् हैं। टित् का प्रयोजन 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (५०८) आदि सूत्रों में तथा ङित् का प्रयोजन 'नित्यं ङितः' (४२१) आदि सूत्रों में स्पष्ट होगा।

लँट्, लिँट् आदि लकार प्रत्याहारक्रम से कहे गये हैं। यथा अ इ उ ण्, ऋ ऌ क्, ए ओ ङ्। 'लँट्' यहाँ लकारोत्तर 'अ' है। 'लिँट्' यहाँ लकारोत्तर 'इ' है। 'लुँट्' यहाँ लकारोत्तर 'उ' है। 'लृँट्' में लकार के बाद 'ऋ' है[1]। 'लेँट्' मे लकार के अनन्तर 'ए' है। 'लोँट्' में लकार के उत्तर 'ओ' है। इसी प्रकार लँङ्-लिँङ् आदि ङित् लकारों में भी समझ लेना चाहिये।

यहाँ आगे नौ लकारों का ही विवेचन किया जायेगा, परन्तु लिँङ् के द्विविध

---

१. 'ल्' में 'ऌ' मिलाने से उच्चारण जरा भद्दा और क्लिष्ट हो जाता है अतः मुनि ने 'ऌ' नहीं मिलाया।

(विधिलिंङ्, आशीर्लिंङ् ) होने से पुन लोक मे भी वैसे दस लकार हो जाते हैं [१]। यद्यपि लोंट् को भी द्विविध (विधिलोंट्, आशीर्लोंट्) माना गया है तथापि उसमें कुछ विशेष अन्तर न होने से उसे एक ही प्रकार का गिनने की प्रथा है [२]।

अब इन लकारो के अर्थों की व्यवस्था करने के लिये अग्रिम-सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्— (३७३) ल कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्य ।३।४।६९॥

लकारा. सकर्मकेभ्य कर्मणि कर्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो भावे कर्तरि च॥

अर्थ—लकार सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्ता मे तथा अकर्मक धातुओं से भाव और कर्ता मे हो।

व्याख्या—इस सूत्र मे दो वाक्य हैं, (१) ल कर्मणि च। (२) भावे च अकर्मकेभ्य । दोनों वाक्यो मे 'च' ग्रहण के कारण 'कर्तरि कृत' (७६९) सूत्र से 'कर्तरि' पद का तथा अधिकृत होने से 'धातो' पद का अनुवर्त्तन होता है।

प्रथम वाक्य यथा—ल ।१।३। कर्मणि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। कर्तरि ।७।१। ('कर्तरि कृत्' सूत्र से)। धातो ।५।१। (यह अधिकृत है)। अर्थ—(धातो) धातु से परे (ल) लकार (कर्मणि) कर्म मे (च) और (कर्तरि) कर्त्ता मे हो। यह वाक्य सकर्मक धातुविषयक है, क्योंकि अकर्मकों मे 'कर्मणि' अश नही घट सकता। इस प्रकार इस वाक्य का अभिप्राय हुआ—सकर्मक धातुओं से लकार कर्म और कर्त्ता में होते हैं।

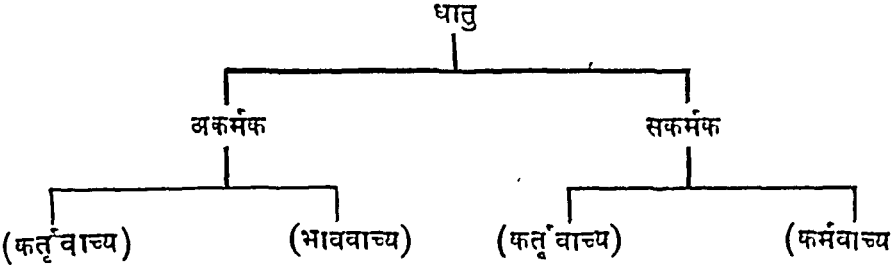
द्वितीय वाक्य यथा—ल ।१।३। (पूर्ववाक्य से)। भावे ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। कर्तरि ।७।१। ('कर्तरि कृत्' से) अकर्मकेभ्य ।५।३। धातुभ्य ।५।३। ('धातो' इस अधिकृत का वचनविपरिणाम हो जाता है)। अर्थ—(अकर्मकेभ्य धातुभ्य) अकर्मक धातुओ से परे (ल) लकार (भावे) भाव (च) और (कर्तरि) कर्त्ता मे हो।

---

१ जैसे कि— त्रिषष्टमासु, प्रक्षीणायां सन्धौ पृथुर्नाम्नोऽभवत्। प्रासोष्ट द्राक् पुत्र जायां 'इस् का षट्टा (न्यूनता) उस्मे आया'॥ —विक्रमोर्वशी

२ दोनों सेटों के प्रथम और मध्यम पुरुषो के एकवचन में ही केवल अन्तर होता है और वह भी केवल परस्मैपद में।

दोनों वाक्यों का तात्पर्य यह है कि लकारों के तीन अर्थ होते हैं—कर्त्ता, कर्म और भाव। यदि धातु सकर्मक हो तो लकार कर्त्ता और कर्म में होंगे, यदि धातु अकर्मक है तो लकार कर्त्ता और भाव में होंगे। कोष्ठक यथा—




जिस धातु का कर्म होता है उस धातु को सकर्मक, और जिस धातु का कर्म नहीं होता उस धातु को अकर्मक कहते हैं। यथा—पुरुषो वृक्षं छिनत्ति (पुरुष वृक्ष को काटता है) यहाँ छिद् धातु का कर्म 'वृक्ष' है अतः 'छिद्' धातु सकर्मक है। देवदत्तः शेते (देवदत्त सोता है) यहाँ शी धातु का कोई कर्म नहीं अतः शी धातु अकर्मक है[1]।

सकर्मकों से लकार कर्त्ता और कर्म में होते हैं जिसे कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य कहा जाता है। कर्त्ता (कर्तृवाच्य) में यथा—पुरुषो वृक्षं छिनत्ति यहाँ छिद् धातु से लँट् लकार कर्त्ता में हुआ है अतः इसका सम्बन्ध कर्त्ता से ही है। इसीलिये तो कर्त्ता के द्विवचनान्त या बहुवचनान्त होने पर क्रिया भी द्विवचनान्त या बहुवचनान्त हो जाती है—पुरुषौ वृक्षं छिन्तः,

---

१. सकर्मक और अकर्मक धातुओं का विस्तृत विवेचन वैयाकरण-भूषण-सार (धात्वर्थनिर्णयान्त) के हमारे हिन्दीभाष्य में देखें। यह ग्रन्थ मुद्रित हो चुका है। यहाँ हम व्युत्पन्न छात्रों के लिये सकर्मक-अकर्मक धातुओं के विषय में संक्षिप्त शास्त्रीय जानकारी प्रस्तुत कर रहे हैं—

प्रत्येक धातु के अर्थ के दो विभाग होते हैं—फल और व्यापार। फल का आश्रय 'कर्म' और व्यापार का आश्रय 'कर्त्ता' हुआ करता है। जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिये कोई क्रिया की जाती है वह उस क्रिया का 'फल' कहाता है। यथा पचन-क्रिया (पकाना) तण्डुल आदियों की विक्लित्ति (गलना) के उद्देश्य से की जाती है अतः 'विक्लित्ति' पचनक्रिया का फल है। इसी प्रकार गमनक्रिया 'उत्तरदेश के संयोग' के लिये की जाती है अतः 'उत्तरदेश का संयोग' गमन क्रिया का फल है। फल की सिद्धि के लिये जो जो क्रिया-चेष्टा-हरकत की जाती है उसे व्यापार कहते हैं। यथा पचन में आग जलाने से लेकर बरतन को चूल्हे से नीचे उतारने तक जो-जो क्रियाएं की जाती हैं वे सब पच्धातुवाच्य व्यापार हैं। इसी प्रकार गमन में उत्तरदेश

पुरुषा वृक्षं छिन्दन्ति। जब लकार कर्त्ता मे होता है तब उसका सम्बन्ध कर्म के साथ कुछ भी नहीं रहता, कर्म चाहे द्विवचन में रहे या बहुवचन में, क्रिया तो कर्त्ता के अनुसार ही रहेगी। अतएव पुरुषो वृक्षौ छिनत्ति, पुरुषो वृक्षान् छिनत्ति यहाँ कर्म के वचन के बदलने के साथ क्रिया नही बदलती। कर्म (कर्मवाच्य) मे यथा—पुरुषेण घट क्रियते (पुरुष से घडा बनाया जाता है)। यहाँ 'क्रियते' में लेट् लकार कर्म में हुआ है अत इसका कर्म के साथ सम्बन्ध है। इसीलिये तो कर्म के द्विवचनान्त या बहुवचनान्त होने से क्रिया भी द्विवचनान्त व बहुवचनान्त हो जाती है पुरुषेण घटौ क्रियेते, पुरुषेण घटा क्रियन्ते। जब लकार कर्म मे होता है तब उसका कर्त्ता के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, कर्त्ता चाहे द्विवचन में हो या बहुवचन मे, क्रिया कर्म के अनुसार ही होती है। अतएव पुरुषाभ्यां घट क्रियते, पुरुषैर्घट क्रियते यहाँ कर्त्ता के वचन के बदलने के साथ क्रिया का वचन नहीं बदलता और कर्म मे प्रथमा भी

---

सयोग रूप फल की सिद्धि के लिये जो कदम बढ़ाने आदि की क्रिया की जाती है वह गम्धातुवाच्य व्यापार है।

फल कर्म में और व्यापार कर्त्ता में रहता है। पचन में विक्लित्ति रूप फल का आश्रय तण्डुल या ओदन है अत वह कर्म है, और उस विक्लित्ति के साधक आग जलाना, पात्र ऊपर धरना आदि क्रियारूप व्यापार का आश्रय देवदत्त आदि है अत वह कर्त्ता है।

जिन धातुओं के फल और व्यापार के आश्रय भिन्न-भिन्न हों उन धातुओं को 'सकर्मक' कहते हैं—फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्व सकर्मकत्वम्। यथा पच् धातु, इसका विक्लित्ति रूप फल तण्डुलों मे तथा तदनुकूल (उस विक्लित्ति को पैदा करने वाला) व्यापार देवदत्त आदि कर्त्ता में रहता है।

जिन धातुओं के फल और व्यापार के आश्रय एक ही हों उन धातुओं को अकर्मक कहते हैं—फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वम् अकर्मकत्वम्। यथा शीङ् धातु, इसका फल विश्राम तथा तदनुकूल व्यापार लेटना आदि दोनों एक ही आश्रय देवदत्त आदि में रहते हैं। अकर्मक धातुओं के परिज्ञानार्थ यह श्लोक कण्ठस्थ कर लेना चाहिये—

लज्जा-सत्ता-स्थिति-जागरण वृद्धि-क्षय-भय-जीवित-मरणम्।
शयन-क्रीडा-रुचि-दीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहु॥ (शेखरे)

साधारण बुद्धि वालों के लिये हिन्दी में यह पहचान है कि जिस क्रिया में 'को' लग सके, वह सकर्मक है, जैसे—वह अन्य को देखता है। जिसमें 'को' न लग सके, वह अकर्मक है, जैसे—सोता है, होता है, आदि।

हो जाती है।

अकर्मकों से लकार कर्त्ता और भाव में होते हैं। कर्त्ता में यथा—बालः शेते। यहां शीङ् धातु से लँट् लकार कर्त्ता में हुआ है अतएव कर्त्ता से सम्बद्ध है; कर्त्ता के वचन में परिवर्त्तन आने पर इसमें भी तदनुसार परिवर्त्तन आ जाता है। यथा—बालौ शयाते, बालाः शेरते। अकर्मक धातुओं से लकार भाव में भी हुआ करता है। भाव धातु के अर्थ को कहते हैं, इस में पुरुष और संख्या का अन्वय नहीं हुआ करता। अत एव भाव-वाच्य में सदा प्रथमपुरुष के एकवचन का ही प्रयोग होता है। यथा - बालेन शय्यते, बालाभ्यां शय्यते, बालैः शय्यते, त्वया शय्यते, युवाभ्यां शय्यते, युष्माभिः शय्यते, मया शय्यते, आवाभ्यां शय्यते, अस्माभिः शय्यते आदि। यहां लकार केवल धातु के अर्थ शयन (सोना) को ही प्रकट करता है अतएव सदा एकवचनान्त रहता है।

इस प्रकार एक बात की समानता को यहां नहीं भूलना चाहिए। धातु चाहे सकर्मक हो या अकर्मक दोनों से कर्त्ता में लकार समानरूपेण हुआ करते हैं। आगे आने वाले दस गणों तथा सभी प्रक्रियाओं में (भावकर्म और कर्मकर्तृ को छोड़ कर) लकारों का प्रतिपादन केवल कर्त्ता में ही किया गया है। कर्म और भाव में लकारों का प्रतिपादन भावकर्मप्रक्रिया तथा कर्मकर्तृप्रक्रिया में किया जायेगा।

टिप्पणी—अत्राऽकर्मकग्रहणेन अविवक्षितकर्मका अपि गृह्यन्ते। तेन 'देवदत्तेन भुज्यते' इत्यत्र सतोऽप्योदनरूप-कर्मणोऽविवक्षायां भावे लकारोऽस्त्येवेति। सकर्मकेभ्यो न भवन्ति भावे लकारा इत्येतदप्येतेन सूत्रेण ज्ञाप्यते। सकर्मकेभ्योऽपि भावलकारप्रवृत्तौ तु भावलकारेण कर्मणोऽनभिहितत्वाद् 'देवदत्तेन घटः क्रियते' इत्यादौ द्वितीया स्यात्। सूत्रे चकारद्वयोपादानमुभयत्र वाक्ये 'कर्त्तरि' इत्यनुकर्षणार्थम्, तेन सकर्मकेभ्योऽकर्मकेभ्यश्च कर्त्तरि लकारा भवन्ति।

अब सर्वप्रथम लँट् के काल का प्रतिपादन करने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३७४) वर्त्तमाने लँट्।३।२।१२३॥

वर्त्तमानक्रियावृत्तेर्धातोर्लँट् स्यात्। अँटावितौ। उच्चारणसामर्थ्याल्लस्य नेत्त्वम्॥

अर्थः—वर्त्तमानकाल की क्रिया के वाचक धातु से लँट् प्रत्यय हो। अँटावितौ—लँट् के अकार और टकार की इत्संज्ञा हो जाती है। लकार की उच्चारण-सामर्थ्य से इत्संज्ञा नहीं होती।

व्याख्या—वर्त्तमाने।७।१। लँट्।१।१। धातोः।५।१। (यह अधिकृत है)। भू

आदि धातु शब्दस्वरूप हैं, उनका वर्त्तमान आदि कालो में रहना सम्भव नहीं। वर्त्तमान आदि काल तो धातु के अर्थ (क्रिया) के ही हो सकते हैं अत एव वृत्ति में वर्त्तमानक्रियावृत्ते कहा गया है। अर्थ —( वर्त्तमाने ) वर्त्तमानकाल में जो क्रिया तद्वाचक (धातो) धातु से परे (लँट्) लँट् हो।

'प्रत्यय' (१२०) के अधिकार मे पढ़े जाने से लँट् प्रत्यय है। 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र से इसके टकार की तथा 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से अनुनासिक अकार की इत्सञ्ज्ञा होकर 'तस्य लोप' (३) से दोनों का लोप हो जाता है 'ल्' मात्र ही अवशिष्ट रहता है। टकार को इत् करने का प्रयोजन 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (५०८) द्वारा टितो की टि को एत्व करना है—यह सब आगे यथास्थान स्पष्ट होगा। सकारोत्तर अनुनासिक अकार लिँट् आदियों से इसका भेद कराने के लिये जोडा गया है। इसी प्रकार अन्य लिँट् आदियों मे भी समझना चाहिये। शेष बचे 'ल्' की उच्चारणसामर्थ्य से अथवा 'लस्य' (३४७७) इस अधिकार के सामर्थ्य से 'लशक्वतद्धिते' (१३६) द्वारा इत्सञ्ज्ञा नहीं होती।

जिस प्रथम क्षण से आरम्भ होकर कोई कार्य जिस अन्तिम क्षण में समाप्त होता है उस समग्र काल को 'वर्त्तमानकाल' कहते हैं। यथा—आग जलाना, बरतन को चूल्हे पर रखकर पानी गरम करना, उसमें चावल आदि डाल कडूछी से हिलाना, चावलो के गले व अधगले का निश्चय करने के लिये बार बार थोड़ा-थोडा निकालकर अगुलियो से मसल कर परीक्षा करना, तथा सिद्ध हो जाने पर बरतन को चूल्हे से नीचे उतारना—इत्यादि क्रियाओ के समूह को पचनक्रिया कहते हैं[1]। इस प्रकार पाक के आरम्भिक क्षण से लेकर अन्तिम क्षण तक जो काल रहता है उसे 'वर्त्तमानकाल' कहते हैं। यदि क्रिया उस काल की हो तो धातु से परे लँट् प्रत्यय करना चाहिये— यह इस सूत्र का तात्पर्य है।

---

१ भर्तृहरि ने इसी बातकी पुष्टि अत्यन्त सुन्दर शब्दों में की है—

"गुणभूतैरवयवै समूह क्रमजन्मनाम्।
बुद्धया प्रकल्पिताऽभेद क्रियेति व्यपदिश्यते॥" (वाक्य० ३८४)

अर्थात् क्रमश उत्पन्न होने वाली, गुणभूत अर्थात् तत्तद्रूपेण भासमान क्रियाओं का ऐसा समूह जो बुद्धि द्वारा एकाकार होकर अभिन्न सा प्रतीत होता है 'क्रिया' के नाम से पुकारा जाता है।

इस ससार में कोई भी व्यक्ति क्रिया को सम्पूर्णरूपेण प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। हम सब क्रिया के एक अश को ही देख पाते हैं। क्रिया अवान्तर क्रियाओं का

[लघु०] भू सत्तायाम् ॥१॥ कर्तृविवक्षायां 'भू+ल्' इति स्थिते—

अर्थः—भू धातु 'सत्ता' अर्थ में प्रयुक्त होती है। कर्तृविवक्षा में वर्त्तमानकाल में लँट् प्रत्यय होकर अनुबन्धों का लोप करने पर 'भू+ल्' बना। अब इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

व्याख्या—अब जो धातु आरम्भ किये जा रहे हैं वे पाणिनिमुनिप्रणीत धातुपाठ से चयन किये गये हैं। इन धातुओं को धातुपाठ में दस श्रेणियों में विभक्त किया गया है। यथा—

"भ्वाद्यदादी जुहोत्यादिर्दिवादिः स्वादिरेय च।
तुदादिश्च रुधादिश्च तन-क्र्यादि-चुरादयः ॥"

(१) भ्वादिगण, (२) अदादिगण, (३) जुहोत्यादिगण, (४) दिवादिगण, (५) स्वादिगण, (६) तुदादिगण, (७) रुधादिगण, (८) तनादिगण, (९) क्र्यादिगण, (१०) चुरादिगण। इन गणों का नामकरण उन में आने वाली प्रथम धातु के आधार पर किया गया है। यथा—प्रथमगण का नाम उसमें आनेवाली प्रथम धातु 'भू' के कारण भ्वादिगण हुआ है। इसी प्रकार 'अद्' के कारण अदादिगण आदि जानें।

धातुपाठ के आदि में सर्वप्रथम 'भू' रखने का अभिप्राय मङ्गल करना है, क्योंकि 'भू' शब्द 'ओं भूर्भुवः स्वः' इन महाव्याहृतियों के आदि में प्रयुक्त है तथा परब्रह्म का वाचक भी है। धातुओं के आगे सप्तमीविभक्ति द्वारा जिस अर्थ का निर्देश किया जाता है, केवल वही उनका अर्थ नहीं हुआ करता। धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, यहां तो केवल प्रायः प्रसिद्ध अर्थ ही दिया जाता है। शेष अर्थ विस्तृत वाङ्मय से

---

समूह होती है और वह समूह कभी भी समुदितरूपेण देखा नहीं जा सकता। क्योंकि अवान्तर क्रियाएं क्षणिक होती हैं, क्षण भर रह कर नष्ट हो जाती हैं। जब दूसरी अवान्तर क्रिया प्रारम्भ होती है तब तक पहली नष्ट हो चुकी होती है। इसी प्रकार जब तीसरी चौथी अवान्तर क्रियाएं प्रारम्भ होती हैं तब तक पूर्व पूर्व क्रिया नष्ट हो चुकी होती है, अतः उनका समूह कभी भी एक काल में नहीं बन सकता। जब समूह ही नहीं तो उसका नाम 'क्रिया' कैसे ? इसका उत्तर अत्यन्त बुद्धिमत्ता से कारिका में 'बुद्धया प्रकल्पिताऽभेदः' शब्द जोड़ कर दिया गया है। अर्थात् यद्यपि हम क्षण-वर्त्तिनी क्रियाओं के समूह को किसी एक काल में इकट्ठा प्रत्यक्ष नहीं कर सकते तथापि अपनी बुद्धि द्वारा उनके समूह को समझ सकते हैं। बस बुद्धि द्वारा उनके समूह की कल्पना कर अभेद समझ कर उसकी ही 'क्रिया' सञ्ज्ञा की जाती है।

(वैयाकरणभूषणसार के भैमीभाष्य से उद्धृत)

स्वयं जानने चाहियें[1]।

अपने आपको धारण करने का नाम 'सत्ता' है। 'देवदत्तो भवति' (देवदत्त है) का अभिप्राय 'देवदत्त अपने आपको धारण करता है' से है। इस प्रकार 'सत्ता' भी यहां एक प्रकार की क्रिया ही समझी जाती है और उस क्रिया का वाचक होने से 'भूवादयो धातवः' (३६) द्वारा 'भू' धातुसञ्ज्ञक है।

'भू' धातु से कर्तृविवक्षा (कर्ता को कहने की इच्छा) मे 'वर्तमाने लट्' (३७४) सूत्रद्वारा वर्तमानकाल मे लट् प्रत्यय किया तो 'भू+लट्' हुआ। अब अनुबन्धों (टकार और अनुनासिक अकार) का लोप करने पर 'भू+त्' इस स्थिति मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(३७५)तिप्-तस्-झि-सिप्-थस्-थ-मिव्-वस्-मस्-ताऽऽताञ्-झ-थासाथा-ध्वमिङ्-वहि-महिङ् ।३।४।७८॥

एतेऽष्टादश लादेशाः स्युः ॥

अर्थ—तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महिङ्—ये अठारह प्रत्यय ल् के स्थान पर आदेश हों।

व्याख्या—यह सूत्र 'प्रत्ययः' (१२०) और 'लस्य' (३ ४ ७७) के अधिकार में पढ़ा गया है अतः तिप्, तस् आदि अठारह प्रत्यय लकार के स्थान पर आदेश होते हैं। सूत्र में तस् आदियों मे इत्त्वादि का अभाव आर्ष समझना चाहिये। तिप्, सिप् और मिप् में पकारानुबन्ध 'सार्वधातुकमपित्' (५००) आदि कार्यों के लिये

---

१. धातुपाठ में दिये गये धातुओं के अर्थ उपलक्षणार्थ ही समझने चाहियें। महाभाष्य (१.३.१ तथा ६.१.९) में लिखा है—'बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति' अर्थात् धातुएं बहुत अर्थ वाली भी होती हैं। धातुपाठ में भी 'कुदं स्तुदं गुदं गुद क्रीडायामेव' (भ्वादि० २१—२४) में 'एव' कह कर अर्थ का अवधारण करना धातुओं की अनेकार्थता में ज्ञापक है। सूत्रकार ने भी 'गन्धनावक्षेपण०' (१ ३ ३२) आदि सूत्रों में अनेक अर्थों का निर्देश किया है। अतएव 'यागात् स्वर्गो भवति, क्षीरभोजिन्या धृतन्धरः पुत्रो भवति' आदि वाक्यों मे उत्पत्ति, 'अशुक्लः पटः शुक्लो भवति' में अभूततद्भाव (पहले न होकर पीछे होना) आदि अर्थ देखे जाते हैं। सुखमनुभवति, हिमवतो गङ्गा प्रभवति, सेना पराभवति इत्यादि वाक्यों में जो विभिन्न अर्थ प्रतीत होते हैं वे भू धातु के ही हैं। उपसर्ग केवल दीपवत् अन्तर्निहित धात्वर्थ के द्योतक होते हैं। उपसर्गविषयक टिप्पण आगे भू धातु के अन्त मे देखें।

जोड़ा गया है। इट् में टकार स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये है, अन्यथा 'इटोऽत्' (५२२) आदि सूत्रों को 'एरत्' आदि बना कर अनेक प्रकार के बवण्डर खड़े हो जाते जो तत्त्वबोधिनी आदि में देखे जा सकते हैं। महिङ् में ङकार तङ् और तिङ् प्रत्याहारों के लिये जोड़ा गया है। इनका उपयोग 'तङानावात्मनेपदम्' (३७७), 'तिङस्त्रीणि त्रीणि०'(३८१) आदि सूत्रों में होता है। तस्, थस्, वस्, मस्, थास्—इनमें सकार की तथा आताम्, आथाम्, ध्वम्—इनमें मकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा नहीं होती, 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) सूत्र निषेध कर देता है। 'विभक्तिश्च' (१३०) सूत्र से इन प्रत्ययों की विभक्ति सञ्ज्ञा तो है ही।

टिप्पणी—'तिप् तस् झि' इत्यादिषु समाहारद्वन्द्वः, अतएव प्रथमैकवचनान्तम्। 'लस्य' इति स्थानषष्ठ्यन्तमधिकृतं तेन 'आदेशः' इति लभ्यते।

अब इन अठारह प्रत्ययों की व्यवस्था करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३७६) लः परस्मैपदम् ।१।४।९९॥

लादेशाः परस्मैपदसञ्ज्ञाः स्युः॥

अर्थः—ल् के स्थान पर होने वाले आदेश परस्मैपदसंज्ञक हों।

व्याख्या—लः ।६।१। परस्मैपदम् ।१।१। 'लः' में स्थानषष्ठी होने से 'आदेशाः' का अध्याहार किया जाता है। अर्थः—(लः) ल् के स्थान पर होने वाले आदेश (परस्मैपदम्) परस्मैपदसंज्ञक हों। इस सूत्र से तिप्, तस्, झि आदि अठारह प्रत्ययों की परस्मैपदसञ्ज्ञा प्राप्त होती है। इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३७७) तङानावात्मनेपदम् ।१।४।९९॥

तङ्प्रत्याहारः शानच्-कानचौ चैतत्सञ्ज्ञाः स्युः। पूर्वसंज्ञाऽपवादः॥

अर्थः—तङ्प्रत्याहार अर्थात् त, आताम्, झ; थास्, आथाम्, ध्वम्; इट्, वहि, महिङ्—ये नौ प्रत्यय तथा शानच् और कानच् प्रत्यय आत्मनेपदसंज्ञक हों। यह सूत्र पूर्वसूत्रद्वारा विहित परस्मैपदसंज्ञा का अपवाद है।

व्याख्या लः ।६।१। ('लः परस्मैपदम्' से)। तङानौ ।१।२। आत्मनेपदम् ।१।१। तङ् च आनश्च तङानौ, इतरेतरद्वन्द्वः। 'आन' यह निरनुबन्ध पढ़ा गया है अतः 'निरनुबन्धकग्रहणे सानुबन्धस्य' (यदि अनुबन्धरहित का ग्रहण हो तो सब प्रकार के अनुबन्धों से युक्त का ग्रहण हो जाता है) इस न्याय से शानच्, कानच् और चानश् तीनों का ग्रहण प्राप्त होता है। परन्तु 'लः' की अनुवृत्ति आने से लकार के स्थान पर होने वाले शानच् और कानच् प्रत्ययों का ही ग्रहण होता है चानश् प्रत्यय का नहीं, क्योंकि चानश् प्रत्यय लकार के स्थान पर आदेश नहीं होता अपितु 'ताच्छील्यवयो-

अनद्यतनभविष्यत्सु लडशेषे' (३ २ १२९) सूत्र द्वारा सीधा धातु से परे विधान किया जाता है। अर्थ —(ल) ल् के स्थान पर आदेश होने वाले (तङानौ) तङ प्रत्याहार[1] तथा शानच् और कानच् प्रत्यय (आत्मनेपदम्) आत्मनेपदसंज्ञक होते हैं[2]।

यह सूत्र तथा पूर्वसूत्र दोनों एकसंज्ञा के अधिकार (आकडारादेका संज्ञा) में पड़े गये हैं अतः दोनों संज्ञाओं का एकत्र समावेश नहीं हो सकता। जैसे लोक में एक वस्तु की दो या अधिक संज्ञाएं देखी जाती हैं वैसे इस शास्त्र में भी हुआ करता है, यथा तव्यत् आदि प्रत्ययों की कृत्, कृत्य और प्रत्यय तीनों संज्ञाएं हैं, परन्तु यहाँ विशेषरूप से एकसंज्ञा का अधिकार किये जाने से वैसा नहीं होता। इस अधिकार में एक की एक ही संज्ञा होती है—यह सब पूर्वार्ध में 'आकडारादेका संज्ञा' (१६६) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

इस प्रकार त, आताम् आदि नौ प्रत्यय आत्मनेपदसंज्ञक तथा अवशिष्ट तिप्, तस् आदि नौ प्रत्यय परस्मैपदसंज्ञक हो जाते हैं। कोष्ठक यथा—

| परस्मैपद | | | आत्मनेपद | | |
|---|---|---|---|---|---|
| तिप् | तस् | झि | त | आताम् | झ |
| सिप् | थस् | थ | थास् | आथाम् | ध्वम् |
| मिप् | वस् | मस् | इट् | वहि | महिङ् |

अब किस किस धातु से परस्मैपद और किस किस धातु से आत्मनेपद प्रत्यय हों —इसका विवेचन अग्रिमसूत्रों में करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम् – (३७८) अनुदात्त-ङित आत्मनेपदम् ।१।३।१२।।

अनुदात्तेतो ङितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात् ।।

अर्थ —जिस धातु का अनुदात्त इत् हो या ङकार इत् हो, उस धातु से परे (लकार के स्थान पर) आत्मनेपद प्रत्यय हों।

व्याख्या—अनुदात्तङित ।५।१। धातोः ।५।१। ('भूवादयो धातवः' से विभक्ति

---

१ 'तिप्-तस्-झि०' (३७५) सूत्र में दसवें 'त' प्रत्यय से लेकर अन्तिम महिङ् प्रत्यय के ङकार तक तङ्प्रत्याहार बनता है। इसमें 'त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महिङ्' ये नौ प्रत्यय गृहीत होते हैं। यहाँ पर तस् के तकार से प्रत्याहार नहीं बनाना, क्योंकि वह शास्त्रविरुद्ध तथा 'समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशोऽनर्थकः' के अनुसार अनुचित भी है।

२ ध्यान रहे कि लकार के स्थान पर होने वाला शतृ प्रत्यय इन दोनों (शानच् और कानच्) से भिन्न होने के कारण पूर्वसूत्रद्वारा परस्मैपदसंज्ञक ही बना रहेगा।

और वचन का विपरिणाम करके)। आत्मनेपदम् ।१।१। अनुदात्तश्च ङ् च अनुदात्तङौ, तौ इतौ यस्य तस्माद् अनुदात्तङितः, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इस न्यायानुसार 'इत्' पद का दोनों (अनुदात्त और ङ्) के साथ सम्बन्ध होता है—अनुदात्तेतो ङितश्चेत्यर्थः। आत्मनेपद प्रत्यय क्योंकि ल् के स्थान पर आदिष्ट किये जाते हैं अतः 'लस्य' का भी यहां अध्याहार कर लिया जाता है। अर्थः—(अनुदात्तङितः) जिसका अनुदात्त इत् हो या ङकार इत् हो उस (धातोः) धातु से परे (लस्य) लकार के स्थान पर (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद प्रत्यय हों।

धातुपाठ में यत्र तत्र प्रयोजनवशात् अनुदात्त स्वर जोड़ा गया है। यथा—एधृँ वृद्धौ, कमूँ कान्तौ, यतीँ प्रयत्ने आदि। यहां अन्त्य स्वर अनुदात्त हैं। 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इस अनुदात्त स्वर की अनुनासिक होने के कारण इत्सञ्ज्ञा हो जाती है और 'तस्य लोपः' (३) से उस का लोप हो जाता है। इस प्रकार धातु अनुदात्तेत् कहलाती है। अनुदात्तेत् धातु से परे लकार के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं, परस्मैपद नहीं। यथा—एध् धातु से परे लँट् के स्थान पर त, आताम्, झ आदि नौ आत्मनेपद प्रत्यय हो जायेंगे —एधते, एधेते, एधन्ते आदि।

इसी प्रकार जिस धातु के ङकार की इत्सञ्ज्ञा होती हो उस धातु से परे भी लकार के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं। यथा—शीङ् स्वप्ने, यहां 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा उपदेश में अन्त्य हल्—ङकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है अतः यह धातु ङित् है। ङित् होने से इससे परे आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं—शेते, शयाते, शेरते आदि।

इस सूत्र में यदि 'धातोः' की अनुवृत्ति न लाते तो 'अदुद्रवत्, अवोचत्' आदि में चङ् और अङ् से परे लुँङ् लकार के स्थान पर भी आत्मनेपद प्रसक्त होता जो अनिष्ट था। अब 'धातोः' की अनुवृत्ति लाने से चङन्त या अङन्त के धातुसञ्ज्ञक न होने से कोई दोष नहीं आता।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३७९) स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले ।१।३।७२।।

स्वरितेतो ञितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले ।।

अर्थः—यदि क्रिया का फल कर्त्ता को प्राप्त हो तो स्वरितेत् तथा ञित् धातु से आत्मनेपद प्रत्यय हों।

व्याख्या—स्वरितञितः ।५।१। कर्त्रभिप्राये ।७।१। क्रियाफले ।७।१। धातोः ।५।१। ('भूवादयो धातवः' से पूर्ववत्)। यहां भी 'लस्य' का अध्याहार कर लेना चाहिये। स्वरितश्च ञ् च स्वरितञौ, तौ इतौ यस्य, तस्मात् स्वरितञितः, द्वन्द्वगर्भ-

बहुव्रीहि । कर्तारम् अभिप्रैति (गच्छति) इति कर्त्राभिप्रायम् (फलम्), तस्मिन् कर्त्राभिप्राये । कर्मण्यण् । क्रियाया फल क्रियाफलम्, तस्मिन् क्रियाफले, षष्ठीतत्पुरुष । अर्थ —(स्वरितञित) जिस का स्वरित इत् हो या ञ् इत् हो उस (धातो) धातु से परे (लस्य) लकार के स्थान पर (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद प्रत्यय हों (कर्त्राभिप्राये क्रियाफले) क्रिया का फल कर्त्ता को प्राप्त होता हो तो ।

जिस अभिप्राय से कोई क्रिया आरम्भ की जाती है वह अभिप्राय क्रिया का फल कहाता है । यथा पचनक्रिया (पकाना) तृप्ति के लिये आरम्भ की जाती है तो पच् क्रिया का फल 'तृप्ति' हुआ । यजनक्रिया (यज्ञ करना) स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिये की जाती है तो 'स्वर्ग आदि की प्राप्ति' यज् क्रिया का फल हुई । यद्यपि पुरोहित को यजनक्रिया से दक्षिणा आदि की पुष्कल प्राप्ति होती है तथापि दक्षिणादि को यजनक्रिया का मुख्य फल नहीं माना जा सकता, वह तो परिश्रमरूपेण उसे प्राप्त होता है[1] । मुख्य फल तो 'यागात् स्वर्गो भवति' आदि शास्त्रीय वचनों के अनुसार स्वर्गादि ही है ।

यदि क्रिया का फल कर्त्ता को प्राप्त हो तो स्वरितेत् तथा ञित् धातुओं से परे लकार के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय होंगे । स्वरितेत् धातु उसे कहते हैं जिस का स्वरित स्वर इत् होता है, यथा यजँ देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु, इसमें जकारोत्तर अकार, डुपचँष् पाके, इसमें चकारोत्तर अकार स्वरितानुनासिक है । 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इनकी इत्सञ्ज्ञा होकर लोप हो जाता है । अत इनसे परे आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं—यजते, यजेते, यजन्ते, पचते, पचेते, पचन्ते आदि । यदि क्रिया का फल कर्त्ता को नहीं मिलेगा तो 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (३८०) से परस्मैपद प्रत्यय होंगे । यथा पुरोहित के यजन मे 'यजति, यजत, यजन्ति' इत्यादि प्रकारेण परस्मैपद प्रत्यय प्रयुक्त होंगे । इसी प्रकार यदि पाचक दूसरों की तृप्ति के लिये पकायेगा तो 'पचति, पचत, पचन्ति' इत्यादि प्रकारेण परस्मैपद का प्रयोग होगा । जिस धातु के अकार की इत्सञ्ज्ञा होती है उसे ञित् कहते हैं, यथा—डुकृञ् करणे, हृञ् हरणे, णीञ् प्रापणे आदि । इनमे भी यदि क्रिया का फल कर्त्ता को मिलेगा तो आत्मनेपद अन्यथा परस्मैपद प्रत्ययो का प्रयोग होगा ।

---

१ क्रियाया फलञ्चात्र स्वर्गाद्येव, असाधारणत्वात्, न तु दक्षिणादि, तस्याऽन्यथाऽपि सिद्धत्वात् । तदुक्तम्भाष्ये—'न चान्तरेण यज्ञं यजिफलं लभते । याजका पुनरन्तरेणापि यज्ञं गा लभन्ते' इति । तदुक्तं हरिणा—

'यस्यार्थस्य प्रसिद्ध्यर्थमारभ्यन्ते पदादय ।
तत् प्रधान फल तेषा न लाभादि प्रयोजकम्' ॥ (वाक्यपदीय ३.१२ १८)

नोट—संस्कृत भाषा के अनेक लेखक प्रायः इस नियम का पूरी तरह पालन नहीं करते, उन से सावधान रहना चाहिये[1]।

अब परस्मैपद प्रत्ययों के लिये प्रकृति का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३८०) शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम् ।१।३।७८।।

आत्मनेपदनिमित्तहीनाद् धातोः कर्तरि परस्मैपदं स्यात् ।।

अर्थः—जिस धातु में आत्मनेपद के निमित्त विद्यमान न हों उस धातु से कर्त्ता में परस्मैपद प्रत्यय हों।

व्याख्या—शेषात्। ५। १। कर्त्तरि। ७। १। परस्मैपदम्। १। १। उक्तादन्यः शेषः। इस सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों में आत्मनेपद-प्रत्ययों के विधान के लिये अनेक निमित्त (चिह्न) वर्णित किये गये हैं[2]। उन नियमों के अन्तर्गत जो धातु नहीं आते वे यहाँ 'शेष' पद से गृहीत किये गये हैं। अर्थः—(शेषात्) जिस धातु में आत्मनेपद का कोई लक्षण विद्यमान न हो, उस धातु से परे (कर्त्तरि) कर्त्ता अर्थ में (परस्मैपदम्) परस्मैपद प्रत्यय होते हैं।

ध्यान रहे कि परस्मैपद प्रत्यय केवल कर्त्ता में ही होते हैं, भाव और कर्म में नहीं। वहाँ तो प्रत्येक धातु से 'भावकर्मणोः' (७५१) द्वारा आत्मनेपद प्रत्ययों का ही विधान है। सार यह है कि परस्मैपद केवल कर्त्ता में ही करने चाहियें और वे भी केवल उसी धातु से, जिस में कोई अन्य-सूत्र आत्मनेपद का विधान नहीं करता। यदि कोई सूत्र आत्मनेपद का विधान करेगा तो कर्त्ता में भी परस्मैपद न होकर आत्मनेपद प्रत्यय होंगे। उदाहरणार्थ 'भू' धातु में आत्मनेपद का कोई निमित्त नहीं पाया जाता, क्योंकि न तो यह अनुदात्तेत् है और न ही ङित्। इसी प्रकार यह स्वरितेत् और ञित् भी नहीं। इसके अतिरिक्त आत्मनेपद प्रक्रिया का कोई अन्य सूत्र भी यहाँ

---

१. इस कारण यजमान के लिये यज्ञ अथवा जप उद्दिष्ट होने पर ऋत्विक् लोगों को 'यक्ष्यामि, जपनं करिष्यामि' इस प्रकार संकल्प में परस्मैपद प्रयुक्त करना पड़ता है; यदि अपने लिये कर्म उद्दिष्ट हो तो 'अहं सन्ध्योपासनकर्म करिष्ये' कहना पड़ता है। ध्यान रहे कि यह नियम केवल स्वरितेत् तथा ञित् धातुओं तक ही सीमित है। जो केवल अनुदात्तेत् धातु हो या उदात्तेत् व शेष हो, उनकी क्रिया का फल कर्त्ता को मिले या अन्य को—उनमें क्रमशः आत्मनेपद तथा परस्मैपद ही होगा।

२. यहाँ भी 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (३७८) तथा 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' (३७९) ये दो सूत्र आत्मनेपद के निमित्तों के लिये कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य निमित्तों के लिये आत्मनेपदप्रक्रिया देखें।

आत्मनेपद का विधान नहीं करता। अत इससे कर्तृविवक्षा मे परस्मैपद प्रत्यय ही होंगे—भवति भवत, भवन्ति आदि।

पदों की व्यवस्था करके अब पुरुषो की व्यवस्था करने के लिये सर्वप्रथम प्रथम-मध्यम-उत्तम सज्ञाओ का विधान करते हैं—

[लघु०] सज्ञासूत्रम्—(३८१) तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः ।१।४।१००॥

तिङ उभयो पदयोस्त्रयस्त्रिका क्रमाद् एतत्सञ्ज्ञा. स्यु ॥

अर्थ.—तिङ् के दोनों पदो के त्रिक क्रमश प्रथम, मध्यम और उत्तम सज्ञक हों।

व्याख्या—तिङ ।६।१। त्रीणि ।१।३। त्रीणि ।१।३। प्रथम-मध्यमोत्तमा ।१।३। परस्मैपदस्य ।६।१। आत्मनेपदस्य ।६।१। ('ल परस्मैपदम्' से 'परस्मैपदम्' तथा 'तडानावात्मनेपदम्' से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति आकर षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है)। अर्थ —(तिङ) तिङ् के (आत्मनेपदस्य परस्मैपदस्य) आत्मनेपद और परस्मैपद दोनो पदों के (त्रीणि त्रीणि) तीन-तीन वचन (प्रथममध्यमोत्तमा) प्रथम मध्यम और उत्तम सज्ञक होते हैं।

तिङ् के दोनो पदों मे प्रत्येक मे नौ-नौ प्रत्यय होते हैं। अत प्रत्येक पद में तीन तीन त्रिक (तीन तीन प्रत्ययो के टोले) बनते हैं। इधर सज्ञाए भी तीन हैं — प्रथम, मध्यम और उत्तम। 'यथासङ्ख्यमनुदेश समानाम्'(२३) से पहला त्रिक प्रथम-सज्ञक, दूसरा त्रिक मध्यमसज्ञक और तीसरा त्रिक उत्तमसज्ञक होता है। त्रिको की इन सज्ञाओं के साथ 'पुरुष' शब्द का व्यवहार पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य करते आये हैं, अत इस शास्त्र मे भी 'पुरुष' शब्द जोड कर इन सज्ञाओं का व्यवहार प्रसिद्ध हो चला है। इस प्रकार प्रथम से प्रथमपुरुष, मध्यम से मध्यमपुरुष तथा उत्तम से उत्तमपुरुष समझना चाहिये। इनका कोष्ठक यथा—

| त्रिक सख्या | परस्मैपद | आत्मनेपद | सज्ञा |
|---|---|---|---|
| पहला त्रिक | तिप्, तस्, झि | त, आताम्, झ | प्रथमपुरुष |
| दूसरा त्रिक | सिप् थस्, थ | थास्, आथाम् ध्वम | मध्यमपुरुष |
| तीसरा त्रिक | मिप्, वस्, मस् | इट, वहि, महिङ् | उत्तमपुरुष |

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्— (३८२) तान्येकवचन-द्विवचन-बहुवचनान्येकशः ।१।४।१०१॥

लब्धप्रथमादिसञ्ज्ञानि तिङस्त्रीणि त्रीणि वचनानि प्रत्येकम् एकवचनादिसञ्ज्ञानि स्युः ॥

अर्थः—प्रथम मध्यम और उत्तम संज्ञाएं जिसे प्राप्त हो चुकी हैं, तिङ् का ऐसा प्रत्येक त्रिक 'एकवचन-द्विवचन-बहुवचन' संज्ञक हो ।

व्याख्या—तानि ।१।३। एकवचन-द्विवचन-बहुवचनानि ।१।३। एकश इत्यव्ययपदम् । तिङः ।६।१। त्रीणि ।१।३। त्रीणि।१।३। ('तिङस्त्रीणि त्रीणि०' से) । तद् शब्द से पूर्व का परामर्श कराया जाता है अतः यहां 'तानि' पद से पूर्वसूत्र निर्दिष्ट उन त्रिकों का ग्रहण अभिप्रेत है जिनकी प्रथम मध्यम और उत्तम संज्ञाएं की जा चुकी हैं ।

तिङ् प्रत्याहार के कुल छः त्रिक (तीन परस्मैपद के और तीन आत्मनेपद के) बनते हैं । प्रत्येक त्रिक को 'एकवचन, द्विवचन, बहुवचन' ये तीन संज्ञाएं मिलती हैं, इनको वह अपने अन्तर्गत तीन प्रत्ययों में बांट देता है । यथासंख्यपरिभाषा के अनुसार प्रत्येक त्रिक का पहला एकवचन, दूसरा द्विवचन और तीसरा बहुवचन हो जाता है । यथा—'तिप्, तस्, झि' यह पहला त्रिक है । इसे 'एकवचन, द्विवचन, बहुवचन' ये तीन संज्ञाएं प्राप्त होती हैं । यह त्रिक इन तीन संज्ञाओं को अपने अन्तर्गत तीन प्रत्ययों में क्रमशः बांट देता है । इससे 'तिप्' यह एकवचन, 'तस्' यह द्विवचन, तथा 'झि' यह बहुवचन हो जाता है । इसी प्रकार अन्य पांच त्रिकों में भी समझ लेना चाहिये । इन का कोष्ठक यथा—

| | परस्मैपद | | | आत्मनेपद | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
| पहला त्रिक (प्रथम पु०) | तिप् | तस् | झि | त | आताम् | झ |
| दूसरा त्रिक (मध्यम पु०) | सिप् | थस् | थ | थास् | आथाम् | ध्वम् |
| तीसरा त्रिक (उत्तम पु०) | मिप् | वस् | मस् | इट् | वहि | महिङ् |

यदि सूत्र मे 'एकश' (प्रत्येक) न कहते तो पहला त्रिक एकवचन, दूसरा त्रिक द्विवचन और तीसरा त्रिक बहुवचन होकर दोष उपस्थित हो जाता। अब 'एकश' कहने से प्रत्येक त्रिक को तीन तीन सज्ञाए प्राप्त होने से कोई दोष नही आता।

टिप्पणी—तानीत्यस्य व्याख्यान 'लब्धप्रथमादिसज्ञानि' इति। एतदभावे एकसज्ञाधिकारात् प्रथमादिसज्ञानाम् एकवचनादिसज्ञानाञ्च पर्याय स्यात्। 'एकश' इत्यस्य व्याख्यानम् 'प्रत्येकम्' इति। 'सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' (५.४४३) इति शस्प्रत्यय।

ध्यान रहे कि 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' (१२३) सूत्र से एकत्व की विवक्षा मे एकवचन, द्वित्व की विवक्षा मे द्विवचन, तथा 'बहुषु बहुवचनम्' (१२४) सूत्र से बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन प्रत्यय किया जायेगा।

अब अग्रिम तीन सूत्रो के द्वारा इस बात की व्यवस्था करते हैं कि कहा किस पुरुष का प्रयोग करना चाहिये—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३८३) युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यम ।१।४।१०४॥

तिङ्वाच्यकारकवाचिनि युष्मदि (उपपदे) प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमाने च मध्यम ॥

अर्थ—तिङ् का वाच्य जो कारक, तद्वाचक युष्मद् शब्द के प्रयुज्यमान वा अप्रयुज्यमान रहते मध्यमपुरुष होता है।

व्याख्या—युष्मदि ।७।१। उपपदे ।७।१। समानाधिकरणे ।७।१। स्थानिनि ।७।१। अपि इत्यव्ययपदम्। मध्यम ।१।१। उप=समीपे उच्चारित पदम् उपपदम्, तस्मिन् उपपदे। युष्मदि समीपोच्चारिते सतीत्यर्थ। समानम् अधिकरण (वाच्यम्) यस्य तत् समानाधिकरणम्, तस्मिन् समानाधिकरणे,सामानाधिकरण्यञ्चेह युष्मदस्तिङ स्थानिभूतलकारेणैव विवक्षितम्, 'ल परस्मैपदम्' इत्यतस्तदनुवृत्ते। स्थान प्रसङ्ग, सोऽस्यास्तीति स्थानी, तस्मिन् स्थानिनि, अप्रयुज्यमान इत्यर्थ। अपिशब्देन प्रयुज्यमानेऽपीति भाव। अर्थ—(समानाधिकरणे) लकार के साथ समान वाच्य वाले (युष्मदि) युष्मद् शब्द के (उपपदे) समीप उच्चरित होने पर (स्थानिनि) उसके अप्रयुक्त वा (अपि) प्रयुक्त होने पर भी (मध्यम) मध्यम पुरुष होता है। यह सूत्र विद्यार्थियों को प्राय कठिन प्रतीत हुआ करता है और परीक्षक भी इसको व्याख्या बार बार पूछते हैं अत हम विद्यार्थियो के सुबोध के लिये इसकी खण्डश व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

(क) युष्मदि उपपदे मध्यमः—युष्मद् शब्द के समीप उच्चरित होने पर मध्यमपुरुष प्रयुक्त होता है। यथा—त्वं वनं गच्छसि; यहां 'त्वम्' यह युष्मद् शब्द उपपद है अतः गम्धातु से मध्यम पुरुष हुआ है[1]।

(ख) समानाधिकरणे—परन्तु वह युष्मद् शब्द लकार का समानाधिकरण होना चाहिये। अर्थात् लकार का जो अधिकरण (वाच्य) हो वही अधिकरण (वाच्य) युष्मद् शब्द का भी होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि लँट् आदि लकार जिस कर्त्ता वा कर्म में हुए हों, युष्मद् शब्द का वाच्य भी वही कर्त्ता वा कर्म होना चाहिये उस से भिन्न नहीं। यथा—त्वं वनं गच्छसि, यहाँ गम्धातु से लँट् लकार कर्त्ता में हुआ है; तो लँट् से जिस कर्त्ता का निर्देश किया जा रहा है युष्मद् (त्वम्) शब्द भी उसी का निर्देश कर रहा है उससे भिन्न का नहीं, अतः दोनों के अधिकरण (वाच्य) में अभेद के कारण मध्यमपुरुष प्रयुक्त हुआ है। यदि उन दोनों के अधिकरणों (वाच्यों) में भेद होगा तो मध्यमपुरुष का प्रयोग न होगा। यथा—देवदत्तस्त्वां पश्यति, यहाँ 'पश्यति' में लँट् लकार देवदत्त नामक कर्त्ता की ओर निर्देश करता है, परन्तु युष्मद् (त्वाम्) शब्द किसी अन्य की ओर निर्देश करता है अतः अधिकरणों के भिन्न भिन्न होने से मध्यमपुरुष का प्रयोग नहीं हुआ। वृत्ति में 'तिङ्वाच्यकारकयाचिनि' का भी यही अभिप्राय है, वहां दीक्षितजी ने लकार की जगह 'तिङ्' का प्रयोग किया है जो स्पष्टतः एक ही बात है।

(ग) स्यानिन्यपि – अर्थात् उपर्युक्त लक्षण वाला युष्मद् शब्द चाहे साक्षात् पढ़ा गया हो या गम्यमान (Understood) हो, दोनों अवस्थाओं में मध्यमपुरुष हो सकता है। युष्मद् शब्द के साक्षात् पढ़े जाने पर तो मध्यमपुरुष होता ही है—यथा 'त्वं वनं गच्छसि', परन्तु अप्रयुज्यमान अर्थात् प्रयोग के विना केवल गम्यमान होने पर भी मध्यमपुरुष हो जाता है। यथा —वनं गच्छसि। यहाँ युष्मद् का साक्षात् प्रयोग न होने पर भी वह गम्यमान है अतः मध्यमपुरुष हो जाता है।

---

१. यदि यहां 'उपपदे' का ग्रहण न करते, केवल 'युष्मदि मध्यमः' ही कहते तो 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१६) परिभाषा से युष्मद् शब्द के अव्यवहित परे होने पर ही मध्यमपुरुष होता, युष्मद् के पूर्व में प्रयुक्त होने पर या व्यवहित होने पर वह न हो सकता। यथा—'वनं गच्छसि त्वम्' यहां तो हो जाता, किन्तु 'गच्छसि वनं त्वम्' यहां व्यवहित होने के कारण तथा 'वनं त्वं गच्छसि' यहां परे न होने के कारण न हो सकता। परन्तु अब 'उपपदे' (समीपोच्चारिते सति) कह देने से कोई दोष नहीं आता, क्योंकि युष्मद् शब्द का समीपोच्चारण तो व्यवधान में या पूर्व में स्थित होने पर भी हो सकता है।

इस प्रकार सब दोषों से रहित सूत्र का यह अर्थ निष्पन्न होता है—लकार (तिङ्) का वाच्य जो कारक, तद्वाचक युष्मद् शब्द के प्रयुज्यमान या अप्रयुज्यमान रहते हुए मध्यमपुरुष होता है।

टिप्पणी—'अत्र त्वं सम्पद्यते' इत्यादौ तु न मध्यम, तत्र युष्मच्छब्दस्य गौणत्वात्। 'भवान् आगच्छति' इत्यादौ युष्मच्छब्दप्रयोगाभावान्न मध्यम।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३८४) अस्मद्युत्तम ।१।४।१०६॥

तथाभूतेऽस्मद्युत्तम स्यात्॥

अर्थ—तिङ् का वाच्य जो कारक, तद्वाचक अस्मद् शब्द के प्रयुज्यमान वा अप्रयुज्यमान रहते उत्तमपुरुष हो।

व्याख्या—अस्मदि ।७।१। उत्तम ।१।१। यहाँ 'युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यम' सूत्र के 'युष्मदि' और 'मध्यम' पदों को छोड़कर शेष सब पदों की अनुवृत्ति आती है। अर्थ.—(समानाधिकरणे) लकार के साथ समान वाच्य वाले (अस्मदि) अस्मद् शब्द के (उपपदे) समीप उच्चरित होने पर (स्थानिनि) उसके अप्रयुज्यमान (अपि) या प्रयुज्यमान होने पर भी (उत्तम) उत्तम पुरुष होता है।

इस सूत्र की व्याख्या भी पूर्वसूत्रवत् समझनी चाहिये। अहं वनं गच्छामि, वनमहं गच्छामि, गच्छाम्यहं वनम्, गच्छामि वनम् इत्यादि इस के उदाहरण हैं। इसी प्रकार 'स मां पश्यति' आदि प्रत्युदाहरण समझने चाहियें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३८५) शेषे प्रथम ।१।४।१०७॥

मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथम स्यात्॥

अर्थ—मध्यम और उत्तम का विषय न होने पर प्रथमपुरुष हो।

व्याख्या—शेषे ।७।१। प्रथम ।१।१। यहाँ भी 'युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यम' सूत्र के 'युष्मदि' और 'मध्यम' पदों को छोड़कर शेष सब पदों का अनुवर्त्तन होता है। उक्ताद् अन्य—शेष। उक्त अर्थात् कहे गये से भिन्न 'शेष' होता है। युष्मद् और अस्मद् कहे जा चुके हैं अतः उनसे भिन्न सब शब्द शेष हैं। अर्थ—(समानाधिकरणे) लकार के साथ समान वाच्य वाले (शेषे) युष्मद्-अस्मद् शब्दों से अतिरिक्त अन्य शब्दों के (स्थानिनि) अप्रयुज्यमान या (अपि) प्रयुज्यमान रहने पर (प्रथम) प्रथमपुरुष होता है।

इस सूत्र का विषय विशाल है। 'युष्मद्युपपदे०' सूत्र केवल युष्मद् को तथा 'अस्मद्युत्तम.' सूत्र केवल अस्मद् को विषय बनाता था, परन्तु यह सूत्र उन दो के

अतिरिक्त सब प्रकार के सर्वनामों तथा सञ्ज्ञाओं को विषय बनाता है। यथा—भवान् वनं गच्छति, वनं भवान् गच्छति, गच्छति भवान् वनम्, गच्छति वनम्; स वनं गच्छति, वनं स गच्छति, गच्छति स वनम्, गच्छति वनम्: रामो वनं गच्छति, वनं रामो गच्छति, गच्छति रामो वनम्, गच्छति वनम् इत्यादि। इस सूत्र की व्याख्या भी पूर्ववत् समझनी चाहिये।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि यदि युष्मद् और अस्मद् दोनों की एक ही क्रिया में साथ साथ विवक्षा होगी तो परत्व के कारण 'अस्मद्युत्तमः' सूत्र से उत्तम पुरुष ही होगा, यथा—त्वं च अहं च गच्छावः। यदि मध्यम और प्रथम दोनों की युगपत् विवक्षा होगी तो मध्यमपुरुष ही होगा क्योंकि वहाँ 'युष्मद्' शब्द के विद्यमान रहते शेषत्व उपपन्न नहीं होता, यथा त्वं च स च गच्छथः। इसी प्रकार उत्तम और प्रथम की विवक्षा में उत्तमपुरुष ही होगा, यथा—असौ चाऽहञ्च गच्छावः।

यहाँ तक साधारण प्रक्रियान्तर्गत पदों वचनों और पुरुषों की व्यवस्था बतलाई गई है। अब यहाँ से आगे भू धातु की लँट् आदि लकारों में क्रमशः प्रक्रिया दिखाई जायेगी।

भू धातु से कर्तृविवक्षा में 'वर्त्तमाने लँट्' (३७४) सूत्र से लँट् प्रत्यय लाकर अनुबन्धलोप किया तो 'भू+ल्' हुआ। अब यहाँ 'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्' (३८०) से ल् के स्थान पर परस्मैपद प्रत्यय करने हैं। अतः प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में 'तिप्' आदेश होकर 'भू+तिप्' बना। तिप् के पकार को 'हलन्त्यम्' (१) से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से लोप होकर 'भू+ति' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३८६) तिङ्शित् सार्वधातुकम् ।३।४।११३॥

तिङः शितश्च धात्वधिकारोक्ता एतत्संज्ञाः स्युः॥

अर्थः—'धातोः' के अधिकार में कहे गये तिङ् और शित् प्रत्यय सार्वधातुक-सञ्ज्ञक हों।

व्याख्या— तिङ्शित् ।१।१। सार्वधातुकम् ।१।१। धातोः ।५।१। (यह अधिकृत है)। तिङ् च शित् च तिङ्शित्, समाहारद्वन्द्वः। अथवा व्यस्तमेव। श् इत् यस्य स शित्, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(धातोः) 'धातोः' कह कर विधान किये गये (तिङ्शित्) तिङ् और शित् प्रत्यय (सार्वधातुकम्) सार्वधातुकसञ्ज्ञक हों।

तिप्, तस्, झि आदि अठारह प्रत्यय तिङ् कहाते हैं, यह पीछे कह चुके हैं। शित् प्रत्यय वह कहलाता है जिसके श् की इत्संज्ञा होती है, यथा—शप्, श्यन्, श,

श्नम्, श्ना आदि शित् प्रत्यय हैं। तिङ् और शित् प्रत्यय तभी सार्वधातुक होंगे जब वे धात्वधिकार मे पठित होंगे। धात्वधिकार मे पठित न होने से इनकी सार्वधातुक-सञ्ज्ञा न होगी, यथा—हरि+शस्=हरीन्, यहाँ पर शस् प्रत्यय के शित् होने पर भी सार्वधातुकसञ्ज्ञा नहीं होती। ध्यान रहे कि यदि यहाँ सार्वधातुकसञ्ज्ञा हो जाती तो 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङिद्वद्भाव के कारण 'घेर्ङिति' (१७२) से गुण हो जाता जो अनिष्ट था।

यहाँ 'धातो' पद का 'धातु से विधान किये गये' ऐसा अर्थ नहीं किया गया, क्योंकि[1] तब 'श्री+शस=श्रिय, लिह्+शस्=लिह' इत्यादियों में शस् की सार्वधातुकसज्ञा होकर 'सार्वधातुके यक्' (७५२) से यक् प्राप्त होने लगता, कारण कि 'क्विबन्ता क्विङन्ता विजन्ता शब्दा धातुत्व न जहति' इस परिभाषा से श्री, लिह् आदियों का धातुत्व अक्षुण्ण है। परन्तु अब 'धात्वधिकारपठित' अर्थ करने से कोई दोष नहीं आता, क्योंकि यहाँ शस् का विधान 'धातो' के अधिकार में नहीं हुआ अपितु 'इयाप्प्रातिपदिकात्' (११६) से 'प्रातिपदिकात्' के अधिकार में हुआ है[1]।

'भू+ति' यहाँ धात्वधिकार में भू धातु से 'ति' यह तिङ् विधान किया गया है अत प्रकृतसूत्र से 'ति' की सार्वधातुक सज्ञा हो जाती है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३८७) कर्त्तरि शप् ।३।१।६८॥

कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातो शप् स्यात्। शपावितौ॥

अर्थ—कर्त्ता अर्थ में सार्वधातुक परे हो तो धातु से परे शप् प्रत्यय हो। शप् के शकार और पकार की इत्सज्ञा हो जाती है।

व्याख्या—कर्तरि ।७।१। शप् ।१।१। धातोः ।५।१। ('धातोरेकाचो हलादे०' से) 'प्रत्ययः' और 'परश्च' दोनो अधिकृत हैं। सार्वधातुके ।७।१। ('सार्वधातुके यक्' से)। अर्थ—(कर्तरि) कर्त्ता अर्थ में (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे होने पर (धातो) धातु से (पर) परे (शप्) शप् (प्रत्यय) प्रत्यय हो।

---

१ 'धात्वधिकारपठित' से केवल 'धातो' (३।१।९१) इस अधिकार में पठित प्रत्ययों का ही ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि तब इस अधिकार से पूर्व प्रतिपादित शप्, श्यन् आदि प्रत्यय सार्वधातुक न हो सकेंगे। अत 'धातो' कह कर विधान किये गये प्रत्यय धात्वधिकार के अन्तर्गत पठित मानने चाहियें। शप्, श्यन् आदि के विधायक सूत्रों में भी 'धातोरेकाच०' (७११) से 'धातोः' की अनुवृत्ति आती है अत वे भी धात्वधिकार पठित हैं।

'भू+ति' यहाँ 'ति' यह सार्वधातुक परे है और वह लँट्स्थानिक होने से कर्त्ता अर्थ में विधान किया गया है। अतः भू धातु से परे शप् प्रत्यय होकर 'भू+शप्+ति' हुआ। शप् के शकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से तथा पकार की 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा होकर 'तस्य लोपः' (३) से दोनों का लोप हो जाता है[1]—भू+अ+ति। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है --

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३८८) सार्वधातुकाऽऽर्धधातुकयोः ।७।३।८४॥

अनयोः परयोरिगन्ताङ्गस्य गुणः स्यात्। अवादेशः—भवति। भवतः॥

अर्थः—सार्वधातुक या आर्धधातुक परे हो तो इगन्त अङ्ग के स्थान पर गुण आदेश हो। अवादेशः—'एचोऽयवायावः' (२२) से ओकार को अव् आदेश हो जाता है।

व्याख्या – सार्वधातुकाऽऽर्धधातुकयोः ।७।२। गुणः ।१।१। ('मिदेर्गुणः' से) अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है)। 'इको गुणवृद्धी' (१।१।३) परिभाषा से 'इकः' पद उपस्थित होकर 'अङ्गस्य' का विशेषण हो जाता है, तब विशेषण से तदन्तविधि होकर 'इगन्तस्य अङ्गस्य' बन जाता है। अर्थः—(सार्वधातुकार्धधातुकयोः) सार्वधातुक या आर्धधातुक[2] परे होने पर (इकः=इगन्तस्य) इगन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह गुणादेश इगन्त अङ्ग के अन्त्य वर्ण इक् के स्थान पर ही होता है।

'भू+अ+ति' यहाँ शप् का अकार शित् होने के कारण 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' (३८६) से सार्वधातुकसंज्ञक है अतः इसके परे होने पर प्रकृतसूत्र से 'भू' इस इगन्त अङ्ग के अन्त्य वर्ण ऊकार को ओकार गुण होकर 'भो+अ+ति' हुआ। अब 'एचोऽयवायावः' (२२) से ओकार को अव् आदेश करने पर 'भवति' प्रयोग सिद्ध होता है।

भू धातु से कर्तृविवक्षा के वर्त्तमान काल में लँट् प्रत्यय होकर प्रथमपुरुष के

---

१. शप् में पकार 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३.१.४) द्वारा अनुदात्तस्वर करने के लिये तथा 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा ङिद्वद्भाव से बचने के लिये लगाया गया है। शकार के जोड़ने का प्रयोजन 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' (३८६) से सार्वधातुक संज्ञा का करना है।

२ आर्धधातुकसंज्ञा का स्पष्टीकरण आगे मूल में ही (४०४) सूत्र पर किया गया है। आर्धधातुक परे होने पर गुण के उदाहरण 'भविता, भवितारौ' आदि भी आगे मूल में ही स्पष्ट हैं।

द्विवचन में उसे तस् आदेश करने पर 'भू+तस्' हुआ। तिङ् होने के कारण तस् की 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' (३८६) से सार्वधातुकसञ्ज्ञा होकर 'कर्त्तरि शप्' (३८७) से शप्, अनुबन्धलोप, शित्त्व के कारण शप् के अकार की भी सार्वधातुकसञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' (३८८) से भू के ऊकार को ओकार गुण तथा 'एचोऽयवायाव' (२२) से अव् आदेश करने से 'भवतस्' बना। अब 'ससजुषो रुँ' (१०५) सूत्र से पदान्त सकार को रुँत्व, अनुबन्धलोप तथा अवसान मे रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'भवतः' प्रयोग सिद्ध होता है।

भू धातु से कर्तृविवक्षा के वर्त्तमानकाल में लँट्, प्रथमपुरुष के बहुवचन की विवक्षा मे लकार के स्थान पर झि आदेश, झि की सार्वधातुकसञ्ज्ञा, 'कर्त्तरि शप्' (३८७) से शप्, अनुबन्धलोप, पुन शप् की भी सार्वधातुकसज्ञा, गुण तथा अवादेश होकर 'भव+झि' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३८९) झोऽन्त ।७।१।३॥

प्रत्ययावयवस्य झस्य अन्तादेश स्यात्। अतो गुणे (२७४)—भवन्ति। भवसि। भवथ। भवथ॥

अर्थ—प्रत्यय के अवयव झ् के स्थान पर अन्त् आदेश हो।

व्याख्या—झ' ।६।१। अन्त ।१।१। तकारादकार उच्चारणार्थं। प्रत्ययस्य ।६।१। ('आयनेयीनीयिय फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' से एकदेशस्वरित के बल से केवल 'प्रत्यय' अश आकर षष्ठ्यन्ततया विपरिणमित हो जाता है)। अर्थ—(प्रत्ययस्य) प्रत्यय के अवयव (झ) झ् के स्थान पर (अन्त) अन्त् आदेश हो। अन्त् आदेश के तकार की 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र से इत्सज्ञा प्राप्त होती है, परन्तु 'न विभक्तौ तुस्मा' (१३१) से उसका निषेध हो जाता है। ध्यान रहे कि 'विभक्तिश्च' (१३०) सूत्र द्वारा तिङों की विभक्तिसञ्ज्ञा भी है।

'भव+झि' यहाँ 'झि' यह प्रत्यय है अतः इसके अवयव झ् के स्थान पर अन्त आदेश होकर—'भव+अन्त् इ=भव+अन्ति' हुआ। अब 'अक सवर्णे दीर्घ' (३६) द्वारा प्राप्त सवर्णदीर्घ का बाध कर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने पर 'भवन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है।

'अन्त्' आदेश के आदि में अकार रखने का यद्यपि यहाँ कुछ प्रयोजन प्रतीत नही होता तथापि अदादिगण में, जहां शप् का लुक् हो जाता है, इसकी उपयोगिता स्पष्ट है, यथा—अद्+अन्ति=अदन्ति, द्विषन्ति, लिहन्ति आदि।

'प्रत्यय का अवयव' न कहते तो 'उज्झिता' आदि में धातु के झकार को भी

अन्त् आदेश होकर अनिष्ट रूप बन जाता।

भू धातु से कर्तृविवक्षा के वर्त्तमानकाल में लँट्, मध्यमपुरुष के एकवचन में लकार के स्थान पर सिप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध की इत्सञ्ज्ञा और लोप, 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' (३८६) से 'सि' की सार्वधातुकसञ्ज्ञा, 'कर्त्तरि शप्' (३८७) से शप्, अनुबन्धलोप होकर शित्त्व के कारण शप् के अकार की भी सार्वधातुकसञ्ज्ञा करने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (३८८) से उकार को ओकार गुण तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से ओकार को अवादेश होकर 'भवसि' प्रयोग सिद्ध होता है।

लँट् के स्थान पर मध्यमपुरुष के द्विवचन की विवक्षा में 'थस्' प्रत्यय होकर पूर्ववत् शप्, गुण, अवादेश तथा पदान्त सकार को रुँत्व-विसर्ग करने पर 'भवथः' प्रयोग सिद्ध होता है।

लँट् के स्थान पर मध्यमपुरुष के बहुवचन में 'थ' आदेश होकर पूर्ववत् शप्, गुण और अवादेश करने पर 'भवथ' प्रयोग सिद्ध होता है।

उत्तमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में लँट् के स्थान पर मिप् प्रत्यय, पकारानुबन्ध का लोप, उसकी सार्वधातुकसञ्ज्ञा, शप्, अनुबन्धलोप, गुण तथा अवादेश करने पर 'भव+मि' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३९०) अतो दीर्घो यञि ।७।३।१०१।।

अतोऽङ्गस्य दीर्घो यञादौ सार्वधातुके। भवामि। भवावः। भवामः। स भवति। तौ भवतः। ते भवन्ति। त्वं भवसि। युवां भवथः। यूयं भवथ। अहं भवामि। आवां भवावः। वयं भवामः।।

अर्थः—अदन्त अङ्ग के स्थान पर दीर्घ आदेश हो, यञादि सार्वधातुक परे हो तो।

व्याख्या—अतः ।६।१। दीर्घः ।१।१। यञि ।७।१। अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है)। सार्वधातुके ।७।१। ('तुह्यस्तुशम्यमः सार्वधातुके' से)। 'अतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है इसलिये तदन्तविधि होकर 'अदन्तस्य अङ्गस्य' बन जाता है। 'यञि' यह 'सार्वधातुके' का विशेषण है अतः 'यस्मिन्विधिस्तदा०' से तदादिविधि होकर 'यञादौ सार्वधातुके' बन जाता है। अर्थः—(अतः=अदन्तस्य) अदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है (यञि=यञादौ) यञादि (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह दीर्घ अदन्त अङ्ग के अन्त्य वर्ण—अत् के स्थान पर ही होता है।

'भव+मि' यहां 'मि' यह यञादि सार्वधातुक परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र

से अदन्त अङ्ग 'भव' के अन्त्य अकार को दीर्घ आदेश होकर 'भवामि' प्रयोग सिद्ध होता है।

अजी ! मिप् प्रत्यय तो 'भू' से किया गया था अत 'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' (१३३) सूत्रद्वारा 'भू' की ही अङ्ग सज्ञा होनी चाहिये थी न कि 'भव' की—यहा यह शङ्का नही करनी चाहिये, क्योकि उस सूत्र मे तदादि' कहने से विकरणविशिष्ट की अङ्गसज्ञा निर्बाध हो जाती है। यह सब पीछे पूर्वार्ध में इसी सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

यजादि कहने से 'भवसि, भवथ, भवथ' आदियो मे तथा सार्वधातुक कहने से 'अङ्गना, केशव [1]' आदियो मे दीर्घ नही होता।

उत्तमपुरुष के द्विवचन में लँट् को वस् प्रत्यय, शप्, अनुबन्धलोप, गुण, अवादेश तथा 'अतो दीर्घो यञि' से दीर्घ होकर 'भवाव' सिद्ध होता है। इसी प्रकार उत्तमपुरुष के बहुवचन मे मस् प्रत्यय होकर 'भवाम' प्रयोग बनता है। लँट् मे रूपमाला यथा—

| | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|---|---|---|---|
| प्र० पु० | स भवति (वह होता है) | तौ भवत (वे दो होते हैं) | ते भवन्ति (वे सब होते हैं) |
| म० पु० | त्वं भवसि (तू होता है) | युवा भवथ (तुम दो होते हो) | यूय भवथ (तुम सब होते हो) |
| उ० पु० | अहं भवामि (मैं होता हूँ) | आवा भवाव (हम दो होते है) | वय भवाम (हम सब होते हैं) |

स, तौ आदि के बिना भी 'भवति, भवत, भवन्ति' आदि का प्रयोग हो सकता है, यह पीछे पुरुषव्यवस्थाप्रकरण मे स्पष्ट कर चुके हैं।

अब लिँट् की प्रक्रिया आरम्भ करते हुए सर्वप्रथम लिँट् लकार का अर्थ प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३९१) परोक्षे लिँट् ।३।२।११५॥

भूताऽनद्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धातोर्लिँट् स्यात्। लस्य तिवादय ॥

अर्थ—अनद्यतन परोक्ष भूत अर्थ में स्थित धातु से लिँट् हो। लस्य—लिँट्

---

१ अङ्गना—प्रशस्तानि अङ्गानि अस्या इति विग्रहे 'लोमादि-पामादि पिच्छादिभ्य शनेलच' (११८८) इति नप्रत्यय। केशव—केशा सन्त्यस्येति विग्रहे 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम्' (११९०) इति मत्वर्थीयो वप्रत्यय।

लकार के स्थान पर तिप् आदि हो जायेंगे।

व्याख्या—परोक्षे ।७।१। लिँट् ।१।१। अनद्यतने ।७।१। ( अनद्यतने लँङ्' से) भूते ।७।१। (यह अधिकृत है)। धातोः ५।१। (यह भी अधिकृत है)। अर्थः—(अनद्यतने परोक्षे भूते) अनद्यतन परोक्ष भूत अर्थ में स्थित (धातोः) धातु से परे (लिँट्) लिँट् हो।

अद्य भवम् अद्यतनम् ['सायंचिरम्०' (१०८६) इति ट्युप्रत्ययस्तुडागमश्च] जो आज का हो उसे 'अद्यतन' कहते हैं। न अद्यतनम्, अनद्यतनम्, आज न होने वाले को 'अनद्यतन' कहते हैं। लिँट् लकार ऐसे भूतकाल में प्रयुक्त होता है जो आज का न हो। देवदत्त ने आज प्रातः भोजन किया—यहां भूतकाल तो है पर वह भूत आज का होने से अद्यतन है, अनद्यतन नहीं। अतः इसमें लिँट् का प्रयोग नहीं होता। आजकल डाकखाने और रेल्वे आदियों में रात्रि के बारह बजने के बाद तिथि परिवर्त्तन होता है। इस प्रकार गत रात्रि के बारह बजे से लेकर आगामी रात्रि के बारह बजे तक का काल 'अद्यतन'[1] होगा। इस अद्यतन से भिन्न, व्यतीत हुआ काल अनद्यतनभूत और आगे आने वाला अनद्यतनभविष्यत् कहलायेगा। अनद्यतनभूत में लिँट् का तथा अनद्यनभविष्यत् में 'अनद्यतने लुँट्' (४०२) से लुँट् का प्रयोग होता है।

लिँट् के प्रयोग में अनद्यतन भूत के अतिरिक्त एक और भी शर्त है। वह है उस का परोक्ष[2] होना। यदि अनद्यतनभूत परोक्ष न होगा तो उसमें लिँट् का प्रयोग न होकर 'अनद्यतने लँङ्' (४२२) से लँङ् का प्रयोग होगा। परोक्ष के अर्थ के विषय में महाभाष्य में कई मत दिखाये गये हैं। कई लोग सौ साल पुरानी बात को परोक्ष कहते हैं। अन्य विद्वान् एक हजार वर्ष पुरानी को परोक्ष बतलाते हैं। कई दो या

---

१. अहरुभयतोऽर्धरात्रमेषोऽद्यतनः काल इति पूर्वे वैयाकरणाः (देखें काशिका १.२.५७)।

२. अक्ष्णः परम् परोक्षम्, मयूरव्यंसकादित्वात्समासः। वृत्तिविषये चाक्षिशब्दः सर्वेन्द्रियवाची, न तु चक्षुर्मात्रपर्यायः। अन्यथेन्द्रियान्तरविज्ञातं वस्तु परोक्षशब्दवाच्यं स्याद् इति कैयटः। भट्टोजिदीक्षितमते तु परोक्षम् इत्यत्राव्ययीभावः, 'प्रति-पर-समनु-म्योऽक्ष्णः' इति समासान्तष्टच् इति। परं नागेशादयो दीक्षितमतं नाऽनुमोदन्ते। अक्षशब्दोऽप्यस्तीन्द्रियवाचकः, तेनालं समासान्तकरणकल्पनया। 'प्रति-पर-समनु०' इति वार्त्तिके परशब्दोपादानमनार्षम् इत्याहुः।

'परोभावः परस्याक्षे परोक्षे लिटि दृश्यताम्।
उत्वं वाऽऽदेः परादक्ष्णः सिद्धं वाऽस्मान्निपातनात्॥' (महाभाष्ये)

तीन दिन पुरानी बात को परोक्ष मानते हैं। इतर बुद्धिमान् दीवार चटाई आदि की ओट में हुई बात को भी परोक्ष स्वीकार करते हैं। परन्तु सामान्य मत यह है कि वक्ता से जो परोक्ष अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियों के ज्ञान से दूर हो उसे परोक्ष कहते हैं फिर चाहे वह अतीत मे कभी क्यो न हुआ हो[1]।

इस प्रकार भू धातु से अनद्यतन-परोक्ष-भूतकाल में लिँट् हो गया तो—भू+लिँट्=भू+ल् हुआ। अब प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा मे लकार के स्थान पर तिप् प्रत्यय करने पर 'भू+ति' बना। इस अवस्था मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्— (३९२) परस्मैपदाना णलतुसुस्थलथुसणल्-वमा । ३।४।८२॥

लिँटस्तिवादीना नवाना णलादय स्यु । 'भू+अ' इति स्थिते—

अर्थ—लिँट् के स्थान पर आदिष्ट तिप् आदि नौ प्रत्ययों के स्थान पर क्रमश णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस्, अ, णल्, व, म ये नौ आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—परस्मैपदानाम् ।६।३। णल्-अतुस्-उस्-थल्-अथुस्-अ णल् व-मा ।१।३। लिँट ।६ १। ('लिँटस्तझयोरेशिरेच्' से)। अर्थ—(लिँट ) लिँट् के (परस्मैपदानाम्) परस्मैपद प्रत्ययों के स्थान पर (णल्—वमा ) णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस्, अ णल्, व, म ये नौ आदेश हो जाते हैं।

लिँट् के स्थान पर होने वाले परस्मैपद प्रत्यय तिप्, तस्, झि आदि नौ हैं। इनके स्थान पर हो रहे णल्, अतुस्, उस् आदि आदेश भी नौ हैं। अत यथासङ्ख्य-परिभाषा से ये आदेश क्रमश होते हैं, यथा तिप् को णल्, तस को अतुस्, झि को उस् आदि। कोष्ठक यथा—

| पुरुष | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|---|---|---|---|
| प्रथमपुरुष | तिप् (णल्) | तस् (अतुस्) | झि (उस्) |
| मध्यमपुरुष | सिप् (थल्) | थस् (अथुस्) | थ (अ) |
| उत्तमपुरुष | मिप् (णल्) | वस् (व) | मस् (म) |

---

१ कथ जातीयक पुन परोक्ष नाम ? केचित्त्वाहु—वर्षशतवृत्त परोक्षमिति। अपर आहु—वर्षसहस्रवृत्त परोक्षमिति। अपर आहु—कुड्य-कटान्तरित परोक्ष-मिति। अपर आहु—द्व्यहवृत्त त्र्यहवृत्त चेति (दृश्यतामत्रत्य महाभाष्यम्)।

तिप् के स्थान पर होने वाले णल् का णकार 'चुटू' (१२९) से तथा लकार 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र से इत्सञ्ज्ञक है अतः 'अ' ही अवशिष्ट रहता है[1]। इसी प्रकार मिप् के स्थान पर होने वाले णल् के विषय में भी समझ लेना चाहिये। थल् का लकार भी इत्सञ्ज्ञक है अतः 'थ' ही अवशिष्ट रहता है। अतुस्, अथुस्, उस् इन आदेशों के सकार की हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा नहीं होती, 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) से निषेध हो जाता है। इनकी विभक्तिसञ्ज्ञा स्थानिवद्भाव के कारण 'विभक्तिश्च' (१३०) सूत्र द्वारा है ही।

तिप् के स्थान पर होने वाला णल् 'अनेकाल्शित्०' (४५) सूत्र से सर्वादेश होता है। यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि णल् में अनुबन्धों का लोप होकर 'अ' ही शेष बचता है, पुनः अनुबन्धों के कारण किसी को अनेकाल् माना नहीं जाता—'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' (प०)। अतः णल् के अनेकाल् न होने से सर्वादेश न होना चाहिये, प्रत्युत अलोऽन्त्यपरिभाषा से तिप् के अन्त्य अल्-इकार को ही णल् आदेश करना उचित है। इसका समाधान यह है कि जब तक तिप् के स्थान पर णल् आदेश न हो जाये तब तक उसके णकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं हो सकती, कारण कि 'चुटू' (१२९) सूत्र प्रत्यय के आदि वाले चवर्ग टवर्ग की ही इत्सञ्ज्ञा करता है। जब तक आदेश न हो ले तब तक स्थानिवद्भाव के कारण णल् को प्रत्यय नहीं माना जा सकता; अतः आदेश करते समय णल् में प्रत्ययत्व न होने के कारण णकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती तब अनेकाल् होने से सर्वादेश हो जाता है कोई दोष प्रसक्त नहीं होता[2]।

मध्यमपुरुष के बहुवचन 'थ' के स्थान पर होने वाला आदेश 'अ' अनेकाल् न

---

१. णल् में णकार 'अचो ञ्णिति' (१८२) आदि वृद्धिकार्यों के लिये तथा लकार 'लिति' (६.१.१८७) आदि स्वरकार्यों के लिये जोड़ा गया है।

२. परं भाष्यमर्मविदः श्रीनागेशभट्टास्त्वत्रारुचिमेव विदधति। उक्तञ्च तैरत्र शेखरे—

णलः सर्वादेशत्वं ततः प्राग्णकारस्य लोपाभावेन अनेकाल्त्वाद् इति केचित्, तन्न। नाऽनुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् इति निषेधात्। अनुबन्धत्वयोग्यकृतम् इति तदर्थः। ध्वनितञ्चैदं 'डा-रौ-रसः' इतिसूत्रे 'अनेकाल्०' इति च सूत्रे भाष्ये, इति 'जसः शी'-त्यत्र निरूपितम्। तस्माद् 'ण अल्' इति प्रश्लेषेण अनेकाल्त्वेन सर्वादेशत्वसिद्धिः। प्रश्लेषसामर्थ्याद् आदेशोत्तरम् एकादेशप्रवृत्तिः। एवं 'डा+आ' इति प्रश्लेषणाद् डादेशः सर्वादेशो बोध्यः।

होने से अलोऽन्त्यपरिभाषाद्वारा अन्त्य अकार के स्थान पर होना चाहिये था [1], परन्तु सूत्र में 'अ+अ' इन दो अकारो में 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप होकर एक अकार बना हुआ स्वीकार कर लेने से नहीं होता। तात्पर्य यह है कि 'थ' के स्थान पर 'अ+अ' इस प्रकार दो अकारो वाला आदेश होना है और प्रश्लेषसामर्थ्य से आदेश होते ही उन अकारो मे सर्वप्रथम पररूप एकादेश हो जाता है। इस प्रकार दो अकारो वाला आदेश मानने से अनेकाल्त्वात् सर्वादेश हो जाता है अनोऽन्त्यपरिभाषा प्रवृत्त नहीं होती।

इत्थ णल् आदि नौ आदेश तिप् आदियों के स्थान पर सर्वादेश ही होते हैं—यह सर्वसम्मत सिद्धान्त समझना चाहिये।

'भू+ति' यहाँ प्रकृतसूत्र से तिप् के स्थान पर णल् आदेश होकर अनुबन्धो का लोप करने से 'भू+अ' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३९३) भुवो वुग्लुँङ्लिँटो ।६।४।८८॥

भुवो वुगागम स्याल्लुँङ्लिँटोरचि॥

अर्थ—भू को वुक् का आगम हो लुँङ् या लिँट् सम्बन्धी अच् परे हो तो।

व्याख्या—भुव । ६।१। वुक् ।१।१। लुँङ्-लिँटो ।६।२। अचि ।७।१। ('अचि श्नु०' से) अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है)। अर्थ—(लुँङ् लिँटो) लुँङ् या लिँट् का (अचि) अच् परे हो तो[2] (भुव, अङ्गस्य) भू अङ्ग का अवयव (वुक्) वुक् हो जाता है। वुक् मे ककार इत् तथा उकार उच्चारणार्थ है। कित् होने से वुक् का आगम 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) के अनुसार भू का अन्तावयव बनता है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'भू+अ' यहा प्रकृतसूत्र से वुक् का आगम करें या परत्व के कारण 'अचो ञ्णिति' (१८२) सूत्र से अजन्त अङ्ग को वृद्धि करें? इसका उत्तर यह है कि 'नित्यत्वादय गुणवृद्धी बाधते' अर्थात् नित्य होने से वुक् का

---

१ यदि कहे कि अन्त्य 'अ' के स्थान पर पुन 'अ' करने का कुछ भी फल न देखकर विधानसामर्थ्य से इसे सर्वादेश ही मान लेंगे तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि तिप् आदि नौ प्रत्ययो का णल् आदि नौ प्रत्ययो के साथ यथासङ्ख्यसम्पादन करना इस का प्रयोजन मान लेंगे तो विधानसामर्थ्य भी नही रहेगा।

२ अचि किम्? अभूत्। वुकि सति 'लोपो व्योर्बलि' (४२९) इति लोप बाधित्वा परत्वाद् हल्ङ्यादिलोप स्यात्। विस्तरस्तु प्रौढमनोरमायां तत्त्वबोधिन्यां वाऽवलोकनीय।

आगम गुण और वृद्धि दोनों का बाध कर लेता है [1]। हमेशा पर से नित्य बलवान् होता है, जैसा कि कहा है—'पूर्व-पर-नित्यान्तरङ्गापवादानाम् उत्तरोत्तरं बलीयः'। यहां गुण और वृद्धि यद्यपि पर हैं तथापि नित्य होने से वुक् का आगम उन दोनों का बाध कर लेता है। नित्य का लक्षण है - 'कृताऽकृतप्रसङ्गी यो विधिः स नित्यः' अर्थात् जो विधि दूसरी विधि के होने या न होने पर समानरूप से प्राप्त रहे वह उसकी अपेक्षा नित्य होती है। यथा यहां यदि वृद्धि या गुण कर भी लिये जायें तो भी 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस न्याय के अनुसार भू समझ कर वुक् का आगम प्राप्त होगा, परन्तु यदि वुक् कर लेते हैं तो अजन्त व इगन्त न रहने से वृद्धि या गुण में से कोई भी प्राप्त नहीं हो सकता। अतः वृद्धि और गुण की अपेक्षा वुक् का आगम नित्य होने से प्रवृत्त हो जायेगा, गुण और वृद्धि न होगे।

'भू+अ' यहां लिँट् का अच् परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से भू को वुक् का आगम होकर अनुनन्धलोप करने से 'भूव्+अ' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(३९४) लिँटि धातोरनभ्यासस्य ।६।१।८॥

लिँटि परेऽनभ्यासधात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः, आदिभूतादचः परस्य तु द्वितीयस्य। 'भूव् भूव् अ' इति स्थिते—

अर्थः—लिँट् परे होने पर अनभ्यास धातु के अवयव प्रथम एकाच् को द्वित्व हो जाता है परन्तु यदि धातु का आदिभूत (पहला अक्षर) अच् हो तो उससे परे दूसरे एकाच् भाग को द्वित्व होता है।

व्याख्या—लिँटि ।७।१। धातोः ।६।१। अनभ्यासस्य ।६।१। यहां दो अधिकार-सूत्र पीछे से आरहे हैं—'एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादेर्द्वितीयस्य'। अर्थः—(लिँटि) लिँट् परे होने पर (अनभ्यासस्य) जिसकी अभ्याससंज्ञा नहीं ऐसी (धातोः) धातु के अवयव (एकाचः) एक अच् वाले (प्रथमस्य) प्रथम भाग के (द्वे) दो उच्चारण हो जाते हैं परन्तु (अजादेः) आदिभूत अच् से परे तो (द्वितीयस्य) द्वितीय एकाच् भाग के ही दो उच्चारण होते हैं।

'अनभ्यासस्य' यह 'धातोः' का विशेषण है। न अभ्यासः=अनभ्यासः, तस्य=अनभ्यासस्य। द्वित्व ऐसी धातु को होता है जिसकी अभ्याससंज्ञा न हो। द्वित्व कर चुकने पर पहले भाग की 'पूर्वोऽभ्यासः' (३९५) से अभ्याससंज्ञा कही गई है। इस प्रकार 'अनभ्यास धातु को द्वित्व हो' इस कथन का यही तात्पर्य निकलता है कि

---

१. 'भू+इथ' यहां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (३८८) से गुण प्राप्त था, इस का बाध कर वुक् प्रवृत्त हो जाता है।

यदि एक बार द्वित्व हो जाये तो बाद में किसी अन्य सूत्र द्वारा द्वित्व के प्राप्त होने पर भी द्वित्व न हो। यथा—यङन्त धातु को एक बार 'सन्यङो' (७०६) सूत्र से द्वित्व हो चुकता है पुन उस से सन् प्रत्यय करने पर तन्निमित्तक द्वित्व न होगा। परन्तु महाभाष्य में इस अंश का खण्डन किया गया है। वहा कहा गया है कि ऐसे प्रयोग लोक मे नही पाये जाते। वेद के लिये तो सम्पूर्ण द्वित्वप्रकरण का ही विकल्प है।

'धातो' में षष्ठी अवयवावयविभाव में आई है। 'धातु का अवयव जो एकाच् प्रथमभाग या द्वितीय भाग' ऐसा अर्थ समझना चाहिये। 'धातो' और 'एकाच' का सामानाधिकरण्य समझने की भूल नही करनी चाहिये।

'धातो' का ग्रहण न करते तो 'लिट् परे होने पर एक अच् वाले प्रथम भाग को द्वित्व हो' ऐसा अर्थ होने से 'पपाच' आदि तो सिद्ध हो जाते परन्तु 'जागृ+अ' यहा 'जाग्' भाग को द्वित्व न हो सकता क्योंकि उससे परे लिट् न होता। अब 'धातो' कहने से कोई दोष नही आता।

'एकाच' यहां तद्गुणसविज्ञान बहुव्रीहिसमास है। एकोऽच् यस्य यस्मिन् वा स एकाच्, तस्य=एकाच। यदि यहा 'एकश्चाऽप्रावच् च एकाच्, तस्य=एकाच' इस प्रकार कर्मधारयसमास मानेंगे तो इयाय, आर आदि तो सिद्ध हो जायेंगे क्योंकि उन में 'इ' और 'ऋ' यह एकाजरूप धातु है, परन्तु पच् पठ् आदियो के पपाच, पपाठ आदि उपपन्न न हो सकेंगे क्योंकि वहा एकाजरूप धातु नहीं है। अत बहुव्रीहिसमास मानना ही युक्त है। बहुव्रीहिसमास स्वीकार करने से 'पपाच, पपाठ' आदि तो सिद्ध होंगे ही किन्तु इयाय, आर आदि भी व्यपदेशिवद्भाव से सिद्ध हो जायेंगे[1]।

'अजादे' यहां कर्मधारयसमास से पञ्चमी का एकवचन समझना चाहिये। अच्चासौ आदिश्च अजादि, तस्माद् अजादे[2]। आदि अच् से परे द्वितीय एकाच् को

---

१ महाभाष्य में इसका वर्णन अत्यन्त सुन्दर शब्दो में आया है—

"एकाच इति किमयं बहुव्रीहि, एकोऽच् यस्मिन् इति, आहोस्वित् तत्पुरुषोऽपि समानाधिकरण—एकोऽच्=एकाच् इति। किञ्चात? यदि बहुव्रीहि, सिद्ध पपाच पपाठ। इयाय, आर इति न सिध्यति। अथ तत्पुरुष समानाधिकरण, सिद्धम् इयाय आर इति। पपाच पपाठेति न सिध्यति। (अत उत्तर पठति) एकाचो द्वे प्रथमस्येति बहुव्रीहिनिर्देश। एकवर्णेषु कथम्? एकवर्णेषु व्यपदेशिवद्वचनात्। व्यपदेशिवदेकस्मिन् कार्यं भवतीति वक्तव्यम्। एकवर्णेषु द्विवचन भविष्यति।"

२ यदि यहाँ बहुव्रीहिसमास से षष्ठी स्वीकार करें तो 'इन्द्रीयिषति' प्रयोग न बन सकेगा। इन्द्रमात्मन इच्छतीति इन्द्रीयति, इन्द्रीयितुमिच्छतीति इन्द्रीयिषति।

संयोगादय ' से निषेध होकर केवल 'नु' भाग को ही द्वित्व होता है) ।

'भूव्+अ' यहाँ प्रकृतसूत्र से 'भूव्' को व्यपदेशिवद्भाव से प्रथम एकाच् समझ कर द्वित्व हो गया तो 'भूव् भूव्+अ' हुआ । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—(३९५) पूर्वोऽभ्यास ।६।१।४॥

अत्र ये द्वे विहिते तयो पूर्वोऽभ्याससञ्ज्ञ स्यात् ॥

अर्थ—इस प्रकरण मे जो दो उच्चारण कहे गये हैं उनमें पूर्व अभ्यास सञ्ज्ञक हो ।

व्याख्या—पूर्व ।१।१। अभ्यास ।१।१। अथ—(पूर्व) पहला (अभ्यास) अभ्याससञ्ज्ञक हो । किस का पहला अभ्याससञ्ज्ञक हो ? इस विषय मे भाष्यकार कहते हैं—' पूर्वोऽभ्यास इत्युच्यते । कस्य पूर्वोऽभ्याससञ्ज्ञो भवति ? द्वे इति वर्त्तते । द्वयोरिति वक्तव्यम् । स तर्हि तथा निर्देश कर्तव्य । अर्थाद् विभक्तिविपरिणामो भविष्यति ।" इसका तात्पर्य यह है कि यह सूत्र 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' के अधिकार में पढ़ा गया है, अत इस अधिकार मे जो दो दो उच्चारण विधान किये गये हैं उनमें से पहला उच्चारण अभ्याससञ्ज्ञक हो[1] ।

'भूव् भूव्+अ' यहाँ भूव् को द्वित्व किया गया है अत पहला 'भूव्' अभ्यास-सञ्ज्ञक हुआ । अब अभ्याससञ्ज्ञा का प्रयोजन दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३९६) हलादि शेष ।७।४।६०।

अभ्यासस्य आदिर्हल् शिष्यते, अन्ये हलो लुप्यन्ते । इति वर्णोप ॥

अर्थ—अभ्यास का आदि हल् शेष रहता है, अन्य हल् लुप्त हो जाते हैं ।

व्याख्या—हल्[2] ।१।१। आदि ।१।१। शेष ।१।१। अभ्यासस्य ।६।१। ('अभ्यासोऽभ्यासस्य' से) । शिष्यत इति शेष, कर्मणि घञ् । इतरनिवृत्तिपूर्वकावस्थितो

---

१ ध्यान रहे कि यह अभ्याससञ्ज्ञा इसी षाष्ठद्वित्वप्रकरण के लिये ही है, अष्टमाध्याय के सर्वस्य द्वे'(८ १ १) वाले द्वित्व मे यह प्रवृत्त नही होती । इसीलिये तो वृत्ति मे 'अत्र ये द्वे विहिते' कहा गया है ।

२ 'हलादि ' को समस्त नही समझना चाहिये । क्योंकि समस्तदशा में यदि षष्ठीत-पुरुषसमास मानें तो विग्रह होगा -हलाम् आदि । अर्थात् हलों के मध्य में जो आदि, वह अवशिष्ट रहता है । इस प्रकार 'आनक्ष, आनक्षतु, आनक्षु' आदि रूपो में 'अक्षूं व्याप्तौ' धातु के अभ्यास के ककार का लोप न हो सकेगा क्योंकि वहाँ

शिष्धातुर्वर्त्तते। अर्थः—(अभ्यासस्य) अभ्यास का (आदिः) आदि जो (हल्) हल् वर्ण, वह (शेषः) शेष रहता है अर्थात् अन्य हल् लुप्त हो जाते है। यथा—पपाच, यहां 'पच् पच्+अ' इस दशा में अभ्यास का आदि हल्-पकार शेष रहता है अन्य हल्-चकार लुप्त हो जाता है। ध्यान रहे कि अभ्यास के अच् को यह सूत्र नहीं छेड़ता, वह वैसे का वैसा रहता है। जैसे 'पपाच' में अभ्यासगत पकारोत्तर अकार वैसा अवस्थित रहता है।

यहां एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि 'अभ्यासस्य' में 'अभ्यास' शब्द जातिवाचक है व्यक्तिवाचक नहीं। अभ्यास जाति में कहीं तो आदि वर्ण हल् होता है (यथा 'पपाच' आदि में) और कही अच् (यथा 'आट, आटतुः' आदि में)। परन्तु उन सब प्रकार के अभ्यासों को एक ही जाति का समझ कर यह सूत्र प्रवृत्त हो जाता है। इससे 'अट् अट्+अ' आदि में अभ्यास का आदिवर्ण हल् न होने पर भी टकार का लोप हो जाता है कारण कि अभ्यास में अन्यत्र अनेक स्थानों पर आदिवर्ण हल् पाया जाता है (जैसे पपाच, पपाठ आदि मे)। इस समस्या का समाधान कुछ लोग अन्य प्रकार से भी करते हैं। तथाहि—अष्टाध्यायी के संहितापाठ में 'ह्रस्वो हलादिः शेषः' इस प्रकार के पाठ का 'ह्रस्वः, अहल्, आदिः शेषः' यह सूत्रच्छेद किया जाता है। 'अहल्' सूत्र का अर्थ है—अभ्यास अहल् अर्थात् हलों से रहित हो। तदनन्तर 'आदिः शेषः' का अर्थ है—अभ्यास का आदि हल् शेष रहता है। यह 'अहल्' का अपवाद होगा। इससे 'अट् अट्+अ' यहां 'अभ्यास हल् रहित हो' इस कथन से टकार का लोप हो जायेगा। 'पठ् पठ्+अ' यहां 'अहल्' सूत्र से अभ्यास के ठकार का लोप तथा 'आदिः शेषः' से आदि पकार के लोप का निषेध हो जायेगा।

'भूव् भूव्+अ' यहां प्रथम 'भूव्' अभ्याससंज्ञक है अतः प्रकृतसूत्र से इसका आदिहल्—भकार अवस्थित रहा तथा दूसरे हल् वकार का लोप हो गया तो

---

'क्प्' इन दो हलों में से क् हलादि ठहरेगा। अब यदि कर्मधारयसमास (हल् चासावादिश्च) मानते है तो प्रक्रिया में तो कोई दोष नहीं आता परन्तु 'आदि' शब्द के विशेषण होने से उसका पूर्वनिपात होना चाहिये था; अर्थात् तब 'आदिहल् शेषः' सूत्र बनाना चाहिये था। अतः इन सब बातों का विचार कर 'हलादिः शेषः' सूत्र में 'हल्' को असमस्त मानना ही उचित प्रतीत होता है। पदमञ्जरीकार श्रीहरदत्त ने कहा भी है—

"कर्मधारयपक्षे स्यादादिशब्दस्य पूर्वता।
षष्ठीसमासे त्वनक्षेत्यादौ शेषः प्रसज्यते॥"

'भू भूव्+अ' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३९७) ह्रस्व ।७।४।५९॥

अभ्यासस्याचो ह्रस्व. स्यात् ॥

अर्थ—अभ्यास के अच् के स्थान पर ह्रस्व आदेश हो।

व्याख्या—अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। ह्रस्व ।१।१। जहां ह्रस्व दीर्घ प्लुत विधान करें वहां 'अचश्च' (१ २ २८) सूत्र से 'अच' पद उपस्थित हो जाता है। अर्थ—(अभ्यासस्य) अभ्यास के (अच) अच् के स्थान पर (ह्रस्व) ह्रस्व आदेश हो। ध्यान रहे कि ह्रस्वादेश करते समय 'स्थानेऽन्तरतम' (१७) परिभाषा उपस्थित हो जायेगी।

'भू भूव्+अ' यहां प्रकृतसूत्र से अभ्यास के ऊकार के स्थान पर आन्तरतम्य के कारण ह्रस्व उकार आदेश हो गया तो 'भु भूव्+अ' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्-(३९८) भवतेर. ।७।४।७३॥

भवतेरभ्यासस्य उकारस्य अ स्याल्लिँटि ॥

अर्थ-लिँट् परे होने पर भू धातु के अभ्यास के उकार के स्थान पर 'अ' आदेश हो।

व्याख्या—भवते ।६।१। अ ।१।१। लिँटि ।७।१। ('स्यपो लिँटि' से)। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। 'भवते' यह 'भवति' शब्द के षष्ठी का एकवचन है। 'भवति' का अभिप्राय है—भू धातु। धातु का निर्देश करने के लिये कहीं उससे इक्प्रत्यय जोडा जाता है, यथा—'गमेरिट् परस्मैपदेषु' (५०६), 'चिन्ति-पूजि-कथि-कुम्बि-चर्चश्च' (३ ३ १०५) आदि। कहीं उसके आगे शितप्प्रत्यय लगाया जाता है, यथा—'उपसर्गात् सुनोति-सुवति-स्यति स्तौति०' (८ ४ ६५) आदि[1]। यहां 'भवते' में शितप्प्रत्यय लगाकर भूधातु का निर्देश किया गया है। अर्थ—(भवते) भू धातु के (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (अ) 'अ' आदेश हो (लिँटि) लिँट्

१ 'इकिश्तपौ धातुनिर्देशे' (३ ३.१०८ पर वा०) अर्थात् धातु के स्वरूप बताने में इक् और शितप् प्रत्यय लगाये जाते हैं। शितप् प्रत्यय में श् की इत्संज्ञा होती है। 'उपसर्गात सुनोति—'(८ ४ ६५) आदि निर्देशों के बल पर प्रत्यय के अकर्मक होने पर भी शप् आदि विकरण हो जाते हैं। शितप् को शित् करने का प्रयोजन पिब जिघ्र आदि आदेश करना है, यथा—'लोप पिबतेरीच्चाभ्यासस्य' (७ ४.४), 'जिघ्रतेर्वा' (७ ४.५) आदि। विशेष बृहच्छब्देन्दुशेखर में देखें।

परे हो तो। 'अ' विधीयमान है अतः सवर्णग्रहण का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। समग्र अभ्यास के स्थान पर विहित यह 'अ' आदेश अलोऽन्त्यपरिभाषा से अभ्यास के अन्त्य उकार के स्थान पर होता है। 'नाऽनर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे' (प०, सूत्र २७७) द्वारा अलोऽन्त्यपरिभाषा की प्रवृत्ति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती क्योंकि वहां स्पष्टतया 'अनभ्यासविकारे' कहा गया है।

लिट् परे होने पर ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। 'बुभूषति' आदि में लिट् परे नहीं अपितु सन्प्रत्यय परे है अतः वहां 'अ' आदेश नहीं होता।

शङ्का—'ह्रस्वः' (३९७) सूत्र अनावश्यक प्रतीत होता है क्योंकि 'भवतेरः' सूत्र से दीर्घ ऊकार को भी 'अ' किया जा सकता था।

समाधान—'ह्रस्वः' सूत्र का प्रयोजन 'बिभाय, बिभ्यतुः, बिभ्युः ; शिश्ये, शिश्याते, शिश्यिरे ; लुलाव, लुलुवतुः, लुलुवुः ; पपौ, पपतुः, पपुः' आदियों में स्पष्ट है। यहां 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः' (सूत्र ५९ पर देखें) से इसकी प्रवृत्ति हो जाती है। जैसे मेघ जल-थल पर समान रूप से बरसते हैं, उनका थल पर बरसना सप्रयोजन और जल में बरसना निष्प्रयोजन होता है, वैसे सूत्र भी सप्रयोजन निष्प्रयोजन दोनों प्रकार के स्थानों पर समभाव से प्रवृत्त होते हैं।

'भु भूव्+अ' यहां प्रकृतसूत्र से अभ्यास के उकार को अकार होकर 'भ भूव्+अ' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(३९९) अभ्यासे चर्च ।८।४।५३॥

अभ्यासे झलां चरः स्युर्जशश्च। झशां जशः, खयां चर इति विवेकः। बभूव, बभूवतुः, बभूवुः॥

अर्थः—अभ्यास में झलों को चर् और जश् हों।

व्याख्या—अभ्यासे ।७।१। चर् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। झलाम् ।६।३। ('झलां जशशि' से)। 'च' के कारण 'झलां जशशि' से 'जश्' का समुच्चय होता है। अर्थः—(अभ्यासे) अभ्यास में (झलाम्) झलों के स्थान पर (चर्) चर् (च) और जश् हो जाते हैं।

झल्प्रत्याहार में वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा श् ष् स् ह्—कुल चौबीस वर्ण आते हैं। इनके स्थान पर चर् और जश् आदेश होते हैं। चरों में वर्गों के प्रथम और श् ष् स् तथा जशों में वर्गों के तृतीय वर्ण समाविष्ट होते हैं। इस प्रकार श् ष् स् के स्थान पर श् ष् स् ही हो जाते हैं[1]। हकार के स्थान पर विशेष

१. ष् के स्थान पर ष् ही होता है। यद्यपि पाणिनीय व्याकरण में धातु के

सूत्र 'कुहोश्चु' (४५४) की प्रवृत्ति होती है। अवशिष्ट बीस वर्णों में किसके स्थान पर कौन सा आदेश हो—इसके लिये 'स्थानेऽन्तरतम' (१७) से आन्तर्य देखा जाता है।

वर्गों के प्रथम और द्वितीय अर्थात् खय् वर्णों का बाह्यप्रयत्न 'विवार, श्वास, अघोष' है। चरों और जशों में इस प्रकार के यत्न वाले वर्ण 'चर्' ही हैं। अत 'खयां चर.' यह मूलोक्त वचन उपपन्न हो जाता है।

वर्गों के तृतीय और चतुर्थ अर्थात् झश् वर्णों का बाह्यप्रयत्न 'संवार, नाद, घोष' है। चरों और जशो मे इस प्रकार के यत्न वाले वर्ण 'जश्' ही हैं। अत 'झशां जश' यह मूलोक्त वचन उपपन्न हो जाता है।

खयों को चर् तथा झशों को जश् करने में भी स्थानकृत आन्तर्य के कारण तत्तद्वर्गों को तत्तद्वर्गीय ही आदेश होते हैं। इत्थ इस सूत्र का सार इस प्रकार समझना चाहिए—

(क) अभ्यासगत वर्गों के चतुर्थ वर्ण को उसी वर्ग का तृतीय वर्ग हो जाता है, यथा—'धा' धातु का 'दधौ', 'भज्' धातु का 'बभाज', 'ढौक्' धातु का 'दुढौके', 'झर्मु' का 'जझाम', 'भिद्' का 'बिभेद' आदि रूप बनते हैं।

(ख) अभ्यासगत वर्गों के तृतीय वर्ण को उसी वर्ग का तृतीय वर्ण हो जाता है कोई विकार उत्पन्न नही होता। यथा—जीव्—जिजीव, डीङ्—डिड्ये, दा—ददौ, बुध्—बुबुधे आदि।

(ग) अभ्यासगत वर्गों के द्वितीय वर्ण को उसी वर्ग का प्रथम वर्ण हो जाता है। यथा—खाद्—चखाद,[1] खन्—चखान, छिद्—चिच्छेद, पण्—पपाण, घुट्—तुघोट आदि।

(घ) अभ्यासगत वर्गों के प्रथम वर्ण को उसी वर्ग का प्रथम वर्ण हो जाता है। यथा—चर्—चचर्व, चल्—चचाल, टौक्—टुटौके, तुद्—तुतोद, पा—पपौ आदि।

(ङ) अभ्यासगत ष्ट् ष् स् को क्रमश वही ष्ट् ष् स् आदेश होते हैं। यथा—शीङ्—शिश्ये, ष्वष्क्—पप्वष्के, स्ना—सस्नौ आदि।

---

आदि ष् को स् होकर अभ्यास में सर्वत्र स् ही मिलता है ष् नही, तथापि 'सुब्धातु-ष्ठिवु-ष्वष्कतीनां सत्वप्रतिषेधो वक्तव्य' (वा० ५३९) इस वार्त्तिक से जहा सत्व का निषेध होगा वहा अभ्यासगत षकार को षकार ही हो जायेगा, यथा—पप्वष्के।

१ यहा 'कुहोश्चु.' (४५४) से खकार को छकार हो जाता है तब छकार को प्रथमवर्ण चकार आदेश किया जाता है।

(च) अभ्यासगत हकार के स्थान पर 'कुहोश्चुः' (४५४) सूत्र से प्रथम झकार हो जाता है पुनः (क) नियम के अनुसार झकार को जकार होता है। यथा—हन्—जघान, हस्—जहास, हो—जिह्राय आदि।

सार यह है कि अभ्यास में वर्ग के पहले दूसरे को पहला, और तृतीय चतुर्थ को तीसरा अक्षर हो जाता है।

'भभूव्+अ' यहां प्रकृत सूत्र से अभ्यास के झल्-भकार के स्थान पर जश्-बकार आदेश होकर ~ बभूव्+अ='बभूव' प्रयोग सिद्ध होता है।

बभूवतुः—भू धातु से भूतानद्यतन परोक्ष अर्थ में 'परोक्षे लिट्' (३९१) द्वारा लिट्, प्रथमपुरुष के द्विवचन की विवक्षा में लकार के स्थान पर तस्, 'परस्मैपदानां णल्०' (३९२) सूत्र से तस् को अतुस् आदेश, 'उवो वुग्०' (३९३) से भू को वुक् का आगम, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (३९४) से द्वित्व, अभ्याससञ्ज्ञा (३९५), 'हलादिः शेषः' (३९६) से अभ्यास के वकार का लोप, 'ह्रस्वः' (३९७) से अभ्यास को ह्रस्व, 'भवतेरः' (३९८) से अभ्यास के उकार को अकार तथा 'अभ्यासे चर्च' (३९९) से अभ्यास के भकार को जश्त्व बकार होकर पदान्त में सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने पर बभूवतुः' प्रयोग सिद्ध होता है।

बभूवुः—भू धातु से लिट्, प्रथमपुरुष के बहुवचन की विवक्षा में झिप्रत्यय, झि को उस् आदेश, वुक् का आगम, द्वित्व, हलादिशेष, ह्रस्व, अभ्यास के उकार को अत्व, जश्त्व तथा सकार को रुँत्व-विसर्ग करने पर 'बभूवुः' प्रयोग सिद्ध होता है।

मध्यमपुरुष के एकवचन मे सिप् को थल आदेश होकर भू+थल्=भू+थ।

अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—(४००) लिँट् च।३।४।११५॥

लिँडादेशस्तिङ् आर्धधातुकसञ्ज्ञः॥

अर्थः—लिट् के स्थान पर आदेश हुआ तिङ् आर्धधातुकसंज्ञक हो।

व्याख्या—लिँट् इति लुप्तषष्ठ्यन्तं पदम्। च इत्यव्ययपदम्। तिङ् ।१।१। ('तिङ्शित्सार्वधातुकम्' से)। आर्धधातुकम् ।१।१। ('आर्धधातुकं शेषः' से)। एव इत्यव्ययपदम् ('लँङः शाकटायनस्यैव' से)। अर्थः ~ (लिँट्=लिँटः) लिँट् के स्थान पर हुआ (तिङ्) तिङ्, (आर्धधातुकम्) आर्धधातुकसञ्ज्ञक (एव) ही हो। 'तिङ्शित्०' (३८६) सूत्र से लिट् के स्थान पर हुए तिट् की सार्वधातुकसंज्ञा प्राप्त थी परन्तु इस सूत्र से उसकी आर्धधातुक सञ्ज्ञा ही हुई, सार्वधातुक नहीं।

यहां यह बात ध्यातव्य है कि इस प्रकरण में एकसञ्ज्ञा का अधिकार (आकडारादेका संज्ञा) नहीं है अतः एक की दो सञ्ज्ञाएं भी हो सकती हैं। लिँडादेश

तिङ् को इस सूत्र से आर्धधातुकसंज्ञा तथा 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' से सार्वधातुकसंज्ञा अर्थात् दोनों संज्ञाएं प्राप्त होती थीं, परन्तु यहां 'एव' की अनुवृत्ति आने से केवल आर्धधातुकसंज्ञा ही हुई है सार्वधातुक नहीं। आर्धधातुकसंज्ञा के कारण ही लिट् में शप् आदि नहीं होते अन्यथा वे प्राप्त थे। आर्धधातुकसंज्ञा के कारण अग्रिमसूत्र की भी प्रवृत्ति होती है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४०१) आर्धधातुकस्येड् वलादेः ।७।३।३५॥

वलादेरार्धधातुकस्येडागमः स्यात्। बभूविथ, बभूवथुः, बभूव। बभूव, बभूविव, बभूविम॥

अर्थः—वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम हो।

व्याख्या—आर्धधातुकस्य ।६।१। इट् ।१।१। वलादेः ।६।१। अयं—(वलादेः) वल् है आदि में जिसके ऐसे (आर्धधातुकस्य) आर्धधातुक का अवयव (इट्) इट् हो जाता है। इट् के टकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' (३) से लोप होकर 'इ' मात्र अवशिष्ट रहता है। यकार को छोड़कर सब व्यञ्जन वल्-प्रत्याहार के अन्तर्गत आते हैं। इट् का आगम टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) के अनुसार वलादि आर्धधातुक का आद्यवयव होता है।

'भू+थ' यहाँ लिट्स्थानी सिप् 'लिट् च' (४००) सूत्र से आर्धधातुक था अतः तत्स्थानी थल् भी स्थानिवद्भाव से आर्धधातुक हुआ। इसे प्रकृतसूत्र से इट् का आगम होकर टकार अनुबन्ध का लोप करने से 'भू+इथ' हुआ। अब 'भुवो वुग्०' (३९३) से वुक् का आगम, द्वित्व तथा अभ्यासकार्य होकर 'बभूविथ' प्रयोग सिद्ध होता है।

बभूवथुः—यहां लिट्स्थानी थस् के स्थान पर अथुस् आदेश हुआ है। सम्पूर्ण प्रक्रिया 'बभूवतुः' की तरह होती है।

बभूव—यहां उत्तमपुरुष के एकवचन मे सिप् के स्थान पर णल् आदेश हो जाता है। सम्पूर्ण प्रक्रिया प्रथमपुरुष के एकवचन की तरह होती है।

बभूविव—यहां उत्तमपुरुष के द्विवचन वस् के स्थान पर 'व' आदेश होकर उसे इट् का आगम हो जाता है। अब धातु को वुक् का आगम, द्वित्व तथा अभ्यास-कार्य करने पर 'बभूविव' प्रयोग सिद्ध होता है।

बभूविम—यहां उत्तमपुरुष के बहुवचन मस् के स्थान पर 'म' आदेश होकर इट् का आगम, वुक्, द्वित्व तथा अभ्यासकार्य करने पर 'बभूविम' सिद्ध होता है। लिट् में रूपमाला यथा—

| | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|---|---|---|---|
| प्र० पु० | बभूव (वह हुआ) | बभूवतुः (वे दो हुए) | बभूवुः (वे सब हुए) |
| म० पु० | बभूविथ (तू हुआ) | बभूवथुः (तुम दो हुए) | बभूव (तुम सब हुए) |
| उ० पु० | बभूव (मैं हुआ) | बभूविव[1] (हम दो हुए) | बभूविम (हम सब हुए) |

अब लुँट् की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हुए लुँट् का अर्थनिर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४०२) अनद्यतने लुँट् ।३।३।१५॥

भविष्यत्यनद्यतनेऽर्थे धातोर्लुँट् ॥

अर्थः—अनद्यतन भविष्यत् क्रिया में वर्त्तमान धातु से लुँट् हो।

व्याख्या—अनद्यतने ।७।१। लुँट् ।१।१। भविष्यति ।७।१। ('भविष्यति गम्यादयः' से) धातोः ।५।१। (यह अधिकृत है) । अर्थः—(अनद्यतने) अनद्यतन (भविष्यति) भविष्यत् काल में (धातोः) धातु से (लुँट्) लुँट् हो। काल का अन्वय क्रिया में होता है अतः यहां पर भी पूर्ववत् 'अनद्यतन भविष्यत् में वर्त्तमान जो क्रिया, तद्वाची धातु से लुँट् हो' इस प्रकार अर्थ समझना चाहिये। अद्यतन अनद्यतन शब्दों का विवेचन पीछे कर चुके हैं। अद्यतन भविष्यत् में लुँट् का प्रयोग अशुद्ध होता है। यथा—'सोऽद्य गृहं गन्ता' (वह आज घर जायेगा) यह वाक्य अशुद्ध है। यहां 'सोऽद्य गृहं गमिष्यति' इस प्रकार लृँट् का प्रयोग करना चाहिये [2]।

---

१. अत्र 'असंयोगाल्लिँट् कित्' इति कित्त्वेन 'अचुकः किति' इति इण्निषेधो नैव शङ्क्यः। क्रादिनियमादिट् सिद्ध इत्यन्यत्र विस्तरः।

२. भविष्यत्सामान्य में लृँट् का विधान है। यहां अनद्यतन भविष्यत् में उसका अपवाद लुँट् विधान किया गया है। अतः अनद्यतन भविष्यत् में लुँट् का ही प्रयोग करना चाहिये न कि लृँट् का। किञ्च यहां यह भी भूलना नहीं चाहिये कि 'अनद्यतने'

लुंट् में उंट् का लोप होकर 'ल्' मात्र शेष रहता है। इसके स्थान पर पूर्ववत् तिप् आदि आदेश होते हैं—भू+ति। यहां पर तिप् के सार्वधातुक होने से शप् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(४०३) स्य-तासी लृँ-लुंटो ।३।१।३३॥

धातोः स्यतासी एतौ प्रत्ययौ स्त, लृँ लुंटो परत। शबाद्यपवाद। 'लृँ' इति लृँङ्-लृँटोग्रहणम्॥

अर्थ—लृँ परे होने पर धातु से 'स्य', तथा लुंट् परे होने पर धातु से 'तासि' प्रत्यय हो। यह सूत्र शप् आदियों का अपवाद है। 'लृँ' से यहां लृँङ् और लृँट् दोनों का ग्रहण होता है।

व्याख्या—स्यतासी ।१।२। लृँ-लुंटो ।७।२। प्रत्ययौ ।१।२। ('प्रत्यय' यह अधिकृत है)। धातो ।५।१। ('धातोरेकाचो हलादे०' से)। स्यश्च तासिश्च स्यतासी, इतरेतरद्वन्द्व। इसी प्रकार 'लृँ लुंटो' में भी द्वन्द्व समझना चाहिये। 'लृँ' से लृँङ् और लृँट् दोनों का ग्रहण अभीष्ट है क्योंकि 'लृँ' यह दोनों में एक समान पाया जाता है। अर्थ—(लृँ-लुंटो) लृँ और लुंट् परे हों तो (धातो) धातु से परे (स्य-तासी) स्य और तासि (प्रत्ययौ) प्रत्यय हों। यथासङ्ख्यपरिभाषा के अनुसार लृँ परे होने पर स्य तथा लुंट् परे होने पर तासि प्रत्यय होता है[1]। तासि में इकार उच्चारणार्थ है, 'तास्' मात्र प्रत्यय समझना चाहिये[2]। यह सूत्र शप् आदि ('आदि' से श्यन्, यक्

---

में बहुव्रीहिसमास माना गया है—अविद्यमानोऽद्यतन कालो यस्मिन्सावनद्यतन, तस्मिन्=अनद्यतने। इससे जहां अद्यतन अनद्यतन दोनों का व्यामिश्रण होगा वहां लृँट् ही होगा लुंट् नहीं, यथा—अद्य श्वो वा भविष्यति।

१ यद्यपीह लृँशब्देन लृँङ्लृँटोर्ग्रहणं तथापि यथासङ्ख्यं वाचकशब्दसाम्याद्बोध्यम्।

२ काशिका के जयादित्यग्रन्थ में तासि के इकार की इत्संज्ञा की गई है। वहां इसका प्रयोजन 'मन्ता' (आत्मनेपद) में 'अनिदितां हल०' (६३४) द्वारा प्राप्त नकार के लोप का कारण करना बताया गया है। तथाहि—मन् तास् डा=मन् तास् आ=मन्त् आ इस स्थिति में 'त' स्थानी डा के 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित्वत् हो जाने के कारण अनिदितां हल०' से उपधाभूत नकार का लोप प्रसक्त होता है जो अब 'तासि' के इकार के इत् चले जाने से अङ् के अनिदित् न होने से नहीं होता।

काशिका के वामनग्रन्थ में इकार उच्चारणार्थक माना गया है। वहां का

आदि) का अपवाद है[1] ।

'भू+ति' यहां लुंट् का 'ति' परे है अतः प्रकृतसूत्र द्वारा धातु से परे तास् प्रत्यय होकर 'भू+तास्+ति' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४०४) आर्धधातुकं शेषः ।३।४।११४॥

तिङ्शिद्भ्योऽन्यो धातोरिति विहितः प्रत्यय एतत्संज्ञः स्यात् । इट् ॥

अर्थः—तिङ् और शित् से भिन्न, 'धातोः' इस प्रकार कहकर विधान किया हुआ प्रत्यय आर्धधातुकसंज्ञक हो।

व्याख्या - इस सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी में 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' सूत्र पढ़ा गया है। उसमें तिङ् और शित् प्रत्ययों की सार्वधातुकसंज्ञा की गई है। अब इस सूत्र में शेष अर्थात् तिङ् और शित् से भिन्न प्रत्ययों की आर्धधातुकसंज्ञा की जाती है। आर्धधातुकम् ।१।१। शेषः ।१।१। धातोः ।५।१। इस सूत्र में दो स्थानों से 'धातोः' पद की अनुवृत्ति होती है। एक 'धातोः' पद तो अधिकृत है ही, दूसरा 'धातोरेकाचः०' सूत्र से प्राप्त होता है। दो बार अनुवर्त्तन होने से 'धातोरिति धातोर्विहितः' अर्थात् 'धातोः' इस प्रकार कहकर धातु से विधान किया हुआ—यह अर्थ उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(धातोः, धातोः) 'धातोः' इस प्रकार कहकर धातु से विधान किया हुआ (शेषः) तिङ् और शित् से भिन्न प्रत्यय (आर्धधातुकम्) आर्धधातुक-संज्ञक हो।

---

अभिप्राय यह है कि 'मन्त्+आ' में 'टेः' (२४२) द्वारा किया गया टिलोप आभीय होने के कारण 'अनिदितां हलः' के प्रति असिद्ध है। अतः नकार का लोप प्रसक्त ही नहीं होता पुनः उसके वारण के लिये तास् को इदित् करने की आवश्यकता ही नहीं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने अष्टाध्यायीभाष्य में लिखा है कि तासि में सकार की रक्षा के लिये इकार की इत्सञ्ज्ञा करनी चाहिये वरना 'हलन्त्यम्' (१) से तास् के सकार की इत्सञ्ज्ञा को कोई रोक न सकेगा। माधवीयधातुवृत्ति में भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये गये हैं—'अत्र केचित् तासेरिकारमुच्चारणार्थमाहुः। परमते तु अनुनासिकं सलोपप्रतिषेधार्थम्'। इस विषय पर पदमञ्जरी तथा न्यास भी द्रष्टव्य है।

१. 'स्य' आदि की अपेक्षा लकार के स्थान पर होने वाले तिप् आदि आदेश पर हैं, तथा 'विकरणेभ्यो नियमो बलीयान्' इस न्याय के अनुसार तिप् आदियों की उत्पत्ति पहले हो जाती है। अतः यदि 'स्य' आदि विधान नहीं करेंगे तो शप् आदि हो जायेंगे, बस यही इस सूत्र की शप् आदियों के प्रति अपवादता है।

'धातो.' से विहित न होने पर आर्धधातुकसज्ञा नहीं होती, यथा—लूभ्याम्, लूभि । यहा 'विभक्तौ विभक्तिर्विजन्ता शब्दा धातुत्व न जहति' के अनुसार भ्याम् भिस् आदि प्रत्यय धातु से तो किये गये हैं पर 'धातो' कहकर विधान नहीं किये गये अपितु 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' पढ कर विधान किये गये हैं अत इनकी आर्धधातुकसज्ञा और तन्निमित्तक इट् का आगम नहीं होता । इसी प्रकार 'जुगुप्सते' मे 'गुप्तिज्किद्भ्य सन्' (३ १ ५) द्वारा विधान किया गया सन् प्रत्यय गुप् धातु से परे तो किया गया है परन्तु 'धातो' कहकर विधान नही किया गया अत इसकी आर्धधातुकसज्ञा नही होती । एव 'वृक्षत्वम्' यहा 'वृक्षशब्द से विधान किया गया त्व' प्रत्यय आर्धधातुकसज्ञक नही होता । यदि इसकी आर्धधातुकसज्ञा हो जाती तो इट् प्रसक्त होता जो स्पष्टत अनिष्ट था ।

'भू+तास्+ति' यहा तास् प्रत्यय 'धातो' कह कर धातु से विधान किया गया है (४०३ सूत्र की व्याख्या देखें) और यह तिङ् का शित् मे भिन्न भी है अत प्रकृतसूत्र से इसकी आर्धधातुकसज्ञा हो गई । आर्धधातुकसज्ञा हो जाने से 'आर्धधातुकस्येड् वलादे' (४०१) से इट् का आगम, 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' (३८८) से गुण[1] और 'एचोऽयवायाव' (२२) से ओकार को अव् आदेश करने पर 'भवितास+ति' हुआ । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(४०५) लुंट प्रथमस्य डा-रौ-रस ।२।४।८५॥

डा, रौ, रस्—एते क्रमात् स्यु । ङित्त्वसामर्थ्याद् अमस्यापि टेर्लोप—भवितारौ ॥

अर्थ—लुंट् के प्रथमपुरुष के स्थान पर क्रमश डा, रौ, रस् आदेश हो ।

व्याख्या—लुंट ।६।१। प्रथमस्य ।६।१। डा-रौ-रस ।१।३। अर्थ—(लुंट) लुंट् के (प्रथमस्य) प्रथमपुरुष के स्थान पर (डा-रौ-रस) डा, रौ, रस् आदेश हों । प्रथमपुरुष में तीन प्रत्यय होते हैं और इधर आदेश भी तीन हैं, अत यथासङ्ख्यपरिभाषा से एकवचन के स्थान पर डा, द्विवचन के स्थान पर रौ तथा बहुवचन के स्थान पर रस् आदेश होता है[2] ।

---

१ तास् को आर्धधातुक मानकर 'भू' को जो 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' से गुण हुआ है, उसमे इट् का व्यवधान न समझना चाहिये । 'यद्यागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' इस परिभाषा से इट् का आगम भी आर्धधातुक होने से कोई विजातीय व्यवधान नहीं ।

२. परस्मैपद के तिप, तस्, झि और आत्मनेपद के त, आताम्, झ—इन

'भवितास्+ति' यहां प्रकृतसूत्र से तिप् को 'डा' आदेश होकर 'भवितास्+डा' हुआ। 'डा' के डकार की 'चुटू' (१२६) से इत्सञ्ज्ञा होकर 'आ' मात्र शेष रहता है—भवितास्+आ। 'डा' तिप् के स्थान पर हुआ है अतः स्थानिवद्भाव से इस की भी प्रत्ययसञ्ज्ञा है, परन्तु यह स्वादियो के अन्तर्गत नही आता इसलिये इस के परे होने पर पूर्व की भसञ्ज्ञा नही होती। भसञ्ज्ञा न होने से ङित् के परे होने पर भी 'टेः' (२४२) सूत्र द्वारा टि (आस्) का लोप प्राप्त नहीं हो सकता। इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि—

"ङित्त्वसामर्थ्याद् अभस्यापि टेर्लोपः"

अर्थात् 'डा' को ङित् करने के सामर्थ्यसे भसञ्ज्ञा न होने पर भी टि का लोप हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यदि टिलोप नही करते तो 'डा' को ङित् करना निष्प्रयोजन हो जाता है। परन्तु आचार्य पाणिनि की कोई भी प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नहीं होती, अतः इस ङित्करणसामर्थ्य से टि का लोप हो जायेगा[1]। टि का लोप होकर भवित्+आ='भविता' प्रयोग सिद्ध हुआ[2]।

लुंट् के प्रथमपुरुष के द्विवचन में तस् करने पर 'स्यतासी लृ-लुंटो.' से तास्-प्रत्यय, 'आर्धधातुकं शेषः' से उसकी आर्धधातुकसञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण तथा 'एचोऽयवायावः' से ओकार को अवादेश होकर 'भवितास्+तस्' बना। अब प्रकृतसूत्र से तस् के स्थान पर 'रौ'

---

मिलाकर छः स्थानी हैं तथा आदेश डा, रौ, रस् ये तीन हैं, कैसे यथासङ्ख्य होगा? इसका समाधान यह है कि—डा च रौ च रस् च डारौरसः, इतरेतरद्वन्द्वः। डारौरसश्च डारौरसश्च—डारौरसः, एकशेषः। इस प्रकार एकशेष मानने से आदेश भी छः हो जाते हैं, अतः यथासङ्ख्य में कोई बाधा उपस्थित नही होती। न्यास, पदमञ्जरी और शेखर आदियों में 'आन्तरतम्यात्' द्वारा भी समाधान प्रस्तुत किया गया है, विशेषजिज्ञासु वही देखें।

१. यहां यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि डकार अनुबन्ध तो सर्वादेश करने के लिये किया गया है अतः उसके सामर्थ्य से टिलोप न होगा। सर्वादेश के लिये तो कोई अन्य अनुबन्ध भी लगाया जा सकता था। अथवा 'डा-आ' इस प्रकार के श्लेष से भी सर्वादेश तो सिद्ध था ही, पुनः डकार अनुबन्ध किस लिये किया गया है? अतः तत्करणसामर्थ्य से टि का लोप हो जायेगा।

२. 'भवित्+आ' इस स्थिति मे 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) सूत्र द्वारा लघूपधगुण प्राप्त होता है, उसका 'दीधीवेवीटाम्' (१.१.६) सूत्र से निषेध हो जाता है—यह सब सिद्धान्तकौमुदी में देखें। यहां बालकों के लिये अनुपयोगी समझकर ग्रन्थकार ने छोड़ दिया है।

सर्वादेश होकर 'भवितास्+रौ' हुआ। तास् के सकार का लोप करने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४०६) तासस्त्योर्लोप. ।७।४।५०।।

तासेरस्तेश्च सस्य लोप स्यात् सादौ प्रत्यये परे ।।

अर्थ—सकारादि प्रत्यय परे होने पर तास् और अस् के सकार का लोप हो।

व्याख्या—तासस्त्यो ।६।२। लोप ।१।१। सि ।७।१। ('स स्यार्धधातुके' से) 'अङ्ग स्य' का अधिकार होने से 'प्रत्यये' का आक्षेप कर लिया जाता है। 'सि' पद 'प्रत्यये' का विशेषण है। विशेषण से तदादिविधि होकर 'सादौ प्रत्यये' बन जाता है। तास् च अस्तिश्च तासस्ती, तयो =तासस्त्यो, इतरेतरद्वन्द्व। 'अस्ति' में शितप् द्वारा अस् धातु का निर्देश किया गया है। अर्थ—(सि=सादौ) सकारादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर (तासस्त्यो) तास् और अस् का (लोप) लोप हो जाता है। अलोऽन्त्य-परिभाषा से यह लोप अन्त्य अल्—सकार का ही होता है। तास् का उदाहरण—भवितास्+सि=भवितासि। अस् का उदाहरण—अस्+सि=असि (तू है)। अग्रिमसूत्र में अनुवृत्तिप्रदर्शनार्थ इस सूत्र को प्रक्रिया के क्रम से पूर्व रखा गया है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४०७) रि च ।७।४।५१।।

रादौ प्रत्यये तथा। भवितारौ। भवितार। भवितासि। भवितास्थ। भवितास्थ। भवितास्मि। भवितास्व। भवितास्म ।।

अर्थ—रेफादि प्रत्यय परे होने पर भी तास् और अस् के सकार का लोप हो।

व्याख्या—रि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। तासस्त्यो ।६।२। लोप ।१।१। ('तासस्त्योर्लोप' सूत्र से)। यहा भी पूर्ववत् 'रि' से तदादिविधि होकर 'रादौ प्रत्यये' बन जाता है। अर्थ—(रि=रादौ) रेफ जिसके आदि में है ऐसे (प्रत्यये) प्रत्यय के परे होने पर (च) भी (तासस्त्यो) तास् और अस् का (लोप) लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से तास् और अस् के अन्त्य अल्—सकार का ही लोप होता है[1]।

'भवितास्+रौ' यहा 'रौ' यह रेफादि प्रत्यय परे विद्यमान है अत तास् के सकार का लोप होकर 'भवितारौ' रूप सिद्ध होता है।

लुंट् के प्रथमपुरुष के बहुवचन मे—भू+झि। तास् प्रत्यय, आर्धधातुकसञ्ज्ञा,

१ काशिका मे अस का उदाहरण 'स्थतिरे' दिया गया है। परन्तु पदमञ्जरी तथा न्यास में इसका खण्डन किया गया है। इस प्रकार रेफादि प्रत्यय परे होने पर अस् का उदाहरण नहीं है—ऐसा समझना ही युक्त है। विस्तार के लिये तत्तद्ग्रन्थ देखें।

इट् का आगम, गुण और अवादेश करने पर 'भवितास्+झि' इस स्थिति में 'लुंटः प्रथमस्य०' (४०५) से झि को रस् सर्वादेश तथा 'रि च' (४०७) से तास् के सकार का लोप होकर—भवितारस्='भवितार.' प्रयोग सिद्ध होता है।

लुंट् के मध्यमपुरुष के एकवचन में पूर्ववत् सब कार्य होकर 'भवितास्+सि' इस स्थिति में 'तासस्त्योर्लोपः' (४०६) से तास् के सकार का लोप होकर 'भवितासि' प्रयोग सिद्ध होता है।

लुंट् मध्यमपुरुष के द्विवचन में भवितास्+थस्=भवितास्थः। यहां न तो सकारादि प्रत्यय है और न ही रेफादि, अतः तास् के सकार का लोप नहीं होता। इसी प्रकार बहुवचन में भवितास्+थ=भवितास्थ।

लुंट् के उत्तमपुरुष में भी सकार का लोप नहीं होता। रूपमाला यथा—

| | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|---|---|---|---|
| प्र० पु० | भविता[1] (वह होगा) | भवितारौ (वे दो होंगे) | भवितारः (वे सब होंगे) |
| म० पु० | भवितासि (तू होगा) | भवितास्थः (तुम दो होंगे) | भवितास्थ (तुम सब होंगे) |
| उ० पु० | भवितास्मि (मैं होऊंगा) | भवितास्वः (हम दो होंगे) | भवितास्मः (हम सब होंगे) |

अब लृंट् लकार की प्रक्रिया आरम्भ करते हुए सर्वप्रथम लृंट्विधायक सूत्र का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४०८) लृंट् शेषे च ।३।३।१३॥

भविष्यदर्थाद् धातोर् लृंट् स्यात् क्रियार्थायां क्रियायां सत्यामसत्याञ्च। स्यः, इट्। भविष्यति, भविष्यतः, भविष्यन्ति। भविष्यसि, भविष्यथः, भविष्यथ। भविष्यामि, भविष्यावः, भविष्यामः॥

अर्थः—क्रियार्था क्रिया चाहे विद्यमान हो या न हो, भविष्यत्काल में स्थित क्रिया वाली धातु से लृंट् हो।

---

१. प्रिये! स कीदृग्भविता तव क्षणः—नैषध १.१३७

व्याख्या—लृँट् ।३।१। शेषे ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। भविष्यति ।७।१। ('भविष्यति गम्यादय' से) धातो ।५।१। (यह अधिकृत है)। अष्टाध्यायी मे इस सूत्र से कुछ पूर्व 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (८४६) सूत्र पढा गया है। उस मे 'क्रियार्थाया क्रियायाम्' की शर्त है। उससे भिन्न 'शेष' अभिप्रेत है। अर्थ—(शेषे च) क्रियार्था क्रिया चाहे विद्यमान हो या न हो (भविष्यति) भविष्यत्काल में (धातो) धातु से परे (लृँट्) लृँट् प्रत्यय हो।

जो क्रिया किसी दूसरी क्रिया के निष्पादनार्थ की जाती है उसे क्रियार्था क्रिया कहते हैं। क्रिया अर्थ—प्रयोजन यस्या सा क्रियार्था क्रिया। यथा—करिष्यामीति व्रजति (मैं करूंगा—इसलिये वह जाता है) यहा करने के लिये व्रजनक्रिया की जा रही है अत व्रजनक्रिया क्रियार्था क्रिया है। पठिष्यामीति गच्छति (मैं पढूंगा—इस लिये वह जाता है) यहा पढने के लिये गमनक्रिया की जा रही है अत गमनक्रिया क्रियार्था क्रिया है। यहा क्रियार्था क्रियाओं के विद्यमान रहने 'करिष्यामि' और 'पठिष्यामि' मे भविष्यत्काल मे लृँट् किया गया है[1]। परन्तु इस प्रकार की क्रियार्था क्रियाए यदि साथ मे न भी पढी गई हो तो भी भविष्यत्काल मे लृँट् का प्रयोग हो सकता है। यथा—करिष्यामि, पठिष्यामि इत्यादि अकेले का भी प्रयोग होता है।

यहा यह नही भूलना चाहिये कि यह लृँट् किसी प्रकार की उपाधि से युक्त नही है। अद्यतन, अनद्यतन, परोक्ष, प्रत्यक्ष आदि का कोई भी बन्धन इसके साथ नही लगा है अत यह सामान्य भविष्यत् मे प्रवृत्त होता है। हा! उत्सर्ग होने के कारण इसे लुँट् का विषय छोड कर प्रवृत्त होना पडेगा। अनद्यतन भविष्यत् मे लुँट् का ही प्रयोग होगा, यथा—श्वो भविता।

प्रश्न—जब आप क्रियार्था क्रिया के उपपद होने या न होने दोनों प्रकार की अवस्थाओ मे लृँट् का विधान करते हैं तो सूत्र मे 'शेषे च' अश छोड क्यो नहीं देते? केवल 'लृँट्' सूत्र ही क्यो नहीं बना देते? इससे 'भविष्यत्काल मे लृँट् हो' ऐसा सरल अर्थ होकर सब जगह लृँट् हो जाने से कोई दोष नही आयेगा।

उत्तर—यदि ऐसा करते तो क्रियार्था क्रिया के उपपद होने पर 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (८४६) सूत्र लृँट् का बाध कर लेता तब लृँट् केवल उसी अवस्था में होता जब क्रियार्था क्रिया न होती। हमे क्रियार्था क्रिया के होने की दशा में ण्वुल् और तुमुन् के साथ लृँट् वाला रूप भी अभीष्ट है अत सूत्र मे 'शेषे च' यह अश जोडा गया है[2]। उदाहरण यथा—(तुमुन्) पठितुं व्रजति [भविष्यत्कालिक

---

१ क्रियार्था क्रिया के उपपद रहते यदि लृँट् करना हो तो 'इति' का प्रयोग अवश्य करना चाहिये, यथा—पठिष्यामीति गच्छति।

२. ध्यान रहे कि तब षाऽसरूपविधि से भी लृँट् न हो सकता क्योंकि क्त, क्त्वा,

पठन के लिये जाता है], (ण्वुल्) पाठको व्रजति [भविष्य में पढ़ने वाला जाता है], (तृँच्) पठिष्यामीति व्रजति [मैं पढ़ूंगा इसलिये जाता है]। तीनों का तात्पर्य एक जैसा है [1]।

भू धातु से भविष्यत्काल में लृँट्, अनुबन्धलोप, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में लकार के स्थान पर तिप्, शप् का बाध कर 'स्यतासी लृँलुंटोः' (४०३) से धातु से परे स्य प्रत्यय, 'आर्धधातुकं शेषः' (४०४) से उसकी आर्धधातुकसंज्ञा, 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) से इट् का आगम, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (३८८) से भू के ऊकार को ओकार गुण, 'एचोऽयवायावः' (२२) से ओकार को अवादेश, तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से 'स्य' के सकार को षत्व करने पर 'भविष्यति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसीप्रकार द्विवचन में—भविष्यतस् = भविष्यतः। बहुवचन में 'भविष्य + झि' इस स्थिति में 'झोऽन्तः' (३८९) से प्रत्यय के आदि झकार को अन्त् आदेश होकर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने पर—भविष्यन्ति।

मध्यमपुरुष के एकवचन में लकार के स्थान पर सिप् होकर पूर्ववत् स्य आदि करने से—भविष्यसि। द्विवचन में थस् करने पर—भविष्यथस् = भविष्यथः। बहुवचन में थ करने पर—भविष्यथ।

उत्तमपुरुष के एकवचन में मिप् तथा पूर्ववत् स्य आदि करने पर 'भविष्य + मि' इस स्थिति में 'अतो दीर्घो यञि' (३९०) से अदन्त अङ्ग 'भविष्य' को दीर्घ करने से 'भविष्यामि' रूप सिद्ध होता है। इसीप्रकार द्विवचन और बहुवचन में दीर्घ कर लेना चाहिये—भविष्यावः, भविष्यामः। लृँट् में रूपमाला यथा—

| | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|---|---|---|---|
| प्र० पु० | भविष्यति (वह होगा) | भविष्यतः (वे दो होंगे) | भविष्यन्ति (वे सब होंगे) |
| म० पु० | भविष्यसि (तू होगा) | भविष्यथः (तुम दो होगे) | भविष्यथ (तुम सब होंगे) |
| उ० पु० | भविष्यामि (मैं होऊँगा) | भविष्यावः (हम दो होंगे) | भविष्यामः (हम सब होंगे) |

तुमुन् और खलर्थप्रत्ययों में वाऽसरूपविधि का निषेध कहा गया है (क्त-ल्युट्-तुमुन्-खलर्थेषु वासरूपविधिर्नास्ति)।

१. परन्तु तुमुन् भाव में, ण्वुल् कर्त्ता में, तथा लृँट् कर्त्ता कर्म और भाव तीनों में हो सकता है।

क्रियार्था क्रिया उपपद रहने के उदाहरण—भविष्यतीति व्रजति (वह होगा-इसलिये जाता है) आदि स्वय जान लेने चाहियें।

अब लोँट् की प्रक्रिया का प्रारम्भ करते हुए प्रथम लोँट्विधायकसूत्र द्वारा लोँट् के अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४०६) लोँट् च ।३।३।१६२॥

विध्यादिष्वर्थेषु धातोर्लोँट् स्यात् ॥

अर्थ —विधि आदि अर्थों में धातु से परे लोँट् प्रत्यय हो।

व्याख्या—लोँट् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। विधि-निमन्त्रणाऽऽमन्त्रणाऽधीष्ट-सम्प्रश्न-प्रार्थनेषु ।७।३। ('विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्ट०' सूत्र से) धातो ।५।१। (यह अधिकृत है) अर्थ —(विधि-निमन्त्रणाऽऽमन्त्रणाऽधीष्ट-सम्प्रश्न-प्रार्थनेषु) विधि, निमन्त्रण आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न और प्रार्थन अर्थों मे (धातो) धातु से परे (लोँट्) लोँट् (च) भी होता है। अष्टाध्यायी मे इस सूत्र से पूर्व विधि आदि छ अर्थों में लिँङ् का विधान किया गया है। यहा पुन इन अर्थों में लोँट् का विधान कर रहे है। इस प्रकार इन अर्थों मे लिँङ् वा लोँट् दोनो लकार होते हैं। विधि आदि अर्थों का विस्तृत विवेचन आगे (४२५) सूत्र पर देखें। अब अग्रिमसूत्र से आशीर्वाद अर्थ मे भी लोँट् का विधान करते हैं—

[0232]

[लघु०] विधि सूत्रम्—(४१०) आशिषि लिँङ्-लोँटौ ।३।३।१७३॥

अर्थ —आशीर्वाद अर्थ मे धातु से परे लिँङ् और लोँट् प्रत्यय हो।

व्याख्या—आशिषि ।७।१। लिँङ्-लोँटौ ।१।२। धातो, प्रत्यय, परश्च—ये तीनों अधिकृत हैं। अर्थ —(आशिषि) आशीर्वाद मे (धातो) धातु से परे (लिँङ्-लोँटौ) लिँङ् और लोँट् प्रत्यय हो। वक्ता का किसी दूसरे के लिये अप्राप्त इष्ट वस्तु की कामना करना आशीर्वाद कहाता है। जैसे किसी को कहें—चिर जीव, पुत्रस्ते भवतात् आदि। आशीर्वाद मे लिँङ् की प्रक्रिया आगे आयेगी, यहा पर लोँट् की प्रक्रिया दर्शाई जाती है—

भू धातु मे लोँट्, अनुबन्धलोप, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में लकार के स्थान पर तिप् आदेश, शप् गुण और अवादेश करने पर [illegible] 'भवति' बना। अब इसके इकार को उकार करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(४११) एरु [illegible]

लोँट इकारस्य उ । भवतु ॥

LIBRARY ... College, ...

अर्थः—लोँट् के इकार के स्थान पर उकार आदेश हो।

व्याख्या—एः।६।१। उः।१।१। लोँटः।६।१। ('लोँटो लँङ्वत्' से)। अर्थः—(लोँटः) लोँट् के (एः) इकार के स्थान पर (उः) उकार आदेश हो।

'भवति' यहां लोँट् के तकारोत्तर इकार को प्रकृतसूत्र से उकार आदेश होकर 'भवतु' रूप सिद्ध होता है। आशीर्वाद में 'भवतु' बनने के पश्चात् निम्नसूत्र अधिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४१२) तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् ।७।१।३५।।

आशिषि तुह्योस्तातङ् वा। परत्वात्सर्वादेशः। भवतात्।।

अर्थः—आशीर्वाद में तु और हि के स्थान पर विकल्प से तातङ् आदेश हो।

व्याख्या—तुह्योः।६।२। तातङ्।१।१। आशिषि।७।१। अन्यतरस्याम्।७।१। तुश्च हिश्च तुह्वी, तयोः=तुह्योः, इतरेतरद्वन्द्वः। सूत्र में 'तातङ्+आशिषि' में 'ङमो ह्रस्वादचि०' (८९) सूत्रद्वारा ङमुट् का आगम समझना चाहिये। अर्थः—(आशिषि) आशीर्वाद अर्थ में (तुह्योः) तु और हि के स्थान पर (तातङ्) तातङ् आदेश हो (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में। दूसरी अवस्था में न होने से विकल्प सिद्ध हो जाता है। 'तातङ्' में ङकार की 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। अकार की भी इत्सञ्ज्ञा हो जायेगी या उसे उच्चारणार्थक मान लेंगे। 'तात्' ही अवशिष्ट रहेगा।

परत्वात्सर्वादेशः—यह तातङ् आदेश ङित् है। 'ङिच्च' (४६) सूत्र द्वारा ङित् आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर हुआ करते है अतः यहां भी इसे तु और हि के अन्त्य अल् उकार और इकार के स्थान पर होना चाहिये। परन्तु अनेकाल् (अनेक अलों अर्थात् वर्णों वाला) होने से यह 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (४५) सूत्र द्वारा सम्पूर्ण 'तु' और सम्पूर्ण 'हि' के स्थान पर होगा। क्योंकि दोनों सूत्रों के मुकाबले में 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (१.१.५४) सूत्र 'ङिच्च' (१ १.५२) सूत्र की अपेक्षा अष्टाध्यायी में पर है। मुकाबले में पूर्वसूत्र से परसूत्र बलवान् होता है, जैसा कि कहा है—'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) अर्थात् तुल्यबल वालों का विरोध होने पर परला कार्य करना चाहिये।

शङ्का—आप पीछे 'ङिच्च' (४६) सूत्र पर कह आये हैं कि 'ङिद् अनेकाल् अपि अन्त्यस्य एव स्यात्' अर्थात् ङित् आदेश चाहे अनेकाल् भी क्यों न हो वह अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। परन्तु यहां आप तातङ् आदेश को अन्त्य अल् के स्थान पर न करके सम्पूर्ण 'तु' और सम्पूर्ण 'हि' के स्थान पर करने को कह रहे है और साथ

ही यह तर्क भी देते हैं कि 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (१।१।५४) सूत्र परत्व के कारण 'ङिच्च' (१।१।५२) सूत्र का बाध कर लेगा। श्रीमन्! 'ङिच्च' सूत्र तो 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' सूत्र का अपवाद है, यदि परत्व के कारण सर्वादेश होने लगे तो 'ङिच्च' सूत्र को कहीं प्रवृत्त होने के लिये स्थान ही न मिले और वह निरवकाश हो जाये। निरवकाश और सावकाश विधियों में पूर्व-पर नहीं देखा जा सकता क्योंकि 'विप्रतिषेधे पर कार्यम्' सूत्र की वृत्ति में 'तुल्यबलविरोधे पर कार्यं स्यात्' ऐसा स्पष्ट लिखा है। जब एक कार्य को स्थान ही नहीं मिलेगा तो तुल्यबलविरोध कैसा? ऐसे स्थलों पर तो 'पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानाम् उत्तरोत्तरं बलीयः' इस परिभाषा के अनुसार अपवादविधि ही अधिक बलवान् होती है। अतः 'ङिच्च' सूत्र अष्टाध्यायी में चाहे पूर्व है परन्तु अपवाद होने से सर्वादेश की अपेक्षा बलवान् है। इसलिये तातङ् आदेश 'तु' और 'हि' के अन्त्य अन् उकार और इकार के स्थान पर ही होना चाहिये।

समाधान—ङित् आदेश दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जिनमें ङकार के इत् करने का केवल अन्त्यादेश के सिवाय दूसरा कुछ प्रयोजन नहीं होता, यथा—'अनङ् सौ' (१७५) में अनङ् आदेश। दूसरे ङित् आदेश वे होते हैं जिनमें ङकार के इत् करने का प्रयोजन गुणवृद्धिनिषेध आदि करना होता है, यथा—तातङ् आदेश। 'युतात्' में तातङ् के ङित् होने से 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (५६६) से वृद्धि नहीं होती क्योंकि 'क्ङिति च' (४३३) सूत्र निषेध कर देता है। 'द्विष्टात्' में लघूपधगुण नहीं होता। 'उप्टात्' (वश कान्तौ) में 'ग्रहिज्या०' (६२४) से सम्प्रसारण हो जाता है। तो जहां ङित् करने का दूसरा कोई प्रयोजन नहीं होता वहां 'ङिच्च' सूत्र लग जाता है उसे कोई रोक नहीं सकता। इस प्रकार वह सावकाश हो जाता है। परन्तु जहां ङित् करने का दूसरा कोई प्रयोजन रहता है वहां उसकी गति शिथिल हो जाती है उसका बल नहीं रहता। तब वहां कहा जा सकता है कि ङित् तो किसी दूसरे कार्य के लिये किया गया है अन्त्यादेश के लिये नहीं। इतने पर भी यदि उसकी प्रवृत्ति का आग्रह है तो 'विप्रतिषेधे पर कार्यम्' परिभाषा उपस्थित होकर व्यवस्था देती है कि दोनों सूत्र सावकाश हैं ('ङिच्च' सूत्र अनङ् आदियों में तथा 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' सूत्र 'अतो भिस ऐस्' आदियों में) अतः परत्व के कारण 'अनेकाल्०' सूत्र ही प्रवृत्त हो 'ङिच्च' नहीं। इस प्रकार तातङ् आदेश सम्पूर्ण 'तु' और सम्पूर्ण 'हि' के स्थान पर होता है।

'भवतु' यहां प्रकृतसूत्र से सम्पूर्ण 'तु' के स्थान पर तातङ् आदेश होकर अनुबन्धलोप करने से 'भवतात्' प्रयोग सिद्ध होता है। पक्ष में 'भवतु' भी रहेगा। अतः आशीर्वाद में 'भवतात्-भवतु' दोनों रूपों का प्रयोग हो सकेगा।

अब लोट् के तस् आदियों के स्थान पर ताम् आदि आदेश विधान करने के लिये सर्वप्रथम लोट् को लेट्वत् अतिदेश करते हैं—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(४१३) लोँटो लँङ्वत् ।३।४।८५॥

लोँटस्तामादयः सलोपश्च ॥

अर्थः—जैसे लँङ् के स्थान पर कार्य होते हैं वैसे लोँट् के स्थान पर भी हों। इस से लोँट् के स्थान पर ताम् आदि आदेश तथा उसके (उत्तमपुरुष के) सकार का लोप हो जायेगा।

व्याख्या—लोँटः ।६।१। लँङ्वत् इत्यव्ययपदम्। लँङ इव लँङ्वत्[1], लँङ इति स्थानषष्ठ्यन्तात् 'तत्र तस्येव' (११४९) इति वतिप्रत्ययः। अर्थः—(लँङ्वत्) लँङ् के स्थान पर होने वाले कार्यों की तरह (लोँटः) लोँट् के स्थान पर भी कार्य होते हैं[2]। लँङ् के स्थान पर 'तस्थस्थमिपाम्०' (४१४) सूत्र से ताम् आदि आदेश होते हैं वे लोँट् में भी होंगे। लङ् के उत्तमपुरुष में 'नित्यं ङितः' (४२१) से सकार का लोप होता है वह लोँट् में भी हो जायेगा[3]। ध्यान रहे कि ऊपर वृत्ति में सूत्र का फलितार्थ दिया गया है अक्षरार्थ नहीं।

अब लँङ्वत् का प्रयोजन बतलाने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४१४) तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः ।३।४।१०१॥

ङितश्चतुर्णा तामादयः क्रमात् स्युः। भवताम्। भवन्तु ॥

अर्थः—ङितों के स्थान पर होने वाले तस्, थस्, थ, मिप् इन चार प्रत्ययों के स्थान पर ताम्, तम्, त, अम् ये चार क्रमशः आदेश हों।

व्याख्या—ङितः ।६।१। ('नित्यं ङितः' से)। तस्य ।३।१। (यह अधिकृत है)। तस्-थस्-थ-मिपाम् ।६।३। तान्तन्तामः। १।३। ताम् च तम् च तश्च अम् च—तान्तन्तामः, इतरेतरद्वन्द्वः। समास में ताम् और तम् के मकार को अनुस्वार तथा अनुस्वार को परसवर्ण हो गया है। अर्थः—(ङितः) ङित् (तः) तकार के (तस्-

---

१. लोँट इत्युपमेयस्य षष्ठ्यन्तत्वाद् उपमाने लँङ्यपि षष्ठ्या भवितव्यम्। तेन 'लँङीव लँङ्वत्' इति विग्रहो नैव कार्यः।

२. 'लुँङ्लँङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः, आडजादीनाम्' सूत्रों से अट् और आट् के आगम लँङ् के स्थान पर नहीं होते अपितु लँङ् परे होने पर अङ्ग को होते हैं अतः वे यहां लोँट् में न होंगे।

३. 'इतश्च' (४२४) सूत्र द्वारा होने वाला इकार का लोप भी यद्यपि लँङ् के स्थान पर होता है तथापि लोँट् में 'एरुः' (४११) से उत्वविधान के कारण वह यहां प्रवृत्त नहीं होता।

थस्-थ-मिपाम्) तस्, थस्, थ और मिप् के स्थान पर (तान्तन्ताम:) ताम्, तम्, त और अम आदेश हो जाते हैं। यथासङ्ख्यपरिभाषा (२३) से ये आदेश क्रमश होते हैं अर्थात् तस् को ताम्, थस् को तम्, थ को त तथा मिप् को अम् आदेश होता है।

भवताम्—भू धातु से विध्यादि अर्थों मे या आशीर्वाद मे लोँट्, प्रथमपुरुष के द्विवचन की विवक्षा मे उसे तस् आदेश, 'लोँटो लँङ्वत्' (४१३) से लँङ्वत् अतिदेश के कारण 'तस्थस्थमिपाम्० सूत्र द्वारा तस् को ताम् आदेश, स्थानिवद्भाव से उसकी सार्वधातुकसञ्ज्ञा, शप्, गुण तथा अवादेश करने पर 'भवताम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

भवन्तु—भू धातु से लोँट्, प्रथमपुरुष के बहुवचन की विवक्षा मे झि आदेश, सार्वधातुकत्वात् शप्, गुण, अवादेश, 'झोऽन्त' (३८६) से अन्त् आदेश तथा 'अतो गुणे' (२७८) से पररूप होकर 'भवन्ति' बना। अब 'एरु' (४११) सूत्र से इकार को उकार करने पर 'भवन्तु' प्रयोग सिद्ध होता है।

अब सिप् के स्थान पर हि आदेश करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।

[लघु०] विधिसूत्रम्— (४१५)सेर्ह्यपिच्च ।३।४।८७॥

लोँट सेर्हि सोऽपिच्च ॥

अर्थ—लोँट् के 'सि' को 'हि' आदेश हो और वह अपित् हो।

व्याख्या—लोँट ।६।१। ('लोँटो लँङ्वत्' से)। से ।६।१। हि ।१।१। अपित् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। न पित्—अपित् नञ्तत्पुरुष। अर्थ—(लोँट) लोँट् के (से) सि के स्थान पर (हि) हि आदेश हो (च) और वह (अपित्) अपित् हो। 'हि' आदेश अनेकाल् होने से सम्पूर्ण 'सि' के स्थान पर होता है।

सिप् प्रत्यय पित् है अत उसके स्थान पर होने वाला 'हि' आदेश भी स्थानिवद्भाव से पित् होना चाहिये। परन्तु यहाँ उसे अपित् अतिदेश किया जा रहा है। इसका प्रयोजन 'इहि, स्तुहि' आदि में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) के द्वारा ङिद्वत् हो जाने से 'क्ङिति च' (४३३) से गुणनिषेध करना है। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रयोजन हैं जो आगे हमारी व्याख्या में पदे पदे स्पष्ट होंगे।

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (४१६) अतो हे ।६।४।१०५॥

अत परस्य हेर्लुक्। भव, भवतात्। भवतम्। भवत ॥

अर्थ—अदन्त अङ्ग से परे 'हि' का लुक् हो।

व्याख्या—अत ।५।१। हे ।६।१। लुक् ।१।१। ('ङिणो लुक्' से)। 'अङ्गस्य' इस अधिकृत का विभक्तिविपरिणाम से 'अङ्गात्' बन जाता है। 'अत' यह 'अङ्गात्'

का विशेषण है। विशेषण से तदन्तविधि होकर 'अदन्ताद् अङ्गात्' निष्पन्न हो जाता है। अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (हेः) हि का (लुक्) लुक् हो जाता है। 'प्रत्ययस्य लुक्०' (१८६) सूत्र में प्रत्यय के अदर्शन की लुक् सञ्ज्ञा की गई है अतः यहां समग्र 'हि' प्रत्यय का लुक् होता है अलोऽन्त्यपरिभाषा प्रवृत्त नहीं होती।

'अदन्त' इसलिये कहा है कि 'इहि' आदि में 'हि' का लुक् न हो जाये। तपरकरण का प्रयोजन यह है कि 'याहि, पाहि, आख्याहि' आदि में आकार से परे 'हि' का लुक् न हो जाये।

भव—भू धातु से लोँट्, मध्यमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में सिप्, 'सेर्ह्यपिच्च' (४१५) से सि को हि आदेश, स्थानिवद्भाव से उसकी सार्वधातुक-सञ्ज्ञा, शप्, गुण तथा अवादेश होकर 'भव+हि' हुआ। अब अदन्त अङ्ग से परे 'अतो हेः' (४१६) द्वारा हि का लुक् करने पर 'भव' प्रयोग सिद्ध होता है[1]।

आशीर्लोँट् में 'भव+हि' इस स्थिति में परत्व[2] के कारण तातङ् आदेश लुक् का बाध कर लेता है—भवतात्। तातङ् के अभाव में लुक् भी हो जायेगा—भव।

भवतम्—भू धातु से लोँट् मध्यमपुरुष के द्विवचन की विवक्षा में थस्, लँङ्वद्भाव के कारण 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' (४१४) से थस् को तम् आदेश, शप्, गुण और अवादेश करने पर 'भवतम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

भवत—यहां मध्यमपुरुष के बहुवचन 'थ' के स्थान पर 'तस्थस्थमिपाम्०' से त आदेश हो गया है शेष प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

लोँट् के उत्तमपुरुष के लिये अग्रिमसूत्रों की प्रवृत्ति होती है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४१७) मेर्निः ।३।४।८९॥

लोँटो मेर्निः स्यात्॥

अर्थः—लोँट् के मि को नि आदेश हो।

---

१. यद्यपि यहां 'हि' के विधान का कुछ उपयोग प्रतीत नहीं होता तथापि 'स्तुहि, याहि, पाहि' आदि में इसकी उपयोगिता स्पष्ट है।

२. तातङ्विधि 'अद्धि-अत्तात्' आदि में सावकाश है। 'अतो हेः'(४१६) द्वारा किया जाने वाला लुक् विध्यादिलोँट् के 'भव' आदि में चरितार्थ है। अब 'भव+हि' में दोनों की युगपत् प्राप्ति होती है। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से परत्व के कारण तातङ् आदेश हो जाता है।

व्याख्या—लोँट ।६।१। ('लोँटो लँङ्वत्' से)। मे ।६।१। नि ।१।१। अर्थ :—(लोँट) लोँट् के (मे) 'मि' के स्थान पर (नि) 'नि' आदेश हो। 'नि' आदेश अनेकाल् होने से सम्पूर्ण 'मि' के स्थान पर होता है। लँङवद्भाव के कारण लोँट् के मिप् को 'तस्थस्थ०' (४१४) सूत्र से अम् आदेश प्राप्त था, उसका यह अपवाद है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४१८) आडुत्तमस्य पिच्च ।३।४।९२॥

*लोँडुत्तमस्याट् स्यात् पिच्च। हिन्योरुत्वं न, इत्वोच्चारण-सामर्थ्यात्॥*

अर्थ—लोँट् के उत्तमपुरुष को आट् का आगम हो और उत्तमपुरुष पित् माना जाये। 'हिन्यो' हि और नि के इकार को उच्चारणसामर्थ्य से 'एरु' (४११) द्वारा उत्व नहीं होता।

व्याख्या—आट् ।१।१। उत्तमस्य ।६।१। पित् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। लोँट ।६।१। ('लोँटो लँङ्वत्' से)। अर्थ—(लोँट) लोँट् के (उत्तमस्य) उत्तमपुरुष का अवयव (आट्) आट् हो जाता है (पित् च) किञ्च उत्तमपुरुष पित् भी हो जाता है[1]। आट् टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) द्वारा उत्तमपुरुष का आद्यवयव बनता है।

मिप् पित् था अब उसके स्थान पर होने वाला 'नि' भी पित् ठहरा। अब यदि उसे आट् का आगम हो जाता है तो आट्सहित 'नि' भी पित् ही रहता है। पुन पित् को पित् करने का क्या प्रयोजन? इसका उत्तर यह है कि परस्मैपद उत्तमपुरुष के एकवचन मे तो पित् करने का कुछ प्रयोजन नही परन्तु द्विवचन (वस्) और बहु-वचन (मस्) मे स्वत पित्त्व न होने से पित्त्व करना आवश्यक है।

पित् करने का प्रयोजन 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङिद्वद्भाव की रक्षा करना है। इस से गुण-वृद्धि का निषेध नहीं होता। यथा—*स्तवानि, स्तवाव, स्तवाम, करवाणि, करवाव, करवाम, मार्जानि, मार्जाव, मार्जाम* आदि।

*भवानि*—भू धातु से लोँट्, उत्तमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में मिप्, 'मेर्नि' से मि को नि आदेश, 'आडुत्तमस्य पिच्च' से नि को आट् का आगम, सार्व-

---

१ अपाट एव पित्त्व कस्मान्न क्रियते? निरर्थकत्वात्। पित्त्वं हि अनुदात्तार्थं वा स्याद् गुणवृद्ध्यर्थं वा, तत्र आटोऽनुदात्तत्वम् आगमत्वादेव सिद्धम्, गुणवृद्धयोस्तु नैवासौ निमित्तम् अप्रत्ययत्वात्। तस्माद् आट प्रति पित्त्वमनर्थकम् इत्युत्तमस्यैव विधीयते। अत्रन्या व्याख्या-पदमञ्जरी-शेखर-भैरव्यादयश्चानुसन्धेया।

धातुकत्वात् शप्, अनुबन्धलोप, गुण तथा अवादेश करने पर 'भव+आनि' हुआ। अब 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ होकर 'भवानि' प्रयोग सिद्ध होता है।

नोट—यहां भ्वादिगण में यदि आट् का आगम न भी होता तो भी 'अतो दीर्घो यञि' (३९०) से दीर्घ होकर 'भवानि भवाव भवाम' प्रयोग सिद्ध हो जाते कोई दोष न आता, परन्तु अदादिगण और जुहोत्यादिगण जहां शप् का लुक् और श्लु हो जाता है—के लिये आट् का आगम आवश्यक है। यथा—अदानि, अदाव, अदाम; हनानि, हनाव, हनाम; जुहवानि, जुहवाव जुहवाम आदि। यहां भी न्यायवशाद् इसकी प्रवृत्ति दिखा दी गई है [1]।

लोँट् के हि (स्तुहि, जहि) और नि (भवानि) के इकार को 'एरुः' (४११) सूत्र से उकार आदेश नहीं होता। क्योंकि यदि उकार आदेश करना अभीष्ट होता तो स्वयं सूत्रकार ही 'मेर्नुः, सेर्ह्यपिच्च' इस प्रकार उकारान्त आदेश विधान करते अथवा 'सोऽन्तः' की तरह 'मो नः, सो होऽपिच्च' इस तरह सूत्र बनाते, इससे प्रक्रिया में भी लाघव होता। उनका वैसा न करना इस बात का ज्ञापक है कि हि और नि को उत्व नहीं होता [2]।

'भवानि' के साथ प्र आदि उपसर्गों के जुड़ने से णत्व हो जाया करता है। प्रसङ्गतः उसका वर्णन करते हुए सर्वप्रथम उपसर्गादियों के स्थान का नियामक सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(४१९) ते प्राग्धातोः ।१।४।७९॥

ते गत्युपसर्गसञ्ज्ञका धातोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः॥

अर्थः—जिनकी पीछे गतिसञ्ज्ञा या उपसर्गसञ्ज्ञा की जा चुकी है वे धातु से पहले ही प्रयुक्त होते हैं।

व्याख्या—ते ।१।३। प्राक् इत्यव्ययपदम् (अथवा क्विन्नन्तं क्रियाविशेषणम्)। धातोः ।५।१। अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के चतुर्थपाद में 'उपसर्गाः क्रियायोगे गतिश्च' आदि इक्कीस सूत्रों द्वारा उपसर्ग और गतिसञ्ज्ञकों का वर्णन किया गया है। उसी का यहां 'ते' द्वारा परामर्श कराया गया है। अर्थः—(ते)[3] वे गति और उपसर्ग (धातोः)

---

१. कहीं कहीं भ्वादिगण में भी इसकी आवश्यकता पड़ती है। यथा—शृणवानि, शृणवाव, शृणवाम।

२. इसी विधानसामर्थ्य से 'इतश्च' (४२४) सूत्र द्वारा इकारलोप की भी प्रवृत्ति नहीं होती।

३. 'ते' ग्रहणमुपसर्गार्थम्, गतयो ह्यनन्तरा उक्ताः। असति 'ते' ग्रहणेऽनन्तरोक्ता गतय एव धातोः प्राक् स्युर्नोपसर्गाः।

धातु से (प्राक्) पहले प्रयुक्त करने चाहियें। यथा—अधिगच्छति, अनुभवति, प्रभवति आदि। वेद मे इन का प्रयोग धातु से परे भी होता है और व्यवधान में भी होता है—छन्दसि परेऽपि (१ ४ ८०), व्यवहिताश्च (१ ४ ८१)। यथा—हरिभ्या याहि ओक आ (ऋग्वेद ५ ३०१७), अन्येषामस्तमुप नक्तम् एति (ऋग्वेद १० ३४ १०)। अब णत्वविधायकसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४२०) आनि लोँट् ।८।४।१६॥

उपसर्गस्थान्निमित्तात् परस्य लोँडादेशस्य आनीत्यस्य नस्य ण स्यात्। प्रभवाणि॥

अर्थ—उपसर्ग मे स्थित निमित्त (ऋ, र्, ष्) से परे लोँट् के स्थान पर आदेश होने वाले 'आनि' के नकार को णकार आदेश हो।

व्याख्या—णत्वविधायक सब सूत्र अष्टाध्यायी के अष्टमाध्याय के चतुर्थपाद में पढ़े गये हैं। इस प्रकरण का प्रारम्भ 'रषाभ्यां नो ण समानपदे' और 'अट्कुप्वाङ्नुम्-व्यवायेऽपि' सूत्रों से किया गया है। अत सारे प्रकरण में नकार को णकार करने के निमित्त र् और ष् हैं। 'ऋवर्णान्नस्य णत्व वाच्यम्' वार्तिक से इन निमित्तों में 'ऋ' भी सम्मिलित कर लिया जाता है, इस प्रकार णत्वविधान मे ऋ, र्, ष्, ये तीन निमित्त कहलाते हैं। यदि निमित्त और स्थानी (न्) के मध्य अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् का व्यवधान भी आ जाये तो भी नकार को णत्व हो जाता है। इतनी पूर्वपीठिका समझने के बाद अब इस सूत्र को समझना चाहिये। उपसर्गात् ।५।१। ('उपसर्गादसमा-सेऽपि०' से)। आनि इति लुप्तषष्ठीक पदम्। लोँट् इत्यपि लुप्तषष्ठीकम्। न ।६।१। ण ।१।१। ('रषाभ्यां नो ण समानपदे' से)। अर्थ—(उपसर्गात्) उपसर्ग अर्थात् उपसर्गस्थनिमित्त से परे (लोँट्=लोट) लोँट् के स्थान पर आदिष्ट हुए (आनि=आने) आनि के (न) न् के स्थान पर (ण) ण् आदेश हो।

लोँट् के मिप् के स्थान पर 'मेनि' (४१७) सूत्र से नि आदेश होता है और पुन उसे 'आडुत्तमस्य पिच्च' (४१८) द्वारा आट् का आगम हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण 'आनि' लोँट् के स्थान पर आदिष्ट समझा जाता है—'यदागमास्तद्गुणी-भूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते'। उदाहरण यथा—'प्र+भवति' यहाँ 'प्र' की 'उपसर्गा क्रियायोगे' (३५) से उपसर्गसञ्ज्ञा है, अत 'ते प्राग्धातो' (४१६) के अनुसार उसका धातु से पूर्व प्रयोग होता है। तब प्रकृतसूत्र से उपसर्गस्थ निमित्त रेफ से परे लोँट् के स्थान पर आदिष्ट 'आनि' के नकार को णकार आदेश होकर 'प्रभवाणि' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—प्रयाणि, परियाणि आदि में समझना चाहिये। ध्यान रहे कि अट्-कु प्वाङ्-नुम् के ही व्यवधान मे णत्व होता है अन्य के व्यवधान मे नहीं, यथा—'प्रतपानि' यहाँ तकार के व्यवधान मे णत्व नहीं होता।

'लोँट् का आनि' इसलिये कहा है कि 'प्रवपानि मांसानि' यहाँ नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा व द्वितीया के बहुवचन 'आनि' के न् को ण् न हो जाये। महाभाष्य में लोँट् के ग्रहण का प्रत्याख्यान किया गया है। इस सूत्र पर न्यास और तत्त्वबोधिनी भी द्रष्टव्य है।

नोट—णत्वप्रकरण में 'समानपदे' का अधिकार होने से 'प्र+भवानि' आदि में 'अट्कुप्वाङ्०' (१३८) से णत्व प्राप्त नहीं था अतः इस सूत्र का आरम्भ किया गया है।

'दुर्+भवानि' यहाँ पर भी 'आनि लोँट्' से णत्व प्राप्त होता है परन्तु वह अनिष्ट है, अतः इसकी निवृत्ति के लिये अग्रिम-वार्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(३१) दुरः पत्व-णत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

दुःस्थितिः। दुर्भवानि ॥

अर्थः—पत्व और णत्व करने में दुर् के उपसर्गत्व का निषेध करना चाहिये।

व्याख्या—दुरः ।६।१। पत्व-णत्वयोः ।७।२। उपसर्गत्वप्रतिषेधः ।१।१। वक्तव्यः ।१।१। अर्थः—(पत्व-णत्वयोः) ष् या ण् करने में (दुरः) दुर् के (उपसर्गत्वस्य प्रतिषेधः) उपसर्ग होने का निषेध (वक्तव्यः) कहना चाहिये।

'दुर्+भवानि' यहां 'आनि लोँट्' (४२०) से न् को ण् करना है परन्तु प्रकृतवार्तिक से दुर् की उपसर्गता ही नहीं रहती तो 'आनि लोँट्' प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि वह उपसर्गस्थ निमित्त से परे णत्व करता है। इस प्रकार 'दुर्भवानि' ही रहा।

पत्व का उदाहरण है—दुःस्थितिः। यहां 'उपसर्गात् सुनोति-सुवति०' (८.३.६५) सूत्र से स्था के सकार को षकार प्राप्त था परन्तु प्रकृतवार्तिक से दुर् के उपसर्गत्व-निषेध से नहीं होता।

'अन्तर्+भवानि' यहाँ 'अन्तर्' अव्यय है उपसर्ग नहीं, अतः 'आनि लोँट्' (४२०) से णत्व प्राप्त नहीं होता। परन्तु यहाँ णत्व करना अभीष्ट है। इस के लिये अग्रिमवार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(३२) अन्तःशब्दस्याङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम् ॥

अन्तर्भवाणि ॥

अर्थः—अङ्प्रत्यय के विधान में, किप्रत्यय के विधान में तथा णत्व करने में अन्तर् शब्द को उपसर्ग कहना चाहिये।

व्याख्या—अन्त शब्दस्य ।६।१। अङ्-कि-विधि-णत्वेषु ।७।३। उपसर्गत्वम् ।१।१। वाच्यम् ।१।१। अर्थ—(अङ्-कि-विधिणत्वेषु) अङ्विधि किविधि तथा णत्व में (अन्त शब्दस्य) अन्तर् शब्द की (उपसर्गत्वम्) उपसर्गता (वाच्यम्) कहनी चाहिये।

अङ्प्रत्यय के विधान में यथा—अन्तर्धा। यहा अन्तर् शब्द के उपसर्ग होने से 'आतश्चोपसर्गे' (७८८) द्वारा अङ् प्रत्यय हो जाता है[1]।

किप्रत्यय के विधान मे यथा—अन्तर्धि। यहा अन्तर् के उपसर्ग होने से 'उपसर्गे घो किः' (८६२) द्वारा धा धातु से किप्रत्यय हो जाता है। तब 'आतो लोप इटि च' (४८९) से धातु के आकार का लोप होकर 'अन्तर्धि' (छिपना) यह पुल्लिङ्ग शब्द निष्पन्न होता है[2]।

णत्व में यथा—अन्तर्भवाणि। यहा अन्तर् शब्द की उपसर्गसञ्ज्ञा होकर 'आनि लोट्' (४२०) से आनि के नकार को णकार हो जाता है। इसी प्रकार अन्तर्+आयानि=अन्तरायाणि, अप्यन्तरायाण्यार्य ? (क्या मैं अन्दर आ सकता हू श्रीमन् !)

अब लोट् के उत्तमपुरुष के द्विवचन और बहुवचन के लिये सकारलोपविधायक सूत्र का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(४२१) नित्य ङितः ।३।४।९९॥

सकारान्तस्य ङिदुत्तमस्य[3] नित्य लोप। अलोऽन्त्यस्य (२१) इति सलोप। भवाव। भवाम॥

अर्थ—ङित् लकार के सकारान्त उत्तमपुरुष का नित्य लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य सकार का ही लोप होगा।

व्याख्या—नित्यम् इति द्वितीयैकवचनान्त क्रियाविशेषणम्। ङित ।६।१। सस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। स ।६।१। उत्तमस्य ।६।१। ('स उत्तमस्य' सूत्र से)। लोप ।१।१। ('इतश्च लोप०' से)। 'स' यह 'उत्तमस्य' का विशेषण है अत विशेषण से

---

१ 'अन्तर्+धा+अङ्' इस स्थिति में 'आतो लोप इटि च' (४८९) से धातु के आकार का लोप होकर 'स्त्रियां क्तिन्' (८६३) के अधिकार के कारण स्त्रीत्व की विवक्षा मे 'अजाद्यतष्टाप्' (१२४९) से टाप्, अनुबन्धलोप तथा सवर्णदीर्घ करने पर 'अन्तर्धा' यह आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—छिपना। 'अन्तर्धाम् उपययुरुत्पलावलीषु' इति माघ (८ १२)।

२ इस का प्रयोग यथा—अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति (१.४ २८), अन्तर्धि इतमिव कर्तुमभ्युद्यमे—माघे (८ ४२)।

३ ङित उत्तमस्य ङिदुत्तमस्येति षष्ठीतत्पुरुष।

तदन्तविधि होकर 'सकारान्तस्य उत्तमस्य' बन जाता है। अर्थः— (ङितः, लस्य) ङित् लकार के (स.=सकारान्तस्य) सकारान्त (उत्तमस्य) उत्तमपुरुष का (नित्यम्)[1] नित्य (लोपः) लोप हो जाता है। सम्पूर्ण सकारान्त उत्तमपुरुष का लोप प्राप्त होने पर अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य स् का ही लोप होता है।

भवाव —भू धातु से लोँट्, उत्तमपुरुष के द्विवचन की विवक्षा में वस् आदेश, आट् का आगम, शप्, गुण, अवादेश तथा सवर्णदीर्घ करने पर 'भवावस्'। अत्र 'लोँटो लँङ्वत्' (४१३) से लँङ्वद्भाव के कारण 'नित्यं ङितः' से स् का लोप होकर 'भवाव' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार उत्तमपुरुष के बहुवचन में मस् आदेश होकर 'भवाम' प्रयोग बनता है। लोँट् में रूपमाला यथा—

| | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|---|---|---|---|
| प्र० पु० | भवतु (भवतात्) | भवताम् | भवन्तु |
| म० पु० | भव (भवतात्) | भवतम् | भवत |
| उ० पु० | भवानि | भवाव | भवाम |

कोष्ठान्तर्गत रूप केवल आशीर्लोँट् में ही होते हैं। शेष रूप दोनों प्रकार के लोँट् में तुल्य समझने चाहियें।

अब लँङ् की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम लँङ्विधायक सूत्र का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४२२) अनद्यतने लँङ् ।३।२।१११॥

अनद्यतनभूतार्थवृत्तेर्धातोर् लँङ् स्यात् ॥

अर्थः— अनद्यतन-भूतकालिक क्रिया के वाचक धातु से लंङ् हो।

व्याख्या —अनद्यतने ।७।१। लँङ् ।१।१। भूते ।७।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। [ये सब अधिकृत हैं]। अर्थः—(अनद्यतने) अनद्यतन (भूते) भूतकाल में वर्त्तमान (धातोः) धातु से (परः) परे (लँङ्) लंङ् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है।

'मैंने आज सवेरे स्नान किया' यहां भूत तो है अनद्यतन नहीं, अतः लँङ् न

---

१. ध्यान रहे कि अष्टाध्यायी में पीछे 'वा' का प्रकरण चल रहा था उसकी निवृत्ति के लिये यहां 'नित्यम्' का ग्रहण किया गया है।

होगा। 'मैंने कल स्नान किया' यहा अनद्यतन भूत है अत यह लँङ् का विषय है। कई विद्यार्थी अन्यायुक्त लँङ् का प्रयोग करते हैं यह ठीक नहीं। सामान्य भूत मे वक्ष्यमाण लुँङ् का ही प्रयोग उचित होता है।

'अनद्यतने' यहा बहुव्रीहि समास है। अविद्यमानोऽद्यतनो यस्मिन् सोऽनद्यतन (काल), तस्मिन् अनद्यतने। इस प्रकार जहा अद्यतन और अनद्यतन दोनो प्रकार के भूतकाल का मिश्रण होगा वहा लँङ् न होगा, किन्तु भूतसामान्य मे लुँङ् का ही प्रयोग होगा। यथा—'अद्य ह्यश्च अभुञ्महि' (हम ने आज और कल खाया)।

अब लँङ् आदियो के प्रधान कार्य अट् के आगम का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(४२३) लुँङ्लँङ्लृँङ्क्ष्वडुदात्त ।६।४।७१॥

एध्वङ्गस्याऽट् स्यात् ॥

अर्थ—लुँङ् लँङ् या लृँङ् परे होने पर अङ्ग को अट् का आगम हो और वह उदात्त हो।

व्याख्या—लुँङ-लँङ् लृँङ्क्षु ।७।३। अट् ।१।१। उदात्त ।१।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। अर्थ—(लुँङ्-लँङ्-लृँङ्क्षु) लुँङ्, लँङ् या लृँङ् परे हो तो (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (अट्) अट् हो जाता है और वह (उदात्त) उदात्त होता है। अट् के टकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोप' (३) से लोप होकर 'अ' मात्र शेष रहता है। 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) के अनुसार टित् होने से अट् का आगम अङ्ग का आद्यवयव बनता है। अट् को उदात्त कहा गया है अत 'अभवत्' आदि आद्युदात्त हो जाते हैं। लघुकौमुदी में स्वरप्रकरण नही है अत स्वर के विषय मे विशेष नही लिखते, विशेषजिज्ञासु काशिका आदि का अवलोकन करें।

भू धातु से अनद्यतनभूत में लँङ्, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा मे उसे तिप् आदेश, सार्वधातुकसञ्ज्ञा, 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप्, अनुबन्धलोप, शित् होने से शप् की भी सार्वधातुकसञ्ज्ञा, 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' (३८८) से ऊकार को ओकार गुण तथा 'एचोऽयवायाव' (२२) से ओकार को अव् आदेश करने पर 'भव+ति' हुआ। अब 'भव' इस अङ्ग को 'लुँङ्-लँङ्-लृँङ्क्ष्वडुदात्त' (४२३) से अट् का आगम किया तो 'अभव+ति' बना[1]। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

१ ध्यान रहे कि अट् व आट् का आगम तिप् आदि आदेशों, शप् आदि विकरणों तथा यथाप्राप्त सम्प्रसारणकार्य के कर चुकने के बाद ही करना चाहिये पहले नही, अन्यथा 'ओह्यत, ऐज्यत, औप्यत' (वह्, यज्, वप् के कर्मणि लँङ्) आदि प्रयोग उपपन्न न हो सकेंगे। यद्यपि लकारावस्था में भी अट्-आट् करने मे भाष्यकार की

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४२४) इतश्च ।३।४।९९॥

ङितो लस्य परस्मैपदम् इकारान्तं यत्तदन्तस्य लोपः। अभवत्, अभवताम्, अभवन् । अभवः, अभवतम्, अभवत । अभवम्, अभवाव, अभवाम ॥

अर्थः—ङित् लकार के स्थान पर आदेश हुआ जो इकारान्त परस्मैपद, उसके अन्त्य इकार का लोप हो ।

व्याख्या—इत. ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । ङितः ।६।१। ('नित्यं ङितः' से)। लस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। परस्मैपदस्य ।६।१। ('इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' से विभक्ति तथा वचन का विपरिणाम करके)। लोपः ।१।१। (पूर्वोक्त सूत्र से) । 'इतः' पद 'परस्मैपदस्य' का विशेषण है अत. विशेषण से तदन्तविधि होकर 'इकारान्तस्य परस्मैपदस्य' बन जाता है । अर्थः—(ङितः) ङित् (लस्य) लकार के स्थान पर होने वाले (इतः=इदन्तस्य) इकारान्त (परस्मैपदस्य) परस्मैपद का (लोपः) लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह लोप अन्त्य अल् अर्थात् इकार का ही होगा[1] ।

यहां काशिका आदि प्राचीन ग्रन्थों में 'ङित्लकार-सम्बन्धी इकार का लोप हो परस्मैपद प्रत्ययों में' इस प्रकार सूत्र का सरल अर्थ किया गया है । दीक्षित जी का कथन है कि वैसा अर्थ करने से 'भवेत्' (भव+यास् त्=भव+इय् त्=भव+इत्=भवेत्) आदि के इकार का भी लोप प्रसक्त होगा । किञ्च 'अरुदिताम्' में भी

---

अनुमति है और इस पक्ष में आने वाले दोषों का परिहार भी आकर-ग्रन्थों में उपलब्ध है तथापि यह मत व्याकरण के प्रक्रियाग्रन्थों में आदृत नही है और इसे भाष्यकार का परिहारान्तरमात्र ही समझा जाता है । अतः प्राथमिक विद्यार्थियों को उपर्युक्त मत का ही अनुसरण करना चाहिये ।

१. यह सूत्र 'धातोः' के अधिकार में पढ़ा गया है, अतः धातु से परे ही ङित्सम्बन्धी इकारान्त परस्मैपद का लोप होगा । परन्तु पर के स्थान पर प्राप्त होने वाला कार्य 'आदेः परस्य' (७२) द्वारा उसके आदि को हुआ करता है । इस प्रकार 'ति' के इकार का नही अपितु 'त्' का लोप होना चाहिये । इस शका का समाधान यह है कि यहां 'धातोः' का 'विहित' विशेषण है अर्थात् धातु से विहित जो ङित् लकार, तत्सम्बन्धी इकारान्त परस्मैपद का लोप हो । जहां 'तस्मादित्युत्तरस्य' (७१) सूत्र से पर को कार्य कहा जाता है वहां पर ही 'आदेः परस्य' की प्रवृत्ति होती है । यहां पर 'धातोः' में पञ्चमी का अन्वय 'परस्य' के साथ नहीं अपितु 'विहितस्य' के साथ है अतः कोई दोष नहीं आता ।

लोप प्राप्त होगा, क्योंकि वहाँ रुदादिभ्य सार्वधातुके' (७ २ ७६) से होने वाला इट् का आगम 'ताम्' इस ङित् लकार का अवयव है। दीक्षितजी के अर्थ मे स्थानी के इकारान्त न होने से कोई दोष नही आता। व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार श्रीविश्वेश्वरसूरि ने यहा 'इतश्च लोप परस्मैपदेषु' सूत्र से दूसरे 'इत' पद की अनुवृत्ति ला कर 'इदन्तस्य इतो लोप' इस प्रकार अर्थ करके प्राचीनो के अर्थ का ही समर्थन किया है।

'अभवति' यहाँ लँङ् के स्थान पर 'ति' यह इकारान्त परस्मैपद आदेश किया गया है अत प्रकृतसूत्र से इसके अन्त्य इकार का लोप करने पर 'अभवत्' प्रयोग सिद्ध होता है। यहा पर भी 'लिट्, लिङ्' (देखें हल्न्तपुल्लिङ्गप्रकरण का प्रारम्भ) की तरह 'झला जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व तथा 'खरवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करके 'अभवत्, अभवद्' दो रूप बना लेने चाहियें। जश्त्व-चर्त्व प्रक्रिया हम बार बार नही लिखेंगे, बुद्धिमान् विद्यार्थियो को स्वय इसकी यथास्थान उद्भावना कर लेनी चाहिये।

अभवताम्—भू धातु से अनद्यतनभूत मे लँङ्, प्रथमपुरुष के द्विवचन की विवक्षा मे तस् प्रत्यय, 'तस्थस्थमिपां तान्तन्ताम' (४१४) से तस् को ताम् आदेश, शप् विकरण, तथा 'सार्वधातुकार्धं०' (३८८) से ऊकार को ओकार गुण होकर 'भवताम्' बना। अब 'लुङ्-लँङ्-लृँङ्क्ष्वडुदात्त' (४२३) से अङ्ग को अट् का आगम करने पर 'अभवताम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अभवन्—भू धातु से लँङ्, प्रथमपु० के बहुवचन की विवक्षा मे झि आदेश 'झोऽन्त' (३८९) से प्रत्यय के आदि झकार को अन्त् आदेश, 'इतश्च' (४२४) से अन्त्य इकार का लोप, शप्, गुण, अवादेश तथा अङ्ग को अट् का आगम होकर—अभव् अ अ त्। अब 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप करने पर 'अभव त्' इस स्थिति मे 'हलोऽनन्तरा सयोग' (१३) से 'न् त्' की सयोगसञ्ज्ञा और 'सयोगान्तस्य लोप' (२०) से सयोगान्त तकार का लोप करने से 'अभवन्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अभव—भू धातु से लँङ्, मध्यमपु० के एकवचन की विवक्षा मे सकार को सिप् आदेश, पकारलोप, 'इतश्च' से इकारलोप, शप्, गुण, अवादेश तथा अङ्ग को अट् का आगम होकर 'अभवस' इस स्थिति मे पदान्त सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग करने पर 'अभव' प्रयोग सिद्ध होता है।

अभवतम्—यहा लङ् के मध्यमपु० के द्विवचन मे थस् को 'तस्थस्थ०' (४१४) सूत्र से तम् आदेश हो जाता है, शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है। इसी प्रकार बहुवचन में 'थ' को 'त' आदेश होकर—अभवत।

**अभवम्**—यहां उत्तमपु० के एकवचन में मिप् को अम् आदेश, शप्, गुण, अवादेश, पररूप तथा अङ्ग को अट् का आगम होकर 'अभवम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

**अभवाव**—उत्तमपु० के द्विवचन में वस् आदेश, 'नित्यं ङितः' (४२१) से सकारलोप, शप्, गुण, अवादेश, 'अतो दीर्घो यञि' (३९०) से दीर्घ, तथा 'लुङ्-लँङ्०' (४२३) से अट् का आगम करने पर 'अभवाव' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार उत्तमपु० के बहुवचन में 'अभवाम' प्रयोग बनता है। लँङ् की रूपमाला यथा—

| | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|---|---|---|---|
| प्र० पु० | अभवत् (वह हुआ) | अभवताम् (वे दो हुए) | अभवन् (वे सब हुए) |
| म० पु० | अभवः (तू हुआ) | अभवतम् (तुम दो हुए) | अभवत (तुम सब हुए) |
| उ० पु० | अभवम् (मैं हुआ) | अभवाव (हम दो हुए) | अभवाम (हम सब हुए) |

अब विधिलिँङ् की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम लिँङ्विधायक सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४२५) विधिनिमन्त्रणाऽऽमन्त्रणाऽधीष्ट-सम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिँङ् ।३।३।१६१॥

एष्वर्थेषु धातोर्लिँङ् ॥

**अर्थः**—विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न और प्रार्थन इन अर्थों में धातु से परे लिँङ् होता है।

**व्याख्या**—विधि—प्रार्थनेषु ।७।३। लिँङ् ।१।१। धातोः, प्रत्ययः, परश्च ये तीनों अधिकृत हैं। अर्थः—(विधि-निमन्त्रणाऽऽमन्त्रणाऽधीष्ट-सम्प्रश्न-प्रार्थनेषु) विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट सम्प्रश्न और प्रार्थन इन अर्थों में (धातोः) धातु से (परः) परे (लिँङ्) लिँङ् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो।

(१) **विधि**—अपने से छोटे अर्थात् सेवक आदि को आज्ञा या हुक्म देना 'विधि' कहाता है। यथा कोई अपने सेवक से कहे—जलं भवान् आनयेत् (आप जल लाएं), वस्त्राणि भवान् प्रक्षालयेत् (आप वस्त्रों को धो दें) आदि।

(२) **निमन्त्रण**—अवश्यकर्त्तव्य प्रेरण को 'निमन्त्रण' कहते हैं, अर्थात् ऐसी

प्रेरणा जिसे यदि पालन न किया जाये तो प्रत्यवाय (पाप) लगता हो। जैसे श्राद्धादि मे किसी अन्य श्रोत्रिय भोक्ता के न मिलने पर यदि कोई ब्राह्मण अपने दौहित्र आदि को कहे कि 'इह भवान् भुञ्जीत' (आप यहा खाए)। ध्यान रहे कि यदि दौहित्रादि ऐसे श्राद्धभोजन के लिये इन्कार करेगा तो स्मृतिशास्त्रानुसार उसे पाप का भागी होना पडेगा[1]।

(३) आमन्त्रण—ऐसी प्रवर्त्तना का नाम आमन्त्रण होता है जिसमे कामचारिता होती है। अर्थात् करना या न करना इच्छा पर निर्भर होता है, करने से पुण्य या न करने से पाप नहीं होता। यथा—इहासीत भवान् (आप यहा बैठें), यहां बैठना या न बैठना श्रोता की इच्छा पर निर्भर है, इसमे कामचारिता है। बैठने में कोई पुण्य तथा न बैठने मे कोई पाप नहीं लगता।

(४) अधीष्ट[2]—अधीष्ट नाम सत्कारपूर्वको व्यापार। किसी बडे गुरु आदि को सत्कारपूर्वक किसी कार्य के करने की प्रेरणा देना 'अधीष्ट' कहाता है। यथा—पुत्रमध्यापयेद् भवान् (आप कृपया मेरे पुत्र को पढावें)।

(५) सम्प्रश्न—किसी बडे के समीप किसी बात का सम्प्रधारण=निश्चय करना 'सम्प्रश्न' कहाता है। जैसे किसी विज्ञ से पूछें—किं भो वेदमधीयीय उत तर्कम्? (क्या मैं वेद पढूं या तर्क-शास्त्र?) यहां सम्प्रधारणार्थं (निश्चयार्थ) पूछा गया है।

(६) प्रार्थन—मागने का नाम 'प्रार्थन' है। यथा—भो भोजन लभेय (मैं भोजन पाना चाहता हू)।

इन अर्थों मे पहले चार (विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण और अधीष्ट) विभिन्न प्रकार की प्रवर्त्तना—प्रेरणा ही हैं। इनका पृथक्श उल्लेख प्रपञ्चार्थ ही समझना चाहिये। इन सब अर्थों को वाच्य तथा द्योत्य दोनो प्रकार का आकर-ग्रन्थो मे माना गया है। विद्यार्थियो के लिये उपयोगी न समझ कर इस विषय की चर्चा नही करते, विशेषजिज्ञासु आकर-ग्रन्थो का अवलोकन करें।

---

१ जैसा कि महाभाष्य मे कहा है—"एव तर्हि यन्नियोगत कर्त्तव्य तन्निमन्त्रणम्, किं पुनस्तत्? हव्य कव्यञ्च। ब्राह्मणेन 'सिद्ध भुज्यताम्' इत्युक्तेऽभ्यमनुज्ञातं भवति प्रत्याख्यातु।" इस विषय का विवेचन प्रदीपोद्योत तथा मनुस्मृति के तृतीयाध्याय (श्लोक १२८—१३०) में देखना चाहिये।

२. यह भाव में नपुंसक है। कहीं कहीं 'अधीष्ट' ऐसा पुल्लिङ्ग पाठ भी 'व्यापार' का विचार कर के देखा जाता है। श्रीहरदत्त ने पदमञ्जरी मे इसके पुस्तक को अपपाठ माना है।

अब परस्मैपद में लिँङ् को यासुट् का आगम विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४२६) यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च ।३।४।१०३॥

लिँङः परस्मैपदानां यासुडागमो ङिच्च ॥

अर्थः—लिङ्स्थानीय परमैपदों को यासुट् का आगम हो तथा वह आगम उदात्त और ङित् हो।

व्याख्या—यासुट् ।१।१। परस्मैपदेषु ।७।३। उदात्तः ।१।१। ङित् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । लिँङः ।६।१। ('लिँङः सीयुट्' से)। 'परस्मैपदेषु' का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम होकर 'परस्मैपदानाम्' बन जाता है। अर्थः—(लिँङः) लिँङ् के (परस्मैपदानाम्) परस्मैपदों का अवयव (यासुट्) यासुट् हो जाता है और वह (उदात्तः) उदात्त (च) तथा (ङित्) ङित् होता है।

अष्टाध्यायी में इस सूत्र से पूर्व 'लिँङः सीयुट्' (५२०) यह सामान्यसूत्र कहा गया है। 'लिँङ्स्थानीय प्रत्ययों को सीयुट् का आगम हो' यह उस का अर्थ है। पुनः इस सूत्र में लिँङ्स्थानीय परस्मैपदों को उसका अपवाद यासुट् का आगम विधान किया गया है। इस प्रकार पारिशेष्यात् आत्मनेपद में सीयुट् तथा परस्मैपद में यासुट् का आगम होता है। यासुट् में उकार उच्चारणार्थक तथा टकार 'हलन्त्यम्' (१) से इत्संज्ञक है। टित्त्व के कारण यासुट् का आगम लिँङ्स्थानीय तिवादियों का आद्यवयव बनता है (आद्यन्तौ टकितौ)।

यासुट् के आगम को यहाँ उदात्त कहा गया है। इस से प्रतीत होता है कि अन्य आगम अनुदात्त होते हैं—आगमा अनुदात्ता भवन्तीति[1]।

यासुट् के आगम को ङित् कहा गया है। आगम जिसको कहे जाते हैं उसी के अङ्ग होते हैं और उसी के ग्रहण से उनका ग्रहण होता है—'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते'। अतः ङित्त्व भी उसे ही होगा जिसे यासुट् का आगम विधान किया गया होगा। इस से गुण-वृद्धि का निषेध हो सकेगा। यथा—'स्तुयात्' में गुण नहीं होता।

यहां पर एक शङ्का उत्पन्न होती है कि लिँङ् तो स्वयं ङित् है अतः स्थानिवद्भाव

---

१. यासुट उदात्तवचनाद् विज्ञायते 'आगमा अनुदात्ता भवन्ती'ति। अन्यथा यासुटः प्रत्ययभक्तत्वात् प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धमुदात्तत्वम्। नैतदस्ति ज्ञापकम्। यानि पिद्वचनानि तदर्थमेतत् स्यात्। यद्येतावत् प्रयोजनम् अपिदित्येव ब्रूयात्। तदेतदुदात्तवचनं ज्ञापकमेव आगमा अनुदात्ता भवन्तीति—पदमञ्जरी।

से उसके स्थान पर होने वाले तिप् आदि स्वत ङित् होंगे ही[1], यासुट् का आगम तिबादियो का अवयव है अत यासुट्विशिष्ट तिबादियों का भी ङित्त्व निर्बाध सिद्ध है पुन इसके लिये यासुट् को ङित् करने का क्या प्रयोजन ? इस का समाधान यह है कि इसी से तो प्रतीत होता है कि लकार के सहारे तिबादि आदेशो मे ङित्त्व धर्म नही आता। तात्पर्य यह है कि लकार चाहे ङित् हो परन्तु उस के स्थान पर होने वाले तिबादि ङित् नहीं होते। इस से 'अचिनवम् अकरवम्' आदि मे लँङ् के कारण अम् के ङित् न होने से निर्बाध गुण हो जाता है (देखें काशिकावृत्ति, यही सूत्र)।

भू धातु से विध्यादि अर्थों मे लिँङ्, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा मे उसके स्थान पर तिप् आदेश, 'इतश्च' (४२४) से इकार का लोप, प्रकृतसूत्र से 'त्' को यासुट् का आगम, अनुबन्धलोप, 'यास्त्' की 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' (३८६) से सार्वधातुकसञ्ज्ञा होकर शप्, शप् की भी सार्वधातुकसज्ञा, 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से भू के ऊकार को ओकार गुण, पुन अवादेश करने पर 'भव+यास्त्' हुआ। अब यहा अग्रिमसूत्र की प्राप्ति दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(४२७) लिँङ सलोपोऽनन्त्यस्य ।७।२।७९॥

सार्वधातुकलिँङोऽनन्त्यस्य सस्य लोप । इति प्राप्ते—

अर्थ —सार्वधातुक लिँङ के अनन्त्य (अन्त मे न रहने वाले) सकार का लोप हो जाता है। इस सूत्र के प्राप्त होने पर (इसका अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है)।

व्याख्या—लिँङ ।६।१। स ।६।१। (लुप्तषष्ठीक पदम्)।लोप ।१।१। अनन्त्यस्य ।६।१। सार्वधातुकस्य ।६।१। ('रुदादिभ्य सार्वधातुके' से विभक्तिविपरिणाम करके)। अन्ते भवोऽन्त्य, न अन्त्योऽनन्त्य, तस्य—अनन्त्यस्य। जो अन्त में विद्यमान न रहे उसे अनन्त्य कहते हैं। अर्थ —(सार्वधातुकस्य) सार्वधातुक (लिँङ) लिँङ् के (अनन्त्यस्य) अनन्त्य (स=सस्य) सकार का (लोप) लोप हो जाता है। इस सूत्र के उदाहरण हैं—शृणुयात्, स्तुयात् आदि।

---

१ अजी अत्विधि होने से स्थानिवद्भाव भी कैसे हो सकेगा ? स्थानी के अङ्गावयव का आश्रय करने से इसका अत्विधित्व तो स्पष्ट है ही। इसका उत्तर यह है कि अनुबन्धविषयक कार्यों मे 'अनत्विधौ' प्रवृत्त नहीं होता अर्थात् वहा अत्विधि मे भी स्थानिवद्भाव हो जाया करता है, तभी तो 'प्रदाय' आदि मे 'घुमास्थागापाजहातिसा हलि' (१२८) द्वारा प्राप्त ईत्व का 'न ल्यपि' (६४६९) से निषेध किया गया है, वरना जब ल्यप् किन् ही न था तो ईत्व के प्राप्त न होने से उसके निषेध का यत्न कैसा ?

'भव+यास्त्' यहां 'यास्त्' यह सार्वधातुकलिङ् है, इस में 'स्' यह अनन्त्य है, अतः प्रकृतसूत्र से इस का लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४२८) अतो येयः ।७।२।८०॥

अतः परस्य सार्वधातुकावयवस्य यास् इत्यस्य इय्। गुणः॥

अर्थः—अदन्त अङ्ग से परे सार्वधातुक के अवयव यास् के स्थान पर इय् आदेश हो।

व्याख्या—अतः ।५।१। अङ्गात् ५।१। ('अङ्गस्य' इस अधिकृत का पञ्चम्यन्त विपरिणाम हो जाता है)। सार्वधातुकस्य ।६।१। ('रुदादिभ्यः सार्वधातुके' से विभक्ति-विपरिणाम कर के)। यासः ।६।१। ('यास्' यहां षष्ठी का लुक् होकर सकार को रुँत्व, रेफ को य् आदेश तथा 'लोपः शाकल्यस्य' से य् का लोप हो जाता है। या+इयः= येयः, यहां सन्धि आर्ष है)। इयः ।१।१। यकारादकार उच्चारणार्थः। अर्थः—(अतः= अदन्तात्) अदन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (सार्वधातुकस्य) सार्वधातुक के अवयव (यासः=यासः) यास् के स्थान पर (इयः) इय् आदेश होता है। इय् के यकार की विधानसामर्थ्य से इत्सञ्ज्ञा नहीं होती।

'भव+यास् त्' यहां अदन्त अङ्ग है 'भव', इस से परे सार्वधातुक है 'यास्त्', अतः इसके अवयव यास् को प्रकृतसूत्र से इय् आदेश होकर[1] गुण एकादेश किया तो

---

१. बहुत से वैयाकरण 'यास्' के सकार का लोप कर अवशिष्ट 'या' को ही 'इय्' आदेश किया करते हैं। परन्तु इस तरह 'भवेयुः' की सिद्धि उपपन्न नहीं हो सकती क्योंकि तब सकार का लोप करने पर 'भव+या+उस्' इस स्थिति में 'उस्यपदान्तात्' (४९२) से पररूप प्राप्त होगा जो किसी भी प्रकार रोका नहीं जा सकता। यद्यपि इयादेश 'भवेत्' आदियों में और 'उस्यपदान्तात्' सूत्र 'अपुः' आदियों में चरितार्थ है और यहां 'भव+या+उस्' में दोनों के युगपत् प्राप्त होने पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से परकार्य इयादेश होकर कोई दोष उत्पन्न नहीं होता—ऐसा समाधान किया जाता है, तथापि इस समाधान का कोई ठोस आधार नहीं है। क्योंकि 'या+उस्' में पररूपकार्य केवल प्रत्यय में होने के कारण अन्तरङ्ग और इयादेश अदन्त अङ्ग के आश्रित होने से बहिरङ्ग है। 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' के अनुसार अन्तरङ्ग कार्य पहले करना चाहिये और बहिरङ्ग बाद में। अतः इसके निवारण के लिये यास् को इयादेश करने के सिवाय और कोई उपाय नहीं है। प्राचीन वैयाकरणों को भी अपने पक्ष की निर्बलता ज्ञात थी; काशिका में इस सूत्र की व्याख्या के अन्त में कहा है—

'भवेय् त्' हुआ। अब यकार का लोप करने के लिये अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४२९) लोपो व्योर्वलि ६।१।६४॥

भवेत्। भवेताम्॥

अर्थ—वल् परे होने पर वकार यकार का लोप हो।

व्याख्या—लोप ।१।१। व्यो ।६।२। वलि ।७।१। अर्थ—(वलि) वल् परे होने पर (व्योः) व् और य् का (लोप) लोप हो जाता है।

यकारलोप का उदाहरण—'भवेय् त्' यहां पर तकार वल् परे है अत यकार का लोप होकर 'भवेत्' प्रयोग सिद्ध होता है।

वकारलोप का उदाहरण—जीव्+रदानु=जीरदानु ('जीवेरदानु'—देखें महाभाष्य मे 'हयवरट्' सूत्र)।

यदि वल् परे न कहते तो 'जीव्यात्, जीव्यास्ताम्, जीव्यासु' आदि मे यकार परे होने पर भी लोप हो जाता।

प्रश्न—वायु शब्द के षष्ठी वा सप्तमी के द्विवचन 'वाय्वो' रूप मे 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप क्यो नहीं होता?

उत्तर—वहा उकार के स्थान पर 'इको यणचि' (१५) सूत्र से वकारादेश हुआ है अत 'अच परस्मिन् पूर्वविधौ' (६९६) से वकार को स्थानिवत् अर्थात् उकार मान लेने से वल् परे नहीं रहता अत यकार का लोप नहीं होता [न च यलोपविधौ 'न पदान्तद्विर्वचन०' इति स्थानिवद्भावनिषेध शङ्क्य, 'स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेश एव न स्थानिवद्' इत्युक्ते]।

भवेताम्—भू धातु से विधिलिङ्, प्रथमपुरुष के द्विवचन की विवक्षा में तस् आदेश, तस् को 'तस्थस्थमिपां०' (४१४) से ताम् आदेश, यासुट् का आगम, यासुट्-विशिष्ट ताम् की सार्वधातुकसञ्ज्ञा होकर शप्, सार्वधातुकगुण तथा अवादेश करने पर 'भव+यास् ताम्' हुआ। अब 'अतो येय' (४२८) से यास् को इय् आदेश, गुण तथा यकार का लोप करने से 'भवेताम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रथमपुरुष के बहुवचन में विशिष्ट कार्य बतलाने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४३०) झेर्जुस् ।३।४।१०८॥

लिंङो झेर्जुस् स्यात्। भवेयुः। भवेः। भवेतम्। भवेत। भवेयम्। भवेव। भवेम॥

---

* केचिदत्र 'अतो यासिय' इति सूत्र पठन्ति, तेषां सकारान्त स्थानी, षष्ठीसमासश्च।"

श्रीवरदराज ने निर्दोष तथा सुगम होने के कारण यही मार्ग अपनाया है।

अर्थः—लिँङ् के झि के स्थान पर जुस् आदेश हो।

व्याख्या—झेः ।६।१। जुस् ।१।१। लिँङः ।६।१। ('लिँङः सीयुट्' से) अर्थः—(लिँङः) लिँङ् के (झेः) झि के स्थान पर (जुस्) जुस् आदेश होता है। अनेकाल् होने से जुस् आदेश सम्पूर्ण झि के स्थान पर होता है। 'झि' प्रत्यय है अतः जुग् भी स्थानिवद्भाव से प्रत्ययसञ्ज्ञक हो जायेगा। तब 'चुटू' (१२६) से जकार की इत्सञ्ज्ञा होकर लोप करने से 'उस्' मात्र ही अवशिष्ट रहेगा। अन्त्य सकार की इत्सञ्ज्ञा न होगी, 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) सूत्र निषेध करेगा।

भू धातु से विधिलिँङ्, प्रथमपुरुष के बहुवचन की विवक्षा में झिप्रत्यय, प्रकृत-सूत्र से झि को जुस् आदेश, यासुट् का आगम, शप्, गुण तथा अवादेश होकर—भव+यास् उस्। अब 'अतोयेयः' (४२८) से यास् को इय् आदेश तथा 'आद्गुणः' (२७) से गुण एकादेश किया तो भवेयुस्='भवेयुः' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां यल् परे न होने से यकार का लोप नहीं होता।

मध्यमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में सिप्, 'इतश्च' (४२४) से सि के इकार का लोप, यासुट्, शप्, गुण, अवादेश, यास् को इय् तथा गुण एकादेश करने पर 'भवेय् स्' हुआ। अब संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से 'लोपो व्योर्वलि' (४२६) द्वारा यकार का लोप होकर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग करने से 'भवेः' प्रयोग सिद्ध होता है।

मध्यमपुरुष के द्विवचन में लिँङ् को थस्, 'तस्थस्थमिपां०' (४१४) से थस् को तम् आदेश, यासुट् का आगम, शप् गुण, अवादेश, 'अतो येयः' से यास् को इय्, गुण तथा यकार का लोप करने पर 'भवेतम्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार बहुवचन में थ को त आदेश होकर—'भवेत' सिद्ध होता है।

भवेयम्—यहां उत्तमपुरुष के एकवचन में 'तस्थस्थमिपां०' (४१४) से मिप् को अम् आदेश हो जाता है। वल् परे न होने से यकार का लोप नहीं होता।

भवेव, भवेम—यहां उत्तमपुरुष के द्विवचन और बहुवचन में 'नित्यं ङितः' (४२१) से वस् और मस् के सकार का लोप हो जाता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् होती है। विधिलिँङ् में रूपमाला यथा—

| | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|---|---|---|---|
| प्र० पु० | भवेत् (वह हो) | भवेताम् (वे दो हों) | भवेयुः (वे सब हों) |
| म० पु० | भवेः (तू हो) | भवेतम् (तुम दो होओ) | भवेत (तुम सब होओ) |
| उ० पु० | भवेयम् (मैं होऊँ) | भवेव (हम दो हों) | भवेम (हम सब हों) |

आशीर्वाद में लिँङ् और लोँट् का प्रयोग होता है, यह पीछे (४१०) सूत्र में बताया जा चुका है। यहा अब विधिलिँङ् के बाद आशीर्लिँङ् की प्रक्रिया दर्शाते हैं—

भूधातु से आशीर्लिँङ्, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में उसे तिप् आदेश होकर 'भू+ति' हुआ। अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(४३१) लिँङाशिषि ।३।४।११६॥

आशिषि लिँङस्तिङ् आर्धधातुकसञ्ज्ञ स्यात् ॥

अर्थ—आशीर्वाद में लिँङ् के स्थान पर होने वाला तिङ् आर्धधातुकसञ्ज्ञक हो। 10232

व्याख्या—लिँङ् ।६।१। (लुप्तषष्ठीक पदम्)। आशिषि ।७।१। तिङ् ।१।१। ('तिङ्शित्सार्वधातुकम्' से)। आर्धधातुकम् ।१।१। ('आर्धधातुकं शेष' से)। अर्थ—(आशिषि) आशीर्वाद में (लिँङ्=लिँङ) लिँङ् के स्थान पर होने वाला (तिङ्) तिङ् (आर्धधातुकम्) आर्धधातुकसञ्ज्ञक हो। यहां भी 'लिँट् च' (४००) सूत्र की तरह 'लिँङ शाकटायनस्यैव' (३।४।१११) सूत्र से 'एव' पद का अनुवर्त्तन कर 'आर्धधातुकसञ्ज्ञा ही हो अर्थात् सार्वधातुकसञ्ज्ञा न हो' इस प्रकार समझ लेना चाहिये। अत यहा एकसञ्ज्ञाधिकार न होने पर भी एक ही सञ्ज्ञा होगी दो नहीं।

'भू+ति' में सार्वधातुकसञ्ज्ञा का बाध होकर प्रकृतसूत्र से आर्धधातुकसञ्ज्ञा हो गई। इस से शप् न हुआ, क्योंकि 'कर्त्तरि शप्' (३८७) सूत्र से शप् तभी होता है जब सार्वधातुक परे हो। अब 'यासुट् परस्मैपदेषु०' (४२६) सूत्र से यासुट् का आगम हो जाता है। परन्तु वहा पर यासुट् को ङित् कहा गया है वह यहा अभीष्ट नहीं, यहा कित् करना ही अभीष्ट है अत इस के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(४३२) किदाशिषि ।३।४।१०४॥

आशिषि लिँङो यासुट् कित्। स्को सयोगाद्योर्० (३०९) इति सलोप ॥

अर्थ—आशीर्वाद अर्थ में लिँङ् का आगम यासुट् कित् हो। 'स्को सयोगाद्योरन्ते च' (३०९) सूत्र से सकार का लोप हो जायेगा।

व्याख्या—कित् ।१।१। आशिषि ।७।१। लिँङ ।६।१। ('लिङाशिषि' से) यासुट्।१।१। ('यासुट् परस्मै०' से)। अर्थ—(आशिषि) आशीर्वाद में (लिङ) लिँङ् सम्बन्धी (यासुट्) यासुट् (कित्) कित् हो। कित् करने से सम्प्रसारणादि कार्य सिद्ध हो जाते हैं। यथा—यज् धातु के आशीर्लिँङ् मे 'यज्+यात्' इस अवस्था में 'वचिस्वपि०' (५४७) सूत्र से कित् परे होने पर सम्प्रसारण हो जाता है—इष्यात्।

LIBRARY ... College, KOTA

इसी प्रकार वह् का—उह्यात्, वप् का—उप्यात्, वच् का—उच्यात्, वस् का—उष्यात्, वद् का—उद्यात् आदि रूप यासुट् को कित् मान कर ही उपपन्न होते हैं। 'जागर्यात्' में 'जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु' (७.३ ८५) द्वारा गुण भी यासुट् को कित् मान कर ही किया जा सकता है, अन्यथा ङित् में तो उसकी प्रवृत्ति निषिद्ध है।

'भू+यास् त्' यहां न तो अदन्त अङ्ग है और न ही लिङ् सार्वधातुक है, अत. 'अतो येयः' (४२८) की प्रवृत्ति नही होती। अब 'हलोऽनन्तराः संयोगः' (१३) से 'स् त्' की संयोगसञ्ज्ञा होकर संयोगान्तलोप (२०) के अपवाद 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (३०९) द्वारा संयोग के आदि सकार का लोप करने से 'भूयात्' प्रयोग सिद्ध होता है[1]।

शङ्का—'भू+यास् त्' इस स्थिति में 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' (१७९) से अपृक्त तकार का लोप होकर 'भूयाः' बनना चाहिये था क्योंकि 'स्कोः संयोगाद्योः०' वाला संयोगादिलोप तो त्रिपादी होने से उसकी दृष्टि में असिद्ध है।

समाधान—हल्ङ्यादिसूत्र में अपृक्त के लोप का विधान किया गया है; अपृक्तसञ्ज्ञा 'अपृक्त एकाल्प्रत्यय.' (१७८) सूत्र से एकाल्प्रत्यय की ही हुआ करती है। परन्तु यहां 'त्' (तिप्) के साथ यासुट् का आगम भी सम्बद्ध है ('यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते') अतः इस की किसी भी प्रकार अपृक्तसंज्ञा नहीं हो सकती। अपृक्त न होने से हल्ङ्यादिसूत्र द्वारा तकार का लोप नहीं होता।

अच्छा तो 'भू+यात्' में 'यात्' इस आर्धधातुक के परे होने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (३८८) से इगन्त अङ्ग भू के ऊकार को गुण ही हो जाये—इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(४३३) क्ङिति[2] च ।१।१।५॥

---

१. यद्यपि 'सयोगान्तस्य लोप.' (२०) की दृष्टि में 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (३०९) सूत्र असिद्ध है तथापि 'अपवादो वचनप्रामाण्यात्' के अनुसार यह उस का अपवाद होने से असिद्ध नहीं होता। इस विषय का स्पष्टीकरण इस ग्रन्थ के प्रथमभाग में (६३) सूत्र पर देखें।

२. कई लोग 'झरो झरि सवर्णे' (७३) के कारण दूसरे ककार का लोप करके 'ङिति च' इस प्रकार एककारघटित सूत्रपाठ लिखा करते हैं, यह नितान्त अशुद्ध है। क्योंकि यहां ङकार वर्ण ककार का सवर्ण होता हुआ भी झरों के अन्तर्गत नहीं आता, अतः उसके परे रहते झरोझरिलोप सम्भव नहीं। इसलिये कौमुदीग्रन्थों में द्विककारघटित सूत्र ही लिखा जाना उचित है।

गित्-किद्-ङिन्निमित्ते[1] इग्लक्षणे गुणवृद्धी न स्त । भूयात्, भूयास्ताम्, भूयासु । भूया, भूयास्तम् भूयास्त । भूयासम्, भूयास्व, भूयास्म ॥

अर्थ —गित् कित् ङित् को मान कर इग्लक्षण गुण वा वृद्धि नही होते ।

व्याख्या—क्ङिति ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । 'इक' इति 'इको गुणवृद्धी इत्यतोऽनुवर्तते । गुणवृद्धी ।१।२। ('इको गुणवृद्धी' से)। न इत्यव्ययपदम् ('न धातुलोप०' से) । ग् च क च ङ् च क्ङ, क्ङ इतौ यस्यासौ क्ङित्, तस्मिन् क्ङिति । निमित्तसप्तम्येषा[2] । अनुवर्तित 'इक' पद अर्थपरक है—ऐसा आकरग्रन्थो मे व्याख्यान है । अर्थ.—(क्ङिति) गित् कित् ङित् के होने पर अर्थात् गित् कित् ङित् को मानकर ('इक' इति) 'इक' इस प्रकार कहकर प्राप्त हुए (गुणवृद्धी) गुण और वृद्धि (न) नही होते । जहा 'इक' पद का निर्देश कर के गुण या वृद्धि का विधान करें उसे इग्लक्षण गुणवृद्धि कहते हैं[3], उसी इग्लक्षण गुणवृद्धि का इस सूत्र मे निषेध किया गया है ।

गित् मे गुणनिषेध यथा—जि+स्नु ('ग्लाजिस्थश्च स्नु' ३ २ १३९)= जि+स्नु=जिष्णु । यहा स्नुप्रत्यय के नकार की इत्सञ्ज्ञा हुई है अत यह गित् है इस गित् को मानकर 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से इग्लक्षण गुण प्राप्त होता है उस का प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है[4] । इसी प्रकार 'भूष्णु' मे भी गुण नहीं होता ।

---

१ यहा 'ईदूदेद् द्विवचन प्रगृह्यम्' (५१) से प्रगृह्यसञ्ज्ञा हो जाने के कारण प्रकृतिभाव हो गया है अत सन्धि नहीं हुई ।

२ निमित्तात् सप्तमी निमित्तसप्तमी । पञ्चमीति योगविभागेन समास (न्यासे) । *'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (२ ३ ३७) द्वारा विहित भावसप्तमी का ही* दूसरा नाम 'निमित्तसप्तमी' है । यदि यहा निमित्तसप्तमी नहीं मानेंगे तो 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१६) सूत्र द्वारा परसप्तमी होकर 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) का ही निषेध हो सकेगा, पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) का नहीं । हमे दोनो स्थानों पर निषेध करना अभीष्ट है, अत निमित्तसप्तमी मानना ही उचित है, तभी तो काशिका में कहा है—'लघूपधगुणस्याप्यत्र प्रतिषेध' ।

३. जहा किसी स्थानी का निर्देश किये विना गुण या वृद्धि का विधान किया जाता है वहा 'इको गुणवृद्धी' (१ १ ३) से 'इक' पद उपस्थित हो जाता है । यथा—सार्वधातुकार्धधातुकयो पुगन्तलघूपधस्य च, भुजेर्वृद्धि आदि मे होता है। इनको ही यहा इग्लक्षण गुण वा वृद्धि कहते हैं ।

४ यहा 'स्नु' की जगह 'क्नु' प्रत्यय ही क्यो न कर लिया जाये, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये । तब 'स्था+क्नु=स्थाक्नु' मे 'घुमास्था०' (५८८) से ईत्व प्राप्त होने लगेगा जो अनिष्ट है । पाणिनिसम्प्रदाय में आमनाचाय 'क्ङिति च' इस

गित् में वृद्धिनिषेध का कोई उदाहरण नहीं मिलता।

कित् में गुणनिषेध यथा—जि+क्त=जितः। जि+क्तवतुँ=जितवत्=जितवान्। यहां क्त और क्तवतुँ प्रत्ययों के ककार की इत्संज्ञा हुई है अतः ये कित् हैं, इन कित् प्रत्ययों को मान कर 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से इग्लक्षण गुण प्राप्त होता है उसका प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है। इसी प्रकार भुक्तः, भुक्तवान्, छिन्नः, छिन्नवान् आदि में इग्लक्षण लघूपधगुण ('पुगन्तलघूपधस्य च') का निषेध समझना चाहिये। कित् में वृद्धिनिषेध यथा—मृष्टः, मृष्टवान्। यहां क्त और क्तवतुँ कित्प्रत्ययों को मान कर, 'मृजेर्वृद्धिः' (७८२) से इग्लक्षणा वृद्धि प्राप्त होती है उसका प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है।

ङित् में गुणनिषेध यथा—शृणुतः, शृण्वन्ति। यहां स्नु, तस् और झि सब 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित् हैं, अतः इन को मान कर प्राप्त होने वाले इग्लक्षण गुण का प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है। ङित् में वृद्धिनिषेध यथा—मृष्टः। यहां मृज् धातु से लँट् में तस् प्रत्यय किया गया है वह 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित् है, अतः उसे मानकर 'मृजेर्वृद्धिः' (७८२)से प्राप्त होने वाली इग्लक्षणा वृद्धि का प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है।

यह सम्पूर्ण निषेध इग्लक्षण गुण और इग्लक्षणा वृद्धि का ही समझना चाहिये। जहां दूसरे ढंग से गुण वा वृद्धि प्राप्त होंगे वे निर्बाध हो जायेंगे। यथा—लिगोर्गोत्रापत्यं लैगवायनः (लिगु का गोत्रापत्य)। यहां लिगुशब्द से 'नडादिभ्यः फक्' (४१९९) से फक् प्रत्यय, फक् के ककार की इत्संज्ञा, फ् को 'आयनेयीनीयियः०' (१०१०) से आयन् आदेश, 'किति च' (९९८) द्वारा आदिवृद्धि, 'ओर्गुणः' (१००२) से अन्त्य उकार को ओकार गुण, तथा अवादेश करने से 'लैगवायनः' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां 'किति च' द्वारा वृद्धि करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती क्योंकि इससे विधान की जाने वाली वृद्धि इग्लक्षणा नहीं, वहां 'तद्धितेष्वचामादेः' (९३८) का अनुवर्त्तन होकर 'अचाम् आदेः' (अचों में आदि अच् को वृद्धि हो) कहा गया है 'इकः' नहीं। इसी प्रकार 'ओर्गुणः' से गुण भी निर्बाध हो जाता है, क्योंकि वहां 'ओः' (उकार के स्थान पर गुण हो) कहा गया है 'इकः' नहीं।

---

प्रकार एककारघटित सूत्र पढ़ते हैं और गकार का प्रश्लेष नहीं मानते। उनके मत में 'स्नु' प्रत्यय नहीं अपितु 'स्नु'प्रत्यय है। वे 'ग्लाजिस्थश्च०' सूत्र में 'ग्ला+आ' इस प्रकार प्रश्लेष करके 'स्थास्नु' में ईत्व का वारण करते हैं। उनका मत काशिका (७.२.११) तथा न्यास-पदमञ्जरी में देखा जा सकता है।

'भू+यात्' यहा 'किदाशिषि' (४३२) से यात् कित् है अत इसे मान कर 'सार्वधातुकार्धं०' (३८८) से प्राप्त होने वाला इग्लक्षण गुण प्रकृतसूत्र से निषिद्ध हो गया तो 'भूयात्' पद ही सिद्ध हुआ।

'भूयास्ताम्'—भू धातु से आशीर्लिङ्, प्रथमपुरुष के द्विवचन की विवक्षा में तस्, उसे ताम् आदेश, आर्धधातुकसज्ञा के कारण शप् का अभाव, यासुट् का आगम तथा कित्त्व के कारण इग्लक्षण गुण का निषेध होकर रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहा सार्वधातुकसज्ञा न होने से 'लिङ सलोपोऽनन्त्यस्य' (४२७) से यास् के सकार का लोप नही होता।

प्रश्न—अन्तरङ्ग होने से यदि यासुट् के आगम को ताम् आदेश से पहले कर दें तो क्या 'तस्थस्थमिपां०' सूत्र से यासुट्विशिष्ट तस् को ताम् आदेश प्राप्त नहीं होगा ?

उत्तर—'आद्युदात्तश्च' (३ १ ३) सूत्रस्थ भाष्य के अनुमोदन से यदि यासुट् का आगम पहले कर भी दें तो भी 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इस परिभाषा के अनुसार केवल तस् आदि को ही ताम् आदि आदेश होंगे यासुट्सहित को नहीं। अत यासुट् पहले करें या बाद में दोनों अवस्थाओं मे कोई दोष नही आता।

भूयासु—भू धातु से आशीर्लिङ् प्रथमपुरुष के बहुवचन की विवक्षा में सकार के स्थान पर झि आदेश, उसके आर्धधातुक होने से शप् का अभाव, यासुट् आगम, 'झेर्जुस्' (४३०) से झि को जुस् आदेश, अनुबन्धलोप, यासुट् के कित्त्व के कारण 'सार्वधातुकार्धं०' (३८८) से प्राप्त इग्लक्षण गुण का निषेध, अन्त्य सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर अभीष्ट प्रयोग सिद्ध होता है।

भूया—भू धातु से आशीर्लिङ्, मध्यमपुरुष के एकवचन में सिप् आदेश, 'इतश्च' (४२४) से इकार का लोप, आर्धधातुकसञ्ज्ञा के कारण शप् का अभाव, यासुट् का आगम, कित्त्वात् इग्लक्षण गुण का निषेध होकर 'भू+यास् स्' इस स्थिति में 'स्को सयोगाद्योरन्ते च' (३०९) से सयोग के आदि मे सकार का लोप तथा अन्त्य सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने पर भूया.' प्रयोग सिद्ध होता है।

भूयास्तम्—यहा मध्यमपुरुष के द्विवचन मे यस् को तम् आदेश हो जाता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् जाननी चाहिये।

भूयास्त—यहा मध्यमपुरुष के बहुवचन मे थ को त आदेश हो जाता है। शेष पूर्ववत्।

भूयासम्—यहा उत्तमपुरुष के एकवचन में मिप् को अम् आदेश हो जाता है।

भूयास्व—यहा उत्तमपुरुष के द्विवचन मे वस् के सकार का 'नित्य ङित' (४२१) से लोप हो जाता है। इसी प्रकार बहुवचन में भी—भूयास्म। आशीर्लिङ् में

रूपमाला यथा—

| | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|---|---|---|---|
| प्र० पु० | भूयात् | भूयास्ताम् | भूयासुः |
| म० पु० | भूयाः | भूयास्तम् | भूयास्त |
| उ० पु० | भूयासम् | भूयास्व | भूयास्म |

सच पुत्रो भूयात् (तेरा पुत्र हो), त्वं चिरायुर्भूयाः (तू चिरायु हो), वयं भूयास्म सर्वदा (हम सदा हों) इत्यादि प्रकार से आशीर्लिङ् का प्रयोग समझना चाहिये।

नोट—सिद्धान्तकौमुदी आदि व्याकरण के उच्च प्रक्रियाग्रन्थों में विधिलिङ् और आशीर्लिङ् दोनों में जहां जहां त् वा थ् पाये जाते हैं वहां वहां 'सुट् तिथोः' (५२३) से सुट् का आगम किया जाता है। सुट् का स् शेष रहता है। विधिलिङ् में सर्वत्र सार्वधातुकसञ्ज्ञा होने से उस सकार का 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' (४२७) द्वारा लोप हो जाता है। आशीर्लिङ् में भी 'भू+यास् स् त्' इस दशा में 'स्कोः०' (३०९) सूत्र से प्रथम सुट् के सकार का पुनः उसी सूत्र से यास् के सकार का लोप हो जाता है[1]। सुट् का श्रवण तो आत्मनेपद के आशीर्लिङ् में 'एधिषीष्ट, एधिषीयास्ताम्' आदियों में होता है। लघुकौमुदी में वरदराज जी ने परस्मैपद में यह सब बालकों के लिये अनुपयोगी समझ कर छोड़ दिया है, इस का वर्णन आत्मनेपद में एध् धातु पर मूल में ही किया जायेगा।

अब लुँङ् की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हुए प्रथम लुङ्विधायक सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४३४) लुँङ् ।३।२।११०॥

भूतार्थे धातोर् लुँङ् स्यात् ॥

अर्थः—भूतकाल में धातु से लुँङ् हो।

---

१. पहले सुट् के सकार का और तदनन्तर यास् के सकार का लोप होता है—इस क्रम को यहां भुलाना नहीं चाहिये। भट्टोजिदीक्षित का प्रौढमनोरमा में 'झलपरसंयोगादित्वेन यासुटः सस्य लोपः, सुटस्तु पदान्तसंयोगादित्वेन —' यह कथन भ्रमपूर्ण है। इसकी संगति लगाने के लिये उनके पौत्र हरिदीक्षित को लघुशब्दरत्न में कितना व्यायाम करना पड़ा—यह देखते ही बनता है। इस विषय का विवेचन सिद्धान्तकौमुदी की बालमनोरमाटीका में सुन्दर ढंग से किया गया है।

व्याख्या—लुंङ् ।१।१। 'भूते, धातो, प्रत्यय, परश्च' इन चार अधिकारसूत्रों का यहा अनुवर्त्तन होता है। अर्थ —(भूते) भूतकाल में (धातो) धातु से (पर) परे (लुंङ्) लुंङ् (प्रत्यय) प्रत्यय होता है। पीछे अनद्यतनभूत मे लँङ् (४२२) तथा अनद्यतनभूत परोक्ष मे लिट् (३९१) का विधान कर चुके हैं अत उन दोनों अपवादों के विषय को छोड कर भूतसामान्य में लुंङ् का प्रयोग समझना चाहिये।

अब माङ् के योग में विशिष्ट लकार का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४३५) माङि लुंङ् ।३।३।१७५॥

सर्वलकारापवाद ॥

अर्थ —माङ् शब्द के उपपद रहते धातु से लुंङ् प्रत्यय हो। यह सब लकारो का अपवाद है।

व्याख्या—माङि ।७।१। लुंङ् ।१।१। 'धातो, प्रत्यय, परश्च' य तीनो पीछे से अधिकृत हैं। अर्थ —(माङि) माङ् शब्द के उपपद होने पर (धातो) धातु से (पर) परे (लुंङ्) लुंङ् (प्रत्यय) प्रत्यय हो। यथा—मा भवान् कार्षीत् (आप मत करें, आप नही करोगे, आपने नहीं किया आदि)। माङ् के योग में लुंङ् मे अट् या आट् का आगम नही होता—यह आगे (४४१) सूत्र पर स्पष्ट है।

यह सब लकारो का अपवाद है, अत वर्त्तमान, भूत, भविष्यत् तथा विध्यादियों में भी माङ् के योग मे लुंङ् का ही प्रयोग होगा। इसलिये 'मा भवान् कार्षीत्' का केवल 'आप मत करें' इतना ही अर्थ नही होता अपितु 'आप नहीं करोगे' आदि अन्य अर्थ भी होंगे[1]।

कई स्थानो पर 'मा' के योग में लोँट्, विधिलिँङ् वा लृँट् का भी प्रयोग देखा जाता है। यथा—मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि (गीता २ ४७), मा खेद भज हेयेषु (मोहोपनिषद् १६ २८), मा च बुद्धिमधर्मं त्व कुर्या राजन् कथञ्चन (रामायण उत्तर० ४०,१०), माऽमीक्ष्य पर स्थान पूर्वमायतन त्यजेत् (हितोप० मित्रलाभ), मा विनाश गमिष्याम (रामायण उत्तर० ३५ ६३), मा भविष्यति सीतार्ता जानकी हृदयस्थिता (गणरत्नमहोदधि, श्लोक ६), मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि (साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी) इत्यादि। यहा काशिकाकार ने 'केचित्' कह कर एक मत उद्धृत किया है। उस का

---

१ चान्द्रव्याकरण तथा भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण मे इस सूत्र का विषय केवल भविष्यत्काल तक सीमित किया गया है। इसे 'सर्वलकाराणामपवाद' नहीं कहा गया। सुधीजनों को इस विषय का अन्वेषण करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि ङित् माङ् की तरह अङित् 'मा' भी निषेधार्थक अव्यय है, अतः जहां लुँङ् का प्रयोग नहीं देखा जाता वहाँ 'माङ्' का प्रयोग न समझ कर 'मा' का ही प्रयोग समझना चाहिये। परन्तु नागेशभट्ट का मत है कि 'आङ्माङोश्च' (६.१.७४) के महाभाष्य को देखने से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि 'मा' नाम का कोई अव्यय नहीं, अतः वे उपर्युक्त आर्षप्रयोगों को आर्षत्वात् साधु मानते हैं और ऐसे लौकिकप्रयोगों को असाधु। स्वामिदयानन्दसरस्वती अपने अष्टाध्यायीभाष्य में 'आशिषि लिङ्लोँटौ' (३.३.१७३) सूत्र से 'लिँङ्-लोँटौ' की मण्डूकप्लुति से अनुवृत्ति लाते हैं। उनके मत का आधार अन्वेषणीय है तत्र 'मा भविष्यति' आदियों में लृँट् का समाधान कैसे होगा? यह भी विचारणीय है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४३६) स्मोत्तरे लँङ् च ।३।३।१७६॥

स्मोत्तरे माङि लँङ् स्याच्चाल्लुँङ् ॥

अर्थः—यदि माङ् के आगे 'स्म' लगा हो तो उसके योग में लँङ् भी हो। 'भी' कहने से लुँङ् का प्रयोग भी होगा।

व्याख्या—स्मोत्तरे ।७।१। माङि ।७।१। ('माङि लुँङ्' से)। लँङ् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। स्मशब्द उत्तरो यस्मात्, तस्मिन् स्मोत्तरे, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(स्मोत्तरे) 'स्म' शब्द जिस के आगे लगा हो ऐसे (माङि) माङ् के योग में (लँङ्) लँङ् (च) भी होता है। 'च' से पूर्वप्राप्त लुँङ् भी हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि 'मा स्म' शब्द के योग में धातु से लँङ् और लुँङ् किसी का भी प्रयोग हो सकता है। इस के उदाहरण आगे (४४१) सूत्र पर देखें।

नोट—न्यास और पदमञ्जरीकार का कथन है कि इस सूत्र में उत्तर' शब्द अधिक का वाचक है अर्थात् यदि माङ् के योग में 'स्म' शब्द अधिक प्रयुक्त होगा तो लँङ् या लुँङ् दोनों हो सकेंगे। इस से 'मा देवदत्त स्म हरत्' (हे देवदत्त! आप हरण न करो) इत्यादि व्यवधान में भी प्रयोग उपपन्न हो जाते हैं जो उपर्युक्त व्याख्यान से सिद्ध नहीं हो सकते[1]।

अब लुँङ् में शप् के अपवाद च्लिप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४३७) च्लि लुँङि ।३।१।४३॥

शबाद्यपवादः॥

---

१. शाकटायनव्याकरण की चिन्तामणि-लघुवृत्ति में यह स्पष्ट है। जैनेन्द्रव्याकरण में देवनन्दिमहाराज इसी लिये 'सस्मे लङ् च' (२.३.१५२) सूत्र पढ़ते हैं। भट्टोजिदीक्षित तथा तदुत्तरवर्ती वैयाकरणों ने यहां कुछ नहीं लिखा, यह बड़े आश्चर्य की बात है।

अर्थ —लुंङ् परे होने पर धातु से परे च्लि प्रत्यय हो। यह सूत्र शप् आदियो का अपवाद है।

व्याख्या—च्लि ।१।१। लुङि ।७।१। धातो ।५।१। ('धातोरेकाचो हलादे०' से) 'प्रत्ययः, परश्च' ये दोनो अधिकृत हैं। अर्थ —(लुंङि) लुंङ् परे होने पर (धातो) धातु से (परः) परे (च्लिः) च्लि (प्रत्ययः) प्रत्यय हो। च्लिप्रत्यय का इकार उच्चारणार्थ है, चकार की 'चुटू' (१२६) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है।

अब च्लि के स्थान पर सिँच् आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४३८) च्लेः सिँच् ।३।१।४४॥

इचावितौ ॥

अर्थ -च्लि के स्थान पर सिँच् आदेश हो। सिँच् के इकार और चकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है।

व्याख्या—च्लेः ।६।१। सिँच् ।१।१। अर्थ —(च्लेः) च्लि के स्थान पर (सिँच्) सिँच् आदेश होता है। सिँच् के चकार की 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र से तथा इकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा होकर 'तस्य लोपः' (३) से लोप हो जाता है, इस प्रकार 'स्' मात्र अवशिष्ट रहता है[1]।

शङ्का—यदि च्लि के स्थान पर सिँच् आदि आदेश ही करने हैं तो बीच में च्लि को क्यों लाते हैं? सीधे सिँच् को ही उत्सर्ग करना चाहिये, जहा वह इष्ट न हो वहा उसके अपवाद अङ्, चङ्, वस आदि कह देने चाहियें।

समाधान—यदि च्लि को बीच में नहीं लाते तो 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (५६०) सूत्र मे 'अनिटः' पद 'धातोः' का विशेषण बन जायेगा, तब अर्थ होगा—शलन्त इगुपध अनिट् धातु से परे क्सप्रत्यय हो। इस प्रकार के अर्थ मे 'गुहू सवरणे' (भ्वा० उभय०) धातु के लुंङ् मे 'अघुक्षत्' रूप सिद्ध न हो सकेगा। क्योंकि ऊदित् होने से 'स्वरतिसूति०' (४७६) सूत्र द्वारा वह वेट् है, अत अनिट् न होने से उस से परे क्स न होगा। परन्तु अब हम 'अनिटः' पद को 'च्लेः' का विशेषण बना लेते हैं,

---

१ सिँच् में इकार उच्चारणार्थक नहीं अपितु इत्सञ्ज्ञक ह। अत एव सिँच् के इदित् होने के कारण 'मन ज्ञाने' (दिवा० आ०) धातु के लुंङ् मे 'अमन् स्+त' इस स्थिति में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) के अनुसार 'त' इस ङित् के परे होने पर भी 'अनिदितां हल०' (३३४) से नकार का लोप न होकर 'अमस्त' प्रयोग निर्बाध बन जाता है। सिँच् को चित् करने का प्रयोजन 'चितः' (६.१.१५७) द्वारा अन्तोदात्त करना है। च्लि भी चित् और उसके स्थान पर होने वाला आदेश सिँच् भी चित्, दोनों को चित् क्यों किया गया है? इसका विवेचन पदमञ्जरी आदि ग्रन्थों में देखें।

जिस पक्ष में इट् नहीं होता वहां च्लि के अनिट् होने से क्स आदेश हो जाता है और जहां इट् होता है वहां च्लि के सेट् होने से क्स आदेश न होकर 'अगूहीत्' बन जाता है। इस का विशेष विवेचन न्यास और पदमञ्जरी में देखें।

अब अग्रिम-सूत्र में भू धातु से परे सिँच् का लुक् विधान करते है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४३९) गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः सिँचः परस्मैपदेषु ।२।४।७७॥

एभ्यः सिँचो लुक् स्यात्। गापाविहेणादेशपिबती गृह्येते॥

अर्थः—परस्मैपद प्रत्यय परे हो तो गा, स्था, घु, पा और भू धातुओं से परे सिँच् का लुक् हो। गापा०—इस सूत्र में 'गा' से इण् धातु के स्थान पर आदेश होने वाले 'गा' का तथा 'पा' से 'पा पाने' (भ्वादि० परस्मैपद) धातु का ग्रहण होता है अन्य का नही।

व्याख्या—गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः ।५।३। सिँचः ।६।१। परस्मैपदेषु ।७।३। लुक् ।१।१। ('प्यक्षत्रियार्ष०' से)। अर्थः—(गातिस्थाघुपाभूभ्यः) गा, स्था, घु, पा और भू धातुओं से परे (सिँचः) सिँच् का (लुक्) लुक् हो जाता है (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्ययों के परे होने पर।

'गा' यह रूप दो धातुओं का बनता है। एक तो 'गै शब्दे' (भ्वा० परस्मै०) का। इसे 'आदेच उपदेशेऽशिति' (४९३) से आकार आदेश होकर 'गा' बन जाता है। दूसरा 'इण् गतौ' (अदा० परस्मै०) धातु के स्थान पर 'इणो गा लुँङि' (५८२) सूत्र द्वारा 'गा' आदेश हो कर बनता है। परन्तु यहां पर इण् के स्थान पर आदेश होने वाले 'गा' का ही ग्रहण अभीष्ट है। इसी प्रकार 'पा' भी दो धातुएं हैं, एक पा पाने (भ्वा० परस्मै०) और दूसरी पा रक्षणे (अदा० परस्मै०)। यहां पहली 'पा पाने' धातु (जिसके पिबति, पिबतः, पिबन्ति आदि रूप बनते हैं) का ही ग्रहण अभीष्ट है, दूसरी का नहीं। महाभाष्य में कहा भी है—गापोर्ग्रहणे इष्पिबत्योर्ग्रहणम्। इस सूत्र के उदाहरण यथा—

गा (इण् गतौ)—अगात्, अगाताम्, अगुः आदि।

स्था (ष्ठा गतिनिवृत्तौ—ठहरना)—अस्थात्, अस्थाताम्, अस्थुः आदि।

घु ('दाधाघ्वदाप्' ६२३ सूत्र से दा और धा रूप वाले धातुओं की घुसञ्ज्ञा हो जाती है) दुदाञ् दाने—अदात्, अदाताम्, अदुः। डुधाञ् धारणपोषणयोः—अधात्, अधाताम्, अधुः आदि।

पा (पा पाने)—अपात्, अपाताम्, अपुः आदि।

भू (भू सत्तायाम्)—अभूत्, अभूताम्, अभूवन् आदि।

सिच् का यह लुक् परस्मैपदो मे ही होता है आत्मनेपदप्रत्ययों मे नहीं। यथा—'अगासातां ग्रामो देवदत्तेन' यहा पर इण् के स्थान पर गा आदेश तो हुआ है परन्तु कर्मवाच्य मे आत्मनेपद के परे होने से सिच् का लुक् नहीं होता। 'गै शब्दे' और 'पा रक्षणे' धातुओ का यहा ग्रहण न होने से उनके क्रमश. 'अगासीत्' और 'अपासीत्' रूप बनते हैं।

अभूत्—भू धातु से भूतसामान्य मे 'लुंङ्' (४३४) सूत्र से लुंङ्, अनुबन्ध-लोप, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में लकार को तिप् आदेश, 'इतश्च' (४२४) से तिप् के इकार का लोप, सार्वधातुकत्वात् प्राप्त हुए शप् का बाध कर 'च्लि लुंङि' (४३७) से च्लिप्रत्यय, 'च्ले सिच्' (४३८) से उसे सिच् आदेश तथा अनुबन्धलोप करने पर 'भू स्+त्' हुआ। अब 'लुंङ् सँङ् लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (४२३) से अङ्ग को अट् का आगम तथा 'गातिस्था०' (४३९) सूत्रद्वारा सिच् का लुक् करने से 'अभूत्' प्रयोग सिद्ध होता है।

परन्तु अब यहा यह शङ्का उत्पन्न होती है कि 'अभूत्' में 'त्' सार्वधातुक को मान कर 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' (३८८) से भू के ऊकार को ओकार गुण क्यो न किया जाये? इस के समाधान के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४४०) भू-सुवोस्तिङि ।७।३।८८॥

भू सू एतयो. सार्वधातुके तिङि परे गुणो न। अभूत्, अभूताम्, अभूवन्। अभूः, अभूतम्, अभूत। अभूवम्, अभूव, अभूम॥

अर्थ—सार्वधातुक तिङ् परे होने पर भू और सू को गुण नहीं होता।

व्याख्या—भू सुवो ।६।२। तिङि ।७।१। सार्वधातुके ।७।१। न इत्यव्ययपदम् ('नाऽभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' से)। गुण ।१।१। ('मिदेर्गुण' से)। अर्थ - (सार्वधातुके तिङि) सार्वधातुक तिङ् परे होने पर (भू-सुवो) भू और सू के स्थान पर (गुण) गुण (न) नही होता। 'सू' से यहा अदादिगणीय 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' धातु का ही ग्रहण सम्भव है क्योंकि तुदादिगणीय और दिवादिगणीय सू' से परे तो कभी सार्वधातुक तिङ् आता ही नही, बीच मे सर्वत्र विकरण आ जाता है। किञ्च उन में विकरण के डिद्वद्भाव होने से ही गुणाभाव सिद्ध है अत वहा इस सूत्र की आवश्यकता भी नही है। 'सू' के उदाहरण— सुवै, सुवावहै, सुवामहै आदि सिद्धान्त-कौमुदी मे देखें।

'अभूत्' मे भू से परे सार्वधातुक तिङ् 'त्' विद्यमान है अत प्रकृतसूत्र से गुण

का निषेध होकर 'अभूत्' रूप अक्षुण्ण रहा [1]।

ध्यान रहे कि 'भवति, भवतः, भवन्ति' आदि में इस सूत्र द्वारा गुण का निषेध नहीं होता, क्योंकि वहां भू से परे सीधा तिङ् नहीं रहता अपितु बीच में शप् आता है। शप् को मानकर ही वहां गुण किया जाता है, तिङ् को मान कर नहीं।

अभूताम्—प्रथमपुरुष के द्विवचन में तस् को 'तस्थस्थमिपां०' (४१४) सूत्र से ताम् आदेश हो जाता है शेष प्रक्रिया पूर्ववत् समझनी चाहिये। किञ्च यहां गुण-निषेध के लिये 'भूसुवोस्तिङि' की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ताम् के ङिद्वत् हो जाने से 'क्ङिति च' (४३३) द्वारा गुणनिषेध स्वतः ही सिद्ध है।

अभूवन्—भू धातु से भूतसामान्य में लुंङ्, प्रथमपुरुष के बहुवचन में उसे झि आदेश, च्लि विकरण, 'च्लेः सिच्' (४३८) से उसे सिच् आदेश, 'गातिस्था०'(४३९) से सिच् का लुक्, 'झोऽन्तः' (३८९) से झ् को अन्त् आदेश, 'इतश्च' (४२४) से इकारलोप, 'नुवो वुग्लुङ्लिटोः' (३९३) से भू अङ्ग को वुक् का आगम तथा 'लुङ्-लङ्लृङ्०' (४२३) सूत्र से अट् का आगम होकर 'अभूव् अन्त्' बना। अब 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से तकार का संयोगान्तलोप करने पर 'अभूवन्' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां पर कई व्युत्पन्न (?) विद्यार्थी "संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) द्वारा नकार का लोप नहीं होता" इस प्रकार लिखा करते हैं, परन्तु वह नितान्त प्रमाद है क्योंकि 'नलोपः०' सूत्र द्वारा प्रातिपदिक के अन्त्य नकार का लोप किया जाता है न कि धातु के अन्त्य नकार का। यहां तो नकारलोप की प्राप्ति ही नहीं होती।

नोट—सिच् का लुक् होकर 'अभू+झि' इस अवस्था में 'झोऽन्तः' लगाने से पहले 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' (४४७) से झि को जुस् प्राप्त था जो 'आतः' (४६१) इस नियम के कारण नहीं हुआ। यह सब आगे स्पष्ट है।

अभूः—यहां पर मध्यमपुरुष के एकवचन में सिप् के इकार का 'इतश्च' (४२४) सूत्र से लोप हो गया है, शेष प्रक्रिया पूर्ववत् होकर सकार को रुत्वविसर्ग हो जाते हैं।

अभूतम्—यहां पर लुंङ् के मध्यमपुरुष के द्विवचन थस् को 'तस्थस्थमिपां०' (४१४) सूत्र से तम् आदेश हो जाता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

---

१. यहां पर 'त्' इस अपृक्त को 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (४४५) से ईट् का आगम नहीं होता, क्योंकि वहां विद्यमान सिच् से परे ईट् का विधान कहा गया है। यहां पर तो सिच् का लुक् हो चुका है।

अभूत—यहा पर मध्यमपुरुष के बहुवचन में 'थ' को 'त' आदेश हो जाता है। शेष पूर्ववत् जानें।

अभूवम्—यहा पर मिप् को अम् आदेश होकर वुक् का आगम होता है।

अभूव, अभूम—यहा पर 'नित्य ङित' (४२१) से वस् मस् के सकार का लोप विशेष है। लुंङ् में रूपमाला यथा—

| | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|---|---|---|---|
| प्र० पु० | अभूत् (वह हुआ) | अभूताम् (वे दो हुए) | अभूवन् (वे सब हुए) |
| म० पु० | अभूः (तू हुआ) | अभूतम् (तुम दो हुए) | अभूत (तुम सब हुए) |
| उ० पु० | अभूवम् (मैं हुआ) | अभूव (हम दो हुए) | अभूम (हम सब हुए) |

अब माङ् के योग मे विशेषकार्य का विधान करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(४४१) न माङ्योगे ।६।४।७४॥

अडाटौ न स्त । मा भवान् भूत् । मा स्म भवत् । मा स्म भूत् ॥

अर्थ —माङ् के योग में अङ्ग को अट् वा आट् के आगम नही होते।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । माङ्योगे ।७।१। अट् ।१।१। आट् ।१।१। ('लुंङ्-लंङ्लुंङ्क्ष्वडुदात्त' से अट् तथा 'आडजादीनाम्' से आट् का अनुवर्त्तन होता है)। अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है) । माङो योग —माङ्योग, तस्मिन् माङ्योगे । अर्थ —(माङ्योगे) माङ् के योग में (अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव (अट् आट्) अट् वा आट् (न) नहीं होते। अट् का आगम पीछे (४२३) सूत्र में कह चुके हैं। आगे (४४४) सूत्र मे अजादि धातुओ को आट् का आगम कहेंगे। परन्तु ये दोनों आगम माङ् का योग होने पर नही होते। यथा—मा भूत्, यहा पर 'माङि लुंङ्' (४३५) से माङ् के योग में लुंङ् हुआ है, सम्पूर्ण प्रक्रिया तो पूर्ववत् होगी परन्तु 'लुंङ्लंङ्०' (४२३) से प्राप्त अट् का आगम प्रकृतसूत्र से निषिद्ध हो जायेगा।

मा स्म भवत्, मा स्म भूत्—यहा पर स्मोत्तर माङ् का योग है इस में 'स्मोत्तरे लंङ् च' (४३६) से लँङ् और लुंङ् दोनों विहित हैं। लँङ् में 'अभवत्' की तरह प्रक्रिया होगी परन्तु अट् के आगम का प्रकृतसूत्र से निषेध हो जायेगा—मा स्म भवत्। लुंङ् में पूर्ववत् 'मा स्म भूत्' बनेगा। मा स्म मे भरत कार्षीत् प्रेतकृत्य गतायुष (रामायण, अयोध्या० १२ ६३)।

आट् आगम के निषेध के उदाहरण यथा—मा भवान् ईहिष्ट, मा स्म भवान् ईहत, मा स्म भवान् ईहिष्ट आदि।

मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम् (रामायण, अयोध्या० ५३.२१), मा स्म मत्कारणाद् देवी सुमित्रा दुःखमावसेत् (रामायण, अयोध्या० ५३.१६), मा स्म धर्मे मनो भूयात् (रामायण, अयोध्या० ७५.४२) इत्यादियों में लिँङ् के प्रयोग का समाधान भी 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' की तरह पूर्ववत् जानें।

अब लृँङ् की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम लृँङ्विधायक सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४४२) लिँङ्निमित्ते लृँङ् क्रियातिपत्तौ ।३।३।१३९।।

हेतु-हेतुमद्भावादि लिँङ्निमित्तम्, तत्र भविष्यत्यर्थे लृँङ् स्यात् क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्यमानायाम्। अभविष्यत्, अभविष्यताम्, अभविष्यन्। अभविष्यः, अभविष्यतम्, अभविष्यत। अभविष्यम्, अभविष्याव, अभविष्याम। सुवृष्टिश्चेदभविष्यत् तदा सुभिक्षमभविष्यत् इत्यादि ज्ञेयम्।।

अर्थः—हेतु-हेतुमद्भाव आदि जो लिँङ् के निमित्त कहे गये हैं उन में यदि भविष्यत्कालिक क्रिया कही जाये तो धातु से परे लृँङ् प्रत्यय होता है, क्रिया की अनिष्पत्ति (असिद्धि) गम्यमान हो तो।

व्याख्या—लिँङ्निमित्ते ।७।१। लृँङ् ।१।१। क्रियाऽतिपत्तौ ।७।१। भविष्यति ।७।१। ('भविष्यति मर्यादा०' से)। धातोः, प्रत्ययः, परश्च—ये सब अधिकृत हैं। लिँङो निमित्तं लिँङ्निमित्तम्, तस्मिन्। क्रियाया अतिपत्तिः (असिद्धिरभावो वा) क्रियाऽतिपत्तिः, तस्याम्। अर्थः—(लिँङ्निमित्ते) लिँङ् लकार के जो निमित्त कहे गये हैं उन में (धातोः) धातु से (परः) परे (लृँङ् प्रत्ययः) लृँङ् प्रत्यय हो (भविष्यति) भविष्यत्काल में, (क्रियाऽतिपत्तौ) क्रिया की असिद्धि गम्यमान हो तो।

अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय के तृतीयपाद में अनेक सूत्रों के द्वारा लिँङ् का विधान किया गया है। वहां जो जो लिँङ् के निमित्त कहे गये है उन में यदि भविष्यत्काल विवक्षित होगा तो धातु से परे लृँङ् लकार हो जायेगा परन्तु शर्त यह है कि वहां क्रिया की अनिष्पत्ति (निष्पन्न न होना) पाई जानी चाहिये। उदाहरणार्थ इस प्रकरण में 'हेतु-हेतुमतोर्लिँङ्' (७६५) सूत्र आया है। इस का अर्थ है—'हेतुन्हेतुमद्भाव अर्थात् कार्यकारणभाव में धातु से परे लिँङ् और लृँट् लकार होते हैं'। यथा—गुरुं चेत् प्रणमेत् शास्त्रान्तं गच्छेत् (यदि गुरु का सत्कार करे तो शास्त्र का पारगामी हो जाये), यहां 'गुरु का सत्कार करना' हेतु अर्थात् कारण है तथा 'शास्त्र का पारगामी होना' हेतुमत् अर्थात् कार्य है। अतः कार्यकारणभाव में दोनों क्रियाओं के साथ लिँङ् लकार का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार—कृष्णं ननेत् चेत् सुखं यायात्, वृष्टिर्भवेत् चेत् सुभिक्षं स्यात्, अतिथीन् लभेत चेत् भृशमन्नं ददीत, गुरुपूजां यदि कुर्वीत

स्वर्गम् आरोहेत्—इत्यादियों मे हेतु-हेतुमद्भाव में लिँङ् समझना चाहिये। परन्तु लिँङ् के इसी निमित्त अर्थात् हेतु हेतुमद्भाव मे भविष्यत्काल विवक्षित होने पर प्रकृतसूत्र से लृँङ् का विधान किया जाता है यदि वक्ता को क्रिया की अनिष्पत्ति (न होना) कहनी अभीष्ट हो तो। यथा 'वृष्टिश्चेदभविष्यत् तदा सुभिक्षमभविष्यत्' अर्थात् यदि वर्षा होगी तो सुभिक्ष (बहुत अन्न) होगा [परन्तु वक्ता को प्रमाणान्तर से निश्चय हो चुका है कि ऐसा होना नहीं है]। यहा 'वर्षा का होना' कारण तथा 'सुभिक्ष का होना' कार्य है और ये दोनो भविष्यत्कालिक हैं, किञ्च वक्ता को पूर्ण विश्वास है कि ऐसा होना नही है अत ऐसे स्थल पर दोनो ओर की क्रियाओ से लृँङ् लकार का प्रयोग हुआ है।

लृँङ् के प्रयोग मे तीन बातों की आवश्यकता हुआ करती है—

(१) लिँङ् का निमित्त उपस्थित होना अर्थात् जिस जिस शर्त (Condition) के साथ लिँङ् का विधान किया गया है उस उस शर्त का पूरा होना। यथा हेतु-हेतुमद्भाव में लिँङ् का विधान किया गया है अत लृँङ् में भी उसका होना आवश्यक है।

(२) भविष्यत्काल का होना। मान लो कि यदि हेतुहेतुमद्भाव आदि लिँङ् के निमित्त वर्त्तमानकाल में हो तो लृँङ् का प्रयोग न होगा।

(३) क्रिया की अतिपत्ति अर्थात् असिद्धि होना। वक्ता कार्यकारणभाव आदि का प्रयोग तो करता है परन्तु उसे किसी अन्य प्रमाण से यह निश्चय हो चुका होता है कि यहां क्रिया होनी नही है।

इन तीनों मे से यदि कोई एक भी शर्त (Condition) पूरी न होगी तो लृँङ् का प्रयोग न होगा। लृँङ् के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(क) दक्षिणेन चेद् अयास्यन् न शकट पर्याभविष्यत् अर्थात् यदि दक्षिणमार्ग से जायेगा तो छकडा नहीं उल्टेगा[1]। यहाँ 'दक्षिणमार्ग से जाना' यह हेतु कारण है तथा 'शकट का न उल्टना' यह हेतुमत्-कार्य है। कार्यकारणभाव को यहा भविष्यत्काल में कहा गया है। किञ्च वक्ता को यहा क्रिया की अनिष्पत्ति का निश्चय हो चुका है अर्थात् उस के मन मे यह निश्चित विश्वास है कि न इसने दक्षिणमार्ग से जाना है और न ही इसका रथ उल्टने से बच सकना है। अत यहा लृँङ् का प्रयोग हुआ है।

(ख) अभोक्ष्यत भवान् घृतेन यदि मत्समीपमागमिष्यत् अर्थात् यदि आप मेरे समीप आओगे तो घृत से भोजन करोगे। 'यहा समीप आना' हेतु तथा 'घृत से भोजन करना' हेतुमत् है। दोनों हेतु और हेतुमत् भविष्यत्कालिक हैं। किञ्च वक्ता को यह

---

१ वक्ता को पता है कि दक्षिणमार्ग पक्का, सीधा, हमवार तथा वृक्ष-झाड़ आदियों से रहित है।

निश्चय है कि इसने मेरे समीप आना नहीं अतः घृत से भोजन करना नहीं है। इस-प्रकार क्रिया की अतिपत्ति में लृँङ् का प्रयोग हुआ है।

(ग) त्यञ्चेद् यत्नमकरिष्यस्तदा परीक्षामुदतरिष्यः अर्थात् यदि तुम परिश्रम करोगे तो परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाओगे। यहां 'परिश्रम करना' हेतु तथा 'परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाना' हेतुमत् है। दोनों को भविष्यत्काल में कहा गया है। किञ्च वक्ता को यह निश्चय है कि इसने परिश्रम करना नहीं और परीक्षा में उत्तीर्ण होना नहीं, अतः क्रिया की अतिपत्ति में दोनों वाक्यों में लृँङ् का प्रयोग किया गया है।

इन सब उदाहरणों में जब वक्ता को क्रिया की अनिष्पत्ति कहनी अभीष्ट न होगी तो 'हेतु-हेतुमतोर्लिङ्' (७६५) से लिँङ् का प्रयोग किया जायेगा।

नोट—ध्यान रहे कि जैसे ऊपर भविष्यत्काल में क्रियाऽतिपत्ति गम्यमान होने पर लिँङ् के निमित्तों में लृँट् का विधान किया गया है वैसे भूतकाल में भी उसका प्रयोग किया जा सकता है। इस के लिये पाणिनि का सूत्र है—भूते च (३.३.१४०)[1]। भूतकाल में उदाहरण यथा—

(१) सुवृष्टिचेदभविष्यत् तदा सुभिक्षमभविष्यत्। अर्थात् यदि अच्छी वर्षा हुई होती (जो स्पष्टतः नहीं हुई) तो फसल अच्छी होती। यहां न वर्षा अच्छी हुई, और न फसल अच्छी हुई इस प्रकार भूतकालिकक्रियातिपत्ति में लृँङ् प्रयुक्त हुआ है।

(२) किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता,
तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाऽकरिष्यत्। (शाकुन्तल, ७.४)

अर्थात् क्या अरुण (सूर्य का सारथि) अन्धकार को दूर करने में समर्थ हो सकता था यदि उसे सूर्य अपने आगे रथ में न बिठाता? यहां स्पष्टतः क्रिया की अतिपत्ति विद्यमान है क्योंकि सूर्य ने उसे अपने आगे रथ में बिठा दिया और उसने अन्धकार को दूर कर दिया।

(३) यदि सुरभिमयास्यस्तन्मुखोच्छ्वासगन्धं
तव रतिरभविष्यत् पुण्डरीके किमस्मिन्? (विक्रमोर्वशीय, ४.४२)

अरे भ्रमर! यदि तुम्हें उसके मुख की सुगन्धित श्वास मिल गई होती तो क्या फिर तुम्हारा इस कमल में प्रेम हुआ होता? स्पष्टतः यहां भूतकालिक क्रियातिपत्ति है क्योंकि न तो तुम्हें वह प्राप्त हुई और न ही तुम कमल से विमुख हुए।

हेतु-हेतुमद्भाव के अतिरिक्त अन्य भी अनेक लिँङ् के निमित्त अष्टाध्यायी में

---

१ साहित्य में प्रायः भूतकाल में ही लृँङ् के प्रयोग उपलब्ध होते हैं भविष्यत्काल में नहीं। अतएव उत्तरवर्ती कई वैयाकरणों ने भविष्यत्काल में लृँङ् का विधान नहीं किया, वे यहां लृँट् का ही प्रयोग करते हैं।

वर्णन किये गये हैं,[1] उन सब में भविष्यत्कालिक क्रिया की अतिपत्ति होने पर लुँङ् का प्रयोग होता है। भूतकाल के विषय मे 'बोताप्यो' (३ ३.१४१) के अधिकार में कई जगह लुँङ् का विकल्प-विधान भी किया जाता है। यह सब विस्तार काशिका-वृत्ति अथवा सिद्धान्त-कौमुदी की लकारार्थ-प्रक्रिया में देखना चाहिये।

अभविष्यत्—भू धातु से भविष्यत्कालिक हेतुहेतुमद्भाव मे क्रिया की असिद्धि गम्यमान होने पर लुँङ्, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा मे उसे तिप् आदेश, 'इतश्च' (४२४) से इकार का लोप, 'स्यतासी लृँ-लुंटो' (४०३) से 'स्य' विकरण, आर्धधातुकत्वात् उसे इट् का आगम, 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से भू अङ्ग को गुण तथा 'एचोऽयवायाव्' (२२) से अवादेश होकर 'भविस्य+त्' बना। अब 'लुंङ्लँङ्-लृँङ्क्ष्वडुदात्तः' (४२३) से अङ्ग को अट् का आगम और 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से स्यप्रत्यय के आदि सकार को षत्व करने पर 'अभविष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

अभविष्यताम्—सम्पूर्ण प्रक्रिया पूर्ववत् है, 'तस्थस्थमिपां०' (४१४) से तस् को ताम् आदेश ही विशेष है।

अभविष्यन्—यहा 'झोऽन्त' (३८९) से झि को अन्त् आदेश हो जाता है। शेष पूर्ववत् प्रक्रिया करने पर 'अभविष्य+अन्त्' इस दशा में 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप तथा 'सयोगान्तस्य लोप' (२०) से सयोगान्त तकार का लोप करने से यथेष्ट रूप सिद्ध होता है।

अभविष्य—यहाँ मध्यमपुरुष के एकवचन मे सिप् के इकार का लोप हो कर सकार को रुँत्वविसर्ग हो जाते हैं।

अभविष्यतम्—सम्पूर्ण पूर्ववत् प्रक्रिया होती है, केवल 'तस्थस्थमिपां०' (४१४) सूत्र द्वारा थस् को तम् आदेश विशेष है।

अभविष्यत—यहा पर 'थ' को 'त' आदेश हो जाता है।

अभविष्यम्—यहा उत्तमपुरुष के एकवचन मिप् को अम् आदेश होकर 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप हो जाता है।

अभविष्याव, अभविष्याम—यहां वस् और मस् के सकार का 'नित्य ङित्.' (४२१) से लोप होकर 'अतो दीर्घो यञि' (३९०) से दीर्घ हो जाता है। सम्पूर्ण रूप-माला यथा—

---

१ यथा—'विभाषा कथमि लिँङ् च' (३ ३ १४३) आदि। इन निमित्तों में यद्यपि हेतुहेतुमद्भाव सब से पहला निमित्त नहीं है तथापि अत्यन्त प्रसिद्ध होने से इसे निदर्शनार्थ चुना जाता है।

| | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|---|---|---|---|
| प्र० पु० | अभविष्यत् | अभविष्यताम् | अभविष्यन् |
| म० पु० | अभविष्यः | अभविष्यतम् | अभविष्यत |
| उ० पु० | अभविष्यम् | अभविष्याव | अभविष्याम |

उपसर्गयोग—पूर्वार्ध में 'उपसर्गाः क्रियायोगे' (३५) सूत्र पर प्र आदियों का परिगणन कर आये हैं। धातु के साथ इनका योग हो तो इनकी उपसर्गसञ्ज्ञा हो जाती है। इन उपसर्गों के योग से धातु के अर्थ में बहुधा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो जाया करते हैं। यथा—हृञ् हरणे (चुराना या हरण करना स्वा० उभय०) धातु के साथ इनका योग होने पर विविध अर्थ देखे जाते हैं—प्रहरति = प्रहार करता है; आहरति = खींचता है या आहार करता है; संहरति = संहार या नाश करता है; विहरति = घूमता है; परिहरति = रोकता या हटाता है आदि[1]। पाणिनीयव्याकरण के अनुसार धातु के अनेक अर्थ हुआ करते हैं (देखें पृष्ठ ६ पर टिप्पणी) परन्तु जैसे भवन में स्थित अनेक वस्तुएं यथावत् प्रकाश के अभाव में प्रकाशित नहीं होतीं वैसे धातुओं के अर्थों के विषय में भी समझना चाहिये। उपसर्ग दीपक की तरह धातुओं के अन्तर्गत अर्थों को यथावत् प्रकाशित कर देते हैं। यहां भू धातु के साथ भी उपसर्गों को लगाने से विविध अर्थ प्रकट होते हैं। यथा—

प्र√भू = समर्थ होना, प्रभवति = समर्थ होता है (नमस्तत्कर्मण्यो विधिरपि न येन्यः प्रभवति—नीतिशतक)।

परा√भू = पराजित करना—हराना—तिरस्कृत करना (पराभवति यत्परान्—पञ्चतन्त्र २.८६); पराजित होना, पराभूत होना—हारना (तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः परा बभूवुः—महाभाष्य)।

सम्√भू = सम्भव होना (भाग्येनैसत् सम्भवति—पञ्च०); पैदा होना—उत्पन्न होना (सम्भवामि युगे युगे—गीता ४.८); यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्—मनुस्मृति २.२२७); *मिलना—युक्त होना* (सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा—माघ २.१००)।

---

१. "उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराऽऽहार-संहार-विहार-परिहारवत्॥"

अनु√भू=अनुभव करना—महसूस करना—भोगना (अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णम्—शाकुन्तल ५ ७, अमरत सुखमन्वभूत् —रघु० १ २१)।

अभि√भू=दबाना—तिरस्कृत करना (धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत—गीता १ ४०, शत्रुभिर्नाभिभूयते—मनु० ७ १७६, अभिभवितुमिच्छति बलात्—मुद्राराक्षस १)।

उद्√भू=पैदा होना (क्षेत्राद् धान्यमुद्भवति, णिजन्त—मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि—रघु० २ ६२), प्रकाशित होना—निकलना (काश्मीरेभ्यो वितस्ता प्रभवति—काश्मीर से जेहलम निकलता है, हिमवतो गङ्गा प्रभवति—हिमालय से गङ्गा निकलती है)।

उपसर्गों के अतिरिक्त कुछ अन्य निपातों तथा च्विप्रत्ययान्तों के साथ भी भू धातु का योग होता है। यथा—आविर्भवति=प्रकट होता है। तिरोभवति=अदृश्य होता है। प्रादुर्भवति=पैदा होता है। तूष्णीम्भवति=चुप होता है। पुरोभवति=आगे होता है। अग्रेभवति=आगे होता है। कृष्णीभवति=काला होता है। मिथ्याभवति=झूठ होता है। न्यूनीभवति=कम होता है। आकुलीभवति=व्याकुल होता है। परिपन्थीभवति=बीच में पड़ता है। विषयीभवति=विषय होता है। इत्यादि।

## अभ्यास (१)

(१) इन प्रश्नों का उत्तर दीजिये—
  (क) 'भवानि' में 'एरु' द्वारा उत्व क्यों नहीं होता?
  (ख) 'अभूत्' में सावधातुकगुण क्यों नहीं होता?
  (ग) 'वाय्वो' में 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप क्यों नहीं होता?
  (घ) 'अन्त्' आदेश के तकार की इत्संज्ञा क्यों नहीं होती?

(२) अधोलिखित शङ्काओं का समाधान करें—
  (क) लोट् मे हि' को अपित् करने का क्या प्रयोजन है?
  (ख) 'भवानि' आदि मे आट् के आगम की क्या आवश्यकता है?
  (ग) लिङ् के य के स्थान पर 'अ' सर्वादेश कैसे होगा?
  (घ) 'तासि' में इकार इत् है या उच्चारणार्थक?
  (ङ) सिच्' के इकार को इत् न करने से क्या दोष उत्पन्न होता है?

(३) यदि लोट् लङ्वत् है तो लोट् में अट् का आगम तथा इकार का लोप क्यों नहीं होता?

(४) यदि अद्यतन और अनद्यतन दोनों प्रकार के भविष्यत् का एक साथ प्रयोग हो तो लुट् और लृट् में से किस लकार का प्रयोग होगा? सप्रमाण लिखें।

(५) किस पुरुष का प्रयोग होगा ? सप्रमाण लिखें—
(क) यदि लकार के साथ युष्मद् और तद् दोनों का सामानाधिकरण्य हो ?
(ख) यदि लकार के साथ अस्मद् और तद् दोनों का सामानाधिकरण्य हो ?
(ग) यदि लकार के साथ युष्मद् और अस्मद् दोनों का सामानाधिकरण्य हो ?
(घ) यदि लकार के साथ युष्मद्-अस्मद्-तद् तीनों का सामानाधिकरण्य हो ?

(६) "लृँङ् के प्रयोग में तीन बातों की आवश्यकता हुआ करती है" ये तीन बातें कौन सी हैं ? क्या लृँङ् का भूतकाल मे भी प्रयोग हो सकता है ?

(७) 'लः कर्मणि च०' सूत्र की व्याख्या करते हुए सकर्मक और अकर्मक धातुओं का सोदाहरण विवेचन करें ।

(८) इन वचनों की सप्रसङ्ग सोदाहरण व्याख्या करें—
(१) ङित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः ।
(२) परत्वात् सदादेशः ।
(३) हिन्योर्हत्वं न, इकारोच्चारणसामर्थ्यात् ।
(४) झशां जशः खयां चर इति विवेकः ।
(५) गापाविहेणादेशपिबती गृह्येते ।
(६) सर्वलकारापवादः ।
(७) अन्तःशब्दस्याङ्क्विविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम् ।

(९) ससूत्र सिद्ध करें—
बभूविथ, भविता, भूयात्, अभूत्, भव-भवतात्, भवतु, भवेयुः, भवानि, अभवः, भवेत्, भवामि, भवताम्, अभवन्, भविष्यन्ति, अभविष्यत्, अन्तर्भवाणि ।

(१०) सूत्रों की व्याख्या करें—
युष्मद्युपपदे०, लिटि धातोरनभ्यासस्य, अतो येयः, क्ङिच्च, हलादिः शेषः, स्वरितञितः०, लिङ्निमित्ते लृँङ्०, लोँटो लँङ्वत्, तुह्योस्तातङ्०, आनि लोँट्, आर्धधातुकं शेषः, लृँट् शेषे च, लिँङ् च ।

(११) डा, रो, रस् आदेश तीन हैं परन्तु परस्मैपद और आत्मनेपद के स्थानी छः हैं तो यथासङ्ख्य कैसे होगा ?

(१२) 'प्रभवाणि' में 'अट्कुप्वाङ्०' से ही णत्व हो जाता पुनः 'आनि लोँट्' की क्या आवश्यकता ?

(१३) आशीर्लिँङ् में यासुट् को कित् करने का क्या प्रयोजन है ?

(१४) लिँट्, लोँट् लँङ्, लिँङ् में भू की रूपमाला लिखें ।

(१५) उपसर्ग द्योतक हैं या वाचक ? इस विषय पर पाणिनीयमतानुसार संक्षिप्त नोट लिखें ।

(१६) उपसर्गों का प्रयोग अट् व आट् से पूर्व में होता है या परे ? विचारपूर्ण ऊहापोह करें।

(१७) 'क्विडति च' और 'विडति च' इन में से कौन सा पाठ शुद्ध वा अशुद्ध है ? सप्रमाण लिखें।



[लघु०] अत सातत्य-गमने ॥२॥ अतति ॥

अर्थ —अत (अत्) धातु 'निरन्तर गमन करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—परम्परा के अनुसार अत आदि धातुओं मे तकारोत्तर अकार उदात्त तथा अनुनासिक है। अत 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) से उसकी इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। परन्तु भट्टोजिदीक्षित आदि नवीन वैयाकरण प्रयोजनाभाव के कारण इसे उच्चारणार्थक ही मानते हैं, अतएव सिद्धान्तकौमुदी में 'उदात्तेत' इस प्रकार का उल्लेख धातुओं के साथ कहीं भी देखा नहीं जाता[2]।

यह धातु न तो अनुदात्तेत् है और न ही ङित् अत 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (३८०) से कर्तृ विवक्षा मे इस के आगे लकारों के स्थान पर तिप्, तस्, झि आदि परस्मैपद प्रत्यय ही होते हैं।

लँट् में तिप् आदि प्रत्ययों की 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' (३८६) से सार्वधातुकसंज्ञा होकर 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् करने पर अनुबन्धलोप होने से 'अतति' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। लँट् मे रूपमाला यथा—अतति, अतत:, अतन्ति। अतसि, अतथ, अतथ। अतामि, अताव, अताम[3]।

अत् धातु से परोक्ष अनद्यतन भूतकाल की विवक्षा में लिँट् प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में लकार को तिप् आदेश, उस के स्थान पर 'परस्मैपदानां

---

१ पदाति (पैदल), स्वाति (एक नक्षत्र), आत्मा, अतिथि आदि शब्द इसी धातु से निष्पन्न होते हैं।

२. कविकल्पद्रुम में श्रीपदेव गोस्वामी भी इसे मुखसुखार्थ ही मानते हैं—तत्राकारः सुखार्थोऽत्र (कविकल्पद्रुम श्लोक ७)। परन्तु इस प्रकार मानने से 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र द्वारा अन्त्य हल् की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से उसका लोप प्राप्त होगा जैसा कि 'डुपचँष् पाके' धातु में षकार का हुआ करता है। अत अच्छा यही है कि इन में अकार को उदात्तानुनासिक मान कर इत् कर लिया जाये।

३ यहा से हमने रूपमालाओं मे एकवचन, द्विवचन आदि तथा प्रथमपुरुष मध्यमपुरुष आदि का उल्लेख छोड दिया है। वैसा करने से ग्रन्थ का अनावश्यक विस्तार होता था। अत, विद्यार्थियों को इसकी कल्पना स्वय कर लेनी चाहिये।

णलतुस्०' (३६२) द्वारा णल् आदेश, अनुबन्धलोप, 'अत् + अ' इस स्थिति में 'लिटि धातोः०' (३६४) से अत् को द्वित्व तथा 'हलादिः शेषः' (३६६) से अभ्यास के तकार का लोप होकर 'अ + अत् + अ' बना। अब यहां पर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश प्राप्त होता है, इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४४३) अत आदेः ।७।४।७०॥

अभ्यासस्य आदेरतो दीर्घः स्यात्। आत, आततुः, आतुः। आतिथ, आतथुः, आत। आत, आतिव, आतिम। अतिता। अतिष्यति। अततु॥

अर्थः—अभ्यास के आदि अत् को दीर्घ हो।

व्याख्या—अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। आदेः ।६।१। अतः ।६।१। दीर्घः ।१।१। ('दीर्घ इणः किति' से)। अर्थः—(अभ्यासस्य) अभ्यास के (आदेः) आदिभूत (अतः) अत् के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है। अभ्यास के आदि में यदि कहीं अत् अर्थात् ह्रस्व अकार आ जाये तो उसे दीर्घ कर दिया जाये—यह इस सूत्र का तात्पर्य है। अब यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि अभ्यास के आदि में दीर्घ अकार तो कभी आ नहीं सकता क्योंकि यदि कहीं वह आयेगा भी तो 'ह्रस्वः' (३६७) सूत्र उसे ह्रस्व कर देगा, पुनः सूत्र में 'अतः' इस प्रकार तपर करने का क्या प्रयोजन? इस का समाधान करते हुए काशिका के व्याख्याकार श्रीजिनेन्द्रबुद्धि तथा श्रीहरदत्त लिखते हैं—कि इस प्रकार सिद्ध होने पर भी सूत्रकार का तपरग्रहण इस बात का द्योतक है कि वे यहां शुद्ध अर्थात् स्वाभाविक ह्रस्व अकार का ही ग्रहण चाहते हैं, 'ह्रस्वः' (३६७) द्वारा सम्पादित ह्रस्व अकार का नहीं। इस का फल 'आञ्छ, आञ्छतुः, आञ्छुः' आदि में प्रकट होता है। 'आछि आयामे' (लम्बा करना, स्वा० परस्मै०) धातु के लिट् में—'आञ्छ् + णल्, आञ्छ् + अ, आञ्छ् + आञ्छ् + अ, आ + आञ्छ् + अ' यहां 'ह्रस्वः' (३६७) द्वारा ह्रस्व होकर 'अ + आञ्छ् + अ' हुआ। अब यहां यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि ह्रस्व अकार स्वाभाविक नहीं अपितु कृत्रिम है। तब सीधा सवर्णदीर्घ होकर 'आञ्छ' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यदि यहां यह सूत्र प्रवृत्त होता तो 'तस्मान्नुड् द्विहलः' (४६४) सूत्र से नुट् का आगम होकर 'आनाञ्छ' यह अनिष्ट रूप बन जाता। परन्तु कई अन्य वैयाकरण यहां तपर-करण को मुखसुखार्थ मानते हैं, अतः उनके मत में 'आछि' धातु का भी 'आनाञ्छ' रूप बनता है।

प्रकृतसूत्र में यदि 'आदेः' न कहते तो तदन्तविधि होकर अदन्त अभ्यास के अन्त्य अत् को दीर्घ होता, इससे 'पपाच, पपाठ' आदियों में भी अभ्यास को दीर्घ हो जाता जो सर्वथा अनिष्ट था।

इस सूत्र में प्राचीन वैयाकरण 'लिटि' का भी अनुवर्त्तन करते हैं अतः उनके

मतानुसार यह कार्य लिट् में ही प्रवृत्त होता है, अन्यत्र नहीं। इससे 'अरति' यहा यङ्लुक् में अभ्यास को दीर्घ नहीं होता। श्रीनागेश ने कौमुदी के अर्थ मे इस त्रुटि की ओर लघुशब्देन्दुशेखर में निर्देश किया है।

'अ+अत्+अ' यहा पर इस सूत्र से अभ्यास के आदि अत् को दीर्घ होकर—आ+अत्+अ। [फिर 'अत उपधाया' (४५५)से उपधावृद्धि होकर—आ+आत्+अ] अब 'अक सवर्णे दीर्घ' (४२) से सवर्णदीर्घ एकादेश करने पर 'आत' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार अतुस् और उस् मे भी सिद्धि होती है—आततु, आतु। थल् मे 'आर्धधातुकस्येड् वलादे' (४०१) द्वारा इट् का आगम विशेष है—आतिथ। इसी तरह वस् और मस् मे भी जान लेना चाहिये। लिट् मे रूपमाला यथा—आत, आततु, आतु। आतिथ, आतथु, आत। आत, आतिव, आतिम।

लुँट् में कुछ विशेष नहीं, सर्वत्र इट् का आगम हो जाता है। रूपमाला यथा—अतिता, अतितारौ, अतितार। अतितासि, अतितास्थ, अतितास्थ। अतितास्मि, अतितास्व, अतितास्म।

लृँट् की रूपमाला यथा—अतिष्यति, अतिष्यत, अतिष्यन्ति। अतिष्यसि, अतिष्यथ, अतिष्यथ। अतिष्यामि, अतिष्याव, अतिष्यामः।

लोँट् की सिद्धि में भी कुछ विशेष नही। रूपमाला यथा—अततु-अतताम्, अतताम्, अतन्तु। अत-अततात्, अततम् अतत। अतानि, अताव, अताम।

अब लेँट् मे विशेषकार्य बतलाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४४४)आडजादीनाम्। ६।४।७२॥

अजादेरङ्गस्याऽऽट्, लुङ्-लेँङ्-लृँङ्क्षु। आतत। अतेत्। अत्यात्, अत्यास्ताम्। लुँङि सिँचि इडागमे कृते—

अर्थ—लुँङ् लेँङ् या लृँङ् के परे होने पर अजादि अङ्ग को आट् का आगम हो।

व्याख्या—आट्।१।१। अजादीनाम्।६।३। अङ्गानाम्।६।३। ('अङ्गस्य' इस अधिकृत का वचनविपरिणाम हो जाता है)। लुँङ्-लेँङ्-लृँङ्क्षु।७।३। उदात्त।१।१। ('लुँङ्-लेँङ् लृँङ्क्ष्वडुदात्त' से)। अच् आदिर्येषा ते=अजादय, तेषाम्=अजादीनाम्, बहुव्रीहि। अर्थ—(लुँङ्-लेँङ् लृँङ्क्षु) लुँङ् लेँङ् या लृँङ् परे होने पर (अजादीनाम्) अजादि अङ्गो का अवयव (आट्) आट् हो जाता है और वह (उदात्त) उदात्त होता है। लघुकौमुदी मे स्वरप्रकरण नही है अत मूल मे 'उदात्त' वाला अश छोड़ दिया गया है। आट् का आगम टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) के अनुसार अजादि अङ्गों का आद्यवयव बनता है। यह सूत्र 'लुँङ्लेँङ्लृँङ्क्ष्वडुदात्तः' (४२३) सूत्र का अपवाद है अत जहा अङ्ग अजादि होगा वहा आट् तथा जहा हलादि

होगा वहां अट् का आगम किया जायेगा। अत् धातु अजादि है अतः लुँङ् आदियों में इसे आट् का आगम होगा। आट् का फल एध् आदि धातुओं में स्पष्ट है।

आतत्—अत् धातु से भूतानद्यतन काल में लँङ्, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में उसे तिप् आदेश, सार्वधातुकत्वात् शप्, 'इतश्च' (४२४) सूत्र से ति के इकार का लोप, 'अत्+अ+त्' इस स्थिति में 'लुँङ्लँङ्लृँङ्०' (४२३) सूत्र से अट् का आगम प्राप्त होता है परन्तु उस का बाध कर प्रकृतसूत्र से आट् का आगम करने से—'आट्+अत्+अ+त्' हुआ। अब टकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से उसका लोप कर 'आटश्च' (१९७) सूत्र से आट् और अत् के अकार के स्थान पर वृद्धि (आ) एकादेश करने से 'आतत्' रूप सिद्ध होता है[1]। इसी प्रकार आगे भी आट् का आगम तथा वृद्धि होती चली जायेगी, शेष सब प्रक्रिया सामान्य होगी। लँङ् में रूपमाला यथा—आतत्, आतताम्,आतन्। आतः, आततम्, आतत। आतम्, आताव, आताम।

विधिलिँङ् में कोई विशेष कार्य नहीं होता। रूपमाला यथा—अतेत्, अतेताम्, अतेयुः। अतेः, अतेतम्, अतेत। अतेयम्, अतेव, अतेम।

आशीर्लिँङ् में रूपमाला यथा—अत्यात्, अत्यास्ताम्, अत्यासुः। अत्याः, अत्यास्तम्, अत्यास्त। अत्यासम्, अत्यास्व, अत्यास्म। ध्यान रहे कि अत् धातु में गुण की प्राप्ति नहीं अतः उसके निषेध का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

लुँङ्—अत् धातु से भूतसामान्य में लुँङ्, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में उसे तिप् आदेश, च्लि, च्लि को सिँच् आदेश, अनुबन्धलोप, आट् का आगम तथा वृद्धि करने पर 'आत्+स्+त्' हुआ। अब सिँच् के आर्धधातुक होने से 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) द्वारा इट् का आगम होकर 'आत्+इस्+त्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (४४५) अस्तिसिँचोऽपृक्ते ।७।३।९६॥

विद्यमानात् सिँचः, अस्तेश्च परस्यापृक्तस्य हल ईडागमः॥

अर्थः—विद्यमान सिँच् तथा विद्यमान अस् धातु से परे अपृक्त हल् को ईट् का आगम होता है।

व्याख्या—इस सूत्र की व्याख्या प्राचीन वैयाकरण अपने ढंग से करते आ रहे थे, परन्तु उनके अर्थ में प्रक्रियासम्बन्धी कुछ ऐसे दोष प्रसक्त होते थे जिनका परिहार

---

१. यद्यपि यहां सवर्णदीर्घ से काम चल सकता था तथापि आगे 'ऐक्षिष्ट' आदि रूपों के लिये वृद्धि का विधान आवश्यक था अतः यहां भी न्यायानुसार वृद्धि की गई है।

दुष्कर था। अत भट्टोजिदीक्षित ने अपने बुद्धिचातुर्य से इस सूत्र का नवीन अर्थ सुझाया है। हम यहा व्युत्पन्न विद्यार्थियों तथा अनुसन्धानप्रेमी पाठकों के लिये इस सूत्र की प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार की व्याख्याए प्रस्तुत कर रहे हैं। सर्वप्रथम प्राचीन व्याख्या यथा —

अस्तिसिचि ।५।१। अपृक्ते ।७।१। हलि ।७।१। ('उतो वृद्धिर्लुकि हलि' से)। ईट् ।१।१। ('आर्धधातुकस्येड्' से)। यहाँ 'अस्ति' से अदादिगणीय 'अस भुवि' धातु का ग्रहण है। अस्तिश्च सिच् च अस्तिसिचौ तस्माद् अस्तिसिचि, समाहारद्वन्द्व। 'अपृक्ते हलि' मे सप्तमी है और इधर 'अस्तिसिचि' में पञ्चमी है। 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' (देखें पूर्वार्ध सूत्र ८४ की व्याख्या) परिभाषा के अनुसार पञ्चमीनिर्देश के बलवान् होने से सप्तमीविभक्ति का षष्ठीविभक्ति में विपरिणाम कर लिया जाता है। अर्थ —(अस्तिसिचि) अस् धातु तथा सिच् से परे (अपृक्तस्य हल) अपृक्त हल् का अवयव(ईट्) ईट् हो जाता है। ईट् में टकार की 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा हो जाती हैं अत टित् होने के कारण 'आद्यन्तौ टकितौ' (८१) परिभाषा के अनुसार यह अपृक्त हल् का आद्यवयव बनता है। अस् से परे उदाहरण यथा— आसीत्। सिच् से परे उदाहरण यथा—'अजैषीत्, अनैषीत् अकार्षीत्, अहासीत्' आदि। अस् धातु के स्थान पर आर्धधातुक प्रत्ययो मे 'अस्तेर्भूः' (५७६) सूत्र से भू आदेश हो जाता है अत लुँङ् में अस् धातु का भी 'अभूत्' रूप बनता है। यहा स्थानिवद्भाव के कारण भू को अस् मान कर ईट् का आगम प्राप्त होता है। इस का वारण कात्यायन के 'आहिभुवोरीट्प्रतिषेध' (महाभाष्य १।१.५६ पर। स्थानिवद्भाव के कारण आह् और भू से परे यदि ईट् का आगम प्रसक्त हो तो स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध हो) वार्तिक से किया जाता है। यह है काशिकाकार आदि प्राचीन वैयाकरणों की व्याख्या। परतु इस व्याख्या मे दो दोष प्रसक्त होते हैं—

(१) यदि सूत्र का उपर्युक्त अर्थ मानते हैं तो शुद्ध भू धातु के लुँङ् के 'अभूत्' रूप में तथा 'अपात्, अगात्, अस्थात्' आदियो में 'गातिस्थाघुपाभूभ्य सिच परस्मैपदेषु' (४३९) सूत्र से हुए सिच् के लुक् को प्रत्ययलक्षण के द्वारा अथवा स्थानिवद्भाव के कारण मान कर ईट् का आगम प्राप्त होता है। इसे वारण करने के लिये प्राचीन वैयाकरणो के पास कुछ समाधान नहीं रहता।

(२) अस् वाले 'अभूत्' मे भी चाहे 'आहिभुवोरीट्प्रतिषेध' से अस् के आश्रय ईट् का वारण हो जाये परन्तु वहा सिच् के लुक् को प्रत्ययलक्षण के द्वारा अथवा स्थानिवद्भाव के कारण मान कर सिजाश्रय ईट् का वारण कैसे किया जा सकेगा ?

काशिका के व्याख्याकार श्रीहरदत्त ने अपनी पदमञ्जरी व्याख्या में द्वितीय

दोष के उद्धार का यत्न किया है परन्तु प्रथमदोष को वे स्वमुख से सही मानते है[1]। सच तो यह है कि काशिका तथा काशिका के काल के आसपास के वैयाकरणों को उपर्युक्त दोनों दोष सूझे ही नहीं। यही कारण है कि चान्द्रव्याकरण तथा जैनेन्द्रव्याकरण आदियों में इन का कुछ उल्लेख नहीं। न्यासकार को भी इन का कुछ पता नहीं। हां कई शताब्दियों के बाद सम्भवतः सर्वप्रथम श्रीहरदत्त को उपर्युक्त दोनों दोष सूझे। उन्होंने द्वितीयदोष का परिहार तो सोच लिया परन्तु प्रथमदोष को मुक्तकण्ठ से मान गये। महाभाष्य का 'द्विसकारको निर्देशः' भी उन्हें सन्तुष्ट न कर सका। श्रीहरदत्त के बाद प्रतीत होता है कि वैयाकरणों में इन दोषों के लिये पर्याप्त हलचल मची। उन सब का चित्रण सायण ने अपनी माधवीयधातुवृत्ति में विस्तार से किया है। सायणोक्त समाधानों की भी छीछालेदर तदुत्तरवर्त्ती वैयाकरणों ने खूब की, इन का कुछ दिग्दर्शन शब्दकौस्तुभ आदियों में किया जा सकता है। तब इन सब से खिन्न होकर श्रीभट्टोजिदीक्षित ने इस सूत्र का नवीन अर्थ उद्भावित किया। इसे ही यहां लघुकौमुदी में श्रीवरदराज ने उद्धृत किया है। इस नवीन अर्थ की निष्पत्ति इस प्रकार होती है—

'अस्तिसिचः' में 'अस्ति' से अस् धातु का ग्रहण नहीं अपितु विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय का ग्रहण है[2]। इस का अर्थ है 'विद्यमान'। अतः सूत्र की व्याख्या इस प्रकार से समझनी चाहिये। सिच् च अस् च सिचौ, समाहारद्वन्द्वः, सौत्रम्भत्वम्, तेन कुत्वजश्त्वे न। अस्ति (विद्यमानं) च तत् सिचौ—अस्तिसिचौ, कर्मधारयसमासः। इस प्रकार 'अस्तिसिचस्' शब्द बन जाता है। अब इस के आगे सौत्रत्वात् पञ्चमीविभक्ति का लुक् मान कर यह अर्थ निष्पन्न होता है—(अस्तिसिचः) विद्यमान सिच् से परे तथा विद्यमान अस् से परे (अपृक्तस्य हलः) अपृक्त हल् को (ईट्) ईट् का आगम हो जाता है। अब इस अर्थ में न तो अस् वाले 'अभूत्' में कोई दोष आता है क्योंकि वहां अस् विद्यमान नहीं, और न ही शुद्ध 'अभूत्' आदि में कोई दोष प्रसक्त होता है क्योंकि वहां सिच् का लुक् हो जाने से वह विद्यमान नहीं। इस प्रकार संस्कृतव्याकरण में शताब्दियों से चले आ रहे असन्तोष को हल करनेका श्रेय भट्टोजिदीक्षित को दिया जा सकता है[3]।

---

१. 'अभूदिति। स्थानिवद्भावप्रतिषेधाद् अस्त्याश्रयस्तावद् ईण्न भवति। सिजाश्रयोऽपि न भवति स्थानिवद्भावप्रतिषेधसामर्थ्यात्। अस्त्वेवम्, अस्त्यादेशे भुवि, शुद्धौ तु भवतो सिजाश्रय ईट् प्राप्नोति। तस्माद् ईडेवात्र प्रतिषेध्यः'—देखो इसी सूत्र पर पदमञ्जरी।

२. एतद्विषयक विवेचन हमारे ग्रन्थ के पूर्वार्ध में अव्ययप्रकरणान्तर्गत 'अस्तिक्षीरा' शब्द पर देखें।

३. श्रीनागेशभट्ट ने महाभाष्य के 'द्विसकारको निर्देशः' (महाभाष्य १.१.७०) का आश्रय लेकर 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' पाठ की कल्पना की है। मध्य में पड़े सकार को

'आत्+इस्+त्' यहा सिँच् विद्यमान हैं और इस से परे 'अपृक्त एकाल्प्रत्यय.' (१७८) के अनुसार 'त्' यह अपृक्त हल् भी मौजूद है। अत प्रकृतसूत्र से इस अपृक्त हल् को ईट् का आगम होकर 'आत्+इस्+ईत्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४४६) इट ईटि ।८।२।२८॥

इट परस्य सस्य लोप स्याद् ईटि परे ॥

अर्थ —इट् से परे सकार का लोप हो ईट् परे हो तो।

व्याख्या—इटः ।५।१। ईटि ।७।१। सस्य ।६।१। ('रात्सस्य' से। सकारादकार उच्चारणार्थं )। लोप ।१।१। ('सयोगान्तस्य लोप' से)। अर्थ —(इट ) इट् से परे (सस्य) स् का (लोप ) लोप हो (ईटि) ईट् परे हो तो। तात्पर्य यह है कि इट् और ईट् के मध्यगत सकार का लोप हो जाता है[1]।

'आत्+इस्+ईत्' यहा इट् से परे सिँच् के सकार का प्रकृतसूत्र से लोप हो जाता है क्योंकि इस से परे ईट् विद्यमान है। इसप्रकार 'आत्+इ+ईत्' हुआ। अब यहा पर 'अक सवर्णे दीर्घ.' (४२) द्वारा दोनों 'इ+ई' में सवर्णदीर्घ करना है परन्तु इस मे एक बाधा उपस्थित होती है। वह बाधा यह है कि 'पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) सूत्र के अनुसार 'इट ईटि' (८ २ २८) सूत्रद्वारा किया गया सकार का लोप त्रिपादीस्थ होने से 'अक. सवर्णे दीर्घ' (६ १.९७) की दृष्टि मे असिद्ध है। 'अक सवर्णे दीर्घ' सूत्र को तो इट् से परे सकार ही दिखाई देता है ईट् नही अत वह कैसे सवर्णदीर्घ करे? इस का समाधान अग्रिमवार्तिक में उपस्थित करते हैं—

[लघु०] वा०—(३३) सिँज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्य ॥

आतीत्, आतिष्टाम् ॥

अर्थ —यदि एकादेश करना हो तो सिँच् का लोप सिद्ध कहना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्तिक महाभाष्य मे(८ २ ६)सूत्र पर पढ़ा गया है। (सिँज्लोप)

---

देहलीदीपकन्याय से दोनो ओर लगा कर वे सकारान्त अस् धातु से तथा सकारान्त सिँच् से परे अपृक्त हल् को ईट् का आगम हो' इस प्रकार अर्थ करते हैं। इस अर्थ मे भी किसी प्रकार के दोष की सम्भावना नहीं रहती, अपितु महाभाष्य की अनुमति भी प्राप्त हो जाती है जो दीक्षितजी के अर्थ में न थी। विशेषजिज्ञासु उन का मत 'लघुशब्देन्दुशेखर' तथा 'महाभाष्य'(१ १ ७०) की उद्योतटीका मे अवलोकन कर सकते हैं।

१ इट इति किम्? अकार्षीत्, अजैषीत्, अनैषीत्। ईटि इति किम्? आतिष्टाम्, आतिषु ॥

सिँच् का लोप (एकादेशे) एकादेश करने में (सिद्धः) सिद्ध (वाच्यः) कहना चाहिये। सवर्णदीर्घ आदि कार्य 'एकः पूर्वपरयोः' (६.१.८१) के अधिकार में पठित होने से एकादेश कहाते हैं। एकादेश कार्य करने में सिँच् का लोप सिद्ध मानना चाहिये।

'आत्+इ+ईत्' यहां प्रकृतवार्त्तिक से सकार का लोप सिद्ध हो जाने से 'अकः सवर्णे दीर्घः' से पूर्व-पर दोनों के स्थान पर ईकार सवर्णदीर्घ एकादेश होकर 'आतीत्' प्रयोग सिद्ध होता है।

लुँङ् के प्रथमपुरुष के द्विवचन में तस् को ताम् आदेश हो जाता है। 'आत्+इस्+ताम्' यहां पर अपृक्त हल् परे न होने से ईट् का आगम नहीं होता। पुनः ईट् परे न रहने से सकार का लोप भी नहीं होता। अब 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सिँच् प्रत्यय के सकार को षकार तथा 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से तकार को ष्टुत्व टकार होकर 'आतिष्टाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

लुँङ् के प्रथमपुरुष के बहुवचन में 'आट्+अत्+इस्+झि=आत्+इस्+झि' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४४७) सिँजभ्यस्तविदिभ्यश्च ।३।४।१०९॥

सिँचोऽभ्यस्ताद् विदेश्च परस्य ङित्सम्बन्धिनो झेर्जुस्। आतिषुः। आतीः, आतिष्टम्, आतिष्ट। आतिषम्, आतिष्व, आतिष्म। आतिष्यत्॥

अर्थः—सिँच्, अभ्यस्त तथा विद् धातु से परे ङित्लकारसम्बन्धी झि को जुस् आदेश हो।

व्याख्या—सिँजभ्यस्तविदिभ्यः।५।३। च इत्यव्ययपदम्। ङितः।६।१। ('नित्यं ङितः' से)। लस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। झेः।६।१। जुस्।१।१। ('झेर्जुस्' से)। सिँच् च अभ्यस्तं च विदिश्च सिँजभ्यस्तविदयः, तेभ्यः=सिँजभ्यस्तविदिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(सिँजभ्यस्तविदिभ्यः) सिँच् से, अभ्यस्तसञ्ज्ञक से तथा विद् धातु से परे (ङितः) ङित् (लस्य) लकार के (झेः) झि के स्थान पर (जुस्) जुस् आदेश होता है। जुस् आदेश अनेकाल् है अतः 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (४५) परिभाषा के अनुसार सम्पूर्ण झि के स्थान पर होता है।

धातुपाठ में पांच स्थानों पर विद् धातु का पाठ आया है—(१) विद ज्ञाने [अदादि० परस्मै०], (२) विदँ सत्तायाम् [दिवादि० आत्मने०], (३) विदँ विचारणे [रुधादि० आत्मने०], (४) विद्लृँ लाभे [तुदादि० उभय०], (५) विदँ चेतनाख्यान-निवासेषु [चुरादि० आत्मने०]। इन में से आत्मनेपदियों का यहां ग्रहण नहीं होता क्योंकि वहां झि का आना सम्भव नहीं। तुदादि० उभयपदी में भी मध्य में विकरण (श) के आ जाने से झि सामने नहीं आ सकता। अतः अवशिष्ट अदादिगणीय 'विद

ज्ञाने' धातु का ही यहा ग्रहण होता है।

इस सूत्र मे 'ङित' की अनुवृत्ति आवश्यक है, अन्यथा सिच् से परे किसी भी प्रकार का दोष न आने पर भी अभ्यस्तसञ्ज्ञको तथा विद् धातु से परे लोट् आदि में भी झि को जुस् प्रसक्त होगा जो अनिष्ट है[1]।

सिच् से परे उदाहरण यथा—आतिषुः, अजैषुः, अकार्षुः आदि। अभ्यस्तों से परे उदाहरण यथा—अजुहवुः, अबिभयुः आदि। विद् से परे यथा—अविदुः।

'आत्+इस्+झि' यहा सिच् से परे झि मौजूद है, अत प्रकृतसूत्र से झि को जुस् सर्वादेश हो गया। स्थानिवद्भाव के कारण जुस् प्रत्यय है अत उस के आदि जकार की 'चुटू' (१२६) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से लोप होकर 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से प्रत्यय के सकार को मूर्धन्य षत्व करने से—आतिषुस्। अब पदान्त सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग करने पर 'आतिषुः' प्रयोग सिद्ध होता है।

आतीः—मध्यमपुरुष के एकवचन मे सिप् प्रत्यय, सिप् के इकार का 'इतश्च' (४२४) सूत्र से लोप, च्लि, च्लि को सिच्, इट्, 'आडजादीनाम्' (४४४) से आट् का आगम तथा 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि एकादेश करने पर 'आत्+इस्+स्' हुआ। अब 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (४४५) सूत्र द्वारा सिच् से परे सिप् के अपृक्त सकार को ईट् का आगम, 'इट ईटि' (४४६) से सिच् के सकार का लोप, उसे सिद्ध मानकर सवर्णदीर्घ तथा अन्त मे पदान्त सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'आतीः' प्रयोग सिद्ध होता है।

आतिष्टम्—यहा थस् को 'तस्थस्थमिपां०' (४१४) सूत्र से तम् आदेश ही विशेष कार्य है। शेष सिद्धि 'आतिष्टाम्' की तरह होती है।

आतिष्ट—यहां मध्यमपुरुष के बहुवचन मे थ को त आदेश हो जाता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

आतिषम्—यहां उत्तमपुरुष के एकवचन मिप् को अम् आदेश ही विशेष कार्य है। ध्यान रहे कि यहा इट् से परे सकार का लोप नहीं होता क्योंकि ईट् परे नहीं है।

आतिष्व, आतिष्म—यहां 'नित्य ङित' (४२१) से वस् और मस् के सकार

---

१ लोट् के लँङ्वत् होने से विद धातु से परे लोट् के झि को भी इस सूत्र से जुस् आदेश क्यो न हो? इस शङ्का के समाधान के लिये 'लँङ शाकटायनस्यैव' (५६७) सूत्र की व्याख्या का अवलोकन करें।

का लोप हो जाता है। लुंङ् में रूपमाला यथा—आतीत्, आतिष्टाम्, आतिषुः। आतीः, आतिष्टम्, आतिष्ट। आतिषम्, आतिष्व, आतिष्म।

नोट—माङ् के योग में 'न माङ्योगे' (४४१) द्वारा आट् का आगम निषिद्ध हो जाता है—मा भवान् अतीत्। यहां लुंङ् में यह बात भी ध्यातव्य है कि 'वदव्रज०' (४६५) से प्राप्त वृद्धि का 'नेटि' (४७७) सूत्र से निषेध हो जाता है।

लृंङ् की सिद्धि में कुछ विशेष नहीं। रूपमाला यथा—आतिष्यत्, आतिष्यताम्, आतिष्यन्। आतिष्यः, आतिष्यतम्, आतिष्यत। आतिष्यम्, आतिष्याव, आतिष्याम।

इसी प्रकार निम्न धातुओं के रूप बनते हैं[1]—

(१) अट गतौ (चलना)। लँट्—अटति, अटतः, अटन्ति। लिँट्—आट, आटतुः, आटुः। लुंट्—अटिता, अटितारौ, अटितारः। लृँट्—अटिष्यति, अटिष्यतः अटिष्यन्ति। लोँट्—अटतु-अटतात्, अटताम्, अटन्तु। लँङ्—आटत्, आटताम्, आटन्। विधिलिँङ्—अटेत्, अटेताम्, अटेयुः। आ०लिँङ्—अटेत्, अटेयाताम्, अटेरन्। लुंङ्—आटीत्, आटिष्टाम्, आटिषुः। लृँङ्—आटिष्यत्, आटिष्यताम्, आटिष्यन्। उपसर्गयोग—पर्यटति=घूमता है।

(२) अव रक्षणादौ (रक्षा करना आदि)। लँट्—अवति। लिँट्—आव, आवतुः, आवुः। लुंट्—अविता। लृँट्—अविष्यति। लोँट्—अवतु-अवतात्। लँङ्—आवत्। विधि-लिँङ्—अवेत्। आ०लिँङ्—अव्यात्। लुंङ्—आवीत्, आविष्टाम्, आविषुः। लृँङ्—आविष्यत्।

[लघु०] षिध गत्याम् ॥३॥

अर्थः—षिध् (सिध्) धातु 'गति-गमन-जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2]।

व्याख्या—षिध् धातु षोपदेश है। 'धात्वादेः षः सः' (२५५) से इस के आदि षकार के स्थान पर सकार आदेश हो जाता है। इस प्रकार यह 'सिध्' धातु बन जाती है। षोपदेश करने का फल 'सिषेध' आदि में षत्व करना है। सिध् धातु गति अर्थ में प्रयुक्त होती है परन्तु गति का अभिप्राय केवल गमन से नहीं अपितु ज्ञान (जानना), गमन (जाना) और प्राप्ति (पाना) इन तीनों से है। अब सिध् की प्रक्रिया में उपयोगी लघुसञ्ज्ञाविधायक सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(४४८) ह्रस्वं लघु ।१।४।१०॥

अर्थः—ह्रस्व की लघुसञ्ज्ञा हो।

---

१. संगृहीत धातुओं का सादृश्य केवल कर्तृवाच्य के दशगणों तक ही सीमित समझना चाहिये। अन्यत्र कहीं कहीं सादृश्य नहीं भी रहता।

२. निषेध, प्रतिषेध, विप्रतिषेध आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं।

व्याख्या—ह्रस्वम् ।१।१। लघु ।१।१। 'ह्रस्व' शब्द प्राय पुलिङ्ग में प्रयुक्त होता है, यथा—मितां ह्रस्व (७०४), स्वचि ह्रस्व (६४६४) आदि। परन्तु इस सूत्र में इसे नपुसकलिङ्ग में प्रयुक्त किया गया है। अत प्रतीत होता है कि यह शब्द पुन्नपुसक है। अथवा—इसे विशेष्यानुसारी विशेषणशब्द मानना चाहिये। 'अक्षरम्' के विचार से नपुसक मे तथा 'वर्ण' के विचार से पुलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार दीर्घशब्द के विषय में भी जान लेना चाहिये। अर्थ—(ह्रस्वम्) ह्रस्व (लघु) लघुसञ्ज्ञक होता है। पीछे (५) सूत्र पर एकमात्रिक की ह्रस्वसञ्ज्ञा की जा चुकी है, उसकी यहा पुन लघुसञ्ज्ञा कर रहे हैं। लघुसज्ञा का काम 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) आदि सूत्रों मे पडेगा। अब प्रसङ्गवश ग्रन्थकार गुरुसञ्ज्ञा के विधायक दो सूत्रों को भी यहां दे रहे हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(४४६) सयोगे गुरु ।१।४।११।

सयोगे परे ह्रस्व गुरुसञ्ज्ञ स्यात् ॥

अर्थ—सयोग परे होने पर ह्रस्व की गुरुसञ्ज्ञा हो।

व्याख्या—सयोगे ।७।१। गुरु ।१।१। ह्रस्वम् ।१।१। ('ह्रस्व लघु' से)। अर्थ—(सयोगे) सयोग परे होने पर (ह्रस्वम्) ह्रस्व (गुरु) गुरुसञ्ज्ञक हो। अर्थों के व्यवधान से रहित हल् सयोगसञ्ज्ञक होते हैं—यह पीछे 'हलोऽनन्तरा सयोग' (१३) सूत्र पर कह चुके हैं। सयोग परे होने पर ह्रस्व की भी इस सूत्र से गुरुसञ्ज्ञा हो जाती है। यथा—शिक्षा, भिक्षा। यहा शिक्ष् और भिक्ष् धातुओं में 'क्ष्' इस सयोग के परे होने पर इकार की गुरुसज्ञा हो जाती है। गुरुसञ्ज्ञा होने से 'गुरोश्च हल' (८६८) सूत्र द्वारा भाव में 'अ' प्रत्यय होकर टाप् आदि करने से 'शिक्षा, भिक्षा' सिद्ध होते हैं।

ध्यान रहे कि लघु और गुरु सञ्ज्ञाए 'आकडारादेका सञ्ज्ञा' (१६६) के अधिकार में प्रतिपादित की गई है अत दोनों सञ्ज्ञाओं का एकत्र समावेश नहीं होता, अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता कि सयोग परे होने पर जिस ह्रस्व की गुरु सञ्ज्ञा की जा रही है उस की 'ह्रस्व लघु' (४४८) से लघु सञ्ज्ञा भी रहे। हां ह्रस्वसञ्ज्ञा एकसञ्ज्ञाधिकार के बहिर्भूत है, अत गुरुसञ्ज्ञा के साथ उसका समावेश हो सकता है। तात्पर्य यह है कि सयोग परे होने पर एकमात्रिक वर्ण गुरुसञ्ज्ञक होता हुआ ह्रस्वसञ्ज्ञक तो रहता है पर लघुसञ्ज्ञक नहीं।

शङ्का—लघुसञ्ज्ञा करने की आवश्यकता ही क्या है? जहा जहा लघु को कार्य कहा गया है वहा वहां ह्रस्व को कार्य कह देंगे।

समाधान—ऐसा नहीं कर सकते, अनेक अनर्थ उपस्थित हो जायेंगे। यथा—

णिजन्त रक्ष् धातु के लुंङ् के प्रथमपुरुष के एकवचन में तब 'अररक्षत्' यह अभीष्ट रूप बन न सकेगा। क्योंकि 'सन्वल्लघुनि०' (५३२) तथा 'दीर्घो लघोः' (५३४) सूत्रों में लघु' के स्थान पर ह्रस्व' पढ़ने से रक्ष्धातु में भी सन्वद्भाव होकर 'सन्यतः' (५३३) से इत्व तथा उसे दीर्घ करने पर 'अरीरक्षत्' यह अनिष्ट रूप बन जायेगा।

शङ्का—यदि 'लघु' की जगह 'ह्रस्व' नहीं पढ़ा जा सकता तो पुनः 'ह्रस्व' सञ्ज्ञा करने का प्रयोजन ही क्या है? जहां जहां 'ह्रस्व' कहा है वहां वहां 'लघु' ही कह देंगे।

समाधान—ऐसा भी नहीं कर सकते, तब भी दोष प्रसक्त होंगे। यथा—सर्पिस्+त्वम्=सर्पिष्ट्वम्। यहां पर 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' (८.३.१०१) द्वारा ह्रस्व से परे सकार को षकार विधान किया जाता है। यदि यहां 'ह्रस्व' की जगह 'लघु' शब्द का प्रयोग करेंगे तो षत्व न हो सकेगा क्योंकि यहां इकार लघु नहीं अपितु 'संयोगे गुरु' (४५९) से गुरु है। अतः दोनों ही सञ्ज्ञाएं अपने अपने स्थान पर आवश्यक हैं[1]।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(४५०) दीर्घं च ।१।४।१२॥

गुरु स्यात् ॥

अर्थः—दीर्घ भी गुरुसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—दीर्घम् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। गुरु ।१।१। ('संयोगे गुरु' से)। अर्थः—(दीर्घम्) दीर्घ (च) भी (गुरु) गुरुसञ्ज्ञक हो। पीछे संयोग परे होने पर ह्रस्व की गुरुसञ्ज्ञा की जा चुकी है। अब दीर्घ की भी इस सूत्र से गुरुसञ्ज्ञा कर रहे हैं। 'च' पद इसी बात का द्योतक है। 'ऊकालोज्झ्रस्व०' (५) सूत्र में द्विमात्रिक को दीर्घ कह चुके हैं उसी की पुनः यहां गुरुसञ्ज्ञा की गई है। यथा—एधाञ्चक्रे। यहां 'एध्' में एकार दीर्घ के गुरु होने के कारण 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (५११) से आम् प्रत्यय हो जाता है। इस की सम्पूर्ण सिद्धि आगे भ्वादिगण के आत्मनेपद में एध् धातु

---

१. तब 'भिद्+ता = भेत्ता, छिद्+ता= छेत्ता' इत्यादियों में भी गुरुसञ्ज्ञा द्वारा लघुसञ्ज्ञा का बाध हो जाने से 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) से लघूपध गुण न हो सकेगा—इस शङ्का का समाधान यह है कि 'त्रसि-गृधि-धृषि-क्षिपेः क्नुः' (३.२.१४०) सूत्र में क्नु को कित् करना इस बात का ज्ञापक रहेगा कि ऐसे स्थलों पर लघूपधगुण का वारण नहीं होता, अपितु भूतपूर्व लघु को लेकर गुण निर्बाध हो जाता है। महाभाष्य (७.३.८६) में कहा भी है—

"संयोगे गुरुसञ्ज्ञायां गुणो नेतुर्न सिध्यति।
क्नु-सनोर्यत्कृतं कित्वं ज्ञापकं स्याल्लघोर्गुणे ॥"

के लिट् में देखें।

अब लघुसञ्ज्ञा का प्रकृत में फल दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(४५१) पुगन्त-लघूपधस्य च ।७।३।८६॥

पुगन्तस्य लघूपधस्य चाङ्गस्य इको गुण सार्वधातुकार्धधातुकयो। धात्वादे० (२५५) इति स। सेधति। षत्वम्—सिषेध॥

अर्थ—पुगन्त तथा लघूपध अङ्ग के इक् के स्थान पर गुण आदेश हो सार्वधातुक या आर्धधातुक परे हो तो।

व्याख्या—पुगन्त-लघूपधस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है) गुण ।१।१। ('सिदेर्गुण' से)। सार्वधातुकार्धधातुकयो ।७।२। ('सार्वधातुकार्धधातुकयो' से)। स्थानी के निर्देश के बिना जहां गुण और वृद्धि का विधान हो वहा 'इको गुणवृद्धी' (१।१।३) परिभाषा से 'इक' यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित हो जाता है। यहा गुण का विधान है परन्तु स्थानी का निर्देश नहीं अत यहां पर भी 'इक' पद उपस्थित हो जायेगा। पुक् अन्ते यस्य तत् पुगन्तम् (अङ्गम्), बहुव्रीहि। णिच् परे होने पर 'ऋ' आदि धातुओं से 'अति-ह्वी ब्लू री क्नूयी-क्ष्माय्यातां पुग्णौ' (७०२) सूत्र द्वारा पुक् का आगम किया जाता है। यह पुक् जिस समुदाय का अन्तावयव होता है उस को 'पुगन्त' कहते हैं। लघ्वी उपधा यस्य तद् लघूपधम् (अङ्गम्) जिस की उपधा (अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण, देखो सूत्र १७६) लघु हो उसे 'लघूपध' कहते हैं। पुगन्त च लघूपधञ्च पुगन्तलघूपधम्, तस्य पुगन्तलघूपधस्य, समाहारद्वन्द्व। अर्थ—(पुगन्त-लघूपधस्य) पुक् का आगम जिस के अन्त में हो या लघुवर्ण जिस की उपधा हो ऐसे (अङ्गस्य) अङ्ग के (इक) इक् के स्थान पर (गुण) गुण हो जाता है (सार्वधातुकार्धधातुकयो) सार्वधातुक या आर्धधातुक प्रत्यय परे हो तो।

पुगन्त का उदाहरण यथा—ह्री (लज्जा करना, जुहो० परस्मै०) धातु से णिच् करने पर 'अति-ह्वी ब्लू०' (७०२) सूत्र से पुक् का आगम हो जाता है—ह्रीप्+इ। अब यहां 'ह्रीप्' यह पुगन्त अङ्ग है। इस के इक्-ईकार को प्रकृतसूत्र से गुण होकर 'ह्रेपि' बन जाता है। इस के आगे लँट्, शप् आदि आ कर 'ह्रेपयति' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार—श्लेपयति, रेपयति, क्नोपयति आदि पुगन्तों में भी समझ लेना चाहिए।

लघूपध का उदाहरण यथा—प्रकृत सिध् धातु से लँट्, तिप्, शप् होकर—सिध्+अ+ति। अब यहां 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' (३८६) के अनुसार शप् सार्वधातुक है। इस सार्वधातुक के परे होने पर लघूपध अङ्ग है—सिध्। अत प्रकृतसूत्र से इस के इक्-इकार को एकार गुण हो कर 'सेधति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी

लँट् में लघूपधगुण होता चला जायेगा[1]। रूपमाला यथा—सेधति, सेधतः, सेधन्ति। सेधसि, सेधथः, सेधथ। सेधामि, सेधावः, सेधामः।

लिँट्—पिष् धातु के षकार को 'धात्वादेः षः सः' (२५५) से सकार होकर लिँट्, तिप्, णल् करने से—सिष्+अ। 'लिँटि धातोः०' (३९४) से द्वित्व, तथा अभ्यासकार्य करने पर—सि+सिष्+अ। अब 'लिँट् च' (४००) सूत्र द्वारा 'अ' इस आर्धधातुक के परे होने पर 'सिष्' इस लघूपध अङ्ग के इक्-इकार को 'पुगन्तलघूपधस्य च' सूत्र से गुण-एकार हो कर 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) द्वारा अभ्यास के इण् से परे आदेशरूप सकार को षत्व करने पर 'सिषेध' रूप सिद्ध होता है।

नोट—ध्यान रहे कि यदि धातु पोपदेश न होती तो 'सि+सेध्+अ' इस अवस्था में इण् से परे आदेशरूप सकार न होने से षत्व न हो सकता। अतः मुनि ने सोच समझ कर धातु को पोपदेश पढ़ा है।

लिँट् प्रथमपुरुष के द्विवचन में 'सि+सिष्+अतुस्' इस अवस्था में 'अतुस्' इस आर्धधातुक के परे होने पर 'पुगन्तलघूपधस्य च' सूत्र द्वारा लघूपध गुण प्राप्त होता है परन्तु वह अनिष्ट है। अतः उस के निवारणार्थ अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(४५२) असंयोगाल्लिँट् कित् ।१।२।५॥

असंयोगात् परोऽपित् लिँट् कित् स्यात्। सिषिधतुः। सिषिधुः। सिषेधिथ, सिषिधथुः, सिषिध। सिषेध, सिषिधिव, सिषिधिम। सेधिता।

---

१. प्रश्न—'भिद्+ति' यहां 'रुधादिभ्यः श्नम्' (६६६) सूत्र से भिद् को श्नम् विकरण का आगम होकर 'भिनद्+ति' बनता है। अब यहां 'ति' यह सार्वधातुक परे है और 'भिनद्' यह लघूपध अङ्ग है, तो इस अङ्ग के इक् इकार को 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) सूत्र से एकार गुण हो कर 'भेनत्ति' प्रयोग क्यों नहीं बन जाता?

उत्तर—यद्यपि 'सेधति' आदि में भी यह गुण नहीं होना चाहिये क्योंकि 'सिध्+अ+ति' इस अवस्था में लघूपध अङ्ग के इक् और सार्वधातुक के बीच में धकार का व्यवधान पड़ता है, तथापि वह क्षन्तव्य है। क्योंकि विना इसके गुजारा नहीं। अर्थात् यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो हमें कोई भी उदाहरण ऐसा नहीं मिल सकेगा जहां लघूपध अङ्ग के इक् से परे विना व्यवधान के साक्षात् सार्वधातुक या आर्धधातुक प्रत्यय हो। अतः लाचार होकर हम एक वर्ण का व्यवधान मानने को बाध्य हो जाते हैं। परन्तु 'भिनत्ति' आदि में एक से अधिक वर्णों का व्यवधान पड़ता है अतः वहां हम ऐसा नहीं कर सकते। इसीलिये कहा भी है—'येन नाऽव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि' अर्थात् जिस वर्ण के व्यवधान के विना काम न चलता हो उस के व्यवधान होने पर भी कार्य हो जाया करता है।

सेधिष्यति । सेधतु । असेधत् । सेधेत् । सिध्यात् । असेधीत् । असेधिष्यत् ॥

अर्थ —असयोग से परे अपित् लिँट् कित् हो ।

व्याख्या—असयोगात् ।५।१। लिँट् ।१।१। कित् ।१।१। अपित् ।१।१। ('सार्वधातुकमपित्' से) । न सयोग —असयोग, तस्माद् असयोगात् । न पित्—अपित् । नञ्समास । अर्थ —(असयोगात्) असयोग से परे (अपित्) पित् से भिन्न (लिँट्) लिँट् (कित) कित् हो । तात्पर्य यह है कि जैसे कित् परे होने पर 'क्ङिति च' (४३३) सूत्र से इग्लक्षण गुण और वृद्धि का निषेध हुआ करता है वैसे यहा भी हो । इस के अतिरिक्त 'ईजतु' आदि में सम्प्रसारण करना भी कित् करने का प्रयोजन है—यह सब आगे यथास्थान स्पष्ट होगा ।

तिप्, सिप्, मिप् के स्थान पर आदेश होने वाले णल्, थल्, णल् ये तीन प्रत्यय ही पित् लिँट् हैं अत ये कित् नहीं होगे । इन के अतिरिक्त शेष पन्द्रह (अतुस्, उस्, अथुस्, अ, व, म —ये छ परस्मैपद मे तथा आत्मनेपद के सब के सब पूरे नौ) प्रत्यय कित् हो जायेंगे ।

ध्यान रहे कि असयोग से परे ही अपित् लिँट् कित् होता है सयोग से परे नहीं । सस्र से, दध्वसे, वभ्र से, सस्रम्भे आदि में सयोग से परे लिँट् कित् नहीं होता । इस से 'अनिदितां हल ०' (३३४) द्वारा उपधा के नकार का लोप नहीं होता । यह सब आगे भ्वादिगण के आत्मनेपद मे इन धातुओं के प्रकरण मे स्पष्ट किया जायेगा ।

उदाहरण यथा —'सि+सिध्+अतुस्' यहां 'सिसिध्' में कोई सयोग नहीं अत असयोग से परे 'अतुस्' यह अपित् लिँट् कित् हो जाता है । तब इसे मान कर प्राप्त होने वाले गुण का 'क्ङिति च' (४३३) से निषेध हो कर 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) से षत्व तथा अ त में सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'सिषिधतु' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार प्रथमपुरुष के बहुवचन 'उस्' में 'सिषिधु' बनता है ।

लिँट् मध्यमपुरुष के एकवचन में 'सिध्+थल्' इस अवस्था में 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) से वलादि आर्धधातुक थल् को इट् का आगम होकर द्वित्व तथा अभ्यास के हल् का लोप करने पर 'सिसिध्+इथ' हुआ । अब यहां सिप् के स्थान पर आदेश हुए थल् के पित् होने के कारण कित् न होने से उस के परे रहते 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण निर्बाध हो जाता है—सिषेधिथ । द्विवचन और बहुवचन में लिँट् के कित् होने से लघूपध गुण नहीं होगा—सिषिधथु, सिषिध । उत्तमपुरुष के एकवचन में पुन णल् प्रत्यय आ जाने से—सिषेध । द्विवचन और बहुवचन में इट् का आगम होकर कित्त्व के कारण गुण का निषेध हो जाता है—सिषिधिव, सिषिधिम । रूपमाला यथा—सिषेध, सिषिधतु, सिषिधु । सिषेधिथ, सिषिधथु, सिषिध । सिषेध, सिषिधिव, सिषिधिम ।

लुँट्—में सर्वत्र लघूपध गुण हो जाता है—सेधिता, सेधितारौ, सेधितारः। सेधितासि, सेधितास्थः, सेधितास्थ। सेधितास्मि, सेधितास्वः, सेधितास्मः।

लृँट्—में लघूपधगुण होकर 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व हो जाता है—सेधिष्यति, सेधिष्यतः, सेधिष्यन्ति। सेधिष्यसि, सेधिष्यथः, सेधिष्यथ। सेधिष्यामि, सेधिष्यावः, सेधिष्यामः।

लोँट्—में भी सर्वत्र लघूपध-गुण हो जाता है—सेधतु-सेधतात्, सेधताम्, सेधन्तु। सेध-सेधतात्, सेधतम् सेधत। सेधानि, सेधाव, सेधाम।

लँङ्—असेधत्, असेधताम्, असेधन्। असेधः, असेधतम्, असेधत। असेधम्, असेधाव, असेधाम।

विधिलिँङ्—सेधेत्, सेधेताम्, सेधेयुः। सेधेः, सेधेतम्, सेधेत। सेधेयम्, सेधेव, सेधेम।

आ० लिँङ् में 'किदाशिषि' (४३२) द्वारा यासुट् के कित् होने से लघूपधगुण का 'क्ङिति च' (४३३) से निषेध हो जाता है—सिध्यात्, सिध्यास्ताम्, सिध्यासुः। सिध्याः, सिध्यास्तम्, सिध्यास्त। सिध्यासम्, सिध्यास्व, सिध्यास्म।

लुँङ्—प्रथमपु० के एकवचन की विवक्षा में 'असिध्+इस्+ईत्' इस अवस्था में लघूपधगुण होकर 'इट ईटि' (४४६) से सकार का लोप, 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' (वा० ३३) से उसे सिद्धवत् मान कर सवर्णदीर्घ करने पर 'असेधीत्' रूप सिद्ध होता है[1]। रूपमाला यथा—असेधीत्, असेधिष्टाम्, असेधिषुः। असेधीः, असेधिष्टम्, असेधिष्ट। असेधिषम्, असेधिष्व, असेधिष्म।

लृँङ्—में भी लघूपधगुण होकर षत्व हो जाता है—असेधिष्यत्, असेधिष्यताम्, असेधिष्यन्। असेधिष्यः, असेधिष्यतम्, असेधिष्यत। असेधिष्यम्, असेधिष्याव, असेधिष्याम।

उपसर्गयोग—अप√सिध्=दूर करना (संवत्सरे यवाहारस्तत्पापमपसेधति—मनु० ११.१९८)। नि√सिध्=रोकना, मना करना, प्रतिकार करना (न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः—रघु० २.४; शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निषिध्य—रघु० ५.१८; भूतगणान् न्यषेधीत्—भट्टि० १.१५; न्यषेधत् पावकास्त्रेण—भट्टि० १७.८७)। प्रति√सिध्=प्रतिषेध करना, मना करना, रोकना (प्रतिषेधत्सु चाधर्मान् हितं चोपदिशत्स्वपि—मनु० २.२०६)।

नोट—नि और प्रति उपसर्गों के साथ सिध् धातु के सकार के स्थान पर

---

१. वस्तुतः यहां पर 'वदव्रजहलन्तस्याचः' (४६५) से हलन्तलक्षणा वृद्धि प्राप्त होती थी उस का 'नेटि' (४७७) से निषेध हो जाने पर ही लघूपध-गुण की प्रवृत्ति होती है—यह सब आगे स्पष्ट होगा।

'उपसर्गात् सुनोति-सुवति-स्यति-स्तौति-स्तोभति स्था सेनय सेध-सिच् सञ्ज स्वञ्जाम्' (८.३ ६५) सूत्र से षत्व हो जाता है—निषेधति, प्रनिषेधति। ध्यान रहे कि 'सात्पदाद्यो' (१२४१) सूत्र पद के आदि मे सकार को षकार करने का निषेध करता था (यथा—मधु सिञ्चति, दधि सिञ्चति) अत 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) से षत्व नहीं हो सकता था इसलिये विशेषसूत्र बनाना पडा।

[लघु०] एवम्—चितीं सञ्ज्ञाने ॥४॥ शुच शोके ॥५॥

अर्थ—इसी प्रकार 'चितीं (चित्)=होश में आना' तथा 'शुच्=शोक करना' धातुओं के रूप होते हैं।

व्याख्या—चितीं धातु में ईकार अनुनासिक है, इस की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है और तब 'तस्य लोप' (३) से लोप होकर 'चित्' मात्र धातु रह जाती है। ईकार के इत् करने का प्रयोजन 'श्वीदितो निष्ठायाम्' (७ २ १४) सूत्र द्वारा निष्ठा में इट् आगम का निषेध करना है। अत चित् धातु का निष्ठा में 'चित्त, चित्तवान्' बनता है। इसकी लकारों मे सम्पूर्ण प्रक्रिया पिष् धातु के समान होती है। रूपमाला यथा—लँट्—चेतति, चेतत, चेतन्ति। लिँट्—चिचेत, चिचितुः, चिचितुः। चिचेतिथ, चिचितथुः, चिचित। चिचेत, चिचितिव, चिचितिम। लुँट्—चेतिता, चेतितारौ, चेतितार। लृँट्—चेतिष्यति, चेतिष्यत, चेतिष्यन्ति। लोँट्—चेततु-चेतताम्, चेतताम्, चेतन्तु। लँङ्—अचेतत्, अचेतताम्, अचेतन्। विधिलिँङ्—चेतेत्, चेतेताम्, चेतेयुः। आ० लिँङ्—चित्यात्, चित्यास्ताम्, चित्यासुः। लुँङ्—अचेतीत्, अचेतिष्टाम्, अचेतिषुः। अचेतीः, अचेतिष्टम्, अचेतिष्ट। अचेतिषम्, अचेतिष्व, अचेतिष्म। लृँङ्—अचेतिष्यत्, अचेतिष्यताम्, अचेतिष्यन्।

शुच् धातु की रूपमाला भी इसी तरह बनती है—लँट्—शोचति, शोचतः, शोचन्ति। लिँट्—शुशोच, शुशुचतुः, शुशुचुः। शुशोचिथ, शुशुचथुः, शुशुच। शुशोच, शुशुचिव, शुशुचिम। लुँट्—शोचिता, शोचितारौ, शोचितार। लृँट्—शोचिष्यति, शोचिष्यतः, शोचिष्यन्ति। लोँट्—शोचतु-शोचतात्, शोचताम्, शोचन्तु। लँङ्—अशोचत्, अशोचताम्, अशोचन्। विधिलिँङ्—शोचेत्, शोचेताम्, शोचेयुः। आ०लिँङ्—शुच्यात्, शुच्यास्ताम्, शुच्यासुः। लुँङ्—अशोचीत्, अशोचिष्टाम्, अशोचिषुः। अशोचीः, अशोचिष्टम्, अशोचिष्ट। अशोचिषम् अशोचिष्व, अशोचिष्म। लृँङ्—अशोचिष्यत्, अशोचिष्यताम्, अशोचिष्यन्।

इसी प्रकार—बुध अवगमने (जानना)। रूपमाला यथा—लँट्—बोधति। लिँट्—बुबोध, बुबुधतुः, बुबुधुः। लुँट्—बोधिता। लृँट्—बोधिष्यति। लोँट्—बोधतु-बोधतात्। लँङ्—अबोधत्। वि० लिँङ्—बोधेत्। आ० लिँङ्—बुध्यात्। लुँङ्—अबोधीत्। लृँङ्—अबोधिष्यत।

[लघु०] गद व्यक्तायां वाचि ॥६॥ गदति ॥

अर्थः—गद् धातु व्यक्त वाणी बोलने में प्रयुक्त होती है[1] ।

व्याख्या—मनुष्यों की वाणी व्यक्त वाणी कहलाती है अतः मनुष्यों के बोलने में गद् धातु का प्रयोग होता है ।

लँट् की प्रक्रिया में कोई विशेष कार्य नहीं होता, सर्वत्र शप् हो जाता है—गदति, गदतः, गदन्ति ।

गद् धातु के साथ यदि 'प्र' और 'नि' उपसर्गों का योग किया जाये तो 'प्र+नि+गदति' इस अवस्था में 'नि' के नकार को णकार करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है[2]—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४५३) नेर्गद-नद-पत-पद-घु-मा-स्यति-हन्ति-याति-वाति-द्राति-प्साति-वपति-वहति-शाम्यति-चिनोति-देग्धिषु च ।८।४।१७॥

उपसर्गस्थाद् निमित्तात्परस्य नेर्नस्य णो गदादिषु परेषु । प्रणिगदति ॥

अर्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त[3] से परे नि के नकार को णकार आदेश होता है गद्, नद्, पत्, पद्, घुसञ्ज्ञक धातु, मा, पो, हन्, या, वा, द्रा, प्सा, वप्, वह्, शम्, चि, अथवा दिह् धातु परे हो तो ।

---

१. गद (रोग), गद्य (पद्यातिरिक्त लेख), गदा आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं । यह धातु लोक में अत्यन्त प्रचलित है—भूपालसिंहं निजगाद सिंहः—रघु०; रावणस्तं जगाद—भट्टि०; शमाय शास्त्रं जगतो जगाद—न्यायवार्त्तिकारम्भे ।

२. 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' (१३८) सूत्र से ही णत्व हो जायेगा । अग्रिम 'नेर्गद०' (४५३) सूत्र की आवश्यकता ही क्या ? यहां ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये । क्योंकि वह सूत्र समानपद अर्थात् अखण्डपद में ही णत्व का विधान करता है भिन्न भिन्न पदों में नहीं । यथा—'रामनाम, रघुनाथः, पुरुषनाथः' आदियों में णत्व नहीं होता । यह सब पीछे उसी सूत्र (१३८) पर स्पष्ट कर चुके हैं । यहां पर 'प्र+नि+गदति' में तीन पृथक् पृथक् पद हैं । पहले दो पद अव्यय हैं, इन से परे सुँविभक्ति का 'अव्ययादाप्सुँपः' (३७२) से लुक् हुआ है । अतः उस सूत्र से यहां णत्व प्राप्त नहीं था इसलिये अग्रिमसूत्र आवश्यक है ।

३. णत्व करने में र् ष् ही निमित्त हुआ करते हैं (देखो—'रषाभ्यां नो णः समानपदे' २६७) । अतः निमित्त का अभिप्राय यहां र् ष् से ही है । रेफ और षकार में भी यहां रेफ के ही उदाहरण मिलते हैं षकार के नहीं ।

व्याख्या—यहा पर 'रषाभ्यां नो ण समानपदे' सूत्र से 'रषाभ्या नो ण' इन तीन पदों का अनुवर्त्तन होता है। उपसर्गात् ।५।१। ('उपसर्गादसमासेऽपि०' से) रषाभ्याम् ।५।२। ने ।६।१। न ।६।१। ण ।१।१। गद—देग्धिषु ।७।३। च इत्यव्ययपदम्। 'उपसर्गाद् रषाभ्याम्' का अभेदान्वय होने से 'उपसर्गस्थाभ्या रषाभ्याम्' ऐसा अर्थ हो जाता है। अर्थ.—(उपसर्गात्=उपसर्गस्थाभ्याम्) उपसर्ग में स्थित रेफ या षकार से परे (ने) नि के (न) न् के स्थान पर (ण) ण् आदेश हो जाता है (गद—देग्धिषु) गद्, नद्, पत्, पद्, घुसञ्ज्ञक, मा, पो, हन्, या, वा, द्रा, प्सा, वप्, वह्, शम्, चि, दिह्—इन मे से कोई एक धातु परे हो तो। तात्पर्य यह है कि उपसर्गस्थ रेफ से परे नि हो और उस से परे गद् नद् आदि धातु हों तो नि के नकार को णकार आदेश हो जाता है। यथा—प्र+नि+गदति=प्रणिगदति। प्र++नि+नदति=प्रणिनदति। गद् आदि धातु निम्न प्रकार से जानने चाहियें—

(१) गद व्यक्तायां वाचि (स्पष्ट बोलना)। प्रणिगदति।
(२) णद अव्यक्ते शब्दे (अस्पष्ट शब्द करना, भ्वा० परस्मै०)। प्रणिनदति।
(३) पत्लृ गतौ (गिरना, भ्वा० परस्मै०)। प्रणिपतति। तद्विद्धि प्रणिपातेन (गीता)।
(४) पदं गतौ (चलना, दिवा० आत्मने०)। प्रणिपद्यते।
(५) घुसञ्ज्ञक धातु[1]। प्रणिददाति। प्रणिदधाति।
(६) माङ् माने शब्दे च (मापना व शब्द करना, जुहो० आत्मने०)। प्रणिमिमीते।
माङ् माने (मापना, दिवा० आत्मने०)। प्रणिमायते।
मेङ् प्रणिदाने (विनिमय या प्रत्यर्पण करना भ्वा० आत्मने०) प्रणिमयते।
(७) यो अन्तकर्मणि (नाश करना, दिवा० परस्मै०)। प्रणिष्यति[2]।
(८) हन हिंसा गत्यो (मारना व गमन करना, अदा० परस्मै०)। प्रणिहन्ति।
(९) या प्रापणे (जाना, अदा० परस्मै०)। प्रणियाति।
(१०) वा गति गन्धनयो (हवा का बहना आदि, अदा० परस्मै०)। प्रणिवाति।
(११) द्रा कुत्सायां गतौ (भागना या सोना, अदा० परस्मै०)। प्रणिद्राति।
(१२) प्सा भक्षणे (खाना, अदा० परस्मै०)। प्रणिप्साति।
(१३) टुवपं बीजसन्ताने (बीज बोना, काटना, भ्वा० उभय०)। प्रणिवपति-ते।
(१४) वहं प्रापणे (ले जाना, भ्वा० उभय०)। प्रणिवहति।

---

१ दा और धा रूप वाले धातु घुसञ्ज्ञक कहलाते हैं—इन का विवेचन 'दाधा घ्वदाप्' (६२३) सूत्र पर देखें।
२. यहा 'उपसर्गात् सुनोति०' (८।३।६५) सूत्र से षत्व होता है।

(१५) शमुं उपशमे (शान्त होना, दिवा० परस्मै०)। प्रणिशाम्यति।

(१६) चिञ् चयने (चुनना, स्वा० उभय०)। प्रणिचिनोति।

(१७) दिहं उपचये (लेपना, अदा० उभय०)। प्रणिदेग्धि।

गद् आदियों में पहली चार धातुओं का निर्देश शप् अनुबन्ध लगा कर किया गया है तथा स्यति आदि ग्यारह धातुओं का श्तिप् से। जिस कार्य का शप् अथवा श्तिप् से निर्देश किया जाता है वह कार्य यङ्लुक् में नहीं हुआ करता[1]। अतः इन धातुओं में यह णत्व यङ्लुक् प्रक्रिया में नही होगा। यथा—प्रनिजागदीति, प्रनिनानदीति, प्रनिजङ्घनीति इत्यादियों में णत्व नहीं होना। ध्यान रहे कि यह णत्व अडागम के व्यवधान में भी प्रवृत्त होता है। यथा—प्रण्यवाप्सोत्, प्रण्यगदत् आदि।

लिँट्—गद् धातु से लिँट्, प्रथमपुरुष के एकवचन की विवक्षा में तिप्, णल्, 'लिँटि धातोरनभ्यासस्य' (३९४) से द्वित्व, तथा हलादिशेष होकर—ग+गद्+अ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४५४) कुहोश्चुः ।७।४।६२।।

अभ्यासकवर्गहकारयोश्चवर्गादेशः ।।

अर्थः—अभ्यास के कवर्ग और हकार के स्थान पर चवर्ग आदेश हो।

व्याख्या—कुहोः ।६।२। चुः ।१।१। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। कुश्च ह् च कुहौ, तयोः—कुहोः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(अभ्यासस्य) अभ्यास के (कुहोः) कवर्ग और हकार के स्थान पर (चुः) चवर्ग आदेश होता है।

यहां पर स्थानी छः तथा आदेश पांच हैं अतः यथासङ्ख्यपरिभाषा का आश्रय नहीं लिया जा सकता, 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से ही व्यवस्था की जायेगी। स्थानियों (कवर्ग, हकार) का स्थान कण्ठ तथा आदेशों (चवर्ग) का स्थान तालु है अतः स्थानकृत आन्तर्य से काम नहीं चल सकता। स्थानियों में हकार का आभ्यन्तरयत्न ईषद्विवृत तथा अन्यों का स्पृष्ट है अतः उस का आश्रय भी नहीं लिया जा सकता। इस प्रकार पारिशेष्यात् यहां बाह्यप्रयत्न के द्वारा ही निश्चय किया जाता है। तथाहि—

क् का बाह्यप्रयत्न—विवार, श्वास, अघोष तथा महाप्राण है। अतः उस के स्थान पर चवर्गों में वैसा चकार ही आदेश होगा। यथा (कृ)—चकार, (कम्)—चकमे।

ख् का बाह्यप्रयत्न—विवार, श्वास, अघोष तथा महाप्राण है। अतः उस के स्थान पर चवर्गों में से वैसा छकार ही आदेश होगा। बाद में छकार को 'अभ्यासे

---

१. श्तिपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च।
यत्रैकाजग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि ।।

चर्च' (३९९) से चकार हो जायेगा। यथा (खन्)—छखान=चखान, (खाद्)—छखाद=चखाद।

ग् का बाह्यप्रत्न—सवार, नाद, घोष तथा अल्पप्राण है। अत उस के स्थान पर चवर्गों में से वैसा जकार ही आदेश होगा। यद्यपि जकार भी वैसा ही है तथापि निरनुनासिक ग् के स्थान पर निरनुनासिक जकार करना ही उचित है। यथा (गम्)—जगाम, (गुप्)—जुगोप, (ग्रह्)—जग्राह।

घ् का बाह्यप्रत्न—सवार, नाद, घोष तथा महाप्राण है। अत उसके स्थान पर चवर्गों में से वैसा झकार ही आदेश होगा। बाद मे उस झकार को भी 'अभ्यासे चर्च'(३९९) से जकार हो जायेगा। यथा (घट्)—झघटे=जघटे, (घुट्)—झुघुटे=जुघुटे, (घ्रा)—झघ्रौ=जघ्रौ।

ङ् का बाह्यप्रत्न—सवार, नाद, घोष तथा अल्पप्राण है। अत उस के स्थान पर चवर्गों में तादृश जकार ही आदेश होगा। यहा यद्यपि ग् का भी बाह्यप्रत्न तुल्य है तथापि ङकार के अनुनासिक होने से उसे वैसा अनुनासिक जकार ही किया जायेगा। यथा (ङुन्)—अुङुवे।

ह् का बाह्यप्रत्न—सवार, नाद, घोष तथा महाप्राण है। अत उसके स्थान पर चवर्गों में वैसा झकार ही आदेश होगा। बाद मे उस झकार को भी 'अभ्यासे चर्च' (३९९) से जकार हो जायेगा। यथा (हन्)—झघान=जघान, (हृ)—झहार=जहार। इन सब की तालिका यथा—

| स्थानी | आदेश | साम्य का कारण | उदाहरण |
|---|---|---|---|
| क् | च् | विवार, श्वास, अघोष, अल्पप्राण | कृ—चकार |
| ख् | छ् (च्) | ,, ,, ,, महाप्राण | खन्—चखान |
| ग् | ज् | सवार, नाद, घोष, अल्पप्राण | गम्—जगाम |
| घ् | झ् (ज्) | ,, ,, ,, महाप्राण | घुट्—जुघुटे |
| ङ् | ञ् | ,, ,, ,, अल्पप्राण | ङु—अुङुवे |
| ह् | झ् (ज्) | ,, ,, ,, महाप्राण | हृ—जहार |

'ग+गद्+अ' इस अवस्था में प्रकृतसूत्र द्वारा अभ्यास के कवर्ग- गकार को चवर्ग-जकार हो जाने पर 'ज+गद्+अ' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४५५) अत उपधायाः ।७।२।११६॥

उपधाया अतो वृद्धिः स्याद् ञिति णिति च प्रत्यये परे। जगाद, जगदतुः, जगदुः। जगदिथ, जगदथुः, जगद ॥

अर्थः—ञित् या णित् प्रत्यय परे होने पर उपधा अत् के स्थान पर वृद्धि हो।

व्याख्या—अतः ।६।१। उपधायाः ।६।१। वृद्धिः ।१।१। ('मृजेर्वृद्धिः' से) ञ्णिति ।७।१। ('अचो ञ्णिति' से)। ञ् च ण् च ञ्णौ, ञ्णौ इतौ यस्य स ञ्णित्, तस्मिन् ञ्णिति, ञिति णिति चेत्यर्थः। 'अङ्गस्य' का अधिकार होने से 'प्रत्यये' पद उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(उपधायाः, अतः) उपधाभूत अत् के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि हो (ञ्णिति) ञित् या णित् प्रत्यय परे हो तो। 'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' (१७६) के अनुसार अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण उपधासञ्ज्ञक होता है। अत् के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) परिभाषा के अनुसार आकार ही वृद्धि होगी।

ञित् में उदाहरण यथा—(पच्) पाकः, (त्यज्) त्यागः, (यज्) यागः। यहां सर्वत्र भाव में घञ् प्रत्यय हुआ है। णित् में उदाहरण यथा—पाचकः, पाठकः। यहां ण्वुल् प्रत्यय किया गया है।

अत इति किम्? भेदकः, छेदकः। यहां णित् (ण्वुल्) परे होने पर भी उपधाभूत इकार को वृद्धि नहीं होती। उपधाया इति किम्? तक्षकः। यहां तक्ष् धातु में उपधा ककार है अकार नहीं, अतः वृद्धि नहीं होती।

'ज+गद्+अ' यहां णल्-णित् के परे रहते उपधाभूत अत् को प्रकृतसूत्र से वृद्धि-आकार करने पर 'जगाद' प्रयोग सिद्ध होता है। प्रथमपु० के द्विवचन और बहुवचन में—जगदतुः, जगदुः। कोई विशेष कार्य नहीं होता। थल् में इट् का आगम विशेष है—जगदिथ। द्विवचन और बहुवचन में पूर्ववत्—जगदथुः, जगद।

उत्तमपु० के एकवचन में मिप्, णल्, द्वित्व तथा अभ्यासकार्य होकर 'जगद्+अ' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(४५६) णलुत्तमो वा ।७।१।९१॥

उत्तमो णल् वा णित् स्यात्। जगाद, जगद। जगदिव, जगदिम। गदिता। गदिष्यति। गदतु। अगदत्। गदेत्। गद्यात् ॥

अर्थः—उत्तमपुरुष का णल् विकल्प से णित् हो।

व्याख्या—णल् ।१।१। उत्तमः ।१।१। वा इत्यव्ययपदम्। णित् ।१।१। ('गोतो णित्' से)। अर्थः—(उत्तमः) उत्तमपुरुष वाला (णल्) णल् (वा) विकल्प से (णित्)

णित् हो। यह सूत्र अष्टाध्यायी के कार्यातिदेश प्रकरण मे पढ़ा गया है अत इसका यह अभिप्राय नहीं कि उत्तमपु० के णल् के णकार की इत्सञ्ज्ञा विकल्प से हो। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि इसे णित्कार्य विकल्प से हो। णित् परे होने पर 'अत उपधाया' (४५५) से उपधावृद्धि हुआ करती है तो इस के परे होने पर वह विकल्प से होगी।

'जगद्+अ' इस स्थिति में णल् के णित्वपक्ष मे 'अत उपधाया' (४५५) से उपधाभूत अत् को वृद्धि आकार होकर 'जगाद' रूप बनेगा और णित्व के अभाव मे 'जगद'। इस प्रकार उत्तमपु० के णल् मे 'जगाद, जगद' ये दो रूप बनेंगे। द्विवचन और बहुवचन में इट् का आगम होकर—जगदिव, जगदिम। लिट् में रूपमाला यथा—जगाद,जगदतु, जगदु। जगदिथ, जगदथु, जगद। जगाद-जगद, जगदिव, जगदिम।

लुट्—गदिता, गदितारौ, गदितार.। लृट्—गदिष्यति, गदिष्यत, गदिष्यन्ति। लोट्—गदतु गदतात्, गदताम्, गदन्तु। लङ्—अगदत्, अगदताम, अगदन्। वि० लिङ्—गदेत्, गदेताम्, गदेयु। आ० लिङ्—गदात्, गदास्ताम् गदासु।

लुङ्—गद् धातु से लुङ्, तिप्, इकारलोप, च्लि, सिच् इट् और ईट् के आगम तथा अङ्ग को अट् का आगम करने पर—'अगद्+इस्+ईत्' इस स्थिति मे अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है[1]—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(४५७) अतो हलादेर्लघो ।७।२।७।।

हलादेर्लघोरकारस्य वृद्धिर्वा इडादौ परस्मैपदे सिचि। अगादीत्, अगदीत्। अगदिष्यत्॥

अर्थ—हलादि अङ्ग के लघु अकार के स्थान पर विकल्प से वृद्धि होती है, परस्मैपदपरक इडादि सिच् प्रत्यय परे हो तो।

व्याख्या—अत ।६।१। हलादे ।६।१। लघो ।६।१। इटि ।७।१। ('नेटि' से)। सिचि ।७।१। वृद्धि ।१।१। परस्मैपदेषु ।७।३। ('सिचि वृद्धि परस्मैपदेषु' से)। विभाषा ।१।१। ('ऊर्णोतेर्विभाषा' से)। अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है)। अर्थ— (हलादे) हलादि (अङ्गस्य) अङ्ग के (लघो) लघु (अत) अकार के स्थान पर (वा) विकल्प से (वृद्धि) वृद्धि हो। कब ? (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्ययों के परे होने पर (इटि= इडादौ, सिचि) जो इडादि सिच्, उसके परे रहते। तात्पर्य यह है कि हलादि अङ्ग से परे इडादि सिच् और उस से परे परस्मैपद प्रत्यय हो तो उस हलादि अङ्ग के लघु अकार को विकल्प से वृद्धि होती है। उदाहरण यथा—

'अगद्+इस्+ईत्' यहा पर सिच् प्रत्यय को मान कर हलादि अङ्ग है—

---

१. वस्तुत पहले 'यदप्रत्ययः' (४६५) से हलन्तलक्षणा वृद्धि प्राप्त होती है, उस का 'नेटि' (४७१) से निषेध हो जाता है। तब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।

गद्[1], उससे परे 'इस्' यह इडादि सिँच् विद्यमान है, उससे परे भी 'ईत्' यह परस्मैपद मौजूद है अतः प्रकृतसूत्र से अङ्ग के गकारोत्तर अकार को विकल्प से आकार वृद्धि हो कर वृद्धिपक्ष में 'अगादीत्' और वृद्ध्यभाव मे 'अगदीत्' दो रूप सिद्ध होते हैं।

सूत्र में यदि केवल 'लघोः' ही कहते 'अतः' न कहते तो 'असेधीत्, अशोचीत्' आदि रूपो मे इकार उकार को भी वृद्धि प्राप्त होने लगती जो अनिष्ट थी। यदि 'लघोः' का ग्रहण न कर केवल 'अतः' ही का ग्रहण करते तो 'अरक्षीत्, अजल्पीत्, अतक्षीत्' आदियो मे—जहां अत् (ह्रस्व अकार) तो है पर लघु नहीं—दोष प्राप्त होता। इसलिये 'अतः' और 'लघोः' दोनों का ग्रहण आवश्यक है।

इस सूत्र मे 'इडादौ सिँचि' यह विशेषण अङ्ग का नहीं अपितु 'लघोरतः' का है अतः 'येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि' (देखो सूत्र ४५१) इस परिभाषा के द्वारा इडादि सिँच् परे होने पर केवल एक वर्ण का व्यवधान ही क्षन्तव्य है अनेक वर्णों का नहीं। इस प्रकार 'अचकासीत्' आदि मे चकारोत्तर अकार को वृद्धि नहीं होती[2]।

सिँच् प्रत्यय यदि इडादि न होगा तो वृद्धि का यह विकल्प भी प्रवृत्त न होगा। यथा—अपाक्षीत्, अयाक्षीत् आदियो मे इसकी प्रवृत्ति न होकर 'वदव्रज०' (४६५) से नित्य वृद्धि हो जाती है।

यदि सिँच् से परस्मैपद प्रत्यय परे न होंगे तो भी प्रकृतसूत्र से विकल्प न होगा। यथा—अयनिष्ट। यहा इडादि सिँच् तो है पर इससे परे परस्मैपद नही आत्मनेपद है, अतः वृद्धि नही होती।

लुँङ् मे गद् धातु की रूपमाला यथा—(वृद्धिपक्षे) अगादीत्, अगादिष्टाम्, अगादिषुः। अगादीः, अगादिष्टम्, अगादिष्ट। अगादिषम्, अगादिष्व, अगादिष्म। (वृद्धेरभावे) अगदीत्, अगदिष्टाम्, अगदिषुः। अगदीः, अगदिष्टम्, अगदिष्ट। अगदिषम्, अगदिष्व, अगदिष्म।

लृँङ्—अगदिष्यत्, अगदिष्यताम्, अगदिष्यन्।

[लघु०] णद अव्यक्ते शब्दे ॥७॥

अर्थ.—णद् (नद्) धातु 'अव्यक्त शब्द करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[3]।

व्याख्या—पशु-पक्षियों का या मेघ आदियों का शब्द मनुष्य की समझ से परे का

---

१. यहां पर अट् का आगम हो जाने पर भी अङ्ग अजादि नही होता। क्योंकि अट् का आगम लुँङ्परक अङ्ग का अवयव बनता है न कि सिँच्परक अङ्ग का, सिँच्परक अङ्ग तो हलादि ही रहता है।

२. इस प्रकार मानने से 'अरक्षीत्, अतक्षीत्' आदि मे भी कोई दोष नहीं आयेगा। अतः 'लघोः' का ग्रहण विस्पष्टार्थ ही मानना चाहिये।

३. इसी धातु से ही नद, नदी, नाद, निनाद आदि शब्द सिद्ध होते है।

होता है अत इसे अव्यक्त शब्द कहते हैं। णकारादि धातुओं के आदि णकार को नकार आदेश करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(४५८) णो न ।६।१।६३॥

धात्वादेर्णस्य न ॥

अर्थ—धातु के आदि णकार को नकार आदेश हो।

व्याख्या—धात्वादे ।६।१। ('धात्वादे ष स' से)। ण ।६।१। न ।१।१। नकारादकार उच्चारणार्थ। धातोरादि धात्वादि, तस्य धात्वादे। षष्ठीतत्पुरुष। अर्थ—(धात्वादे) धातु के आदि वाले (ण) ण् के स्थान पर (न) न् आदेश होता है। यथा—'णम्' धातु का 'नम्' बन कर 'नमति, नमत, नमन्ति' प्रयोग बनते हैं। इसी प्रकार 'णीञ्' का 'नीञ्' बनकर 'नयति, नयत, नयन्ति' आदि[1]। इस तरह सब णकारादि धातुए नकारादि बन जाती हैं। णोपदेश करने का फल अग्रिमसूत्र में बतलायेंगे।

यद्यपि धातुपाठ में णोपदेश और नोपदेश धातुओं का ज्ञान सुतरा हो सकता है तथापि यहा यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रयोगदशा में तो दोनों के एक से रूप बनते है अत यह कैसे पता चले कि अमुक धातु णोपदेश है या नोपदेश? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये परिगणन करते हैं—

[लघु०] णोपदेशास्तु अनर्द-नाटि-नाथ्-नाध्-नन्द नक्क नॄ-नृत ॥

अर्थ—नर्द्, नाटि, नाथ्, नाध्, नन्द्, नक्क्, नॄ और नृत् इन आठ धातुओं को छोडकर शेष सब धातु णोपदेश हैं।

व्याख्या—प्रयोग मे जो धातु नकारादि उपलब्ध होते हैं उनमे केवल आठ धातु ही नोपदेश हैं शेष सब णोपदेश। वे आठ धातु ये हैं—(१) नर्द शब्दे (शब्द करना) भ्वा० परस्मै०, (२) नट अवस्यन्दने (नाट्य करना) चुरा० उभय०, (३-४) नाथृ नाधृ याच्ञादौ (मागना आदि) भ्वा० आत्मने०, (५) ष्णदिँ समृद्धौ (समृद्ध होना) भ्वा० परस्मै०, (६) नक्क नाशने (नाश करना) चुरा० उभय०, (७) नॄ नये (ले जाना) क्रया० परस्मै०, (८) नृतीँ गात्रविक्षेपे (नाचना) दिवा० परस्मै०।

अब अग्रिमसूत्र मे णोपदेश का फल दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४५९) उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य ।८।४।१४॥

---

१. ध्यान रहे कि धातु के आदि मे स्थित होने पर ही णकार को नकारादेश होता है अन्यथा नहीं, अत एव (भण्) भणति, (कवण्) कवणति, (अण्) अणति

उपसर्गस्थाद् निमित्तात् परस्य णोपदेशस्य धातोर्नस्य णः । प्रणदति । प्रणिनदति । ननाद ॥

अर्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त (र्, ष्) से परे णोपदेश धातु के नकार को णकार आदेश हो ।

व्याख्या—उपसर्गात् ।५।१। असमासे ।७।१। अपि इत्यव्ययपदम् । णोपदेशस्य ।६।१। रषाभ्याम् ।५।२। नः ।६।१। णः ।१।१। ('रषाभ्यां नो णः०' से) । णः (णकारः) उपदेशे यस्य स णोपदेशः (धातुः), तस्य=णोपदेशस्य । बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(उपसर्गात्=उपसर्गस्थाभ्याम्) उपसर्ग में स्थित (रषाभ्याम्) रेफ या षकार से परे (णोपदेशस्य) णोपदेश धातु के (नः) न् के स्थान पर (णः) ण् आदेश होता है (असमासेऽपि) समास और असमास दोनों स्थानों में[1] ।

उदाहरण यथा—प्र+नमति=प्रणमति । प्र+नयति=प्रणयति । परि+नमति=परिणमति । परि+नयति=परिणयति । इन स्थानों पर असमास में णत्व हो जाता है । प्र+नायकः=प्रणायकः, प्र+नेता=प्रणेता, परि+नायकः=परिणायकः । इन स्थानों पर 'कुगतिप्रादयः' (६४६) सूत्र के समास में भी णत्व हो जाता है । ध्यान रहे कि यदि धातु णोपदेश न होगी तो समास असमास किसी भी दशा में णत्व न होगा । यथा—प्र+नर्दति=प्रनर्दति । प्रनर्दकः । 'उपसर्ग से परे' इसलिये कहा है कि—प्रगतो नायकोऽस्माद् इति प्रनायको देशः, यहां बहुव्रीहिसमास में 'प्र' की 'नी' के प्रति उपसर्गसञ्ज्ञा नही अपितु गम् के प्रति है अतः इससे परे न् को ण् नही होता[2] ।

प्रकृत में नद् धातु से लँट्, तिप्, शप् होकर अनुबन्धलोप करने से 'नदति' रूप बनता है । 'प्र+नदति' यहां उपसर्गस्थ निमित्त रेफ से परे णोपदेश नद् धातु के नकार को प्रकृतसूत्र से णकार आदेश होकर 'प्रणदति' प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि निमित्त (र्) और न् के बीच में 'अ' का व्यवधान होने पर भी यहां णत्व करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती; इसका कारण यह है कि वह अवाञ्छित व्यवधान नहीं । णत्वविधि में अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् का व्यवधान वाञ्छित तथा अन्य वर्णों का व्यवधान अवाञ्छित माना गया है । देखें—अट्कुप्वाङ्० (१३८) ।

---

आदियों में णकार को नकारादेश नहीं होता ।

१. अष्टाध्यायी में पीछे 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' (८.४.३) सूत्र से 'पूर्वपदात्' का अधिकार चला आ रहा था, अतः यदि यहां 'असमासेऽपि' न कहते तो यह सूत्र केवल समास में ही प्रवृत्त होता ।

२. 'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इस वार्त्तिक से बहुव्रीहि-समास में यहां 'प्रगत' शब्द के 'गत' का लोप हो जाता है ।

'प्र+नि+नदति' यहा पर 'नेर्गदनदपत०' (४५३) सूत्र से नद् के परे रहते उपसर्गस्थ रेफ से परे 'नि' के नकार को णकार आदेश हो जाता है—प्रणिनदति। अब 'उपसर्गादसमासेऽपि०' सूत्र से नद् के नकार को णकार आदेश नहीं होता कारण कि बीच में अवाञ्छित वर्ण 'ण्' पडा हुआ है।

लिट् प्रथमपु० के एकवचन की विवक्षा मे तिप्, णल्, अनुबन्धलोप, द्वित्व तथा अभ्यासकार्य होकर 'न+नद्+अ' इस स्थिति मे 'अत उपधाया' (४५५) से उपधा के अत् को आकार वृद्धि करने से 'ननाद' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्विवचन की विवक्षा मे तस्, अतुस्, द्वित्व तथा हलादिशेष होकर 'न+नद्+अतुस्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४६०) अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ।६।४।१२०॥

लिंण्निमित्तादेशादिकं न भवति यदङ्गम, तस्याऽवयवस्य असयुक्त-हल्मध्यस्यस्याऽत एत्वम् अभ्यासलोपश्च किति लिटि। नेदतु। नेदु॥

अर्थ—लिट् को निमित्त मान कर जिस अङ्ग के आदि मे कोई आदेश नही हुआ उस अङ्ग के, असयुक्त हलो के मध्य में स्थित अत् के स्थान पर एकार आदेश हो जाता है और साथ ही अभ्यास का लोप भी हो जाता है कित् लिट् परे हो तो।

व्याख्या—अत ।६।१। एकहल्मध्ये ।७।१। अनादेशादे ।६।१। लिटि ।७।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। एत् ।१।१। अभ्यासलोप ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। ('ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' से)। किति ।७।१। ('गमहन०' से)। नास्ति आदेश आदिर्यस्य तद् अनादेशादि (अङ्गम्), तस्य। बहुव्रीहिसमास। एकश्चोहलौमध्ये=एक-हल्मध्ये', षष्ठीतत्पुरुष। यहा 'लिटि' पद की आवृत्ति की जाती है। एक 'लिटि' पद मे निमित्तसप्तमी मानकर उसका सम्बन्ध 'अनादेशादे' पद के 'आदेश' अश के साथ कर लिया जाता है। दूसरे 'लिटि' पद मे परसप्तमी मानकर 'किति लिटि' (कित् लिट् परे होने पर) इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। अर्थ—(लिटि) लिट् को मान कर (अनादेशादे) जिसके आदि में कोई आदेश न हुआ हो ऐसे (अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव, (एकहल्मध्ये) असयुक्त हलों के मध्य में रहने वाले (अत) अत् के स्थान पर (एत्) एकार आदेश हो जाता है (च) तथा (अभ्यासलोप) अभ्यास का लोप भी हो जाता है (किति लिटि) कित् लिट् परे होने पर।

---

१ अत्र एकशब्दोऽसहायवचन। एकश्च एकश्च एकौ, एकौ च तौ हलौ चेत्येकहलौ, एकहलोर्मध्य इति द्विवचनान्तस्य षष्ठीसमास। द्वयोरेव हलोर्मध्य सम्भवति नैकस्य (न्यासे)।

इस सूत्र को समझाने के लिये हम इस की खण्डशः व्याख्या करते हैं—

(क) 'अङ्गस्य अत एत्वम् अभ्यासलोपश्च किति लिटि'—यह सीधा वाक्य है। अङ्ग के अवयव अत् (ह्रस्व अकार) के स्थान पर एकार आदेश हो जाता है और साथ ही अभ्यास का लोप भी हो जाता है कित् लिट् परे हो तो। यथा—'न+नद्+अतुस्' यहां 'अतुस्' की 'असंयोगाल्लिट् कित्' (४५२) से कित्सञ्ज्ञा है अतः कित् लिट् के परे होने पर 'न+नद्' इस अङ्ग के द्वितीयनकारोत्तर अत् के स्थान पर एकार आदेश तथा साथ ही अभ्यास (प्रथम 'न') का लोप होकर 'नेद्+अतुस्=नेदतुस्=नेदतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। यदि अत् न होगा तो यह सूत्र प्रवृत्त न होगा; यथा आत्मनेपदी रास् धातु के लिट् में र+रास्+ए='ररासे' प्रयोग बनता है। इसीप्रकार 'सिषिधतुः, सिषिधुः' आदि में इकार को यह आदेश नहीं होता।

(ख) यह कार्य हर एक अत् को नही होता किन्तु 'एकहल्मध्ये' स्थित अत् को ही हुआ करता है। अर्थात् अत् भी ऐसा होना चाहिये जो दोनों ओर से एक एक अर्थात् असंयुक्त हल् से घिरा हुआ हो। 'न+नद्+अतुस्' में ऐसा ही अत् था[1]। परन्तु 'ज+ज्वल्+अतुस्=जज्वलतुः; ज+ज्वर्+अतुस्=जज्वरतुः; त+त्सर्+अतुस्=तत्सरतुः' आदि में अत् में पूर्व संयोग विद्यमान है अतः इसकी प्रवृत्ति नहीं होती।

(ग) अङ्ग भी ऐसा होना चाहिये जिस के आदि में लिट् को मान कर कोई आदेश न हुआ हो। 'ज+गद्+अतुस्=जगदतुः; च+खन्+अतुस्=चखनतुः' आदियों में अङ्ग के आदि में 'कुहोश्चुः' (४५४) द्वारा लिट् को मान कर चवर्गादेश हुआ है[2] अतः इन स्थानों पर एत्व तथा अभ्यासलोप नहीं होता। 'न+नद्+अतुस्'

१. कई टीकाकार 'नद्+नद्+अतुस्' यहां अत् के स्थान पर एकारादेश तथा अभ्यास का लोप किया करते हैं जो अशुद्ध है। क्योंकि तब अत् से पूर्व 'द्न्' का संयोग रहता है। अतः प्रथम 'हलादिः शेषः' (३९६) की प्रवृत्ति करा कर बाद में इस सूत्र की निर्बाध प्रवृत्ति करानी चाहिये।

२. यद्यपि 'कुहोश्चुः' (४५४) सूत्र में यह नहीं कहा गया कि वह लिट् परे होने पर प्रवृत्त होता है तथापि 'अङ्गस्य' (६.४.१) के अधिकार में पठित होने से वह अङ्गकार्य है। बिना प्रत्यय के परे रहते अङ्गसञ्ज्ञा सम्भव नहीं। यहां लिट् के परे रहते अङ्गसञ्ज्ञक में उसकी प्रवृत्ति हो रही है। इस प्रकार यहां लिङ्निमित्तक आदेश माना जाता है। इसी तरह 'अभ्यासे चर्च' (३९९) के जश्त्व चर्त्व आदेश भी लिङ्निमित्तक समझे जाते हैं। ध्यान रहे कि 'अभ्यासे चर्च' (८.४.५३) द्वारा किये गये जश्त्व और चर्त्व इस सूत्र (६.४.१२०) की दृष्टि में असिद्ध नहीं होते अत एव 'तृ-फल-भज-त्रपश्च' (५४२) सूत्र में फल् और भज् धातुओं का ग्रहण किया गया है, अन्यथा उसकी आवश्यकता ही न थी, असिद्धत्वादेव एत्व-अभ्यासलोप हो सकता था।

में 'न+नद्' यह अङ्ग था। इस अङ्ग के आदि मे यद्यपि 'णो न' (४५८) सूत्र से ण् को न् आदेश हो चुका है तथापि वह लिट् को मान कर नही हुआ, वह तो लिट् के आने से पहले ही किया जा चुका था। इसी प्रकार षह् (सह्) धातु के 'स+सह्+ए =सेहे' आदि रूपो के विषय मे भी जान लेना चाहिये[1]।

यहा इस बात का भी ध्यान कर लेना चाहिये कि अङ्ग के आदि मे होने वाला आदेश यदि वैरूप्यसम्पादक नहीं अर्थात स्थानी वर्ण के रूप मे कोई परिवर्तन नहीं लाता तो वहा 'आदेश नही हुआ' ऐसा समझ कर एत्व तथा अभ्यासलोप हो जायेगा। यथा दह् (जलाना) धातु के लिट् में 'द+दह+अतुस' यहा 'अभ्यासे चर्च' (३९९) सूत्र से अभ्यास के दकार को दकार ही आदेश होता है इस से दकार के रूप में कोई परिवर्तन नही आता अत प्रकृतसूत्र से एत्व+अभ्यासलोप हो कर 'देहतु' रूप बन जाता है। इसी प्रकार जप् धातु के 'जेपतु जेपु' आदि रूपो मे भी समझ लेना चाहिये[2]।

लिट् प्रथमपु० के बहुवचन मे झि उस आदेश, द्वित्व तथा हलादिशेष करने पर 'न+नद्+उस्' हुआ। अब 'असयोगाल्लिट् कित' (४५२) से उस कित् है अत कित् लिट् के परे होने पर प्रकृतसूत्र से एत्व तथा अभ्यासलोप हो कर नेद्+उस्='नेदु' प्रयोग सिद्ध होता है।

मध्यमपु० के एकवचन में सिप उसे थल् आदेश, वलादिलक्षण इट का आगम, द्वित्व तथा हलादिशेष करने पर 'न+नद्+इथ' हुआ। अब यहा 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) सूत्र की प्राप्ति नही हो सकती, क्योकि उस की प्रवृत्ति कित् लिट् मे हुआ करती है। यहा पर सिप् के स्थान पर थल आदेश हुआ है सिप कित् था अत स्थानिवद्भाव से थल् भी कित् हुआ। पुन कित् लिट् की 'असयोगाल्लिट् कित्' (४५२)

---

१ 'धात्वादे ष स' (२५५) द्वारा किया गया सकारादेश तथा 'णो न' (४५८) द्वारा किया गया नकारादेश दोनो निर्निमित्तक होने से प्रत्यय के आने से पहले ही हो जाया करते हैं।

२ मुनिवर पाणिनि ने 'न शास-दद-वादि-गुणानाम्' (५४१) सूत्र में शास् और दद् धातुओ को एत्व+अभ्यासलोप का निषेध किया है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन धातुओ में 'अभ्यासे चर्च' (३९९) द्वारा अभ्यास के शकार के स्थान पर शकार तथा अभ्यास के दकार के स्थान पर दकार आदेश होने से अङ्ग अनादेशादि न था। इस प्रकार एत्व+अभ्यासलोप की प्राप्ति स्वत ही रुक सकती थी पुन आचार्य ने निषेध क्यों किया? इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य उसे ही आदेश मानते हैं जो वैरूप्यसम्पादक हो। तात्पर्य यह है कि यदि स्थानी वर्ण वैसे का वैसा अपरिवर्तित रहता है तो आदेश होने पर भी आचार्य अङ्ग को अनादेशादि ही मानते हैं।

से कित्संज्ञा नहीं होती। इस प्रकार कित् लिँट् परे न होने से एत्व+अभ्यासलोप प्राप्त न होता था। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४६१) थलि च सेटि ।६।४।१२१॥

प्रागुक्तं स्यात्। नेदिथ, नेदथुः, नेद। ननाद-ननद, नेदिव, नेदिम। नदिता। नदिष्यति। नदतु। अनदत्। नदेत्। नद्यात्। अनादीत्-अनदीत्। अनदिष्यत्॥

अर्थः—सेट् थल् परे होने पर भी पूर्वोक्त कार्य हो।

व्याख्या—थलि ।७ १। च इत्यव्ययपदम्। सेटि ।७।१। अतः ।६।१। एकहल्मध्ये ।७।१। अनादेशादेः ।६।१। लिँटि ।७।१। ('अत एकहल्मध्ये०' से)। अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है)। एत् ।१।१। अभ्यासलोपः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। ('ध्वसोरेद्धावभ्यास-लोपश्च' से)। इटा सह वर्त्तत इति सेट्, तस्मिन्=सेटि। अर्थः—(लिँटि) लिँट् को मान कर (अनादेशादेः) जिस के आदि में कोई आदेश नहीं हुआ ऐसा जो (अङ्गस्य) अङ्ग, उस के अवयव (एकहल्मध्ये) असंयुक्त हलों के मध्य में स्थित (अतः) अत् के स्थान पर (एत्) एकार आदेश (च) तथा (अभ्यासलोपः) अभ्यास का लोप हो जाता है (सेटि थलि) इट्सहित थल् परे होने पर (च) भी। थल् कित् नहीं अतः पूर्वसूत्र से एत्व तथा अभ्यासलोप प्राप्त न था इस लिये यह सूत्र बनाना पड़ा। ध्यान रहे कि यदि थल् को इट् का आगम न हुआ होगा तो यह सूत्र प्रवृत्त न होगा। यथा—पपक्थ।

'न+नद्+इथ' यहां पर सेट् थल् परे है अतः प्रकृतसूत्र से एत्व तथा अभ्यास का लोप हो कर 'नेदिथ' प्रयोग सिद्ध होता है। मध्यमपु० के द्विवचन और बहुवचन में पूर्वसूत्र की प्रवृत्ति होकर—नेदथुः, नेद।

लिँट् उत्तमपु० के एकवचन में मिप्, णल्, द्वित्व तथा हलादिशेष होकर—न+नद्+अ। 'णलुत्तमो वा' (४५६) से उत्तमपुरुष का णल् विकल्प से णित् माना गया है अतः णित्त्वपक्ष में 'अत उपधायाः' (४५५) से वृद्धि हो जाती है—न+नाद्+अ=ननाद। णित्त्व के अभाव में कित् लिँट् परे न होने के कारण एत्व तथा अभ्यासलोप नहीं होता—न+नद्+अ=ननद। द्विवचन और बहुवचन में वलादिलक्षण इट् का आगम विशेष है। कित् लिँट् परे होने से एत्व तथा अभ्यास का लोप 'अत एकहल्मध्ये०' सूत्र से हो जाता है—नेदिव, नेदिम।

लुँट् आदि में कोई विशेष कार्य नहीं होता। सम्पूर्ण सिद्धि पूर्ववत् होती है।

अनादीत्-अनदीत्—नद् धातु से लुँङ्. तिप्, इकार का लोप, च्लि, सिँच्, अट् का आगम, इट् तथा ईट् का आगम होकर 'अनद्+इस्+ईत्' हुआ। अब 'अतो हलादेर्लघोः' (४५७) सूत्र से नकारोत्तर लघु अकार को विकल्प से वृद्धि-आकार, 'इट्

ईदि' (४४६) से सकार का लोप तथा उसे सिद्धवत् मान कर सवर्णदीर्घ करने से वृद्धिपक्ष में 'अनादीत्' तथा वृद्धि के अभाव में 'अनदीत्' इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं।

नद् धातु की रूपमाला यथा-(लँट्) नदति, नदत, नदन्ति। (लिँट्) ननाद, नेदतु, नेदु। नेदिथ, नेदथु, नेद। ननाद-ननद, नेदिव, नेदिम। (लुँट्) नदिता, नदितारौ, नदितार। (लृँट्) नदिष्यति, नदिष्यत, नदिष्यन्ति। (लोँट्) नदतु-नदतात्, नदताम्, नदन्तु। (लँङ्) अनदत्, अनदताम्, अनदन्। (विधिलिँङ्) नदेत्, नदेताम्, नदेयु। (आ०लिँङ्) नद्यात्, नद्यास्ताम्, नद्यासु। (लुँङ्) वृद्धिपक्षे—अनादीत्, अनादिष्टाम्, अनादिषु। अनादी, अनादिष्टम्, अनादिष्ट। अनादिषम्, अनादिष्व, अनादिष्म। वृद्ध्यभावे—अनदीत्, अनदिष्टाम्, अनदिषु। अनदी, अनदिष्टम्, अनदिष्ट। अनदिषम्, अनदिष्व, अनदिष्म। (लृँङ्) अनदिष्यत्, अनदिष्यताम्, अनदिष्यन्।

इसी प्रकार निम्न धातुओं के रूप चलते हैं—

(१) पठ व्यक्तायां वाचि (पढ़ना)। लँट्—पठति, पठत, पठन्ति। लिँट्—पपाठ, पेठतु, पेठु। पेठिथ, पेठथु, पेठ। पपाठ पपठ, पेठिव, पेठिम। लुँट्—पठिता। लृँट्—पठिष्यति। लोँट्—पठतु-पठतात्। लँङ्—अपठत्। वि०लिँङ्—पठेत्। आ० लिँङ्—पठ्यात्। लुँङ्—अपाठीत्-अपठीत्। लृँङ्—अपठिष्यत।

(२) जप व्यक्तायां वाचि मानसे च (जप करना)। लँट्—जपति। लिँट्—जजाप, जेपतु, जेपु। लुँट्—जपिता। लृँट्—जपिष्यति। लोँट्—जपतु-जपतात्। लँङ्—अजपत्। वि० लिँङ्—जपेत्। आ० लिँङ्—जप्यात्। लुँङ्—अजापीत्-अजपीत्। लृँङ्—अजपिष्यत्।

(३) रद विलेखने (भेदन करना)। लँट्—रदति। लिँट्—ररद, रेदतु, रेदु। लुँट्—रदिता। लृँट्—रदिष्यति। लोँट्—रदतु रदतात्। लँङ्—अरदत्। वि० लिँङ्—रदेत्। आ० लिँङ्—रद्यात्। लुँङ्—अरादीत्-अरदीत्। लृँङ्—अरदिष्यत्।

(४) नट नृत्तौ (नाचना)। लँट्—नटति। लिँट्—ननाट, नेटतु, नेटु। लुँट्—नटिता। लृँट्—नटिष्यति। लोँट्—नटतु-नटतात्। लँङ्—अनटत्। वि० लिँङ्—नटेत्। आ० लिँङ्—नट्यात्। लुँङ्—अनाटीत् अनटीत्। लृँङ्—अनटिष्यत्। प्रणटति।

(५) लप व्यक्तायां वाचि (बोलना)। लँट्—लपति। लिँट्—ललाप, लेपतु, लेपु। लुँट्—लपिता। लृँट्—लपिष्यति। लोँट्—लपतु-लपतात्। लँङ्—अलपत्। वि० लिँङ्—लपेत्। आ० लिँङ्—लप्यात्। लुँङ्—अलापीत्-अलपीत्।

लृँङ्—अलपिष्यत् । आलपति=आलाप करता है, प्रलपति=प्रलाप करता है, विलपति =विलाप करता है, सल्लँपति=संलाप करता है ।

(६) रट परिभाषणे (रटना) । लँट्—रटति । लिँट्—रराट, रेटतुः रेटुः । लुँट्—रटिता । लृँट्—रटिष्यति । लोँट्—रटतु-रटतात् । लँङ्—अरटत् । वि० लिँङ्—रटेत् । आ० लिँङ्—रटयात् । लुँङ्—अराटीत्-अरटीत् । लृँङ्—अरटिष्यत् ।

(७) दल विशरणे (दलना) । लँट्—दलति । लिँट्—ददाल, देलतुः, देलुः । लुँट्—दलिता । लृँट्—दलिष्यति । लोँट्—दलतु-दलतात् । लँङ्—अदलत् । वि० लिँङ्—दलेत् । आ० लिँङ्—दल्यात् । लुँङ्—अदालीत्[1] । लृँङ्—अदलिष्यत् । विदलति=विदीर्ण होता है या फटता है ।

(८) चर गतौ भक्षणे च (जाना, भक्षण करना) । लँट्—चरति । लिँट्—चचार, चेरतुः, चेरुः । लुँट्—चरिता । लृँट्—चरिष्यति । लोँट्—चरतु-चरतात् । लँङ्—अचरत । वि० लिँङ्—चरेत् । आ० लिँङ्—चर्यात् । लुँङ्—अचारीत्[1] । लृँङ्—अचरिष्यत् । आचरति=आचरण करता है; विचरति=घूमता है; प्रचरति=फैलता है; अनुचरति=पीछे चलता है; सञ्चरति=घूमता है ।

[लघु०] टुनदिँ समृद्धौ ॥८॥

अर्थः—टुनदिँ (नन्द्) धातु 'समृद्ध होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—पशु प्रजा आदि से युक्त होना समृद्धि कहाता है । इस धातु के 'टु' की इत्सञ्ज्ञा करने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(४६२) आदिर्ञिटुडवः ।१।३।५॥

उपदेशे धातोराद्या एते इतः स्युः ॥

अर्थः—उपदेश में धातु के आदि में स्थित ञि, टु और डु की इत्सञ्ज्ञा हो ।

व्याख्या—आदिः १।१। ञि-ट्-डवः ।१।३। उपदेशे ।७।१। इत् ।१।१। ('उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से) । 'आदिः' शब्द 'ञि-टु-डवः' का विशेषण है । प्रत्येक के साथ सम्बन्ध अभीष्ट होने से इस में एकवचन का प्रयोग किया गया है । ञिश्च टुश्च डुश्च ञि-टु-डवः । इतरेतरद्वन्द्व । अर्थः—(उपदेशे) उपदेश में (आदिः=आदयः) आदि में स्थित (ञि-टु-डवः) ञि, टु और डु (इत्=इतः) इत्सञ्ज्ञक होते हैं । उपदेश में धातुओं के ही आदि में ञि, टु, डु आया करते हैं अतः ग्रन्थकार ने वृत्ति में 'धातोः' पद का ग्रहण किया है । अथवा 'भूवादयो धातवः' सूत्र से 'धातवः'

---

१. यहां पर 'अतो ल्रान्तस्य' (७.२.२) से नित्य वृद्धि हो जाती है ।

पद की अनुवृत्ति ला कर विभक्ति और वचन का विपरिणाम कर लेना चाहिये।

'ञि' का उदाहरण यथा—ञिमिदा स्नेहने (दिवा० परस्मै०), मिन्न। ञिष्विदा स्नेहनमोचनयो (दिवा० आत्मने०), स्विण्ण। ञिइन्धी दीप्तौ (रुधा० आत्मने०), इद्ध। इन सब में 'ञि' के इत् होने से 'जीत क्त' (३ २ १८७) द्वारा क्तप्रत्यय हो जाता है।

'टु' का उदाहरण यथा—टुओश्वि गतिवृद्धयो (भ्वा० परस्मै०), श्वयथु। टुवेपृ कम्पने (भ्वा० आत्मने०), वेपथु। टुवम उद्गिरणे (भ्वा० परस्मै०), वमथु। इन सब में 'टु' के इत् होने से 'ट्वितोऽथुच्' (८५९) द्वारा अथुच् प्रत्यय हो जाता है।

'डु' का उदाहरण यथा- डुकृञ् करणे (तना० उभय०), कृत्रिमम्। डुषपृ बीजसन्ताने (भ्वा० उभय०), सप्त्रिमम्। डुपचेष् पाके (भ्वा० उभय०), पवित्रमम्। इन सब स्थानो पर 'डु' के इत् होने से 'ड्वित त्रिः' (८५७) द्वारा त्रिप्रत्यय हो कर 'त्रेर्मम् नित्यम्' (८५८) से मप्रत्यय हो जाता है।

ध्यान रहे कि ञि, टु, डु की इत्सञ्ज्ञा होकर 'तस्य लोपः' (३) से सम्पूर्ण समुदाय का ही लोप होता है केवल अन्त्य अल् का नहीं। इस का कारण, 'तस्य लोपः' (३) सूत्र में 'तस्य' का ग्रहण है। यह सब उसी सूत्र पर सविस्तर लिख चुके हैं।

टुनदिँ धातु के आदि मे 'टु' विद्यमान है अत प्रकृतसूत्र से उस की इत्सञ्ज्ञा तथा 'तस्य लोपः' (३) से उस का लोप हो जाता है। अन्त्य इकार की भी 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा होकर लोप हो जाता है। इस प्रकार 'नद्' ही शेष रहता है। इदित् करने का फल अग्रिमसूत्र मे बतलाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४६३) इदितो नुम् धातोः ७।१।५८॥

नन्दति। ननन्द। नन्दिता। नन्दिष्यति। नन्दतु। अनन्दत्। नन्देत्। नन्द्यात्। अनन्दीत्। अनन्दिष्यत्॥

अर्थ—इदित् अर्थात् जिस के ह्रस्व इकार की इत्सञ्ज्ञा हुई हो उस धातु को नुम् का आगम हो।

व्याख्या—इदितः ।६।१। नुम् ।१।१। धातोः ।६।१। इत् (ह्रस्व इकार) इत् यस्यासौ इदित्, तस्य=इदितः, बहुव्रीहिसमास। अर्थ—(इदितः) जिस के ह्रस्व इकार की इत्सञ्ज्ञा होती है ऐसी (धातोः) धातु का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है। नुम् का आगम मित् है अत 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (२४०) के अनुसार धातु के अन्त्य अच् से परे होगा।

ध्यान रहे कि यदि ह्रस्व इकार की धातु के अन्त में इत्सञ्ज्ञा हुई होगी तभी नुम् का आगम होगा अन्यथा नहीं। अत एव चक्षिङ् (चक्ष्) धातु मे नुम् का आगम

नहीं होता। यह सब 'गोः पादान्ते' (७.१.५७) सूत्र से 'अन्ते' पद का अनुवर्त्तन कर के किया जाता है।

यद्यपि यह सूत्र अङ्गाधिकार में पठित होने से प्रत्ययोत्पत्ति के बाद अङ्ग-सञ्ज्ञा हो जाने पर ही प्रवृत्ति के योग्य है तथापि सूत्र में 'धातोः' ग्रहण के सामर्थ्य से धातुसञ्ज्ञा के काल में ही प्रवृत्त हो जाता है। अत एव 'कुडि दाहे' धातु से प्रथम नुम् का आगम होकर बाद में 'गुरोश्च हलः' (८६८) से 'अ' प्रत्यय करने से 'कुण्डा' प्रयोग सिद्ध होता है। यदि नुम् के आगम से पहले प्रत्यय लाते तो यहाँ पर गुरु न होने से 'अ' प्रत्यय न हो सकता अपितु 'स्त्रियां क्तिन्' (८६३) से क्तिन् ही होता।

प्रश्न—यदि प्रत्ययोत्पत्ति से पूर्व धातुसञ्ज्ञाकाल में ही नुम् का आगम करने की बात है तो इदित् धातुओं को धातुपाठ में नुम्सहित ही क्यों नहीं पढ़ देते, यथा 'कुडि' को 'कुण्ड्', 'टुनदि' को 'टुनन्द्' आदि ? इस से यह सूत्र बनाना ही न पड़ेगा।

उत्तर—मध्यात्, नन्द्यात् आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिये मुनि ने ऐसा नहीं किया, इस का विवेचन अनुपद किया जायेगा। किञ्च सैकड़ों धातुओं में नुम् का पाठ करने की अपेक्षा एक सूत्र का निर्माण ही लघुतर उपाय है।

प्रकृत में नद् (टुनदि) धातु इदित् है अतः इसे नुम् का आगम होकर अपदान्त नकार को 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (७८) से अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) से परसवर्ण-नकार करने से 'नन्द्' बन जाता है। अब इस से आगे लँट्, तिप्, शप् आदियों की पूर्ववत् उत्पत्ति हो जाती है। रूपमाला यथा—नन्दति, नन्दतः, नन्दन्ति। नन्दसि, नन्दथः, नन्दथ। नन्दामि, नन्दावः, नन्दामः।

लिँट्—'न+नन्द्+अ' यहां उपधा में अत् के न रहने से 'अत उपधायाः' (४५५) द्वारा वृद्धि नहीं होती—ननन्द। 'न+नन्द्+अतुस्' यहां अकार के असंयुक्त हलों के मध्य न रहने से तथा संयोगान्तता होने से कित्त्वाभाव के कारण 'अत एकहल्मध्येऽ' (४६०) द्वारा एत्व+अभ्यासलोप नहीं हो पाता—ननन्दतुः। रूपमाला यथा—ननन्द, ननन्दतुः, ननन्दुः। ननन्दिथ, ननन्दथुः, ननन्द। ननन्द, ननन्दिव, ननन्दिम।

लुँट्—नन्दिता, नन्दितारौ, नन्दितारः। लृँट्—नन्दिष्यति, नन्दिष्यतः, नन्दिष्यन्ति। लोँट् नन्दतु-नन्दतात्, नन्दताम्, नन्दन्तु। लँङ्—अनन्दत्, अनन्दताम्, अनन्दन्। वि० लिँङ्—नन्देत्, नन्देताम्, नन्देयुः। आ० लिँङ्—नन्द्यात्[1], नन्द्यास्ताम्, नन्द्यासुः।

---

१. यहां पर 'किदाशिषि' (४३२) से यासुट् के कित् होने पर भी 'अनिदितां हलः०' (३३४) द्वारा उपधा के नकार के लोप की आशङ्का नहीं करनी चाहिये;

लुँङ्—'अनन्द्+इस्+ईत्' इस स्थिति मे 'सयोगे गुरु' (४४६) के कारण अकार गुरु हो जाता है लघु नहीं रहता अत 'अतो हलादेर्लघो' (४५७) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। अनन्दीत्, अनन्दिष्टाम्, अनन्दिषु। लृँङ्—अनन्दिष्यत्, अनन्दिष्यताम्, अनन्दिष्यन्।

इसी प्रकार निम्न धातुओ के रूप बनते हैं—

(१) णिदिँ कुत्सायाम् (निन्दा करना)। लँट्—निन्दति। लिँट्—निनिन्द, निनिन्दतु, निनिन्दु। लुँट्—निन्दिता। लृँट्—निन्दिष्यति। लोँट्—निन्दतु-निन्दतात्। लँङ्—अनिन्दत्। वि० लिँङ्—निन्देत्। आ० लिँङ्—निन्द्यात्। लुँङ्—अनिन्दीत्। लृँङ्—अनिन्दिष्यत्।

(२) क्रदिँ आह्वाने रोदने च (बुलाना या रोना)। लँट्—क्रन्दति। लिँट्—चक्रन्द, चक्रन्दतु, चक्रन्दु। लुँट्—क्रन्दिता। लृँट्—क्रन्दिष्यति। लोँट्—क्रन्दतु-क्रन्दतात्। लँङ्—अक्रन्दत्। वि० लिँङ्—क्रन्देत्। आ० लिँङ्—क्रन्द्यात्। लुँङ्—अक्रन्दीत्। लृँङ्—अक्रन्दिष्यत्।

(३) वाछिँ इच्छायाम् (चाहना)। लँट्—वाञ्छति। लिँट्—ववाञ्छ, ववाञ्छतु, ववाञ्छु। लुँट्—वाञ्छिता। लृँट्—वाञ्छिष्यति। लोँट्—वाञ्छतु-वाञ्छतात्। लँङ्—अवाञ्छत्। वि० लिँङ्—वाञ्छेत्। आ० लिँङ्—वाञ्छ्यात्। लुँङ्—अवाञ्छीत्। लृँङ्—अवाञ्छिष्यत्।

(४) काक्षिँ काङ्क्षायाम् (चाहना)। लँट्—काङ्क्षति। लिँट्—चकाङ्क्ष, चकाङ्क्षतु, चकाङ्क्षु। लुँट्—काङ्क्षिता। लृँट्—काङ्क्षिष्यति। लोँट्—काङ्क्षतु-काङ्क्षतात्। लँङ्—अकाङ्क्षत्। वि० लिँङ्—काङ्क्षेत्। आ० लिँङ्—काङ्क्ष्यात्। लुँङ्—अकाङ्क्षीत्। लृँङ्—अकाङ्क्षिष्यत्।

(५) चुबिँ वक्त्रसयोगे (चूमना)। लँट्—चुम्बति। लिँट्—चुचुम्ब, चुचुम्बतु, चुचुम्बु। लुँट्—चुम्बिता। लृँट्—चुम्बिष्यति। लोँट्—चुम्बतु चुम्बतात्। लँङ्—अचुम्बत्। वि० लिँङ्—चुम्बेत्। आ० लिँङ्—चुम्ब्यात्। लुँङ्—अचुम्बीत्। लृँङ्—अचुम्बिष्यत्।

[लघु०]अर्च पूजायाम् ॥६॥ अर्चति ॥

अर्थ—अर्च (अर्च्) धातु 'पूजा करना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—अर्च् धातु से लँट् मे तिप्, शप् आदि पूर्ववत् होते हैं—अर्चति,

---

क्योंकि उस में 'अनिदिताम्' कहा गया है अर्थात् इदित् धातुओं की उपधा के नकार का लोप नहीं होता। जहा धातु इदित् न होगी वहां पर लोप हो जायेगा। यथा (मन्द्)—मन्द्यात्।

अर्चतः, अर्चन्ति ।

लिँट्—प्रथमपु० के एकवचन की विवक्षा में तिप्, णल्, द्वित्व, हलादिशेष तथा 'अत आदेः' (४४३) से अभ्यास के अत् को दीर्घ करने पर—आ+अर्च्+अ । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४६४) तस्मान्नुड् द्विहलः ।७।४।७१।।

द्विहलो धातोर्दीर्घीभूतादकारात्परस्य नुट् स्यात् । आनर्च, आनर्चतुः । अर्चिता । अर्चिष्यति । अर्चतु । आर्चत् । अर्चेत् । अर्च्यात् । आर्चीत् । आर्चिष्यत् ।।

अर्थः—दो हल् वाली धातु के दीर्घीभूत अभ्यास के अकार से परे अङ्ग को नुट् का आगम हो ।

व्याख्या—तस्मात् ।५।१। नुट् ।१।१। द्विहलः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है) । द्वौ हलौ यस्य तद् द्विहल् (अङ्गम्), तस्य द्विहलः । बहुव्रीहिः । 'तद्' शब्द से पूर्व का परामर्श (निर्देश) कराया जाता है अतः यहां पर भी 'तस्मात्' शब्द से पूर्वसूत्र 'अत आदेः' (४४३) द्वारा किये गये दीर्घीभूत अकार की ओर निर्देश समझना चाहिये । अर्थः—(तस्मात्) 'अत आदेः' द्वारा किये गये दीर्घ से परे (द्विहलः) दो हलों वाले (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (नुट्) नुट् हो जाता है । नुट् में उकार उच्चारणार्थ तथा टकार इत् है । टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) के अनुसार यह द्विहल् अङ्ग का आद्यवयव बनता है ।

'आ+अर्च्+अ' यहां पर 'अत आदेः' द्वारा किये गये दीर्घ अकार से परे 'अर्च्' इस द्विहल् अङ्ग के आदि में प्रकृतसूत्र से नुट् का आगम होकर—आ+नुट् अर्च्+अ=आ+नर्च्+अ='आनर्च' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे—'आनर्चतुः' आदियों में समझना चाहिये । लिँट् में रूपमाला यथा—आनर्च,आनर्चतुः, आनर्चुः । आनर्चिथ, आनर्चथुः, आनर्च । आनर्च, आनर्चिव, आनर्चिम ।

लुँट्—अर्चिता, अर्चितारौ, अर्चितारः । लृँट्—अर्चिष्यति, अर्चिष्यतः, अर्चिष्यन्ति । लोँट्—अर्चतु-अर्चतात् अर्चताम्, अर्चन्तु ।

लँङ्—में 'आडजादीनाम्' (४४४) से आट् का आगम होकर 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि हो जाती है—आर्चत्, आर्चताम्, आर्चन् । आर्चः, आर्चतम्, आर्चत । आर्चम्, आर्चाव, आर्चाम । वि० लिँङ्—अर्चेत्, अर्चेताम्, अर्चेयुः । आ० लिँङ्—अर्च्यात्, अर्च्यास्ताम्, अर्च्यासुः । लुँङ्—आर्चीत्, आर्चिष्टाम्, आर्चिषुः । आर्चीः, आर्चिष्टम्, आर्चिष्ट । आर्चिषम्, आर्चिष्व, आर्चिष्म । लृँङ्—आर्चिष्यत्, आर्चिष्यताम्, आर्चिष्यन् ।

इसी प्रकार—अर्द गतौ याचने च (गमन करना, मांगना)। लँट्—अर्दति। लिँट्—आनर्द, आनर्दतु, आनर्दुः। लुँट्—अर्दिता। लृँट्—अर्दिष्यति। लोँट्—अर्दतु-अर्दतात्। लँङ्—आर्दत्। वि० लिँङ्—अर्देत्। आ०लिँङ्—अर्दयात्। लुँङ्—आर्दीत्। लृँङ्—आर्दिष्यत्। 'शरद्धन नार्दति चातकोऽपि'—रघु० ५.१७।

[लघु०] व्रज गतौ ॥१०॥ व्रजति। वव्राज। व्रजिता। व्रजिष्यति। व्रजतु। अव्रजत्। व्रजेत्। व्रज्यात्॥

अर्थ—व्रज (व्रज्) धातु 'जाना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इसी धातु से व्रज्या, परिव्रज्या, परिव्राजक, परिव्राट्, व्रज आदि शब्द सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

लँट्—व्रजति, व्रजत, व्रजन्ति। लिँट्—वव्राज, वव्रजतु[1], वव्रजुः। वव्रजिथ, वव्रजथुः, वव्रज। वव्राज वव्रज, वव्रजिव, वव्रजिम। लुँट्—व्रजिता, व्रजितारौ, व्रजितारः। लृँट्—व्रजिष्यति, व्रजिष्यतः, व्रजिष्यन्ति। लोँट्—व्रजतु-व्रजतात्, व्रजताम्, व्रजन्तु। लँङ्—अव्रजत्, अव्रजताम्, अव्रजन्। वि० लिँङ्—व्रजेत्, व्रजेताम्, व्रजेयुः। आ० लिँङ्—व्रज्यात्, व्रज्यास्ताम्, व्रज्यासुः।

लुँङ्—मे च्लि, सिच्, इट्, ईट् तथा अट् का आगम होकर 'अव्रज+इम्+ईत्' इस स्थिति मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४६५) वद-व्रज-हलन्तस्याच ।७।२।३॥

एषामचो वृद्धि सिँचि परस्मैपदेषु। अव्राजीत्। अव्रजिष्यत्॥

अर्थ—परस्मैपदपरक सिच् परे हो तो वद्, व्रज् तथा हलन्त अङ्गों के अच् के स्थान पर वृद्धि आदेश हो।

व्याख्या—वदव्रज-हलन्तस्य ।६।१। अच ।६।१। सिँचि ।७।१। वृद्धि ।१।१। परस्मैपदेषु ।७।३। ('सिँचि वृद्धि परस्मैपदेषु' से)। अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है)। वदश्च व्रजश्च हलन्तश्च वदव्रजहलन्तम्, समाहारद्वन्द्व, तस्य=वदव्रजहलन्तस्य। वदव्रजयोरन्त्याकार उच्चारणार्थं। अर्थ—(वद-व्रज हलन्तस्य) वद्, व्रज् तथा हलन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के (अच) अच् के स्थान पर (वृद्धि) वृद्धि हो जाती है (सिँचि परस्मैपदेषु) परस्मैपद परे वाले सिच् के परे होने पर।

---

१ 'व+व्रज्+अतुस्' यहा पर 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) सूत्र से एत्व तथा अभ्यासलोप नहीं होता कारण कि अत् असयुक्त हलो के मध्य मे स्थित नहीं उस से पूर्व 'व्' का सयोग है। यदि होता भी सही, तो फिर वकारादि होने से 'न शसदद०' (५४१) से निषेध हो जाता।

शङ्का – सूत्र में केवल हलन्त अङ्ग को ही वृद्धि कहनी चाहिये थी क्योंकि वद् और व्रज् के हलन्त होने से इन में सुतरां वृद्धि हो ही जायेगी; इन के लिये पृथक् उल्लेख की आवश्यकता नहीं।

समाधान – आगे 'नेटि' (४७७) सूत्र द्वारा इडादि सिच् परे होने पर हलन्त-लक्षणा वृद्धि का निषेध किया जायेगा। उस निषेध से बचने के लिये यहाँ पर वद् और व्रज् का पृथक् उल्लेख किया गया है। विधानसामर्थ्य से इन में वह निषेध प्रवृत्त न होगा, नित्य वृद्धि हो जायेगी – अवादीत्, अव्राजीत्। यदि विशेष उल्लेख न करते तो 'नेटि' (४७७) से निषेध होकर 'अतो हलादेर्लघोः' (४५७) से वैकल्पिक वृद्धि हो जाती।

सूत्र में 'अचः' पद का निर्देश न करते तो 'इको गुणवृद्धी' (१.१.३) से 'इकः' पद उपस्थित हो जाता इस से 'अभैत्सीत्,अरौत्सीत्' आदि में तो वृद्धि हो जाती परन्तु 'अपाक्षीत्' आदि में वृद्धि न हो सकती। अब 'अचः' पद के ग्रहण से सब स्थानों पर निर्बाध वृद्धि हो जाती है कहीं कोई दोष नहीं आता।

'अव्रज्+इस्+ईत्' यहां पर परस्मैपदपरक सिच् विद्यमान है अतः प्रकृत-सूत्र से व्रज् के अकार को वृद्धि होकर– अव्राज्+इस्+ईत्। अब 'इट ईटि' (४४६) से सकार का लोप तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर 'अव्राजीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे 'अव्राजिष्टाम्' आदियों की सिद्धि समझनी चाहिये। रूपमाला यथा –अव्राजीत्, अव्राजिष्टाम्, अव्राजिषुः। अव्राजीः, अव्राजिष्टम्, अव्राजिष्ट। अव्राजिषम्, अव्राजिष्व, अव्राजिष्म।

लृङ्—अव्रजिष्यत्, अव्रजिष्यताम्, अव्रजिष्यन्।

उपसर्गयोग—परिव्रजति, प्रव्रजति=संन्यास लेता है। अनुव्रजति=पीछे चलता है ('मृगा मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति'—पञ्चतन्त्रे)।

[लघु०] कटे वर्षाऽऽवरणयोः ॥११॥ कटति। चकाट, चकटतुः। कटिता। कटिष्यति। कटतु। अकटत्। कटेत्। कट्यात्॥

अर्थः—कटे (कट्) धातु 'बरसना और ढांपना' अर्थों में प्रयुक्त होती है[1]।

---

१. कट, कटि, कटु आदि शब्द इसी धातु से निष्पन्न होते हैं। कुछ वैयाकरणों का कहना है कि प्रपूर्वक इस धातु के णिजन्त बनने पर 'प्रकट करना' अर्थ हो जाता है, प्रकटयति=प्रकट करता है। परन्तु हमारे विचार में यह सही नहीं है। क्योंकि तब उपधावृद्धि हो कर 'प्रकाटयति' रूप बनना चाहिये। यहां पाणिनिव्याकरण में 'घटयति, चलयति' की तरह इस में उपधाह्रस्व करने वाला कोई सूत्र नहीं है। पाणिनिजी ने 'संकट, प्रकट, उत्कट, विकट' शब्दों को 'सम्प्रोदश्च कटच्' (५.२.२९)

व्याख्या—वर्षञ्च आवरणञ्च वर्षाऽऽवरणे, तयो =वर्षाऽऽवरणयो । कटे मे एकार अनुनासिक है अत 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्रद्वारा इत्सञ्ज्ञक है, 'कट्' ही अवशिष्ट रहता है । इसे एदित् करने का प्रयोजन लुंङ् मे (८६६) सूत्र द्वारा वृद्धि का निषेध करना है ।

लँट्—कटति, कटत, कटन्ति । कटसि, कटथ, कटथ । कटामि, कटाव, कटाम ।

लिँट्—मे द्वित्व, हलादिशेष, 'कुहोश्चु' (८७४) से अभ्यास के ककार को चकार तथा 'अत उपधाया' (४५५) से उपधा के अत् को वृद्धि करने पर 'चकाट' रूप सिद्ध होता है । 'चकट्+अतुस' यहा लिँट् को मान कर अङ्ग के आदि में चकार आदेश हुआ है अत 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) सूत्र द्वारा एत्व तथा अभ्यासलोप नही होगा—चकटतु । रूपमाला यथा—चकाट, चकटतु, चकट । चकटिथ, चकटथु, चकट । चकाट-चकट, चकटिव, चकटिम ।

लुँट्—कटिता, कटितारौ कटितार । लृँट्—कटिष्यति, कटिष्यत, कटिष्यन्ति । लोँट्—कटतु-कटतात्, कटताम्, कट तु । लँङ्—अकटत्, अकटताम्, अकटन् । वि० लिँङ्—कटेत्, कटेताम्, कटेयु । आ० लिँङ्—कटेयात्, कटेयास्ताम्, कटेयासु ।

लुँङ्—प्रथमपुरुष के एकवचन मे तिप्, 'इतश्च' (४२४) से इकारलोप, सिच्, इट्, ईट् तथा अट् का आगम हो कर 'अकट्+इस्+ईत्' इस स्थिति मे हलन्तलक्षणा वृद्धि (४६५) प्राप्त होती है परन्तु उसका 'नेटि' (४८७) मे निषेध हो जाता है । पुन 'अतो हलादेर्लघो' (४८७) से वैकल्पिक वृद्धि प्राप्त होती है । इस का भी अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेधसूत्रम्—(८६६) ह्यन्त-क्षण-श्वस-जागृ-णि-श्व्येदिताम् ।७।२।५।।

हमन्तस्य क्षणादेर्णिजन्तस्य श्वयतेरेदितश्च वृद्धिर्नेडादौ सिचि । अकटीत् । अकटिष्यत् ।।

---

सूत्रद्वारा सम्, प्र, उद् और वि मे तद्धित कटच् प्रत्यय लगा कर सिद्ध किया है । अत 'प्रकटयति, विकटयति' आदि रूपो को नामधातु बना कर सिद्ध करना चाहिये । प्रकटं करोतीति प्रकटयति, 'तत्करोति तदाचष्टे' (चुरादिगणसूत्रम्) इति णिच् । यहा णिच् के परे रहने 'अतो लोप' (४७०) से हुए अकारलोप को स्थानिवत् मान कर उपधा-वृद्धि का वारण कर लिया जायेगा ।

अर्थः—हकारान्त, मकारान्त, यकारान्त, क्षण्, श्वस्, जागृ, णिप्रत्ययान्त, श्वि तथा एदित् अङ्गों को वृद्धि नहीं होती परस्मैपदपरक इडादि सिच् प्रत्यय परे हो तो।

व्याख्या—ह्यचन्त—णिश्व्येदिताम् ।६।३। अङ्गानाम् ।६।३। ('अङ्गस्य' इस अधिकृत का वचनविपरिणाम हो जाता है)।न इत्यव्ययपदम्। इटि ।७।१। ('नेटि' से)। सिचि ।७।१। वृद्धिः ।१।१। परस्मैपदेषु ।७।३। ('सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से)। ह् च म् च य् च ह्यच:, इतरेतरद्वन्द्वः। ह्यचोऽन्ता येषां ते ह्यचन्ताः, बहुव्रीहिसमासः। ह्यचन्ताश्च क्षण् च श्वस् च जागृ च णिश्च श्विश्च एदित् चेति ह्यचन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदितः, तेषाम्। इतरेतरद्वन्द्वः। इनमें 'णि' प्रत्यय है अतः 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' इस परिभाषा के अनुसार उससे तदन्तविधि हो कर 'ण्यन्त' बन जायेगा। अर्थः—ह्यचन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्) हकारान्त, मकारान्त, यकारान्त, क्षण्, श्वस्, जागृ, णिप्रत्ययान्त, श्वि तथा एदित् अर्थात् जिनका एकार इत् हो चुका है ऐसे (अङ्गानाम्) अङ्गों के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि (न) नहीं होती (परस्मैपदे सिचि) परस्मैपदपरक सिच् परे हो तो। इनके उदाहरण यथा—

(१) हकारान्त—ग्रह् (ग्रहण करना)। अग्रह्+इस्+ईत्=अग्रहीत्।
(२) मकारान्त—वम् (उल्टी करना)। अवम्+इस्+ईत्=अवमीत्।
(३) यकारान्त—व्यय् (खर्च करना)। अव्यय्+इस्+ईत्=अव्ययीत्।
(४) क्षण् (हिंसा करना)। अक्षण्+इस्+ईत्=अक्षणीत्।
(५) श्वस् (सांस लेना)। अश्वस्+इस्+ईत्=अश्वसीत्।
(६) जागृ (जागना)। अजागृ+इस्+ईत्=अजागरीत्।
(७) णि=ण्यन्त धातु—आ+ऊनि+इस्+ईत्=आ+ऊने+इस्+ईत्=औनयीत् (वैदिक प्रयोग[1])।
(८) श्वि (गमन, बढ़ना)। अश्वि+इस्+ईत्=अश्वे+इस्+ईत्=अश्वयीत्।
(९) एदित्—हसे॑ (हंसना)। अहस्+इस्+ईत्=अहसीत्।

'कटे॑' धातु में एकार की इत्संज्ञा होती है अतः एदित् होने के कारण इसमें वृद्धि न होगी। 'अकट्+इस्+ईत्' इस अवस्था में 'इट ईटि' (४४६) से सकार का लोप तथा उस के सिद्धवत् होने से सवर्णदीर्घ करने पर 'अकटीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार लुँङ् में आगे भी वृद्धि का निषेध समझ लेना चाहिये। रूपमाला यथा—अकटीत्, अकटिष्टाम्, अकटिषुः। अकटीः, अकटिष्टम्, अकटिष्ट। अकटिषम्, अकटिष्व, अकटिष्म।

---

१. ण्यन्त धातु के सामने लोक में इडादि सिच् सम्भव न होने से वेद का ही उदाहरण देना पड़ेगा।

लृँङ्—अकटिष्यत्, अकटिष्यताम्, अकटिष्यन्।

इसी प्रकार 'हसे हसने' (हसना) धातु के रूप चलते हैं। लँट्—हसति। लिँट्—जहास, जहसतु, जहसु। लुँट्—हसिता। लृँट्—हसिष्यति। लोँट्—हसतु-हसतात्। लँङ्—अहसत्। वि० लिँङ्—हसेत्। आ० लिँङ्—हस्यात्। लुँङ्—अहसीत्, अहसिष्टाम्, अहसिषु। लृँङ्—अहसिष्यत्।

अब निम्न धातुओं के रूप चलाने मे कोई कठिनाई नहीं होगी—

(१) जीव प्राणधारणे (जीना)। लँट्—जीवति। लिँट्—जिजीव, जिजीवतु जिजीवु। लुँट्—जीविता। लृँट्—जीविष्यति। लोँट्—जीवतु-जीवतात्। लँङ्—अजीवत्। वि० लिँङ्—जीवेत्। आ० लिँङ्—जीव्यात्। लुँङ्—अजीवीत्। लृँङ्—अजीविष्यत्।

(२) खेलृँ चलने (खेलना)। लँट्—खेलति। लिँट्—चिखेल, चिखेलतु, चिखेलु। लुँट्—खेलिता। लृँट्—खेलिष्यति। लोँट्—खेलतु खेलतात्। लँङ्—अखेलत्। वि० लिँङ्—खेलेत। आ० लिँङ्—खेल्यात्। लुँङ्—अखेलीत्। लृँङ्—अखेलिष्यत्।

(३) चूष पाने (चूसना)। लँट्—चूषति। लिँट्—चुचूष, चुचूषतु, चुचूषु। लुँट्—चूषिता। लृँट्—चूषिष्यति। लोँट्—चूषतु-चूषतात्। लँङ्—अचूषत्। वि० लिँङ्—चूषेत्। आ० लिँङ्—चूष्यात्। लुँङ्—अचूषीत्। लृँङ्—अचूषिष्यत्।

(४) रक्ष पालने (रक्षा करना)। लँट्—रक्षति। लिँट्—ररक्ष, ररक्षतु, ररक्षु। लुँट्—रक्षिता। लृँट्—रक्षिष्यति। लोँट्—रक्षतु-रक्षतात्। लँङ्—अरक्षत्। वि० लिँङ्—रक्षेत्। आ० लिँङ्—रक्ष्यात्। लुँङ्—अरक्षीत्। लृँङ्—अरक्षिष्यत्।

(५) गर्ज शब्दे (गरजना)। लँट्—गर्जति। लिँट्—जगर्ज, जगर्जतु, जगर्जु। लुँट्—गर्जिता। लृँट्—गर्जिष्यति। लोँट्—गर्जतु-गर्जतात्। लँङ्—अगर्जत्। वि० लिँङ्—गर्जेत्। आ० लिँङ्—गर्ज्यात्। लुँङ्—अगर्जीत्। लृँङ्—अगर्जिष्यत्।

(६) खादृँ भक्षणे (खाना)। लँट्—खादति। लिँट्—चखाद, चखादतु, चखादु। लुँट्—खादिता। लृँट्—खादिष्यति। लोँट्—खादतु खादतात्। लँङ्—अखादत्। वि० लिँङ्—खादेत्। आ० लिँङ्—खाद्यात्। लुँङ्—अखादीत्। लृँङ्—अखादिष्यत्।

(७) कूज अव्यक्ते शब्दे (कूजना)। लँट्—कूजति। लिँट्—चुकूज, चुकूजतु चुकूजु। लुँट्—कूजिता। लृँट्—कूजिष्यति। लोँट्—कूजतु कूजतात। लँङ्—अकूजत्। वि० लिँङ्—कूजेत्। आ० लिँङ्—कूज्यात्। लुँङ्—अकूजीत्। लृँङ्—अकूजिष्यत्।

(८) मन्थ विलोडने (बिलोना)। लँट्—मन्थति। लिँट्—ममन्थ, ममन्थतु,

ममन्युः । लुँट्—मन्थिता । लृँट्—मन्थिष्यति । लोँट्—मन्थतु—मन्थताम् । लँङ्—अमन्थत् । वि० लिँङ्—मन्थेत् । आ० लिँङ्—मथ्यात्[1] । लुँङ्—अमन्थीत् । लृँङ्—अमन्थिष्यत् ।

## अभ्यास (२)

(१) सोदाहरण स्पष्ट करें—

(क) धातुओं को षोपदेश और णोपदेश करने का प्रयोजन ।

(ख) धातुओं के आदि में ञि, टु, डु लगाने का प्रयोजन ।

(ग) धातुओं को ईदित्, एदित् और इदित् करने का प्रयोजन ।

(घ) उत्तमपु० के णल् को विकल्प से णित् करने का प्रयोजन ।

(ङ) 'असंयोगाल्लिँट् कित्' में 'असंयोगात्' ग्रहण का प्रयोजन ।

(च) 'वदव्रज०' सूत्र में वद् और व्रज् के पृथग्ग्रहण का प्रयोजन ।

(छ) 'अत एकहल्०' सूत्र में 'अनादेशादेः' के ग्रहण का प्रयोजन ।

(२) कुछ धातुओं को नोपध किया गया ह (यथा मन्थ्), और कुछ धातुओं को इदित् (यथा टुनर्दिं), तो इस भेद का कारण क्या है ?

(३) 'पुगन्त०' सूत्र की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट करें कि 'भिनत्ति' में लघूपधगुण क्यों नही होता ?

(४) 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' के 'अस्ति' से प्राचीन और नवीन वैयाकरण क्या २ अभिप्राय समझते हैं ? उनके मतभेद के क्या कारण है ?

(५) संयोग परे होने पर एकमात्रिक वर्ण की गुरु और ह्रस्व दोनों सञ्ज्ञाएं कैसे स्वीकार की जाती हैं ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(६) इदित् होते हुए भी चक्षिँङ् धातु को नुमागम क्यों नहीं होता ?

(७) 'कुहोश्चुः' में आन्तरतम्य कैसे देखा जायेगा ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(८) ह्रस्व की लघुसञ्ज्ञा करने का क्या प्रयोजन है ? क्या ह्रस्वसञ्ज्ञा से ही कार्य नहीं किया जा सकता था ?

(९) अत्, गद्, कट्, नद्, टुनर्दिं, अर्चं, व्रज्, सिध्—इन धातुओं के लुँङ् और लिँट् के प्र० पु० एक० में रूप सिद्ध करें ।

(१०) निम्न रूपों की सिद्धि करें—

सिषिधतुः, प्रणिगदति, आतिपुः, नेदतुः, प्रणदति, नेदिथ, आतोः, सिध्यात्, नन्दति, जगाद जगद ।

---

१. यह धातु इदित् नहीं अतः 'अनिदितां हल उपधायाः०' (३३४) से कित् परे रहते उपधा के नकार का लोप हो जाता है ।

(११) नोपदेश और णोपदेश धातु कौन २ से हैं ?

(१२) सूत्रों की व्याख्या करें—

अतो हलादेर्लघो, तस्मान्नुड् द्विहल, अत एकहल्०, थलि च सेटि, वदव्रज०, इदितो नुम्०, ह्रायन्तक्षण०, मिज्लोप एकादेशे० ।

(१३) नद्, अत्, सिध्, गद्, अर्च्, व्रज् और टुनदिं धातुओं की लँट्, लिँट् और लुँङ् में रूपमाला लिखें ।

(१४) क्या 'आतत्' में अट् से काम नहीं चल सकता था जो आट् विधान किया है ?

---

[लघु०] गुपूँ रक्षणे ॥१२॥

अर्थ —गुपूँ (गुप्) धातु 'रक्षा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—गुपूँ धातु का अन्त्य ऊकार अनुनासिक होने से 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्संज्ञक है अतः उसका 'तस्य लोपः' (३) से लोप हो कर 'गुप्' ही अवशिष्ट रहता है । इसे ऊदित् करने का फल आगे (४७८) सूत्र पर स्पष्ट होगा । अब गुप् धातु से अग्रिमसूत्रद्वारा स्वार्थ में आयप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(४६७) गुपूँ-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः ।३।१।२८॥

एभ्य आयप्रत्ययः स्यात् स्वार्थे ॥

अर्थ —गुपूँ, धूप्, विच्छ्, पण् और पन् धातुओं से स्वार्थ में 'आय' प्रत्यय हो ।

व्याख्या—गुपूँ-धूप विच्छि-पणि-पनिभ्य ।५।३। आय ।१।१। 'प्रत्ययः' और 'परश्च' का अधिकार चला आ रहा है । 'धातोरेकाचो हलादेः०' (३.१.७) सूत्र से 'धातोः' पद का अनुवर्तन कर के वचनविपरिणाम से उसे 'धातुभ्यः' बना लेते हैं[1] । अर्थ —(गुपूँ-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्यः) गुपूँ, धूप्, विच्छ्, पण् और पन् (धातुभ्यः) धातुओं से (परः, आयः, प्रत्ययः) परे 'आय' प्रत्यय हो । आय प्रत्यय हलन्त नहीं अपितु अदन्त है । इसे अदन्त करने का प्रयोजन 'गोपायति' आदि में स्वरव्यवस्था करना है । 'अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति' (प०) अर्थात् जिन प्रत्ययों के अर्थ का निर्देश नहीं किया जाता वे प्रत्यय स्वार्थ में होते हैं । इस नियम के अनुसार आयप्रत्यय

---

१ यहां 'धातोः' की अनुवृत्ति आवश्यक है, अन्यथा 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' (३.१.५) में सन् प्रत्यय की तरह 'धातोः' से इसका विधान न होने से 'आर्धधातुकं शेषः' (४०४) द्वारा इसकी भी आर्धधातुकसंज्ञा न होगी । तब 'गोपायति' में लघूपधगुण न हो सकेगा ।

स्वार्थ में किया जाता है। स्वार्थ में विधान किये प्रत्ययों के आ जाने से प्रकृति (जिस से प्रत्यय किया जाता है) के अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। सूत्र के उदाहरण यथा—

(१) गुपूं रक्षणे (रक्षा करना, भ्वा० परस्मै०) गोपायति।

(२) धूप सन्तापे (तपाना, भ्वा० परस्मै०) धूपायति।

(३) विच्छ गतौ (जाना, तुदा० परस्मै०) विच्छायति।

(४) पण व्यवहारे स्तुतौ च (व्यापार करना, स्तुति करना भ्वा० आत्मने०)। 'पन' के साहचर्य से स्तुति अर्थ में ही पण से आय प्रत्यय अभीष्ट है व्यवहार अर्थ में नहीं। पणायति=स्तुति करता है, पणते=व्यवहार करता है।

(५) पन च, स्तुत्यर्थक इत्यर्थः (स्तुति करना, भ्वा० आत्मने०)। पनायति।

गुप् धातु से प्रकृतसूत्र द्वारा स्वार्थ में आय प्रत्यय हो कर 'गुप्+आय'। आय-प्रत्यय 'आर्धधातुकं शेषः' (४०४) के अनुसार आर्धधातुक है अतः इस के परे होने पर 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) सूत्र द्वारा लघूपधगुण करने से—गोप्+आय=गोपाय बना। अब अग्रिमसूत्रद्वारा पूरे के पूरे गोपाय की धातुसञ्ज्ञा की जाती है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(४६८) सनाद्यन्ता धातवः।३।१।३२॥

सनादयः कमेर्णिङन्ताः प्रत्यया अन्ते येषां ते धातुसञ्ज्ञकाः। धातुत्वाल्लँडादयः—गोपायति॥

अर्थः—अष्टाध्यायी में सन् प्रत्यय से लेकर णिङ् प्रत्यय तक बारह प्रत्यय कहे गये हैं, वे प्रत्यय जिसके अन्त में हों उस समुदाय की धातुसञ्ज्ञा हो। धातुत्वात्—धातु-सञ्ज्ञा होने से लँट् आदि आ जायेंगे।

व्याख्या—सनाद्यन्ताः।१।३। धातवः।१।३। सन् आदिर्येषां ते सनादयः, सना-दयोऽन्ते येषां ते सनाद्यन्ताः। तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः। अर्थः—(सनाद्यन्ताः) सन् आदि प्रत्यय जिन के अन्त में हों ऐसे समुदाय (धातवः) धातुसञ्ज्ञक होते है[1]।

अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय के प्रथमपाद में 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' (३.१.५) से सन् प्रत्यय विधान किया गया है। उससे आगे क्यच्, काम्यच् आदि कई प्रत्यय विधान किये गये हैं। अन्त में 'कमेर्णिङ्' (३.१.३०) सूत्र द्वारा णिङ् प्रत्यय कहा गया है। इस प्रकार बारह प्रत्ययों का विधान कर अब यहां तत्तत्प्रत्ययान्त शब्दों की धातु-

---

१. ध्यान रहे कि 'सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति' (४०) इस परिभाषा के कारण यहां संज्ञाविधि में प्रत्यय के ग्रहण से तदन्तों का ग्रहण निषिद्ध था अतः उसके लिये सूत्र में 'अन्त' शब्द का ग्रहण किया गया है। यह सब पूर्वार्ध में 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

सञ्ज्ञा की जा रही है। धातुसञ्ज्ञा हो जाने से उन समुदायों से लँट् आदि उत्पन्न हो जायेंगे। इन बारह प्रत्ययों का श्लोकबद्ध संग्रह यथा—

सन् क्यच् काम्यच्-क्यङ्-क्यषोऽप्याचारक्विब् णिच् यङस्तथा।
यगाय ईयङ् णिङ् चेति द्वादशाऽमी सनादय ॥

(१) सन् ('गुप्तिज्किद्भ्य सन्' आदि)। यथा—जुगुप्सते।
(२) क्यच् ('सुप आत्मन क्यच्' आदि)। यथा—पुत्रीयति।
(३) काम्यच् ('काम्यच्च' आदि)। यथा—पुत्रकाम्यति।
(४) क्यङ् ('कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' आदि)। यथा—श्येनायते।
(५) क्यष् ('लोहितादिडाज्भ्य क्यष्')। यथा—लोहितायते।
(६) आचार अर्थ वाला क्विप् ('सर्वप्रातिपदिकेभ्य क्विब्वा वक्तव्य' वा०)। यथा—कृष्णति।
(७) णिच् ('सत्यापपाश-णिच्')। यथा—चोरयति।
(८) यङ् ('धातोरेकाचो यङ्')। यथा—बोभूयते।
(९) यक् ('कण्ड्वादिभ्यो यक्')। यथा—कण्डूयति।
(१०) आय ('गुपूधूप०')। यथा—गोपायति।
(११) ईयङ् ('ऋतेरीयङ्')। यथा—ऋतीयते।
(१२) णिङ् ('कमेर्णिङ्')। यथा—कामयते।

इन में से क्यष् और ईयङ् को छोड कर शेष दस प्रत्ययों का वर्णन लघुकौमुदी में आता है।

'गोपाय' इस समुदाय के अन्त में 'आय' प्रत्यय है अतः सम्पूर्ण 'गोपाय' की प्रकृतसूत्र से धातुसञ्ज्ञा हो जाती है। धातुसञ्ज्ञा हो कर 'धातोः' (७६९) के अधिकार में पूर्ववत् लँट् आदि प्रत्यय आ जाते हैं—गोपाय+लँट्। प्रथमपुरुष के एकवचन में लँट् को तिप् तथा 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् प्रत्यय आ कर 'गोपाय+अ+ति' हुआ। अब 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने से 'गोपायति' रूप सिद्ध हुआ। लँट् में रूपमाला यथा—गोपायति, गोपायतः, गोपायन्ति। गोपायसि, गोपायथः, गोपायथ। गोपायामि, गोपायावः, गोपायामः।

अब अग्रिमसूत्र-द्वारा लिँट् आदि आर्धधातुक प्रत्ययों की विवक्षा में आय आदि प्रत्ययों का वैकल्पिक विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (४६६) आयादय आर्धधातुके वा ।३।१।३१॥

आर्धधातुकविवक्षायाम् आयादयो वा स्युः ॥

अर्थः—आर्धधातुक प्रत्यय कहने की इच्छा हो तो आय आदि प्रत्यय विकल्प से हों।

व्याख्या—आयादयः ।१।३। आर्धधातुके ।७।१। वा इत्यव्ययपदम्। आय आदिर्येषां ते आयादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः। आय आदि तीन प्रत्यय हैं। आय, ईयङ् और णिङ्[1]। 'आर्धधातुके' में परसप्तमी मानने से दोष उत्पन्न होते हैं अतः विषयसप्तमी मानी जाती है[2]। अर्थः—(आर्धधातुके) आर्धधातुक प्रत्ययों के विषय में (आयादयः) आय, ईयङ् और णिङ् प्रत्यय (वा) विकल्प से होते है। जब बुद्धि में आर्धधातुक प्रत्यय करने की इच्छा हो, तब अर्थात् आर्धधातुक प्रत्यय करने से पूर्व विवक्षामात्र में ही आय, ईयङ् और णिङ् प्रत्यय विकल्प से हो जाते हैं।

हमें अब लिँडादेशों की विवक्षा है, 'लिँट् च' (४००) सूत्र से लिँडादेश आर्धधातुक माने गये हैं। अतः गुप् धातु से आयप्रत्यय विकल्प से होगा। जिस पक्ष में आयप्रत्यय किया वहां लघूपधगुण हो कर 'गोपाय' बना। धातुसञ्ज्ञा हो कर इस से आगे लिँट् आया तो 'गोपाय+लिँट्' बना। अब अग्रिमवार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(३४) कास्यनेकाच आम् वक्तव्यो लिँटि ॥

आस्कासोराम्विधानाद् मस्य नेत्त्वम् ॥

अर्थः—कास् धातु तथा अनेकाच् धातु से आम् प्रत्यय हो जाता है लिँट् परे हो तो। आस्कासोरिति—आस् और कास् धातु से आम् प्रत्यय का विधान किया गया है, इस से प्रतीत होता है कि 'आम्' के मकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती[3]।

---

१. "आय ईयङ् च णिङ् चेति, त्रय आयादयः स्मृताः"।

२. यदि परसप्तमी मानी जाये तो पहले आर्धधातुक प्रत्यय परे किया जायेगा बाद में आय आदि प्रत्यय विकल्प से होंगे। इस प्रकार 'गोपायिता' यहां लुँट् में तास् करने के बाद आय करना पड़ेगा। तब 'अतो लोपः' (४७०) से आय के अन्त्य अकार का लोप न हो सकेगा क्योंकि 'आर्धधातुकोपदेशे यददन्तं तस्यातो लोपः स्यात्' इस अर्थ के अनुसार आर्धधातुक के उपदेशकाल में अदन्त आय उत्पन्न ही न हुआ था वह तो बाद में आया है। इसी प्रकार 'गुप्तिः' और 'गोपाया' शब्दों की सिद्धि भी परसप्तमी मानने से नही हो सकती। इस के अधिक विवेचन के लिये इसी सूत्र पर न्यास और पदमञ्जरी देखें।

३. काम् से आम् का विधान तो प्रकृतवार्त्तिक में है ही, आस् से आम् का विधान आगे 'दयायासश्च' (५३६) सूत्र में आयेगा।

व्याख्या—कास्यनेकाच ।५।१। आम् ।१।१। वक्तव्य ।१।१। लिटि ।७।१। अर्थ—(कास्यनेकाच) काम् धातु तथा अनेक अचो वाली धातु से (आम्) आम् प्रत्यय हो जाता है (लिटि) लिट् परे हो तो। काम् (कामृ शब्दकुत्सायाम्, भ्वा० आत्मने०) धातु अनेकाच् नहीं अत उस का पृथक् उल्लेख किया गया है।

'आम्' प्रत्यय के मकार की 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र द्वारा इत्सञ्ज्ञा होनी चाहिये थी परन्तु विधानसामर्थ्य से नहीं होती। क्योंकि यदि इस के मकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती तो आम् प्रत्यय मित् हो जाता, तब 'मिदचोऽन्त्यात् परः' (२४०) के अनुसार यह अन्त्य अच् से परे होता। इस स्थिति में 'काम्' में आम् प्रत्यय 'का' के बाद होता। इस प्रकार आम् प्रत्यय करने से भी सवर्णदीर्घ हो जाने से 'कास्' वैसे का वैसा रहता। तब आम् करना ही व्यर्थ हो जाता। परन्तु आचार्य कोई भी व्यर्थ कार्य नहीं करते। अत आम् प्रत्यय के विधान के सामर्थ्य से यह प्रतीत होता है कि इस में मकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। तब मित् न होने से यह अन्त्य अच् से परे भी नहीं होता। अपितु 'परश्च' (१२२) सूत्र के अनुसार कास् आदियों से परे ही होता है [१]।

'गोपाय+लिट्' यहां लिट् परे है और 'गोपाय' यह अनेकाच् भी है अत प्रकृतवार्तिक द्वारा इस से परे 'आम्' प्रत्यय हो कर 'गोपाय+आम्+लिट्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(४७०) अतो लोप ।६।४।४८॥

आर्धधातुकोपदेशे यददन्त तस्यातो लोप आर्धधातुके॥

अर्थ—आर्धधातुक प्रत्यय के उपदेश के समय जो अदन्त अङ्ग उस के अन्त्य अत् का लोप हो जाता है आर्धधातुक प्रत्यय के परे होने पर।

व्याख्या—अत ।६।१। लोपः ।१।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। 'अत' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण है इसलिये विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अदन्तस्य अङ्गस्य' बन जायेगा। अर्थ—(अत=अदन्तस्य) अदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग का (लोप) लोप हो (आर्धधातुके) आर्धधातुक परे होने पर। अलोऽन्त्यपरि-

---

१ महाभाष्य मे 'आम' इस प्रकार अदन्त प्रत्यय स्वीकार कर के भी समाधान प्रस्तुत किया गया है। तब 'आमे' का अन्त्य अकार अनुनासिक होने से 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जायेगा इस तरह मकार उपदेश में अन्त्य न रहने से इत् न होगा। जैसा कि कहा गया है—

"आमोऽमित्त्वमदन्तत्वाद् अगुणत्वं विदेस्तथा।
आस्कासोरान्विधानाच्च परस्य कतन्तवत्॥"

भाषा से यह लोप अदन्त अङ्ग के अन्त्य अल् अकार का ही होगा। यथा—चिकीर्ष + इतुम् = चिकीर्षितुम्। चिकीर्ष+इतव्य=चिकीर्षितव्यम्। यहां तुमुन् और तव्यत् इन आर्धधातुक प्रत्ययों के परे होने पर सन् प्रत्यय के अकार का लोप हो जाता है।

सूत्र में 'अत्' के ग्रहण से चेतुम्, चेतव्यम्, स्तोतुम्, स्तोतव्यम् आदि में इकार उकार का लोप न हो कर गुण हो जाता है। 'अत्' में तपरग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'याता, यातुम्, यातव्यम्' इत्यादियों में दीर्घ आकार का लोप नहीं होता। 'आर्धधातुक परे होने पर' इस कथन के कारण 'वृक्षत्वम्, वृक्षता' इत्यादियों में त्व और तल् प्रत्ययों के परे रहते अत् का लोप नही होता। त्व और तल् तद्धित प्रत्यय हैं धातु से विधान नहीं किये गये अतः इन की आर्धधातुक सञ्ज्ञा नहीं है।

सूत्र का यह उपर्युक्त अर्थ प्रायः सब प्राचीन वैयाकरण करते चले आ रहे थे। परन्तु इस अर्थ में कुछ त्रुटियां थीं। इस प्रकार अर्थ करने से 'अत्, पत्' आदि रूपों में अकार का लोप प्राप्त होता था जो अनिष्ट था। अतः दीक्षितजी ने सिद्धान्त-कौमुदी में इस का नवीन अर्थ प्रकाशित किया है और उसे ही श्रीवरदराज ने यहां वृत्ति में उद्धृत किया है। इस अर्थ की उपपत्ति इस प्रकार होती है—

'अनुदात्तोपदेशवनति०' सूत्र से 'उपदेश' की अनुवृत्ति ला कर उसे सप्तम्यन्त बना लिया जाता है। 'आर्धधातुके' इस अधिकृत की द्विरावृत्ति की जाती है। एक का सम्बन्ध 'उपदेशे' से और दूसरे में परसप्तमी मान ली जाती है। इस प्रकार यह अर्थ निष्पन्न होता है—(आर्धधातुके उपदेशे) आर्धधातुक के उपदेश के समय (अनः=अदन्तस्य) जो अदन्त उस (अङ्गस्य) अङ्ग का (लोपः) लोप हो (आर्धधातुके) आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह लोप भी अन्त्य अत् का ही होगा। इस अर्थ का तात्पर्य यह है कि आर्धधातुक करते समय जो अदन्त होगा उसी के अन्त्य अकार का आर्धधातुक परे होने पर लोप होगा। इस से अन्तर यह पड़ेगा कि आर्धधातुक कर चुकने के बाद यदि कोई अङ्ग अदन्त बनेगा तो उस के अत् का लोप नहीं होगा। उदाहरणार्थ—अय पय गतौ (स्वा० आत्मने०)। यहां अय् पय् धातुओं से 'क्विप् च' (८०२) द्वारा क्विप् करने पर अनुबन्धों का लोप होकर 'अय्+व्, पय्+व्'। 'लोपो व्योर्वलि' (४२६) से यकार का लोप करने पर 'अ+व्, प+व्' बना। अब यदि 'आर्धधातुक परे होने पर अत् का लोप हो' ऐसा प्राचीन वैयाकरणों वाला अर्थ करते हैं तो यहां भी अत् का लोप करना पड़ेगा। परन्तु दीक्षितजी के अर्थ में यह दोष उत्पन्न नहीं होता क्योंकि आर्धधातुक क्विप् प्रत्यय के उपदेश के समय 'अय्, पय्' ये यकारान्त अङ्ग थे, अदन्त नहीं। इस प्रकार दोषनिवृत्ति होकर 'वेरपृक्तस्य' (३०३) से व् का लोप तथा 'ह्रस्यस्य पिति कृति तुक्' (७७७)

से तुक् का आगम करने पर 'अत्' और 'पत्' रूप निर्बाध सिद्ध हो जाते हैं[1]।

'गोपाय+आम्+लिट्' यहा आम् प्रत्यय 'आर्धधातुके शेष' (४०४) के अनुसार आर्धधातुक है। इस के उपदेशकाल मे 'गोपाय' यह अदन्त अङ्ग था, अत आम् आर्धधातुक के परे होने पर उस अदन्त अङ्ग के अन्त्य अकार का प्रकृत सूत्र से लोप हो कर -गोपाय्+आम्+लिट्=='गोपायाम्+लिट्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४७१) आम: ।२।४।८१॥

आम: परस्य लुक् ॥

अर्थ—आम् से परे का लुक् हो।

व्याख्या—आम ।७।१। लुक् ।१।१। ('प्रत्ययस्त्रियार्थ०' से)। अर्थ—(आम:) आम् से परे (लुक्) लुक् हो।

'गोपायाम्+लिट' यहा आम् से परे लिट् स्थित है अत उस का लुक् हो कर 'गोपायाम्' बना। लिट् प्रत्यय की 'कृदतिङ्' (३०२) के अनुसार कृत्सञ्ज्ञा थी। अत प्रत्ययलक्षण के द्वारा 'गोपायाम्' कृदन्त है। कृदन्त होने से 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (११७) द्वारा इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुंविभक्ति की उत्पत्ति हो जाती है—गोपायाम्+सुं। 'आम' सूत्र से पुन सुं का भी लुक् हो जाता है[2]। इस प्रकार

---

१ प्राय बहुत से विद्वान् ऐसा समझते हैं कि यह नवीन अर्थ दीक्षितजी का खोजा हुआ है परन्तु ७।१।५८ के न्यास से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन वैयाकरणों को भी इस अर्थ का पता था। वे केवल जटिलता से छात्रों को बचाने के लिये ही उपर्युक्त सरल अर्थ किया करते थे। 'अत्, पत्' आदि शब्दों का खोजने पर भी हमें कही प्रयोग नही मिला। ओरम्भट्ट ने इसी लिये अपना नया उदाहरण 'अङ्गगत्' बनाया है परन्तु यह भी साहित्य में कहीं प्रयुक्त नहीं देखा गया।

२ काशिकाकार आदि प्राचीन वैयाकरण 'आम' सूत्र में 'मन्त्रे घस०' सूत्र से 'ले' का अनुवर्तन कर 'आम से परे लिं अर्थात् लिट् का लुक् हो' ऐसा अर्थ करते हैं। इस अर्थ में यह दोष उत्पन्न होता है कि 'गोपायाम्+सु' यहा पर सुं का लुक् नहीं हो सकता। यत 'गोपायाम्' को अव्यय तो मान नहीं सकते क्योंकि 'कृमेजन्त' (३६६) सूत्र का अर्थ है—कृत् जो मकारान्त और एजन्त, तदन्त की अव्ययसञ्ज्ञा हो। इस अर्थ के अनुसार यहां 'लिट्' यह कृत्प्रत्यय न तो मकारान्त है और न ही एजन्त, तो पुन यहा 'गोपायाम्' को अव्ययसञ्ज्ञा कैसे हो? अव्यय न होने से 'अव्ययादाप्सुप' (३७२) की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इन सब बातो का विचार कर कौमुदीकार ने

'गोपायाम्' यह पदसञ्ज्ञक हो जाता है। पदसञ्ज्ञा का फल 'गोपायांचकार, गोपायाञ्चकार' आदि में अनुस्वार तथा उसे वैकल्पिक परसवर्ण करना है।

अब 'गोपायाम्' रूप में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४७२) कृञ्चानुप्रयुज्यते लिँटि।३।१।४०॥

आमन्तात् लिँट्पराः कृम्बस्तयोऽनुप्रयुज्यन्ते। तेषां द्वित्वादि॥

अर्थः—आमन्त से परे लिँट्परक कृञ्, लिँट्परक भू तथा लिँट्परक अस् धातुओं का अनुप्रयोग होता है। तेषामिति—उन कृ आदि धातुओं को द्वित्व आदि कार्य होंगे।

व्याख्या—आमः।५।१। ('कास्प्रत्ययाद् आम् अमन्त्रे लिँटि' से विभक्ति-विपरिणाम कर के)। कृञ्।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अनुप्रयुज्यते इति तिङन्तपदम्। लिँटि।७।१। 'प्रत्यग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' इस परिभाषा के अनुसार 'आमः=आमन्तात्' बन जायेगा। 'कृञ्' से यहां प्रत्याहार का ग्रहण अभीष्ट है। अष्टाध्यायी के 'कृञ्चस्ति-योगे०' (५.४.५०) सूत्र के कृ से लेकर 'कृञो द्वितीयतृतीय०' (५.४.५८) सूत्र के अकार तक 'कृञ्' प्रत्याहार बनता है। इस प्रत्याहार में कृञ्, भू और अस् इन तीन धातुओं का समावेश होता है[1]। —अर्थः—(लिँटि) लिँट् परे रहते जो (कृञ्) कृ, भू और अस् धातु वह (आमः=आमन्तात्) आमन्त से परे (अनुप्रयुज्यते) अनुप्रयुक्त की जाती है। तात्पर्य यह है कि आमन्त से परे कृ, भू और अस् धातु का अनुप्रयोग

---

'आमः' सूत्र में 'लेः' का अनुवर्त्तन न कर इसे सामान्य सूत्र बना दिया है। 'आम् से परे लुक् हो' फिर चाहे वह लिँट् हो या सुं अथवा कोई अन्य प्रत्यय किसी का भी लुक् हो जायेगा। [न्यासकार आदियों का कहना है कि 'आम्' का स्वरादिगण में पाठ किया गया है अतः 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (३६७) से उस की अव्ययसञ्ज्ञा हो जायेगी तब 'अव्ययादाप्सुपः' सूत्र से सुं का लुक् हो जायेगा। परन्तु स्वरादिगण में 'अम्' के साहचर्य के कारण 'आम्' से तद्धित आम्प्रत्यय का ही ग्रहण होना चाहिये दूसरे का नहीं अतः उस से भी अव्ययसञ्ज्ञा न हो सकेगी। इस विषय का विस्तार १.१.३६ पर पदमञ्जरी में देखना चाहिये]।

१. कृञ् प्रत्याहार के मध्य में 'अभिविधौ सम्पदा च' (५.४.५३) सूत्र द्वारा सम्पूर्वक पद् धातु भी पढ़ी गई है परन्तु उस का ग्रहण नहीं होता। कारण कि कृञ् आदि का विशेष अर्थ वाली 'गोपाय' आदि धातुओं के पीछे अनुप्रयोग करना है। कृ भू और अस् ये तीन धातुएं तो सामान्य अर्थ वाली हैं अतः इन का सम्बन्ध प्रत्येक विशेष अर्थ वाली धातु के साथ हो सकता है। सम्पूर्वक पद् धातु विशेष अर्थ वाली है अतः इस का अन्य विशेष अर्थ वाली धातु के पीछे प्रयोग नहीं हो सकता।

किया जाता है और उन से परे लिँट् प्रत्यय किया जाता है[1]। ध्यान रहे कि आमन्त से परे अपने लिँट् का तो 'आम' (४९१) सूत्र से लुक् हो चुकता है अब यहा उस से परे कृ, भू अथवा अस् धातु लाई जाती है और उस से परे नया लिँट्[2]।

'गोपायाम्' यह आमन्त है। इस से परे प्रकृतसूत्र से लिँट्परक कृञ् भू और अस् धातु का अनुप्रयोग होगा। प्रथम कृञ् का अनुप्रयोग किया तो—गोपायाम्+कृञ्+लिँट्। अब यहा प्रथमपु० के एकवचन की विवक्षा मे लिँट् को तिप्,[3] उसे णल्, अनुबन्धलोप तथा 'लिँटि धातोरनभ्यासस्य' (३९४) से द्वित्व[4] हो कर—गोपायाम्+कृ+कृ+अ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४७३) उरत् ।७।४।६६॥

अभ्यासऋवर्णस्य अत् प्रत्यये। रपर। हलादि शेष (३९६)। वृद्धि। गोपायाञ्चकार। द्वित्वात् परत्वाद् यणि प्राप्ते—

अर्थ—प्रत्यय परे होने पर अभ्यास के ऋवर्ण के स्थान पर अत् (ह्रस्व अकार) आदेश हो।

---

१ यह सब पीछे से 'लिँटि' की अनुवृत्ति आने पर भी सूत्र में दुबारा 'लिँटि' के ग्रहण से प्राप्त होता है। पहले लिँट् का लुक् कर के कृञ् आदियों के आगे लिँट् करने का लाभ यह होगा कि अब सुप् को द्वित्व न हो कर कृञ् आदियो को द्वित्व होगा।

२ 'अनुप्रयुज्यते' मे 'अनु' और 'प्र' ये दो उपसर्ग लगे हुए हैं। 'अनु' का अर्थ है 'पीछे' तथा 'प्र' का अर्थ है 'प्रकर्ष' अर्थात् व्यवधानरहितता। इस प्रकार यहा दो बातो का निश्चय होता है। एक तो अनुप्रयोग आमन्त से परे होता है पूर्व मे नहीं, दूसरा आमन्त से परे भी अव्यवहित अर्थात् बिना व्यवधान के अनुप्रयोग होता है। इसीलिये तो महाभाष्य में यह वार्तिक पढ़ा गया है—विपर्यासनिवृत्यर्थम्, व्यवहित-निवृत्यर्थं च। इस से भट्टि आदियो के—'उक्षां प्रचक्रे नगरस्य मार्गान्, बिभयां प्रच-कारासौ' इत्यादि प्रयोग चिन्त्य हैं।

३ कृञ् यद्यपि त्रिलृ धातु है, 'स्वरितञित०' (३७६) के अनुसार त्रिलृ धातु से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद होना चाहिए परन्तु यहा 'आम्प्रत्यय-वत्कृञोऽनुप्रयोगस्य' (५१२) इस वक्ष्यमाण सूत्र के कारण आत्मनेपद न हो कर केवल परस्मैपद ही होता है। इस का स्पष्टीकरण उसी सूत्र पर देखें।

४ यहां 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) के कारण द्वित्व से पहले वृद्धि व गुण नहीं हो सकते।

व्याख्या—उः ।६।१। (यह 'ऋ' शब्द के षष्ठी का एकवचन है)। अत् ।१।१। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। विना प्रत्यय के परे रहते अङ्गसञ्ज्ञा हो नहीं सकती अतः 'प्रत्यये' पद उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(अभ्यासस्य) अभ्यास के (उः) ऋवर्ण के स्थान पर (अत्) ह्रस्व अकार आदेश हो जाता है (प्रत्यये) प्रत्यय परे हो तो[1]। ऋवर्ण के स्थान पर जब ह्रस्व अकार आदेश होगा तो 'उरण्रपरः' (२६) सूत्र से रपर हो कर 'अर्' आदेश बन जायेगा।

'गोपायाम्+कृ+कृ+अ' यहां अभ्यास के ऋवर्ण को प्रकृतसूत्र से अत्, रपर होकर—गोपायाम्+कर्+कृ+अ। 'हलादिः शेषः' (६६६) से अभ्यास के रेफ का लोप तथा 'कुहोश्चुः' (४५४) से अभ्यास के ककार को चकार करने से—गोपायाम्+च+कृ+अ। अब 'अचो ञ्णिति' (१८२) सूत्र से 'कृ' के ऋवर्ण को आर् वृद्धि करने पर [2] —गोपायाम्+च+कार्+अ=गोपायाम्+चकार। पीछे 'गोपायाम्' को पद बना चुके हैं अतः 'मोऽनुस्वारः' (७७) सूत्र से पदान्त मकार को अनुस्वार तथा 'वा पदान्तस्य' (८०) से उसे वैकल्पिक परसवर्ण अकार करने से—'गोपायाञ्चकार, गोपायांचकार' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

प्रथमपु० के द्विवचन में 'गोपायाम्+कृ+अतुस्' इस अवस्था में 'लिटि धातोः०' (३६४) से द्वित्व और 'इको यणचि' (१५) से यण् युगपत् प्राप्त होते हैं[3]। दोनों सावकाश हैं। द्वित्व का अवकाश है—वव्राज, वव्रजतुः, वव्रजुः आदि; यण् का अवकाश है—सुध्युपास्यः, मद्ध्वरिः, धात्वंशः आदि। द्वित्व (६.१.८) की अपेक्षा यण् (६.१.७४) पर है अतः 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से परकार्य यण् होना चाहिये। परन्तु वह अनिष्ट है क्योंकि यदि यण् पहले हो जाता है तो फिर अच् न रहने से द्वित्व न हो सकेगा। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है --

[लघु०] निषेध-सूत्रम्— (४७४) द्विर्वचनेऽचि ।१।१।५८॥

---

१. यहां यदि 'प्रत्यये' नहीं कहेंगे तो 'वव्रश्च' आदि रूपों में दोष प्रसक्त होगा। इस के स्पष्टीकरण के लिये तुदादिगण में 'वव्रश्च' की सिद्धि देखें।

२. कुछ वैयाकरण वृद्धि और गुण के विप्रतिषेध में परत्वात् गुण को बलवान् मान कर प्रथम गुण कर बाद में 'अत उपधायाः' (४५५) से वृद्धि किया करते हैं।

३. स्मरण रहे कि यहां 'असंयोगाल्लिँट्' कित् (४५२) से अतुस् कित् है अत 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (३८८) से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' (४३३) सूत्र से निषेध हो जाता है।

द्वित्वनिमित्तेऽचि अच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये । गोपायाञ्चक्रतुः ॥

अर्थ.—द्वित्वनिमित्तक अच् को मान कर अच् के स्थान पर आदेश नहीं होता, द्वित्व करना हो तो ।

व्याख्या—द्विर्वचने ।७।१। अचि ।७।१। अच ।६।१। ('अच परस्मिन्०' से)। आदेश ।१।१। ('स्थानिवदादेश०' से)। न इत्यव्ययपदम्' ('न पदान्तद्विर्वचन०' से) । यहा पर द्विर्वचने' पद की आवृत्ति की जाती है [1]। एक 'द्विर्वचने' पद 'अचि' का विशेषण बनता है और उस में निमित्त-सप्तमी मानी जाती है । द्विरुच्यतेऽस्मिन् इति द्विर्वचनम्, अधिकरणे ल्युट्—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'द्वित्व के निमित्त अच् को मान कर' ऐसा अर्थ हो जाता है । दूसरे 'द्विर्वचने' पद में विषयसप्तमी मान कर 'द्विर्वचने=द्वित्वविषये=द्वित्वे कर्त्तव्ये' (द्वित्व करने मे) इस प्रकार अर्थ हो जाता है। अर्थ —(द्विर्वचने अचि) द्वित्व के निमित्त अच् को मान कर (अच ) अच् के स्थान पर (आदेश ) आदेश (न) नहीं होता (द्विर्वचने) द्वित्व के करने में । तात्पर्य यह है कि द्वित्व का निमित्त अच् विद्यमान हो तो उस का आश्रय कर के किसी अन्य अच् के स्थान पर तब तक कोई आदेश नहीं होता जब तक द्वित्व नहीं हो जाता । द्वित्व कर चुकने के बाद ही उस के स्थान पर कोई आदेश हो सकेगा पहले नही । उदाहरण यथा—

'गोपायाम्+कृ+अतुस्' यहा लिट् अर्थात् अतुस् को मान कर द्वित्व प्राप्त है, इस प्रकार अतुस् का अकार द्वित्वनिमित्तक अच् है [2] । इसे मान कर 'कृ' के अच् ऋकार के स्थान पर तब तक कोई आदेश नही होगा जब तक द्वित्व नहीं कर लेते । पहले द्वित्व और अभ्यासकार्य हो कर 'गोपायाम्+चकृ+अतुस्' बना । अब द्वित्व कर चुकने के बाद 'कृ' के ऋकार के स्थान पर 'इको यणचि' (१५) से यण् कर पदान्त में मकार को अनुस्वार तथा अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण करने पर

---

१ अथवा 'द्विर्वचन च द्विर्वचन च=द्विर्वचनम्, तस्मिन्=द्विर्वचने' इस प्रकार एकशेषसमास मान कर दोनों का ग्रहण कर लिया जाता है ।

२ अच् को द्वित्व का निमित्त मानना अथवा उस अच् का आश्रय कर के दूसरे अच् के स्थान पर आदेश करना—इन दोनो में साक्षात् या परम्परा दोनों प्रकारों के निमित्तो का ग्रहण किया जा सकता है । यथा—'चक्रे' आदि मे 'ए' यह द्वित्व का साक्षात् निमित्त है, परन्तु 'चक्रतु' आदि में अतुस् का अकार परम्परासम्बन्ध से निमित्त है साक्षात् निमित्त तो 'अतुस्' है । इसी प्रकार 'चक्रे' मे 'ए' यह यण्प्राप्ति मे साक्षात् निमित्त है, परन्तु 'जग्मतु, जघ्नतु' आदि में अतुस् का अकार उपधासोप में परम्परासम्बन्ध से निमित्त है ।

'गोपायाञ्चक्रतुः,गोपायांचक्रतुः' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

**पपतुः,पपुः**। यहां 'पा+अतुस्, पा+उस्' मे द्वित्व (६.१.८) की अपेक्षा परत्व के कारण 'आतो लोप इटि च' (६.४.६४) सूत्र से आकार का लोप प्राप्त होता है परन्तु यदि आकार का लोप हो जाये तो अच् न रहने से द्वित्व न हो सकेगा। अतः 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र से उस का निषेध हो जायेगा। तब प्रथम द्वित्व हो कर बाद में आकार का लोप हो जाने से 'पपतुः, पपुः' रूप सिद्ध हो जायेंगे।

**जग्मतुः, जग्मुः**। यहां 'गम्+अतुस्, गम्+उस्' में द्वित्व (६.१.८) की अपेक्षा परत्व के कारण 'गमहन०' (६.४.९८) सूत्र से उपधालोप प्राप्त होता है। परन्तु यदि उपधालोप कर देते है तो धातु में अच् न रहने से द्वित्व न हो सकेगा। अतः 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र से पहले द्वित्व होगा, और बाद में उपधालोप। इस प्रकार 'जग्मतुः, जग्मुः' आदि सिद्ध हो जायेंगे।

**निनाय, निनय**। लिट् उत्तमपु० के एकवचन णल् में 'नी+अ' इस स्थिति में णित्त्वपक्ष में वृद्धि तथा णित्त्वाभावपक्ष में गुण दोनों द्वित्व की अपेक्षा परत्व के कारण प्राप्त होते हैं, परन्तु 'द्विर्वचनेऽचि' से उन का निषेध हो प्रथम द्वित्व हो कर तब वृद्धि और गुण की प्रवृत्ति होने से 'निनाय, निनय' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

इस सूत्र की प्रवृत्ति के समय दो बातों को ध्यान में रखना चाहिये—

(क) सर्वप्रथम उस अच् पर ध्यान देना चाहिये जो द्वित्व का निमित्त हो और साथ ही किसी अन्य अच् के स्थान पर होने वाले आदेश का भी निमित्त हो। यदि अच् दोनों कार्यों में निमित्त नहीं होगा तो 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र नहीं लगेगा। यथा—दुद्यूषति। 'दिव्+सन्' यहां 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (८४३) सूत्र से वकार को ऊठ् आदेश हो कर 'दि+ऊ+स' इस स्थिति में एक तरफ तो दकारोत्तरवर्त्ती इकार को 'इको यणचि' (१५) से यण् करना है और दूसरी तरफ 'सन्यङोः' (७०६) से सन्नन्त को द्वित्व। अब यहां 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। कारण कि ऊठ् वाला ऊकार यण् में तो निमित्त है परन्तु द्वित्व में नही। द्वित्व का निमित्त तो सन् है। अतः प्रथम यण् हो कर 'द्यू+स' इस अवस्था में बाद में द्वित्व करने से 'दुद्यूषति' प्रयोग सिद्ध होता है।

(ख) 'द्विर्वचनेऽचि' का निषेध सदा के लिये नहीं होता अपितु सीमित काल के लिये हुआ करता है। जब तक द्वित्व नहीं हो जाता तब तक निषेध रहता है, द्वित्व हो चुकने के बाद पुनः यथाप्राप्त कार्य हो जाते हैं[1]।

---

१. भट्टोजिदीक्षित से पूर्व सब वैयाकरण इस सूत्रद्वारा स्थानिवद्भाव का ही विधान करते चले आ रहे हैं। उन के मत में सूत्र का यह अर्थ है—'द्वित्वनिमित्तक

टिप्पणी—भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में इस सूत्र की वृत्ति 'द्वित्वनिमित्तेऽचि परेऽच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये' इस प्रकार लिखी है। परन्तु लघुकौमुदी के लेखक श्रीवरदराज ने उस मे से 'परे' शब्द हटा दिया है। इस से वरदराज की बुद्धिमत्ता का स्पष्ट परिचय मिलता है। दीक्षितजी 'द्वित्वनिमित्तेऽचि' में परसप्तमी समझते हुए यह अर्थ करते हैं—'द्वित्वनिमित्तक अच् परे होने पर अजादेश नहीं होता द्वित्व करना हो तो'। परन्तु इस प्रकार के अर्थ से 'चक्रतु, चक्रु, पपतु, पपु' आदि तो सिद्ध हो जायेंगे क्योंकि 'कृ+अतुस्, कृ+उस्, पा+अतुस्, पा+उस्' इत्यादियों में द्वित्वनिमित्तक अच् परे होने पर उस से अव्यवहितपूर्व अजादेश प्राप्त होता है जिस का इस सूत्र से निषेध हो जाता है। मगर 'जग्मतु, जग्मु, जघ्नतु, जघ्नु' आदि सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि इन में द्वित्वनिमित्तक अच् परे नहीं रहता। 'गम्+अतुस्, गम्+उस्, हन्+अतुस्, हन्+उस्' इत्यादियो में मकार नकार का व्यवधान पडता है। सूत्र को जब 'चक्रतु, चक्रु, पपतु, पपु' आदि सीधे अव्यवहितपूर्व अजादेश के उदाहरण मिल रहे हैं तो वह व्यवधान वाले जग्मतु' आदियो में क्यो प्रवृत्त हो? श्रीवरदराज ने इस दोष से पिण्ड छुडाने के लिये 'परे' शब्द को वृत्ति में से निकाल दिया। उन के मतानुसार 'द्वित्वनेऽचि' में क्ङिति च' की तरह निमित्तसप्तमी है। तब सूत्र का यह अर्थ हुआ—द्वित्वनिमित्तक अच् को मान कर यदि अजादेश करना होगा तो वह न होगा जब तक द्वित्व नहीं हो जाता। इस मे जैसे 'कृ+अतुस्' मे द्वित्वनिमित्तक अच् को मान कर होने वाले अजादेश यण् का निषेध हो जायेगा वैसे 'गम्+अतुस् मे भी द्वित्वनिमित्तक अच् को मान कर होने वाले अजादेश—उपधालोप का भी निषेध हो जायेगा। इसीलिये तो श्रीभाण्डारीजी द्वारा सम्पादित व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि मे दीक्षितजी का

---

अच् को निमित्त मान कर किसी अन्य अच् के स्थान पर किया गया आदेश स्थानिवत् अर्थात् स्थानी का रूप धारण कर लेता है यदि द्वित्व करना हो तो'। इस के अनुसार पहले अच् के स्थान पर आदेश हो जाता है पुन द्वित्व करने मे उसे स्थानिवद्भाव होकर पहला रूप प्राप्त हो जाता है, वह पहला रूप तब तक रहता है जब तक द्वित्व नही हो जाता। द्वित्व होते ही वह पहला रूप नष्ट हो कर पुन आदिष्ट रूप हो जाता है। यथा—'पा+अतुस्' यहा प्रथम परत्व के कारण 'आतो लोप इटि च' (४८६) सूत्र से आकारलोप हो कर—'प्+अतुस्'। अब 'प्' को स्थानिवद्भाव से 'पा' समझ कर द्वित्व कर लिया जाता है। इस प्रकार 'पपतु' निर्बाध सिद्ध हो जाता है। 'महाभाष्य' मे यही पक्ष सिद्धान्तपक्ष के रूप मे स्थापित किया गया है। कौमुदी वाला पक्ष भाष्य मे एकदेशीयमत के रूप मे निर्दिष्ट है। इन दोनो पक्षों का फल मे कुछ अन्तर नहीं केवल प्रक्रिया में अन्तर है।

अर्थ पञ्चमपक्ष में दे कर "न पञ्चमः, जग्मतुरित्याद्यनुपपत्तेः। लोपप्रतियोग्यपेक्षयाऽनुत्तादेरव्यवहितपरत्वाऽभावात्" इस प्रकार खण्डन किया गया है। श्रीहरदत्त मिश्र ने अपनी पदमञ्जरी मे भी इस अर्थ को पञ्चमपक्ष में रख कर उपर्युक्त हेतुओं से खण्डन किया है। बड़े आश्चर्य की बात है कि लघुकौमुदी के किसी हिन्दी वा संस्कृत व्याख्याकार को वरदराज की यह विशेषता आज तक नहीं सूझी।

लिट् प्र० पु० के बहुवचन में भी पूर्ववत् सिद्धि हो कर 'गोपायाञ्चक्रु', गोपायांचक्रुः' दो रूप सिद्ध होते हैं।

लिट् मध्यमपु० के एकवचन में सिप् को थल् आदेश होकर 'गोपायाम्+कृ+थ' इस अवस्था मे 'लिट् च' (४००) के अनुसार 'थ' के आर्धधातुक होने के कारण 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) सूत्र से इट् का आगम प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम् (४७५) एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ।७।२।१०॥

उपदेशे यो धातुरेकाज् अनुदात्तश्च तत आर्धधातुकस्येड् न ॥

अर्थः—उपदेश अवस्था मे जो धातु एक अच् वाली तथा साथ ही अनुदात्त भी हो तो उस धातु से परे आर्धधातुक प्रत्यय को इट् का आगम नहीं होता।

व्याख्या——एकाचः ।५।१। उपदेशे ।७।१। अनुदात्तात् ।५।१। धातोः ।५।१। ('ऋत इद्धातोः' से)। न इत्यव्ययपदम्। इट् ।१।१। ('नेट् वशि कृति' से)। एकोऽच् यस्य यस्मिन् वाऽसौ एकाच्, तस्माद्=एकाचः। बहुव्रीहि०। अनुदात्तोऽस्त्यस्येति अनुदात्तो धातुः, अर्शआद्यजन्तम्। अर्थः—(उपदेशे) उपदेश में (एकाचः) एक अच् वाली (अनुदात्तात्) अनुदात्त (धातोः) धातु से परे (इट्) इट् (न) नहीं होता। इट् का आगम 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) के अनुसार वलादि आर्धधातुक को हुआ करता है उस का प्रकृतसूत्र में निषेध किया जा रहा है। जो धातु उपदेश में एकाच् हो और साथ ही अनुदात्त भी, उस धातु से परे वलादि आर्धधातुक को इट् नहीं होता। उदाहरण यथा—

कृ+तुम् (तुमुन्), कृ+तव्य (तव्यत्)। यहां पर कृ धातु उपदेश में एकाच् है[1] और अनुदात्त भी, अतः इस से परे वलादि आर्धधातुक तुम् और तव्य प्रत्ययों को इट् का आगम नहीं होता। गुण हो कर 'कर्तुम्, कर्तव्यम्' सिद्ध हो जाते हैं।

---

१. ध्यान रहे कि अनुबन्धों से मुक्त कर के धातुओं का एकाक्त्व या अनेकाक्त्व देखना चाहिये यथा—'टुकृञ् करणे' (तनादि० उभय०) यहां अनुबन्धों को छोड़ कर 'कृ' ही अवशिष्ट रहता है अतः यह धातु एकाच् समझनी चाहिये। 'ऊर्णुञ् आच्छादने' (अदा० उभय०) धातु अनुबन्ध से मुक्त हो कर 'ऊर्णु' अवशिष्ट रहता है अतः इसे अनेकाच् समझना चाहिये।

सावधान रहिये कि 'उपदेशे' पद का 'एकाच' और 'अनुदात्तात्' दोनों से सम्बन्ध है। मणिमध्यन्याय या देहलीदीपकन्याय के अनुसार जैसे मध्य में रखा हुआ मणि या दीपक दोनों ओर प्रकाश देता है वैसे यहा भी 'उपदेशे' पद की स्थिति समझनी चाहिये। यदि कोई धातु उपदेश में एकाच् हो पर अनुदात्त न हो तो यह निषेध प्रवृत्त न होगा, इसी प्रकार यदि उपदेश में कोई धातु अनुदात्त तो हो पर एकाच् न हो तो भी यह निषेध प्रवृत्त न होगा। इस निषेध की प्रवृत्ति के लिये धातु का उपदेश में एकाच् होना और साथ ही उपदेश में अनुदात्त होना दोनों आवश्यक है[1]।

अनुदात्त और अनुदात्तेत् धातुओं को एक समझने की भूल नहीं करनी चाहिये। अनुदात्तेत् धातुओं में अनुदात्त अनुबन्ध इत होता है इस का फल आत्मनेपद का विधान है (देखो सूत्र ३७८) पर अनुदात्त होने से धातु से परे आर्धधातुक को इडागम का निषेध हुआ करता है। यह आवश्यक नहीं कि जो धातु अनुदात्तेत् हो वह अनुदात्त भी हो। यथा 'एधृं वृद्धौ' (भ्वा० आत्मने०) धातु अनुदात्तेत् तो है पर अनुदात्त नहीं। इसी प्रकार शक् आदियों में कई धातुए अनुदात्त होती हुई भी अनुदात्तेत् नहीं।

पाणिनिमुनिप्रणीत धातुपाठ ही धातुओं का उपदेशस्थान है। इसमें प्रत्येक धातु के विषय में पूरा पूरा विवरण दिया गया है। पर जिन को धातुपाठ कण्ठस्थ नहीं उन के सुबोध के लिये यहा लघुकौमुदी में अनुदात्त धातुओं की सप्रहतालिका दी जा रही है। छात्रों के लिये यह तालिका अतीव उपयोगी है। हमारा विद्यार्थियों से सानुरोध निवेदन है कि यदि वे संस्कृतव्याकरणशास्त्र में निपुणता प्राप्त करना चाहते हैं तो यह तालिका अवश्य कण्ठस्थ कर लें।

धातु दो प्रकार के होते हैं अजन्त और हलन्त। अजन्त एकाच् धातुओं में अनुदात्त धातुओं की व्यवस्था इस प्रकार समझनी चाहिये—

[लघु०] ऊदृदन्तैर्-यौति-रु-प्रवु-शीङ् स्नु-नु-क्षु-श्वि-डीङ्-श्रिभि ।
वृङ्-वृञ्भ्या च विनैकाचोऽजन्तेषु निहता स्मृता ॥

अर्थ—ऊदन्त, ऋदन्त, यु, रु, प्रवु, शीङ्, स्नु, नु क्षु, श्वि, डीङ्, श्रि, वृङ्

---

१ यदि 'उपदेशे' पद का सम्बन्ध केवल 'एकाच' से करते हैं, 'अनुदात्तात्' से नहीं तो 'कृ+तुम्' यहा कृ धातु उपदेश में एकाच् तो है पर अब 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९१) सूत्र से उदात्त हो गई है अनुदात्त नहीं रही अत इस में इण्निषेध न हो सकेगा। इसी प्रकार 'उपदेशे' पद का सम्बन्ध यदि केवल 'अनुदात्तात्' से करते हैं, 'एकाच' से नहीं तो 'चकृषे' यहा धातु के उपदेश में अनुदात्त होने पर भी अब द्वित्व के कारण अनेकाच् हो जाने से इण्निषेध सम्भव नहीं होगा। अत 'उपदेशे' का सम्बन्ध 'एकाच' और अनुदात्तात्' दोनों से करना उचित है।

और वृञ्—इन धातुओं को छोड़कर उपदेश में एक अच् वाले समस्त अजन्त धातु निहत अर्थात् अनुदात्त समझने चाहियें।

व्याख्या—इस श्लोक में 'विना' के योग में तीन स्थानों पर तृतीयाविभक्ति लगी हुई है—ऊदुदन्तैः, यौति—श्रिभिः, वृङ्वृञ्भ्याम्। ऊत् च ऋत् च ऊदृतौ, ऊदृतौ अन्तौ—अन्त्यावयवौ येषान्ते ऊदृदन्ताः, तैः=ऊदृदन्तैः। ऊकारान्तैर् ऋकारान्तैश्चेत्यर्थः।

(१) ऊदन्त यथा—भू सत्तायाम् (होना, भ्वा० परस्मै०), लूञ् छेदने (काटना, क्रया० उभय०), पूञ् पवने (पवित्र करना, क्रया० उभय०) इत्यादि।

(२) ऋदन्त यथा—कॄ विक्षेपे (बिखेरना, तुदा० परस्मै०), पॄ पालनपूरणयोः (पालना या भरना, जुहो० परस्मै०), गॄ निगरणे (निगलना, तुदा० परस्मै०) इत्यादि।

(३) यौति—यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः (मिलाना या अलग करना, अदा० परस्मै०)।

(४) रु शब्दे (शब्द करना, अदा० परस्मै०), रुङ् गतिरेषणयोः (गमन या हिंसा करना, भ्वा० आत्मने०)। 'रु' से रु और रुङ् दोनों का ग्रहण होता है (देखो तत्त्वबोधिनी)। कुछ वैयाकरण लुग्विकरणीय धातुओं के संग के कारण केवल अदादिगणीय 'रु शब्दे' का ही ग्रहण मानते हैं, उन के अनुसार रुङ् धातु अनुदात्त होगी।

(५) क्ष्णु तेजने (तीक्ष्ण करना, अदा० परस्मै०)।

(६) शीङ् स्वप्ने (सोना, अदा० आत्मने०)।

(७) स्नु—ष्णु प्रस्रवणे (चूना वा टपकना, अदा० परस्मै०)।

(८) नु—णु स्तुतौ (स्तुति करना, अदा० परस्मै०)।

(९) क्षु—टुक्षु शब्दे (शब्द करना, अदा० परस्मै०)।

(१०) श्वि—टुओंश्वि गतिवृद्धयोः (गमन, बढ़ना, भ्वा० परस्मै०)।

(११) डीङ् विहायसा गतौ (उड़ना, भ्वा० दिवा० आत्मने०)।

(१२) श्रिञ् सेवायाम् (सेवा करना, आश्रय करना, भ्वा० उभय०)।

(१३) वृङ् सम्भक्तौ (सेवा करना, क्रया० आत्मने०)।

(१४) वृञ् वरणे (स्वीकार करना, स्वा० उभय०), वृञ् आवरणे (ढापना, चुरा० उभय० आधृषीय)।

अजन्तों में उपर्युक्त चौदह एकाच् धातु उदात्त हैं[1]। इन को छोड़ कर अन्य

---

१. अतः इन में 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (४७५) से इण्निषेध न होगा। यथा—ऊदन्तों में (भू) भविता, भविष्यति; (लू) लविता, लविष्यति; ऋदन्तों में (कॄ) करिता, करिष्यति; यु—यविता, यविष्यति; रु—रविता, रविष्यति; क्ष्णु—क्ष्णविता,

सनी एकाच् अजन्त धातु अनुदात्त होती हैं[1]। यथा—या प्रापणे (जाना, अदा० परस्मै०), याता, यास्यति, यातुम्, यातव्यम् आदि। डुकृञ् (कृ) करणे (करना, तना० उभय०) कर्ता, कर्तुम्, कर्तव्यम्, कृत्वा आदि।

अजन्तों मे उदात्त धातु थोडी और अनुदात्त धातु बहुत हैं अत उदात्त धातुओं को गिना कर शेष धातुओं को अनुदात्त कह दिया गया है। परन्तु हलन्तों में उदात्त धातु बहुत और अनुदात्त धातु थोडी है अत सीधा अनुदात्तों का ही परिगणन करते हैं—

[लघु०] कान्तेषु शक्लेक[2]। चान्तेषु पच्-मुच्-रिच्-वच्-विच्-सिच षट्। छान्तेषु प्रच्छ्येक। जान्तेषु त्यज्-निजिर्-भज्-भञ्ज्-भुज्-भ्रस्ज्-मस्ज्-यज्-युज्-रुज्-रञ्ज्-विजिर्-स्वञ्ज्-सञ्ज्-सृज पञ्चदश। दान्तेषु अद्-क्षुद्-खिद्-छिद्-तुद्-नुद्-पद्य-भिद्-विद्य-विनद्-विन्द्-शद्-सद्-स्विद्य-स्कन्द्-हद षोडश। धान्तेषु क्रुध्-क्षुध्-बुध्य-बन्ध्-युध्-रुध्-राध्-व्यध्-शुध्-साध्-सिध्या एकादश। नान्तेषु मन्यहनौ द्वौ। पान्तेषु आप्-क्षिप्-छुप्[3]-तप-तिप्-तृप्य-दृप्य-लिप्-लुप्-वप्-शप्-स्वप्-सृपस्त्रयोदश। भान्तेषु यभ्-रम्-लभस्त्रय। मान्तेषु गम्-नम्-यम्-रमश्चत्वार। शान्तेषु क्रुश्-दंश्-दिश्-दृश्-मृश्-रिश्-रुश्-विश्-स्पृशो दश। यान्तेषु कृम्-त्विष्-तुप्-द्विप्-दुष्-पुष्य पिष्-विष्-शिष्-शुष्-श्लिष्या एकादश। सान्तेषु घस्-वसती द्वौ। हान्तेषु दह्-दिह्-दुह्-नह्-मिह्-रुह्-लिह्-वहोऽष्टौ।

अनुदात्ता हलन्तेषु धातवस्त्र्यधिकं शतम् ( १०३ ) ॥

व्याख्या—यहाँ ग्रन्थकार ने ककाराद्यन्त क्रम का आश्रय लिया है।

ककारान्त धातुओं में एक शक्लृ शक्तौ (सकना, समर्थ होना, स्वा० परस्मै०) धातु ही अनुदात्त है। 'शक्लृ' में लृकार जोडने का प्रयोजन यह है कि इस का 'शकि

---

स्यविष्यति; षीङ्—शयिता, शयिष्यते, स्नु—स्नविता, स्नविष्यति, नु—नविता, नविष्यति, क्षु—क्षविता, क्षविष्यति, ष्टिव—ष्ठयिता, ष्ठयिष्यति; ढीङ्—डयिता, डयिष्यते, श्रिञ्—श्रयिता, श्रयिष्यति, वृङ्—वरिता, वरिष्यति, वृञ्—वरिता, वरिष्यति आदि। इन में सर्वत्र 'आर्धधातुकस्येड्०' (४०१) द्वारा इट् हो जाता है।

१ यह परिगणन एकाच् धातुओं के विषय में है अत जागृ, दरिद्रा आदि अनेकाच् धातुओं को यह लक्ष्य नहीं बनाता।

२ शक्लृ+एक इतिच्छेद। यण्। अत्र अविभक्तिको निर्देश। एवम् 'प्रच्छ्येक' इत्यत्राप्यूह्यम्।

३ प्राय लघुकौमुदी के सस्करणों में 'छुप्' के स्थान पर 'क्षुप्' पाठ मुद्रित मिलता है पर वह सर्वथा अशुद्ध है, क्योंकि पाणिनीयव्याकरण में 'क्षुप्' धातु कहीं उपलब्ध नहीं।

शङ्कायाम्' (भ्वा० आत्मने०) तथा 'शक मर्षणे' (दिवा० उभय०) से भेद हो सके। दे दोनों धातु उदात्त हैं अतः उन में इट् का आगम हो जायेगा। परन्तु महाभाष्य के अनुसार दैवादिक शक् धातु भी अनुदात्त है (देखें लघुशब्देन्दुशेखर यही स्थल)।

चकारान्त धातुओं में छः धातु अनुदात्त हैं। (१) पच्—डुपचँष् पाके (पकाना, भ्वा० उभय०)[1]। (२) मुच्—मुचॢँ मोक्षणे (छोड़ना, तुदा० उभय०)। (३) रिच्—रिचिर् विरेचने (दस्त लगाना, खाली करना, रुधा० उभय०) तथा रिच वियोजन-सम्पर्चनयोः (अलग करना, मिलाना, चुरा० उभय० आधृषीय)। (४) वच्—वच परिभाषणे (बोलना, अदा० परस्मै०) तथा 'ब्रुवो वचिः' (५९६) सूत्र द्वारा ब्रू के स्थान पर हुआ वच् आदेश। (५) विच्—विचिर् पृथग्भावे (अलग करना, रुधा० उभय०)। (६) सिच्—षिचँ क्षरणे (सींचना, तुदा० उभय०)।

छकारान्तों में केवल एक धातु प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् (पूछना, तुदा० परस्मै०) अनुदात्त है।

जकारान्तों में पन्द्रह धातु अनुदात्त हैं। (१) त्यज हानौ (छोड़ना, भ्वा० परस्मै०)। (२) निजिर्—णिजिर् शौचपोषणयोः (शुद्ध करना या पोषण करना, जुहो० उभय०)। (३) भज सेवायाम् (सेवा करना, भ्वा० उभय०)। (४) भञ्ज्—भञ्जोँ आमर्दने (तोड़ना, रुधा० परस्मै०)। (५) भुज्—भुज पालनाऽभ्यवहारयोः (पालन करना खाना, रुधा० परस्मै०) तथा भुजोँ कौटिल्ये (टेढ़ा करना, तुदा० परस्मै०)। (६) भ्रस्ज पाके (पकाना-भूनना, तुदा० उभय०)। (७) मस्ज्—टुमस्जोँ शुद्धौ (शुद्ध होना, डुबकी लगाना, तुदा० परस्मै०)। (८) यजँ देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु (यज्ञ करना आदि, भ्वा० उभय०)। (९) युज्—युजिर् योगे (जोड़ना, रुधा० उभय०), युजँ समाधौ (समाहित होना, दिवा० आत्मने०) तथा युज संयमने (बान्धना, चुरा० उभय० आधृषीय)। (१०) रुज्—रुजोँ भङ्गे (तोड़ना तुदा० परस्मै०)। (११) रञ्जँ रागे (रंगना, अनुरक्त होना, भ्वा० उभय०, दिवा० उभय०)। (१२) विजिर् पृथग्भावे (अलग होना, जुहो० उभय०)। सानुबन्ध निर्देश के कारण 'ओविजीँ भयचलनयोः' धातु का ग्रहण नहीं होता। (१३) स्वञ्ज्—ष्वञ्जँ परिष्वङ्गे (आलिङ्गन करना, भ्वा० आत्मने०)। (१४) सञ्ज्—षञ्ज सङ्गे (चिपटना, भ्वा० परस्मै०)। (१५) सृज विसर्गे (छोड़ना, पैदा करना, दिवा० आत्मने०, तुदा० परस्मै०)।

दकारान्तों में सोलह धातु अनुदात्त हैं। (१) अद भक्षणे (खाना, अदा० परस्मै०)। (२) क्षुद्—क्षुदिर् सम्पेषणे (कूटना-पीसना, रुधा० उभय०)। (३) खिद्—खिदँ दैन्ये (खिन्न होना, दिवा० आत्मने०, रुधा० आत्मने०) तथा खिद

---

१. प्रसिद्ध होने से यहां 'डुपचँष् पाके' का ही ग्रहण होता है।

परिघाते (मारना, तुदा० परस्मै०)। (४) छिद्—छिदिर् द्वैधीकरणे (काटना, रुधा० उभय०)। (५) तुद्—तुद व्यथने (पीडा देना, तुदा० उभय०)। (६) नुद्—णुद प्रेरणे (प्रेरित करना, तुदा० उभय०, परस्मै०)। (७) पद्[1]—पदॢ गतौ (जाना या प्राप्त करना, दिवा० आत्मने०)। (८) भिद्—भिदिर् विदारणे (भेदन करना, रुधा० उभय०)। (९) विद्य—श्यनविकरण वाली विद् धातु—विदॢ सत्तायाम् (होना दिवा० आत्मने०)। (१०) विनद्—श्नम्-विकरण वाली विद्—विदॢ विचारणे (विचारना, रुधा० आत्मने०)। (११) विन्द्—नुमागम वाली विद् धातु—विदॢ लाभे (पाना, तुदा० उभय०), इस धातु में 'शे मुचादीनाम्' (६५४) सूत्र से नुम् का आगम होता है[2]। (१२) शद्—शदॢ शातने (नष्ट होना, भ्वा० तुदा० परस्मै०)। (१३) सद्—षदॢ विशरण गत्यवसादनेषु (टूटना, जाना, थकना, भ्वा० तुदा० परस्मै०)। (१४) स्विद्य—श्यन्विकरण वाली स्विद् धातु[3]—ष्विदां गात्रप्रक्षरणे (पसीना आना, दिवा० परस्मै०)। (१५) स्कन्द्—स्कन्दिर् गतिशोषणयो (जाना, सुखाना, भ्वा० परस्मै०)। (१६) हदॅ पुरीषोत्सर्गे (मल त्याग करना, भ्वा० आत्मने०)।

धकारान्तों में ग्यारह धातु अनुदात्त हैं। (१) क्रुध क्रोधे (क्रोध करना, दिवा० परस्मै०)। (२) क्षुध बुभुक्षायाम् (भूखा होना दिवा० परस्मै०)। (३) बुध्य—श्यन्विकरण वाली बुध् धातु[4]—बुधॅ अवगमने (जानना, दिवा० आत्मने०)। (४) बन्ध बन्धने (बांधना, क्रया० परस्मै०)। (५) युधॅ सम्प्रहारे (युद्ध करना, दिवा० आत्मने०)। (६) रुध्—रुधिॅर् आवरणे (रोकना, रुधा० आत्मने०) तथा अनो रधॅ नामे (चाहना, दिवा० आत्मने०)। (७) राध्—राध संसिद्धौ (सिद्ध करना, स्वा०

---

१. कुछ आचार्य रुधादिगण के परस्मैपद में 'पद स्थैर्ये' धातु स्वीकार करते हैं, उस की निवृत्ति के लिये यहां 'पद्य' में श्यन् का निर्देश किया गया है।

२ विद् धातु अदादि, दिवादि, रुधादि, तुदादि तथा चुरादि पांच गणों में पढ़ी गई है (देखो पीछे पृष्ठ ९८)। इन में से केवल तीन अर्थात् दिवादि, रुधादि और तुदादि गणपठितों का ही अमर अनुदात्तों में 'विद्य, विनद्, विन्द्' से निर्देश किया गया है। अवशिष्ट दो में से चुरादिगणीय विद मे तो णिच के कारण इत्संज्ञा का कहीं प्रसङ्ग ही नहीं आता। अत: केवल अदादिगणीय 'विद ज्ञाने' धातु ही अनुदात्तबाह्य अर्थात् उदात्त या सेट् समझनी चाहिये। ध्यान रहे कि काशिका आदि में विन्द् (तुदादिगणीय विद्) धातु को भी सेट् माना गया है परन्तु भाष्यकार ने इसे अनिट् माना है।

३ रुधादिगण में श्यन् नहीं होना अत भ्वादिक 'ष्विदां स्नेहनमोचनयो' तथा 'ष्विदां अव्यक्ते शब्दे' दोनों उदात्त (सेट्) हैं।

४ इस से भ्वादिक 'बुध बोधने' तथा 'बुधिर् बोधने' का यहां ग्रहण न होने से वे दोनों उदात्त (सेट्) हैं।

परस्मै०) तथा राध वृद्धौ (बढ़ना, दिवा० परस्मै०)। (८) व्यध ताडने (बींधना-मारना, दिवा० परस्मै०)। (९) शुध शौचे (पवित्र होना, दिवा० परस्मै०)। (१०) साध संसिद्धौ (सिद्ध करना, स्वा० परस्मै०)। (११) सिध्य—श्यन्विकरण वाली सिध् धातु[1]—षिधृ संराद्धौ (सिद्ध होना, दिवा० परस्मै०)।

नकारान्तों में दो धातु अनुदात्त हैं। (१) मन्य—श्यन्विकरण वाली मन् धातु[2]—मनँ ज्ञाने (जानना-मानना, दिवा० आत्मने०)। (२) हन हिंसागत्योः (हिंसा करना, गमन करना, अदा० परस्मै०)।

पकारान्तों में तेरह धातु अनुदात्त हैं (१) आप्—आप्लृँ व्याप्तौ (प्राप्त करना, स्वा० परस्मै०) तथा आप्लृँ लम्भने (हिंसा करना, चुरा० उभय० आधृषीय)। (२) क्षिप प्रेरणे (फेंकना, दिवा० परस्मै०; तुदा० उभय०)। (३) छुप स्पर्शे (छूना, तुदा० परस्मै०)। (४) तप्—तप सन्तापे (तपना, भ्वा० परस्मै०), तपँ ऐश्वर्ये (ऐश्वर्यवान् होना, दिवा० आत्म०) तथा तप दाहे (जलाना, चुरा० उभय० आधृषीय)। (५) तिप्—तिपृँ क्षरणे (टपकना-चूना, भ्वा० आत्मने०)। (६) तृप्य—श्यन्-विकरण वाली तृप् धातु—तृप प्रीणने (तृप्त होना वा करना, दिवा० परस्मै०)। (७) दृप्य—श्यन् विकरण वाली दृप् धातु—दृप हर्षमोहनयोः (खुश होना, घमण्ड करना, दिवा० परस्मै०)[3]। (८) लिपँ उपदेहे (लीपना, तुदा० उभय०)। (९) लुप्—यहां पिछले तौदादिक धातु के साहचर्य के कारण तौदादिक का ही ग्रहण अभीष्ट है[4]—लुप्लृँ छेदने (काटना, तुदा० उभय०)। (१०) वप्—डुवपँ बीज-सन्ताने (बीज बखेरना, भ्वा० उभय०)। (११) शप्—शपँ आक्रोशे (शाप देना, भ्वा० दिवा० उभय०)। (१२) स्वप्—ष्वप्ँ शये (सोना, अदा० परस्मै०)। (१३) सृप्—सृप्लृँ गतौ (जाना, भ्वा० परस्मै०)।

भकारान्तों में तीन धातु अनुदात्त हैं। (१) यभ मैथुने (मैथुन करना, भ्वा० परस्मै०)। (२) रभँ राभस्ये (आरम्भ करना, भ्वा० आत्मने०)। (३) लभ्—डुलभँष् प्राप्तौ (पाना, भ्वा० आत्मने०)।

---

१ अत एव भौवादिक 'षिध गत्याम्' तथा 'षिधृँ शास्त्रे माङ्गल्ये च' का यहां ग्रहण नहीं, वे दोनों उदात्त (सेट्) हैं।

२. अत एव 'मनुँ अवबोधने' (तना० आत्मने०) धातु उदात्त (सेट्) है।

३. श्यन् विकरणीय (दिवादिगणीय) तृप् और दृप् धातु से परे वलादि आर्धधातुक को 'रधादिभ्यश्च' (६३५) सूत्र द्वारा विकल्प से इट् का आगम होता है अतः उन का यहां अनुदात्तों में पाठ, इण्निषेध के लिये नहीं अपितु 'अनुदात्तस्य चर्दुप०' (६५३) सूत्र द्वारा वैकल्पिक अमागम के लिये किया गया है। इडभावपक्ष में—त्रप्ता, तर्प्ता; द्रप्ता, दर्प्ता।

४. अतः 'लुप विमोहने' (दिवा० परस्मै०) धातु उदात्त (सेट्) है।

मकारान्तों में चार धातु अनुदात्त हैं। गम—गम्लृ गतौ (जाना, भ्वा० परस्मै०)। (२) नम्—णम प्रह्वत्वे शब्दे च (झुकना, शब्द करना, भ्वा० परस्मै०)। (३) यम्—यमूं उपरमे (शान्त होना, भ्वा० परस्मै०)। (४) रम्—रमु क्रीडायाम् (खेलना, भ्वा० आत्मने०)।

शकारान्तों में दस धातु अनुदात्त हैं। (१) कुश आह्वाने रोदने च (बुलाना, रोना, भ्वा० परस्मै०)। (२) दश दंशने (डंक मारना, भ्वा० परस्मै०)। (३) दिश अतिसर्जने (देना, तुदा० परस्मै०)। (४) दृश्—दृशिर् प्रेक्षणे (देखना, भ्वा० परस्मै०)। (५) मृश आमर्शने (छूना, तुदा० परस्मै०)। (६—७) स्पृश रिश हिंसायाम् (हिंसा करना, तुदा० परस्मै०)। (८) लिश अल्पीभावे (कम होना, दिवा० आत्मने०) तथा लिश गतौ (जाना, तुदा० परस्मै०)। (९) विश प्रवेशने (प्रवेश करना तुदा० परस्मै०)। (१०) स्पृश संस्पर्शे (छूना, तुदा० परस्मै०)।

षकारान्तों में ग्यारह धातु अनुदात्त हैं। (१) कृष विलेखने (हल जोतना, भ्वा० परस्मै०, तुदा० उभय०)। (२) त्विषं दीप्तौ (चमकना, भ्वा० उभय०)। (३) तुष प्रीतौ (प्रसन्न होना, दिवा० परस्मै०)। (४) द्विषं अप्रीतौ (द्वेष करना, अदा० उभय०)। (५) दुष वैकृत्ये (दूषित होना, दिवा० परस्मै०)। (६) पुष्य—श्यन् विकरण वाली पुष् धातु—पुष पुष्टौ (पुष्ट करना, दिवा० परस्मै०)। (७) पिष्—पिष्लृं सञ्चूर्णने (पीसना, रुधा० परस्मै०)। (८) विषृ=विष्लृं व्याप्तौ (व्याप्त करना, जुहो० उभय०), विषुं सेचने (सींचना, भ्वा० परस्मै०) तथा विष विस्रयोगे (छोड़ना, क्रया० परस्मै०)। (९) शिष्—शिष हिंसायाम् (हिंसा करना, भ्वा० परस्मै०), शिष्लृं विशेषणे (विशिष्ट करना, रुधा० परस्मै०) तथा शिष असर्वोपयोगे (बच रहना, चुरा० उभय० आधृषीय)। (१०) शुष शोषणे (सूखना, दिवा० परस्मै०)। (११) श्लिष्य—श्यन् विकरण वाली श्लिष् धातु—श्लिष आलिङ्गने (आलिङ्गन करना दिवा० परस्मै०)।

सकारान्तों में दो धातु अनुदात्त हैं। घस्—घस्लृं अदने (खाना, भ्वा० परस्मै०)[1]। वसति[2]—भौवादिक वस् धातु—वस निवासे (रहना, भ्वा० परस्मै०)।

हकारान्तों में आठ धातु अनुदात्त हैं। (१) दह भस्मीकरणे (भस्म करना,

---

१. अद् धातु के स्थान पर होने वाला 'घस्लृ' आदेश स्थानिवद्भाव से ही अनुदात्त है।

२ महाभाष्य मे 'वसि प्रसारणी' कहा गया है अर्थात् जिस के स्थान पर सम्प्रसारण होता है उस वस् का यहा ग्रहण अभीष्ट है। सम्प्रसारण भौवादिक वस् के स्थान पर ही होता है आदादिक 'वसें आच्छादने' के स्थान पर नही अत आदादिक वस् धातु अनुदात्त नही है।

जलाना, भ्वा० परस्मै०)। (२) दिहँ उपचये (बढ़ाना, अदा० उभय०)। (३) दुहँ प्रपूरणे (दोहना, अदा० उभय०)। (४) नह्—णहँ बन्धने (बान्धना, दिवा० उभय०)। (५) मिह सेचने (सींचना, भ्वा० परस्मै०)। (६) रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च (उगना, भ्वा० परस्मै०)। (७) लिहँ आस्वादने (चाटना, अदा० उभय०)। (८) वहँ प्रापणे (ले जाना, भ्वा० उभय०)।

इस प्रकार हलन्त धातुओं में अनुदात्तों की संख्या (१०३) होती है (१+६+१+१५+१६+११+२+१३+३+४+१०+११+२+८=१०३)।

'गोपायाम्+कृ+थ' यहां 'कृ' धातु 'ऊदृदन्तैः०' के अनुसार उदात्तों में परिगणित नहीं अतः पारिशेष्यात् अनुदात्त है। इसलिये 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (४७५) सूत्र से इट् का निषेध हो जायेगा। अब 'सार्वधातुकार्धः०' (३८८) से ऋकार को गुण, रपर और बाद में द्वित्व[1] आदि करने पर 'गोपायाञ्चकर्थ, गोपायांचक्रर्थ' ये दो रूप सिद्ध होंगे।

मध्यम० के द्विवचन और बहुवचन में पूर्ववत् क्रमशः 'गोपायाञ्चक्रथुः-गोपायांचक्रथुः; गोपायाञ्चक्र-गोपायांचक्र' रूप बनेंगे।

उत्तम० के एकवचन णल् में—गोपायाम्+कृ+अ। यहां 'णलुत्तमो वा' (४५६) से णल् विकल्प से णित् है। णित्वपक्ष में 'अचो ञ्णिति' (१८२) से वृद्धि तथा णित्वाभावपक्ष में 'सार्वधातुकार्धः०' (३८८) से गुण प्राप्त होता है। परन्तु 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) के कारण इन दोनों से पहले द्वित्व हो जाता है। तदनन्तर वृद्धि और गुण करने पर 'गोपायाञ्चकार-गोपायांचकार, गोपायाञ्चकर-गोपायांचकर' ये चार रूप सिद्ध होते हैं। द्विवचन और बहुवचन में 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) के अनुसार 'व' और 'म' कित् हैं अतः गुण का निषेध हो जाता है—गोपायाञ्चकृव-गोपायांचकृव, गोपायाञ्चकृम-गोपायांचकृम।

यहां तक 'कृ' के अनुप्रयोग की चर्चा हुई। 'भू' का अनुप्रयोग होने पर पूर्ववत 'बभूव' आदि रूप बनते हैं—गोपायाम्बभूव, गोपायाम्बभूवतुः, गोपायाम्बभूवुः आदि।

'अस्' का अनुप्रयोग होने पर 'अत्' धातु के लिँट् के समान प्रक्रिया होती है—गोपायामास, गोपायामासतुः, गोपायामासुः आदि। ध्यान रहे कि यहां अनुप्रयुज्यमान अस् के स्थान पर 'अस्तेर्भूः' (५७६) से भू आदेश नहीं होता क्योंकि वैसा करने पर अस् का अनुप्रयोग निष्फल हो जाता, भू का अनुप्रयोग तो किया ही था।

अब 'आयादयः०' (४६६) से जिस पक्ष में आयप्रत्यय नहीं होता वहां 'गुप्+अ' (णल्) इस अवस्था में गुण से पूर्व द्वित्वादि हो कर—जुगुप्+अ। अब लघूपधगुण

---

१. ध्यान रहे कि यहां अच् परे नहीं है अतः 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) निषेध नहीं करेगा, तब परत्व के कारण प्रथम गुण हो कर बाद में द्वित्व होगा।

करने से—जुगोप । द्विवचन और बहुवचन में 'असयोगाल्लिट् कित्' (४५२) से कित्त्व के कारण गुण नहीं होता—जुगुपतु, जुगुपु ।

मध्यमपु० के एकवचन में सिप् को थल् हो कर 'गुप्+थ' इस स्थिति में गुप्-धातु के अनुदात्तवान् होने से इट् का आगम प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४७६) स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा ।७।२।४४॥

स्वरत्यादेरूदितश्च परस्य वलादेरार्धधातुकस्येड् वा । जुगोपिथ-जुगोप्थ । गोपायिता-गोपिता-गोप्ता । गोपायिष्यति गोपिष्यति-गोप्स्यति । गोपायतु । अगोपायत् । गोपायेत् । गोपाय्यात्-गुप्यात् । अगोपायीत् ॥

अर्थ—स्वरति, सूति, सूयति, धूञ् और ऊदित् धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम हो ।

व्याख्या—स्वरति-सूति-सूयति धूञ् ऊदित ।५।१। वा इत्यव्ययपदम् । 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' का अनुवर्त्तन होता है । ऊत् (दीर्घ ऊकार) इत् यस्य स ऊदित् बहुव्रीहि । स्वरतिश्च सूतिश्च सूयतिश्च धूञ् च ऊदित् च स्वरति-सूति-सूयति धूञूदित्, तस्मात् । समाहारद्वन्द्व । अर्थ—(स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितः) स्वरति, सूति, सूयति, धूञ् इन धातुओं से तथा दीर्घ ऊकार जिस का इत् हो उस धातु से परे (वलादेः) वलादि (आर्धधातुकस्य) आर्धधातुक का अवयव (इट्) इट् (वा) विकल्प से हो जाता है। 'स्वरति' से 'स्वृ शब्दोपतापयोः' (शब्द करना, दुःख देना, भ्वा० परस्मै०), 'सूति' से अदादिगणीय 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' (पैदा करना, अदा० आत्मने०), 'सूयति' से दिवादिगणीय 'षूङ् प्राणिप्रसवे' (पैदा करना, दिवा० आत्मने०), 'धूञ्' से 'धूञ् कम्पने' (कम्पाना-हिलाना, स्वा० क्रया० उभय०) तथा ऊदित् से गुपूं गाहूं प्रभृति धातुओं का ग्रहण होता है। इन के उदाहरण यथा—

स्वरति—स्वरिता, स्वर्ता । सूति—सविता, सोता । सूयति—सविता, सोता । धूञ—धविता, धोता । ऊदित्—गोपिता, गोप्ता इत्यादि ।

गुपूं धातु ऊदित् है अतः इस से परे वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम विकल्प से होगा । 'गुप्+थ' यहां इट् का आगम हो कर द्वित्व तथा लघूपधगुण करने से—जुगोपिथ । इट् के अभाव में—जुगोप्थ । इसी प्रकार वस् और मस् में भी दो दो रूप बनेंगे—जुगुपिव जुगुप्व, जुगुपिम-जुगुप्म[1] । णिच् में समग्र रूपमाला यथा—

---

१ कई आचार्य यहां क्रादिनियम से नित्य इट् का विधान मानते हैं अतः उन के मत में 'जुगोप्थ, जुगुप्व, जुगुप्म' रूप नहीं बनते । एतद्विषयक विस्तृत विचार क्रादिनियम (४७९) पर देखें ।

आयपक्षे—(कृञोऽनुप्रयोगे) गोपायाञ्चकार, गोपायाञ्चक्रतुः, गोपायाञ्चक्रुः। गोपायाञ्चकर्थ, गोपायाञ्चक्रथुः, गोपायाञ्चक्र। गोपायाञ्चकार-गोपायाञ्चकर, गोपायाञ्चकृव, गोपायाञ्चकृम। (भूधातोरनुप्रयोगे) गोपायाम्बभूव, गोपायाम्बभूवतुः, गोपायाम्बभूवुः। गोपायाम्बभूविथ, गोपायाम्बभूवथुः, गोपायाम्बभूव। गोपायाम्बभूव, गोपायाम्बभूविव, गोपायाम्बभूविम[1]। (अस्धातोरनुप्रयोगे) गोपायामास, गोपायामासतुः, गोपायामासुः। गोपायामासिथ, गोपायामासथुः, गोपायामास। गोपायामास, गोपायामासिव, गोपायामासिम। आयाऽभावे—जुगोप, जुगुपतुः, जुगुपुः। जुगोपिथ-जुगोप्थ, जुगुपथुः, जुगुप। जुगोप, जुगुपिव-जुगुप्व, जुगुपिम जुगुप्म।

लुँट् में तास् प्रत्यय होता है वह 'आर्धधातुकं शेषः' (४०४) के अनुसार आर्धधातुक है। अतः उस की विवक्षा मे आयप्रत्यय (४६६) सूत्र से विकल्प से होगा। आयपक्ष में 'गोपाय+इतास्+आ' यहां पर 'अतो लोप.' (४७०) से अकार का लोप करने से—गोपायिता। आय के अभाव मे गुपूं के ऊदित् होने से इट् का विकल्प हो जायेगा—गोपिता-गोप्ता। रूपमाला यथा—आयपक्षे—गोपायिता, गोपायितारौ, गोपायितारः। गोपायितासि, गोपायितास्थ, गोपायितास्थ। गोपायितास्मि, गोपायितास्वः, गोपायितास्मः। आयाऽभावे—(इट्पक्षे) गोपिता, गोपितारौ, गोपितारः। गोपितासि, गोपितास्थः, गोपितास्थ। गोपितास्मि, गोपितास्वः, गोपितास्मः। इटोऽभावे) गोप्ता, गोप्तारौ, गोप्तारः। गोप्तासि, गोप्तास्थः, गोप्तास्थ। गोप्तास्मि, गोप्तास्वः, गोप्तास्मः।

लृँट् में 'स्य' प्रत्यय आर्धधातुक है अतः उस की विवक्षा में आय का विकल्प होगा। आयपक्ष में 'गोपाय+इस्य+ति' में पूर्ववत् अकार का लोप होकर—गोपायिष्यति। आय के अभाव में इट् का विकल्प होने से इट्पक्ष में 'गोपिष्यति' और इट् के अभाव में 'गोप्स्यति'। रूपमाला यथा—आयपक्षे—गोपायिष्यति, गोपायिष्यतः, गोपायिष्यन्ति। आयाभावे—(इट्पक्षे) गोपिष्यति, गोपिष्यतः, गोपिष्यन्ति। (इटोऽभावे) गोप्स्यति, गोप्स्यतः, गोप्स्यन्ति आदि।

लोँट्, लँङ् और विधिलिँङ् में कोई आर्धधातुक प्रत्यय नहीं होता अतः लँट् की तरह नित्य आयप्रत्यय हो जाता है। लोँट्—गोपायतु-गोपायतात्, गोपायतात्, गोपायन्तु। लँङ्—अगोपायत्, अगोपायताम्, अगोपायन्। वि० लिँङ्—गोपायेत्, गोपायेताम्, गोपायेयुः।

आशीर्लिँङ् में 'लिँङाशिषि' (४३१) के अनुसार यासुट् आर्धधातुक होता है अतः उस की विवक्षा में आयप्रत्यय का विकल्प होगा। 'गोपाय+यास् त्' यहां 'अतो

---

१. यहां अनुस्वारपक्षीय 'गोपायांचकार, गोपायांबभूव' आदि रूपों की भी स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये।

लोप' (४७०) से अकार का लोप करने से—गोपाय्यात्। आय के अभाव मे यास् के वलादि न होने के कारण इट् का विकल्प न होगा अत —गुप्यात्। रूपमाला यथा—(आयपक्षे) गोपाय्यात्, गोपाय्यास्ताम्, गोपाय्यासु। (आयाऽभावे) गुप्यात्, गुप्यास्ताम्, गुप्यासु।

लुंड् मे सिंच्प्रत्यय आर्धधातुक होता है अत उस की विवक्षा में आयप्रत्यय का विकल्प हो जायेगा। 'अगोपाय+इस्+ईत्' इस स्थिति में 'अतो लोप' से अकार का लोप हो कर—अगोपायीत्। आय के अभाव मे 'स्वरतिसूति०' सूत्र से इट् का विकल्प हो जायेगा। इट्पक्ष मे—'अगुप्+इस्+ईत्' इस अवस्था में हलन्त होने से 'वदव्रजहलन्तस्याच' (४६५) सूत्र से गुप् के उकार को वृद्धि प्राप्त होती है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्— (४७७) नेटि ।७।२।४॥

इडादौ सिंचि हलन्तस्य वृद्धिर्न। अगोपीत्-अगोप्सीत् ॥

अर्थ —इडादि सिंच् परे होने पर हलन्त धातु के स्थान पर वृद्धि नहीं होती।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। इटि ।७।१। हलन्तस्य ।६।१। ('वदव्रज०' से) 'सिंचि वृद्धि परस्मैपदेषु' सूत्र का अविकल अनुवर्तन होता है। 'इटि' यह 'सिचि' का विशेषण है। इट् का आगम टित्त्व के कारण आद्यवयव हुआ करता है अत तदादि-विधि हो कर 'इडादौ सिंचि' बन जायेगा। अर्थ —(इटि=इडादौ) इडादि (सिंचि) सिंच् परे होने पर (हलन्तस्य) हलन्त अङ्ग के स्थान पर (वृद्धि) वृद्धि (न) नहीं होती (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्ययों के परे रहते[1]।

'वदव्रजहलन्तस्याच' (४६५) द्वारा वद्, व्रज् और हलन्त धातुओं को सिंच् परे होने पर वृद्धि कही गई है, उस का यहा इडादि सिंच् मे निषेध किया गया है। वद् और व्रज् का विशेष विधान है अत उन मे निषेध प्रवृत्त नही होगा, निषेध केवल हलन्तो में ही होगा। तब 'वदव्रज०' सूत्र का हलन्ताश कहा प्रवृत्त होगा? इस का उत्तर यह है कि 'अगोप्सीत्' आदि में, जहा इट् का आगम नहीं होता वहा वह चरितार्थ हो जायेगा।

'अगुप्+इस्+ईत्' यहा इडादि सिंच् परे है अत प्रकृतसूत्रद्वारा हलन्त-लक्षणा वृद्धि का निषेध हो कर लघूपधगुण करने से—अगोपीत्। इडागम के अभाव

---

१ वृत्ति में 'परस्मैपदेषु' नहीं लिखा। इस का कारण यह है कि यह निषेधसूत्र है। विहित का ही निषेध किया जाता है। जब परस्मैपदों के सिवाय अन्यत्र कहीं वृद्धि प्राप्त ही नही तो निषेध भी स्वत परस्मैपदो में ही होगा, अत उसे लिखने की आवश्यकता नही।

में 'अगुप्+स्+ईत्' इस स्थिति में 'वदव्रज०' द्वारा हलन्त गुप् के उकार को औकार वृद्धि हो कर—अगोप्सीत्। ध्यान रहे कि यहां इट् से परे सिँच् नहीं अतः 'इट ईटि' (४४६) से सकार का लोप नहीं होता।

लुँङ् के आयपक्ष तथा इट्पक्ष में आगे कुछ विशेष नहीं। इट् के अभावपक्ष में कुछ विशेष कार्य है। प्रथमपु० के द्विवचन में 'अगुप्+स्+ताम्' इस स्थिति में हलन्तलक्षणा वृद्धि हो कर 'अगोप्+स्+ताम्' हुआ। अब यहाँ सकार का लोप करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् - (४७८) झलो झलि ।८।२।२६॥

झलः परस्य सस्य लोपो झलि। अगोप्ताम्, अगोप्सुः। अगोप्सीः, अगोप्तम्, अगोप्त। अगोप्सम्, अगोप्स्व, अगोप्स्म। अगोपायिष्यत्-अगोपिष्यत्-अगोप्स्यत्॥

अर्थः—झल् से परे सकार का लोप हो झल् परे हो तो।

व्याख्या—झलः ।५।१। झलि ।७।१। सस्य ।६।१। ('रात्सस्य' से)। लोपः ।१।१। ('संयोगान्तस्य लोपः' से)। अर्थः—(झलः) झल् से परे (सस्य) स् का (लोपः) लोप हो (झलि) झल् परे हो तो। तात्पर्य यह है कि दो झलों के मध्य में आने वाले स् का लोप हो जाता है [1]।

'अगोप्+स्+ताम्' यहां पकार-झल् से परे स् विद्यमान है इस से परे ताम् का तकार-झल् है अतः दो झलों के मध्यगत सकार का लोप हो कर 'अगोप्ताम्' रूप सिद्ध होता है। बहुवचन उस् में—अगोप्सुः। यहां झल् से परे सकार तो है परन्तु उस से परे झल् नही अतः सकार का लोप नही होता। मध्यम पु० के एकवचन में—अगोप्सीः। द्विवचन और बहुवचन में—अगोप्तम्, अगोप्त। इन में झल् से परे सकार का लोप हो जाता है। उत्तम० में—अगोप्सम्, अगोप्स्व, अगोप्स्म। वस् और मस् में झल् परे नही अतः सकार का लोप नही होता। लुँङ् में रूपमाला यथा—आयपक्षे—अगोपायीत्, अगोपायिष्टाम्, अगोपायिषुः। अगोपायीः, अगोपायिष्टम्, अगोपायिष्ट। अगोपायिषम्, अगोपायिष्व, अगोपायिष्म। आयाभावे—(इट्पक्षे) अगोपीत्, अगो-

---

१. 'सोमसुत्स्तोता, दृषत्स्थानम्' इत्यादियों में झलों के मध्यस्थित सकार का लोप क्यों नही होता? इस का उत्तर यह है कि यह सम्पूर्ण प्रकरण (धि च, झलो झलि, ह्रस्वादङ्गात्, इट ईटि) सिँच्सम्बन्धी सकार के लिये ही अभीष्ट है अतः इन स्थानों पर सकार का लोप नही होता। अथवा यहां 'पदस्य' का अधिकार आ रहा है। तीनों यदि एक ही पद के हों तभी लोप होता है अन्यथा नहीं। इन स्थानों पर प्रथम झल् अन्य पद में स्थित है अतः उस से परे सकार का लोप नहीं होता।

पिष्टाम्, अगोपिषु । अगोपी, अगोपिष्टम्, अगोपिष्ट । अगोपिषम्, अगोपिष्व, अगोपिष्म । (इटोऽभावे) अगोप्सीत्, अगोप्ताम्, अगोप्सु । अगोप्सीः, अगोप्तम्, अगोप्त । अगोप्सम्, अगोप्स्व, अगोप्स्म ।

लुँङ् मे 'स्य' प्रत्यय आर्धधातुक होता है अत उस की विवक्षा मे आय प्रत्यय का विकल्प हो जायेगा । आयपक्ष मे 'अगोपाय+इस्य+त्' यहा पर 'अतो लोप' (४७०) से अकार का लोप हो कर पत्व करने से 'अगोपायिष्यत्' । आय के अभाव में इट् करने पर 'अगोपिष्यत्' और इट् के अभाव में 'अगोप्स्यत्' । रूपमाला यथा— आयपक्षे — अगोपायिष्यत्, अगोपायिष्यताम्, अगोपायिष्यन् । आयाऽभावे (इट्पक्षे) अगोपिष्यत्, अगोपिष्यताम्, अगोपिष्यन् । (इटोऽभावे) अगोप्स्यत्, अगोप्स्यताम्, अगोप्स्यन् ।

## अभ्यास (३)

(१) (क) स्वार्थ में प्रत्यय करने का क्या अभिप्राय होता है ?
(ख) आयप्रत्यय हलन्त है या अजन्त ? विवेचन करें ।
(ग) 'सनाद्यन्ता ०' सूत्र मे 'अन्त' के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?
(घ) सन् आदि प्रत्यय कितने और कौन कौन से हैं ?
(ङ) 'आयादय' मे कौन कौन से प्रत्यय लिये जाते हैं ?
(च) 'सोमसुत्+स्तोता' यहा 'झलो झलि' से सकार का लोप क्यों नही होता ?

(२) निम्नलिखित रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
गोपायति, गोपायाञ्चकार, गोपायाचक्रतु, गोपायाञ्चक्रुर्, जुगुप्व, गोपाय्यात्, अगोपीत् अगोप्सीत्, अगोप्ताम् ।

(३) अजन्त धातुओ मे उदात्तों का तथा हलन्तों मे अनुदात्तो का परिगणन क्यों किया गया है ?

(४) मन्थ, पद्य, विन्द्, विनद्, विद्य, वुध्य, सिध्य, सिध्य, सिलध्य— इन मे विकरणादि-निर्देश का क्या प्रयोजन है ?

(५) गुपूँ धातु की लिँट्, लुँङ्, लोँट् और आ० लिँङ मे रूपमाला लिखें ।

(६) 'अतो लोप' सूत्र की व्याख्या करते हुए नवीन और प्राचीन दोनों अर्थों पर प्रकाश डालें ।

(७) 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र की सोदाहरण व्याख्या करते हुए भाष्यसम्मत प्राचीन अर्थ पर प्रकाश डालें ।

(८) वरदराज ने 'द्विर्वचनेऽचि' की वृत्ति मे 'परे' शब्द को क्यो हटा दिया है ?

(९) 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' में 'उपदेशे' पद को दोनो ओर सम्बद्ध करने का क्या प्रयोजन है ?

(१०) अनुप्रयोग किन किन धातुओं का होता है ? सूत्र में उन सब का निर्देश कैसे किया गया है ?

(११) (क) अजन्तों में अनुदात्त धातु कौन २ सी हैं ?
(ख) हलन्तों में अनुदात्त धातु कौन २ सी हैं ?

(१२) (क) 'नेटि' सूत्र वद् व्रज् धातुओं में वृद्धि-निषेध क्यों नहीं करता ?
(ख) तृप् और दृप् धातुओं को अनुदात्त क्यों माना गया है ?
(ग) 'आम्' को मित् क्यों नहीं करते ?
(घ) 'आमः' सूत्र में 'लेः' का अनुवर्त्तन क्यों नहीं करते ?
(ङ) 'गोपायाम्' को पद कैसे माना जाता है ?
(च) 'वसिः प्रसारणी' का क्या अभिप्राय है ?

(१३) निम्न सूत्रों की व्याख्या करें—

स्वरति-सूति०, एकाच उपदेशे०, उरत्, झलो झलि, नेटि ।



[लघु०] क्षि क्षये ॥१३॥ क्षयति । चिक्षाय, चिक्षियतुः, चिक्षियुः । 'एकाचः०' (४७५) इति निषेधे प्राप्ते—

अर्थः—'क्षि' धातु 'क्षीण होना या नष्ट होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—यह धातु अकर्मक है । लँट् में शप्, 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से इकार को एकार गुण तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से एकार को अयादेश हो जाता है —क्षयति, क्षयतः, क्षयन्ति आदि ।

लिँट्—प्रथमपु० के एकवचन में तिप् को णल् हो कर 'क्षि+अ' इस स्थिति में द्वित्व, अभ्यास को चुत्व, हलादिशेष, 'अचो ञ्णिति' (१८२) से इकार को ऐकार वृद्धि तथा 'एचोऽयवायावः' से ऐकार को आयादेश करने से 'चिक्षाय' रूप सिद्ध होता है । द्विवचन में द्वित्व तथा अभ्यासकार्य हो कर 'चिक्षि+अतुस्' इस स्थिति में धातु के असंयोगान्त होने से 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) द्वारा अतुस् के कित्त्व के कारण 'क्ङिति च' (४३३) से गुण का निषेध हो जाता है । अब 'अचि श्नु०' (१९९) से इकार को इयङ् आदेश करने पर चिक्षियतुः' रूप सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहां 'क्ष्' इस संयोग के पूर्व रहने के कारण इकार को 'एरनेकाचः०' (२००) से यण् नहीं हुआ । बहुवचन में भी इसी प्रकार 'चिक्षियुः' रूप बनता है ।

मध्यमपु० के एकवचन में सिप् को थल् आदेश हो कर 'क्षि+थ' इस स्थिति में 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) से इट् का आगम प्राप्त होता है परन्तु 'ऊदन्तैः०' के अनुसार 'क्षि' धातु के अनुदात्त होने के कारण 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (४७५) से उस का निषेध हो जाता है । इस पर अग्रिमसूत्रों से व्यवस्था करते हैं—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—(४७६) कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रुवो लिटि ।७।२।१३॥

क्रादिभ्य एव लिट इण्न स्याद् अन्यस्मादनिटोऽपि स्यात् ॥

अर्थ—कृ, सृ, भृ, वृ, स्तु, द्रु, स्रु, श्रु—इन आठ धातुओं से परे ही लिट् को इट् न हो, अन्य अनिट् धातुओं से परे भी उसे इट् का आगम हो जाये।

व्याख्या—कृ-सृ-भृ वृ-स्तु-द्रु स्रु-श्रुव ।५।१। लिटि ।७।१। न इत्यव्ययपदम्। इट् ।१।१। ('नेड् वशि कृति' से)। इट् का आगम धातु को नहीं अपितु प्रत्यय को हुआ करता है अत 'लिटि' का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो कर 'लिट' बन जाता है। अर्थ—(कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु श्रुव) कृ, सृ, भृ वृ, स्तु, द्रु, स्रु और श्रु—इन आठ धातुओ से परे (लिटि) लिट् को (इट्) इट् का आगम (न) नहीं होता। 'कृ' में कोई अनुबन्ध नही लगाया गया अत 'डुकृञ् करणे' तथा 'कृञ् हिंसायाम्' दोनों का ग्रहण होता है। सृ—सृ गतौ। 'भृ' के निरनुबन्धपाठ से 'भृञ् भरणे' तथा 'डुभृञ् धारणपोषणयो' दोनों का ग्रहण होता है। इसी प्रकार 'वृ' में भी कोई अनुबन्ध नहीं लगा अत 'वृङ् सम्भक्तौ' तथा 'वृञ् वरणे' दोनों का ग्रहण होता है। स्तु—ष्टुञ् स्तुतौ। द्रु—द्रु गतौ। स्रु—स्रु गतौ। श्रु—श्रु श्रवणे। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इन आठों में से प्रथम तीन (कृ, सृ, भृ) धातुओं में 'एकाच उपदेशेऽनु०' (४७५) द्वारा तथा चौथे 'वृ' से 'अचुक क्ति' (६५०) द्वारा लिट् को स्वत ही इट् का निषेध हो जाता है पुन इस सूत्र से निषेध करने का क्या प्रयोजन? इसका उत्तर यह है कि 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ' (सिद्ध होने पर यदि कोई बात दुहराई जाये तो वह नियमार्थ हो जाती है) इस न्यायानुसार यहा इनका ग्रहण नियम के लिये है। इस नियम का स्वरूप इस प्रकार होगा—"कृ आदि धातुओं से परे ही लिट् को इट् का आगम न हो अर्थात् इन से अतिरिक्त अन्य अनिट् (अनुदात्त) धातुओं से परे लिट् को इट् का आगम हो जाये"[1]। इसके अनुसार कृ आदियों से अतिरिक्त धातुओ मे लिट् परे रहते जहा इट् का निषेध प्रसक्त है वहा भी इट् हो जायेगा। यथा भिदिर् विदारणे, छिदिर् द्वैधीकरणे (रुधा० उभय०) ये दोनों धातु अनुदात्त हैं, इन स परे 'एकाच उपदेशेऽनु०' (४७५) द्वारा

---

१ 'यदि कृञ् आदियों से इण्निषेध करना पडे तो वह केवल लिट् मे ही हो' ऐसा नियम क्यों नहीं समझ लेते? इस का उत्तर यह है कि 'कृते ग्रन्थे' (४ ३ ११६), 'तम्यीष्टो भृतो०' (५ १ ७६), 'परिवृतो रथ' (१०३१) इत्यादि सूत्रों में 'कृते, भृत, परिवृत' आदि पद स्पष्ट बता रहे हैं कि इस प्रकार का नियम नही किया जा सकता, अन्यथा ये उपपन्न न हो सकेंगे। अत पूर्वोक्त नियम ही सही है।

लिँट् में इट् का निषेध प्राप्त था परन्तु अब इस नियम के कारण इट् होकर 'विभिदिव, विभिदिम; चिच्छिदिव, चिच्छिदिम' रूप सिद्ध हो जाते हैं।

प्रश्न—कृ, सृ, भृ, वृ—इन चार को तो आप नियमार्थ मान रहे हैं परन्तु अवशिष्ट स्तु आदियों को नियमार्थ क्यों नहीं मानते ? वे भी तो अनुदात्त हैं और उन में भी 'एकाच उपदेशेऽनु०' (४७५) से लिँट् में इण्निषेध सिद्ध था, 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' के अनुसार वे भी नियमार्थ क्यों नहीं ?

उत्तर—उनका ग्रहण तो सप्रयोजन है, क्योंकि जब 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) नियम से थल् में पाक्षिक इट् प्राप्त होता है तब उसके निषेध के लिये उनका यहां ग्रहण आवश्यक है। कृ, सृ, भृ, वृ में तो ऋदन्त होने से 'ऋतो भारद्वाजस्य' द्वारा वैकल्पिक इट् प्राप्त ही नहीं अतः वे ही नियमार्थ हो सकते हैं स्तु-द्रु आदि नहीं। स्तु-द्रु आदियों का यहां ग्रहण दो प्रयोजनों के लिये समझना चाहिये—

(१) थल् में भारद्वाजनियम से प्राप्त इट् के विकल्प का वारण करना। यथा—तुष्टोथ, दुद्रोथ, सुस्रोथ, शुश्रोथ।

(२) य, म, से, ध्वे, वहि, महिङ् में क्रादिनियम से प्राप्त इट् का वारण करना। यथा—तुष्टुव, तुष्टुम; तुष्टुषे, तुष्टुध्वे, तुष्टुवहे, तुष्टुमहे आदि।

तात्पर्य यह है कि लिँट् में स्तु आदियों को कहीं भी इट् न हो—इसलिये इन का यहां ग्रहण किया गया है।

## [क्रादिनियम[1] पर एक विशेष विचार]

यहां पर शंका उत्पन्न होती है कि क्या इट् का जहां स्पष्टतः 'न' कह कर निषेध किया गया हो उस अनिट् धातु में यह नियम प्रवृत्त होता है या जहां इट् का विकल्प होता है उस पाक्षिक अनिट् धातु में भी यह नियम प्रवृत्त होता है ? तत्त्वबोधिनीकार श्रीज्ञानेन्द्रस्वामी ने लिखा है कि यह नियम केवल उन अनिट् धातुओं के लिये ही है जिनमें 'न' कहकर इट् का बिल्कुल निषेध हो जाता है यथा—भिद्, छिद् आदियों में 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से इट् का बिल्कुल निषेध हो जाता है तब इस नियम से लिँट् में इट् का पुनर्विधान किया जाता है। ऊदित् धातुओं में जहां 'स्वरति०' (४७६) सूत्र से इट् का विकल्प किया जाता है वहां इस नियम के द्वारा इट् नहीं करना चाहिये, क्योंकि 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' (अन्तरशून्य कार्य के लिये ही विधान वा निषेध किया जाता है)। यहां अन्तरशून्य कार्य 'नेड् वशि कृति' (८००) द्वारा प्रक्रान्त 'न' ही है। 'स्वरति०' (४०६) वाला 'वा' तो आगे चल कर बहुत दूर

---

१. क्रादिनियम को कई लोग भ्रान्तिवश 'क्र्यादिनियम' लिखते वा पढ़ते हैं, उन से सावधान रहना चाहिये।

में कहा गया है अत उसके विषय मे यह नियम लागू नही होता, इसलिये 'जुगोपिथ-जुगोप्थ' यहा दो रूप बनेंगे। परन्तु महाभाष्य में कृतभूरिपरिश्रम नागेश आदि वैयाकरण इस पक्ष को भाष्यसम्मत नही मानते। उनका कथन है कि 'उपदेशेऽत्वत्' (४८१) के भाष्य से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि यह नियम उन सब धातुओं पर लागू होता है जिनमे इट् का निषेध चाहे 'न' कह कर किया गया हो या 'वा' कह कर। इस प्रकार वे लोग केवल 'जुगोपिथ' रूप को ही सही मानते हैं 'जुगोप्थ' को नहीं। विशेष-जिज्ञासु उनका पक्ष लघुशब्देन्दुशेखर मे इसी सूत्र पर देख सकते हैं। (७ २ ६२) सूत्र की काशिका मे भी इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

'क्षि' धातु 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' के अनुसार अनिट् है। अत क्रादिनियमानुसार इससे परे लिट् के वलादि (थल्, व, म) प्रत्ययों में इट् की पुन प्राप्ति हो जाती है। परन्तु थल् के विषय मे कुछ विशेष है जिसे अगले तीन सूत्रों में स्पष्ट करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(४८०) अचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम् ।७।२।६१॥

उपदेशेऽजन्तो यो धातुस्तासौ नित्याऽनिट्, ततस्थल इण्न ॥

अर्थ—उपदेश मे अजन्त धातु, जो तास् मे नित्य अनिट् हो, उससे परे थल् को इट् का आगम नहीं होता।

व्याख्या—अच ।५।१। तास्वत् इत्यव्ययपदम्। थलि ।७।१। अनिट ।५।१। नित्यम् इति क्रियाविशेषणम्[1]। उपदेशे ।७।१। ('उपदेशेऽत्वत' सूत्र से इसका अपकर्षण होता है)। तासि ।७।१। ('तासि च क्लृप' से)। इट् ।१।१। ('गमेरिट्०' से)। न इत्यव्ययपदम् ('न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' से)। यहां पर 'धातो' पद का अध्याहार किया जाता है क्योंकि धातु से परे ही थल् का आना सम्भव है। 'अच' पद 'धातो' का विशेषण है अत विशेषण से तदन्तविधि होकर 'अजन्ताद् धातो' बन जाता है। 'तास्वत्' पद में सप्तम्यन्त से वतिप्रत्यय किया गया है—तासौ इव तास्वत्, तास् में की तरह। अर्थ—(उपदेशे) उपदेश मे ऐसी (अच =अजन्ताद्धातो) अजन्त धातु जो (तासौ नित्यम् अनिट) तास् में नित्य अनिट् हो उस से परे (तास्वत् थलि इट् न) जैसे तास् में इट् नहीं होता वैसे थल् मे भी नही होता। यह सूत्र क्रादिनियम से प्राप्त इट् आगम का कालिक अपवाद है। उदाहरण यथा—'क्षि' धातु उपदेश मे अजन्त है, तास् (क्षेता आदि) मे 'एकाच०' (४७५) के अनुसार नित्य अनिट् है। इस से क्रादिनियम के अनुसार लिट् में इट् प्राप्त था परन्तु प्रकृतसूत्र से थल् में उसका निषेध हो जाता है (अभी आगे चल कर विकल्प होना है वहीं रूप लिखेंगे)।

---

१. नित्यं यथा भवति तथाऽनिट ।

इस सूत्र में यदि 'उपदेशे' पद न लाते तो 'जहर्थ' रूप न बन सकता। तथाहि— 'हृ' धातु से नित्यत्व तथा परत्व के कारण थल् में सर्वप्रथम गुण हो कर[1]—हर् +थ। अब यहां क्रादिनियम से प्राप्त इडागम को यह सूत्र रोक नही सकता, क्योंकि धातु तो अब अजन्त रही नहीं। परन्तु यदि सूत्र में 'उपदेशे' पद रखते हैं तो यह सूत्र निर्बाध प्रवृत्त हो जाता है क्योंकि चाहे अब धातु हलन्त हो गई है परन्तु उपदेश में तो अजन्त थी इसी बात को लेकर श्रीहरदत्त 'पदमञ्जरी' में लिखते हैं—

"उपदेशग्रहोऽप्यत्र वक्ष्यमाणोऽपकृष्यते ।
गुणे नित्ये कृतेऽप्येष ऋदन्ते प्राप्नुयात्कथम् ॥"

इस सूत्र में यदि 'अचः' अर्थात् अजन्त का उल्लेख न करते तो हलन्त धातुओं में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति हो कर अनिष्ट उत्पन्न हो जाता। यथा—(भिद्) विभेदिथ, (छिद्) चिच्छेदिथ, यहां क्रादिनियम से प्राप्त इट् का निषेध हो जाता।

'तास् में अनिट्' कहने से 'बभूविथ' में इट् का निषेध नहीं होता। भू धातु क्त्वा में (भूत्वा) 'श्रयुकः किति' (६५०) से कित् होने के कारण अनिट् है परन्तु तास् में अनिट् नहीं वहां (भविता) इट् होता है अतः थल् में निषेध नहीं होता।

तास् में 'नित्य' अनिट् कहने से 'स्वृ' धातु के थल् में इस निषेध की प्रवृत्ति नही होती। स्वृ धातु 'स्वरतिसूति०' (४७६) के अनुसार तास् में विकल्प कर के अनिट् है, वहां इसके 'स्वरिता, स्वर्ता' दो रूप बनते है। अतः थल् में इस निषेध की प्रवृत्ति न हो कर 'सस्वरिथ, सस्वर्थ' दो रूप बनेंगे।

तास्वत् अर्थात् तास् में की तरह थल् में इट् न हो। यहां 'तास्वत्' कथन का यह अभिप्राय है कि जैसे तास् में इट् नही होता वैसे थल् में भी न हो। यदि किसी धातु का तास् में प्रयोग ही न होगा तो उसके थल् में यह निषेध प्रवृत्त न होगा। यथा 'लिटचन्यतरस्याम्' (५५३) द्वारा अद् धातु को लिट् में घस्लृ आदेश होता है, यह आदेश तास् में तो होता नही अतः तास् मे प्रयोग के न होने से इस सूत्र द्वारा थल् में निषेध न होगा। वहां इसका 'जघसिथ' रूप निर्बाध बन जायेगा।

यह सूत्र थल् में ही इट् का निषेध करता है अन्यत्र नहीं। अतः 'चिक्षियिव, चिक्षियिम' में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जायेगा।

अब इसी प्रसङ्ग का अगला सूत्र दर्शाते हैं—

[लघु०] निषेधसूत्रम्—(४८१) उपदेशेऽत्वतः ।७।२।६२॥

उपदेशेऽकारवतस्तासौ नित्यानिटः परस्य थल इण्न स्यात् ॥

---

१. ध्यान रहे कि यहां 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) सूत्र गुण को नहीं रोक सकता क्योंकि अच् परे नहीं है।

अर्थ —उपदेश में ह्रस्व अकार वाली धातु जो तास् में नित्य अनिट् हो उससे परे थल् को इट् न हो।

व्याख्या —उपदेशे ।७।१। अत्वत. ।५।१। नित्यम् इति क्रियाविशेषणम्। अनिट ।५।१। थलि ।७।१। तास्वत् इत्यव्ययपदम् ('अचस्तास्वत्यल्यनिटो नित्यम्' से)। तासि ।७।१। ('तासि च क्लृप' से)। इट् ।१।१। ('गमेरिट्०' से) न इत्यव्ययपदम्('न वृद्भ्य-श्चतुर्भ्यः' से)। यहा पर भी पूर्ववत् 'धातो' का अध्याहार किया जाता है। अत् (ह्रस्वोऽकार) अस्त्यस्मिन्निति अत्वान्, तस्य=अत्वत, 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इति मतुप्प्रत्यय। अर्थ —(उपदेशे) उपदेश में (अत्वत) ह्रस्व अकार वाली (धातो) धातु जो (तासौ) तास् में (नित्यम्) नित्य (अनिट) अनिट् हो उससे परे (तास्वत् थलि इट् न) जैसे तास् में इट् नही होता वैसे थल् में भी इट् न हो। पिछले सूत्र में अजन्त धातुओं के विषय में निषेध किया गया था अब इस सूत्र के द्वारा ह्रस्व अकार वाली धातुओं के विषय में भी निषेध किया जाता है। ह्रस्व अकार वाली धातु यथा —पच्, शक्, रञ्ज् आदि। ये सब तास् में नित्य अनिट् हैं, तास् में इनके 'पक्ता, शक्ता, रङ्क्ता' आदि रूप बनते हैं। अत इन से परे थल् में भी इट् का निषेध हो जायेगा—पपक्थ, शशक्थ, ररङ्क्थ।

इस सूत्र मे यदि 'उपदेशे' पद का ग्रहण नही करेंगे तो 'कृष विलेखने' के थल् में 'चकर्षिथ' यह अभीष्ट रूप न बन सकेगा। तथाहि 'कृष्+थल्' यहा परत्व तथा नित्यत्व के कारण प्रथम लघूपधगुण हो कर—कर्ष्+थ। अब यदि 'उपदेशे' नहीं कहते तो यहां क्रादिनियम से प्राप्त इडागम को यह सूत्र रोक लेता है, क्योंकि अब धातु अत्-वाली बन चुकी है। परन्तु यदि सूत्र में 'उपदेशे' पद रखते हैं तो यह सूत्र बाधक नहीं बनता। चाहे धातु अब अत्-वाली बन चुकी है, उपदेश में तो वह अत्-वाली न थी ऋकारोपध थी। अत क्रादिनियम निर्बाध प्रवृत्त हो जायेगा।

यहां 'अत्वत' (ह्रस्व अकार वाली धातु) कहने से 'रराधिथ, बिभेदिथ, चिच्छेदिथ' आदियों में निषेध न होगा, वहा क्रादिनियम से नित्य इट् हो जायेगा।

'तास् मे नित्य अनिट्' कहने से 'अञ्जू' धातु के थल् मे यह निषेध प्रवृत्त नहीं होता, 'आनञ्जिथ' रूप बनता है। अञ्जू धातु तास् में नित्य अनिट् नहीं अपितु 'स्वरतिसूतिसूयति०' (४०६) से वहा वैकल्पिक इट् का विधान है।

पूर्वोक्त दोनों सूत्रों के द्वारा तास् में नित्यानिट् अजन्त तथा अत्-वाली धातुओं से थल् में इट् का निषेध किया गया है। अब अग्रिमसूत्र द्वारा इस विषय मे भारद्वाज-मुनि का मत दर्शाते हैं—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—(४८२) ऋतो भारद्वाजस्य ।७।२।६३॥

तासौ नित्यानिट ऋदन्तादेव थलो नेट्, भारद्वाजस्य मते। तेन अन्य-

स्य स्यादेव ॥

**अर्थः**—भारद्वाज ऋषि का मत है कि तास् में नित्यानिट् केवल ऋदन्त धातु से परे ही थल् को इट् न हो, अन्य धातुओं के थल् को इट् हो जाये।

**व्याख्या**—ऋतः ।५।१। भारद्वाजस्य ।६।१। तासि ।७।१। ('तासि च क्लृपः' से) 'तास्वत्यल्यनिटो नित्यम् इट् न' इन पदों का पूर्ववत् अनुवर्त्तन होता है। अर्थः—(तासि) तास् में (नित्यम्) नित्य (अनिटः) अनिट् (ऋतः=ऋदन्ताद् धातोः) ऋदन्त धातु से परे (तास्वत् थलि इट् न) जैसे तास् में इट् नहीं होता वैसे थल् में भी इट् न हो(भारद्वाजस्य) भारद्वाज के मत में। ऋदन्त से थल् में इट् का निषेध 'अचस्तास्वत्०' (४८०) सूत्र से सिद्ध था ही, पुनः उसके लिये भारद्वाज के मत का उल्लेख व्यर्थ है। अतः 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' के अनुसार यह सूत्र नियमार्थ है। 'तास् में नित्यानिट् केवल ऋदन्त धातु से परे ही थल् को इट् न हो, अन्य धातुओं से परे थल् को इट् हो जाये' इस प्रकार के नियम से भारद्वाज के मत में ऋदन्तभिन्न धातुओं के थल् में इट् का विधान सिद्ध हो जाता है। पाणिनि आदि आचार्य अजन्तधातु मात्र से निषेध करते हैं परन्तु भारद्वाज केवल ऋदन्तों से ही निषेध करता है अन्यों से नहीं। हमें तो सब ऋषि प्रमाण हैं अतः ऋदन्तभिन्न धातुओं से परे थल् को इट् का आगम होगा भी (भारद्वाज के मत में) और नहीं भी होगा (अन्य आचार्यों के मत में), इस प्रकार विकल्प सिद्ध हो जायेगा। उदाहरणार्थ—या प्रापणे (जाना, अदा० परस्मै०) धातु को लीजिये। यह तास् में नित्य अनिट् है—याता, यातारौ, यातारः। लिट् में क्रादिनियम से इसे इट् प्राप्त है, किन्तु थल् में 'अचस्तास्वत्०' (४८०) से इण्निषेध होता है। परन्तु भारद्वाजमुनि ऋदन्तभिन्न होने के कारण इस से परे थल् में इट् का विधान करते हैं। इस प्रकार भारद्वाज के मत में 'ययिथ' तथा अन्य आचार्यों के मत में 'ययाथ' ये दो रूप सिद्ध हो जाते हैं।

इसी प्रकार प्रकृत 'क्षि' धातु में क्रादिनियमानुसार लिट् में सर्वत्र इट् प्राप्त होता है। 'अचस्तास्वत्०' (४८०) से थल् में उसका निषेध हो जाता है। परन्तु ऋदन्तभिन्न होने के कारण भारद्वाज इस में इट् का विधान मानते हैं। इस प्रकार थल् में विकल्प से इट् हो कर इट्पक्ष में द्वित्वादि, गुण और 'एचोऽयवायावः' (२२) से अयादेश करने पर 'चिक्षयिथ' तथा इट् के अभाव में 'चिक्षेथ' दो रूप बन जाते हैं।

अब पूर्वोक्त चारों सूत्रों का सार छात्रों की सुविधा के लिये एक कारिका में बद्ध करते हैं—

[लघु०] अजन्तोऽकारवान् वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम्।
ऋदन्त ईदृङ् नित्याऽनिट् क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत्॥

चिक्षयिथ-चिक्षेथ; चिक्षियथुः, चिक्षिय। चिक्षाय-चिक्षय, चिक्षियिव-चिक्षियिम। क्षेता। क्षेष्यति। क्षयतु। अक्षयत्। क्षयेत्॥

अर्थ—तास् में नित्यानिट् अजन्त तथा ह्रस्वाकारयुक्त धातु से परे थल् में इट् का विकल्प हो जाता है। इस प्रकार की ऋदन्त धातु थल् में नित्य अनिट् होती है। कृ, सृ, भृ आदि आठ धातुओं से अतिरिक्त सब धातु लिंट् मे सेट् होते हैं।

व्याख्या—यह कारिका भट्टोजिदीक्षितनिर्मित है और पूर्वोक्त चारों सूत्रों के विषय को ध्यान मे रख कर बनाई गई है। इस मे निम्न तीन नियमों का प्रतिपादन किया गया है—

(१) तास् में नित्य अनिट् रहनेवाली धातु यदि अजन्त[1] या ह्रस्व अकार से युक्त होगी तो थल् में इट् का विकल्प हो जायेगा। कारण कि 'अचस्तास्वत्०' (४८०) तथा 'उपदेशेत्वत' (४८१) सूत्रों द्वारा ऐसी धातुओं से परे थल् में इट् का निषेध होता है, परन्तु 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) के अनुसार भारद्वाजमुनि ऐसी धातुओं से परे थल् में इट् का विधान मानते हैं। इस प्रकार थल् में इट् का विकल्प फलित हो जाता है। अजन्त धातु यथा क्षि। इस के थल् मे इट् का विकल्प हो कर 'चिक्षयिथ-चिक्षेथ' दो रूप बनते हैं। ह्रस्व अकार वाली धातु यथा—पच् शक् भञ्ज् आदि। इन के थल् में इट् का विकल्प हो कर 'पेचिथ पपक्थ, शेकिथ-शशक्थ, बभञ्जिथ-बभङ्क्थ' आदि दो-दो रूप बनते हैं।

(२) तास् में नित्य अनिट् रहने वाली धातु यदि ऋदन्त है तो उस से परे थल् में इट् कदापि नहीं होगा। कारण कि ऐसी धातुओं में 'अचस्तास्वत्०' (४८०) सूत्र से पाणिनि आदि आचार्य तथा 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) से भारद्वाजमुनि सब एकस्वर से थल् मे इट् का निषेध करते हैं। उदाहरणार्थ 'हृ' धातु ऋदन्त है। इस से परे थल् में इट् का सर्वथा निषेध हो कर 'जहर्थ' यह एक रूप बनेगा।

(३) कृ, सृ, भृ, वृ, स्तु, द्रु, स्रु, श्रु—इन आठ धातुओं को छोड कर शेष सब अनुदात्त धातु लिंट् में सेट् हो जाते हैं। यह सब क्रादिनियम (४७६) के कारण होता है। उदाहरणार्थ भिद्, छिद् धातु क्रादि आठ धातुओं से भिन्न हैं अत अनुदात्त होने पर भी इन से परे लिंट् में नित्य इट् का आगम हो जायेगा—बिभेदिथ, बिभिदिव, बिभिदिम, चिच्छेदिथ, चिच्छिदिव, चिच्छिदिम। क्षि, पच् आदि धातुए भी क्रादि धातुओं से भिन्न हैं अत इन से परे भी लिंट् सेट् होगा। परन्तु इतना अन्तर है कि लिंट् के थल् में पूर्वोक्त दो नियमों के कारण इन से परे विकल्प कर के इट् होगा। थल् के अतिरिक्त अन्यत्र लिंट् में ये सेट् हैं ही—चिक्षियिव, चिक्षियिम, पेचिव, पेचिम आदि। इस तृतीय नियम से यह भी समझ लेना चाहिये कि इन कृ, सृ, भृ आदि आठ धातुओं को लिंट् में कहीं भी इट् नहीं होता। यथा—चकर्थ,

---

१ अजन्त से अभिप्राय ऋदन्तभिन्न अजन्त से है। ऋदन्तों के लिये दूसरा नियम है।

चकृव, चकृम; ससर्थ, ससृव, ससृम; वभर्थ, वभूव, वभूम आदि।

लिँट् मध्यमपु० के द्विवचन में पूर्ववत् 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से कित्त्व के कारण गुण का निषेध होकर 'अचि श्नु०' (१९९) से इकार को इयङ् आदेश हो जाता है—चिक्षियथुः। इसी प्रकार बहुवचन में—चिक्षिय।

उत्तमपु० के एकवचन णल् में 'णलुत्तमो वा' (४५६) से णित्त्व का विकल्प है। णित्त्वपक्ष मे 'अचो ञ्णिति' (१८२) से वृद्धि ऐकार और 'एचोऽयवायावः' (२२) से ऐकार को आयादेश हो कर—चिक्षाय। णित्त्वाभाव में 'सार्वधातुकार्धः०' (३८८) से गुण एकार और पुनः एकार को अयादेश करने से—चिक्षय। इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं। वस् और मस् में ऋदिनियम से नित्य इट् हो कर धातु के इकार को इयङादेश हो जाता है—चिक्षियिव, चिक्षियिम। लिँट् में रूपमाला यथा—चिक्षाय, चिक्षियतुः, चिक्षियुः। चिक्षयिथ-चिक्षेथ, चिक्षियथुः, चिक्षिय। चिक्षाय-चिक्षय, चिक्षियिव, चिक्षियिम।

लुँट्—में 'सार्वधातुकार्धः०' (३८८) से सर्वत्र गुण हो जाता है—क्षेता, क्षेतारौ, क्षेतारः। क्षेतासि, क्षेतास्थः, क्षेतास्थ। क्षेतास्मि, क्षेतास्वः, क्षेतास्मः। लृँट्—क्षेष्यति, क्षेष्यतः, क्षेष्यन्ति। क्षेष्यसि, क्षेष्यथः, क्षेष्यथ। क्षेष्यामि, क्षेष्यावः, क्षेष्यामः। लोँट्—क्षयतु-क्षयतात्, क्षयताम्, क्षयन्तु। क्षय-क्षयतात्, क्षयतम्, क्षयत। क्षयाणि, क्षयाव, क्षयाम। लँङ्—अक्षयत्, अक्षयताम्, अक्षयन्। अक्षयः, अक्षयतम्, अक्षयत। अक्षयम्, अक्षयाव, अक्षयाम। वि० लिँङ्—क्षयेत्, क्षयेताम्, क्षयेयुः। क्षयेः, क्षयेतम्, क्षयेत। क्षयेयम्, क्षयेय, क्षयेम।

आ० लिँङ्—में 'क्षि+यास् त्' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४८३) अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ।७।४।२।।

अजन्ताङ्गस्य दीर्घो यादौ प्रत्यये, न तु कृत्सार्वधातुकयोः। क्षीयात् ।।

अर्थः—यकार जिस के आदि में हो ऐसे प्रत्यय के परे होने पर अजन्त अङ्ग को दीर्घ हो जाता है परन्तु कृत् और सार्वधातुक प्रत्यय में नहीं होता।

व्याख्या—अकृत्सार्वधातुकयोः ।७।२। दीर्घः ।१।१ यि ।१।१।('अयङ् यि क्ङिति' से) 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। प्रत्यय के विना अङ्गसञ्ज्ञा सम्भव नहीं अतः 'प्रत्यये' का अध्याहार कर तदादिविधि करने से 'यकारादौ प्रत्यये' बन जाता है। यहां दीर्घ का विधान होने से 'अचश्च' (१.२.२८) सूत्रद्वारा 'अचः' पद उपस्थित हो जाता है। इसे 'अङ्गस्य' का विशेषण बना कर तदन्तविधि करने से 'अजन्तस्य अङ्गस्य' उपलब्ध हो जाता है। कृत् च सार्वधातुकञ्च कृत्सार्वधातुके, न कृत्सार्वधातुके,—अकृत्सार्वधातुके, तयोः= अकृत्सार्वधातुकयोः। अर्थः—(अचः=अजन्तस्य) अजन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है (यि=यकारादौ प्रत्यये) यकारादि प्रत्यय परे हो

तो (अकृत्सार्वधातुकयो.) परन्तु कृत् या सार्वधातुक परे होने पर नहीं होता। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह दीर्घ अजन्त अङ्ग के अन्त्य अच् के स्थान पर ही होता है। उदाहरण यथा—

'क्षि+यास् त्' यहा पर 'यास्' यकारादि प्रत्यय है, यह कृत् वा सार्वधातुक नहीं किन्तु 'लिङाशिषि' (४३१) से इस की आर्धधातुकसञ्ज्ञा है, अत इस के परे रहते 'क्षि' इस अजन्त अङ्ग के अन्त्य अल्-इकार को दीर्घ हो कर सयोगादि सकार का लोप (३०६) करने पर 'क्षीयात्' प्रयोग सिद्ध होता है।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण—चीयते, जीयते, स्तूयते, जीयात्, स्तूयात्, चेचीयते, तोष्टूयते, भृशायते आदि हैं। कृत्प्रत्यय अथवा सार्वधातुकप्रत्यय परे होने पर इस सूत्र की प्रवृत्ति नही होती। यथा—प्र+कृ+क्त्वा, प्र+कृ+ल्यप्—यहा ल्यप् (य) यकारादि प्रत्यय है परन्तु 'हृदतिङ्' (३०२) के अनुसार इस की कृत्सञ्ज्ञा है अत इस के परे रहते दीर्घ नही होता तब 'ह्रस्वस्य पिति०' (७७७) से तुक् का आगम हो कर 'प्रकृत्य' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'चिनुयात्, शृणुयात्' आदि में विधिलिङ् का यासुट् सार्वधातुक होता है अत वहां पर भी इस सूत्र की प्रवृत्ति नही होती।

आ० लिङ् में 'क्षि' की रूपमाला—क्षीयात, क्षीयास्ताम्, क्षीयासु। क्षीया:, क्षीयास्तम्, क्षीयास्त। क्षीयासम्, क्षीयास्व, क्षीयास्म।

लुङ्—में 'अक्षि+स्+ईत्' इस अवस्था में 'सार्वधातुकार्धं०' (३८८) से गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से वृद्धि का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४८४) सिचि वृद्धि परस्मैपदेषु ।७।२।१॥

इगन्ताङ्गस्य वृद्धि स्यात् परस्मैपदे सिचि। अक्षैषीत्। अक्षेष्यत्॥

अर्थ—परस्मैपद प्रत्यय जिस से परे हो ऐसे सिच् के परे रहते इगन्त अङ्ग के स्थान पर वृद्धि हो।

व्याख्या—सिचि ।७।१। वृद्धि ।१।१। परस्मैपदेषु ।७।३। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। यहां 'वृद्धि' कह कर वृद्धि का विधान किया गया है अत 'इको गुणवृद्धी' (११३) परिभाषा से 'इक' पद उपस्थित हो कर 'अङ्गस्य' का विशेषण बन जाता है। तब तदन्तविधि करने पर 'इगन्तस्य अङ्गस्य' प्राप्त होता है। अर्थ—(परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्ययों के परे होने पर (सिचि) जो सिच्, उस के परे रहते (इक=इगन्तस्य) इगन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (वृद्धि) वृद्धि हो जाती है। अलोऽन्त्यपरिभाषा के अनुसार यह वृद्धि इगन्त अङ्ग के अन्त्य अल्-इक् के स्थान पर होती है। यह वृद्धि यद्यपि बहिरङ्ग है और गुण अन्तरङ्ग तथापि बचनसामर्थ्य से यह वृद्धि उस गुण का बाध कर लेती है। अन्यथा इसे कहीं अवकाश ही न मिले।

'अक्षि+स्+ईत्' यहां पर क्षि' यह इगन्त अङ्ग है इस से परे परस्मैपद प्रत्यय (ईत्) विद्यमान है अतः इगन्त अङ्ग के अन्त्य इकार को ऐकार वृद्धि होकर 'आदेशप्रत्यययोः (१५०) से षत्व करने पर 'अक्षैषीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। लुँङ् में रूपमाला यथा—अक्षैषीत्, अक्षैष्टाम्, अक्षैषुः। अक्षैषीः, अक्षैष्टम्, अक्षैष्ट। अक्षैषम्, अक्षैष्व, अक्षैष्म।

लृँङ्—में सर्वत्र गुण हो जाता है। अक्षेष्यत्, अक्षेष्यताम्, अक्षेष्यन्। अक्षेष्यः, अक्षेष्यतम्, अक्षेष्यत। अक्षेष्यम्, अक्षेष्याव, अक्षेष्याम।

इसी प्रकार 'जि जये' (जीतना, भ्वा० परस्मै०) के रूप बनते हैं। लँट्—जयति, जयतः, जयन्ति। लिँट्—जिगाय, जिग्यतु., जिग्युः। जिगयिथ-जिगेथ, जिग्यथुः, जिग्य। जिगाय-जिगय, जिग्यिव, जिग्यिम[1]। लुँट्—जेता, जेतारौ, जेतारः। लृँट्—जेष्यति, जेष्यतः, जेष्यन्ति। लोँट्—जयतु-जयतात्, जयताम्, जयन्तु। लँङ्—अजयत्, अजयताम्, अजयन्। वि० लिँङ्—जयेत्, जयेताम्, जयेयुः। आ० लिँङ् जीयात्, जीयास्ताम्, जीयासुः। लुँङ्—अजैषीत्, अजैष्टाम्, अजैषुः। लृँङ्—अजेष्यत्, अजेष्यताम्, अजेष्यन्। उपसर्गयोग—विजयते=जीतता है। पराजयते=पराजित करता है। 'विपराभ्यां जेः' (७३५) से आत्मनेपद हो जाता है।

[लघु०] तप सन्तापे ॥१४॥ तपति। तताप, तेपतुः, तेपुः। तेपिथ-ततप्थ। तप्ता-तप्स्यति। तपतु। अतपत्। तपेत्। तप्यात्। अताप्सीत्। अतप्स्यत्॥

अर्थः—तप (तप्) धातु तपना-चमकना, दुःखी होना, तपस्या करना, तपाना-गरम करना अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—तप् धातु की प्रयोगसिद्धि में कोई नया सूत्र नहीं लगता। पूर्वसूत्रों से ही सम्पूर्ण रूपसिद्धि हो जाती है।

लँट्—तपति, तपतः, तपन्ति।

लिँट्—प्रथमपु० के एकवचन में तिप्, णल्, द्वित्व, हलादिशेष तथा 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि हो कर—तताप। द्विवचन और बहुवचन में हलादिशेष हो कर 'अत एकहल्०' (४६०) से एत्व-अभ्यासलोप हो जाता है—तेपतुः, तेपुः। मध्यम० के एकवचन में सिप् को थल् हो कर—तप्+थ। तप् धातु उपदेश में अनुदात्त परिगणित की गई है (देखो पृष्ठ १४६) अतः 'एकाच उपदेशेऽनु०' (४७५) से सर्वप्रथम इट् का निषेध हो जाता है, तब उसे बाध कर क्रादिनियम से लिँट् में

१. 'जि' धातु के लिँट् में अभ्यास से परे धातु के जकार को 'सल् लिँटोर्जः' (७.३.५७) से कुत्व हो जाता है। किञ्च असंयोगपूर्व होने से अतुस् आदियों में 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' (२२) से यण् हो जाता है।

सर्वत्र इट् प्राप्त होता है। पुन. 'उपदेशेऽत्वत' (४८१) से थल् में क्रादिनियम का भी निषेध हो जाता है। अन्त मे 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) द्वारा इट् का विकल्प होता है। इट्पक्ष में द्वित्वादि हो कर 'थलि च सेटि' (४६१) से एत्व+अभ्यासलोप करने से 'तेपिथ' और इट् के अभाव में 'ततर्थ' दो रूप सिद्ध होते हैं। वस् और मस् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। रूपमाला यथा—तताप, तेपतु, तेपु। तेपिथ-ततर्थ, तेपथु, तेप। ताप-तताप, तेपिव, तेपिम।

लुँट्—धातु के अनुदात्त होने से इट् का निषेध हो जाता है—तप्ता, तप्तारौ, तप्तार। तप्तासि, तप्तास्थ, तप्तास्थ। तप्तास्मि, तप्तास्व, तप्तास्म। लृँट्—तप्स्यति, तप्स्यत, तप्स्यन्ति। लोँट्—तपतु-तपतात्, तपताम्, तपन्तु। लँङ्—अतपत्, अतपताम्, अतपन्। वि० लिँङ्—तपेत्, तपेताम्, तपेयु। आ० लिँङ्—तप्यात्, तप्यास्ताम्, तप्यासु।

लुँङ्—'अताप्+स्+ईत्' इस अवस्था मे 'वदव्रज०' (४६५) से वृद्धि हो कर—अताप्सीत्। द्विवचन मे—'अताप्+स्+ताम्' इस अवस्था में 'झलो झलि' (४७८) सूत्र से सकार का लोप हो कर—अताप्ताम्। रूपमाला यथा—अताप्सीत्, अताप्ताम्, अताप्सु। अतापसी, अतापस्तम्, अतापस्त। अतापसम्, अताप्स्व, अताप्स्म। लृँङ्—अतप्स्यत्, अतप्स्यताम्, अतप्स्यन्।

इसी प्रकार त्यज हानौ (छोडना) धातु के रूप बनते हैं। लँट्—त्यजति। लिँट्—तत्याज, तत्यजतु, तत्यजु। तत्यजिथ-तत्यक्थ, तत्यजथु, तत्यज। तत्याज-तत्यज, तत्यजिव, तत्यजिम। लुँट्—त्यक्ता। लृँट्—त्यक्ष्यति। लोँट्—त्यजतु त्यजतात्। लँङ्—अत्यजत्। वि० लिँङ्—त्यजेत्। आ० लिँङ्—त्यज्यात्। लुँङ्—अत्याक्षीत्, अत्याक्षताम्, अत्याक्षु। लृँङ्—अत्यक्ष्यत्। ध्यान रहे कि 'तत्यक्थ' आदि में 'चो. कु' (३०६) द्वारा कुत्व हो जाता है।

[लघु०] क्रमुँ पादविक्षेपे ॥१५॥

अर्थ—क्रमुँ (क्रम्) धातु 'कदम बढाना, चलना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।[1]

व्याख्या—इस धातु मे अन्त्य उकार उदात्त-अनुनासिक है अत इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'क्रम्' ही अवशिष्ट रहता है। उदित् करने का फल 'उदितो वा' (८८२) सूत्र द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प करना है—क्रमित्वा, क्रान्त्वा-

---

१. क्रम, क्रमण, क्रमेलक (ऊँट), नक्र, क्रिमि, आक्रमण आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं। हिन्दी मे प्रयुक्त आक्रान्ता शब्द संस्कृतव्याकरणानुसार अपशब्द है, शुद्ध शब्द 'आक्रमिता' होना चाहिये।

क्त्वा[1]। किञ्च इस प्रकार 'यस्य विभाषा' (७.२.१५) द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध भी सिद्ध हो जाता है—क्रान्तः, क्रान्तवान्। इस धातु से शप् और श्यन् दोनों विकरणों की प्रवृत्ति के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४८५) वा भ्राश-म्लाश-भ्रमुँ-क्रमुँ-क्लमुँ-त्रसि-त्रुटि-लषः ।३।१।७०॥

एभ्यः श्यन् वा कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे। पक्षे शप् ॥

अर्थः—भ्राश्, म्लाश्, भ्रमुँ, क्रमुँ, क्लमुँ, त्रस्, त्रुट् और लष्—इन धातुओं से विकल्प से श्यन् प्रत्यय होता है कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे हो तो।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम्। भ्राश—लषः ।५।१। श्यन् ।१।१। ('दिवादिभ्यः श्यन्' से) कर्तरि ।७।१। ('कर्तरि शप्' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('सार्वधातुकमपित्' से)। 'प्रत्ययः, परश्च' दोनों अधिकृत हैं। अर्थः—(भ्राश—लषः) भ्राश्, म्लाश्, भ्रमुँ, क्रमुँ, क्लमुँ, त्रस्, त्रुट् और लष्—इन आठ धातुओं से परे (श्यन् प्रत्ययः) श्यन् प्रत्यय (वा) विकल्प से होता है (कर्तरि) कर्ता अर्थ में (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो। कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे होने पर सामान्यतया 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् प्रत्यय हुआ करता है अतः श्यन् के अभाव में शप् प्रत्यय हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे होने पर इन आठ धातुओं से श्यन् और शप् दोनों प्रत्यय पर्याय से होते हैं। श्यन् में शकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से तथा नकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा हो कर दोनों का लोप करने से 'य' मात्र शेष रहता है। उदाहरण यथा—

(१) टुभ्राशृँ दीप्तौ (चमकना, भ्वा० आत्मने०)। भ्राश्यते, भ्राशते।
(२) टुम्लाशृँ दीप्तौ (चमकना, भ्वा० आत्मने०)। म्लाश्यते, म्लाशते।
(३) भ्रमुँ अनवस्थाने (चलना, दिवा० परस्मै०)। भ्राम्यति, भ्रमति[2]।
भ्रमुँ चलने (घूमना, भ्वा० परस्मै०)। भ्रम्यति, भ्रमति।
(४) क्रमुँ पादविक्षेपे (चलना, भ्वा० परस्मै०)। क्राम्यति, क्रामति।
(५) क्लमुँ ग्लानौ (दुःखी होना, भ्वा० प०)। क्लाम्यति, क्लामति[3]।
(६) त्रसीँ उद्वेगे (डरना, दिवा० परस्मै०)। त्रस्यति, त्रसति।

---

१. 'क्रमश्च क्त्वि' (६.४.१८) इत्युपधादीर्घत्वं वा।

२. दैवादिक भ्रमुँ धातु से श्यन् करने पर 'शमामष्टानां दीर्घः श्यनि' (७.३.७४) से दीर्घ हो जाता है। भौवादिक का शमादि-अष्टक में पाठ न होने से श्यन् करने पर भी दीर्घ नहीं होता—भ्रम्यति।

३. श्यन् और शप् दोनों में 'ष्ठिवुँ-क्लमुँ-चमां शिति' (७.३.७५) से दीर्घ हो जाता है।

(७) त्रुट छेदने (टूटना, तुदा० परस्मै०)। त्रुटयति, त्रुटति।

(८) लप कान्तौ (चाहना, स्वा० उभय०)। लप्यति, लपति आदि।

क्रम् धातु से लँट् के स्थान पर तिप् आदेश हो कर—क्रम्+ति। अब यहा 'ति' प्रत्यय कर्ता अर्थ में हुए लँट के स्थान पर आदिष्ट होने से कर्तृवाचक है तथा 'तिङ्शित्०' (३८६) के द्वारा सार्वधातुक भी है। अत प्रकृतसूत्र से श्यन् तथा पक्ष मे 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् हो कर अनुबन्धलोप करने से 'क्रम्+य+ति' तथा 'क्रम्+अ+ति' बना। अब दोनो पक्षो मे दीर्घ का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४८६) क्रम परस्मैपदेषु ।७।३।७६॥

क्रमो दीर्घ परस्मैपदे शिति। क्राम्यति-क्रामति। चक्राम। क्रमिता। क्रमिष्यति। क्राम्यतु-क्रामतु। अक्राम्यत्-अक्रामत्। क्राम्येत्-क्रामेत्। क्रम्यात्। अक्रमीत्। अक्रमिष्यत्॥

अर्थ—परस्मैपदपरक शित् के परे होने पर क्रम् को दीर्घ हो।

व्याख्या—क्रम ।६।१। परस्मैपदेषु ।७।३। शिति ।७।१। ('ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' से) दीर्घ: ।१।१। ('शमामष्टानां दीर्घ श्यनि' से)। 'अङ्गस्य' अधिकृत है। श् इत् यस्य स शित्, तस्मिन्=शिति। अर्थ—(परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्ययो के परे होने पर (शिति) जो शित्, उस के परे रहते (क्रम, अङ्गस्य) 'क्रम्' अङ्ग के स्थान पर (दीर्घ) दीर्घ आदेश होता है। 'अचश्च' (१ २ २८) के अनुसार यह दीर्घादेश अच् के स्थान अर्थात् क्रम् के रेफोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर होता है।

'क्रम्+य+ति' तथा 'क्रम्+अ+ति' इन दोनो स्थानों में 'ति' यह परस्मैपद परे विद्यमान है। इसके परे रहते श्यन् और शप् दोनों शित् हैं। अतः शित् के परे होने पर प्रकृतसूत्र से क्रम् के अकार को दीर्घ करने से श्यन्पक्ष मे 'क्राम्यति' तथा शप्पक्ष मे 'क्रामति' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

'परस्मैपदेषु' कहा गया है अत आत्मनेपद मे दीर्घ नहीं होता—आक्रमते सूर्यः। यहा पर 'आङ उद्गमने' (१.३.४०) सूत्र द्वारा क्रम् से आत्मनेपद हुआ है।

लँट् मे रूपमाला यथा—(श्यन्पक्षे) क्राम्यति, क्राम्यत, क्राम्यन्ति। (शप्पक्षे) क्रामति, क्रामत, क्रामन्ति।

लिँट्—प्रथमपु० के एकवचन में तिप्, णल्, द्वित्व, 'कुहोश्चु' (४५४) से अभ्यास को चुत्व तथा 'अत उपधाया' (४५५) से उपधावृद्धि होकर—चक्राम, चक्रमतु, चक्रमु। चक्रमिथ, चक्रमथु, चक्रम। चक्राम-चक्रम, चक्रमिव, चक्रमिम। लुँट्—क्रमिता, क्रमितारौ, क्रमितार।

लृँट्—क्रमिष्यति, क्रमिष्यत, क्रमिष्यन्ति। लोँट्—(श्यन्पक्षे) क्राम्यतु-क्राम्यतात्, क्राम्यताम्, क्राम्यन्तु। (शप्पक्षे) क्रामतु-क्रामतात्, क्रामताम्, क्रामन्तु। लेँट्—

(श्यन्पक्षे) अक्राम्यत्, अक्राम्यताम्, अक्राम्यन्। (शप्पक्षे) अक्रामत्, अक्रामताम्, अक्रामन्। वि० लिंङ्—(श्यन्पक्षे) क्राम्येत्, क्राम्येताम्, क्राम्येयुः। (शप्पक्षे) क्रामेत्, क्रामेताम् क्रामेयुः। आ० लिंङ्—क्रम्यात्, क्रम्यास्ताम्, क्रम्यासुः।

लुंङ्—अक्रम्+इस्+ईत्' यहां पर 'वद-व्रज०' (४६५) से प्राप्त हलन्त-लक्षणा वृद्धि का 'नेटि' (४७७) से निषेध हो कर 'अतो हलादेः०' (४५७) से वैकल्पिक वृद्धि प्राप्त होती है। मकारान्त होने के कारण उसका भी 'ह्यन्तक्षण०' (४६६) सूत्र से निषेध हो जाता है। तब 'इट ईटि' (४४६) से सकार का लोप तथा उसे सिद्धवत् मान कर सवर्णदीर्घ करने से 'अक्रमीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—अक्रमीत्, अक्रमिष्टाम्, अक्रमिषुः। अक्रमीः, अक्रमिष्टम्, अक्रमिष्ट। अक्रमिषम्, अक्रमिष्व, अक्रमिष्म।

लृंङ्—अक्रमिष्यत्, अक्रमिष्यताम्, अक्रमिष्यन्।

[लघु०] पा पाने ॥१६॥

अर्थः—पा धातु 'पीना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—लँट् में शप् हो कर 'पा+अ+ति' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४८७) पा-घ्रा-धमा-स्था-म्ना-दाण्-दृश्यर्ति[1]-सर्ति-शद-सदां पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्यर्च्छ[2]-धौ-शीय-सीदाः ।७।३।७८॥

पादीनां पिबादयः स्युरित्सञ्ज्ञकशकारादौ प्रत्यये परे। पिबादेशोऽदन्तस्तेन न गुणः—पिबति ॥

अर्थः—इत्सञ्ज्ञक शकार जिस के आदि में हो ऐसे प्रत्यय के परे होने पर पा, घ्रा आदि ग्यारह धातुओं के स्थान पर क्रमशः पिब, जिघ्र आदि ग्यारह आदेश हों। पिबादेशः—पिब आदेश अदन्त है अतः लघूपधगुण नहीं होता।

व्याख्या—पाघ्रा—सदाम् ।६।३। पिबजिघ्र—सीदाः ।१।३। शिति ।७।१। ('ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' से)। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। श् चासौ इत् च शित्, तस्मिन्=शिति। कर्मधारयसमासः[3]। अङ्गाधिकार होने से 'प्रत्यये' पद उपलब्ध हो

---

१ दृशि+अति' इतिच्छेदः। २. 'पश्य+ऋच्छ' इतिच्छेदः।

३. बहुव्रीहिसमास मानने पर विग्रह होगा—श् इत् यस्य स शित्, तस्मिन् शिति। तब कर्मवाच्य के लिँट् में 'पपे' आदि रूपों की सिद्धि में 'पा+एश्' इस अवस्था में भी 'पिब' आदेश प्राप्त होगा क्योंकि बहुव्रीहि के अनुसार 'एश्' शित् है। अतः इस

जाता है क्योंकि बिना प्रत्यय के अङ्गसंज्ञा सम्भव नहीं। 'शिति' के वर्णवाचक होने से 'यस्मिन्विधि०' परिभाषा द्वारा तदादिविधि हो जाती है—इत्सञ्ज्ञकशकारादौ प्रत्यये। अर्थ—(पाघ्रा—सदाम्) पा, घ्रा, ध्मा, स्था, म्ना, दाण्, दृशि (दृश्), अति (ऋ), सति (सृ), शद् और सद् इन ग्यारह धातुओं के स्थान पर (पिबजिघ्र—सीदा) पिब, जिघ्र, धम, तिष्ठ, मन, यच्छ, पश्य, ऋच्छ, धौ, शीय और सीद ये ग्यारह आदेश हो जाते हैं (शिति=इत्सञ्ज्ञकशकारादौ प्रत्यये) इत्सञ्ज्ञक श् जिसके आदि में हो ऐसा प्रत्यय परे हो तो। यथासङ्ख्यपरिभाषा और अनेकाल्परिभाषा के अनुसार ये आदेश क्रमशः तथा सर्वादेश होते हैं—

| धातु | आदेश | उदाहरण |
|---|---|---|
| (१) पा पाने (पीना, भ्वा० परस्मै०) | पिब | पिबति |
| (२) घ्रा गन्धोपादाने (सूंघना, भ्वा० प०) | जिघ्र | जिघ्रति |
| (३) ध्मा शब्दाग्निसंयोगयो (फूंक कर बजाना, धौंकना, भ्वा० प०) | धम | धमति |
| (४) ष्ठा गतिनिवृत्तौ (ठहरना, भ्वा० प०) | तिष्ठ | तिष्ठति |
| (५) म्ना अभ्यासे (अभ्यास करना, भ्वा० प०) | मन | मनति |
| (६) दाण् दाने (देना, भ्वा० परस्मै०) | यच्छ | यच्छति |
| (७) दृशिर् प्रेक्षणे (देखना, भ्वा० परस्मै०) | पश्य | पश्यति |
| (८) ऋ गतिप्रापणयो (जाना आदि, भ्वा० प०) | ऋच्छ | ऋच्छति |
| (९) सृ गतौ (तेज जाना, भ्वा० परस्मै०)[1] | धौ | धावति[2] |
| (१०) शदॢ शातने (नष्ट होना, भ्वा० तुदा० प०) | शीय | शीयते[3] |
| (११) षदॢ विशरणगत्यवसादनेषु (नष्ट होना, जाना, दुःखी होना, भ्वा० तुदा० प०) | सीद | सीदति |

नोट—यहां पर तीन कारणों से 'पा रक्षणे' (अदा० परस्मै०) धातु का ग्रहण नहीं

---

दोष से बचने के लिये 'शिति' में कर्मधारय माना जाता है। कर्मधारय मानने से 'इत्सञ्ज्ञक शकार जिसके आदि में है ऐसे प्रत्यय के परे होने पर' यह अर्थ बन जाता है। इसके अनुसार 'एश्' शित् नहीं होता क्योंकि इसमें इत्सञ्ज्ञक शकार आदि में नहीं अपितु अन्त में है।

१ ऋ और सृ धातु जुहोत्यादिगण में भी पढ़े गये हैं परन्तु उनमें शप् का लुक् (लोप) हो जाता है अतः कहीं भी शित् परे न रहने से उनका ग्रहण नहीं होता।

२ 'सर्तेर्वेगितायां गतौ धावादेशमिच्छन्ति' इति काशिका (७.३.७८)। अन्यत्र तु सरतीत्यादिकमेव।

३ 'शदे शितः' (६५६) इत्यात्मनेपदम्।

होता। (१) 'लुग्विकरणाऽलुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणम्' इस परिभाषा के अनुसार अलुग्विकरण भ्वादिगणीय 'पा पाने' का ही ग्रहण होता है। (२) घ्रा के साहचर्य से भ्वादिगणीय का ही ग्रहण होता है। (३) अदादिगणीय धातु से परे शप् का सर्वत्र लुक् हो जाने से कहीं भी शित् परे नहीं रहता अतः उसका ग्रहण नहीं होता।

'पा+अ+ति' यहां पर शप् के आदि में इत्सञ्ज्ञक शकार रहता है अतः इस के परे रहते 'पा' को 'पिव' आदेश हो कर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने पर 'पिबति' प्रयोग सिद्ध होता है।

स्मरण रहे कि 'पिव' आदेश अदन्त है, 'पिब्' इस प्रकार हलन्त नहीं। इससे 'पिव+अ+ति' यहां उपधा में लघु न रहने से 'पुगन्त०' (४५१) से गुण नहीं होता। पररूप करने के बाद भी 'अन्तादिवच्च' (४१) से एकादेश को पूर्वान्तवत् मान लेने से लघूपधगुण की प्राप्ति नहीं होती। ध्यान रहे कि केवल 'पिव' आदेश को ही अदन्त माना गया है अन्य आदेश हलन्त हों या अदन्त उनमें कोई दोष प्रसक्त नहीं होता। इसीलिये तो मूल में 'पिवादेशोऽदन्तः' ऐसा कहा गया है। लँट् मे रूपमाला यथा—पिबति, पिबतः, पिबन्ति[1]। पिबसि, पिबथः, पिबथ। पिबामि, पिबावः, पिबामः।

लिँट्—प्रथमपु० के एकवचन में तिप् और उसे णल् आदेश हो कर 'पा+अ' इस स्थिति में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४८८) आत औ णलः ।७।१।३४॥

आदन्ताद् धातोर्णल औकारादेशः स्यात्। पपौ॥

अर्थः—आकारान्त धातु से परे णल् के स्थान पर औकार आदेश हो।

व्याख्या—आतः ।५।१। औ ।१।१। (छान्दसो विभक्तिलुक्)। णलः ।६।१। अङ्गात् ।५।१। ('अङ्गस्य' इस अधिकृत का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है)। 'आतः' यह 'अङ्गात्' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'आदन्ताद् अङ्गात्' बन जाता है। अर्थः—(आतः=आदन्ताद्) आदन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (णलः) णल् के स्थान पर (औ) औकार आदेश होता है। णल् परे होने पर आदन्त अङ्ग 'धातु' ही हो सकता है अतः मूलवृत्ति में 'आदन्ताद् धातोः' लिखा गया है।

'पा+अ' यहां अकारान्त धातु 'पा' से परे प्रकृतसूत्रद्वारा णल् को औकार आदेश होकर—पा+औ। अब द्वित्व (६.१.८) की अपेक्षा परत्वात् 'वृद्धिरेचि' (६.१.८५) से वृद्धि प्राप्त होती है। परन्तु 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) से उस का निषेध हो कर प्रथम द्वित्व हो जाता है—पा+पा+औ। तब अभ्यास को ह्रस्व कर पुनः

---

१. 'पिव+अ+अन्ति' यहा पर प्रथम शप् के अकार के साथ तथा बाद में 'अन्ति' के अकार के साथ पररूप होता है।

वृद्धि एकादेश करने से 'पपौ' रूप सिद्ध हो जाता है[1]।

द्विवचन में तस् को अतुस् हो कर 'पा+अतुस्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४८९) आतो लोप इटि च ।६।४।६४॥

अजाद्योरार्धधातुकयो र्ङिदिटो परयोरातो लोप स्यात्। पपतु, पपुः। पपिथ-पपाथ, पपथु, पप। पपौ, पपिव, पपिम। पाता। पास्यति। पिबतु। अपिबत्। पिबेत्॥

अर्थ—अजादि आर्धधातुक ङित् ङित् परे हो अथवा अजादि आर्धधातुक इट् परे हो तो आकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—आत ।६।१। लोप ।१।१। इटि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। आर्धधातुके ।७।१। (अधिकृत है)। अचि ।७।१। ङिति ।७।१।('दीङो युडचि क्ङिति' से)। 'अचि' पद 'आर्धधातुके' का विशेषण है अत तदादिविधि हो कर 'अजादौ आर्धधातुके' बन जाता है। इस का 'इटि' और 'ङिति' दोनों से सम्बन्ध है। अर्थ—(अचि=अजादौ) अजादि (आर्धधातुके) आर्धधातुक (ङिति) ङित् ङित् परे हो या (च) वैसा (इटि) इट् परे हो तो (आत) आकार का (लोप) लोप हो जाता है।

(१) अजादि आर्धधातुक ङित् मे उदाहरण—पपतु, पपु। यहा 'असयोगाल्लिट् कित्' (४५२) से अतुस् और उस् ङित् हैं। 'लिट् च' (४००) से इन की आर्धधातुकसञ्ज्ञा भी है अत इन के परे होने पर पा धातु के आकार का लोप हो जाता है (विस्तृत सिद्धि आगे देखें)।

(२) अजादि आर्धधातुक ङित् मे उदाहरण—प्रदा, प्रधा। यहा प्रपूर्वक दा और धा धातु से परे 'आतश्चोपसर्गे' (३।३।१०१) सूत्र द्वारा अङ् प्रत्यय किया जाता है। यह अङ् ङित् भी है और 'आर्धधातुकं शेष' (४०४) से आर्धधातुक भी, अत इस के परे रहते धातु के आकार का लोप करने पर—प्रद, प्रध। अब टाप् ला कर विभक्तिकार्य करने से 'प्रदा, प्रधा' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

(३) अजादि आर्धधातुक इट् मे उदाहरण—पपिथ, पपाथ। पपा+इथ, पपा+इथ, यहा व्यपदेशिवद्भाव से इट् अजादि है। क्ङित्व आर्धधातुक को आगम

[1] यदि 'आत औ णल' की जगह 'आत औ णल' सूत्र बना कर णल् को औकार की बजाय औकार आदेश करते तो भी वृद्धि हो कर 'पपौ' आदि रूप सिद्ध हो जाते। पुन औकारादेश का विधान 'ददरिद्रौ' के लिय किया गया है। दरिद्रा धातु के आकार का लोप विधान किया गया है अत वहा 'ददरिद्रौ' इस प्रकार अनिष्ट रूप बन जाता।

हुआ है अतः उस का अङ्ग होने से आर्धधातुक भी है। इस लिये इस के परे रहते धातु के आकार का लोप हो जाता है—पपिथ, ययिथ।

यदि 'अजादि' न कह कर केवल आर्धधातुक कित् ङित् और आर्धधातुक इट् में आकार के लोप का विधान करते तो ग्लायते (यक्), जाग्लायते (यङ्), दासीय' आदि में दोष प्राप्त होता। 'ग्लायते' में यक् प्रत्यय आर्धधातुक भी है और कित् भी, इसी प्रकार 'जाग्लायते' में यङ्प्रत्यय आर्धधातुक भी है और ङित् भी, परन्तु इन के अजादि न होने से धातु के आकार का लोप नहीं होता। इसी प्रकार दा धातु से आशीर्लिङ् के उत्तमपु० के एकवचन इट् को 'इटोऽत्' (५२२) से अत् आदेश हो कर सीयुट् का आगम हो जाता है—दा+सीय् अ। यहां 'सीय' यह स्थानिवद्भाव से इट् भी है और 'लिङाशिषि' (४३१) से आर्धधातुक भी, पर अजादि न होने से धातु के आकार का लोप नहीं होता—दासीय।

यदि 'आर्धधातुक' न कह कर केवल अजादि कित् ङित् और अजादि इट् में आकार के लोप का विधान करते तो 'यान्ति, वान्ति, व्यत्यरे' आदि में दोष प्राप्त होता। 'या+अन्ति, वा+अन्ति' यहां 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से 'अन्ति' ङित् है और साथ ही अजादि भी है। परन्तु आर्धधातुक न होने से धातु के आकार का लोप नहीं होता। 'व्यत्यरे' में 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे' (७३१) से आत्मनेपद हुआ है। वि+अति इन दो उपसर्गों के पूर्व रहते 'रा दाने' धातु से लँङ् के उत्तमपु० का एकवचन इट् प्रत्यय करने पर—वि+अति+अट्+रा+इट्। अब यहां अजादि इट् तो परे है पर वह आर्धधातुक नहीं अतः 'रा' धातु के आकार का लोप नहीं होता। गुण होकर 'व्यत्यरे' प्रयोग सिद्ध होता है।

वक्तव्य—इस सूत्र में सारा झगड़ा इट् के कारण है। कुछ लोग 'इट्' से इट् का आगम तथा आत्मनेपद के उत्तमपु० का एकवचन इट् दोनों का ग्रहण करते हैं (कौमुदीकार इसी मत के अनुयायी हैं), अन्य लोग (श्रीनागेशभट्ट आदि) 'इट्' से केवल प्रसिद्ध इट् के आगम का ही ग्रहण मानते हैं इट् का आगममात्र मानने से कोई झगड़ा खड़ा नहीं होता, क्योंकि इस पक्ष में 'अजादि आर्धधातुक कित् ङित् परे हो या इट् का आगम परे हो तो आकार का लोप हो' ऐसा सरल अर्थ हो जाता है। परन्तु 'इट्' से दोनों का ग्रहण मानने वालों को 'अजादि आर्धधातुक' यह विशेषण इट् के साथ भी सम्बद्ध करना पड़ता है अन्यथा उनके मत में 'दासीय, व्यत्यरे' आदियों में भी आकार का अनिष्ट लोप प्रसक्त होता है। कौमुदीकार ने वृत्ति मे ङित् को एक मान कर उस का इट् के साथ इतरेतरद्वन्द्व समास करके 'अजाद्योरार्धधातुकयोः ङिदिटोः' इस प्रकार द्विवचन का प्रयोग किया है।

'पा+अतुस्' यहां पर 'अतुस्' अजादि है और साथ ही 'लिट् च' (४००) से

आर्धधातुक भी, अत प्रकृतसूत्र से आकार का लोप प्राप्त होता है। इधर यहा 'लिटि धातो०' (३६४) से द्वित्व भी युगपत् प्राप्त होता है। दोनों मे परत्व के कारण आकार का लोप पहले होना चाहिये। इस पर 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) सूत्र से आकार के लोप का निषेध होकर प्रथम द्वित्व होकर अभ्यास को ह्रस्व करने से पपा+अतुस्। अब आकार का लोप करने पर—पप्+अतुस्='पपतु' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार बहुवचन में 'पपु' रूप बनता है।

मध्यमपु० के एकवचन में सिप् को थल् हो कर—पा+थ। पा धातु 'ऊदुदन्तैः०' के अनुसार अनुदात्त है अत इस से परे 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से इट् का निषेध होना है। परन्तु 'तृसृभृवृ०' (४७६) इस आदिनियम के अनुसार लिट् में इट् का विधान हो जाता है। लेकिन थल् में 'अचस्तास्वत्०' (४८०) सूत्र से पुन उस का निषेध हो कर भारद्वाजनियम (४८२) से इट् का विकल्प हो जाता है। इट्पक्ष में द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा आकार का लोप करने से 'पपिथ' प्रयोग सिद्ध होता है। इट् के अभाव में—पपाथ, यहा न तो इट् है और न ही अजादि कित् ङित्, अत आकार का लोप नहीं होता।

वस् मस् में आदिनियम से नित्य इट् का आगम हो कर अजादि कित् आर्धधातुक के परे रहते आकारका लोप करने से 'पपिव, पपिम' सिद्ध होते हैं। लिट् में रूपमाला यथा—पपौ, पपतु, पपु। पपिथ-पपाथ, पपथु, पप। पपौ, पपिव, पपिम।

लुँट्—में 'एकाच उपदेशे०' (४७५) के अनुसार सर्वत्र इट् का निषेध हो जाता है—पाता, पातारौ, पातारः। पातासि, पातास्थ, पातास्थ। पातास्मि, पातास्वः, पातास्मः।

लृँट्—पास्यति, पास्यतः, पास्यन्ति। पास्यसि, पास्यथः, पास्यथ। पास्यामि, पास्यावः, पास्यामः।

लोँट्—में शित् प्रत्यय परे होने से सर्वत्र पिब आदेश हो जाता है—पिबतु-पिबतात्, पिबताम् पिबन्तु। पिब पिबतात्, पिबतम्, पिबत। पिबानि, पिबाव, पिबाम। लँङ्—अपिबत्, अपिबताम्, अपिबन्। अपिब, अपिबतम्, अपिबत। अपिबम्, अपिबाव, अपिबाम। वि० लिँङ्—पिबेत्, पिबेताम्, पिबेयुः। पिबेः, पिबेतम्, पिबेत। पिबेयम्, पिबेव, पिबेम।

आशीर्लिँङ्—में 'पा+यास् त्' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४६०) एर्लिङि ।६।४।६७॥

घुसञ्ज्ञकानां मास्यादीना च एत्वं स्याद् आर्धधातुके किति लिङि। पेयात्। गातिस्था० (४३६) इति सिचो लुक्—अपात्, अपाताम्॥

अर्थ—घुसञ्ज्ञक धातुओं को तथा मा, स्था, गा, पा, जहाति (ओँहाक्)

और घो धातुओं को एकार आदेश हो जाता है आर्धधातुक कित् लिँङ् परे हो तो।

व्याख्या—एः ।१।१। लिँङि ।७।१। घुमास्थागापाजहातिसाम् ।६।३। ('घुमास्थागापाजहातिसां हलि' से)। आर्धधातुके ।७।१। (अविकृत है)। किति ।७।१। ('दीङो युडचि क्ङिति' से)। अर्थः—(घु-मा स्था-गा-पा-जहाति-साम्) घुसंज्ञकों तथा मा, स्था, गा, पा, जहाति [ओँहाक्] और घो इन धातुओं के स्थान पर (एः) एकार आदेश होता है (आर्धधातुके किति लिँङि) आर्धधातुक कित् लिँङ् परे हो तो। अलोऽन्त्यपरिभाषा के अनुसार यह आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। यह सूत्र 'घुमास्था०' (५८८) सूत्र द्वारा प्रतिपादित ईकारादेश का अपवाद है। उदाहरण यथा—घुसञ्ज्ञक[1]—(डुदाञ्) देयात्, (डुधाञ्) धेयात् आदि। मा[2] (मा माने)—मेयात्। स्था (ष्ठा गतिनिवृत्तौ)—स्थेयात्। गा (गै शब्दे)—गेयात्। पा[3] (पा पाने)—पेयात्। जहाति (ओँहाक् त्यागे)—हेयात्। सा (षो अन्तकर्मणि)—सेयात्।

इस सूत्र में यदि 'किति' का अनुवर्त्तन न करते तो 'दासीष्ट, धासीष्ट' यहां आत्मनेपद में कित् परे न होने पर भी एत्व हो जाता जो अनिष्ट था।

'पा+यास् त्' यहां पर 'लिँङाशिषि' (४३१) से लिँङ् आर्धधातुक है, उसे हुआ यासुट् का आगम 'किदाशिषि' (४३२) से कित् है। अतः प्रकृतसूत्र से कित् लिँङ् परे रहते 'पा' धातु के आकार को एकार आदेश हो कर संयोगादि सकार का लोप (३०६) करने से 'पेयात्' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—पेयात्, पेयास्ताम्, पेयासुः। पेयाः, पेयास्तम्, पेयास्त। पेयासम्, पेयास्व, पेयास्म।

लुँङ्—प्रथमपु० के एकवचन में तिप्, इकारलोप, च्लि, सिँच् और अट् का आगम हो कर 'अपा+स्+त्' इस स्थिति में 'गातिस्थाघु०' (४३६) से सिँच् का लुक् करने पर 'अपात्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार द्विवचन में तस् को ताम् आदेश हो कर—अपाताम्। प्र० पु० के बहुवचन में सिँच् का लुक् हो कर 'अपा+झि' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—(४६१) आतः ।३।४।११०॥

सिँज्लुकि आदन्तादेव झेर्जुस् ॥

---

१. घुसञ्ज्ञकों का वर्णन 'दाधाघ्वदाप्' (६२३) सूत्र पर देखें।

२. यहां पर 'मा' से मेङ् और 'माङ्' धातुओं का ग्रहण नहीं होता क्योंकि ङित् होने से वे आत्मनेपदी हैं और आत्मनेपद में लिँङ् कित् नहीं होता। इसी प्रकार 'गा' से 'गाङ्' का ग्रहण भी नहीं होता।

३. 'लुग्विकरणाऽलुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणम्' इस परिभाषा के अनुसार लुग्विकरण अदादिगण की 'पा रक्षणे' धातु का ग्रहण नही होता।

अर्थ —सिँच् का लुक् होने पर आदन्त धातु से परे ही झि को जुस् आदेश हो (अन्य धातुओं से परे न हो)।

व्याख्या—आत ।५।१। सिँच ।५।१। ('सिँजभ्यस्त०' से)। झेः ।६।१। जुस् ।१।१। ('झेर्जुस्' से)। 'धातो' यह अधिकृत है। 'आत' पद धातो' का विशेषण है अत विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'आदन्ताद् धातो' बन जाता है। अर्थ —(आत) आदन्त (धातो) धातु से परे (सिँच) सिँच् से परे (झेः) झि के स्थान पर (जुस्) जुस् आदेश हो। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि झि प्रत्यय किस प्रकार आकारान्त धातु तथा सिँच् दोनों से अव्यवहित परे स्थित हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि जब सिँच् का लुक् हो जाता है तब झिप्रत्यय श्रुत्या आकारान्त धातु से तथा प्रत्ययलक्षण के द्वारा सिँच् से परे विद्यमान रहता है। यथा—'अपा+झि' यहा झि प्रत्यय आकारान्त धातु से परे तो साक्षात् श्रूयमाण है ही, प्रत्ययलक्षण के द्वारा सिँच को मान कर सिँच् से परे भी विद्यमान है। अत इस सूत्र से झि को जुस् आदेश हो जाता है। अब यहां दूसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ऐसे स्थलों पर तो 'झि' को जुस् आदेश 'सिँजभ्यस्त०' (४४७) से ही सिद्ध था पुन इस सूत्र को क्या आवश्यकता ? इसका उत्तर यह है कि 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थं' अर्थात् कार्य के सिद्ध होने पर यदि उसका पुनर्विधान किया जाये तो वह नियमार्थ हो जाता है। यहा भी यह नियमार्थ हो जायेगा—सिँच् का लुक् होने पर यदि झि को जुस् आदेश करना हो तो वह केवल आकारान्त धातुओ से परे ही हो अन्य धातुओं से नहीं। यथा—'अभू+स्+झि' यहा 'गातिस्थाघु०' (४३६) से सिँच् का लुक् हो कर 'अभू+झि' इस अवस्था में प्रत्ययलक्षण का आश्रय कर के 'सिँजभ्यस्त०' (४४७) से प्राप्त होने वाला जुस् आदेश इस नियम से रुक जाता है क्योंकि यहा धातु आकारान्त नही है। नियमसूत्रों के उदाहरण वस्तुत प्रत्युदाहरण ही हुआ करते हैं—यह हम पीछे बता चुके हैं।

'अपा+झि' यहा सिँच् का लुक् हो चुका है और धातु भी आकारान्त है अत प्रकृतनियमानुसार झि को जुस् आदेश होकर अनुबन्ध जकार का लोप करने से—अपा+उस्। अब 'आद् गुण' (२७) द्वारा प्राप्त गुण एकादेश का बाध कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४९२) उस्यपदान्तात् ।६।१।९३॥

अपदान्तादकारादुसि पररूपमेकादेश । अपु । अपास्यत् ॥

अर्थ —अपदान्त अवर्ण से उस् का अच् परे हो तो पूर्व अवर्ण तथा पर अच् दोनों के स्थान पर पररूप एकादेश हो।

व्याख्या—उसि ।७।१। अपदान्तात ।५।१। आत् ।५।१। ('आद् गुण' से) अचि

।७।१। ('इको यणचि' से)।'एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है। अर्थः—(अपदान्तात्) अपदान्त (आत्) अवर्ण से (उसि अचि) उस् का अच् परे हो तो (पूर्वपरयोः) पूर्व और पर दोनों के स्थान पर (पररूपम्) पररूप (एकः) एकादेश हो।

'अपा+उस्' यहां पकारोत्तर अपदान्त अवर्ण-आकार से परे उस् का उकार अच् विद्यमान है अतः पूर्व (आ) और पर (उ) दोनों के स्थान पर पररूप (उ) एकादेश हो कर—अप् उ स्=अपुस्='अपुः' प्रयोग सिद्ध होता है। लुंङ् में रूपमाला यथा—अपात्, अपाताम्, अपुः। अपाः, अपातम्, अपात। अपाम्, अपाव, अपाम।

लृँङ्—अपास्यत्, अपास्यताम्, अपास्यन्।

[लघु०] ग्लै हर्षक्षये ॥१७॥ ग्लायति ॥

अर्थः—ग्लै धातु 'दुःखी होना-थकना-मुरझाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ग्लै धातु से लँट्, तिप्, शप् तथा अनुबन्धलोप करने पर 'ग्लै+अ+ति' इस स्थिति में 'एचोऽयवायावः' (२२) से ऐकार को आय् आदेश हो कर 'ग्लायति' प्रयोग सिद्ध होता है। लँट्—ग्लायति, ग्लायतः, ग्लायन्ति। ग्लायसि, ग्लायथः, ग्लाथ। ग्लायामि, ग्लायावः, ग्लायामः।

लिँट्—की विवक्षा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४९३) आदेच उपदेशेऽशिति ।६।१।४४॥

उपदेशे एजन्तस्य धातोरात्त्वं न तु शिति। जग्लौ। ग्लाता। ग्लास्यति। ग्लायतु। अग्लायत्। ग्लायेत्॥

अर्थः—उपदेश में एजन्त धातु के अन्त्य अल् के स्थान पर आकार आदेश होता है परन्तु शित्प्रत्यय का विषय हो तो नहीं होता।

व्याख्या—आत् ।५।१। एचः ।६।१। उपदेशे ।७।१। अशिति ।७।१। धातोः ।६।१। ('लिँटि धातोरन०' से)। 'एचः' पद 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'एजन्तस्य धातोः' बन जाता है। अर्थः—(उपदेशे) उपदेश में (एजन्तस्य धातोः) एजन्त जो धातु उसके स्थान पर (आत्) आकार आदेश हो जाता है परन्तु (अशिति) शित् का विषय हो तो नहीं होता। अलोऽन्त्यपरिभाषा के अनुसार यह आदेश एजन्त धातु के अन्त्य अल् के स्थान पर होता है।

न शिति—अशिति। यहां पर पर्युदासप्रतिषेध नहीं अपितु प्रसज्यप्रतिषेध है[1]।

---

१. इन द्विविध प्रतिषेधों का विवेचन इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के (१८) सूत्र पर कर चुके हैं। विशेषजिज्ञासु 'वैयाकरण-भूषण-सार' पर हमारे बनाये भैमीभाष्य के पृष्ठ १६४-१६७ का अवलोकन करें। यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

पर्युदासप्रतिषेध में तत्सदृश का ग्रहण किया जाता है; यदि यहा वह मानेंगे तो शित् से भिन्न शित्सदृशों अर्थात् प्रत्ययों में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति हो सकेगी। तब 'सुग्लः, सुम्नः' आदि सिद्ध न हो सकेंगे[1]। अतः यहा प्रसज्यप्रतिषेध मानना ही उचित है। इस प्रकार यह आत्व आदेश निर्निमित्त समझना चाहिये अर्थात् प्रत्ययोत्पत्ति से पूर्व ही हो जाता है।

'अशिति' के 'शिति' अश में 'श् इत् यस्य स शित्, तस्मिन् शिति' इस प्रकार बहुव्रीहिसमास नहीं मानना चाहिये। इस तरह मानने से ग्लै म्लै धातुओं के भाववाच्य के लिट् में 'जग्ले, मग्ले' रूप न बन सकेंगे[2]। अतः 'श् एव इत् शित्, तस्मिन् शिति' इस प्रकार कर्मधारयसमास मान कर 'धातोः' द्वारा आक्षिप्त प्रत्यय के साथ सम्बद्ध करते हुए तदादिविधि करने से 'इत्सञ्ज्ञकशकारादौ प्रत्यये न भवति' इस प्रकार अर्थ करना उचित है।

ग्लै धातु उपदेश में एजन्त है इससे परे हमें लिट् में कोई शित् प्रत्यय भी नहीं लाना है अतः लिट् करने से पूर्व ही प्रकृतसूत्र द्वारा इसके ऐकार को आकार आदेश हो कर 'ग्ला' बन जाता है। अब इसके आगे लिट् तिप्, णल्, 'आत औ णलः' (४८८) से णल् को औकार आदेश, द्वित्व, अभ्यास-ह्रस्व, 'कुहोश्चुः' (४५४) से चुत्व तथा 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने पर 'जग्लौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

सूत्र में 'अशिति' कहने से 'ग्लायति' आदि में यह आत्व प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि वहा शप् अर्थात् शित्प्रत्यय का विषय है। इसी प्रकार लोट्, लेट् और विधिलिङ् के रूपों में भी समझना चाहिये।

---

१. क्योंकि सुपूर्वक ग्लै और म्लै धातुओं से 'आतश्चोपसर्गे' (७८८) द्वारा तब तक 'क' प्रत्यय नहीं हो सकता जब तक ये धातु आकारान्त नहीं हो जातीं, और ये तब तक आकारान्त नहीं हो सकतीं जब तक कोई प्रत्यय इनके आगे नहीं आ जाता। इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय-दोष प्रसक्त हो कर कुछ भी नहीं हो सकेगा। जैसा कि कहा गया है—अन्योऽन्याश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्प्यन्ते।

२. भाववाच्य में ग्लै, म्लै (ग्ला, म्ता) के लिट् में 'त' प्रत्यय के स्थान पर एश् आदेश, द्वित्वादि कार्य तथा आकार का लोप करने पर 'जग्ले, मग्ले' रूप बनते हैं। यदि 'शित्' में बहुव्रीहि मानेंगे तो एश् भी शित् रहेगा और उसके विषय में आत्व न होगा, तब 'जिग्लाये, मिम्लाये' रूप बन जायेंगे जो अनिष्ट हैं। परन्तु कर्मधारय मानने से इत्सञ्ज्ञक शकार जिसके आदि में है ऐसे प्रत्यय के विषय में निषेध होने के कारण यहां आत्व का निषेध न होगा क्योंकि एश् में इत्सञ्ज्ञक शकार आदि में नहीं अपितु अन्त में अवस्थित है।

लिट् में आत्व हो कर सम्पूर्ण प्रक्रिया तथा रूपमाला 'पा' धातु के समान चलती है—ग्लौ, ग्लावुः, ग्लावुः । ग्लिथ-ग्लाथः, ग्लाथुः, ग्ल । ग्लौ, ग्लिव, ग्लिम ।

लुट्—में णित् का विषय न होने से सर्वत्र निर्बाध आत्व हो जाता है—ग्लाता, ग्लातारौ, ग्लातारः । लृट्—ग्लास्यति, ग्लास्यतः, ग्लास्यन्ति । लोट्—में शप् का विषय होने से आत्व नहीं होता—ग्लायतु-ग्लायतात्, ग्लायताम्, ग्लायन्तु । लङ्—अग्लायत्, अग्लायताम्, अग्लायन् । वि० लिङ्—ग्लायेत्, ग्लायेताम्, ग्लायेयुः ।

आ० लिङ्— णित् का विषय न होने से आत्व, सिप्, इकारलोप तथा यासुट् का आगम करने पर—ग्ला+यास्+त । अब आकार को वैकल्पिक एत्व करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(४६४) वाऽन्यस्य संयोगादेः ।६।४। ६८॥

घुमास्थादेरन्यस्य संयोगादेर्धातोरात एत्वं वाऽऽर्धधातुके किति लिङि । ग्लेयात्-ग्लायात् ॥

अर्थः—घु, मा, स्था आदि धातुओं से अतिरिक्त संयोगादि धातु के आकार को विकल्प से एकार आदेश हो जाता है आर्धधातुक कित् लिङ् परे हो तो ।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम् । अन्यस्य ।६।१। संयोगादेः ।६।१। एः ।१।१। लिङि ।७।१। ('एर्लिङि' से)। आतः ।६।१। ('आतो लोप इटि च' से)। किति ।७।१। ('ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः किति' से)। 'आर्धधातुके' और 'अङ्गस्य' दोनों अधिकृत हैं । 'आतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'आदन्तस्य अङ्गस्य' बन जाता है । कित् लिङ् परे होने पर आदन्त अङ्ग धातु ही हो सकता है अतः वृत्ति में 'धातोः' कहा गया है । संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिस्तस्य संयोगादेः, तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमासः । अन्यस्य—किस से अन्य ? पीछे अष्टाध्यायी में 'घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि' (५८८) सूत्र पढ़ा गया है अतः 'उस में कहे घुमास्था आदियों से अन्य' यह अर्थ स्वतः प्रतीत होता है । अर्थः—(अन्यस्य) घु, मा, स्था, गा, पा, ओहाक् और षो इन धातुओं से अतिरिक्त (संयोगादेः) संयोगादि (आतः=आदन्तस्य) आदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (वा) विकल्प से (एः) एकार आदेश हो जाता है (आर्धधातुके किति लिङि) आर्धधातुक कित् लिङ् परे हो तो । अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह आकार आदेश आदन्त अङ्ग के अन्त्य अत् आकार के स्थान पर होता है ।

'ग्ला+यास्त्' यहां पर 'यास्त्' यह 'लिङाशिषि' (४३१) से आर्धधातुक लिङ् है, इस का अवयव यासुट् 'किदाशिषि' (४३२) से कित् भी है । इधर ग्ला धातु घु-मा-स्था आदियों से भिन्न है और इस के आदि में संयोग (ग्ल्) भी विद्यमान है । अतः प्रकृतसूत्र से आकार के स्थान पर विकल्प से एकारादेश हो कर संयोगादि

सकार का लोप (३०९) करने से 'ग्लेयात्, ग्लायात्' दो रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—(एत्वपक्षे) ग्लेयात्, ग्लेयास्ताम्, ग्लेयासु। ग्लेया, ग्लेयास्तम्, ग्लेयास्त। ग्लेयासम्, ग्लेयास्व, ग्लेयास्म। (एत्वाभावे) ग्लायात्, ग्लायास्ताम्, ग्लायासु। आदि।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—(श्यै पाके) श्येयात्-श्यायात्, (ध्यै चिन्तायाम्) ध्येयात्-ध्यायात्, (म्लै हर्षक्षये) म्लेयात् म्लायात्, (ध्मा शब्दाग्नि-संयोगयो) ध्मेयात्-ध्मायात्, (म्ना अभ्यासे) म्नेयात्-म्नायात्, (घ्रा गन्धोपादाने) घ्रेयात्-घ्रायात्। 'घु-मा-स्था आदियों से अन्य' इस कथन के कारण 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' में विकल्प न होगा अपितु 'एर्लिङि' (४९०) से नित्य एत्व हो जायेगा—स्थेयात्।

लुङ्—में आत्व, तिप्, इकारलोप, च्लि, सिच्, अनुबन्धलोप तथा अपृक्त तकार को ईट् का आगम होकर—अग्ला+स्+ईत्। ग्लै धातु 'ऊदृदन्तै०' के अनुसार अनुदात्त है अत इस से परे सिच् को इडागम का 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से निषेध हो जाता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४९५) यम-रम-नमाता सक् च ।७।२।७३॥

एषा सक् स्याद्, एभ्य सिच इट् स्यात् परस्मैपदेषु। अग्लासीत्। अग्लास्यत् ॥

अर्थ—परस्मैपदपरक सिच परे होने पर यम, रम्, नम् तथा आकारान्त धातुओं को सक् का आगम हो जाता है तथा साथ ही सिच् को भी इट् का आगम हो जाता है।

व्याख्या—यम-रम-नमाताम् ।६।३। सक् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। सिचि ।७।१। ('अञ्जे सिचि' से)। परस्मैपदेषु ।७।३। ('स्तुसुधूञ्भ्य परस्मैपदेषु' से)। इट् ।१।१। ('इडत्यर्ति०' से)। यमश्च रमश्च नम् च आत् च यमरमनमात, तेषाम्= यमरमनमाताम्, इतरेतरद्वन्द्व। यमरमयोरकार उच्चारणार्थ। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। 'आत्' इस अश से तदन्तविधि कर ली जाती है। अर्थ—(परस्मैपदेषु सिचि) परस्मैपदपरक सिच् परे हो तो (यम रम-नमाताम्) यम्, रम, नम् और आकारान्त (अङ्गानाम्) अङ्गों का अवयव (सक्) सक् हो जाता है (च) तथा सिच् का भी अवयव (इट) इट् हो जाता है। सक् में ककार इत है तथा सकारोत्तर अकार उच्चारणार्थक है, कित्त्व के कारण सक् का आगम 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५)के अनुसार धातु का अन्तावयव बनता है। इट् का आगम टित् होने से सिच् का आद्यवयव होता है। उदाहरण यथा—

यम उपरमे (भ्वा० परस्मै०) अयसीत् अयसिष्टाम्, अयसिषु।

रमुं क्रीडायाम् (स्वा० आ०) व्यरंसीत्, व्यरंसिष्टाम्, व्यरंसिषुः[1] ।

णम प्रह्वत्वे शब्दे च (स्वा० प०) अनंसीत्, अनंसिष्टाम्, अनंसिषुः ।

आकारान्तों का उदाहरण प्रकृत है—'अग्ला+स्+ईत्' यहां पर 'ग्ला' यह आकारान्त अङ्ग है, इस से परे 'स्+ईत्' यह परस्मैपदपरक सिच् विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से आकारान्त अङ्ग को सक् का आगम तथा सिच् को इट् का आगम हो कर—अग्लास्+इस्+ईत् । अब 'इट ईटि' (४४६) से सिच् का लोप और उसे सिद्धवत् मान कर सवर्णदीर्घ करने से—अग्लास्+ईत्='अग्लासीत्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

यद्यपि सक् और इट् के विना भी 'अग्लासीत्' रूप सिद्ध हो सकता था तथापि 'अग्लासिष्टाम्, अग्लासिषुः' आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिये यह सूत्र आवश्यक था[2] अतः न्यायवशात् इसे यहां भी प्रवृत्त कर दिया गया है ।

लुङ् के प्रथमपु० के द्विवचन में तस् को ताम् तथा सिच् प्रत्यय करने पर 'अग्ला+स्+ताम्' इस स्थिति में प्रकृतसूत्र से धातु के अन्त में सक् का आगम तथा सिच् के आदि में इट् का आगम हो कर—अग्लास्+इस्+ताम् । अब 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सिच् के सकार को षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से ताम् के तकार को ष्टुत्व टकार करने से 'अग्लासिष्टाम्' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये । रूपमाला यथा—अग्लासीत्, अग्लासिष्टाम्, अग्लासिषुः । अग्लासीः, अग्लासिष्टम्, अग्लासिष्ट । अग्लासिषम्, अग्लासिष्व, अग्लासिष्म ।

लृङ्—पूर्ववत् इट् का निषेध हो जायेगा—अग्लास्यत्, अग्लास्यताम्, अग्लास्यन् ।

इसी प्रकार निम्न सात धातुओं के रूप चलते हैं—

(१) म्लै हर्षक्षये (मुरझाना) । लँट्—म्लायति । लिँट्—मम्लौ । लुँट्—म्लाता । लृँट्—म्लास्यति । लोँट्—म्लायतु-म्लायतात् । लँङ्—अम्लायत् । वि० लिँङ्—म्लायेत् । आ० लिँङ्—म्लेयात् म्लायात् । लुँङ्—अम्लासीत्, अम्लासिष्टाम्, अम्लासिषुः । लृँङ्—अम्लास्यत् ।

(२) म्ना अभ्यासे (अभ्यास करना) । शित्प्रत्ययों में 'पाघ्राध्मा०' (४८७) सूत्र से म्ना को मन् आदेश हो जाता है । लँट्—मनति । लिँट्—मम्नौ । लुँट्—

---

१. यहां पर 'व्याङ्परिभ्यो रमः' (७४६) से परस्मैपद होता है । ध्यान रहे कि आत्मनेपद में सक् और इट् नहीं होता—अरंस्त ।

२. इस सूत्र से दूसरा लाभ यह है कि सक् और इट् करने से 'अयंसीत्, व्यरंसीत्, अनंसीत्'-आदि में प्राप्त हलन्तलक्षणा वृद्धि का 'नेटि' (४७७) से निषेध हो जाता है । अन्यथा 'अयांसीत्, व्यरांसीत्, अनांसीत्' आदि अनिष्ट रूप बनते ।

ष्नाता । लृँट्—ष्नास्यति । लोँट्—मनतु-मनतात् । लँङ्—अमनत् । वि० लिँङ्—मनेत् । आ० लिँङ्—ष्नेषात् ष्नासात् । लुँङ्—अष्नासीत्, अष्नासिष्टाम्, अष्नासिषु । लृँङ्—अष्नास्यत् ।

(३) ध्यै चिन्तायाम् (ध्यान करना) । लँट्—ध्यायति । लिँट्—दध्यौ, दध्यतु, दध्यु । लुँट—ध्याता । लृँट्—ध्यास्यति । लोँट्—ध्यायतु ध्यायतात् । लँङ्—अध्यायत् । वि० लिँङ्—ध्यायेत् । आ० लिँङ्—ध्येषात् ध्यासात् । लुँङ्—अध्यासीत्, अध्यासिष्टाम, अध्यासिषु । लृँङ्—अध्यास्यत् ।

(४) गै शब्दे (गाना) । लँट्—गायति । लिँट्—जगौ, जगतु, जगु । लुँट्—गाता । लृँट्—गास्यति । लोँट्—गायतु गायतात् । लँङ्—अगायत् । वि० लिँङ्—गायेत् । आ० लिँङ्—गेषात्, 'एर्लिङि' (४९०) । लुँङ्—अगासीत्, अगासिष्टाम्, अगासिषु । लृँङ्—अगास्यत् ।

(५) ष्मा शब्दाग्निसयोगयो (फूक कर बजाना, धौंकना) । शित्प्रत्ययों में 'पाघ्राष्मा०' (४८७) सूत्र से ष्मा को धम् आदेश हो जाता है । लँट्—धमति । लिँट्—दध्मौ, दध्मतु, दध्मु । लुँट्—ष्माता । लृँट्—ष्मास्यति । लोँट्—धमतु-धमतात् । लँङ्—अधमत् । वि० लिँङ्—धमेत् । आ० लिँङ्—ष्मेषात् ष्मासात् । लुँङ्—अष्मासीत् । लृँङ्—अष्मास्यत् ।

(६) ष्ठा गतिनिवृत्तौ (ठहरना) । शित्प्रत्ययों में 'पाघ्राष्मा०' (४८७) सूत्र से स्था को तिष्ठ् आदेश हो जाता है । लँट्—तिष्ठति । लिँट्—तस्थौ, तस्थतु, तस्थु[1] । लुँट्—स्थाता । लृँट्—स्थास्यति । लोँट्—तिष्ठतु तिष्ठतात् । लँङ्—अतिष्ठत् । वि० लिँङ्—तिष्ठेत् । आ० लिँङ्—स्थेषात्, (एर्लिङि) । लुँङ्—अस्थात्, अस्थाताम्, अस्थु (गातिस्था० से सिच् का लुक् हो जाता है) । लृँङ्—अस्थास्यत् ।

(७) दाण् दाने (देना) । शित्प्रत्ययों में 'पाघ्राष्मा०' सूत्र से दाण् को यच्छ् आदेश हो जाता है । लँट्—यच्छति । लिँट्—ददौ, ददतु, ददु । लुँट्—दाता । लृँट्—दास्यति । लोँट्—यच्छतु-यच्छतात् । लँङ्—अयच्छत् । वि० लिँङ्—यच्छेत् । आ० लिँङ्—देषात् (घुत्वाद् 'एर्लिङि') । लुँङ्—अदात्, अदाताम्, अदु (गातिस्थाघु०) । लृँङ्—अदास्यत् ।

[लघु०] ह्रस्व कौटिल्ये ॥१८॥ ह्रस्वति ॥

---

१ यहा 'शर्पूर्वा खय' (६४८) सूत्र से अभ्यास का थकार शेष रहता है पुन उसे चत्व से तकार आदेश हो जाता है ।

अर्थः—ह्वृ धातु 'कुटिल आचरण करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—कुछ वैदिक प्रयोगों के सिवाय इस धातु का प्रायः लोक में प्रयोग देखा नहीं जाता। ग्रन्थकार यदि यहां 'स्मृ चिन्तायाम्' धातु पढ़ देते तो विद्यार्थियों को अधिक लाभ होता। ह्वृ धातु से लँट् में तिप्, शप् तथा 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण, रपर करने से 'ह्वरति' प्रयोग सिद्ध होता है— ह्वरति, ह्वरतः, ह्वरन्ति। लिँट् के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४९६) ऋतश्च संयोगादेर्गुणः ।७।४।१०॥

ऋदन्तस्य संयोगादेरङ्गस्य गुणो लिँटि। उपधाया वृद्धिः—जह्वार, जह्वरतुः, जह्वरुः। जह्वर्थ, जह्वरथुः, जह्वर। जह्वार-जह्वर, जह्वरिव, जह्वरिम। ह्वर्ता॥

अर्थः—संयोग जिस के आदि में हो ऐसे ऋदन्त अङ्ग को गुण हो जाता है लिँट् परे हो तो।

व्याख्या—ऋतः ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। संयोगादेः ।६।१। गुणः ।१।१। लिँटि ।७।१। ('दयतेर्दिगि लिँटि' से)। 'अङ्गस्य' इस अधिकृत का 'ऋतः' विशेषण है है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'ऋदन्तस्य अङ्गस्य' बन जाता है। संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिः, तस्य=संयोगादेः, बहुव्रीहिः। अर्थः—(लिँटि) लिँट् परे होने पर (संयोगादेः) संयोगादि (ऋतः) ऋदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह गुण अङ्ग के अन्त्य अल्-ऋत् के स्थान पर होता है। उदाहरण यथा—

ह्वृधातु से लिँट्० प्रथम पु० के एकवचन में तिप्, णल् हो कर 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) के अनुसार सर्वप्रथम द्वित्व हो जाता है—ह्वृ+ह्वृ+अ। तब 'उरत्' (४७३) सूत्र से अभ्यास के ऋवर्ण को अत्, रपर, हलादिशेष, 'कुहोश्चुः' (४५४) से अभ्यास के हकार को झकार तथा 'अभ्यासे चर्च' (३९९) से झकार को जकार करने पर—जह्वृ+अ। अब यहां 'अचो ञ्णिति' (१८२) से प्राप्त वृद्धि का परत्व के कारण बाध कर के प्रकृतसूत्र से गुण कर दिया जाता है—जह्वर्+अ। पुनः 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधा के अत् को वृद्धि करने पर 'जह्वार' प्रयोग सिद्ध होता है।

नोट—प्रकृतसूत्र का लाभ यद्यपि 'जह्वार' में कुछ नहीं दीखता क्योंकि आरम्भ में ही ऋकार को आर् वृद्धि कर देने से यह रूप सिद्ध हो सकता था तथापि 'जह्वरतुः' आदि में जहां 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से अतुस् आदि के कित्त्व के कारण गुण का निषेध होता था—इस सूत्र की आवश्यकता थी अतः यहां भी न्यायवशात् इसे प्रवृत्त कर दिया गया है।

द्विवचन में 'जह्व्+अतुस्' इस स्थिति में 'सार्वधातुकार्धं०' (३८८) से प्राप्त गुण का 'असंयोगाल्लिट् कित्' (४५२) द्वारा अतुस् के कित्त्व के कारण 'क्ङिति च' (४३३) से निषेध हो जाता है। इस पर प्रकृतसूत्र से पुन गुण हो कर 'जह्वरतु' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। इसी प्रकार उस् मे 'जह्वर' रूप की सिद्धि होती है।

'ऊदुदन्तै०' के अनुसार हृ धातु अनुदात्त है अत थल् मे 'एकाच उपदेशे०' (४७५) द्वारा इण्निषेध हो जायेगा। तब क्रादिनियम से लिट्मात्र मे इट् की प्राप्ति होगी। इस पर 'अचस्तास्वत्०' (४८०) से थल् में पुन इट् का निषेध हो जायेगा। ऋदन्त होने के कारण भारद्वाज के मत मे भी इट् न होगा—ह्व्+थ। अब अच् परे न रहने से 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) की सहायता से द्वित्व को प्राथमिकता न मिलेगी, परत्व के कारण 'ऋतश्च संयोगादेर्गुण' से प्रथम गुण हो जायेगा—ह्वर्+थ। अन्त मे द्वित्व और अभ्यासकार्य करने से 'जह्वर्थ' रूप सिद्ध होगा।

'णलुत्तमो वा' (४५६) से उत्तम पु० का णल विकल्प से णित् होता है। अत, गुण हो कर णित्वपक्ष मे उपधावृद्धि करने से 'जह्वार' और णित्वाभाव मे 'जह्वर' दो रूप बनेंगे। वस् और मस् मे क्रादिनियम से नित्य इट् हो कर द्वित्व तथा गुण करने पर—जह्वरिव, जह्वरिम। लिट् मे रूपमाला—जह्वार, जह्वरतु, जह्वरु। जह्वर्थ, जह्वरथु, जह्वर। जह्वार-जह्वर, जह्वरिव, जह्वरिम।

लुट्—मे 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से इण्निषेध हो कर 'सार्वधातुकार्धं०' (३८९) से सवत्र गुण हो जाता है—ह्वर्ता, ह्वर्तारौ, ह्वर्तार। लृट्—'ह्व्+स्य+ति' इस स्थिति मे 'एकाच उपदेशे०' (४७५) द्वारा इट् का निषेध प्राप्त है। इस पर अग्रिमसूत्र से इट् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४९७) ऋद्धनो स्ये ।७।२।७०॥

ऋतो हन्तेश्च स्यस्य इट्। ह्वरिष्यति। ह्वरतु। अह्वरत्। ह्वरेत्॥

अर्थ—ऋदन्त तथा हन् धातु से परे स्य को इट् का आगम हो।

व्याख्या—ऋद्धनो ।६।२। (पञ्चम्यर्थे षष्ठी)।स्ये ।७।१। (षष्ठ्यर्थे सप्तमी) इट् ।१।१। ('आर्धधातुकस्येड्०' से)। 'अङ्गस्य' इस अधिकृत का पञ्चम्यन्ततया

---

१ अजी 'ऋतश्च संयोगादेर्गुण' तो संयोगादि अङ्ग को ही गुण करता है परन्तु 'जह्व्+अतुस्' मे 'जह्व्' अङ्ग तो संयोगादि नहीं फिर कैसे गुण हो जायेगा? इस का उत्तर यह है कि यदि ऐसा समझने लगें तो अङ्ग कहीं भी संयोगादि नहीं मिल सकेगा, अत यहा भूतपूर्वगति का आश्रय लिया जाता है। जब अतुस् प्रत्यय किया गया था तब 'ह्व्+अतुस्' में 'ह्व्' अङ्ग संयोगादि था इसलिये यहा भी उसी से काम चल जायेगा।

विपरिणाम हो जाता है—अङ्गात् । ऋत् च हन् च ऋद्धनौ, तयोः । 'क्ष्नो होऽन्य०'(७५) इति ह्स्य पूर्वसवर्णत्वम् । इतरेतरद्वन्द्वः । 'अङ्गात्' का विशेषण होने से 'ऋतः' अंश से तदन्तविधि हो कर 'ऋदन्तादङ्गात्' बन जाता है । अर्थः—(ऋद्धनोः) ऋदन्त अङ्ग से या हन् धातु से परे (स्ये=स्यस्य) स्य प्रत्यय का अवयव (इट्) इट् हो जाता है । 'ऊदृदन्तैः०' के अनुसार सब ऋदन्त धातु अनुदात्त हैं एवं हन् धातु भी नकारान्त अनुदात्तों में परिगणित होने से अनुदात्त है । अतः इन से परे आर्धधातुकप्रत्ययों को इडागम का 'एकाच उपदेशे०' (४७५) द्वारा निषेध प्राप्त है, परन्तु अब इस सूत्र से केवल स्यप्रत्यय को पुनः इडागम विधान किया जाता है । हन् धातु से उदाहरण यथा—हनिष्यति । इस की सिद्धि आगे अदादिगण में देखें ।

ऋदन्त का उदाहरण यहां प्रकृत है । 'ह्वृ+स्य+ति' यहां ऋदन्त ह्वृ धातु से परे 'स्य' विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से स्य को इट् का आगम हो कर आर्धधातुकगुण करने पर 'ह्वरिष्यति' प्रयोग सिद्ध होता है । रूपमाला यथा—ह्वरिष्यति, ह्वरिष्यतः, ह्वरिष्यन्ति ।

लोँट्—ह्वरतु-ह्वरतात्, ह्वरताम्, ह्वरन्तु । लँङ्—अह्वरत्, अह्वरताम्, अह्वरन् । वि० लिँङ्—ह्वरेत्, ह्वरेताम्, ह्वरेयुः । आ० लिँङ्—'ह्वृ+यास्+त्' यहां पर 'किदाशिषि' (४३२) के अनुसार यासुट् कित् है अतः 'क्ङिति च' (४३३) से गुण का निषेध प्राप्त होता है, इस पर अग्रिमसूत्र द्वारा पुनः गुण का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४६८) गुणोऽर्ति-संयोगाद्योः ।७।४।२९॥

अर्त्तेः संयोगादेर्ऋदन्तस्य च गुणः स्याद् यकि यादावार्धधातुके लिँङि च । ह्वर्यात् । अह्वार्षीत् । अह्वरिष्यत् ॥

अर्थः—ऋ धातु तथा संयोगादि ऋदन्त धातु को गुण हो यक् अथवा यकारादि आर्धधातुक लिँङ् परे हो तो ।

व्याख्या—गुणः ।१।१। अर्ति-संयोगाद्योः ।६।२। ऋतः ।६।१। ('रीङ् ऋतः' से)। अङ्गस्य ।६।१। (अधिकृत है)। असार्वधातुके ।७।१। ('अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' से) यग्लिँङोः ।७।२। ('रिङ् शयग्लिँङ्क्षु' से)। यि ।७।१। ('अयङ् यि०' से) । संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिः, बहुव्रीहिः । अर्तिश्च संयोगादिश्च अर्तिसंयोगादी, तयोः= अर्तिसंयोगाद्योः, इतरेतरद्वन्द्वः । 'ऋतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'ऋदन्तस्य अङ्गस्य' बन जायेगा । 'अर्तिसंयोगाद्योः' में 'संयोगादि' अंश 'ऋदन्तस्य अङ्गस्य' के साथ ही सम्बद्ध हो सकता है 'अर्ति' के साथ नहीं। 'असार्वधातुके' यह 'लिँङि' का विशेषण है । असार्वधातुक लिँङ् का अभिप्राय 'आर्धधातुक लिँङ्' से ही हो सकता है । इस का विशेषण 'यि' है अतः 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' से तदादिविधि हो कर 'यादौ आर्धधातुके लिँङि' उपपन्न होता है ।

अर्थ —(ऋत =ऋदन्तस्य, अतिसयोगाद्योः, अङ्गस्य) 'ऋ' धातु के तथा सयोगादि ऋदन्त अङ्ग के स्थान पर (गुण ) गुण आदेश हो जाता है (यादौ, आर्धधातुके यन्निर्देशो ) यक् परे होने पर अथवा यकारादि आर्धधातुक लिँङ् परे होने पर। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह गुण अन्त्य अल्—ऋकार के स्थान पर ही होता है। 'अति' से अभिप्राय यहा 'ऋ' धातु से है। यह धातु भ्वादि और जुहोत्यादि दो गणों में पढ़ी गई है, यहा दोनो का ग्रहण अभीष्ट है। ऋ धातु के यक् मे 'अर्यते' तथा आर्धधातुक यकारादि लिँङ् मे 'अर्यात्' आदि उदाहरण हैं।

'ह्वृ+यास्+त्' यहा पर 'ह्वृ' धातु सयोगादि भी है और ऋदन्त भी, इस से परे 'यास्' यह यकारादि आधधातुक लिँङ् विद्यमान है अत प्रकृतसूत्र से ऋकार को अर् गुण हो कर 'रुको सयोगाद्योरन्ते च' (३०६) से सयोगादि सकार का लोप करते 'ह्वर्यात्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सयोगादि ऋदन्त का यक् मे उदाहरण 'ह्वर्यते, स्मर्यते' आदि है। 'सयोगादि' कहने से 'क्रियात्' आदि मे इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। 'यादौ' कहने से 'सस्वृषीष्ट' ('विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसङ्ख्यानम्' इत्यात्मनेपदम्) आदि मे गुण नहीं होता। 'आर्धधातुके' के कथन से 'इयृयात्' यहा विधिलिँङ् में गुण नहीं होता।

आ० लिँङ् में रूपमाला- ह्वर्यात्, ह्वर्यास्ताम्, ह्वर्यासु।

लुँङ्—मे तिप्, इकारलोप, च्लि, सिँच्, ईट् का आगम तथा अङ्ग को अट् का आगम हो कर 'अ ह्वृ+स्+ईत्' इस स्थिति मे 'सिँचि वृद्धि०'(४८४)से इवान्त अङ्ग को वृद्धि करने से—अह्वार्षीत्, अह्वार्ष्टाम्, अह्वार्षुः। अह्वार्षीः, अह्वार्ष्टम्, अह्वार्ष्ट। अह्वार्षम्, अह्वार्ष्व, अह्वार्ष्म।

लृँङ्—मे 'ऋद्धनो स्ये' (४६७) से इट् का आगम हो जाता है—अह्वरिष्यत्, अह्वरिष्यताम्, अह्वरिष्यन्।

इसी प्रकार स्मृ चिन्तायाम् (स्मरण करना) धातु के रूप चलते हैं। लँट्—स्मरति। लिँट्—सस्मार, सस्मरतुः, सस्मरुः। लुट्-स्मर्ता। लृँट्—स्मरिष्यति। लोँट्—स्मरतु-स्मरतात्। लँङ्- अस्मरत्। वि० लिँङ्—स्मरेत्। आ० लिँङ्—स्मर्यात्। लुट्—अस्मार्षीत्, अस्मार्ष्टाम्, अस्मार्षुः। लृँङ्—अस्मरिष्यत्। विस्मरति=भूलता है।

[लघु०] श्रु श्रवणे ॥१६॥

अर्थ —श्रु धातु 'सुनना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(४६६) श्रुवः शृ च ।३।१।७४॥

श्रुवः 'शृ' इत्यादेशः स्यात्, श्नुप्रत्ययश्च । शृणोति[1] ॥

अर्थः—कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे होने पर श्रु धातु के स्थान पर 'शृ' आदेश हो और साथ ही उस से परे श्नुप्रत्यय भी हो ।

व्याख्या—श्रुवः ।५।१। शृ ।१।१। (लुप्तप्रथमान्तम्)। च इत्यव्ययपदम् । श्नुः ।१।१। ('स्वादिभ्यः श्नुः' से)। कर्तरि ।७।१। ('कर्तरि शप्' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('सार्वधातुके यक्' से)। 'प्रत्यय.' और 'परश्च' दोनों अधिकृत हैं । अर्थः—(श्रुवः) श्रु धातु से परे (श्नुः) श्नु प्रत्यय होता है (च) और साथ ही (श्रुवः ।६।१।) श्रु के स्थान पर (शृ) शृ आदेश भी होता है (कर्तरि सार्वधातुके) कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे हो तो । अनेकाल् होने के कारण शृ आदेश सम्पूर्ण श्रु के स्थान पर होगा । श्रु धातु भ्वादिगण में पठित है अतः कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे होने पर इस से परे 'कर्तरि शप्' (३८७) द्वारा शप् प्राप्त था । यह सूत्र उसका अपवाद है । इस प्रकार लँट्, लोँट्, लँङ् और विधिलिँङ् इन चार लकारों में शप् न हो कर श्नुविकरण होगा । श्नुविकरण के साथ श्रु को शृ आदेश भी हो जावेगा । श्नु प्रत्यय के शकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से इत्सञ्ज्ञा हो कर लोप हो जाता है 'नु' मात्र अवशिष्ट रहता है । इसे शित् करने का प्रयोजन सार्वधातुकसञ्ज्ञा करना है । इसका उपयोग 'सार्वधातुकमपित्' (५००) में ङिद्वद् करना होगा ।

श्रु धातु से लँट्, प्र० पु० के एकवचन में तिप् हो कर प्रकृत सूत्र द्वारा श्नुविकरण तथा श्रु को शृ आदेश करने पर 'शृ+नु+ति' हुआ । शप् की तरह श्नु भी शित् होने से सार्वधातुक है, अतः श्नु को मान कर 'शृ' को 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(५००) सार्वधातुकमपित् ।१।२।४॥

अपित् सार्वधातुकं ङिद्वत् । शृणुतः ॥

अर्थः—पित् से भिन्न सार्वधातुक ङिद्वत् हो ।

व्याख्या—सार्वधातुकम् ।१।१। अपित् ।१।१। ङित् ।१।१। ('गाङ्कुटादिभ्यो-ञ्णिन्ङित्' से)। न पित्—अपित् । अर्थः—(अपित्) पित् से भिन्न (सार्वधातुकम्) सार्वधातुक (ङित्) ङित् हो । 'सिंहो माणवकः' (बच्चा शेर है) की तरह यह अतिदेश है । अतिदेश का पर्यवसान तुल्यता में हुआ करता है । 'बालक शेर है' का अन्ततोगत्वा

---

१. लघुकौमुदी के सब संस्करणों में यहां 'शृणोति' पाठ उपलब्ध होता है । परन्तु हमारे विचार में इस पाठ का सही स्थान 'सार्वधातुकमपित्' (५००) की वृत्ति के बाद होना चाहिये क्योंकि बिना उस सूत्र की प्रवृत्ति के यह रूप बन नहीं सकता ।

यही अर्थ पर्यवसित होता है कि बालक शेर की तरह है। अङित् को भी प्रयोजनवशात् ङित् कह दिया जाता है, इस से वह ङिद्वत् हो जाता है। अर्थात् ङित् परे होने पर जो कार्य हुआ करते हैं वे ङिद्वत् के परे होने पर भी हो जाते हैं। ङित् को मान कर प्राप्त गुण और वृद्धि का 'क्ङिति च' (४३३) से निषेध हो जाता है, वह निषेध ङिद्वत् प्रत्ययों में भी हो जायेगा।

'शृ+नु+ति' यहा स्नुप्रत्यय पित् से भिन्न है और सार्वधातुक भी है अत प्रकृतसूत्र से वह ङित् अर्थात् ङिद्वत् हो गया। इस से उसको मान कर प्राप्त होने वाले गुण का 'क्ङिति च' (४३३) से निषेध हो जाता है। इधर 'ति' प्रत्यय भी तो तिङ् होने से 'तिङ्शित्०' (३८६) से सार्वधातुक है परन्तु पित् होने से वह ङिद्वत् नहीं होता। अत उसे मान कर 'शृनु' के उकार को निर्बाध गुण हो जाता है—शृनो+ति। अब 'ऋवर्णान्नस्य णत्व वाच्यम्' (२१) वार्तिक से नकार को णकार करने पर 'शृणोति' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्विवचन मे तस्, स्नुविकरण तथा शृ को शृ आदेश करने पर 'शृ+नु+तस्' हुआ। अब यहा नु को मान कर 'शृ' में, तथा तस् को मान कर 'नु' मे गुण प्राप्त होता है। परन्तु पिद्भिन्न होने के कारण दोनो ङिद्वत् हो जाते हैं अत दोनों स्थानों पर 'क्ङिति च' (४३३) से गुण का निषेध हो जाता है—शृनुतस्=शृणुत।

बहुवचन में लँट् को झि, स्नुविकरण और शृ को शृ आदेश, तथा 'झोऽन्त' (३८६) से झि के झकार को अन्त् आदेश करने पर—शृ+नु+अन्ति। अब नु और अन्ति दोनो 'सार्वधातुकमपित्' से ङित् हैं अत नु को मान कर 'शृ' को तथा 'अन्ति' को मान कर 'नु' को गुण नही होता। तब 'अन्ति' इस अजादि प्रत्यय के परे होने पर 'अचि स्नु०' (१९९) से नु के उकार को उवङ् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से यण् विधान करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(५०१) हुस्नुवोः सार्वधातुके ।६।४।८७॥

हुस्नुवोरनेकाचोऽसयोगपूर्वस्योवर्णस्य यण् स्यादचि सार्वधातुके[1]। शृण्वन्ति। शृणोषि, शृणुथ, शृणुथ। शृणोमि॥

अर्थ—हु धातु तथा स्नुप्रत्ययान्त जो अनेकाच् अङ्ग, उन के असयोगपूर्व उकार के स्थान पर यण् आदेश हो अजादि सार्वधातुक परे हो तो।

---

१ लघुकौमुदी का यह अर्थ भ्रामक, अस्पष्ट तथा अशुद्ध भी है जैसा कि आगे व्याख्या मे स्पष्ट है। इसके स्थान पर सिद्धान्तकौमुदी की शुद्ध वृत्ति कण्ठस्थ करनी चाहिये—"जुहोतेः स्नुप्रत्ययान्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य चासयोगपूर्वोवर्णस्य यण् स्यादजादौ सार्वधातुके"।

व्याख्या—हुश्नुवोः ।६।२। सार्वधातुके ।७।१। अचि ।७।१। ('अचि श्नु०' से) यण् ।१।१। ('इणो यण्' से)।अनेकाचः ।६।१। असंयोगपूर्वस्य ।६।१। ('एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' से) ओः ।६।१। ('ओः सुंपि' से)।'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। 'अचि' यह 'सार्वधातुके' का विशेषण है अतः 'यस्मिन्विधिः०' परिभाषा से तदादिविधि हो कर 'अजादौ सार्वधातुके' बन जाता है। 'श्नु' प्रत्यय है अतः 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' के अनुसार श्नुप्रत्ययान्त का ग्रहण होता है। 'अनेकाचः' पद श्नुप्रत्ययान्त अङ्ग के साथ सम्बद्ध है। नास्ति संयोगः पूर्वो यस्मादसौ असंयोगपूर्वः, तस्य। बहुव्रीहिः। 'असंयोगपूर्वस्य' विशेषण 'ओः' का ही समझना चाहिये 'श्नु' का नहीं[1]। अर्थः—(अचि=अजादौ सार्वधातुके) अजादि सार्वधातुक परे होने पर (हुश्नुवोः, अनेकाचः, अङ्गस्य) हु धातु के तथा श्नुप्रत्ययान्त अनेकाच् अङ्ग के (असंयोगपूर्वस्य) जिसके पूर्व संयोग नहीं ऐसे (ओः) उकार के स्थान पर (यण्) यण् आदेश हो जाता है। 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) के अनुसार उकार को यण् वकार ही होता है। यह सूत्र 'अचि श्नु०' (१६६) से प्राप्त उवङ् का अपवाद है।

संक्षेप में यह सूत्र दो कार्य करता है—

(१) अजादि सार्वधातुक परे होने पर 'हु दानाऽदनयोः' (जुहो० परस्मै०) धातु के उवर्ण को यण् अर्थात् उकार आदेश हो जाता है। यथा—जुहु+अति=जुह्वति। सार्वधातुक के विना यण् नहीं होता। यथा लिट् में—जुहु+अतुस्=जुहुवतुः, जुहुवुः। उवङ् हो जाता है।

(२) अजादि सार्वधातुक परे होने पर श्नुप्रत्ययान्त अनेकाच् अङ्ग के ऐसे उवर्ण के स्थान पर यण् हो जिस उवर्ण से पूर्व संयोग न हो। यथा—सुनु+अन्ति=सुन्वन्ति, चिनु+अन्ति=चिन्वन्ति। असंयोगपूर्व कहने से 'अक्षणु+अन्ति=अक्ष्णुवन्ति, आप्नु+अन्ति=आप्नुवन्ति' इत्यादियों में यण् नहीं होता, 'अचि श्नु०' (१६६) से उवङ् हो जाता है।

प्रकृत में 'शृनु+अन्ति' यहां पर 'अन्ति' यह अजादि सार्वधातुक परे है; 'शृनु' यह अनेकाच् अङ्ग है; उकार से पूर्व कोई संयोग भी नहीं है, अतः उकार को यण् वकार हो कर णत्व करने से 'शृण्वन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है।

सिप् और मिप् पित् हैं अतः 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से वे ङिद्वत् नहीं होते। इस लिये उन को मान कर गुण निर्बाध हो जाता है—शृणोपि, शृणोमि।

---

१. यदि श्नु का विशेषण मानेंगे तो 'आप्नुवन्ति, राध्नुवन्ति' आदि में भी यण् प्रसक्त होगा। क्योंकि 'आप्नु+अन्ति' आदि में उकार से पूर्व संयोग है श्नु से पूर्व नहीं।

वस् और मस् में 'शृनु+वस्, शृनु+मस्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्रद्वारा उकार का वैकल्पिक लोप प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५०२) लोपश्चाऽस्याऽन्यतरस्या म्वोः ।६।४।१०७॥

असयोगपूर्वस्य प्रत्ययोकारस्य[1] लोपो वा म्वो परयो । शृण्व-शृणुव । शृण्म-शृणुम. । शुश्राव, शुश्रुवतु', शुश्रुवु । शुश्रोथ, शुश्रुवथु, शुश्रुव । शुश्राव-शुश्रव, शुश्रुव, शुश्रुम । श्रोता । श्रोष्यति । शृणोतु-शृणुतात्, शृणुताम्, शृण्वन्तु ॥

अर्थ —जिस के पूर्व सयोग नहीं ऐसा जो प्रत्यय का अवयव उकार, तदन्त का विकल्प कर के लोप हो जाता है म् अथवा व् परे हो तो ।

व्याख्या—लोप ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । अस्य ।६।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। म्वो ।७।२। असयोगपूर्वस्य ।६।१। प्रत्ययस्य ।६।१। उत ।६।१। ('उतश्च प्रत्ययादसयोगपूर्वात्' से विभक्तिविपरिणाम करके)। 'अङ्गस्य' अधिकृत है। 'उत' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अत इस से तदन्तविधि हो जायेगी। 'अस्य' से पूर्वसूत्र 'उतश्च प्रत्ययादसयोगपूर्वात्' का प्रत्यवमर्श होता है। अर्थ—(असयोगपूर्वस्य) जिस के पूर्व सयोग नहीं ऐसा जो (प्रत्ययस्य) प्रत्यय का अवयवभूत (उत) उकार, तदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग का (म्वो) मकार अथवा वकार परे होने पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था मे (लोप) लोप हो जाता है। दूसरी अवस्था में लोप न होने से विकल्प फलित होता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह लोप उदन्त अङ्ग के अन्त्य अल्—उकार का ही होता है। उदाहरण यथा—सुनु+वस्=सुन्व सुनुव । सुनु+मस्=सुन्म-सुनुम । सुनु+वहे=सुन्वहे-सुनुवहे । सुनु+महे=सुन्महे-सुनुमहे । इसी प्रकार—चिन्व-चिनुव, चिन्म चिनुम आदि।

उकार को 'असयोगपूर्व' कहा गया है अत 'अश्नु+वस्=अश्नुव, अश्नु+मस्=अश्नुम' इत्यादि में यह लोप प्रवृत्त नही होता । यदि 'असयोगपूर्व' को प्रत्यय का विशेषण बनाते तो 'आप्नु+वस्=आप्नुव, आप्नु+मस्=आप्नुम' इत्यादि स्थानों पर प्रत्यय से पूर्व सयोग न होने से इन में भी लोप प्रवृत्त हो जाता जो सर्वथा अनिष्ट था।

इस सूत्र से पीछे अष्टाध्यायी मे लुक् का प्रकरण चला आ रहा था, उसे छोड कर यहा 'लोप' कहा गया है। इस का कारण यह है कि लुक् तो समग्र प्रत्यय का

---

१ प्रत्ययसम्बन्धिन उकारस्येत्यर्थ । प्रत्ययभूतोकारस्येत्यपरे तु 'तन्व-तनुव.' इत्यादिषु सिद्धेष्वपि 'चिन्व-चिनुव' इत्यादयो न सिध्यन्ति ।

हुआ करता है प्रत्ययांश का नहीं (देखो—'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः'१८९)। लुक् कहने से यद्यपि 'तन्वः-तनुवः, तन्मः-तनुमः' आदियों में समग्र प्रत्यय का लुक् हो जाने से कोई दोष नहीं आता तथापि 'चिन्वः चिनुवः, चिन्मः-चिनुमः' आदियों में सम्पूर्ण 'नु' का लोप प्रसक्त होने से दोष आयेगा। अब 'लोपः' के ग्रहण से अलोऽन्त्यपरिभाषा की प्रवृत्ति हो कर केवल उकार का ही लोप हो जाने से कहीं दोष प्रसक्त नहीं होता।

इस सूत्र में 'प्रत्ययस्य' और 'उतः' की अनुवृत्ति तो आ ही रही है पुनः उसके लिये 'अस्य' पद के ग्रहण का क्या प्रयोजन ? इस का उत्तर यह है कि पीछे से 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' इन पञ्चम्यन्त पदों की अनुवृत्ति आ रही थी अब यदि कोई 'म्वोः' को सप्तम्यन्त समझने की बजाय षष्ठ्यन्त समझ लेता तो 'उकारान्त प्रत्यय से परे मकार वकार का लोप हो' ऐसा अनर्थ होने लगता। परन्तु अब 'अस्य' कथन के कारण 'उतः' 'प्रत्ययात्' आदि पदों की षष्ठ्यन्ततया विपरिणति निश्चित हो जाने से कोई सन्देह उत्पन्न नहीं होता—यह है 'अस्य' पद के ग्रहण का प्रयोजन।

'शृनु+वस्, शृनु+मस्' यहां पर श्नुप्रत्यय का अवयव उकार मौजूद है, इस से पूर्व कोई संयोग भी नहीं, और इस से परे वकार मकार भी विद्यमान हैं अतः प्रकृतसूत्र से तदन्त अङ्ग 'शृनु' का वैकल्पिक लोप प्राप्त होने पर अलोऽन्त्यपरिभाषा से केवल अन्त्य अल्-उकार का ही लोप हो जाने से 'शृण्वः-शृणुवः, शृण्मः, शृणुमः' दो-दो रूप बनते हैं। लँट् में रूपमाला यथा—शृणोति, शृणुतः, शृण्वन्ति। शृणोषि, शृणुथः, शृणुथ। शृणोमि[1], शृण्वः-शृणुवः, शृण्मः-शृणुमः।

लिँट्—प्र०पु० के एकवचन में तिप्, णल् तथा द्वित्वादि कार्य हो कर—शुश्रु+अ। अब 'अचो ञ्णिति' (१८२) से उकार को ओकार वृद्धि और 'एचोऽयवायावः' (२२) से ओकार को आवादेश करने से 'शुश्राव' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्विवचन में अतुस् आदेश हो कर 'श्रु+अतुस्'। यहां 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से अतुस् कित् है अतः इसे मान कर आर्धधातुकगुण का निषेध हो जाता है। अब 'अचि श्नु०' (१९९) से उवङ् प्राप्त होता है परन्तु 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) सूत्र से द्वित्वनिमित्तक अच् के परे रहते अन्य अच् के स्थान पर तब तक कोई आदेश नहीं

---

१. 'शृनु+मि' यहां 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्०'(५०२) से उकारलोप तथा 'सार्वधातुकार्धः०' (३८८) से गुण युगपत् प्राप्त होते हैं। दोनों सावकाश हैं। लोप, 'शृण्वः-शृणुवः, शृण्मः-शृणुमः' में जहां गुण का विषय नहीं चरितार्थ है; और गुण 'शृणोति, शृणोषि' आदियों में जहां इस लोप का विषय नहीं, चरितार्थ है। इस पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से लोप का बाध कर परकार्य गुण हो कर 'शृणोमि' रूप सिद्ध होता है।

हो सकता जब तक द्वित्व न हो ले। अतः प्रथम द्वित्व और अभ्यासकार्य हो कर तब उवङ् आदेश करने पर 'शुश्रुवतु' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार उस् में 'शुश्रुवुः' रूप सिद्ध होता है।

मध्यमपु० के एकवचन में सिप् को थल् आदेश हो कर—श्रु+थ। श्रुधातु 'ऊदृदन्तैर्०' के अनुसार अनुदात्त है अतः 'एकाच०' (४७५) से इण्निषेध हो जायेगा। इस मे क्रादिनियम से भी इट् प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि क्रादियों में श्रु का साक्षात् उल्लेख किया गया है। जब लिट् में इट् प्राप्त ही नहीं तो 'अचस्तास्वत्०' (४८०) आदि सूत्रों की प्रवृत्ति अपने आप ही नहीं होगी। थल् में इट् के न आने से अच् परे न होने के कारण 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) की प्रवृत्ति भी नही होगी। तब द्वित्व से परत्व के कारण प्रथम गुण हो जायेगा—श्रो+थ। अब द्वित्व तथा हलादिशेष करने से 'शुश्रोथ' रूप सिद्ध हो जायेगा। द्विवचन और बहुवचन में पूर्ववत्—शुश्रुवथुः, शुश्रुव।

उत्तम पु० के एकवचन में 'शतुत्तमौ वा' (४५६) से णल् विकल्प से णित् होता है। णित्वपक्ष मे 'अचो ञ्णिति' (१८२) से वृद्धि और णित्वाभाव में 'सार्वधातुकार्धः' (३८८) से गुण हो कर 'शुश्राव-शुश्रव' दो रूप सिद्ध होते हैं। वस् और मस् में क्रादिनियम से नित्य इण्निषेध होता है। कित्व के कारण गुण हो नहीं सकता। अतः द्वित्व हो कर अभ्यासकार्य करने से 'शुश्रुव, शुश्रुम' रूप सिद्ध होते हैं। लिट् में रूपमाला—शुश्राव, शुश्रुवतुः, शुश्रुवुः। शुश्रोथ, शुश्रुवथुः, शुश्रुव। शुश्राव-शुश्रव, शुश्रुव, शुश्रुम।

लुँट्—में एकाच०' (४७५) से सर्वत्र इण्निषेध हो कर आर्धधातुकगुण हो जाता है—श्रोता, श्रोतारौ, श्रोतारः। श्रोतासि, श्रोतास्थः, श्रोतास्थ। श्रोतास्मि, श्रोतास्वः, श्रोतास्मः।

लृँट्—श्रोष्यति, श्रोष्यतः, श्रोष्यन्ति।

लोँट्—में श्नुप्रत्यय तथा श्रु को शृ आदेश हो जाता है—शृणोतु। तातङ् के ङित्व के कारण गुण का निषेध हो जायेगा—शृणुतात्। शृणुताम्—में 'सार्वधातुकमपित्' (१००) द्वारा ङित्त्व के कारण गुण नहीं होता। शृण्वन्तु—में 'हृश्नुवो०' (५०१) से णत्व हो जाता है। मध्यमपु० के एकवचन में सिप् को हि आदेश, श्नु-विकरण तथा श्रु को शृ आदेश होकर 'शृनु+हि' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५०३) उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्

।६।४।१०६॥

असंयोगपूर्वात् प्रत्ययोतो हेर्लुक् । शृणु-शृणुतात्, शृणुतम्, शृणुत । गुणावादेशौ - शृणवानि, शृणवाव, शृणवाम । अशृणोत्, अशृणुताम्, अशृण्वन् । अशृणोः, अशृणुतम्, अशृणुत । अशृणवम्, अशृण्व-अशृणुव, अशृण्म-अशृणुम । शृणुयात्, शृणुयाताम्, शृणुयुः । शृणुयाः, शृणुयातम्, शृणुयात । शृणुयाम्, शृणुयाव, शृणुयाम । श्रूयात् । अश्रौषीत् । अश्रोष्यत् ॥

अर्थः—जिसके पूर्व संयोग नहीं, ऐसा प्रत्यय का अवयव जो उकार, उस से परे 'हि' का लुक् हो ।

व्याख्या—उतः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । प्रत्ययात् ।५।१। असंयोगपूर्वात् ।५।१। हेः ।६।१। ('अतो हेः' से)।लुक् ।१।१। ('चिणो लुक्' से) । नास्ति संयोगः पूर्वो यस्मादसौ असंयोगपूर्वः, तस्मात् । अर्थः—(असंयोगपूर्वात्) जिसके पूर्व संयोग नहीं ऐसा (प्रत्ययात् =प्रत्ययावयवात्) प्रत्यय का अवयव (उतः) जो उकार, उस से परे (हेः) 'हि' का (लुक्) लुक् हो जाता है। 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' (१८६) के अनुसार प्रत्यय के अदर्शन का नाम लुक् है अतः सम्पूर्ण 'हि' का अदर्शन होगा ।

'शृनु+हि' यहां प्रत्यय के उकार से पूर्व कोई संयोग नहीं अतः इस से परे प्रकृत सूत्र द्वारा 'हि' का लुक् हो कर णत्व करने से 'शृणु' प्रयोग सिद्ध होता है ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण—सुनु+हि=सुनु । चिनु+हि=चिनु । तनु +हि=तनु । कुरु+हि=कुरु । 'उतः' (उकार से परे) के कहने से—'लुनी+हि= लुनीहि, पुनी+हि=पुनीहि' इत्यादियों में 'हि' का लुक् नहीं होता । 'प्रत्ययात्' कथन से 'यु+हि=युहि, रु+हि=रुहि' इत्यादि स्थानों पर धातु के उकार से परे 'हि' का लुक् नहीं होता। 'असंयोगपूर्वात्' यह 'उतः' का ही विशेषण है प्रत्यय का नहीं, यदि प्रत्यय का विशेषण होता तो 'प्राप्नुहि' में भी 'हि' का लुक् हो जाता । अब उकार के संयोगपूर्व होने से नहीं होता ।

उत्तमपु० के एकवचन में मिप्, नि आदेश तथा आट् का आगम हो कर 'शृनु +आनि' । 'आनि' यह पित् सार्वधातुक है अतः इस के परे होने पर 'सार्वधातुकार्धं०' (३८८) से गुण करने से—शृनो+आनि । अब 'एचोऽयवायावः' (२२) से ओकार को अवादेश तथा ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' (वा० २१) से नकार को णकार करने पर 'शृणवानि' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार—शृणवाव, शृणवाम । लोट् में रूपमाला यथा—शृणोतु-शृणुतात्, शृणुताम्, शृण्वन्तु । शृणु-शृणुतात्, शृणुतम्, शृणुत । शृणवानि, शृणवाव, शृणवाम ।

लँङ्—तिप्, सिप् और मिप् में गुण हो जाता है अन्यत्र 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङिद्भाव के कारण गुण का निषेध हो जाता है । अशृण्वन्—में 'हुश्नुवोः'

(५०१) से यण् हो जाता है। वस्, मस् में 'लोपश्चास्यान्य०' (५०२) से उकार का वैकल्पिक लोप हो जाता है। रूपमाला यथा—अशृणोत् अशृणुताम्, अशृण्वन्। अशृणोः, अशृणुतम् अशृणुत। अशृणवम्, अशृण्व-अशृणुव, अशृण्म-अशृणुम।

वि० लिङ्—में सर्वत्र श्नुविकरण तथा श्रु को शृ आदेश हो जाता है। ध्यान रहे कि यहां यासुट् के ङित् होने से गुण का निषेध हो जायेगा—शृणुयात्, शृणुयाताम्, शृणुयुः। शृणुयाः, शृणुयातम्, शृणुयात। शृणुयाम्, शृणुयाव, शृणुयाम।

आ० लिङ्—में आर्धधातुकसञ्ज्ञा के कारण 'सुव शृ च' (४९९) की प्रवृत्ति नहीं होती। यासुट् के कित्त्व के कारण गुण का भी निषेध हो जाता है। 'अदृत्तावँ०' (४८३) से सर्वत्र दीर्घ हो जाता है—शूयात्, शूयास्ताम्, शूयासुः। शूयाः, शूयास्तम्, शूयास्त। शूयासम्, शूयास्व, शूयास्म।

लुँङ्—में इण्निषेध हो कर 'अशु+स्+ईत्' इस स्थिति में 'सिचि वृद्धि०' (४८४) से उकार को औकार वृद्धि तथा 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) से सकार को षकार करने से—अशौषीत्। इसी प्रकार आगे भी। रूपमाला यथा—अशौषीत्, अशौष्टाम्, अशौषुः। अशौषीः, अशौष्टम्, अशौष्ट। अशौषम्, अशौष्व, अशौष्म।

लृँङ्—अशोष्यत्, अशोष्यताम्, अशोष्यन्।

[लघु०] गम्लृँ गतौ ॥२०॥

अर्थ—गम्लृँ (गम्) धातु 'गति-गमन-जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—गम्लृँ धातु का अन्त्य लृँकार अनुनासिक होने से 'उपदेशेऽजनु०' (२८) से इत्सञ्ज्ञक है अतः उस का लोप हो कर 'गम्' ही अवशिष्ट रहता है। इसे लृदित् करने का प्रयोजन वक्ष्यमाण (५०७) सूत्र से लुँङ् में च्लि को अङ् आदेश करना है।

लँट्—तिप्, शप् हो कर 'गम्+अ+ति' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५०४) इषु-गमि-यमां छ ।७।३।७७॥

एषा छ स्याच्छिति। गच्छति। जगाम॥

अर्थ—इषुँ (चाहना), गम् (जाना) और यम् (रोकना) इन तीन धातुओं को शित् परे होने पर छकार आदेश होता है।

व्याख्या—इषुँ-गमि-यमाम् ।६।३। छ ।१।१। छकारादकार उच्चारणार्थः। शिति ।७।१। ('ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' से)। अर्थ—(शिति) शित् परे होने पर (इषुँ-गमि-यमाम्) इषुँ, गम् और यम् धातुओं के स्थान पर (छ) छ् आदेश होता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह छकारादेश अन्त्य अल् के स्थान पर किया जायेगा। उदाहरण

यथा—इषुं इच्छायाम् (तुदा० परस्मै०)—इच्छति, इच्छतः, इच्छन्ति । गम्—गम्लृ गतौ—गच्छति, गच्छतः, गच्छन्ति । यम्—यम उपरमे (भ्वा० परस्मै०) यच्छति, यच्छतः, यच्छन्ति ।

'गम्+अ+ति' यहां शप् का अकार शित् परे है अतः प्रकृतसूत्र से गम् के अन्त्य अल् मकार को छकार आदेश हो कर 'गछ्+अ+ति' हुआ । अव 'छे च' (१०१) सूत्र से छकार परे रहते ह्रस्व को तुक् का आगम कर श्चुत्व करने से 'गच्छति' प्रयोग सिद्ध होता है । लँट् में रूपमाला यथा—गच्छति, गच्छतः, गच्छन्ति । गच्छसि, गच्छथः, गच्छथ । गच्छामि, गच्छावः, गच्छामः ।

लिँट्—तिप्, णल्, द्वित्व, चुत्व और 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि करने से 'जगाम' रूप सिद्ध होता है । द्विवचन में 'गम्+अतुस्' इस स्थिति में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५०५) गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङिति-त्यनङि ।६।४।९८॥

एषामुपधाया लोपोऽजादौ क्ङिति न त्वङि । जग्मतुः । जग्मुः । जगमिथ-जगन्थ, जग्मथुः, जग्म । जगाम-जगम, जग्मिव, जग्मिम । गन्ता ॥

अर्थः—गम्, हन्, जन्, खन् और घस् इन पांच धातुओं की उपधा का लोप हो जाता है, अङ् से भिन्न अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे हो तो ।

व्याख्या—गम—घसाम् ।६।३। लोपः ।१।१। क्ङिति ।७।१। अनङि ।७।१। अचि ।७।१। ('अचि श्नु०' से)। उपधायाः ।६।१। ('ऋदुपधाया गोहः' से) । यह सूत्र अङ्गाधिकार में पढ़ा गया है । अङ्गसञ्ज्ञा विना प्रत्यय के हो नहीं सकती अतः 'प्रत्यये' पद आक्षिप्त कर लिया जाता है । 'अचि' को 'प्रत्यये' का विशेषण बना कर तदादिविधि करने से 'अजादौ प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है । क् च ङ् च ङौ, ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन्=क्ङिति, बहुव्रीहिः । गम-हनेत्यत्र इतरेतरद्वन्द्वः । गमादिष्वकार उच्चारणार्थः । अर्थः—(गम-हन-जन-खन-घसाम्) गम्, हन्, जन्, खन् और घस् इन पाञ्च धातुओं की (उपधायाः) उपधा का (लोपः) लोप हो जाता है (अनङि) अङ् से भिन्न (अचि=अजादौ) अजादि (क्ङिति) कित् ङित् प्रत्यय परे हो तो । 'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' (१७६) के अनुसार अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण उपधासञ्ज्ञक होता है ।

'गम्+अतुस्' यहां 'असंयोगाल्लिँट्०' (४५२) से अतुस् कित् है, किञ्च यह अजादि भी है अतः प्रकृतसूत्र से गम् की उपधा गकारोत्तर अकार का लोप प्राप्त होता है । परन्तु 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) के अनुसार जव तक द्वित्व न हो ले तव तक अच् के स्थान पर कोई आदेश नहीं हो सकता, इसलिये सर्वप्रथम द्वित्व हो जायेगा—गम्+

गम्+अतुस्। हलादिशेष तथा अभ्यास के गकार को 'कुहोश्चु' (४५४) से चुत्व-जकार करने पर—जगम्+अतुस्। अब द्वित्व हो चुकने पर उपधालोप हो कर—जग्म्+अतुस्=जग्मतुस्='जग्मतु' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार बहुवचन में—जग्मु।

अन्य धातुओं के उदाहरण यथा—हन हिंसागत्यो (अदा० परस्मै०)—जघ्नतु, जघ्नु। जन्—जनीँ प्रादुर्भावे (दिवा० आत्मने०), जन जनने (जुहो० परस्मै०)—जज्ञे, जज्ञाते, जज्ञिरे। खन्—खनुं अवदारणे (खोदना, भ्वा० उभय०)—चस्नतु, चस्नु। घस्—अद् धातु के स्थान पर 'लिट्यन्यतरस्याम्' (५५३) से घस् (घस्लृ) आदेश होता है—जक्षतु, जक्षु। इन की सिद्धि आगे यथास्थान देखें। ये सब कित् के उदाहरण हैं। ङित् के 'अक्षन्' आदि कुछ उदाहरण वेद मे ही उपलब्ध होते हैं, लोक में कोई उदाहरण नहीं मिलता।

इस सूत्र में यदि 'अचि' (अजादौ) न लाते तो 'गम्यते, हन्यते' आदि में यक् के कित् होने से उपधालोप प्रसक्त होता। यदि 'ङिति' न कहते तो 'जगाम, जघान' आदि में भी उपधालोप हो जाता। यह लोप अङ् परे होने पर नहीं होता—अगमत्। इसकी सिद्धि आगे लुँङ् में देखें।

लिँट् मध्यमपु० के एकवचन में सिप् को थल् आदेश हो कर—गम्+थ। गम् धातु मकारान्त अनुदात्तों मे पढ़ी गई है (पृष्ठ १४६) अत 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से इट् का निषेध हो जाता है। आदिनियम से पुन इसे लिँट् मात्र में इट् प्राप्त होने लगता है इस पर 'उपदेशेऽजत' (४८१) से थल् में पुन निषेध हो जाता है। तब 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) से भारद्वाज के मत मे थल् को इट् हो कर द्वित्वादि करने पर 'जगमिथ' प्रयोग सिद्ध होता है। अन्य आचार्यों के मत में इट् का थल् में निषेध ही रहता है, तब 'गम्+थ' इस स्थिति में द्वित्वादि हो कर अपदान्त मकार को अनुस्वार (७८) तथा उसे परसवर्ण (७९) नकार करने से 'जगन्थ' प्रयोग बनता है। इस प्रकार थल् में 'जगमिथ-जगन्थ' ये दो रूप बनते हैं। ध्यान रहे कि सिप्स्थानीय थल् के पित् होने के कारण 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५७) से कित्त्व नहीं होता अत इट्पक्ष में उपधालोप का प्रश्न ही नहीं उठता।

उत्तमपु० का थल् विकल्प से णित् होता है अत णित्त्वपक्ष में उपधावृद्धि हो कर—जगाम। णित्त्वाभाव में—जगम। कित्त्वाभाव के कारण उपधालोप नहीं होता। वस् और मस् में आदिनियम से नित्य इट् हो कर पहले द्वित्व और बाद में उपधालोप करने से—जग्मिव, जग्मिम। रूपमाला यथा—जगाम, जग्मतु, जग्मु। जगमिथ-जगन्थ, जग्मथु, जग्म। जगाम जगम, जग्मिव, जग्मिम।

लुँट्—में 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से सर्वत्र इट् का निषेध हो कर मकार

को अनुस्वार और परसवर्ण हो जाता है—गन्ता, गन्तारौ, गन्तारः । गन्तासि, गन्तास्थः, गन्तास्थ । गन्तास्मि, गन्तास्वः, गन्तास्मः ।

लृट् —में भी 'एकाच उपदेशे०' से इण्निषेध प्राप्त है । इस पर अग्रिमसूत्र द्वारा पुनः इट् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५०६) गमेरिट् परस्मैपदेषु ।७।२।५८॥

गमेः परस्य सादेरार्धधातुकस्येट् स्यात् परस्मैपदेषु । गमिष्यति । गच्छतु । अगच्छत् । गच्छेत् । गम्यात् ॥

अर्थः—गम् धातु से परे सकारादि आर्धधातुक को इट् का आगम हो जाता है परस्मैपद परे हो तो ।

व्याख्या—गमेः ।५।१। इट् ।१।१। परस्मैपदेषु ।७।३। से ।७।१। ('सेऽसिचि०' से)। आर्धधातुके ।७।१। ('आर्धधातुकस्येड्०' से विभक्तिविपरिणाम द्वारा) । 'से' यह 'आर्धधातुके' का विशेषण है अतः 'यस्मिन्विधिः०' से तदादिविधि हो कर 'सादौ' आर्धधातुके बन जाता है । अर्थः—(गमेः) गम् धातु से (से=सकारादौ) सकारादि (आर्धधातुके) आर्धधातुक परे हो तो उसे (इट्) इट् का आगम हो जाता है (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्यय परे हों तो ।

'गम्+स्य+ति' यहां गम् से परे 'स्य' यह सकारादि आर्धधातुक विद्यमान है इस से परे 'ति' यह परस्मैपद प्रत्यय भी मौजूद है अतः प्रकृतसूत्र से 'स्य' को इट् का आगम हो कर अनुबन्धलोप तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सकार को षकार करने पर 'गमिष्यति' प्रयोग सिद्ध होता है । रूपमाला यथा—गमिष्यति, गमिष्यतः, गमिष्यन्ति । गमिष्यसि, गमिष्यथः, गमिष्यथ । गमिष्यामि, गमिष्यावः, गमिष्यामः ।

यहां 'परस्मैपदेषु' कहने का यह अभिप्राय नहीं कि परस्मैपद प्रत्यय अवश्य परे हों इस का केवल इतना ही तात्पर्य है कि आत्मनेपद प्रत्यय परे न हों । अत एव 'जिगमिषितुम्, जिगमिषा, जिगमिषिता' आदि कृदन्तों में भी सन् को इट् का आगम हो जाता है । 'गंस्यते' (कर्म०) में आत्मनेपद के कारण इट् का आगम नहीं होता ।

यह इट्विधान केवल सकारादि प्रत्ययों के लिये ही है अतः अन्यत्र निषेध रहेगा ही । यथा—गन्ता, गन्तुम्, गन्तव्यम् आदि में इट् न होगा ।

लोट्—में शप् परे रहने के कारण 'हृषुंगमियमां छः' (५०४) से सर्वत्र मकार को छकार हो कर तुक् तथा श्चुत्व हो जाता है—गच्छतु-गच्छताम्, गच्छन्तु । गच्छ-गच्छतात्, गच्छतम्, गच्छत । गच्छानि, गच्छाव, गच्छाम । इसी प्रकार लँङ् में भी समझना चाहिये—(लँङ्) अगच्छत्, अगच्छताम्, अगच्छन् । अगच्छः, अगच्छतम्, अगच्छत । अगच्छम्, अगच्छाव, अगच्छाम । (वि० लिङ्) गच्छेत्, गच्छेताम्, गच्छेयुः । गच्छेः, गच्छेतम्, गच्छेत । गच्छेयम्, गच्छेव, गच्छेम ।

आ० लिंङ्—में शित् परे न होने से छत्व नहीं होता। किञ्च यासुट् के कित् होने पर भी अजादि न होने के कारण उपधालोप भी नहीं होता—गम्यात्, गम्यास्ताम्, गम्यासुः। गम्याः, गम्यास्तम्, गम्यास्त। गम्यासम्, गम्यास्व, गम्यास्म।

लुंङ्—प्रथमपु० के एकवचन में तिप्, इकारलोप, च्लि और अट् का आगम करने पर—अगम्+च्लि+त्। अब 'च्ले सिंच्' (४३८) से च्लि को सिंच् प्राप्त होता है। इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५०७) पुषादि-द्युताद्यृलृदित परस्मैपदेषु। ३।१।५५॥

श्यन्विकरणपुषादेर्द्युतादेर्ऋदितश्च परस्य च्लेरङ् परस्मैपदेषु। अगमत्। अगमिष्यत्॥

अर्थ—श्यन्विकरण वाले पुष् आदि धातु किञ्च द्युत् आदि तथा ऋदित् धातुओं से परे च्लि के स्थान पर अङ् आदेश हो जाता है परस्मैपद प्रत्ययों के परे होने पर।

व्याख्या—पुषादि-द्युतादि-ऋदित ।५।१। परस्मैपदेषु ।७।३। च्ले ।६।१। ('च्ले सिंच्' से)। अङ् ।१।१। ('अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' से)। पुष आदिर्येषान्ते पुषादय, द्युत आदिर्येषां ते द्युतादय, ऋत् (ह्रस्व ऋकारः) इत् यस्य स ऋदित्। पुषादयश्च द्युतादयश्च ऋदित् च एषा समाहार पुषादि-द्युताद्यृलृदित्, तस्मात्। बहुव्रीहिगर्भसमाहारद्वन्द्व। अर्थ—(पुषादि—ऋदित) पुषादि, द्युतादि तथा ऋदित् धातुओं से परे (च्ले) च्लि के स्थान पर (अङ्) अङ् आदेश हो जाता है (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्यय परे हों तो। च्लि का अनुबन्ध-लोप करने पर 'त्' मात्र अवशिष्ट रहता है उस के स्थान पर यह अङ् आदेश किया जा रहा है। अङ् में ङकारानुबन्ध 'ङिच्च' (७।४।१६) आदियों में अकार को विशिष्ट करने के लिये, 'अस्यत्' आदि में 'आतो लोप इटि च' (४८६) द्वारा आकारलोप आदि कार्यों के लिये तथा 'अपुषत्, अद्युतत्' आदियों में लघूपधगुण के निषेध के लिये जोड़ा गया है।

पुष्-आदि धातु भ्वादि, दिवादि, क्र्यादि और चुरादि चार गणों में धातुपाठ के अन्तर्गत पढ़े गये हैं। परन्तु यहां पर व्याख्यानवश केवल श्यन्विकरण वाले दैवादिक धातुओं का ही ग्रहण अभिमत है अन्यों का नहीं।

प्रश्न—इस सूत्र में पुषादियों और द्युतादियों के पृथग्ग्रहण की क्या आवश्यकता है? इन धातुओं को भी ऋदित् क्यों नहीं कर देते जिस से इन से परे च्लि को निर्बाध अङ् होता जायेगा?

उत्तर—पुषादियों और द्युतादियों में सब धातुओं को लृदित् करने से अत्यन्त गौरवदोष प्रसक्त होगा। इस के अतिरिक्त उन में प्रयोजनवशात् कहीं 'आ' अनुबन्ध (यथा—ञिमिदा स्नेहने, ञिक्ष्विदा स्नेहनमोचनयोः), कहीं उकार अनुबन्ध (यथा—शमु उपशमे, भ्रमु अनवस्थाने), कहीं ईकार अनुबन्ध (यथा—मदी हर्षे) पहले से ही जुड़ा हुआ है। अब यदि लृकार अनुबन्ध और जोड़ देंगे तो अनुबन्धों का बाहुल्य हो जाने से बड़ी असुविधा उत्पन्न हो जायेगी अतः इन का पृथक् उल्लेख ही उचित है।

यहां प्रकृत में गम्लृ धातु लृदित् है, च्लि से परे 'त्' (ति) यह परस्मैपद प्रत्यय भी विद्यमान है अतः च्लि को अङ् आदेश हो कर—अगम् + अङ् + त् = 'अगमत्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि 'गमहनजन०' (५०५) सूत्र में 'अनङि' कहा गया है अतः यहां अङ् परे होने पर उपधालोप नहीं होता।

पुषादियों और द्युतादियों से परे च्लि को अङ् आदेश करने के उदाहरण आगे मूल में ही आयेंगे।

'परस्मैपदेषु' कहने से आत्मनेपद में च्लि को अङ् नहीं होता—अद्योतिष्ट। 'घुद्भ्यो लुंङि' (५३८) से द्युत् धातु के लुंङ् में दोनों पद होते हैं।

गम् की लुंङ् में रूपमाला यथा—अगमत्, अगमताम्, अगमन्। अगमः, अगमतम्, अगमत। अगमम्, अगमाव, अगमाम।

लृँङ्—में 'स्य' को 'गमेरिट्०' (५०६) से इट् का आगम हो जाता है—अगमिष्यत्, अगमिष्यताम्, अगमिष्यन्।

उपसर्गयोग—आ√गम् = आना, आगच्छति = आता है (आजगाम ततः पम्पां लक्ष्मणेन सह प्रभुः—(रामा० अरण्य० ७५ ११)।

अधि√गम् = प्राप्त करना, पाना (यथा खननखनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति। तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति—मनु० २.२१८; गुरोरनुज्ञामधिगम्य मातः—रघु० २.६६)।

अनु√गम् = पीछे जाना, अनुसरण करना (छायेव तं भूपतिरन्वगच्छत्—रघु० २.६; श्रोदकान्तात् स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्यः—शाकुन्तल)। धारण करना (विपत्तौ च महाल्लोके धीरतामनुगच्छति—हितो० ३.४७); अनुकरण करना (धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति—किरात० ४.३६)।

अव√गम् = जानना-मानना-समझना (कथं शान्तमित्यभिहिते श्रान्त इत्यवगच्छति मूर्खः—मृच्छ० १; तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्—गीता १०.४१); निकट जाना, नीचे जाना (अञ्जः समुद्रमवजग्मुरापः—ऋग्वेद १.३२.२)।

अति√गम्=गुजरना-व्यतीत होना (ततो दशाहेऽतिगते कृतशौचो नृपात्मज—रामा० अयो० ७७ १)।

वि√गम्=दूर भागना, पृथक् होना (सलज्जाया लज्जा व्यगमदिव दूर मृगदृश—गीतगोविन्द, युध्यस्व विगतज्वर—गीता ३ ३०)।

अप√गम्=दूर भागना, छोड़ना, मुँह मोड़ना (सम्पदो नाऽपगच्छन्ति—पञ्च० ३ ८, समागमा सापगमा—हितो० ४ ६५)।

उप√गम्=प्राप्त करना, निकट जाना (अधोऽधो गङ्गेय पदमुपगता स्तोकमथवा—नीतिशतक ६, शशिनमुपगतेय कौमुदी मेघमुक्तम्—रघु० ६ ८५)।

निर्√गम्=निकलना (निर्जगाम गृहाच्छ्रुत्वा भ्रातृवचनमाज्ञया वसी—रामा० युद्ध० ७८ ५)।

उप+आ√गम्=निकट आना (तपोनिधि वेत्सि न मामुपागतम्—शाकुन्तल ४.१, उपाजग्मुर्मुदा युक्ता यत्र वेदमब्रुवन्—रामा० उत्तर० ५१ १६), प्राप्त करना (पञ्चत्वमुपागत—पञ्च०, परां तुष्टिमुपागमत्—महाभारत)।

प्रति+उद्√गम्=सम्मानार्थ आगे जाना (प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या—रघु० २ २०; प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेय—रघु० ५ २)।

उद्√गम्=ऊपर उठना (असह्यवातोद्गतरेणुमण्डला—ऋतु स० १ १०, उद्गतशृङ्गो वत्स), निकलना (इत्युद्गता पौरवधूमुखेभ्य शृण्वन् कथा श्रोत्रसुखा कुमार—रघु० ७ १६)।

परि√गम्=चारों ओर घूमना (यथा हि मेरु सूर्येण नित्यश परिगम्यते—महाभारत वन० अ० २०४), जानना (श्रमपरिगतार्यस्त रघु सन्निवृत्तम्—रघु० ७.७१), घेरना-व्याप्त करना (सेनापरिगत, क्षुधया परिगत)।

अभि√गम्=पास आना (मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षय—मनु० १ १), व्यभिचार करना (अभिगन्तास्मि भगिनीं मातरं वा तवेति ह—याज्ञ० २ २०५)।

प्रति√गम्=लौटना (भवतु प्रतिगमिष्यामस्तावत्—शाकुन्तल)।

सम्√गम्=मिलना-इकट्ठा होना [अकर्मक, 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' १ ३.२९ इत्यात्मनेपदम्। यत्र देवा समगच्छन्त विश्वे—ऋग्वेद १० ८२ ६]।

अब निम्न धातुओं की रूपसिद्धि में कोई कठिनाई नहीं आयेगी—

(१) यम उपरमे (रोकना)। लँट्—यच्छति। लिँट्—ययाम, येमतु, येमु। येमिथ-ययन्थ, येमथु, येम। ययाम-ययम, येमिव, येमिम। लुँट्—यन्ता। लृँट्—यस्यति। लोँट्—यच्छतु-यच्छतात्। लँङ्—अयच्छत्। वि० लिँङ्—यच्छेत्। आ० लिँङ्—यस्यात्। लुँङ्—अयसीत् (यमरमनमातां सक् च)। लृँङ्—अयस्यत्।

(२) णम प्रह्वत्वे शब्दे च (नमस्कार करना, शब्द करना)। लँट्—नमति। लिँट्—ननाम, नेमतुः, नेमुः। नेमिथ-ननन्थ, नेमथुः, नेम। ननाम-ननम, नेमिव, नेमिम। लुँट्—नन्ता। लृँट्—नंस्यति। लोँट्—नमतु-नमतात्। लँङ्—अनमत्। वि० लिँङ्—नमेत्। आ० लिँङ्—नम्यात्। लुँङ्—अनंसीत्। लृँङ्—अनंस्यत्। प्रणमति। 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (४५९) इति णत्वम्।

## अभ्यास (४)

(१) ऋादिनियम का विवेचन करते हुए इस का लाभ बताइये।

(२) ऋादिसूत्र में 'स्तु' आदियों को नियमार्थ क्यों नहीं मानते ?

(३) 'स्वरतिसूति०' के विकल्प में भी क्या ऋादिनियम प्रवृत्त होता है ?

(४) भारद्वाजनियम का स्वरूप बतलाते हुए इस का रूपसिद्धि पर प्रभाव स्पष्ट करें।

(५) अजन्तोऽकारवान्० कारिका की सप्रमाण सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत करें।

(६) 'पिवादेशोऽदन्तः' कहने का क्या प्रयोजन है ? अन्य आदेश अदन्त क्यों नहीं ?

(७) 'आत औ णलः' को 'आत औ णलः' क्यों नहीं पढ़ देते जिस से कुछ लाघव हो जाये ?

(८) 'शिति' का अर्थ 'इत्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये' कैसे और क्यों किया जाता है ?

(९) 'आतो लोप इटि च' में 'इटि' का विशेषण 'अजादि आर्धधातुक' क्यों लगाया जाता है ?

(१०) 'आतः' सूत्र कैसे नियमार्थ है और इस नियम का लाभ क्या है ?

(११) 'आदेच उपदेशेऽशिति' के 'अशिति' में कौन सा प्रतिषेध मानना चाहिये ?

(१२) 'जग्ले-मग्ले' में 'आदेच उपदेशेऽशिति' की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?

(१३) 'जह्वृ+अतुस्' में संयोगादि अङ्ग न होते हुए भी गुण कैसे होगा ?

(१४) 'शृणोमि' में 'लोपश्चास्यान्य०' से उकारलोप क्यों नहीं होता ?

(१५) 'हुश्नुवोः०' में 'असंयोगपूर्व' को किस का विशेषण मानना चाहिये उकार का या श्नु का ? सोपपत्तिक विवेचन करें।

(१६) 'शृणोति' में ति और श्नु दोनों सार्वधातुक हैं पर ति को मान कर गुण हो जाता है और 'नु' को मान कर नहीं—इस भेद का क्या कारण है ?

(१७) निम्न सूत्रों की व्याख्या करें—

ऋतो भारद्वाजस्य, अकृत्सार्व०, आतो लोप इटि च, यमरमनमाता०, ऋतश्च संयो०, गुणोति०, आदेच उप०, हुश्नुवो०, लोपश्चास्या०, गमहन०, पुषादिद्युता०।

(१८) निम्न रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

गमिष्यति, जग्मतु, गच्छति, शृणु, शृण्व, शृणोति, जह्वरतु, ह्वर्यात्, शृण्वन्ति, ग्लेयात्, जग्लौ, अपु, पेयात्, पपतु, पपौ, पिबति, क्ष्म्यति, क्षीयात्, चिक्षियिव।

(१९) क्षि, तप्, पा, ह्वृ, श्रु, गम्—इन को यङ् में सिद्धि करें।

(२०) श्रु, ह्वृ, पा, ग्लै, तप्, क्रम्, गम्—इन की लुंट् प्र०पु० एकवचन में सिद्धि करें।

(२१) निम्न धातुओं की लुंङ और लिंट् में रूपमाला लिखें—

गम्, श्रु, क्षि, ह्वृ, पा, ग्लै, क्रम्, तप्।

(२२) 'गमेरिट्०' में 'परस्मैपदेषु' के ग्रहण का क्या तात्पर्य है ?

## इति परस्मैपदिन

यहां स्वादिगण के परस्मैपदी धातुओं का विवेचन समाप्त होता है।

## अथाऽऽत्मनेपदिनः

अब स्वादिगण के आत्मनेपदी धातुओं का वर्णन आरम्भ होता है—

**[लघु०] एधृँ वृद्धौ ॥१॥**

अर्थ—एधृँ (एध्) धातु 'बढ़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—एधृँ धातु में धकारोत्तर अकार अनुनासिक भी है और अनुदात्त भी। 'उपदेशेऽजनु०' (२८) सूत्र से इस की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से लोप हो कर 'एध्' मात्र अवशिष्ट रहता है। अनुदात्तेत् होने से इस से परे लकार के स्थान पर 'अनुदात्तङित०' (३७८) के अनुसार 'त, आताम्, झ' आदि नौ आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं।

लँट्—प्र०पु० के एकवचन में 'त' आदेश होकर—एध्+त। अब 'तिङ्शित्०' (३८६) से 'त' की सार्वधातुकसंज्ञा हो कर 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् विकरण करने से 'एध्+अ+त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५०८) टित आत्मनेपदानां टेरे ।३।४।७९।।

टितो लस्यात्मनेपदानां टेरेत्वम् । एधते ।।

अर्थः—टित् लकार के स्थान पर आदेश होने वाले आत्मनेपद प्रत्ययों की टि को एकार आदेश हो ।

व्याख्या—टितः ।६।१। आत्मनेपदानाम् ।६।३। टेः ।६।१। ए ।१।१। (लुप्त-प्रथमाकं पदम्)।'लस्य' यह अधिकृत है । अर्थः—(टितः, लस्य) टित् लकार के स्थान पर होने वाले (आत्मनेपदानाम्) आत्मनेपद प्रत्ययों की (टेः) टि के स्थान पर (ए) एकार आदेश हो जाता है । 'अचोऽन्त्यादि टि' (३९) सूत्र से अन्त्य अच् सहित अग्रिम सारे भाग की टिसञ्ज्ञा का विधान कर चुके हैं । यथा—'त' में 'अ' टि है, 'आताम्' मे 'आम्' टि है, और 'झ' में 'अ' टि है इत्यादि । जिस के टकार की इत्संज्ञा हो वह टित् लकार कहाता है । टित् लकार छः हैं—लँट्, लिँट्, लुँट्, लृँट्, लेँट् और लोँट ।

'एध्+अ+त' यहां लँट् टित् लकार था उस के स्थान पर 'त' यह आत्मनेपद प्रत्यय किया गया है । अतः प्रकृतसूत्र से इस की टि अर्थात् अकार को एकार आदेश हो कर 'एधते' प्रयोग सिद्ध होता है ।

प्रश्न—पचमानः, यजमानः, वर्धमानः इत्यादियों में लँट् के स्थान पर 'लँटः शतृशानचावप्रथमा०' (८३१) सूत्र से आन (शानच्) आदेश किया जाता है और इस 'आन' की 'तङानावात्मनेपदम्' (३७७) से आत्मनेपदसंज्ञा भी विधान की गई है । तो इस की टि को भी प्रकृतसूत्र से एत्व क्यों नही कर देते ?

उत्तर—इस सूत्र में पिछले 'तिप्तस्झि०' (३७५) सूत्र की अनुवृत्ति आ कर 'तिप् आदियों में जो आत्मनेपद उस की टि को एत्व हो' इस प्रकार अर्थ करने से कोई दोष नहीं आता । 'पचमानः' आदि में लँट्स्थानीय 'आन' तिप्-तस् आदियों के अन्तर्गत नहीं आता अतः उस की टि को एत्व नहीं होता ।

प्र०पु० के द्विवचन में लँट् को आताम् आदेश हो कर शप् विकरण लाने से—एध्+अ+आताम् । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५०९) आतो ङितः ।७।२।८१।।

अतः परस्य ङिताम् आकारस्य इय् स्यात् । एधेते । एधन्ते ।।

अर्थः—अदन्त अङ्ग से परे ङितों के आकार के स्थान पर इय् आदेश हो ।

व्याख्या—आतः ।६।१। ङितः ।६।१। अतः ।५।१। इयः ।१।१। ('अतो येयः' से) यकारादकार उच्चारणार्थः । 'अङ्गस्य' इस अधिकृत का पञ्चम्यन्ततया विपरिणाम हो कर 'अङ्गात्' बन जाता है । 'अतः' यह 'अङ्गात्' का विशेषण है इसलिये तदन्तविधि करने से 'अदन्ताद् अङ्गात्' बन जाता है । अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (अङ्गात्)

अङ्ग से परे (ङित) ङित् के (आत) आकार के स्थान पर (इय=इय्) इय् आदेश हो।

'एध+आताम्' यहा 'एध' यह अदन्त अङ्ग है, इस से परे आताम् 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित् है अत प्रकृतसूत्र से आताम् के आकार को इय् आदेश हो कर—एध+इय्ताम्। 'लोपो व्योर्वलि' (४२६) से य् का लोप तथा 'आद् गुण' (२७) से गुण एकादेश करने पर—एधेताम्। अब 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (५०८) से आताम् की टि=आम् को एत्व करने पर 'एधेते' प्रयोग सिद्ध होता है।

नोट—'टित आत्मनेपदानां टेरे' (५०८) सूत्र में यदि 'टे' का ग्रहण न करते तो यह एत्व अलोऽन्यपरिभाषा से अन्त्य अल् के स्थान पर होता। इस से 'एधते, एधन्ते' आदि मे तो कोई दोष न आता परन्तु 'एधेते' मे आताम् के आम् को एत्व न हो कर केवल मकार को एत्व प्राप्त होता जो अनिष्ट था।

प्र० पु० के बहुवचन में लँट् को झ, तथा शप् विकरण करने पर—एध्+अ+झ। अब 'झोऽन्त'(३८६)सूत्र से झ् के स्थान पर अन्त् आदेश, टि को एत्व तथा 'अतो गुणे' (२७४) से शप् और अन्त् के अकारों को पररूप करने से 'एधन्ते' प्रयोग सिद्ध होता है।

मध्यमपु० के एकवचन मे थास् और शप् करने पर 'एध्+अ+थास्' इस स्थिति मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५१०) थास से।३।४।८०॥

टितो लस्य थास से स्यात्। एधसे, एधेथे, एधध्वे। अतो गुणे (२७४)—एधे, एधावहे, एधामहे॥

अर्थ—टित् लकार के स्थान पर हुए थास् को 'से' आदेश हो।

व्याख्या—थास ।६।१। से ।१।१। (लुप्तप्रथमान्तम्)।टित ।६।१। ('टित आत्मनेपदानां टेरे' से)।'लस्य' यह अधिकृत है। अर्थ—(टित, लस्य) टित् लकार के स्थान पर आदेश हुआ जो (थास) थास्, उस के स्थान पर (से) 'से' आदेश हो। 'से' आदेश अनेकाल् होने से सम्पूर्ण थास् के स्थान पर आदिष्ट होता है।

'एध्+अ+थास्' यहा पर टित् लकार-लँट् के स्थान पर थास् आदेश हुआ है अत प्रकृतसूत्र से थास् को भी 'से' आदेश करने से 'एधसे' प्रयोग सिद्ध होता है।

मध्यमपु० के द्विवचन मे आथाम् तथा शप् विकरण हो कर 'एध्+अ+आथाम्' इस स्थिति में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा आथाम् के ङित् होने से 'आतो ङित' (५०६) से आथाम् के आकार को इय् आदेश, यकारलोप, गुण तथा टि को एत्व करने पर 'एधेथे' प्रयोग सिद्ध होता है। बहुवचन में 'एध्+अ+ध्वम्' इस स्थिति में ध्वम्

की टि=अम् को एत्व ही कर 'एधध्वे' प्रयोग सिद्ध होता है।

उत्तमपु० के एकवचन में लँट् के स्थान पर इट् प्रत्यय तथा शप् विकरण हो कर—एध्+अ+इ। अब यहां व्यपदेशिवद्भाव से 'इ' ही अपनी टि है। अतः 'टित आत्मने०' (५०८) से उसे एकार आदेश तथा वृद्धि को बाध कर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने से 'एधे' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन और बहुवचन में 'अतो दीर्घो यञि' (३९०) से अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो कर टि को एत्व हो जाता है—एधावहे, एधामहे। लँट् में रूपमाला यथा—एधते, एधेते, एधन्ते। एधसे, एधेथे, एधध्वे। एधे, एधावहे, एधामहे।

एध् धातु से लिँट् लकार लाने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५११) इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ।३।१।३६॥

इजादिर्यो धातुर्गुरुमान् ऋच्छत्यन्यस्तत आम् स्याल्लिँटि ॥

अर्थः—ऋच्छ् से भिन्न ऐसी इजादि धातु जो गुरुवर्ण से युक्त हो, उस से परे आम् प्रत्यय हो जाता है लिँट् परे हो तो।

व्याख्या—इजादेः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। गुरुमतः ।५।१। अनृच्छः ।५।१। धातोः ।५।१। ('धातोरेकाचः०' से)। आम् ।१।१। लिँटि ।७।१। ('फास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिँटि' से)। 'प्रत्ययः, परश्च' का अधिकार आ रहा है। इच् (इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ) आदिर्यस्य स इजादिस्तस्माद् इजादेः, बहुव्रीहिसमासः। गुरुरस्त्यस्मिन् इति गुरुमान्, तस्माद् गुरुमतः। न ऋच्छ् अनृच्छ्, तस्माद् अनृच्छः। अर्थः—(अनृच्छः) ऋच्छ् धातु को छोड़ कर (इजादेः) इच् प्रत्याहार जिस के आदि में हो (च) और साथ ही (गुरुमतः) गुरुवर्ण से भी जो युक्त हो उस (धातोः) धातु से (परः, आम् प्रत्ययः) परे आम् प्रत्यय हो जाता है (लिँटि) लिँट् परे हो तो। तात्पर्य यह है कि लिँट् परे होने पर ऐसी धातु से आम् प्रत्यय होता है जिस में दो बातें पाई जाएं। एक तो आदि में इच् प्रत्याहार हो और दूसरा उस में गुरु वर्ण पाया जाये। परन्तु ऋच्छ् धातु से आम् नहीं होता।

ईह्, ईक्ष्, एज्, एध्, ऊह् आदि धातु इजादि हैं और इन में गुरु वर्ण भी विद्यमान है अतः ये धातु इस सूत्र का विषय हैं। ऋच्छ् धातु भी इजादि है और 'संयोगे गुरु' (४४६) के अनुसार इस में ऋकार गुरु भी है परन्तु सूत्र में 'अनृच्छः' कहने के कारण इस से परे आम् नहीं होगा—आनर्च्छ, आनर्च्छतुः, आनर्च्छुः।

इस सूत्र में इजादि न कह कर यदि केवल 'गुरुमतः' ही कहते तो तक्ष्, रक्ष् आदि धातुओं से भी आम् प्रत्यय होने लगता जो अनिष्ट था—ततक्ष, ररक्ष आदि।

एध् धातु के आदि में एकार इच् विद्यमान है। 'दीर्घञ्च' (४५०) के अनुसार

इस की युक्संज्ञा भी है अत प्रकृतसूत्र से लिट् परे रहते एध् धातु से परे आम् प्रत्यय हो जाता है—एधाम्+लिट्। अब 'गोपायाम्' की तरह 'आम' (४७१) सूत्र से लिट् का लुक्, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुं की उत्पत्ति और 'आम' से उस का भी लुक् हो कर 'एधाम्' पदसंज्ञक बन जाता है। पुन 'कृञ्चानुप्रयुज्यते०' (४७२) द्वारा 'एधाम्' पद से परे लिट्परक कृ, भू और अस् धातुओं का अनुप्रयोग किया जाता है। सर्वप्रथम कृञ् का अनुप्रयोग करने पर 'एधाम्+कृञ्+लिट्' बना। अब यहां कृञ् के ञित् होने के कारण 'स्वरितञित ०' (३७६) सूत्र से कर्तृगामी क्रियाफल में आत्मनेपद तथा अन्यत्र परस्मैपद प्रत्यय प्राप्त होते हैं। इस पर अग्रिमसूत्र से व्यवस्था करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५१२) आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य ॥१।३।६३॥

आम्प्रत्ययो यस्माद् इत्यतद्गुणसविज्ञानो बहुव्रीहि । आम्प्रकृत्या तुल्यमनुप्रयुज्यमानात् कृञोऽप्यात्मनेपदम् ॥

अर्थ —जिस से आम् प्रत्यय का विधान किया जाता है आम् की उस प्रकृति को 'आम्प्रत्यय' कहते हैं। आम्प्रत्यय अर्थात् आम् की प्रकृति के समान अनुप्रयुज्यमान कृञ् धातु से भी आत्मनेपद हुआ करता है।

व्याख्या—आम्प्रत्ययवत् इत्यव्ययपदम्। कृञ ।६।१। अनुप्रयोगस्य ६।१। आत्मनेपदम् ।१।१। ('अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से)। आम् प्रत्ययो यस्मात् स आम्प्रत्ययः। आम् प्रत्यय जिस से विधान किया गया हो उसे 'आम्प्रत्यय' कहते हैं। आम् प्रत्यय लिट् में एध् आदि धातुओं से विधान किया जाता है अत आम् के प्रकृतिभूत एध् आदि धातुओं का नाम 'आम्प्रत्यय' हुआ। यहा 'आम्प्रत्यय' शब्द में 'आम् यासौ प्रत्यय आम्प्रत्ययः' इस प्रकार कर्मधारय समास नहीं है अपितु उपर्युक्त प्रकार से अतद्गुणसविज्ञान बहुव्रीहिसमास है। अतद्गुणसविज्ञान बहुव्रीहि० में केवल अन्यपदार्थ का ही ग्रहण होता है समस्यमानपदों के अर्थ का अन्वय नहीं होता। यथा—'दृष्टमथुरम् आनय' (जिस ने मथुरा देखी है उसे लाओ) यहा आनयन—क्रिया में मथुरा का अन्वय नहीं होता केवल पुरुष को ही लाया जाता है। इसी प्रकार 'आम्प्रत्यय' मे भी जिस से आम् प्रत्यय किया जाता है केवल उसी का ही यहा ग्रहण होता है। तद्गुणसविज्ञान और अतद्गुणसविज्ञान बहुव्रीहि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग (सूत्र १३३) में हम विस्तार से लिख चुके हैं वहीं देखें। आम्प्रत्ययेन तुल्यम्—आम्प्रत्ययवत्, 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति' (११४८) इति वतिप्रत्यय। अनुप्रयुज्यत इत्यनुप्रयोग, कर्मणि घञ्। 'कृञ' और 'अनुप्रयोगस्य' इन दोनों मे षष्ठीविभक्ति को प्रसगानुसार पञ्चमीविभक्ति में परिणत कर लेना चाहिये, अथवा सम्बन्धसामान्य में षष्ठी समझनी चाहिये। अर्थ —(आम्प्रत्ययवत्) जिस धातु से

आम् प्रत्यय किया जाता है उस धातु के समान (अनुप्रयोगात् कृञः) अनुप्रयुज्यमान कृञ् धातु से भी (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो जाता है। यथा—यहां आम् प्रत्यय किया गया है 'एध्' धातु से। फल चाहे कर्तृगामी हो या अकर्तृ(पर)गामी दोनों अवस्थाओं में उस से 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'(३७८) द्वारा जैसे आत्मनेपद का विधान है वैसे यहां अनुप्रयुज्यमान कृञ् से भी दोनों अवस्थाओं में (फल चाहे कर्तृगामी हो या अकर्तृगामी) आत्मनेपद का ही प्रयोग होगा, परस्मैपद का नहीं।

शङ्का—आम् जिस से किया जाये ऐसी धातु यदि आत्मनेपदी हो तो अनुप्रयुज्यमान कृञ् से परगामी क्रियाफल में परस्मैपद न हो आत्मनेपद ही हो—यह तो उपर्युक्त सूत्र से सिद्ध हो गया। परन्तु यदि आम्प्रकृतिक धातु परस्मैपदी हो (जैसा कि 'गोपायांचकार' आदि में है) तो फिर इस सूत्र की प्रवृत्ति न हो सकेगी। वहां पर तो अनुप्रयुज्यमान कृञ् से क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद तथा अकर्तृगामी होने पर परस्मैपद दोनों प्राप्त होंगे। किन्तु हमें वहां केवल परस्मैपद करना ही अभीष्ट होता है, तो वहां कर्तृगामी क्रियाफल में कृञ् से आत्मनेपद को रोकने के लिये क्या व्यवस्था की जायेगी ?

समाधान—इस के लिये यहां पिछले 'पूर्ववत्सनः' (१.३.६२) सूत्र से 'पूर्ववत्' की अनुवृत्ति ला कर—'अनुप्रयुज्यमान कृञ् से पूर्ववत् आत्मनेपद हो' यह नया अर्थ कर लिया जाता है। यह अर्थ 'आम्प्रत्ययवत्' से भी सिद्ध था अतः 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' के अनुसार नियम उपलब्ध हो जाता है—अनुप्रयुज्यमान कृञ् से यदि आत्मनेपद करना हो तो पहली धातु की तरह ही आत्मनेपद हो, अन्यथा नहीं। 'गोपायाञ्चकार' में पहली धातु गुप् में आत्मनेपद का विधान ही नहीं अतः अनुप्रयुज्यमान कृञ् से भी आत्मनेपद न होगा, केवल परस्मैपद ही किया जायेगा।

सार यह है कि अनुप्रयुज्यमान कृञ् से वही पद किया जायेगा जो आम्प्रकृतिक (आम् की प्रकृतिभूत) धातु का होगा। यदि आम्प्रकृतिक धातु आत्मनेपदी हो तो कृञ् से आत्मनेपद, परस्मैपदी हो तो परस्मैपद और यदि वह उभयपदी हो तो उभयपद होगा। यथा—'एधाञ्चक्रे' यहां आम्प्रकृतिक एध् धातु आत्मनेपदी थी अतः कृञ् से भी आत्मनेपद हुआ है। 'गोपायाञ्चकार' यहां आम्प्रकृतिक गुप् धातु परस्मैपदी थी अतः कृञ् से भी परस्मैपद हुआ है। 'चोरयाञ्चकार, चोरयाञ्चक्रे' यहां आम्प्रकृतिक 'चोरि' धातु 'णिचश्च' (६९५) के अनुसार उभयपदी थी अतः कृञ् से भी उभयपद हुआ है।

प्रकृत में 'एधाम्+कृ+लिट्' में आम्प्रकृतिक एध् धातु के आत्मनेपदी होने के कारण लिट् के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय 'त' आदेश हो गया तो 'एधाम्+कृ+त' हुआ। अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५१३) लिटस्तझयोरेशिरेच् ।३।४।८१॥

लिडादेशयोस्तझयोर् 'एश्-इरेच्' एतौ स्त । एधाञ्चक्रे, एधाञ्चक्राते, एधाञ्चक्रिरे । एधाञ्चकृषे, एधाञ्चक्राथे ॥

अर्थ—लिट् के स्थान पर आदेश हुए 'त' और 'झ' प्रत्ययों को क्रमशः एश् और इरेच् आदेश हों ।

व्याख्या—लिट ।६।१। तझयो ।६।२। एशिरेच् ।१।१। तश्च झश्च तझौ, तयो =तझयो, इतरेतरद्वन्द्व । एश् च इरेच् च एशिरेच्, समाहारद्वन्द्व । अर्थ—(लिट) लिट् के स्थान पर आदेश हुए (तझयो) त और झ प्रत्ययों के स्थान पर (एशिरेच्) एश् और इरेच् आदेश हो जाते हैं । यहां यथासंख्यपरिभाषा से 'त' के स्थान पर 'एश्' तथा 'झ' के स्थान पर 'इरेच्' आदेश होता है । एश् में शकार की तथा इरेच् में चकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्संज्ञा होती है । शित् होने से एश् आदेश तथा अनेकाल् होने से इरेच् आदेश सम्पूर्ण त, झ के स्थान पर होंगे । इरेच् में चकार 'चित' (६ १.१५७) आदि स्वरकार्य के लिये जोड़ा गया है ।

'एधाम्+कृ+त' यहां प्रकृतसूत्र से 'त' के स्थान पर एश् आदेश हो कर द्वित्व, अभ्यासकार्य (उरत्, हलादि शेषः, कुहोश्चु) तथा 'इको यणचि' (१५) से यण् करने पर—एधाम्+चक्रे । अब 'मोऽनुस्वारः' (७७) से पदान्त मकार को अनुस्वार तथा 'वा पदान्तस्य' (८०) से उसे विकल्प कर के परसवर्ण अकार करने से 'एधाञ्चक्रे-एधाचक्रे' रूप सिद्ध होते हैं । ध्यान रहे कि 'असयोगाल्लिट् कित्' (४५२) सूत्र से लिट् के स्थान पर आदेश होने वाले 'त' आदि कित् हैं अतः 'सार्वधातुकार्धः' (३८८) से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' (४३३) से निषेध हो जाता है । द्विवचन में 'एधाम्+कृ+आताम्' में यण् हो कर टि को एत्व करने से—एधाञ्चक्राते । बहुवचन में झ को इरेच् आदेश हो कर द्वित्व और यण् हो जाता है—एधाञ्चक्रिरे ।

मध्यमपु० के एकवचन में थास्, और 'थास से' (५१०) द्वारा उसे 'से' आदेश हो कर—एधाम्+कृ+से । यहां पर 'से' यद्यपि वलादि आर्धधातुक है तथापि 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से इट् का निषेध हो जाता है । स्मरण रहे कि आदिनियम से भी यहां लिट् में इट् का आगम नहीं हो सकता क्योंकि आदिधातुओं में सब से पहले 'कृ' धातु पढ़ी गई है । अब द्वित्व, कार्य तथा सकार को षकार करने पर 'एधाञ्चकृषे' प्रयोग सिद्ध होता है । पर [illegible]द के सिप्स्थानीय 'थल्' और आत्मनेपद के थास्स्थानीय 'से' में यहां एक अ[illegible] समझ लेना चाहिये । सिप् प्रत्यय कित् है अतः 'थल्' कित् नहीं होता परन्तु [illegible] कित् नहीं अतः 'से' कित् हो जाता है (देखो—'असयोगाल्लिट् कित्' ४५२) ।

द्विवचन आथाम् में पूर्ववत् टि को एत्व हो जाता है—एधाञ्चक्राथे।

बहुवचन में द्वित्वादिकार्य तथा ध्वम् की टि (अम्) को एत्व करने पर 'एधाम्+चकृ+ध्वे' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५१४) इणः षीध्वंलुंङ्लिटां धोऽङ्गात् ।८।३।७८॥

इण्णन्ताद् अङ्गात् परेषां षीध्वंलुंङ्लिटां धस्य ढः स्यात्। एधाञ्चकृढ्वे। एधाञ्चक्रे, एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे। एधाम्बभूव। एधामास। एधिता, एधितारौ, एधितारः। एधितासे एधितासाथे॥

अर्थः—इणन्त अङ्ग से परे षीध्वम् (आ० लिँङ्) शब्द के तथा लुंङ् और लिँट् के धकार को मूर्धन्य (ढकार) आदेश हो।

व्याख्या—इणः ।५।१। षीध्वम्-लुंङ्-लिँटाम् ।६।३। धः ।६।१। 'अङ्गात्' ।५।१। मूर्धन्यः ।१।१। ('अपदान्तस्य मूर्धन्यः' से)। 'इणः' यह 'अङ्गात्' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'इण्णन्ताद् अङ्गात्' बन जाता है। अर्थः—(इणः=इण्णन्तात्) इणन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (षीध्वम्-लुंङ्-लिँटाम्) षीध्वम्, लुंङ् और लिँट् के (धः) ध् के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धस्थानोत्पन्न वर्ण हो जाता है। ('ऋटुरषाणां मूर्धा' के अनुसार मूर्धन्यवर्ण आठ हैं—ऋ, टवर्ग, र् और ष्। स्थानी धकार का संवार, नाद, घोष और महाप्राण यत्न है, इधर मूर्धन्य वर्णों में इस प्रकार के यत्न वाला केवल ढकार ही है अतः आन्तरतम्य के कारण धकार को ढकार आदेश ही होगा)। मूलवृत्ति में ग्रन्थकार ने विद्यार्थियों की सुविधा के लिये सीधा 'ढः स्यात्' लिख दिया है। इण् प्रत्याहार सर्वत्र परले णकार से ही लिया जाता है—यह नहीं भूलना चाहिये। उदाहरण यथा—

षीध्वम्—भृ+षीध्वम्=भृषीढ्वम्। हृ+षीध्वम्=हृषीढ्वम्। (नी) ने+षीध्वम्=नेषीढ्वम्। (च्यु) च्यो+षीध्वम्=च्योषीढ्वम्। (प्लु) प्लो+षीध्वम्=प्लोषीढ्वम्। लुंङ्—(कृ) अकृ+ध्वम्=अकृढ्वम्। (भृ) अभृ+ध्वम्=अभृढ्वम्। (नी) अने+ध्वम्=अनेढ्वम्। (च्यु) अच्यो+ध्वम्=अच्योढ्वम्। (प्लु) अप्लो+ध्वम्=अप्लोढ्वम्। लिँट्—(कृ) चकृ+ध्वे=चकृढ्वे। (भृ) बभृ+ध्वे=बभृढ्वे। (हृ) जहृ+ध्वे=जहृढ्वे।

इस सूत्र में 'इणः' इस लिये कहा है कि (पच्) पक्+षीध्वम्=पक्षीध्वम्, (यज्) यक्+षीध्वम्=यक्षीध्वम्, (भज्) भक्+षीध्वम्=भक्षीध्वम् इत्यादियों में कवर्ग से परे ढत्व न हो। यहां पीछे से 'इण्कोः' का अधिकार आ रहा था परन्तु कवर्ग से परे यह विधि अभीष्ट न थी अतः यहां नये सिरे से 'इणः' पद का ग्रहण किया गया है।

'षीध्वलुङ्लिटाम्' इस लिये कहा है कि—अभूध्वे (लुँट्, मध्यम० बहु०), भूध्वम् (लोँट्, मध्यम० बहु०), अबभूध्वम् (लँङ्, मध्यम० बहु०) इत्यादियों में ढत्व न हो। 'अङ्गात्' इस लिये कहा है कि 'परिवेविषीध्वम्' (परिपूर्वक विष्लृँ जुहो० वि० लिँङ् मध्यम० बहु०) यहा 'षीध्वम्' को ढत्व न हो जाये। यहा षीध्वम् में धातु का षकार सम्मिलित है परन्तु अङ्ग 'वेवि' नहीं, वेविष् है।

'एधाम्+चक्र+ध्वे' में इगन्त अङ्ग है चक्र, इस से परे 'ध्वे' यह लिँट् विद्यमान है अत' प्रकृतसूत्र से इस के धकार के स्थान पर मूर्धन्य ढकार हो कर अनुस्वार और परसवर्ण करने से 'एधाञ्चक्रुढ्वे' प्रयोग सिद्ध होता है।

उत्तमपु० के एकवचन इट् में टि को एत्व करने पर 'एधाञ्चक्रे' प्रयोग बनता है। इसी प्रकार द्विवचन और बहुवचन में भी टि को एत्व हो जाता है—एधाञ्चक्रुवहे, एधाञ्चक्रुमहे।

भू का अनुप्रयोग करने पर भू धातु के लिँट् सकार की तरह समग्र प्रक्रिया होती है। अस् के अनुप्रयोग की प्रक्रिया 'गोपायामास' पर लिख चुके हैं। भू और अस् के अनुप्रयोगों में 'आम्प्रत्ययवत्०' (५१२) द्वारा आत्मनेपद की आशका नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह नियम केवल अनुप्रयुज्यमान कृञ् के लिये ही है। लिँट् में एध् धातु की रूपमाला यथा—(कृपक्षे) एधाञ्चक्रे, एधाञ्चक्राते, एधाञ्चक्रिरे। एधाञ्चकृषे, एधाञ्चक्राथे, एधाञ्चकृढ्वे। एधाञ्चक्रे, एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे। (भूपक्षे) एधाम्बभूव, एधाम्बभूवतु, एधाम्बभूवु। एधाम्बभूविथ, एधाम्बभूवथु, एधाम्बभूव। एधाम्बभूव, एधाम्बभूविव, एधाम्बभूविम। (अस्पक्षे) एधामास, एधामासतु, एधामासु। एधामासिथ, एधामासथु, एधामास। एधामास, एधामासिव, एधामासिम।

लुँट्—प्रथमपु० के एकवचन में त प्रत्यय, 'लुट प्रथमस्य०' (४०१) से उसे डा सर्वादेश, तास् विकरण तथा उसे इट् का आगम हो कर—एध्+इतास्+आ। अब ङित्व के कारण भसञ्ज्ञा न होने पर भी टि का लोप करने से—एध्+इत्+आ='एधिता' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (३०८) से टि को एत्व नहीं होता। इस का कारण यह है कि पाणिनि के अनेक सूत्रों से यह सूचित होता है कि जब तिङ् के स्थान पर कोई आदेश हो जाये तो टि को एत्व नहीं होता[1]। 'एधिता' में त के स्थान पर डा आदेश हुआ है अत' टि को

---

१ पाणिनिजी 'थास से' की जगह 'थास सि' सूत्र भी बना सकते थे, 'सि' की टि को एत्व कर देने पर 'से' अपने आप बन जाता। इसी प्रकार लिँट् के त और स के स्थान पर एश्-इरेच् न कर के इश् इरिच् भी कर सकते थे, उन की टि को एत्व हो कर एश्-इरेच् अपने आप बन जाता। परन्तु आचार्य का ऐसा न करना यह

एत्व नहीं होता।

प्र०पु० के द्विवचन में आताम्, उसे रौ आदेश, तास्, इट् तथा 'रि च' से तास् के सकार का लोप करने पर 'एधितारौ' प्रयोग सिद्ध होता है। बहुवचन में झ, उसे रस् आदेश तथा पूर्ववत् सकार का लोप करने से—एधितारः।

म०पु० के एकवचन में थास्, थासः से, तास् और इट् का आगम हो कर 'एधितास्+से' इस स्थिति में 'तासस्त्योर्लोपः' (४०६) से सकार का लोप करने पर 'एधितासे' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में टि को एत्व हो कर—एधितासाथे। बहुवचन में 'एधितास्+ध्वम्' इस स्थिति में सकार का लोप करने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५१५) धि च ।८।२।२५॥

धादौ प्रत्यये परे सस्य लोपः। एधिताध्वे॥

अर्थः—धकारादि प्रत्यय परे होने पर सकार का लोप हो।

व्याख्या—धि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। सस्य ।६।१। ('रात्सस्य' से) लोपः ।१।१। ('संयोगान्तस्य लोपः' से)[1]। यहां 'प्रत्यये' का अध्याहार कर 'धि' को उस का विशेषण बना कर तदादिविधि करने पर 'धकारादौ प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है[2]।

---

सूचित करता है कि तिङ् के आदेशों की टि को एत्व नहीं होता। [वस्तुतस्तु परत्वाद् एत्वे पुनःप्रसङ्गविज्ञानेन डादिषु कृतेषु 'लक्ष्ये लक्षणस्य०' इति न्यायेन नैत्वम् इति 'सुटः प्रथमस्य डारौरसः' सूत्रभाष्ये स्पष्टम्]।

१. यहां पर अनुवृत्तिप्रदर्शन में बालमनोरमाकार श्रीवासुदेवदीक्षित को महती भ्रान्ति हुई है। वे इसे भूल से अङ्गाधिकार का सूत्र समझ कर 'सः' की अनुवृत्ति 'सः स्यार्धधातुके' (७.४.४९) से तथा 'लोपः' की अनुवृत्ति 'तासस्त्योर्लोपः' (७.४.५०) से लाते हैं। कोई भी व्यक्ति अष्टाध्यायी को खोल कर उन की भ्रान्ति को सुतरां समझ सकता है। श्रीकुप्पुस्वञ्जनराय भिषगाचार्य ने सि० कौ० की अंग्रेजी टीका में बालमनोरमा का अन्धानुकरण कर अपनी अज्ञता ही प्रकट की है। विना अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये कौमुदीक्रम में आने वालों को प्रायः इस प्रकार के स्खलन प्रतिपद प्राप्त हुआ ही करते हैं।

२. पयस्+धावति=पयो धावति, पयस्+धर=पयोधरः, पयस्+धि=पयोधिः—इत्यादियों में 'ससजुषो रुः' (८.२.६६) के असिद्ध होने से 'धि च' (८.२.५५) द्वारा सकार का लोप प्राप्त होता है। इस के वारण के लिये काशिकाकार ने यहां 'प्रत्यये' का अध्याहार कर 'धकारादौ प्रत्यये' अर्थ किया है। इस से उपर्युक्त

अर्थ—(धि=धकारादौ) धकारादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर (सस्य) सकार का (लोपः) लोप हो जाता है।

'एधितास्+ध्वम्' यहां पर 'ध्वम्' यह धकारादि प्रत्यय परे है अतः प्रकृत-सूत्र से सकार का लोप हो कर टि को एत्व करने से 'एधिताध्वे' प्रयोग सिद्ध होता है।

उत्तमपु० के एकवचन में टि को एत्व करने पर 'एधितास्+ए' इस स्थिति में सकार को हकार करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५१६) ह एति ।७।४।५२॥

तासस्त्यो. सस्य ह स्यादेति परे। एधिताहे, एधितास्वहे, एधितास्महे। एधिष्यते, एधिष्येते, एधिष्यन्ते। एधिष्यसे, एधिष्येथे, एधिष्यध्वे। एधिष्ये, एधिष्यावहे, एधिष्यामहे॥

अर्थ—तास् और अस् के सकार को हकार आदेश हो जाता है एकार परे हो तो।

व्याख्या—ह ।१।१। हकारादकार उच्चारणार्थं। एति ।७।१। तासस्त्योः ।६।२। ('तासस्त्योर्लोपः' से)। स ।६।१। (स स्यार्धधातुके' से)। अर्थ—(एति) एकार परे होने पर (तासस्त्यो.) तास् और अस् के (स) स् के स्थान पर (हः) ह् आदेश हो जाता है। अस् का उदाहरण है—व्यहिहे। तास् का उदाहरण यथा—

'एधितास्+ए' यहां एकार परे है अतः प्रकृतसूत्र से तास् के सकार को हकार आदेश हो कर 'एधिताहे' प्रयोग सिद्ध होता है। लुंट् में रूपमाला यथा—एधिता, एधितारौ, एधितारः। एधितासे, एधितासाथे, एधिताध्वे। एधिताहे, एधितास्वहे, एधितास्महे।

लृट्—प्र०पु० के एकवचन में त प्रत्यय, 'स्यतासी लृलुटो' (४०३) से स्य-विकरण, इट् का आगम, टि को एत्व तथा प्रत्यय के अवयव सकार को षकार करने पर 'एधिष्यते' प्रयोग सिद्ध होता है। आताम् और आथाम् में 'आतो ङित' (५०६) से आकार को इय्, यलोप तथा गुण विशेष कार्य हैं—एधिष्येते, एधिष्येथे। यास् को 'से' आदेश हो कर—एधिष्यसे। वहि और महिङ् में 'अतो दीर्घो यञि' (३६०) से दीर्घ हो जाता है। रूपमाला यथा—एधिष्यते, एधिष्येते, एधिष्यन्ते। एधिष्यसे, एधिष्येथे, एधिष्यध्वे। एधिष्ये, एधिष्यावहे, एधिष्यामहे।

---

स्थलों पर कहीं दोष नहीं आता। कैयट आदि अन्य वैयाकरण यहां 'प्रत्यये' का अध्या-हार नहीं मानते। वे यहां 'पदस्य' का अधिकार होने से उस में एकवचन के कारण असर्वादि पद में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति स्वीकार करते हैं। इस से उपर्युक्त रूपों में कहीं दोष प्राप्त नहीं होता।

लोँट्—प्र०पु० के एकवचन में लँट् की तरह 'एधते' बन कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५१७) आमेतः ।३।४।९०॥

लोट एकारस्य आम् स्यात् । एधताम्, एधेताम्, एधन्ताम् ॥

अर्थः—लोँट् के एकार के स्थान पर आम् आदेश हो ।

व्याख्या—आम् ।१।१। एतः ।६।१। लोँटः ।६।१। ('लोँटो लँङ्वत्' से) । अर्थः—(लोँटः) लोँट् के (एतः) एकार के स्थान पर (आम्) आम् आदेश हो जाता है । 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) द्वारा आम् के पकार की इत्संज्ञा नहीं होती ।

'एधते' यहां लोँट् के एकार को आम् आदेश हो कर 'एधताम्' प्रयोग सिद्ध होता है । द्विवचन और बहुवचन में लँट् की तरह 'एधेते' और 'एधन्ते' बना कर एकार को आम् करने से 'एधेताम्' और 'एधन्ताम्' रूप सिद्ध होते हैं ।

म०पु० के एकवचन में लँट् की तरह 'एधसे' बनाने पर 'आमेतः' (५१७) द्वारा एकार को आम् आदेश प्राप्त होता है । इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५१८) सवाभ्यां वाऽमौ ।३।४।९१॥

सवाभ्यां परस्य लोँडेतः क्रमाद् वाऽमौ स्तः । एधस्व, एधेथाम्, एधध्वम् ॥

अर्थः—स् और व् से परे लोँट् के एकार को क्रमशः 'व' और 'अम्' आदेश हो जाते हैं ।

व्याख्या—सवाभ्याम् ।५।२। वाऽमौ ।१।२। लोँटः ।६।१। ('लोँटो लँङ्वत्' से)। एतः ।६।१। ('आमेतः' से)। वश्च अम् च वाऽमौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(सवाभ्याम्) सकार और वकार से परे (लोटः) लोँट् के (एतः) एकार के स्थान पर (वाऽमौ) 'व' और 'अम्' आदेश होते हैं । यह सूत्र 'आमेतः' (५१७) का अपवाद है । यथा-सङ्ख्यपरिभाषा द्वारा सकार से परे एकार को 'व' तथा वकार से परे एकार को 'अम्' आदेश होता है । 'व' आदेश सस्वर तथा 'अम्' आदेश हलन्त है । उदाहरण यथा—

'एधसे' यहां सकार से परे लोँट् के एकार को 'व' आदेश हो कर 'एधस्व' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार म०पु० के बहुवचन में लँट् की तरह 'एधध्वे' बना कर वकार से परे एकार को अम् आदेश करने पर 'एधध्वम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

उत्तमपु० के एकवचन में इट् प्रत्यय, शप् और टि को एत्व करने पर—'एध+ए' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५१६) एत ऐ ।३।४।९३॥

सोर्डुत्तमस्य एत ऐ स्यात्। एधै, एधावहै, एधामहै। आटश्च (१९७)—ऐधत, ऐधेताम्, ऐधन्त। ऐधथाः, ऐधेथाम्, ऐधध्वम्। ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि॥

अर्थ—सोट् के उत्तमपुरुष के एकार को ऐकार आदेश हो।

व्याख्या—एत ।६।१। ऐ इति लुप्तप्रथमाक पदम्। सोटः ।६।१॥ ('सोटो सट्वत्' से)। उत्तमस्य ।६।१। ('आडुत्तमस्य०' से)। अर्थं—(सोटः) सोट् के (उत्तमस्य) उत्तमपुरुष के (एत) एकार के स्थान पर (ऐ) ऐकार आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

'एध+ए' यहां सोट् के उत्तमपु० के एकार को ऐकार होकर 'आडुत्तमस्य पिच्च' (५१८) से उसे आट् का आगम करने से—एध+आ+ऐ। अब 'आटश्च' (१९७) सूत्र से 'आ+ऐ' के स्थान पर ऐकार वृद्धि एकादेश तथा 'वृद्धिरेचि' (३३) से शप् के अकार और उस ऐकार में पुन ऐकार वृद्धि एकादेश करने पर 'एधै' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि 'एत ऐ' सूत्र का फल 'आमेत' (५१७) को बाधना है। वहि और महिङ् में शप्, टि को एत्व, एकार को ऐकार, आट् का आगम तथा सवर्णदीर्घ करने से—एधावहै, एधामहै। सोट् में रूपमाला यथा—एधताम्, एधेताम्, एधन्ताम्। एधस्व, एधेथाम्, एधध्वम्। एधै, एधावहै, एधामहै।

सेट्—प्र०पु० के एकवचन में त प्रत्यय, शप् तथा 'आडजादीनाम्' (५४४) से आट् का आगम हो कर—आ+एध्+अ+त। अब 'आटश्च' (१९७) सूत्र से आ+ए में ऐकार वृद्धि एकादेश करने से 'ऐधत' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि टित् सकार समाप्त हो चुके हैं अत 'टित आत्मने०' (५०८) से टि को एत्व नहीं होगा।

प्र०पु० के द्विवचन में आताम्, शप् तथा आट् का आगम हो कर—आ+एध्+अ+आताम्। अब 'आतो डितः' (५०९) से आताम् के आकार को इय्, यलोप, गुण तथा 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि एकादेश करने पर 'ऐधेताम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र०पु० के बहुवचन में 'आ+एध्+अ+झ' इस स्थिति में 'झोऽन्त' (३८९) से झकार को अन्त् आदेश, 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप तथा 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि एकादेश करने पर 'ऐधन्त' प्रयोग सिद्ध होता है।

म०पु० के एकवचन में थास् (टित् सकार न होने से इसे 'से' आदेश न होगा), शप्, आट् का आगम, 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि एकादेश तथा सकार को रुँत्व-विसर्ग

करने पर 'ऐषयाः' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन और बहुवचन में कुछ विशेष नहीं—ऐधेयाम्, ऐधध्वम्।

उत्तमपु० के एकवचन में इट् प्रत्यय, शप् तथा आट् का आगम हो कर 'आ+एध्+अ+इ' इस स्थिति में 'अ+इ' में गुण तथा 'आ+ए' में पूर्ववत् वृद्धि एकादेश करने पर 'ऐधे' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन और बहुवचन में 'अतो दीर्घो यञि' (३९०) से दीर्घ विशेष है। लँङ् में रूपमाला यथा—ऐधत, ऐधेताम्, ऐधन्त। ऐधथाः, ऐधेथाम्, ऐधध्वम्। ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि।

विधिलिँङ्—प्र०पु० के एकवचन में त प्रत्यय हो कर 'एध्+त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५२०) लिँङः सीयुट् ३।४।१०२॥

सलोपः—एधेत, एधेयाताम्॥

अर्थः—लिँङ् को सीयुट् का आगम हो।

व्याख्या—लिँङः।६।१। सीयुट्।१।१। अर्थः—(लिँङः) लिँङ् का अवयव (सीयुट्) सीयुट् हो जाता है। सीयुट् में उकार उच्चारणार्थक तथा टकार इत्सञ्ज्ञक है। टित् होने के कारण सीयुट् का आगम लिँङ् का आद्यवयव बनता है। ध्यान रहे कि यह सामान्यसूत्र है। परस्मैपदों में इस के अपवाद यासुट् आगम का विधान कर चुके हैं अतः पारिशेष्यात् यह आत्मनेपदों में ही प्रवृत्त होता है।

'एध्+त' यहां प्रकृतसूत्र से लिँङ् को सीयुट् का आगम हो कर शप् विकरण करने से—एध्+अ+सीय् त। अब 'लिँङः सलोपोऽनन्त्यस्य' (४२७) से सार्वधातुक लिँङ् के अनन्त्य सकार का लोप तथा 'लोपो व्योर्वलि' (४२९) से यकार का भी लोप कर गुण करने से 'एधेत' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार द्विवचन में 'एध्+अ+सीय् आताम्' इस स्थिति में अनन्त्य सकार का लोप कर गुण हो जाता है=एधेयाताम्। स्मरण रहे कि यहां पर वल् परे न रहने से 'लोपो व्योर्वलि' (४२९) द्वारा यकार का लोप नहीं होता।

प्र०पु० के बहुवचन में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५२१) झस्य रन् ।३।४।१०५॥

लिँङो झस्य रन् स्यात्। एधेरन्। एधेथाः, एधेयाथाम्, एधेध्वम्॥

अर्थः—लिँङ् के 'झ' के स्थान पर 'रन्' आदेश हो।

व्याख्या—झस्य।६।१। रन्।१।१। लिँङः।६।१। ('लिँङः सीयुट्' से)। अर्थः—(लिँङः) लिँङ् के (झस्य) 'झ' के स्थान पर (रन्) रन् आदेश हो। अनेकाल् होने से रन् आदेश सम्पूर्ण 'झ' के स्थान पर होता है। रन् के नकार की इत्सञ्ज्ञा का

'न विभक्तौ तुस्मा' (१३१) द्वारा निषेध हो जाता है।

लिंङ् के प्र०पु० के बहुवचन में 'झ' को 'रन्' आदेश, सीयुट् का आगम तथा शप् विकरण हो कर 'एध्+अ+सीय् रन्' इस अवस्था में अनन्त्य सकार का और यकार का लोप कर गुण करने से 'एधेरन्' प्रयोग सिद्ध होता है।

म० पु० के एकवचन में थास् सीयुट् और शप् हो कर 'एध्+अ+सीय् थास्' इस स्थिति में पूर्ववत् सकार और यकार का लोप कर गुण करने से एधेथास् = 'एधेथा' प्रयोग सिद्ध होता है। म०पु० के द्विवचन और बहुवचन में भी इसी प्रकार 'एधेयाथाम्, एधेध्वम्' रूप बनते हैं।

उत्तमपु० के एकवचन में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५२२) इटोऽत् ।३।४।१०६॥

लिंङादेशस्य इटोऽत् स्यात्। एधेय, एधेवहि, एधेमहि॥

अर्थ—लिंङ् के स्थान पर आदेश हुए इट् के स्थान पर 'अ' आदेश हो।

व्याख्या—इट ।६।१। अत् ।१।१। लिंङ ।६।१। ('लिंङ् सीयुट्' से) अत् में तकार मुखसुखार्थ है, आदेश केवल 'अ' ही होता है। यदि 'अत्' आदेश होता तो 'न विभक्तौ तुस्मा' (१३१) के निषेध के कारण तकार की इत्संज्ञा न हो कर अनिष्ट रूप बन जाता। विधीयमान होने से स्वत सवर्णग्राहकता के अभाव के कारण व्यावर्तनार्थ तपर मानना भी उचित नही है। अर्थ—(लिंङ) लिंङ् के स्थान पर आदेश होने वाले (इट) इट् प्रत्यय के स्थान पर (अत्) 'अ' आदेश हो।

लिंङ् उत्तमपु० के एकवचन में प्रकृतसूत्र से इट् प्रत्यय को 'अ' आदेश हो कर सीयुट् तथा शप् करने से 'एध्+अ+सीय् अ' इस स्थिति में अनन्त्य सकार का लोप तथा अ+ई में गुण एकादेश करने पर 'एधेय' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन और बहुवचन में कुछ विशेष नही। वि० लिंङ् में रूपमाला यथा—एधेत, एधेयाताम्, एधेरन्। एधेथा, एधेयाथाम्, एधेध्वम्। एधेय, एधेवहि, एधेमहि।

आ० लिंङ्—में त आदि प्रत्यय 'लिंङाशिषि' (८३१) से आर्धधातुक होते हैं अत यहा शप् नही होता। सीयुट् का आगम पूर्ववत् होता है परन्तु सार्वधातुक का अवयव न होने से अनन्त्य सकार का लोप नहीं होता। प्र०पु० के एकवचन में 'एध्+सीय् त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(५२३) सुट् तिथो ।३।४।१०७॥

लिंङस्तथो सुट्। यलोप। आर्धधातुकत्वात् सलोपो न। एधिषीष्ट, एधिषीयास्ताम्, एधिषीरन्। एधिषीष्ठा, एधिषीयास्थाम्, एधिषीध्वम्। एधिषीय, एधिषीवहि, एधिषीमहि। ऐधिष्ट, ऐधिषाताम्॥

अर्थः—लिँङ् के तकार वापकार को सुट् का आगम हो ।

व्याख्या—लिँङः ।६।१। ('लिँङः सीयुट्' से)। सुट् ।१।१। तिपोः ।६।२। 'ति' में इकार उच्चारणार्थ है । तिश्च थ् च तिपौ, तयोः=तिपोः । तकारथकारयोरित्यर्थः । अर्थः—(लिँङः) लिँङ् के अवयव (तिपोः) जो तकार और थकार उन का अवयव (सुट्) सुट् हो जाता है । सुट् में उकार उच्चारणार्थ तथा टकार 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञक है अतः 'स्' ही अवशिष्ट रहता है । टित् होने से सुट् का आगम तकार और थकार का आद्यवयव बनता है । सुट् के आने से तप्रत्यय स्त, आताम् प्रत्यय आस्ताम्, थास् प्रत्यय स्थास् तथा आथाम् प्रत्यय आस्थाम् बन जाता है ।

'एध्+सीय् त' यहां प्रकृतसूत्र से तकार को सुट् का आगम हो कर—एध्+सीय् स्त । अब 'सीयस्त' यह समूचा 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' के अनुसार वलादि आर्धधातुक है । अतः 'आर्धधातुकस्येड्०' (४०१) से इस इट् का आगम, 'लोपो व्योर्वलि' (४२६) से वल् परे रहते यकार का लोप, सीयुट् और सुट् के सकार को प्रत्ययावयव होने से षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से तकार को ष्टुत्व-टकार करने पर 'एधिषीष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है ।

नोट—सुट् के आगम को सीयुट् का अपवाद नहीं समझना चाहिये ; क्योंकि लिँङ् को सीयुट् होता है और लिँङ् के तकार थकार को सुट्, इस प्रकार दोनों में विषयभेद है । अपवाद तभी अपवाद होता है जब वह उत्सर्ग के साथ समान विषय में प्रवृत्त हो । विषय का भेद होने पर उत्सर्गापवादभाव नहीं हुआ करता । इस प्रकार लिँङ् में सीयुट् और सुट् दोनों आगमों का समावेश हो जाता है ।

ध्यातव्य—यह सुट् का आगम परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों के विधिलिँङ् में भी किया जा सकता है । परन्तु वहां 'लिँङः सलोपो०' (४२७) द्वारा इस का लोप हो जाने से कोई अन्तर नहीं पड़ता । लघुकौमुदी मे इसीलिये यह सब बखेड़ा वि०लिँङ् में नही उठाया गया । यहां आ० लिँङ् में आर्धधातुक का अवयव होने से सकार का लोप न होने से वह श्रूयमाण रहता है ।

आ० लिँङ् प्र०पु० के द्विवचन में आताम्, सीयुट् तथा सुट् का आगम हो कर—एध्+सीय् आस्ताम् । अब 'सीयास्ताम्' यह समूचा वलादि आर्धधातुक है, इसे इट् का आगम कर सकार को मूर्धन्य षकार करने पर 'एधिषीयास्ताम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

बहुवचन में झप्रत्यय, 'झस्य रन्' (५२१) से उसे रन् आदेश, सीयुट् का आगम, इट् का आगम तथा सकार को षकार करने पर 'एधिषीरन्' प्रयोग सिद्ध होता है । यहां तकार थकार न होने से सुट् नहीं होता ।

मध्यमपु० के एकवचन में थास्, सीयुट्, थकार को सुट् का आगम, इट्, षत्व तथा ष्टुत्व करने पर—एधिषीष्ठाः । द्विवचन में भी इसी तरह—एधिषीयास्थाम् ।

मध्यमपु० के बहुवचन में ध्वम्, सीयुट्, इट्, षकारलोप तथा षत्व करने पर—एधिषीध्वम्। ध्यान रहे कि यहा 'इण षीध्वम्०' (५१४) से षीध्वम् के षकार को ढकार नहीं होता, कारण कि वह इणन्त अङ्ग से परे नहीं है। 'एध्+इषीध्वम्' यहा पर इट् का आगम प्रत्यय का अवयव परादि होने से अङ्ग इकारान्त नहीं अपितु धकारान्त रहता है।

उत्तमपु० के एकवचन में इट् प्रत्यय, 'इटोऽत्' (५२२) से उसे अकार आदेश, सीयुट् का आगम, वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम तथा सकार को षकार करने पर 'एधिषीय' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन और बहुवचन में यकार का लोप हो जाता है। रूपमाला यथा—एधिषीष्ट, एधिषीयास्ताम्, एधिषीरन्। एधिषीष्ठाः, एधिषीयास्थाम्, एधिषीध्वम्। एधिषीय, एधिषीवहि, एधिषीमहि।

लुंङ—प्र०पु० के एकवचन में तप्रत्यय, च्लि, उसे सिच् आदेश, सिच् के आर्धधातुक होने से इट् का आगम तथा 'आडजादीनाम्' (४४४) से अङ्ग को आट् का आगम हो कर 'आ+एध्+इस्+त' हुआ। अब 'आटश्च' (१९७) से 'आ+ए' में ऐकार वृद्धि, सकार को षकार और ष्टुत्व से तकार को टकार करने पर 'ऐधिष्ट' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार द्विवचन आताम् में 'ऐधिषाताम्' बनता है। प्र०पु० के बहुवचन मे 'एध्+इस्+झ' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५२४) आत्मनेपदेष्वनत ।७।१।५॥

अनकारात् परस्य आत्मनेपदेषु झस्य 'अत्' इत्यादेश स्यात्। ऐधिषत। ऐधिष्ठा, ऐधिषाथाम्, ऐधिढ्वम्। ऐधिषि, ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि। ऐधिष्यत, ऐधिष्येताम्, ऐधिष्यन्त। ऐधिष्यथा, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम्। ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि॥

अर्थ—अत् (ह्रस्व अकार) से भिन्न वर्ण से परे आत्मनेपद प्रत्यय के अवयव झ् को 'अत्' आदेश हो।

व्याख्या—आत्मनेपदेषु ।७।२। अनत ।५।१। झ ।६।१। ('झोऽन्त' से)।अत् ।१।१। ('अदभ्यस्तात्' से)।न अत् अनत् तस्माद् अनत। अर्थ—(अनत) अत् से भिन्न वर्ण से परे (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद प्रत्ययो मे स्थित (झ) झ् के स्थान पर (अत्) अत् आदेश हो। अत् आदेश मे तकार की इत्सज्ञा नही होती, 'न विभक्तौ०' (१३१) से निषेध हो जाता है। यह सूत्र 'झोऽन्त' (३८९) का अपवाद है। ध्यान रहे कि यह 'अत्' आदेश 'झ' प्रत्यय के केवल आदि झकार के स्थान पर ही विधान किया जाता है उस के अन्त्य अकार के स्थान पर नहीं। अत. 'अत्' मे वह 'अ' जोड़ने पर 'अत' इस प्रकार स्वरान्त हो जाता है।

'एध्+इस्+झ' यहा पर अत् भिन्न वर्ण सकार से परे आत्मनेपद प्रत्यय में

स्थित झ् के स्थान पर अत् आदेश हो कर 'एध्+इस्+अत् अ' बना। अब अङ्ग को आट् का आगम, 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि तथा सकार को षकार करने पर 'ऐधिष्वत' प्रयोग सिद्ध होता है।

सूत्र में 'अनतः' (अत् से भिन्न) इस लिये कहा है कि लँट् में 'एधन्ते' आदि में शप् के अकार से परे अत् आदेश न हो जाये[1]। 'आत्मनेपदेषु' कहने से परस्मैपद में झ् को अत् आदेश नहीं होता। यथा— शृनु+अन्ति=शृण्वन्ति। चिन्वन्ति। सुन्वन्ति।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—चिन्वते, चिन्वताम्, अचिन्वत। पुनते, लुनते आदि। इन सब की सिद्धि आगे यथास्थान देखें।

लुँङ् म० पु० के बहुवचन ध्वम् के आने पर सिच्, इट् का आगम, आट् और वृद्धि करने पर 'ऐध्+इस्+ध्वम्' बना। अब 'धि च' (५१५) सूत्र से सकार का लोप होकर—ऐधि+ध्वम्। यहां 'ऐधि' यह इणन्त अङ्ग है अतः इस से परे लुँङ् (ध्वम्) के धकार को 'इणः षीध्वम्०' (५१४) से ढकार करने पर 'ऐधिढ्वम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

नोट— ध्वम् प्रत्यय किया गया था 'एध्' से। बाद में सिच् और इट् बीच में आ गये; 'यस्मात्प्रत्ययविधिः०' (१३३) सूत्र में तदादिग्रहण के कारण ध्वम् के परे रहते 'ऐधिस्' यह सम्पूर्ण समुदाय अङ्ग था। अब इस अङ्ग के सकार का लोप हो चुकने पर एकदेशविकृतन्याय से 'ऐधि' भी अङ्ग है और यह इणन्त भी है इस लिये इस से परे लुँङ् के धकार को ढकार हो जाता है[2]।

---

१. यदि कोई यह कहे कि लँट् में शप् करने से पहले 'एध्+झ' इस अवस्था में धकार से परे झकार को 'अत्' आदेश कर लेंगे तो यह ठीक नहीं। क्योंकि 'कृताऽकृतप्रसङ्गी यो विधिः स नित्यः' (३९३ सूत्र की व्याख्या देखें) के अनुसार शप् नित्य और अत् आदेश अनित्य है [अत् आदेश करें या न करें दोनों अवस्थाओं में शप् प्राप्त होता है, परन्तु यदि शप् कर दें तो अत् आदेश प्राप्त नहीं होता] अतः प्रथम नित्य कार्य हो कर बाद में ह्रस्व अकार के उत्पन्न हो जाने से उस से परे झकार को अत् आदेश नहीं होता।

२. कई वैयाकरण यहां 'इणः' से इट्भिन्न इण् का ही ग्रहण करते है क्योंकि इस से अगले सूत्र ['विभाषेटः' ८.३.७९] में अनुवर्त्यमान इस 'इणः' पद का इट्-भिन्न इण् अर्थ ही सम्भव है। इस तरह उन के मत में 'ऐधि+ध्वम्' यहां अङ्गसंज्ञा होने पर भी इणन्त न होने से ढकार नहीं होगा—'ऐधिध्वम्' प्रयोग ही बनेगा। पाणिनीयव्याकरण के प्राचीन व्याख्याकारों में न्यासकार श्रीजिनेन्द्रबुद्धि इस मत के पोषक हैं। वे ८.३.७९ सूत्र की व्याख्या में 'अलवि+ध्वम्' में स्पष्टतया 'इणः

शङ्का—व्याकरणशास्त्र में एक परिभाषा प्रसिद्ध है—'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' (देखें सूत्र २५५ की व्याख्या) अर्थात् जब निमित्त नष्ट हो जाता है तब उस निमित्त से उत्पन्न कार्य भी स्वत नष्ट हो जाता है। जैसे 'ष्ठा' (ठहरना) धातु के आदि षकार को जब 'धात्वादे ष स' (२५५) से सकार आदेश कर देते हैं तब उस के कारण उत्पन्न हुआ ष्टुत्व भी अपने आप नष्ट हो कर 'स्था' धातु बन जाती है इस प्रकार स्थाता, स्थास्यति, अस्थात् आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं। तो इस परिभाषा के अनुसार 'ऐधि+ध्वम्' में 'घि च' (५१५) द्वारा सिच् का लोप हो जाने पर जब वलादि आर्धधातुक ही नहीं रहता तो इट् का भी लोप हो जाना चाहिये ?

समाधान—यह परिभाषा लोकव्यवहार पर आश्रित है। लोक में दोनों प्रकार का व्यवहार देखा जाता है। कभी तो निमित्त के हट जाने पर तज्जन्य कार्य हट जाया करता है और कभी नहीं भी हटता। यथा - दर्पण के सामने पुष्प को लाने पर दर्पण में प्रतीत होने वाला राग (रंग) पुष्प को हटाते ही हट जाता है परन्तु इस के विपरीत महल बनाने वाले बढ़ई और कारीगरों के चले जाने या मर जाने पर भी उन के कार्य (महल) की सत्ता बनी रहती है, घट के कारण दण्ड-कुलाल आदि के नष्ट हो जाने पर भी घट की सत्ता बनी रहती है। इस प्रकार लौकिकन्यायलब्ध यह परिभाषा सार्वत्रिक नहीं समझनी चाहिये। जहा जैसी प्रयोगसिद्धि अभीष्ट हो उसे वैसा प्रयुक्त करना चाहिये। अत एव अस्य अपत्यम् इ' ('अ' का लडका 'इ') यहा 'अत इञ्' (१०११) द्वारा अदन्त प्रकृति से उत्पन्न इञ् प्रत्यय 'यस्येति च' (२३६) द्वारा सम्पूर्ण प्रकृति के लुप्त हो जाने पर भी बना रहता है, लुप्त नही होता। इसी प्रकार यहा 'ऐधि+ध्वम्' मे भी समझ लेना चाहिये।

लुंङ् के उत्तमपु० के एकवचन मे इट्प्रत्यय, सिच्, इट् का आगम, आट् और 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि करने पर 'ऐधिषि' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार

---

ढीध्वम्०' की प्राप्ति भी स्वीकार नही करते। कलापकव्याकरण के रचयिता आचार्य शाववर्मन्, चान्द्रव्याकरण के रचयिता आचार्य चन्द्रगोमी, सरस्वतीकण्ठाभरण के रचयिता महाराज भोज आदि अनेक वैयाकरणों ने यहा इणन्त धातु से परे ही ढत्व का विधान किया है। यथा—(१) नाम्यन्ताद् धातोराशीरद्यतनीपरोक्षासु धो ढः (नाम्यन्ताद् =इण्णन्तात्। कलापकव्या० आख्यातवृत्ति सूत्र ४२६)। (२) धातो सीलुङोश्च धो ढ (चान्द्रव्या०६ ४ ६६)। (३) धातोरिण धीध्वलुङ्लिटां धो ढ (सरस्वतीकण्ठा० ७ ४ १०५)। अत इन वैयाकरणों के मतानुसार 'ऐधि+ध्वम्' मे इणन्त धातु न होने से ढकार नहीं होता। परन्तु श्रीहरदत्त ढत्व वाले पक्ष के पोषक हैं। उन का मत पदमञ्जरी (८ ३ ७६) सूत्र पर देखा जा सकता है।

द्विवचन और बहुवचन में—ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि। ध्यान रहे कि यहां सिच् तो आर्धधातुक है पर वहि और महिङ् आर्धधातुक नहीं अतः उन को इट् का आगम नहीं होता। लुङ् में रूपमाला यथा—ऐधिष्ट, ऐधिषाताम्, ऐधिषत। ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम्, ऐधिढ्वम्। ऐधिषि, ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि। माङ् के योग में—मा भवान् एधिष्ट, मा त्वम् एधिष्ठाः आदि।

लृङ्—में कोई विशेष कार्य नहीं होता। सर्वत्र स्य, इट् और षत्व करने पर रूप सिद्ध होते हैं—ऐधिष्यत, ऐधिष्येताम्, ऐधिष्यन्त। ऐधिष्यथाः, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम्। ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि।

अब निम्नलिखित अनुदात्तेत् धातुओं के रूप उपर्युक्त सूत्रों की सहायता से बड़ी आसानी से चलाए जा सकते हैं—

(१) लोकृँ दर्शने (देखना)। लँट्—लोकते। लिँट्—लुलोके, लुलोकाते, लुलोकिरे। लुँट्—लोकिता। लृँट्—लोकिष्यते। लोँट्—लोकताम्। लँङ्—अलोकत। वि० लिँङ्—लोकेत। आ० लिँङ्—लोकिषीष्ट। लुँङ्—अलोकिष्ट, अलोकिषाताम्, अलोकिषत। अलोकिष्ठाः, अलोकिषाथाम्, अलोकिढ्वम्। अलोकिषि, अलोकिष्वहि, अलोकिष्महि। लृँङ्—अलोकिष्यत। विलोकते=देखता है।

(२) लोचृँ दर्शने (देखना)। लँट्—लोचते। लिँट्—लुलोचे। लुँट्—लोचिता। लृँट्—लोचिष्यते। लोँट्—लोचताम्। लँङ्—अलोचत। वि० लिँङ्—लोचेत। आ० लिँङ्—लोचिषीष्ट। लुँङ्—अलोचिष्ट। लृँङ्—अलोचिष्यत।

(३) चेष्टृँ चेष्टायाम् (चेष्टा करना)। लँट्—चेष्टते। लिँट्—चिचेष्टे। लुँट्—चेष्टिता। लृँट्—चेष्टिष्यते। लोँट्—चेष्टताम्। लँङ्—अचेष्टत। वि० लिँङ्—चेष्टेत। आ० लिँङ्—चेष्टिषीष्ट। लुँङ्—अचेष्टिष्ट। लृँङ्—अचेष्टिष्यत।

(४) वेष्टृँ वेष्टने (लपेटना)। लँट्—वेष्टते। लिँट्—विवेष्टे। लुँट्—वेष्टिता। लृँट्—वेष्टिष्यते। लोँट्—वेष्टताम्। लँङ्—अवेष्टत। वि० लिँङ्—वेष्टेत। आ० लिँङ्—वेष्टिषीष्ट। लुँङ्—अवेष्टिष्ट। लृँङ्—अवेष्टिष्यत।

(५) टुवेपृँ कम्पने (कांपना)। लँट्—वेपते। लिँट्—विवेपे। लुँट्—वेपिता। लृँट्—वेपिष्यते। लोँट्—वेपताम्। लँङ्—अवेपत। वि० लिँङ्—वेपेत। आ० लिँङ्—वेपिषीष्ट। लुँङ्—अवेपिष्ट। लृँङ्—अवेपिष्यत।

(६) भाषृँ व्यक्तायां वाचि (बोलना)। लँट्—भाषते। लिँट्—बभाषे। लुँट्—भाषिता। लृँट्—भाषिष्यते। लोँट्—भाषताम्। लँङ्—अभाषत। वि० लिँङ्—भाषेत। आ० लिँङ्—भाषिषीष्ट। लुँङ्—अभाषिष्ट। लृँङ्—अभाषिष्यत।

(७) भासृँ दीप्तौ (चमकना)। लँट्—भासते। लिँट्—बभासे। लुँट्—भासिता। लृँट्—भासिष्यते। लोँट्—भासताम्। लँङ्—अभासत। वि० लिँङ्—

भासेत । आ० लिंङ्—भासिषीष्ट । लुंङ्—अभासिष्ट । लृंङ्—अभासिष्यत ।

(८) काशृं दीप्तौ (चमकना) । लँट्—काशते । लिँट्—चकाशे । लुँट्—काशिता । लृँट्—काशिष्यते । लोँट्—काशताम् । लँङ्—अकाशत । वि० लिँङ्—काशेत । आ० लिँङ्—काशिषीष्ट । लुँङ्—अकाशिष्ट । लृँङ्—अकाशिष्यत । प्रकाशते ।

(९) प्रसृं अदने (खाना) । लँट्—प्रसते । लिँट्—प्रसे । लुँट्—प्रसिता । लृँट्—प्रसिष्यते । लोँट्—प्रसताम् । लँङ्—अप्रसत । वि० लिँङ्—प्रसेत । आ० लिँङ्—प्रसिषीष्ट । लुँङ्—अप्रसिष्ट । लृँङ्—अप्रसिष्यत ।

(१०) गर्हृं कुत्सायाम् (निन्दा करना) । लँट्—गर्हते । लिँट्—जगर्हे । लुँट्—गर्हिता । लृँट्—गर्हिष्यते । लोँट्—गर्हताम् । लँङ्—अगर्हत । वि० लिँङ्—गर्हेत । आ० लिँङ्—गर्हिषीष्ट । लुँङ्—अगर्हिष्ट । लृँङ्—अगर्हिष्यत ।

(११) भिक्षृं याच्ञायाम् (मागना, भीख मागना) । लँट्—भिक्षते । लिँट्—बिभिक्षे । लुँट्—भिक्षिता । लृँट्—भिक्षिष्यते । लोँट्—भिक्षताम् । लँङ्—अभिक्षत । वि० लिँङ्—भिक्षेत । आ० लिँङ्—भिक्षिषीष्ट । लुँङ्—अभिक्षिष्ट । लृँङ्—अभिक्षिष्यत ।

(१२) शिक्षृं विद्योपादाने (सीखना) । लँट्—शिक्षते । लिँट्—शिशिक्षे । लुँट्—शिक्षिता । लृँट्—शिक्षिष्यते । लोँट्—शिक्षताम् । लँङ्—अशिक्षत । वि० लिँङ्—शिक्षेत । आ० लिँङ्—शिक्षिषीष्ट । लुँङ्—अशिक्षिष्ट । लृँङ्—अशिक्षिष्यत ।

(१३) श्लाघृं कत्थने (श्लाघा करना) । लँट्—श्लाघते । लिँट्—शश्लाघे । लुँट्—श्लाघिता । लृँट्—श्लाघिष्यते । लोँट्—श्लाघताम् । लँङ्—अश्लाघत । वि० लिँङ्—श्लाघेत । आ० लिँङ्—श्लाघिषीष्ट । लुँङ्—अश्लाघिष्ट । लृँङ्—अश्लाघिष्यत ।

(१४) यतीं प्रयत्ने (यत्न करना) । लँट्—यतते । लिँट्—येते, येताते, येतिरे (अत एकहल्मध्ये० ४८०) । लुँट्—यतिता । लृँट्—यतिष्यते । लोँट्—यतताम् । लँङ्—अयतत । वि० लिँङ्—यतेत । आ० लिँङ्—यतिषीष्ट । लुँङ्—अयतिष्ट । लृँङ्—अयतिष्यत । प्रयतते ।

(१५) मुदृं हर्षे (प्रसन्न होना) । लँट्—मोदते । लिँट्—मुमुदे । लुँट्—मोदिता । लृँट्—मोदिष्यते । लोँट्—मोदताम् । लँङ्—अमोदत । वि० लिँङ्—मोदेत । आ० लिँङ्—मोदिषीष्ट । लुँङ्—अमोदिष्ट । लृँङ्—अमोदिष्यत ।

(१६) शकिँ शङ्कायाम् (शङ्का करना) । लँट्—शङ्कते (इदितो नुम् धातो, ४६३) । लिँट्—शशङ्के । लुँट्—शङ्किता । लृँट्—शङ्किष्यते । लोँट्—शङ्कताम् । लँङ्—अशङ्कत । वि० लिँङ्—शङ्केत । आ० लिँङ्—शङ्किषीष्ट । लुँङ्—अशङ्किष्ट । लृँङ्—अशङ्किष्यत ।

(१७) कपिँ चलने (काँपना) । लँट्—कम्पते । लिँट्—चकम्पे । लुँट्—कम्पिता । लृँट्—कम्पिष्यते । लोँट्—कम्पताम् । लँङ्—अकम्पत । वि० लिँङ्—

व्याख्या—कमे ।५।१। णिङ् ।१।१। 'प्रत्यय, परश्च' का अधिकार आ रहा है। अर्थः—(कमे) कम् धातु से परे (णिङ्) णिङ् प्रत्यय हो। किस अर्थ में हो ? यह नहीं बताया गया अत 'अनिर्दिष्टार्था प्रत्यया स्वार्थे भवन्ति' के अनुसार णिङ् प्रत्यय स्वार्थ में होगा; अर्थात णिङ् के आने से कम् के अर्थ में किसी प्रकार का परिवर्तन न होगा। णिङ् के णकार की 'चुटू' (१२६) से तथा ङकार की 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है, केवल 'इ' ही शेष रहता है। णकार अनुबन्ध उपधावृद्धि के लिये तथा ङकार अनुबन्ध आत्मनेपद के लिये जोडा गया है। कम्+णिङ्=कम्+इ, 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि हो कर 'कामि' बन जाता है। स्मरण रहे कि णिङ् के ङित् होने पर भी यहा 'क्ङिति च' (४३३) सूत्र से वृद्धि का निषेध नहीं होता। इस का कारण यह है कि वह इग्लक्षणा गुण-वृद्धि का ही निषेध करता है अन्य का नहीं। अब 'कामि' की 'सनाद्यन्ता धातव' (४६८) से धातुसज्ञा हो जाती है। 'कामि' के ङित् होने के कारण 'अनुदात्तङित०' (३७८) के अनुसार इस से परे लकार के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं।

लँट्—कामि धातु से प्र० पु० के एकवचन में 'त' प्रत्यय, चप्, अनुबन्धलोप तथा 'सार्वधातुकार्धं०' (३८८) से इकार को एकार गुण करने से—कामे+अ+त। अब एकार को अय् आदेश तथा 'टित आत्मने०' (५०८) से टि को एत्व करने पर 'कामयते' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी लँट् में एध् धातु की तरह प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—कामयते, कामयेते, कामयन्ते। कामयसे, कामयेथे, कामयध्वे। कामये, कामयावहे, कामयामहे।

लिँट्—की विवक्षा में 'आयादय आर्धधातुके वा' (४६६) द्वारा कम् धातु से णिङ् प्रत्यय का विकल्प हो जाता है। णिङ्पक्ष में 'कामि+लिँट्' इस अवस्था में कामि के अनेकाच होने से 'कास्यनेकाच आम्वक्तव्यो लिँटि' (वा० ३४) से आम् प्रत्यय हो कर 'कामि+आम्+लिँट्' बना। अब यहा आम् परे रहते 'सार्वधातुकार्धं०' (३८८)से प्राप्त गुण को बाध कर 'णेरनिटि' (५२६) से णि का लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५२६) अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु ।६।४।५५॥

आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु—एषु णेरयादेश स्यात्। कामयाञ्चक्रे। आयादय (४६६) इति णिङ् वा। चकमे, चकमाते, चकमिरे। चकमिषे, चकमाथे, चकमिध्वे। चकमे, चकमिवहे, चकमिमहे। कामयिता, कमिता। कामयितासे। कामयिष्यते, कमिष्यते। कामयताम्। अकामयत। कामयेत। कामयिषीष्ट॥

अर्थः—आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु और इष्णु इन के परे होने पर णि को अय् आदेश हो।

व्याख्या—अय् ।१।१। आम्-अन्त-आलु-आय्य-इत्नु-इष्णुषु ।७।३। णेः ६।१। ('णेरनिटि' से)।अर्थः—(आम्-अन्त-आलु-आय्य-इत्नु-इष्णुषु) आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु और इष्णु इन के परे होने पर (णेः) णि के स्थान पर (अय्) अय् आदेश हो। उदाहरण यथा—

(१) आम्—कारि+आम्+लिँट्=कारयाञ्चकार।

(२) अन्त—गण्डि+अन्त=गण्डयन्तः, मण्डि+अन्त=मण्डयन्तः। 'तृ-भू-वहि०' (उणा० ४०८) इति झच्प्रत्ययः, झस्य च 'झोऽन्तः' (३८६) इत्यन्तादेशः।

(३) आलु—गृहि+आलु=गृहयालुः, स्पृहि+आलु=स्पृहयालुः। 'स्पृहि-गृहि-पति०' (३.२.१५८) इति आलुच्प्रत्ययः।

(४) आय्य—गृहि+आय्य=गृह्यायः, स्पृहि+आय्य=स्पृहयाय्यः। 'श्रु-दक्षि-स्पृहि०' (उणा० ३७६) इति आय्यप्रत्ययः।

(५) इत्नु—स्तनि+इत्नु=स्तनयित्नुः। 'स्तनि-हृषि०' (उणा० ३०६) इति इत्नुच् प्रत्ययः।

(६) इष्णु—पारि+इष्णु=पारयिष्णु=पारयिष्णवः (प्र० बहु०)। 'णेश्छन्दसि' (३.२.१३७) इति इष्णुच् प्रत्ययः।

'कामि+आम्+लिँट्' यहां पर प्रकृतसूत्र से णि (इ) को अय् आदेश हो कर—कामयाम्+लिँट्। अब 'एधाञ्चक्रे' की तरह 'आमः' (४७१) से लिँट् का लुक्, 'कृञ्चानु०' (४७२) से लिँट्परक कृञ्, भू और अस् धातुओं का अनुप्रयोग, 'आम्प्रत्ययवत्०' (५१२) से कृञ् से परे लिँट् के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय हो कर 'कामयाञ्चक्रे'। भू का अनुप्रयोग हो कर—कामयाम्बभूव। अस् का अनुप्रयोग करने पर 'कामयामास' आदि रूप बनते हैं। जिस पक्ष में णिङ् नहीं होता वहाँ 'कम्+त' इस स्थिति में लिटस्तझयो०' (५१३) से त को एश् आदेश हो कर द्वित्वादिकार्य करने पर 'चकमे' प्रयोग सिद्ध होता है। लिँट् में कम् की रूपमाला यथा—(कृञोऽनुप्रयोगे) कामयाञ्चक्रे, कामयाञ्चक्राते, कामयाञ्चक्रिरे। कामयाञ्चकृषे, कामयाञ्चक्राथे, कामयाञ्चकृढ्वे। कामयाञ्चक्रे, कामयाञ्चकृवहे, कामयाञ्चकृमहे। (भूधातोरनुप्रयोगे) कामयाम्बभूव, कामयाम्बभूवतुः, कामयाम्बभूवुः आदि। (अस्-धातोरनुप्रयोगे) कामयामास, कामयामासतुः, कामयामासुः आदि। (णिङोऽभावे) चकमे, चकमाते, चकमिरे। चकमिषे, चकमाथे, चकमिध्वे। चकमे, चकमिवहे, चकमिमहे।

लुँट्—की विवक्षा में 'आयादय०' (४६६) से णिङ् का विकल्प होता है। णिङ्पक्ष में 'कामि+इता' इस स्थिति में इट् परे रहते 'णेरनिटि' (५२६) से लोप

प्राप्त नहीं होता अत इकार को आर्धधातुकगुण एकार तथा उसे अयादेश हो कर—कामयिता। णिङ् के अभाव में—कमिता। रूपमाला यथा—(णिङ्पक्षे) कामयिता, कामयितारौ, कामयितार। कामयितासे, कामयितासाथे, कामयिताध्वे। कामयिताहे, कामयितास्वहे, कामयितास्महे। (णिङोऽभावे) कमिता, कमितारौ, कमितार। कमितासे आदि।

लृट्—में णिङ् और णिङ्-अभाव दोनों पक्षों में साधारण आत्मनेपदप्रक्रिया के कार्य होते हैं। रूपमाला यथा—(णिङ्पक्षे) कामयिष्यते, कामयिष्येते, कामयिष्यन्ते आदि। (णिङोऽभावे) कमिष्यते, कमिष्येते, कमिष्यन्ते आदि।

लोट्—लोडादेश के आर्धधातुक न होने से नित्य णिङ् हो कर साधारण कार्य होते हैं। रूपमाला यथा—कामयताम्, कामयेताम्, कामयन्ताम्। कामयस्व, कामयेथाम्, कामयध्वम्। कामयै, कामयावहै, कामयामहै।

लङ्—में नित्य णिङ् हो कर आत्मनेपद के साधारण कार्य होते हैं। रूपमाला यथा—अकामयत, अकामयेताम्, अकामयन्त। अकामयथा, अकामयेथाम्, अकामयध्वम्। अकामये, अकामयावहि अकामयामहि।

वि० लिङ्—में भी नित्य णिङ् हो कर एध् धातु की तरह साधारण कार्य होते हैं—कामयेत, कामयेयाताम्, कामयेरन्। कामयेथा, कामयेयाथाम्, कामयेध्वम्। कामयेय, कामयेवहि, कामयेमहि।

आ० लिङ्— के आर्धधातुक होने से णिङ् का विकल्प होगा। णिङ्पक्ष में 'कामि+इट् सीयुट् त' इस स्थिति में अनुबन्धलोप, यकारलोप, आर्धधातुकगुण, एकार को अयादेश तथा षत्व और ष्टुत्व करने पर 'कामयिषीष्ट' रूप सिद्ध होता है। णिङ् के अभाव में—कमिषीष्ट। इसी प्रकार म० पु० के बहुवचन में 'कामय्+इषीध्वम्' इस स्थिति में इट् के षीध्वम् का अवयव होने के कारण 'इण षीध्वम्०' (५१४) से षकार को नित्य ढत्व प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से विकल्प का विधान करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५२७) विभाषेट ८।३।७९॥

इण: परो य इट् तत परेषा षीध्वम्-लुँङ्-लिँटा धस्य वा ढ। कामयिषीढ्वम्-कामयिषीध्वम्। कमिषीष्ट। कमिषीध्वम्॥

अर्थ—इण् प्रत्याहार से परे जो इट् उस से परे षीध्वम्, लुँङ् और लिँट् के धकार के स्थान पर विकल्प से मूर्धन्य (ढकार) आदेश हो।

व्याख्या—विभाषा।१।१। इट।५।१। मूर्धन्यः।१।१। ('अपदान्तस्य मूर्धन्यः' से)। 'इण: षीध्वलुँङ्लिँटाम्' पदों की पिछले सूत्र से अनुवृत्ति आती है। अर्थ—(इण:) इण् प्रत्याहार से परे (इट) जो इट्, उस से परे (षीध्वम्-लुँङ्-लिँटाम्)

षीध्वम्, लुँङ् वा लिँट् के (धः) ध् के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से (मूर्धन्यः) मूर्धन्य आदेश हो। धकार के स्थान पर मूर्धन्य ढकार ही हो सकता है अन्य नहीं—यह पीछे (५१४) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं। 'इणः षीध्वम्०' (५१४) द्वारा ढत्व के नित्य प्राप्त होने पर इस सूत्र से विकल्प का विधान किया गया है।

'कामय्+इ षीध्वम्' यहां पर कामय् का यकार इण् है, इस से परे इट् विद्यमान है अतः इस इट् से परे प्रकृतसूत्र द्वारा षीध्वम् के धकार को विकल्प से ढकार आदेश हो कर 'कामयिषीढ्वम्-कामयिषीध्वम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

लुँङ् के 'अलविढ्वम्-अलविध्वम्' तथा लिँट् के 'दुदुहिढ्वे-दुदुहिध्वे' आदि उदाहरण आगे यथास्थान आयेंगे।

इस सूत्र में 'अङ्गात्' की अनुवृत्ति नहीं लाई गई। इस से 'दिदीयिढ्वे-दिदीयिध्वे' में ढत्व का विकल्प सिद्ध हो जाता है। अन्यथा 'दीङो युडचि क्ङिति' (६३७) द्वारा विहित युट् के लिँट् का अवयव होने से इणन्त अङ्ग 'दिदी' से परे अव्यवहित इट् न रहने से ढत्व का विकल्प न हो सकता।

आ० लिँङ् में कम् धातु की रूपमाला यथा—(णिङ्पक्षे) कामयिषीष्ट, कामयिषीयास्ताम्, कामयिषीरन्। कामयिषीष्ठाः, कामयिषीयास्थाम्, कामयिषीढ्वम्-कामयिषीध्वम्। कामयिषीय, कामयिषीवहि, कामयिषीमहि। (णिङोऽभावे) कमिषीष्ट, कमिषीयास्ताम्, कमिषीरन्। कमिषीष्ठाः, कमिषीयास्थाम्, कमिषीध्वम्[1]। कमिषीय, कमिषीवहि, कमिषीमहि।

लुँङ्—के णिङ्पक्ष में प्र० पु० के एकवचन में च्लि ला कर कामि+च्लि+त इस स्थिति में 'च्लेः सिँच्' (४३८) द्वारा च्लि को सिँच् आदेश प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५२८) णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् ।३।१।४८॥

*ण्यन्तात् श्रयादिभ्यश्च च्लेश्चङ् स्यात् कर्त्रर्थे लुँङि परे। 'कामि+अ+त' इति स्थिते—*

अर्थः—ण्यन्त धातुओं तथा श्रि, द्रु और स्रु धातुओं से परे च्लि को चङ् आदेश हो कर्त्रर्थक लुँङ् परे हो तो।

व्याख्या—णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः ।५।३। कर्त्तरि ।७।१। चङ् ।१।१। लुँङि ।७।१। ('च्लि लुँङि' से)। च्लेः ।६।१। ('च्लेः सिँच्' से)। णिश्च श्रिश्च द्रुश्च स्रुश्च तेभ्यः—णिश्रिद्रुस्रुभ्यः। 'णि' प्रत्यय है अतः 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' के अनुसार ण्यन्तों का ग्रहण होता है। श्रि आदि तीन धातु हैं—श्रिञ् सेवायाम् (सेवा करना, आश्रय करना,

---

१. 'कम+इ षीध्वम्' यहां पर इण् न होने से ढत्व का विकल्प नहीं होता।

स्वा० उभय०), द्रु गतौ (बहना, स्वा० परस्मै०), स्रु गतौ (गमन-बहना, स्वा० परस्मै०)। अर्थ —(णि श्रि-द्रु-स्रु-भ्य) ण्यन्त तथा श्रि, द्रु, स्रु धातुओं से परे (च्ले) च्लि के स्थान पर (चङ्) चङ् आदेश हो (कर्तरि लुंङि) कर्त्ता अर्थ में लुंङ् परे हो तो। 'णि' यह सामान्यनिर्देश है अत णिच् णिङ् दोनों का ग्रहण होता है। यह सूत्र 'च्ले सिंच्' (४३८) का अपवाद है। चङ् के ङकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा तथा चकार की 'चुटू' (१२६) द्वारा इत्सञ्ज्ञा हो कर 'अ' शेष रहता है। ङकारानुबन्ध गुणवृद्धि के निषेध के लिये तथा चकारानुबन्ध 'अस्तिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (५६७) आदि द्वारा प्रतिपादित अङ् से भेद दर्शाने के लिये जोडा गया है इस से 'चङि' (५३१) सूत्र में अङ् का ग्रहण नहीं होता। ण्यन्त का उदाहरण यहा प्रकृत मे दिया गया है। 'श्रि' के उदाहरण 'अशिश्रियत्-अशिश्रियत' आदि आगे उभयपद में आयेंगे। द्रु और स्रु के उदाहरण 'अदुद्रुवत्, असुस्रुवत्' आदि समझने चाहियें। सूत्र में 'कर्तरि' के कथन से कर्मवाच्य में च्लि को चङ् नहीं होता। यथा 'अकारिषाताम्' यहा ण्यन्त 'कारि' से कर्मवाच्य में च्लि को चङ् न हो कर सिंच् हो होता है।

'कामि+च्लि+त' यहा 'कामि' यह ण्यन्त है। कर्त्ता अर्थ में यहा लुंङ् किया गया है। अत प्रकृतसूत्र से 'कामि' से परे च्लि को चङ् आदेश हो कर अनुबन्धलोप करने पर 'कामि+अ+त' इस स्थिति मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् –(५२९) णेरनिटि ।६।४।५१॥

अनिडादावार्धधातुके परे णेर्लोप स्यात्॥

अर्थ —जिस के आदि मे इट् न हो ऐसे आर्धधातुक के परे होने पर णि का लोप हो जाता है।

व्याख्या—णे ।६।१। अनिटि ।७।१। आर्धधातुके ।७।१। (अधिकृत है)। लोप ।१।१। ('अतो लोप' से)। 'अनिटि' यह 'आर्धधातुके' का विशेषण है अत तदादिविधि हो कर 'अनिडादौ आर्धधातुके' बन जाता है। अर्थ —(अनिटि=अनिडादौ) जिस के आदि में इट् नहीं ऐसे (आर्धधातुके) आर्धधातुक के परे होने पर (णे) णि का (लोप) लोप हो जाता है। 'णि' मे किसी अनुबन्ध का ग्रहण नहीं अत. णिच् णिङ् दोनों का ही यहा ग्रहण होता है। इस सूत्र को हृदयगम कराने के लिये हम यहा मूल के अतिरिक्त इस के छ अन्य उदाहरण दे रहे हैं। विद्यार्थी यदि यहा इसे अच्छी तरह समझ लेंगे तो आगे चल कर सिद्धान्तकौमुदी आदि में उन को कुछ भी कठिनाई नहीं आयेगी।

(१) पाक्ति। पच् धातु से 'हेतुमति च' (७००) द्वारा णिच् प्रत्यय हो कर उपधावृद्धि करने से 'पाचि' बना। इस 'पाचि' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' (८६३) से क्तिन् प्रत्यय हो कर—पाचि+ति। यहा 'ति-तु-त्र-त-थ०' (८४५) से इट् का निषेध हो जाता है। इस प्रकार अनिडादि आर्धधातुक 'ति' के परे होने पर प्रकृतसूत्र से णि

(णिच्) का लोप तथा 'चोः कुः' (३०६) से चकार को ककार करने पर 'पाक्तिः' प्रयोग सिद्ध होता है।

(२) अररक्षत्। णिजन्त रक्ष् धातु से लुँङ् के प्र० पु० के एकवचन में 'रक्षि+च्लि+त्' इस स्थिति में च्लि को चङ्, 'चङि' (५३१) से द्वित्व, अभ्यासकार्य और अट् का आगम हो कर—अररक्षि+अ+त्। अब संयोगपूर्व होने के कारण 'अचि श्नु०' (१९९) द्वारा इकार को इयङ् प्राप्त होता है, परन्तु प्रकृतसूत्र से उसका बाध हो कर णि (णिच्) का लोप हो जाता है—अररक्ष्+अ+त्=अररक्षत्।

(३) आटिटत्। अट् धातु से हेतुमण्णिच् हो कर उपधावृद्धि करने से 'आटि' बना। इस से लुँङ् के प्र० पु० के एकवचन में 'आटि+च्लि+त्' इस स्थिति में च्लि को चङ्, 'णौ चङ्युपधाया०' (५३०) से उपधाह्रस्व, तथा 'चङि' (५३१) से 'टि' अंश को द्वित्व हो कर—आटिटि+अ+त्। अब पूर्व में संयोग न होने से 'एरनेकाचः०' (२००) द्वारा यण् प्राप्त होता है, परन्तु उस का बाध कर प्रकृतसूत्र से णि (णिच्) का लोप, आट् का आगम और वृद्धि करने पर 'आटिटत्' प्रयोग सिद्ध होता है।

(४) कारणा। कृ धातु से हेतुमण्णिच् ला कर वृद्धि करने से 'कारि' बना। इस से 'स्त्रियाम्' के अधिकार में 'ण्यासश्रन्थो युच्' (८६९) से युच् प्रत्यय तथा 'युवोरनाकौ' (७८५) से यु को अन आदेश हो कर 'कारि+अन' हुआ। अब 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से प्राप्त गुण का बाध कर प्रकृतसूत्र से णि का लोप करने पर टाप् लाने से 'कारणा' प्रयोग सिद्ध होता है।

(५) कारकः। पूर्ववत् 'कारि' धातु से 'ण्वुल्तृचौ' (७८४) द्वारा ण्वुल्, तथा वु को अक आदेश करने पर—कारि+अक। अब यहां 'अचो ञ्णिति' (१८२) द्वारा प्राप्त वृद्धि का बाध कर प्रकृतसूत्र से णि का लोप करने पर कार्+अक=कारक' प्रयोग सिद्ध होता है।

(६) कार्यते। पूर्ववत् णिजन्त 'कारि' धातु से कर्मवाच्य के लँट् में यक् करने पर 'कारि+य+ते' इस स्थिति में 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (४८३) से प्राप्त दीर्घ का बाध कर प्रकृतसूत्र से णि का लोप हो कर 'कार्यते' प्रयोग सिद्ध होता है।

णि का लोप 'पाक्तिः' आदि में सावकाश है। इयङ्, यण्, गुण, वृद्धि और दीर्घ सब के सब अष्टाध्यायी में णिलोप से परे स्थित हैं अतः परत्वात् यद्यपि उपर्युक्त उदाहरणों में इयङ् आदि ही करने उचित हैं तथापि 'ण्यल्लोपो इयङ्-यण्-गुण-वृद्धि-दीर्घेभ्यः पूर्वविप्रतिषेधेन' (वा० सि० कौ०) इस वार्त्तिक से पूर्वविप्रतिषेध के कारण णि का लोप ही प्रवृत्त हो जाता है।

सूत्र में 'अनिडादौ' कहा गया है, इस से 'कारि' धातु के तृच् में इट् का आगम होने पर 'कारि+इतृ' यहां पर णि का लोप न हो कर आर्धधातुकगुण तथा अयादेश करने पर 'कारयिता' प्रयोग सिद्ध होता है।

'कामि+अ+त' यहा भी 'एरनेकाच०' (२००) सूत्र से मकारोत्तर इकार को यण् प्राप्त था, इस का बाध कर 'णेरनिटि' (५२९) प्रवृत्त हो जाता है। यहा 'अ' (चङ्) यह 'आधधातुक शेष.' (४०४) के अनुसार आर्धधातुक है। वलादि न होने से इसे इट् का आगम नहीं हुआ अत यह अनिट् भी है। इस प्रकार सूत्र के घट जाने से णि का लोप हो जाने पर 'काम्+अ+त' यह स्थिति बनी। अब इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५३०) णौ चङ्युपधाया ह्रस्व.।७।४।१॥

चङ्परे णौ यदङ्गं तस्योपधाया ह्रस्व स्यात्॥

अर्थ—चङ् परे होने पर जो णि, उस के परे रहते अङ्ग की उपधा को ह्रस्व हो।

व्याख्या—णौ।७।१। चङि।७।१। उपधाया।६।१। ह्रस्व।१।१। अङ्गस्य' यह अधिकृत है। अर्थ—(चङि) चङ् परे होने पर जो (णौ) णि, उस के परे रहने (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधाया) उपधा के स्थान पर (ह्रस्व) ह्रस्व आदेश हो जाता है।

'काम्+अ+त' यहा पर लोप हुए णि को 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१८९) द्वारा मान कर चङ्परक णि के परे होने मे 'काम्' इस अङ्ग की उपधा अकार को ह्रस्व हो कर 'कम्+अ+त' हुआ।

यह सूत्र केवल णि के परे होने पर उपधा को ह्रस्व नहीं करता किन्तु जब णि से परे चङ् हो तभी उपधा को ह्रस्व करता है। अत एव पाठयति, कारयति, चोरयति आदियों में उपधा को ह्रस्व नही होता। उपधाग्रहण इसलिये किया है कि 'अचकाङ्क्षत्' आदियों मे ह्रस्व न हो जाये। यहा 'काङ्क्ष्+इ+अ+त्' इस स्थिति में ककारोत्तर आकार उपधासञ्ज्ञक नही, उपधा तो अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण ही हुआ करती है—देखो 'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' (१७६)।

नोट—ध्यान रहे कि यह उपधाह्रस्व हमेशा 'चङि' (५३१) द्वारा द्वित्व करने से पहले ही हुआ करता है पीछे नहीं, इस में 'ओणृ अपनयने' धातु को ऋदित् करना ज्ञापक है। इस के स्पष्टीकरण के लिये सिद्धान्तकौमुदी णिजन्तप्रक्रिया का 'मा भवान् ईदिधत्' वाला अश अथवा काशिका में इसी स्थल को देखना चाहिये।

अब द्वित्वविधान करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५३१) चङि।६।१।११॥

चङि परेऽनभ्यासस्य धात्ववयवस्यैकाच प्रथमस्य द्वे स्त, अजादेर्द्वितीयस्य॥

अर्थ—चङ् परे होने पर अनभ्यास (अभ्यासहीन अर्थात् जिसे पहले द्वित्व नही

हुआ) धातु के अवयव प्रथम एकाच् को द्वित्व हो जाता है परन्तु यदि धातु अजादि हो तो द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है।

व्याख्या—चङि ।७।१। यहां 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' के 'लिटि' पद को छोड़ कर सर्वांश का तथा 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' और 'अजादेर्द्वितीयस्य' इन दो अधिकारों का अनुवर्त्तन होता है। अर्थः—(चङि) चङ् परे होने पर (अनभ्यासस्य) अभ्यासभिन्न (धातोः) धातु के (प्रथमस्य) प्रथम (एकाचः) एकाच् भाग के (द्वे) दो उच्चारण हो जाते हैं परन्तु यदि (अजादेः) धातु अजादि हो तो उसके (द्वितीयस्य) द्वितीय एकाच् भाग के दो उच्चारण होते हैं। 'अनभ्यासस्य' का अभिप्राय यह है कि धातु को पहले-द्वित्व न हुआ हो—यह सब पीछे (३९४) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

'कम्+अ+त' यहां चङ् परे है अतः धातु के प्रथम एकाच् 'कम्' भाग को द्वित्व होकर 'कम् कम्+अ+त' हुआ। अब अभ्याससञ्ज्ञा, हलादिशेष तथा 'कुहोश्चुः' (४५४) से ककार को चकार करने पर 'चकम्+अ+त' बना। अब यहां सन्वद्भाव करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५३२) सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे ।७।४।९३।।

चङ्परे णौ यदङ्ग तस्य योऽभ्यासो लघुपरः, तस्य सनीव कार्यं स्याण्णावग्लोपेऽसति ।।

अर्थः—चङ् जिस से परे है ऐसे णि के परे रहते जो अङ्ग, उस के लघुपरक (लघु है परे जिस के) अभ्यास के स्थान पर वैसे कार्य हो जाते हैं जैसे सन् परे होने पर हुआ करते हैं। परन्तु यह सब तब होता है जब णि को मान कर किसी अक् (अ इ उ ऋ लृ) वर्ण का लोप न हुआ हो।

व्याख्या—सन्वत् इत्यव्ययपदम्। लघुनि ।७।१। चङ्परे ।७।१। अनग्लोपे ।७।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत लोपोऽभ्यासस्य' से)। सनि इव सन्वत्, 'तत्र तस्येव' (११४९) इति वतिप्रत्ययः। चङ्परो यस्माद् असौ चङ्परः, तस्मिन् चङ्परे। बहुव्रीहिसमासः। यहां अन्यपदार्थ 'णि' ही सम्भव है अतः णि का ही ग्रहण किया जाता है। अको लोपः—अग्लोपः, नास्ति अग्लोपो यस्मिन् सोऽनग्लोपः, तस्मिन् अनग्लोपे। यह 'चङ्परे' का अर्थात् चङ्परक णि का विशेषण है। अर्थः—(अनग्लोपे) जिस के परे होने पर अक् का लोप नहीं हुआ ऐसे (चङ्परे) चङ्परक णि के परे रहते (अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव (लघुनि अभ्यासस्य) लघुपरक अभ्यास के स्थान पर (सन्वत्) सन् में की तरह कार्य हो जाते हैं।

इस सूत्र की प्रवृत्ति में हमें सब से पहले चङ् ढूंढना है, फिर चङ् से पूर्व 'णि'

ढूंढना है, पुन णि से पूर्व अङ्ग ढूंढना है। तब उस अङ्ग के अवयव ऐसे अभ्यास को सन्वत्कार्य करना है जिस से परे लघु अक्षर है। उदाहरण यथा—'चकम्+अ+त' यहा 'अ' यह चङ् परे है, इस से पूर्व 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१८६) के अनुसार 'णि' मौजूद है। इस णि से पूर्व 'चकम्' अङ्ग है। इस अङ्ग का अवयव अभ्यास है—'च'। इस अभ्यास से परे ककारोत्तरवर्ती अकार लघु अक्षर विद्यमान है। अत अभ्यास के स्थान पर वे सब कार्य हो जायेंगे जो सन परे होने पर सम्भव होते हैं। सन् परे होने पर 'सन्यत' (५३३) सूत्र से अभ्यास के अत् को इकार आदेश होता है वह यहा भी हो जायेगा—चिकम्+अ+त।

परन्तु इस सूत्र मे एक शर्त है कि 'णि' ऐसा होना चाहिये जिसे निमित्त मान कर अक् का लोप न हुआ हो। उदाहरणार्थ 'कथ वाक्यप्रबन्धे' इस चुरादिगणीय अदन्त धातु से णिच् प्रत्यय करने पर णि को मान कर 'अतो लोप' (४७०) से थकारोत्तर-वर्ती अकार का लोप हो कर कथि' बन जाता है। अब लुंङ् में च्लि, चङ् और द्वित्वादि करने पर 'अचकथ्+इ+अ+त्' इस स्थिति मे अभ्यास 'च' के स्थान पर सन्वत्कार्य नहीं होता कारण कि यहा पर णि को मान कर अक् (अ) का लोप हुआ है। अत इस का 'अचकथत्' रूप ही बनेगा, 'अचीकथत्' नहीं।

ध्यान रहे कि यदि णि को मान कर ही अक् का लोप हुआ होगा तभी सन्व-द्भाव नहीं होगा वरना वह हो जायेगा। यथा इसी कमु धातु को ही लीजिये। यहा उकार अक् का लोप 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञक होने के कारण हुआ है। 'णि' लाने से पहले ही उस का लोप हो गया था, इस प्रकार के लोप मे णि को निमित्त नहीं माना जा सकता। अत 'चकम्+अ+त' मे सन्वद्भाव हो जाता है।

सूत्र मे लघुपरक अभ्यास को सन्वद्भाव करने के लिये कहा गया है। इस से णिजन्त रक्ष् धातु के लुंङ् मे 'अररक्षत्' मे अभ्यास को सन्वद्भाव नहीं होता। कारण कि 'क्ष्' इस संयुक्त अक्षर के परे होने पर 'संयोगे गुरु' (४४६) से पूर्व वर्ण गुरु हो गया है लघु नही रहा। अत अभ्यास दीर्घपरक है लघुपरक नहीं।

नोट—सूत्र के उपर्युक्त अर्थ में एक दोष आता है। तथाहि—ण्यन्त उद् धातु के लुंङ् में 'नन्द्रा संयोगादय' (६००) के कारण 'दि' भाग को द्वित्व हो कर 'उन् दि दि+अ+त्' हुआ। अब 'णेरनिटि' (५२६) द्वारा णि का लोप करने से 'उन् दि द्+अ+त्' बना। यहा चङ्परक णि के परे रहते अङ्ग है—उदिद्। इस का अभ्यास है—दि। इस से परे केवल द्' विद्यमान है। परन्तु यदि लुप्त हुए णि को स्थानिवत् मान लें अथवा चङ् को ही लघु समझ लें तो लघुपरक होने से यहा भी अभ्यास को सन्व-द्भाव प्राप्त होगा। सन्वद्भाव हो जाने स 'दीर्घो लघो' (५३४) से अभ्यास के लघु को दीर्घ हो कर आट् का आगम और वृद्धि करने पर 'औन्दीदत्' प्रयोग बन जायेगा जो

अनिष्ट है क्योंकि बनना चाहिये – औन्दिदत् । इस का समाधान यह है कि इस सूत्र का अर्थ करते समय 'अङ्गस्य' का सम्बन्ध अभ्यास के साथ न कर के 'लघुनि' के साथ करना चाहिये । तब 'चङ्परक णि के परे होने पर अङ्ग का जो लघु, उस के परे रहते जो अभ्यास उस को सन्वद्भाव हो' इस प्रकार का अर्थ हो जायेगा । इस से 'औन्दिदत्' में कोई दोष नहीं आयेगा । क्योंकि 'उन् दि द्+अ+त्' इस स्थिति में चङ्परक णि के परे होने पर अङ्ग का ऐसा कोई लघु नहीं जिस के परे रहते अभ्यास को सन्वद्भाव हो सके ।

अब सन् परे रहते कार्यों का प्रकरणोपयोगी विवेचन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५३३) सन्यतः ।७।४।७९।।

अभ्यासस्य अत इत् स्यात् सनि ।।

अर्थः—सन् परे होने पर अभ्यास के अत् को इकार आदेश हो ।

व्याख्या—सनि ।७।१। अतः ।६।१। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से) । इत् ।१।१। ('भूतामित्' से)। अर्थः—(सनि) सन् परे होने पर (अभ्यासस्य) अभ्यास के (अतः) अत् के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार आदेश हो । उदाहरण यथा—पिपठिषति, जिगमिषति आदि । इन की सिद्धि सन्नन्तप्रक्रिया में देखें ।

यहां प्रकृत में 'चकम्+अ+त' यहां सन्वद्भाव के कारण प्रकृतसूत्र से अभ्यास (च) के अकार को इकार आदेश हो कर 'चिकम्+अ+त' हुआ । अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५३४) दीर्घो लघोः ।७।४।९४।।

लघोरभ्यासस्य दीर्घः स्यात् सन्वद्भावविषये । अचीकमत । णिङभाव-पक्षे—

अर्थः – सन्वद्भाव के विषय में अभ्यास के लघु को दीर्घ हो ।

व्याख्या—दीर्घः ।१।१। लघोः ।६।१। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है । (५३२) सूत्र से 'लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' अंश की अनुवृत्ति आती है । अर्थः—(अनग्लोपे) जिस के परे होने पर अक् का लोप नहीं हुआ ऐसे (चङ्परे) चङ्परक णि के परे होने पर (अङ्गस्य) अङ्ग के (लघुनि अभ्यासस्य) लघु-परक अभ्यास के (लघोः) लघु वर्ण के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है ।

'चिकम्+अ+त' यहां 'अ' यह चङ् परे है, इस से पूर्व प्रत्ययलक्षण द्वारा णि मौजूद है, इस णि से पूर्व अङ्ग है—चिकम् । इस अङ्ग का अभ्यास है—चि । इस अभ्यास से परे 'कम्' का ककारोत्तरवर्त्ती अकार लघु अक्षर विद्यमान है । इस प्रकार प्रकृतसूत्र के पूर्णरीत्या घटित हो जाने से अभ्यास के अपने लघु वर्ण इकार को दीर्घ हो

कर 'चीकम्+अ+त' बना। अब अन्त मे अट् का आगम करने से 'अचीकमत' प्रयोग सिद्ध होता है।

वक्तव्य—इस सूत्र की वृत्ति से विद्यार्थी प्राय भ्रम में पड जाते हैं। वे सोचने लगते हैं कि क्या कारण है कि सन्वद्भाव के विषय मे तो इस सूत्र से अभ्यास के लघु को दीर्घ हो जाता है पर 'जिगमिषति' आदि मे साक्षात् सन् परे होने पर नहीं होता। उन का यह भ्रम हमारी व्याख्या के अन्तर्गत सूत्र का पदार्थ देख कर सुतरा दूर हो जायेगा [सार यह है कि 'प्रकृतिग्रहणे विकृतेर्ग्रहण भवति, विकृतिग्रहणे प्रकृतेर्ग्रहण न भवति'। सन् प्रकृतिग्रहण है सो 'सन्यत' सूत्र सन् तथा सन्वत् दोनों मे लगता है पर 'सन्वत्' विकृति है, सो यह सन्वद्भाव मे होगा, सन् में नहीं]।

लुंङ् के जिस पक्ष मे 'आयादय०' (४६६) द्वारा णिङ् प्रत्यय नहीं होता उस पक्ष मे 'कम्+च्लि+त' इस अवस्था मे अग्रिमवार्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(३५) कमेश्च्लेश्चङ् वक्तव्य ॥

अचकमत। अकामयिष्यत-अकमिष्यत ॥

अर्थ—कम् धातु से परे च्लि को चङ् कहना चाहिये।

व्याख्या—(कमे) कम् धातु से परे (च्ले) च्लि के स्थान पर (चङ्) चङ् आदेश (वाच्य) कहना चाहिये। इस प्रकार णिङ् के अभावपक्ष में भी च्लि को चङ् हो जाता है। तब 'चङि' (५३१) सूत्र से द्वित्व तथा अभ्यासकार्य करने पर 'अचकमत' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहा चङ्परक णि न होने से सन्वद्भाव आदि कार्य नहीं होते। लुंङ् मे कम् की रूपमाला यथा—(णिङ्पक्षे) अचीकमत, अचीकमेताम्, अचीकमन्त। अचीकमथा, अचीकमेथाम्, अचीकमध्वम्। अचीकमे, अचीकमावहि, अचीकमामहि। (णिङोऽभावे) अचकमत, अचकमेताम, अचकमन्त। अचकमथा, अचकमेथाम्, अचकमध्वम्। अचकमे, अचकमावहि, अचकमामहि।

लुंङ्—मे भी पूर्ववत् णिङ् का विकल्प हो जाता है—(णिङ्पक्षे) अकामयिष्यत, अकामयिष्येताम्, अकामयिष्यन्त। अकामयिष्यथा, अकामयिष्येथाम्, अकामयिष्यध्वम्। अकामयिष्ये, अकामयिष्यावहि अकामयिष्यामहि। (णिङोऽभावे) अकमिष्यत, अकमिष्येताम्, अकमिष्यन्त।

नोट—महाभाष्य (३।१।४८) में 'अचकमत' प्रयोग पर एक प्राचीन श्लोक (सुभाषित) उद्धृत किया गया है—

"नाकमिष्टसुख याति सयुक्तैर्वडवारथै।
अथ पत्काधिणो यान्ति येऽचीकमतभाषिण ॥"

कम् धातु का लुंङ् में क्या रूप बनता है? इस प्रश्न को सुन कर जो लोग 'अचकमत' यह उत्तर देते हैं वे लोग वडवायुक्त रथों से अर्थात् द्रुतगति मे अभीष्ट

सुखदायक स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। परन्तु जो लोग 'अचीकमत' यह उत्तर देते हैं वे लोग (शुद्ध शब्द उच्चारण करने के कारण) स्वर्ग को तो प्राप्त करते हैं किन्तु पैदल अर्थात् धीमी गति से। कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्यशास्त्र से सिद्ध होने वाले प्रयोगों की अपेक्षा विशेषशास्त्र से सिद्ध होने वाले प्रयोग अधिक अभ्युदयकारी हैं। 'अचीकमत' यह प्रयोग तो 'अचूचुरत्' आदि की तरह सामान्यनियमों द्वारा सिद्ध हो जाता है पर 'अचकमत' प्रयोग 'कमेश्चलेश्चङ् वक्तव्यः' इस विशिष्ट वार्त्तिक को लगा कर बनता है अतः इस के प्रयोग में ही अधिक अभ्युदय प्राप्त होता है [विशिष्ट प्रयोगों की रक्षा के लिये आर्य लोगों की यह Technique (पद्धति) द्रष्टव्य है]।

[लघु०] अयँ गतौ ॥३॥ अयते ॥

अर्थः—अयँ (अय्) धातु 'गति-गमन-जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—अयँ धातु अनुदात्तेत् है अतः एध् धातु की तरह इस से आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं। साहित्य मे कही कहीं उद् उपसर्ग के योग में इस का परस्मैपद में भी प्रयोग देखा जाता है[1]। वहां 'अनुदात्तेत्त्वलक्षणम् आत्मनेपदमनित्यम्' (अनुदात्तेत्त्व के कारण सब जगह आत्मनेपद नही होता; कहीं कहीं इस का व्यभिचार= उल्लङ्घन भी देखा जाता है[2]) इस परिभाषा के अनुसार अनुदात्तेत् के चिह्न को अनित्य मान कर परस्मैपद के प्रयोगों का समर्थन करना चाहिये।

लँट्—अयते, अयेते, अयन्ते। अयसे, अयेथे, अयध्वे। अये, अयावहे, अयामहे। प्र+अयते, परा+अयते' यहां उपसर्गयोग में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५३५) उपसर्गस्याऽयतौ ।८।२।१९॥

---

१. यथा—अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनाम्—साहित्यदर्पण नवमपरिच्छेदः; उदयति यदि सूर्यः पश्चिमे दिग्विभागे—सुभाषित; उदयति (शत्रन्तात्सप्तमी) विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ—माघ ४.२०. इत्यादि। कई लोग इन सब प्रयोगों को 'इट किट कटी गतौ' यहां पर प्रक्षिप्त 'इ' धातु से निष्पन्न मान कर परस्मैपद का समाधान करते हैं।

२. इस में ज्ञापक है 'चक्षिँङ् व्यक्तायां वाचि' (अदा० उभय०) धातु। इस में अनुदात्त इकार के इत् होने पर भी ङकार अनुबन्ध के जोड़ने से यह प्रतीत होता है कि आचार्य अनुदात्तेत्त्व द्वारा आत्मनेपद करने में अधिक भरोसा नहीं करते। परन्तु श्रीनागेशभट्ट इसे इस बात का ज्ञापक नहीं मानते। उन का कथन है कि यदि केवल 'चक्षिँ' धातु पढ़ते तो 'इदितो नुम् धातोः' (४६३) से नुम् की प्राप्ति होने लगती जो अनिष्ट थी अतः नुम् से बचने के लिये ङकार अनुबन्ध की चरितार्थता है। इस के अतिरिक्त महाभाष्य में इस परिभाषा का कहीं उल्लेख भी नहीं है।

अयतिपरस्य उपसर्गस्य यो रेफस्तस्य लत्व स्यात्। प्लायते। पलायते॥

अर्थ —अय् धातु जिस से परे हो ऐसे उपसर्ग के रेफ को लकार आदेश हो।

व्याख्या—उपसर्गस्य।६।१। अयतौ।७।१। र।६।१। ल।१।१। ('हृषो रो ल' से) लकारादकार उच्चारणार्थं। अर्थ —(अयतौ) अय् धातु परे होने पर (उपसर्गस्य) उपसर्ग के (र:) र् के स्थान पर (ल) ल् आदेश हो। यथा—'प्र+अयते' यहा अय् धातु परे है अत 'प्र' उपसर्ग के रेफ को लकार हो कर सवर्णदीर्घ करने से 'प्लायते' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार परा+अयते=पलायते (भागता है)। मृगान्सिह पलायते। यहा 'मृगमत्तीति मृगात्' यह अर्थ है। 'अदोऽनन्ने' (३ २ ६८) इति विट्। 'प्रत्यय' शब्द प्रतिपूर्वक अय् धातु से नही बना अपितु 'इण् गतौ' धातु से बना है अत यहा पर 'प्रति' के रेफ को लत्व नही होता।

पाणिनीयव्याकरण में निस्-निर् और दुस्-दुर् दो-दो प्रकार के उपसर्ग माने गये हैं। यदि निर्-दुर् इन रेफान्त उपसर्गों का योग होगा तो रेफ को लत्व हो कर 'निलयते, दुलयते' प्रयोग बन जायेंगे। परन्तु निस्-दुस् इन सकारान्त उपसर्गों का योग होने पर प्रथम 'ससजुषो रुं' (१०५) सूत्र द्वारा रुँत्व हो जायेगा तब प्रकृतसूत्र (८ २ १६) की दृष्टि में उस रुँत्व (८ २ ६६) के असिद्ध होने से लत्व न होगा—निरयते, दुरयते। इस ग्रन्थ के प्रथमभाग में (३५) सूत्र पर एतद्विषयक हमारी टिप्पण द्रष्टव्य है।

लिँट्—मे अय् धातु से आम् अभीष्ट है। परन्तु वह न तो 'इजादेश्च०' (५११) सूत्र से और न ही 'कास्यनेकाच०' (वा० ३४) वार्तिक से प्राप्त हो सकता है अत इस के लिये अग्रिम विशेषसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५३६) दयाऽयाऽऽसश्च ।३।१।३७॥

दय्, अय्, आस्—एभ्य आम् स्याल्लिँटि। अयाञ्चक्रे। अयिता। अयिष्यते। अयताम्। आयत। अयेत। अयिषीष्ट। विभाषेट (५२७)—अयिषीढ्वम्-अयिषीध्वम्। आयिष्ट। आयिढ्वम्-आयिध्वम्। आयिष्यत॥

अर्थ —लिँट् परे हो तो दय् अय् और आस् धातुओ से आम् प्रत्यय हो।

व्याख्या—दयायास:।५।१। च इत्यव्ययपदम्। आम्।१।१। लिँटि।७।१। ('कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिँटि' से)। 'प्रत्यय, परश्च' दोनों अधिकृत हैं। दयश्च अयश्च आस् च तस्मात्=दयायास:, समाहारद्वन्द्व:। दयृँ दानगतिरक्षणेषु (भ्वा० आत्मने०), अयृँ गतौ, आसृँ उपवेशने (अदा० आत्मने०) इन तीन अनुदात्तेत् धातुओं का यहा ग्रहण है। अर्थ —(दयायास:) दय्, अय् और आस् धातुओं से (च) भी (आम्,

प्रत्ययः) आम् प्रत्यय हो जाता है (लिँटि) लिँट् परे हो तो। उदाहरण यथा—दयाञ्चक्रे, अयाञ्चक्रे, आसाञ्चक्रे ।

यहां प्रकृत में अय् धातु से लिँट् परे रहते आम् प्रत्यय हो कर 'आमः' (४७१) से लिँट् का लुक् तथा 'कृञ्चानु०' (४७२) से लिँट्परक कृञ् भू और अस् का अनुप्रयोग हो जाता है। अब 'एधाञ्चक्रे' की तरह सम्पूर्ण प्रक्रिया हो कर 'अयाञ्चक्रे' प्रयोग सिद्ध होता है। भू के अनुप्रयोग में 'अयाम्बभूव' तथा अस् के अनुप्रयोग में 'अयामास' रूप बनते हैं। रूपमाला यथा—(कृञ्पक्षे) अयाञ्चक्रे, अयाञ्चक्राते, अयाञ्चक्रिरे आदि। (भूपक्षे) अयाम्बभूव, अयाम्बभूवतुः, अयाम्बभूवुः आदि। (अस्पक्षे) अयामास, अयामासतुः, अयामासुः आदि। लुँट्—अयिता, अयितारौ, अयितारः। अयितासे आदि। लृँट्—अयिष्यते, अयिष्येते, अयिष्यन्ते। लोँट्—अयताम्, अयेताम्, अयन्ताम्। लँङ्— में 'आडजादीनाम्' (४४४) से आट् का आगम हो कर वृद्धि एकादेश हो जाता है—आयत, आयेताम्, आयन्त। वि० लिँङ्—अयेत, अयेयाताम्, अयेरन्। आ० लिँङ्—अयिषीष्ट, अयिषीयास्ताम्, अयिषीरन्। अयिषीष्ठाः, अयिषीयास्थाम् अयिषीढ्वम्-अयिषीध्वम्[1]। अयिषीय, अयिषीवहि, अयिषीमहि। लुँङ्—आयिष्ट, आयिषाताम्, आयिषत। आयिष्ठाः, आयिषाथाम्, आयिढ्वम्-आयिध्वम्[2]। आयिषि, आयिष्वहि, आयिष्महि। लृँङ्—आयिष्यत, आयिष्येताम्, आयिष्यन्त।

[लघु०] द्युतँ दीप्तौ ॥४॥ द्योतते ॥

अर्थः—द्युतँ (द्युत्) धातु 'चमकना-प्रकाशित होना-प्रकट होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु अनुदात्तेत् होने से पूर्ववत् आत्मनेपदी है। इस धातु का प्रयोग प्रायः 'वि' उपसर्ग के साथ देखा जाता है—विद्योतते विद्युत्। द्योतक, द्योत्य, द्योतन, विद्युत्, ज्योति आदि शब्द इसी धातु से निष्पन्न होते हैं।

लँट्—में शप्, लघूपधगुण तथा टि को एत्व करने पर 'द्योतते' रूप सिद्ध होता है। द्योतते, द्योतेते, द्योतन्ते। द्योतसे, द्योतेथे, द्योतध्वे। द्योते, द्योतावहे, द्योतामहे।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में 'त' को एश् हो कर द्वित्व करने से—द्युत्+

---

१. 'अय्+इषीध्वम्' यहां पर इणन्त अङ्ग (अय्) से परे इट् और उस से परे षीध्वम् है। अतः 'विभाषेटः' (५२७) सूत्र से षीध्वम् के षकार को विकल्प से ढकार हो जाता है। ध्यान रहे कि इण् प्रत्याहार सर्वत्र 'लँण्' के णकार तक ही लिया जाता है।

२. यहां लुँङ् में भी 'विभाषेटः' (५२७) से वैकल्पिक ढत्व हो जाता है।

द्युत्+ए। अब 'हलादि शेष' (३९६) के प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५३७) द्युति-स्वाप्यो सम्प्रसारणम् ।७।४।६७॥

अभ्यासस्य। दिद्युते ॥

अर्थ—द्युत् धातु तथा स्वापि (ण्यन्त स्वप्) धातु के अभ्यास को सम्प्रसारण हो जाता है।

व्याख्या—द्युति-स्वाप्यो ।६।२। सम्प्रसारणम् ।१।१। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। द्युतिश्च स्वापिश्च द्युतिस्वापी, तयो =द्युतिस्वाप्यो। 'द्युति' इति इकां निर्देश। अर्थ—(द्युति-स्वाप्यो) द्युत् तथा ण्यन्त स्वप् धातु के (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण हो जाता है। 'इग्यण सम्प्रसारणम्' (२५६) के अनुसार यण् के स्थान पर होने वाले इक् की सम्प्रसारणसञ्ज्ञा की जाती है। अत द्युत् और स्वापि के अभ्यासस्थ यण् को इक् हो जायेगा। तात्पर्य यह हुआ कि द्युत् के अभ्यास के यकार को तथा स्वापि के अभ्यास के यकार को क्रमश. इकार उकार हो जायेंगे। उदाहरण यथा—

'द्युत्+द्युत्+ए' यहा पर द्युत् के अभ्यासगत यकार को प्रकृतसूत्र से इकार सम्प्रसारण हो कर—दि उत्+द्युत्+ए। 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से सम्प्रसारण इकार और पर उकार के मध्य पूर्वरूप एकादेश हो कर—दित्+द्युत्+ए। अब 'हलादि शेष' (३९६) से अभ्यास के तकार का लोप करने पर 'दिद्युते' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहा लिंट् के कित् (४५२) होने से लघूपधगुण का 'क्ङिति च' (४३३) से निषेध हो जाता है। रूपमाला यथा—दिद्युते, दिद्युताते, दिद्युतिरे। दिद्युतिषे, दिद्युताथे, दिद्युतिध्वे। दिद्युते, दिद्युतिवहे, दिद्युतिमहे।

'स्वापि' का उदाहरण 'सुष्वापयिषति' आदि है।

लुंट—लघूपधगुण हो जाता है। द्योतिता, द्योतितारौ, द्योतितार. । द्योतितासे—। लृंट्—द्योतिष्यते, द्योतिष्येते, द्योतिष्यन्ते। लोंट्—द्योतताम् द्योतेताम्, द्योतन्ताम्। लंड्—अद्योतत, अद्योतेताम् अद्योतन्त। वि० लिंड्—द्योतेत, द्योतेयाताम्, द्योतेरन्। आ०लिंड्—द्योतिषीष्ट, द्योतिषीयास्ताम्, द्योतिषीरन्। लुंड् की प्रक्रिया में अग्रिमसूत्र द्वारा विशेष कार्य विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५३८) द्युद्भ्यो लुंडि ।१।३।९१॥

द्युतादिभ्यो लुंड परस्मैपद वा स्यात्। पुषादि० (५०७) इत्यङ्—अद्युतत्, अद्योतिष्ट। अद्योतिष्यत ॥

अर्थः—द्युत् आदि धातुओं से परे लुंङ् के स्थान पर विकल्प से परस्मैपद प्रत्यय हों।

व्याख्या—द्युद्भ्यः ।५।३। लुंङि ।७।१। वा इत्यव्ययपदम् ('वा क्यषः' से)। परस्मैपदम् ।१।१। ('शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' से)। 'द्युद्भ्यः' में बहुवचन का निर्देश होने से केवल द्युत् का नहीं अपितु द्युतादियों का ग्रहण किया जाता है। धातुपाठ के भ्वादिगण में द्युतादि वाईस धातु पढ़ी गई हैं उन सब का यहां ग्रहण अभीष्ट है[1]। लकार के स्थान पर ही परस्मैपद प्रत्यय हुआ करते हैं अतः 'लुंङि' का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम कर 'लुंङः' बना लिया जाता है। अर्थः—(द्युद्भ्यः) द्युत् आदि धातुओं से परे (लुंङि=लुंङः) लुंङ् के स्थान पर (वा) विकल्प से (परस्मैपदम्) परस्मैपद प्रत्यय हो जाते हैं। द्युतादि सब धातु अनुदात्तेत् हैं अतः जिस पक्ष में परस्मैपद नहीं होगा वहाँ 'अनुदात्तङितः०' (३७८) से आत्मनेपद हो जायेगा।

द्युत् धातु से परस्मैपद करने पर प्र० पु० के एकवचन में 'द्युत्+ति' इस स्थिति में 'इतश्च' (४२४) से इकार का लोप, 'च्लि लुंङि' (४३७) से च्लिप्रत्यय, 'पुषादिद्युतादि०' (५०७) से च्लि को अङ् आदेश, लङ् के ङित् होने के कारण लघूपधगुण का निषेध तथा अन्त में अट् का आगम करने पर 'अद्युतत्' प्रयोग सिद्ध होता है। आत्मनेपद में च्लि को अङ् नही होता अतः च्लि को सिच्, इट्, लघूपधगुण, सकार को षकार तथा ष्टुत्व से तकार को टकार करने से 'अद्योतिष्ट' रूप निष्पन्न होता है। लुंङ् में द्युत् की रूपमाला यथा—(परस्मैपदे) अद्युतत्, अद्युतताम्, अद्युतन्। अद्युतः, अद्युततम्, अद्युतत। अद्युतम्, अद्युताव, अद्युताम। (आत्मनेपदे) अद्योतिष्ट, अद्योतिषाताम्, अद्योतिषत। अद्योतिष्ठाः, अद्योतिषाथाम्, अद्योतिढ्वम्। अद्योतिषि, अद्योतिष्वहि, अद्योतिष्महि।

लृंङ्—अद्योतिष्यत, अद्योतिष्येताम्, अद्योतिष्यन्त।

[लघु०] एवं श्वितां वर्णे ।।५।।

अर्थः—श्वितां (श्वित्) धातु 'सुफेद होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है। इस की प्रक्रिया द्युत् धातु की तरह होती है।

---

१. द्युतादि धातु यथा—(१) द्युतॅ दीप्तौ। (२) श्वितां वर्णे। (३) ञिमिदां स्नेहने। (४) ञिष्विदां स्नेहनमोचनयोः। ञिक्ष्विदां चेत्येके। (५) रुचॅ दीप्तावभिप्रीतौ च। (६) घटॅ परिवर्त्तने। (७—९) रुटॅ लुटॅ लुठॅ प्रतिघाते। (१०) शुभॅ दीप्तौ। (११) क्षुभॅ सञ्चलने। (१२—१३) णभॅ तुभॅ हिंसायाम्। (१४—१६) स्रंसुॅ ध्वंसुॅ भ्रंसुॅ अवभ्रंसने। ध्वंसुॅ गतौ च। भ्रंशॅ इत्यपि केचित्। (१७) स्रम्भुॅ विश्वासे। (१८) वृतुॅ वर्त्तने। (१९) वृधुॅ वृद्धौ। (२०) शृधुॅ शब्दकुत्सायाम्। (२१) स्यन्दूॅ प्रस्रवणे। (२२) कृपूॅ सामर्थ्ये। अन्तिम पाञ्च धातु वृतादि कहलाती हैं।

व्याख्या—श्वितृ धातु का अन्त्य ऋकार अनुदात्त अनुनासिक है अतः इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'श्वित्' ही शेष रहता है। धातु में ऋकार अनुबन्ध का फल 'आदितश्च' (७ २ १६) सूत्र द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध करना है—श्वित्तम्, श्वित्तवान्। श्वेत, श्वित्र (एक प्रकार का त्वग्रोग) आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं। ध्यान रहे कि इस धातु का अर्थ 'श्वेत होना' (To become white) है न कि 'श्वेत करना' (To whiten)। 'श्वेत करना' अर्थ में इसे णिजन्त बनाना पड़ता है—श्वेतयति वस्त्रम्, श्वेतयति भवनम्[1]। संस्कृतसाहित्य में इस का कदाचित्क प्रयोग पाया जाता है। यथा—व्यतिकरितविगन्ता श्वेतमानेयशोभि (मालती० २ ६); सदस्तदश्वेति हसं सदःसदाम् (नैषध० १२ २२ सदःसदाम्=सभ्याना हसं=हसितं तत् सदः=सभा अश्वेति=श्वेतीकृतम्, णिजन्तात् कर्मणि लुङ्)।

श्वित् धातु में कोई नया कार्य नहीं होता। द्युत् धातु की तरह सब कार्य होते हैं। लँट्—श्वेतते, श्वेतेते, श्वेतन्ते। लिँट्—शिश्विते, शिश्विताते, शिश्वितिरे। लुँट्—श्वेतिता, श्वेतितारौ, श्वेतितारः। श्वेतितासे—। लृँट्—श्वेतिष्यते, श्वेतिष्येते, श्वेतिष्यन्ते। लोँट्—श्वेतताम्, श्वेतेताम्, श्वेतन्ताम्। लँङ्—अश्वेतत, अश्वेतेताम्, अश्वेतन्त। वि० लिँङ्—श्वेतेत, श्वेतेयाताम्, श्वेतेरन्। आ० लिँङ्—श्वेतिषीष्ट, श्वेतिषीयास्ताम्, श्वेतिषीरन्। लुँङ्—में पूर्ववत् (५३८) सूत्र से पक्षिक परस्मैपद हो जायेगा। परस्मैपदपक्ष में 'पुषादि०' (५०७) से च्लि को अङ् आदेश हो जाता है। (परस्मैपदे) अश्वितत्, अश्वितताम्, अश्वितन्। (आत्मनेपदे) अश्वेतिष्ट, अश्वेतिषाताम्, अश्वेतिषत। लृँङ्—अश्वेतिष्यत, अश्वेतिष्येताम्, अश्वेतिष्यन्त।

[लघु०] ञिमिदा स्नेहने ॥६॥

अर्थ—ञिमिदा (मिद्) धातु 'चिकना होना, गीला होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इस धातु के आदि में स्थित 'ञि' की 'आदिर्ञिटुडवः' (४६२) से इत्संज्ञा हो जाती है, अन्त्य आकार भी पूर्ववत् इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, इस प्रकार 'मिद्' ही अवशिष्ट रहता है। 'ञि' को इत् करने का फल 'ञितश्च क्तः' (३ २ १८७) द्वारा वर्त्तमान काल में क्तप्रत्यय करना है—मिन्न। मेदिनी, मित्र, मेदुर, मेदस् आदि शब्दों की उत्पत्ति इसी धातु से होती है। इस की प्रक्रिया भी द्युत् धातु की तरह समझनी चाहिये। लँट्—मेदते, मेदेते, मेदन्ते। लिँट्—मिमिदे, मिमिदाते,

---

१ सि० कौ० की बालमनोरमा टीका में 'श्वेतवर्णकरणे श्वेतीभवने वेत्यर्थः' इस प्रकार इसे सकर्मक भी माना गया है। पता नहीं उस लेख का क्या आधार है।

मिमिदिरे । लुँट्—मेदिता, मेदितारौ, मेदितारः । मेदितासे—। लृँट्—मेदिष्यते, मेदिष्येते, मेदिष्यन्ते । लोँट्—मेदताम्, मेदेताम्, मेदन्ताम् । लँङ्—अमेदत, अमेदेताम्, अमेदन्त । वि० लिँङ्—मेदेत, मेदेयाताम्, मेदेरन् । आ० लिँङ्—मेदिषीष्ट, मेदिषीयास्ताम्, मेदिषीरन् । लुँङ्—में पूर्ववत् पाक्षिक परस्मैपद हो कर अङ् आदेश हो जाता है—(परस्मै०) अमिदत्, अमिदताम्, अमिदन् । (आत्मने०) अमेदिष्ट, अमेदिषाताम्, अमेदिषत । लृँङ्—अमेदिष्यत, अमेदिष्येताम्, अमेदिष्यन्त ।

[लघु०] ञिष्विदाँ स्नेहन-मोचनयोः ॥७॥ मोहनयोरित्येके । ञिक्ष्विदाँ चेत्येके ॥

अर्थः—ञिष्विदाँ (स्विद्) धातु 'स्निग्ध होना-पसीना बहाना-पसीने से तर होना तथा छोड़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है । कई लोग 'स्नेहन-मोहनयोः' इस प्रकार पाठ मानते हैं अर्थात् उन के मत में 'छोड़ना' अर्थ नहीं अपितु 'मोहित होना' अर्थ है । कई लोग यहां 'ञिक्ष्विदाँ' (क्ष्विद्) धातु का भी पाठ मानते हैं ।

व्याख्या—ञिष्विदाँ में पूर्ववत् ञि और अनुदात्त आकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है । 'धात्वादेः षः सः' (२५५) से षकार को सकार आदेश हो कर 'स्विद्' बन जाता है । इस की प्रक्रिया भी द्युत् धातु की तरह होती है । रूपमाला यथा—

लँट्—स्वेदते, स्वेदेते, स्वेदन्ते । लिँट्—सिष्विदे, सिष्विदाते, सिष्विदिरे । लुँट्—स्वेदिता, स्वेदितारौ, स्वेदितारः । स्वेदितासे—। लृँट्—स्वेदिष्यते, स्वेदिष्येते, स्वेदिष्यन्ते । लोँट्—स्वेदताम्, स्वेदेताम्, स्वेदन्ताम् । लँङ्—अस्वेदत, अस्वेदेताम्, अस्वेदन्त । वि० लिँङ्—स्वेदेत, स्वेदेयाताम्, स्वेदेरन् । आ० लिँङ्—स्वेदिषीष्ट, स्वेदिषीयास्ताम्, स्वेदिषीरन् । लुँङ्—(परस्मै०) अस्विदत्, अस्विदताम्, अस्विदन् । (आत्मने०) अस्वेदिष्ट, अस्वेदिषाताम्, अस्वेदिषत । लृँङ्—अस्वेदिष्यत, अस्वेदिष्येताम्, अस्वेदिष्यन्त ।

ञिक्ष्विदाँ (क्ष्विद्) पाठ मानने पर रूपमाला यथा—

लँट्—क्ष्वेदते । लिँट्—चिक्ष्विदे । लुँट्—क्ष्वेदिता । लृँट्—क्ष्वेदिष्यते । लोँट्—क्ष्वेदताम् । लँङ्—अक्ष्वेदत । वि० लिँङ्—क्ष्वेदेत । आ० लिँङ्—क्ष्वेदिषीष्ट । लुँङ्—(परस्मै०) अक्ष्विदत् । (आत्मने०) अक्ष्वेदिष्ट । लृँङ्—अक्ष्वेदिष्यत ।

[लघु०] रुचँ दीप्तावभिप्रीतौ च ॥८॥

अर्थः—रुचँ (रुच्) धातु 'चमकना और प्रीति का विषय होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—रुचँ धातु अनुदात्तेत् है । प्रीति का विषय होना-भाना-पसन्द आना अर्थ में प्रीयमाण (प्रसन्न होने वाले) की 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' (१.४.३३) से सम्प्रदान

सञ्ज्ञा हो कर 'चतुर्थी सम्प्रदाने' (२ ३ १३) से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। यथा—मह्य मोदक रोचते। देवदत्ताय अपूपा रोचन्ते। इसी धातु से रोचक, रुचि, रुच् (स्त्री०, शोभा), रुक्म (नपु०, सुवर्ण), विरोचन (सूर्य) आदि शब्द बनते हैं। इस की भी सम्पूर्ण प्रक्रिया द्युत् धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—

लँट्—रोचते, रोचेते, रोचन्ते। लिँट्—रुरुचे, रुरुचाते, रुरुचिरे। लुँट्—रोचिता, रोचितारौ, रोचितार. । रोचितासे—। लृँट्—रोचिष्यते, रोचिष्येते, रोचिष्यन्ते। लोँट्—रोचताम्, रोचेताम्, रोचन्ताम्। लँङ्—अरोचत, अरोचेताम्, अरोचन्त। वि० लिँङ्—रोचेत, रोचेयाताम्, रोचेरन्। आ० लिँङ्—रोचिषीष्ट, रोचिषीयास्ताम्, रोचिषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अरुचत्, अरुचताम्, अरुचन्। (आत्मने०) अरोचिष्ट, अरोचिषाताम्, अरोचिषत। लृँङ्—अरोचिष्यत, अरोचिष्येताम्, अरोचिष्यन्त।

[लघु०] घुटँ परिवर्तने ॥९॥

अर्थ—घुटँ (घुट्) धातु 'परिवर्तन' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् अनुदात्तेत् है। इस का अर्थ 'परिवर्तन' लिखा है। इस की व्याख्या विविध टीकाकार विविध प्रकार से करते हैं। कई टीकाकार 'परितो वर्तन भ्रमण परिवर्तनम्' अर्थात् चारों ओर घूमने को परिवर्तन कहते हैं। घोट, घोटक (घोडा) शब्दों में यही भाव पाया जाता है। श्रीदुर्गादास विद्यावागीश 'गतवत प्रत्यावर्तन परिवर्तनम्' अर्थात् वापस लौटने को परिवर्तन मानते हैं, उन्होंने एक उदाहरण भी यहा दिया है—नदी घोटते (नदी उतार पर है)। उन के मत में इस का एक अर्थ विनिमय भी है। कुछ लोग इस का अर्थ 'घोटना' (औषध आदि का) मानते हैं। सम्भव है हिन्दी के 'घोटना' शब्द का मूल इसी में निहित हो। काशकृत्स्न-धातुपाठ की चन्नवीरकविकृत व्याख्या मे इस धातु का अर्थ 'नाचना' लिखा है। इस धातु की प्रक्रिया भी द्युत् धातु की तरह होती है।

लँट्—घोटते, घोटेते, घोटन्ते। लिँट्—जुघुटे, जुघुटाते, जुघुटिरे। लुँट्—घोटिता, घोटितारौ, घोटितार. । घोटितासे—। लृँट्—घोटिष्यते, घोटिष्येते, घोटिष्यन्ते। लोँट्—घोटताम्, घोटेताम् घोटन्ताम्। लँङ्—अघोटत, अघोटेताम्, अघोटन्त। वि० लिँङ्—घोटेत, घोटेयाताम्, घोटेरन्। आ० लिँङ्—घोटिषीष्ट, घोटिषीयास्ताम्, घोटिषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अघुटत्, अघुटताम्, अघुटन्। (आत्मने०) अघोटिष्ट, अघोटिषाताम्, अघोटिषत। लृँङ्—अघोटिष्यत, अघोटिष्येताम् अघोटिष्यन्त।

[लघु०] शुभँ दीप्तौ ॥१०॥

अर्थ—शुभँ (शुभ्) धातु 'चमकना या शोभा पाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी है। शोभा, शुभ्र,

शुक्ल, शुक्र, शुक आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं। इस धातु की प्रक्रिया भी द्युत् धातु की तरह होती है।

लँट्—शोभते, शोभेते, शोभन्ते। विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः (हितो०)। लिँट्—शुशुभे, शुशुभाते, शुशुभिरे। लुँट्—शोभिता, शोभितारौ, शोभितारः। शोभितासे—। लृँट्—शोभिष्यते, शोभिष्येते, शोभिष्यन्ते। लोँट्—शोभताम्, शोभेताम्, शोभन्ताम्। लँङ्—अशोभत, अशोभेताम्, अशोभन्त। वि० लिँङ्—शोभेत, शोभेयाताम्, शोभेरन्। आ० लिँङ्—शोभिषीष्ट, शोभिषीयास्ताम्, शोभिषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अशुभत्, अशुभताम्, अशुभन्। (आत्मने०) अशोभिष्ट, अशोभिषाताम्, अशोभिषत। लृँङ्—अशोभिष्यत, अशोभिष्येताम्, अशोभिष्यन्त।

[लघु०] क्षुभँ सञ्चलने ॥११॥

अर्थः—क्षुभँ (क्षुभ्) धातु 'व्याकुल व विचलित होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु दिवादि और ऋयादि के परस्मैपद में भी पढ़ी गई है। क्षुब्ध आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं। यहां यह धातु अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी है। सञ्चलनं प्रकृतिविपर्यासो मन्यनं चेति तत्त्वबोधिनी। सञ्चलनं रूपान्यथात्वम् इति क्षीरतरङ्गिणी। इस धातु की प्रक्रिया भी द्युत् धातुवत् होती है। रूपमाला यथा—

लँट्—क्षोभते, क्षोभेते, क्षोभन्ते। लिँट्—चुक्षुभे, चुक्षुभाते, चुक्षुभिरे। लुँट्—क्षोभिता, क्षोभितारौ, क्षोभितारः। क्षोभितासे—। लृँट्—क्षोभिष्यते, क्षोभिष्येते, क्षोभिष्यन्ते। लोँट्—क्षोभताम्, क्षोभेताम्, क्षोभन्ताम्। लँङ्—अक्षोभत अक्षोभेताम्, अक्षोभन्त। वि० लिँङ्—क्षोभेत, क्षोभेयाताम्, क्षोभेरन्। आ० लिँङ्—क्षोभिषीष्ट, क्षोभिषीयास्ताम्, क्षोभिषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अक्षुभत्, अक्षुभताम्, अक्षुभन्। (आत्मने०) अक्षोभिष्ट, अक्षोभिषाताम्, अक्षोभिषत। लृँङ्—अक्षोभिष्यत, अक्षोभिष्येताम्, अक्षोभिष्यन्त।

[लघु०] णभँ हिंसायाम् ॥१२॥

अर्थः—णभँ (नभ्) धातु 'हिंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—णभँ धातु अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी है। 'णो नः' (४५८) सूत्र से इस के णकार को नकार हो कर 'नभ्' बन जाता है। इस धातु के तिङन्त प्रयोग लोक में बहुत ही कम देखे जाते हैं, पर वेद में इन का प्रयोग कई स्थानों पर उपलब्ध होता है। लौकिक अदन्त पुं० नभस (आकाशे नभसो भवेत्—महादेववेदान्तिन् उणा० ३.११७) शब्द इसी धातु से निष्पन्न माना गया है। सकारान्त नपुं० नभस् (आकाश, बादल, श्रावणमास, वर्षा ऋतु आदि) शब्द को पाणिनीयनिकाय में 'नह्' (बन्धने) धातु से निष्पन्न माना जाता है (देखें उणा० ४.२१०), परन्तु श्री भोजराज ने सरस्वती-

कण्ठाभरण में इसे भी नभ् धातु से निष्पन्न माना है। इस धातु की प्रक्रिया लुंड् में द्युत् की तरह तथा अन्यत्र साधारण होती है।

लँट्—नभते, नभेते, नभन्ते। लिँट्—ननभे, ननभाते, ननभिरे। ननभिषे, ननभाथे, ननभिध्वे। ननभे, ननभिवहे, ननभिमहे। (अत एकहल्मध्ये० इत्येत्वाभ्यासलोपौ)। लुँट्—नभिता, नभितारौ, नभितार। नभितासे—। लृँट्—नभिष्यते, नभिष्येते, नभिष्यन्ते। लोँट्—नभताम्, नभेताम्, नभन्ताम्। लँङ्—अनभत, अनभेताम्, अनभन्त। वि० लिँङ्—नभेत, नभेयाताम्, नभेरन्। आ० लिँङ्—नभिषीष्ट, नभिषीयास्ताम्, नभिषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अनभत्, अनभताम्, अनभन्। (आत्मने०) अनभिष्ट, अनभिषाताम्, अनभिषत। लृँङ्—अनभिष्यत, अनभिष्येताम्, अनभिष्यन्त।

[लघु०] तुभँ हिंसायाम् ॥१३॥

अर्थ—तुभँ (तुभ्) धातु 'हिंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—प्रयत्न करने पर भी हमें तुभ् धातु के प्रयोग का कहीं पता नहीं चला। लक्षणैकचक्षुष् भट्टि आदियों की बात जुदा है। अरबी भाषा के 'तोब:' (गुनाह न करने का दृढ निश्चय) शब्द का शायद इस के साथ कुछ सम्बन्ध स्थापित हो सके। यह धातु भी अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी है। इस की प्रक्रिया द्युत् धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—

लँट्—तोभते, तोभेते, तोभन्ते। लिँट—तुतुभे, तुतुभाते, तुतुभिरे। लुँट्—तोभिता, तोभितारौ, तोभितार। तोभितासे—। लृँट्—तोभिष्यते, तोभिष्येते, तोभिष्यन्ते। लोँट्—तोभताम्, तोभेताम्, तोभन्ताम्। लँङ्—अतोभत, अतोभेताम्, अतोभन्त। वि० लिँङ्—तोभेत, तोभेयाताम्, तोभेरन्। आ० लिँङ्—तोभिषीष्ट, तोभिषीयास्ताम्, तोभिषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अतुभत्, अतुभताम्, अतुभन्। (आत्मने०) अतोभिष्ट, अतोभिषाताम्, अतोभिषत। लृँङ्—अतोभिष्यत, अतोभिष्येताम् अतोभिष्यन्त।

[लघु०] स्रसुँ भ्रंसुँ ध्वंसुँ अवस्रंसने। ध्वंसुँ गतौ च ॥१४—१६॥

अर्थ—स्रसुँ भ्रंसुँ ध्वंसुँ (स्रंस्, भ्रंस्, ध्वंस्) धातु 'नीचे गिरना' अर्थ में प्रयुक्त होती हैं। इन में से ध्वंसुँ (ध्वंस्) धातु 'गमन=नष्ट होना' अर्थ में भी प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—अवस्रंसनम् अधःपतनम्, नीचे गिरने को अवस्रंसन कहते हैं। ध्वंसुँ धातु गति-गमन अर्थ में भी प्रयुक्त होती है यहां गमन का अर्थ विनाश है (गतौ=दूरीभावे, ध्वंसते=दूरीभवति=विनश्यति—चन्नवीरकवि)। ये तीनों धातुएं उदित् हैं इन का उकार अनुदात्त है अतः आत्मनेपद सिद्ध हो जाता है। उकार को इत् करने का फल 'उदितो वा' (८८२) से क्त्वा में इट् का विकल्प करना है—स्रंसित्वा-

स्रंसित्वा, भ्रस्त्वा-भ्रंसित्वा ध्वस्त्वा-ध्वंसित्वा। किञ्च क्त्वा में इट् का विकल्प होने से 'यस्य विभाषा' (७.२.१५) द्वारा निष्ठा में इट् नहीं होता—स्रस्तः, स्रस्तवान्, भ्रस्तः, भ्रस्तवान् ; ध्वस्तः, ध्वस्तवान्। कई वैयाकरण 'भ्रंसुँ' के स्थान पर 'भ्रंशुँ' पाठ पढ़ते हैं। भ्रंशुँ का ही निष्ठा में 'भ्रष्टः, भ्रष्टवान्' बनता है। ध्यान रहे कि ये सब धातुएं तथा इन से अगली 'स्रम्भुँ विश्वासे' धातु सोपध हैं। 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से इन में नकार को अनुस्वार हो गया है। स्रम्भुँ में अनुस्वार को 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) द्वारा परसवर्ण-मकार हुआ है[1]।

स्रंसुँ धातु की रूपमाला यथा—लँट्—स्रंसते, स्रंसेते, स्रंसन्ते। गाण्टीवं

---

१. धातुओं के विषय में यह श्लोक कण्ठस्थ कर लेना चाहिये—

नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु।
सकारजः शकारश्चे पवर्गस्तवर्गजः॥

इस श्लोक में धातुविषयक तीन नियम बताये गये हैं। (१) झलि परे अनुस्वारपञ्चमौ नकारजौ मन्तव्यौ। अर्थात् धातुओं में झल् परे होने पर यदि अनुस्वार या पञ्चमवर्ण (ञ्, म्, ङ्, ण्, न्) दिखाई दे तो उसे नकार से उत्पन्न हुआ समझना चाहिये। यथा—स्रंसुँ ध्वंसुँ भ्रंसुँ इन में सकार-झल् परे होने पर अनुस्वार उपलब्ध होता है तो इस की उत्पत्ति नकार से ही समझनी चाहिये। अत एव लुँङ् के परस्मैपद पक्ष में अङ् परे होने पर 'अनिदितां हलः०' (३३४) द्वारा उपधाभूत नकार का लोप हो जाता है—अस्रसत्, अध्वसत्, अभ्रसत् आदि। इसी प्रकार अञ्चु, गुम्फ् आदि धातुओं में ञकार मकार आदि पञ्चमवर्ण भी नकार से उत्पन्न हुए हैं, अतएव आ० लिँङ् में 'अनिदितां हलः०' द्वारा उपधा के नकार का लोप हो जाता है—अञ्च्यात्, गुम्फ्यात् आदि। (२) धातुषु चे = चकारे शकारः सकारजो मन्तव्यः। अर्थात् धातुओं में चकार परे होने पर यदि शकार दृष्टिगोचर हो तो उसे सकार से उत्पन्न हुआ समझना चाहिये। यथा—'लीँदृचूँ छेदने' यहां चकार परे होने पर शकार उपलब्ध होता है तो इस की उत्पत्ति सकार से समझनी चाहिये (स्तोः श्चुना श्चुः)। अतएव 'वव्रश्च' में 'स्कोः०' (३०९) से संयोगादि सकार का लोप हो जाता है। (३) षात् टवर्गः तवर्गजः। अर्थात् धातुओं में रेफ या षकार से परे यदि कहीं टवर्ग दिखाई दे तो उसे तवर्ग से उत्पन्न हुआ समझना चाहिये। यथा—ऊर्णुञ् आच्छादने, ष्ठा गति-निवृत्तौ। प्रथम में रेफ से परे णकार की उत्पत्ति नकार से हुई है अतएव द्वित्व करते समय 'नु' को द्वित्व होता है 'णु' को नहीं। दूसरे में षकार से परे ठकार की उत्पत्ति धकार से हुई है अतएव 'धात्वादेः षः सः' (२५५) से आदि षकार को सकार करते ही 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' से ठकार को तुरन्त धकार हो जाता है—स्थास्यति।

असते हस्तात्—गीता १ ३० । लिंट्—सन्स् धातु संयोगान्त है अत इस से परे 'असंयोगाल्लिंट् कित्' (४५२) द्वारा लिंट् को कित् नहीं माना जाता । कित् न होने से 'अनिदितां हल ०' (३३४) से उपधा के नकार का लोप नहीं होता । सस्रसे, सस्रसाते सस्रसिरे । लुंट्—स्रसिता, स्रसितारौ, स्रसितार । स्रसितासे—। लृट्—स्रसिष्यते, स्रसिष्येते, स्रसिष्यन्ते । लोंट्—स्रसताम्, स्रसेताम् स्रसन्ताम् । लंड्—अस्रंसत, अस्रंसेताम्, अस्रसन्त । वि० लिंड्—स्रसेत, स्रसेयाताम्, स्रसेरन् । आ० लिंड्—स्रसिषीष्ट, स्रसिषीयास्ताम् स्रसिषीरन् । लुंड्—में पूर्ववत् 'धुडुधो लुंडि' (५३८) से पाक्षिक परस्मैपद हो जाता है । परस्मैपद पक्ष में च्लि को 'पुषादिद्युतादि०' (५०७) से अङ् हो कर 'अनिदितां हल ०' (३३४) से उपधा के नकार का लोप हो जाता है । (परस्मै०) अस्रसत्, अस्रसताम्, अस्रसन् । (आत्मने०) आत्मनेपद में कित् च्लि कित् न होने से नकार का लोप नहीं होता । अस्रसिष्ट, अस्रसिषाताम्, अस्रसिषत । लृंड्—अस्रसिष्यत, अस्रसिष्येताम्, अस्रसिष्यन्त ।

इसी प्रकार भ्रसुं की रूपमाला चलती है । लंट्—भ्रसते । लिंट्—बभ्रसे । लुंट्—भ्रसिता । लृंट्—भ्रसिष्यते । लोंट्—भ्रसताम् । लंड्—अभ्रसत । वि० लिंड्—भ्रसेत । आ० लिंड्—भ्रसिषीष्ट । लुंड्—(परस्मै०) अभ्रसत् । (आत्मने०) अभ्रसिष्ट । लृंड्—अभ्रसिष्यत ।

ध्वसुं धातु के रूप भी इसी प्रकार चलते हैं । लंट्—ध्वसते । लिंट्—दध्वसे । लुंट्—ध्वसिता । लृंट्—ध्वसिष्यते । लोंट्—ध्वसताम् । लंड्—अध्वसत । वि० लिंड्—ध्वसेत । आ० लिंड्—ध्वसिषीष्ट । लुंड्—(परस्मै०) अध्वसत् । (आत्मने०) अध्वसिष्ट । लृंड्—अध्वसिष्यत ।

## [लघु०] स्रम्भुं विश्वासे ॥१७॥

अर्थ—स्रम्भुं (स्रम्भ्) धातु 'विश्वास करना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् उदित् और आत्मनेपदी है । उदित्करण का फल भी पूर्ववत् जानना चाहिये । इस धातु का प्राय 'वि' पूर्वक प्रयोग देखा जाता है—विस्रब्ध हरिणाश्चरन्त्यचकिता (भासकृतस्वप्न० १ १२) । रूपमाला यथा—

लंट्—स्रम्भते, स्रम्भेते, स्रम्भन्ते । लिंट्—सस्रम्भे, सस्रम्भाते, सस्रम्भिरे । लुंट्—स्रम्भिता, स्रम्भितारौ, स्रम्भितार । स्रम्भितासे—। लृंट्—स्रम्भिष्यते, स्रम्भिष्येते, स्रम्भिष्यन्ते । लोंट्—स्रम्भताम्, स्रम्भेताम्, स्रम्भन्ताम् । लंड्—अस्रम्भत, अस्रम्भेताम्, अस्रम्भन्त । वि० लिंड्—स्रम्भेत, स्रम्भेयाताम्, स्रम्भेरन् । आ० लिंड्—स्रम्भिषीष्ट, स्रम्भिषीयास्ताम्, स्रम्भिषीरन् । लुंड्—(परस्मै०) अस्रभत्, अस्रभताम्, अस्रभन् । (आत्मने०) अस्रम्भिष्ट, अस्रम्भिषाताम्, अस्रम्भिषत । लृंड्—अस्रम्भिष्यत, अस्रम्भिष्येताम अस्रम्भिष्यन्त ।

[लघु०] वृतुं वर्तने ॥१८॥ वर्त्तते। ववृते। वर्तिता॥

**अर्थः**—वृतुं (वृत्) धातु 'होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

**व्याख्या**—वृतुं में उकार अनुदात्त और अनुनासिक है इस की इत्सञ्ज्ञा हो कर 'वृत्' शेष रहता है। अनुदात्तेत् होने से यह आत्मनेपदी है। इसे उदित् करने का फल 'उदितो वा' (८८२) द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प करना है—वृत्त्वा, वर्तित्वा। किञ्च इस विकल्प के कारण 'यस्य विभाषा' (७.२.१५) द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध हो जाता है—वृत्तः, वृत्तवान्। प्रवृत्ति, निवृत्ति, आवृत्ति, वर्त्मन् (मार्ग) प्रभृति शब्द इसी धातु से बनते हैं।

लँट्—में सर्वत्र लघूपधगुण हो जाता है। वर्तते, वर्तेते, वर्तन्ते। वर्तसे, वर्तेथे, वर्तध्वे। वर्ते, वर्तावहे, वर्तामहे। ध्यान रहे कि 'अचो रहाभ्यां द्वे (६०) से तकार को पाक्षिक द्वित्व हो कर 'वर्त्तते' प्रभृति रूप भी बनेंगे।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में द्वित्व तथा अभ्यासकार्य करने पर 'ववृत्+ए' इस स्थिति में 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से कित्त्व तथा 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) से लघूपधगुण युगपत् प्राप्त होते हैं। इन दोनों के पहले-पीछे होने पर रूप-सिद्धि पर प्रभाव पड़ता है। यदि कित्त्व पहले कर दें तो 'क्ङिति च' (४३३) से गुण का निषेध हो कर 'ववृते' रूप बन जायेगा; और यदि गुण पहले कर दें तो धातु के संयोगान्त हो जाने से कित्त्व नहीं हो सकता तब 'ववर्ते' रूप बनेगा। कित्त्व और गुण दोनों अन्यत्रान्यत्र लब्धावकाश हैं। कित्त्व को 'ईजतुः, ईजुः' में अवकाश है। यहां कित्त्व के कारण यज् धातु को सम्प्रसारण हो जाता है। लघूपधगुण को 'भेत्ता, छेत्ता' आदि में अवकाश प्राप्त है। इन दोनों के विप्रतिषेध में परत्व के कारण गुण होना चाहिये परन्तु 'ऋदुपधेभ्यो लिँटः कित्त्वं गुणात् पूर्वविप्रतिषेधेन' [ऋदुपध धातुओं से परे गुण और कित्त्व के विप्रतिषेध में पूर्वविप्रतिषेध से कित्त्व हो जाता है] इस वार्तिक से प्रथम कित्त्व हो जाता है, तब कित्त्व के कारण 'क्ङिति च' (४३३) से लघूपधगुण का निषेध हो कर 'ववृते' प्रयोग सिद्ध होता है।

**शङ्का**—सिध्, शुच् आदि धातु ऋदुपध नहीं अतः 'सिषिधतुः, शुशुचतुः' आदि प्रयोगों में परत्व के कारण पहले गुण क्यों नहीं हो जाता ?

**समाधान**—वहां नित्य होने से कित्त्व पहले हो जाता है इसलिये गुण नहीं हो सकता। तथाहि—चाहे गुण पहले करें या बाद में कित्त्व की प्राप्ति दोनों अवस्थाओं में बनी रहती है अतः 'कृताऽकृतप्रसङ्गी यो विधिः स नित्यः' के अनुसार कित्त्व नित्य है। परन्तु 'ववृत्+ए' में कित्त्व नित्य नहीं क्योंकि दोनों अवस्थाओं में उस की प्राप्ति नहीं होती। यदि गुण पहले कर दें तो धातु संयोगान्त हो जाती है तब 'असं-

योगाल्लिँट् कित्' (४५२) से कित्त्व की प्राप्ति ही नहीं होती। बस इसी भेद के कारण ऋदुपधों के लिये वार्त्तिक बनाना पड़ा है। 'सिषिषतु' आदियों में स्वत कोई दोष नही आता।

लिँट् मे वृत् की रूपमाला यथा—ववृत, ववृताते, ववृतिरे। ववृतिषे, ववृताथे, ववृतिध्वे। ववृते, ववृतिवहे, ववृतिमहे। लुँट्—वर्तिता, वर्तितारौ, वर्तितार.। वर्तितासे—। अब लृँट् में परस्मैपद का वैकल्पिक विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५३९) वृद्भ्य स्यसनो. ।१।३।९२॥

वृतादिभ्य पञ्चभ्यो वा परस्मैपद स्यात् स्ये सनि च॥

अर्थ—स्य और सन् के विषय में वृत् आदि पाच धातुओं से विकल्प से परस्मैपद हो।

व्याख्या—वृद्भ्य ।५।३। स्यसनो ।७।२। वा इत्यव्ययपदम् ('वा क्वचि' से)। परस्मैपदम् ।१।१। (शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्' से)। 'वृद्भ्य' में बहुवचन के निर्देश के कारण केवल वृत् धातु का नहीं अपितु वृतादि धातुओं का ग्रहण किया जाता है। धुतादियो के अन्तर्गत वृत् आदि पाञ्च धातु वृतादि कहलाते हैं (देखें पृष्ठ २४४ पर टिप्पण)। वृतुं-वृधुं-शृधुं-स्यन्दूं-कृपूं ये पाञ्च धातु वृतादियो के अन्तर्गत आते हैं। अर्थ—(स्यसनो) स्य या सन् के विषय मे (वृद्भ्य) वृत् आदि धातुओ से परे लकार के स्थान पर (वा) विकल्प से (परस्मैपदम्) परस्मैपद हो। वृत् आदि पाचों धातु अनुदात्तेत् हैं अत स्य मे इन से परे 'अनुदात्तङित ०' (३७८) द्वारा तथा सन् में 'पूर्ववत्सन' (७४२) द्वारा आत्मनेपद प्राप्त था परन्तु इस विशेष सूत्र से स्य और सन् में परस्मैपद का वैकल्पिक विधान किया गया है, पक्ष में आत्मनेपद भी होगा। सन् मे उदाहरण—विवृत्सति, विवर्तिषते, शिशृत्सति, शिशृत्सते आदि। 'स्य' का उदाहरण प्रकृत में है—

'वृत्+स्य+लृँट्' इस स्थिति मे प्रकृतसूत्र से लकार के स्थान पर पाक्षिक परस्मैपद हो कर 'वृत्+स्य+ति' हुआ। अब 'स्य' के आर्धधातुक होने के कारण 'आर्धधातुकस्येड्०' (४०१) से इट् का आगम प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(५४०) न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः ।७।२ ५९॥

वृतुं वृधुं-शृधुं स्यन्दूंभ्य सकारादेरार्धधातुकस्येड् न स्यात् तडानयोरभावे। वर्त्स्यति-वर्तिष्यते। वर्तताम्। अवर्तत। वर्तेत। वर्तिषीष्ट। (अवृतत्-) अवर्तिष्ट। अवर्त्स्यत्-अवर्तिष्यत॥

अर्थ—टित् और आन का विषय न हो तो वृत् आदि चार धातुओं (वृत्, वृध्, शृध् और स्यन्द्) से परे सकारादि आर्धधातुक को इट् का आगम न हो।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। वृद्भ्यः ।५।३। चतुर्भ्यः ।५।३। सः ।६।१। ('सेऽसिचि०' से विभक्तिविपरिणाम करके)।आर्धधातुकस्य ।६।१। ('आर्धधातुकस्येड्०' से)। इट् ।१।१। परस्मैपदेषु ।७।३। ('गमेरिट् परस्मैपदेषु' से)। 'सः' यह 'आर्धधातुकस्य' का विशेषण है अतः 'सकारादेः आर्धधातुकस्य' बन जाता है। अर्थः—(वृद्भ्यः) वृत् आदि (चतुर्भ्यः) चार धातुओं से परे (सः=सकारादेः) सकारादि (आर्धधातुकस्य) आर्धधातुक का अवयव (इट्) इट् (न) नहीं होता (परस्मैपदेषु) परस्मैपद-प्रत्यय परे हो तो। वृत् आदि चार धातु द्युतादिगण के अन्तर्गत आ चुके हैं—वृतुं, वृधुं, शृधुं और स्यन्दूं। परस्मैपद का अभिप्राय यहां 'आत्मनेपद के अभाव' से है, इसी लिये तो वृत्ति में 'तङानयोरभावे' कहा गया है अत एव 'विवृत्सिता (तृच्), विवृत्सितुम्' आदि में परस्मैपद परे न होने पर भी इण्निषेध सिद्ध हो जाता है।

'वृत्+स्य+ति' यहां पर आत्मनेपद प्रत्यय नहीं है अतः प्रकृतसूत्र से सकारादि आर्धधातुक 'स्य' को इट् आगम का निषेध हो कर लघूपधगुण करने से 'वर्त्स्यति' प्रयोग सिद्ध होता है। जिस पक्ष में आत्मनेपद होगा वहां इट् का निषेध न होगा—वर्तिष्यते। लृट् में रूपमाला यथा—(परस्मै०) वर्त्स्यति, वर्त्स्यतः, वर्त्स्यन्ति। (आत्मने०) वर्तिष्यते, वर्तिष्येते, वर्तिष्यन्ते।

लोट्—वर्तताम्, वर्तेताम्, वर्तन्ताम्। वर्तस्व, वर्तेथाम्, वर्तध्वम्। वर्ते, वर्तावहै, वर्तामहै। लङ्—अवर्तत, अवर्तेताम्, अवर्तन्त। अवर्तथाः, अवर्तेथाम्, अवर्तध्वम्। अवर्ते, अवर्तावहि, अवर्तामहि। वि० लिङ्—वर्तेत, वर्तेयाताम्, वर्तेरन्। वर्तेथाः, वर्तेयाथाम्, वर्तेध्वम्। वर्तेय, वर्तेवहि, वर्तेमहि। आ० लिङ्—वर्तिषीष्ट, वर्तिषीयास्ताम्, वर्तिषीरन्। वर्तिषीष्ठाः, वर्तिषीयास्थाम्, वर्तिषीध्वम्। वर्तिषीय, वर्तिषीवहि, वर्तिषीमहि।

लुङ्—में 'द्युद्भ्यो लुङि' (५३८) से पाक्षिक परस्मैपद हो जाता है। परस्मैपद में 'पुषादि०' (५०७) से च्लि को अङ् आदेश हो जाता है—अवृतत्, अवृतताम्, अवृतन्। अवृतः, अवृततम्, अवृतत। अवृतम्, अवृताव, अवृताम। आत्मनेपद में इट् का आगम हो जायेगा—अवर्तिष्ट, अवर्तिषाताम्, अवर्तिषत। अवर्तिष्ठाः, अवर्तिषाथाम्, अवर्तिढ्वम्। अवर्तिषि, अवर्तिष्वहि, अवर्तिष्महि।

लृङ्—में 'वृद्भ्यः स्यसनोः' (५३९) से विकल्प कर के परस्मैपद हो जायेगा। परस्मैपदपक्ष में 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' (५४०) से स्य को इडागम का निषेध हो जायेगा। (परस्मै०) अवर्त्स्यत्, अवर्त्स्यताम्, अवर्त्स्यन्। (आत्मने०) अवर्तिष्यत, अवर्तिष्येताम्, अवर्तिष्यन्त।

नोट—यहां तीन बातें ध्यान में रखनी चाहियें—

(१) द्युतादियों से केवल लुंङ् में परस्मैपद का विकल्प होता है ।

(२) परन्तु द्युतादियों के अन्तर्गत वृत्-वृध्-शृध् और स्यन्द् से लुंङ् के अतिरिक्त लृट्, लृङ् तथा सन् में भी परस्मैपद का विकल्प होता है।

(३) वृत् आदि चार धातुओं के परस्मैपद में सकारादि आर्धधातुक को इट् का आगम नहीं हुआ करता ।

उपसर्गयोग—अनु√वृत्=अनुसरण करना, पीछे लगना (प्रभुचित्तमेव हि जनोऽनुवर्त्तते—माघ १५ ४१, प्रजास्तमनुवर्त्तन्ते समुद्रमिव सिन्धव—मनु० ८.१७५)। प्र√वृत्=प्रवृत्त होना, जारी होना, चलना (स्वामिसेवकयोरेव वृत्तिचक्र प्रवर्त्तते—पञ्च० १ ८१, हन्त प्रवृत्त सङ्गीतकम्—मालविका०), फैलना (राजन् ! प्रजासु ते कश्चिदपचार प्रवर्त्तते—रघु० १५ ४७), लगना (प्रवर्त्ताम् प्रकृतिहिताय पार्थिव—शाकुन्तल ७ ३४)। नि√वृत्=लौटना (स त्व निवर्त्तस्व विहाय सज्जाम्—रघु० २.४०), विमुख होना (प्रसभोद्धृत्य निवर्त्तेत सर्वमासस्य भक्षणात्—मनु० ५ ४६)। अति√वृत्=उल्लघन करना (अकृत्यलोभाद् या तु स्त्री भर्त्तारमतिवर्त्तते—मनु० ५ १६१)।आ√वृत्=वापस आना (धेनुरावर्त्तते वनात्—रघु० १ ८२), णिजन्त=माला फेरना (अक्षयवलयमावर्त्तयन्त तापसमदर्शम्—कादम्बरी)। अभि√वृत्=सम्मुख होना, उपस्थित होना (जगामास्त दिनकरो रजनी चाऽभ्यवर्त्तत—रामा० अयो० ४८ ३३)। परि√वृत्=घूमना (चक्रवत् परिवर्त्तन्ते दुःखानि च सुखानि च—सुभाषित० )। निर्√वृत्=पूरा होना, सम्पन्न होना (निर्वर्त्तितास्य यावद्भिरिति कर्त्तव्यता नृभि—मनु० ७ ९१)।बन्द होना, न होना—(निर्वर्त्स्यति ऋतुसघात—भट्टि १६ ६)।णिजन्त=पूरा करना, सम्पन्न करना (स त्व मदीयेन शरीरवृत्ति देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद—रघु० २.४५) । ध्यान रहे कि 'सुखी होना, आनन्दित होना' अर्थ मे निर् पूर्वक 'वृ' धातु का प्रयोग होता है वृत् का नहीं—भजति निर्वृतिमेकपदे मन—विक्रमो० २ २६ , पानीय वा निरायास स्वादन्न वा भयोत्तरम्। विचार्य खलु पश्यामि तत्सुख यत्र निर्वृति—महाभा०।

वृतुं धातु की तरह 'वृधुं वृद्धौ' (बढ़ना) धातु के रूप चलते हैं। लँट्—वर्धते। लिँट्—ववृधे, ववृधाते, ववृधिरे । लुँट्—वर्धिता । लृँट्—वर्त्स्यति वर्धिष्यते । लोँट्—वर्धताम्। लँङ्—अवर्धत। वि० लिँङ्—वर्धेत। आ० लिँङ्—वर्धिषीष्ट। लुँङ्—अवृधत् अवर्धिष्ट। लृँङ्—अवर्त्स्यत्-अवर्धिष्यत।

(द्युतादियों और वृतादियों की चर्चा यहा समाप्त होती है)

[लघु०] दद्रुं दाने ॥१६॥ ददते ॥

अर्थ—दद्रं (दद्) धातु 'देना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

*व्याख्या*—ददँ धातु पूर्ववत् अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी है। लँट्—ददते, ददेते, ददन्ते। लिँट्—में द्वित्व और हलादिशेष करने पर 'द+दद्+ए'। अब यहां 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से लिँट् के कित् होने के कारण 'अत एकहल्०' (४६०) से अकार को एकार तथा अभ्यास का लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से निषेध होता है—

[लघु०] निषेधसूत्रम्—(५४१) न शस-दद-वादि-गुणानाम् ।६।४।१२६॥

शसेर्ददेर्वकारादीनां, गुणशब्देन विहितस्य च योऽकारः, तस्य एत्वाऽभ्यासलोपौ न[1]। ददे, ददाते, ददिरे। ददिता। ददिष्यते। ददताम्। अददत। ददेत। ददिषीष्ट। अददिष्ट। अददिष्यत॥

*अर्थः*—शस्, दद् तथा वकारादि धातुओं के अत् को तथा गुणविधानद्वारा उत्पन्न शब्द के अत् को एत्व नहीं होता किञ्च अभ्यास का लोप भी नहीं होता।

*व्याख्या*—न इत्यव्ययपदम्। शस-दद-वादि-गुणानाम् ।६।३। अतः ।६।१। ('अत एकहल्०' से)। एत् ।१।१। अभ्यासलोपः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् ('ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' से)। व्—वकार आदिर्यस्य स वादिः, बहुव्रीहिः। वकारादिरित्यर्थः। शसश्च ददश्च वादिश्च गुणश्च शसददवादिगुणाः, तेषाम्=शस-दद-वादि-गुणानाम्। शस और दद में अन्त्य अकार उच्चारणार्थ है। अर्थः—(शस-दद-वादि-गुणानाम्) शस्, दद्, वकारादि तथा गुण के अवयव (अतः) अत् के स्थान पर (एत्) एकार आदेश (च) तथा (अभ्यासलोपः) अभ्यास का लोप (न) नहीं होता। यह सूत्र 'अत एकहल्०' (४६०) तथा 'थलि च सेटि' (४६१) का अपवाद है। उदाहरण यथा—

शस्—शसुँ हिंसायाम् (भ्वा० परस्मै०)। लिँट् के अतुस् में द्वित्व और हलादिशेष हो कर 'श+शस्+अतुस्' इस स्थिति में 'अत एकहल्०' (४६०) से एत्व तथा अभ्यासलोप प्राप्त होता था, उस का प्रकृतसूत्र से निषेध करने पर 'शशसतुः' रूप बना। इसी प्रकार 'शशसिथ' में 'थलि च सेटि' (४६१) का निषेध समझना चाहिये।

दद्—'द+दद्+ए' यहां प्रकृतसूत्र से एत्व तथा अभ्यासलोप का निषेध हो कर 'ददे' रूप बनता है।

वकारादि धातु यथा—वम् (टुवमँ उद्गिरणे=वमन करना) के लिँट् में 'व+वम्+अतुस्' इस स्थिति में 'अत एकहल्०' (४६०) से प्राप्त एत्व तथा अभ्यास

---

१. प्रायः लघुकौमुदी के सब संस्करणों में यहां वृत्ति अशुद्ध तथा असंगत दी गई है। हमने यह वृत्ति महा० श्री गिरिधरशर्म चतुर्वेद जी के संस्करण से ली है।

के लोप का प्रकृतसूत्र से निषेध हो कर 'ववमतु' रूप बनता है। इसी प्रकार वन् धातु के 'ववनतु, ववनु' आदि।

गुण— 'पॄ पालनपूरणयो' (जुहो० परस्मै०) के लिट् प्र० पु० के द्विवचन में द्वित्व तथा अभ्यासकार्य करने पर—प+पॄ+अतुस्। अब 'शॄदॄ प्रा ह्रस्वो वा' (६१३) के अभाव में 'ऋच्छत्यृताम्' (६१४) से गुण हो कर 'प+पर्+अतुस्' इस स्थिति में गुण अर् के अवयव[1] अत् को 'अत एकहल्०' (४६०) से एत्वाभ्यासलोप प्राप्त होता है परन्तु प्रकृतसूत्र से उस का निषेध हो कर 'पपर्तु' रूप बनता है। दूसरा उदाहरण यथा—लूञ् छेदने (क्रया० उभय०) के यत् में इट्, द्वित्व तथा अभ्यासह्रस्व करने पर—लु+लू+इय। गुण हो कर—लु+लो+इय। अवादेश हो कर—लु+लव्+इय। अब यहा 'थलि च सेटि' (४६१) से एत्वाभ्यासलोप प्राप्त होता है परन्तु यहा पर अकार, गुण (ओकार) का अवयव है अत प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है—लुलविय। ध्यान रहे कि इस सूत्र में 'गुण' शब्द से गुणविधायकसूत्रद्वारा उत्पन्न गुण का ही ग्रहण अभीष्ट है, 'अ, ए, ओ' वाले अकार का नही, अन्यथा शस् और दद् का ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा। अत एव 'प+पच्+अतुस्' में गुणसञ्ज्ञक के विद्यमान होने पर भी इस निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती, क्योकि यहा गुण का विधान नहीं किया गया वह तो स्वाभाविकरूप से उपस्थित है। इसीलिये तो सूत्र की वृत्ति मे 'गुणशब्देन विहितस्य' कहा गया है। गुणशब्द—गुणविधायकसूत्रम्, तेन विहितस्येति भाव।

दद् की लिट् में रूपमाला यथा—ददे, ददाते, ददिरे। ददिषे, ददाथे, ददिध्वे। ददे, ददिवहे, ददिमहे। लुट्—दरिता, दरितारौ, दरितार। दरितासे—। लृट्—दरिष्यते, दरिष्येते, दरिष्यन्ते। लोट्—ददताम्, ददेताम्, ददन्ताम्। लेट्—अददत, अददेताम्, अददन्त। वि० लिङ्—ददेत, ददेयाताम्, ददेरन्। आ० लिङ्—दरिषीष्ट, दरिषीयास्ताम् दरिषीरन्। लुङ्—अदरिष्ट, अदरिषाताम्, अदरिषत। लृङ्—अदरिष्यत, अदरिष्येताम्, अदरिष्यन्त।

[लघु०] त्रपूँष् लज्जायाम् ॥२०॥ त्रपते ॥

अर्थ—त्रपूँष् (त्रप्) धातु 'लज्जा करना—शरमाना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—त्रपूँष् के षकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा तथा अनुनासिक ऊकार की 'उपदेशेऽजनु०' (२८) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। त्रप् ही अवशिष्ट रहता है। अनुदात्तेत् होने के कारण इस से आत्मनेपद होता है। ऊकार के इत् करने का फल

---

१ 'उरत्परः' (२६) द्वारा विहित रपर भी गुण का अवयव समझा जाता है। अत ऐसे स्थलो पर सम्पूर्ण 'अर्' ही गुणसञ्ज्ञक होता है केवल 'अ' नहीं। इसीलिये तो महाभाष्य मे कहा है—वृद्धिर्भवति गुणो भवतीति रेफशिरा गुणवृद्धिसञ्ज्ञकोऽभिनिर्वर्तते (महाभाष्य ८ २.४२)।

'स्वरतिसूति०' (४७६) द्वारा इट् का विकल्प करना है तथा पकार के इत् करने का फल 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' (३.३.१०४) से अङ् प्रत्यय करना है—त्रप्+अङ्=त्रप, 'स्त्रियां क्तिन्' (८६३) के अधिकार में होने से स्त्रीत्व में टाप् हो कर—त्रपा (लज्जा)।

लँट्—त्रपते, त्रपेते, त्रपन्ते। लिँट्—प्र० पु० एकवचन में त को एश्, द्वित्व तथा हलादिशेष करने पर 'त+त्रप्+ए' इस स्थिति में 'असंयोगाल्लिँट्०' (४५२) से लिँट् के कित् होने पर भी 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) से एत्वाभ्यासलोप प्राप्त नहीं होता कारण कि यहां पर अत् असंयुक्त हलों के मध्य स्थित नहीं। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

## [लघु०] विधि-सूत्रम्—(५४२) तृ-फल-भज-त्रपश्च ।६।४।१२२॥

एषामत एत्वमभ्यासलोपश्च स्यात् किति लिँटि, सेटि थलि च। त्रेपे। त्रपिता-त्रप्ता। त्रपिष्यते-त्रप्स्यते। त्रपताम्। अत्रपत। त्रपेत। त्रपिषीष्ट-त्रप्सीष्ट। अत्रपिष्ट-अत्रप्त। अत्रपिष्यत-अत्रप्स्यत॥

अर्थः- तृ, फल्, भज् और त्रप् धातुओं के अत् को एकार आदेश तथा अभ्यास का लोप हो कित् लिँट् या सेट् थल् परे हो तो।

व्याख्या- तृ-फल-भज-त्रपः ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। अतः ।६।१। (अत एकहल्मध्ये०' से)। एत् ।१।१। अभ्यासलोपः ।१।१। ('घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' से)। किति ।७।२। ('नमहन०' से)। लिँटि ।७।१। (अत एकहल्मध्ये०' से)। 'थलि च सेटि' सूत्र की भी अनुवृत्ति आती है। अर्थः—(तृ-फल-भज-त्रपः) तृ, फल्, भज् और त्रप् धातुओं के (अतः) अत् के स्थान पर (एत्) एकार आदेश (च) तथा (अभ्यासलोपः) अभ्यास का लोप हो जाता है (किति लिँटि) कित् लिँट् (च) अथवा (सेटि थलि) सेट् थल् परे हो तो। उदाहरण यथा—

तॄ—तॄ प्लवनसन्तरणयोः (भ्वा० परस्मै० तरति) के लिँट् प्र० पु० के द्विवचन में द्वित्व तथा अभ्यासकार्य करने पर—त+तॄ+अतुस्। 'ऋच्छत्यृताम्' (६१४) से गुण करने पर—त+तर्+अतुस्। अब यहां गुण शब्द से उत्पन्न 'अर्' को अवयव होने से अत् के स्थान पर एत्व तथा अभ्यासलोप का 'न शस-दद-वादि-गुणानाम्' (५४१) सूत्र से निषेध प्राप्त होता था परन्तु इस सूत्र द्वारा विशेष विधान के कारण एत्वाभ्यासलोप हो जाने से 'तेरतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार थल् में—तेरिथ।

फल्—फल निष्पत्तौ (फलति, भ्वा० परस्मै०)। लिँट् प्र० पु० के द्विवचन में द्वित्व, हलादिशेष तथा अभ्यास को चर्त्व करने पर—प+फल्+अतुस्। यहां लिँट् को मान कर चर्त्व आदेश हुआ है, अतः 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) की प्रवृत्ति नहीं हो सकती थी। अब प्रकृतसूत्र से एत्व तथा अभ्यासलोप करने पर 'फेलतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार थल् में—फेलिथ।

भज्—भजँ सेवायाम् (सेवा करना, भ्वा० उभय०)। लिँट् प्र० पु० के द्विवचन में द्वित्व, हलादिशेष तथा अभ्यास को अश्चुत्व करने पर—ब+भज्+अतुस्। यहा पर भी लिँट् को मान कर भकार को बकार आदेश हुआ है अत 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) सूत्र प्रवृत्त नही हो सकता। अब प्रकृतसूत्र से एत्व तथा अभ्यास का लोप करने पर 'भेजतु' प्रयोग सिद्ध होता है।

त्रप्—'त+त्रप्+ए' यहा प्रकृतसूत्र से अत् को एकार आदेश तथा अभ्यास का लोप करने पर 'त्रेपे' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—त्रेपाते, त्रेपिरे।

लिँट् म० पु० के एकवचन में थास् को से आदेश हो कर—त्रप्+से। यहा वलादि आर्धधातुक को 'आर्धधातुकस्येड्०' (४०१) से नित्य इट् प्राप्त था। परन्तु धातु के ऊदित् होने से 'स्वरतिसूति०' (४७६) द्वारा विकल्प से इट् हो कर—त्रप्+इसे। अब द्वित्व, हलादिशेष तथा 'तृफलभजत्रपश्च' से एत्वाभ्यासलोप करने पर—त्रेपिषे। इट् के अभाव मे—त्रेप्से। इसी प्रकार ध्वम् मे इट्पक्ष मे—त्रेपिध्वे, इट् के अभाव में—'झला जशोऽन्ते' (१६) से पकार को बकार हो कर त्रेब्ध्वे। वसु मस में—त्रेपिवह त्रेप्वहे, त्रेपिम्हे-त्रेप्महे। 'त्रेप्वहे' मे पदान्त यण् न होने से 'अचोऽन्त्यादि टि' (वा० ११) द्वारा अनुनासिक नहीं होता। रूपमाला यथा त्रेपे त्रेपाते, त्रेपिरे। त्रेपिषे-त्रेप्से, त्रेपाथे, त्रेपिध्वे-त्रेब्ध्वे। त्रेपे, त्रेपिवहे-त्रेप्वहे त्रेपिम्हे-त्रेप्महे। ध्यान रहे कि जो लोग 'स्वरतिसूति०' (४७६) वाले विकल्प मे भी क्रादिनियम को प्रवृत्त किया करते हैं उन के मत में लिँट् मे इट् के अभाव वाले रूप नही बनते।

लुँट्—मे 'स्वरतिसूति०' (४७६) से इट् का विकल्प हो जाता है। (इट्पक्षे) अपिता, अपितारौ, अपितार। अपितासे—। (इट् के अभाव में) अप्ता, अप्तारौ, अप्तार। अप्तासे—। लृँट्—(इट्पक्षे) अपिष्यते, अपिष्येते अपिष्यन्ते। (इटोऽभावे) अप्स्यते, अप्स्येते अप्स्यन्ते। लोँट्—अपताम्, अपेताम्, अपन्ताम्। लँङ्—अत्रपत, अत्रपेताम्, अत्रपन्त। वि० लिँङ्—अपेत, अपेयाताम्, अपेरन्। आ० लिँङ्—(इट्पक्षे) अपिषीष्ट, अपिषीयास्ताम्, अपिषीरन्। (इटोऽभावे) अप्सीष्ट, अप्सीयास्ताम्, अप्सीरन्।

लुँङ्—(इट्पक्षे) अत्रपिष्ट, अत्रपिषाताम्, अत्रपिषत। अत्रपिष्ठा, अत्रपिषाथाम्, अत्रपिढ्वम्। अत्रपिषि, अत्रपिष्वहि, अत्रपिष्महि। इट् के अभाव मे—'अत्रप्+स्+त' इस स्थिति मे 'झलो झलि' (८०८) से सकार का लोप हो कर—अत्रप्त। आताम् में 'अत्रप्+स्+आताम्' यहा झल् परे न होने से सकार का लोप नही होता—अत्रप्साताम्। ध्वम् में 'आत्मनेपदेष्वनतः' (५२४) द्वारा अन् आदेश हो कर—अत्रप्ध्वम्। थास् मे 'झलो झलि' से सकार का लोप हो कर—अत्रप्था। ध्वम मे भी सकार का लोप हो कर 'झला जशोऽन्ते' (१६) से पकार को जश्त्व-बकार करा

पर—अत्रब्ध्वम् । रूपमाला—अत्रप्त, अत्रप्साताम्, अत्रप्सत । अत्रप्थाः, अत्रप्साथाम्, अत्रब्ध्वम् । अत्रप्सि, अत्रप्स्वहि, अत्रप्स्महि ।

लृँङ्—(इट्पक्षे) अत्रपिष्यत, अत्रपिष्येताम्, अत्रपिष्यन्त । (इटोऽभावे) अत्रप्स्यत, अत्रप्स्येताम्, अत्रप्स्यन्त ।

## अभ्यास (५)

(१) निम्न प्रश्नों का उत्तर दीजिये—

(क) 'पयस्+धावति' में 'धि च' द्वारा सकारलोप क्यों नही होता ?

(ख) लुँट् के 'एधिता' में टि को एत्व क्यों नहीं होता ?

(ग) सुट् का आगम सीयुट् का अपवाद क्यों नही होता ?

(घ) 'विभाषेटः' में 'अङ्गात्' की अनुवृत्ति क्यों नहीं लाते ?

(ङ) 'पचमान' में टि को एत्व क्यों नहीं होता ?

(च) 'ववृते' में परत्व के कारण गुण क्यों नहीं होता ?

(छ) 'त्रेप्महे' में पकार को जश्त्व तथा अनुनासिक क्यों नहीं होता ?

(ज) लुँङ् के परस्मैपद में द्युत् को लघूपधगुण क्यों नही होता ?

(२) प्रयोजन बतलाएं—

(क) 'आत्मनेपदेष्वनतः' में 'अनतः' के ग्रहण का;

(ख) 'टित आत्मनेपदानां टेरे' मे 'टेः' के ग्रहण का,

(ग) अपूंप् को ऊदित् और पित् करने का;

(घ) 'णिश्रि०' में कर्तरि' के ग्रहण का;

(ङ) 'इणः षीध्वम्०' में 'अङ्गात्' के ग्रहण का;

(च) निस्-निर्, दुस्-दुर् दो दो प्रकार के उपसर्ग पढ़ने का ।

(३) 'न शसदद०' सूत्र की व्याख्या करते हुए 'गुण' शब्द का विवेचन करें ।

(४) 'उदयति' प्रयोग के साधुत्व असाधुत्व पर प्रकाश डालें ।

(५) 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' की वृत्ति में 'तडानयोरभावे' का भाव स्पष्ट करें ।

(६) 'श्रयामन्ता०' सूत्र की उपयोगिता पर एक नोट लिखें ।

(७) 'एधिढ्वम्' मे ढत्व न चाहने वाले वैयाकरण क्या युक्ति देते हैं ?

(८) कम्+णिङ् में उपधावृद्धि का 'क्ङिति च' से निषेध क्यों नहीं होता ?

(९) वृतादि चार और पांच धातु कौन कौन से है ?

(१०) 'प+पच्+अतुस्' मे गुण के विद्यमान रहते 'न शसदद०' से एत्वाभ्यासलोप का निषेध क्यों नही होता ?

(११) 'जिगमिषति' मे सन् परे होने पर भी 'ईद्यति लघोः' क्यों प्रवृत्त नही होता ?

(१२) 'वेदध्वे' मे पदान्त न होते हुए भी जश्त्व कैसे हो जाता है ?

(१३) निम्न सूत्रों की व्याख्या करें—

आम्प्रत्यय०, णेरनिटि, पन्वल्लघुनि०, इण यीध्वम्, द्युतिस्वाप्यो०, इजादेश्च०, णौ चङ्युप०, वृद्भ्य स्यसनो, विभाषेट ।

(१४) वैकल्पिक रूपों का निर्देश करते हुए ससूत्र सिद्धि करें—

असनत्, वत्स्यँति, अवप्त, पलायते, अचोकमत, ऐधिढ्वम्, द्युते, अरुचत्, कामयाञ्चक्रे, एधेय, अपे, एधान्च, एधेते, एधेरन्, अयामास, ददे, कामयियीढ्वम्, एधिताहे, ऐधिषत, वर्तते, कामयते ।

(१५) रूपमाला लिखें—

(क) रुच्, कम्, वृत्, अय् और धप् की—लुंङ् में ।

(ख) एध्, द्युत्, दद्, त्रप्, कम् और अय् की—लिंट् में ।

(ग) अय्, त्रप्, कम् और एध् की—आ० लिंङ् में ।

इत्यात्मनेपदिन.

[यहां पर स्वादिगण के आत्मनेपदी धातुओं का विवेचन समाप्त होता है ।]



# अथोभयपदिनः

अब स्वादिगण के उभयपदी धातुओं का वर्णन प्रारम्भ होता है—

[लघु०] श्रिञ् सेवायाम् ॥१॥ श्रयति, श्रयते । शिश्राय, शिश्रिये । श्रयिता । श्रयिष्यति, श्रयिष्यते । श्रयतु, श्रयताम् । अश्रयत्, अश्रयत । श्रयेत्, श्रयेत । श्रीयात्, श्रयिषीष्ट । चङ्—अशिश्रियत, अशिश्रियत । अश्रयिष्यत्, अश्रयिष्यत ॥

अर्थ—श्रिञ् (श्रि) धातु 'सेवन करना, आश्रय करना, सेवा करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—श्रिञ् धातु से ही आश्रय, प्रश्रय (नम्रता), उच्छ्राय-उच्छ्रय (ऊँचाई), श्री, श्रेणी, श्मश्रु आदि शब्द निष्पन्न होते हैं। इस में ञकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्संज्ञा हो जाती है । चित् होने के कारण 'स्वरितञित०' (३७६) सूत्र से क्रियाफल के कर्त्राभिप्राय होने पर आत्मनेपद अन्यथा परस्मैपद होगा ।

लँट्—'सार्वधातुकार्धं०' (३८८) से गुण तथा 'एचोऽयवायाव' (२०) से एकार को अयादेश हो जाता है । रूपमाला यथा—(परस्मै०) श्रयति श्रयतः श्रयन्ति । (आत्मने०) श्रयते, श्रयेते, श्रयन्ते ।

लिँट्—परस्मैपद में द्वित्व तथा हलादिशेष करने पर—शि+श्रि+अ। अव 'अचो ञ्णिति' (१८२) से वृद्धि-ऐकार हो कर आयादेश हो जाता है—शिश्राय। 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से अनुम् कित् है अतः गुण का निषेध हो कर 'अचि श्नु०' (१९९) से इयँङ् हो जाता है—शिश्रियतुः। ध्यान रहे कि संयोगपूर्व होने के कारण 'एरनेकाच०' (२००) से यण् नहीं होता। 'ऊदुदन्तै०' में परिगणित होने के कारण यह धातु उदात्त है अतः थल् में निर्बाध इट् हो जाता है शिश्रयिथ। रूपमाला यथा—शिश्राय, शिश्रियतुः, शिश्रियुः। शिश्रयिथ, शिश्रियथुः, शिश्रिय। शिश्राय-शिश्रय, शिश्रियिव, शिश्रियिम। (आत्मने०) में सर्वत्र इयँङ् हो जाता है। ध्वम् में 'विभाषेटः' (५२७) से वैकल्पिक दत्व होता है। रूपमाला यथा—शिश्रिये, शिश्रियाते, शिश्रियिरे। शिश्रियिषे, शिश्रियाथे, शिश्रियिढ्वे-शिश्रियिध्वे। शिश्रिये, शिश्रियिवहे, शिश्रियिमहे।

लुँट्—दोनों पदों में गुण हो कर अयादेश हो जाता है। (परस्मै०) श्रयिता, श्रयितारौ, श्रयितारः। श्रयितासि—। (आत्मने०) श्रयिता, श्रयितारौ, श्रयितारः। श्रयितासे—। लृँट्—(परस्मै०) श्रयिष्यति, श्रयिष्यतः, श्रयिष्यन्ति। (आत्मने०) श्रयिष्यते, श्रयिष्येते, श्रयिष्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) श्रयतु-श्रयतात्, श्रयताम्, श्रयन्तु। (आत्मने०) श्रयताम्, श्रयेताम्, श्रयन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अश्रयत्, अश्रयताम्, अश्रयन्। (आत्मने०) अश्रयत, अश्रयेताम्, अश्रयन्त। वि० लिँङ्—(परस्मै०) श्रयेत्, श्रयेताम्, श्रयेयुः। (आत्मने०) श्रयेत, श्रयेयाताम्, श्रयेरन्। आ० लिँङ्—परस्मैपद में 'अकृत्सार्व०' (४८३) से सर्वत्र दीर्घ हो जाता है—श्रीयात्, श्रीयास्ताम्, श्रीयासुः। (आत्मने०) श्रयिषीष्ट, श्रयिषीयास्ताम्, श्रयिषीरन्। श्रयिषीष्ठा, श्रयिषीयास्थाम्, श्रयिषीढ्वम्-श्रयिषीध्वम्। श्रयिषीय, श्रयिषीवहि, श्रयिषीमहि।

लुँङ्—में 'णिश्रिद्रु०' (५२८) से च्लि को चङ्, 'चङि' (५३१) से द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा 'अचि श्नु०' (१९९) से इयँङ् हो जाता है। (परस्मै०) अशिश्रियत्, अशिश्रियताम्, अशिश्रियन्। अशिश्रियः, अशिश्रियतम्, अशिश्रियत। अशिश्रियम्, अशिश्रियाव, अशिश्रियाम। (आत्मने०) अशिश्रियत, अशिश्रियेताम्, अशिश्रियन्त। अशिश्रियथाः, अशिश्रियेथाम्, अशिश्रियध्वम्। अशिश्रिये, अशिश्रियावहि, अशिश्रियामहि।

लृँङ्—(परस्मै०) अश्रयिष्यत्, अश्रयिष्यताम्, अश्रयिष्यन्। (आत्मने०) अश्रयिष्यत, अश्रयिष्येताम्, अश्रयिष्यन्त।

उपसर्गयोग—आश्रयति=आश्रय करता है (सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते—सुभाषित)। समाश्रयति=आश्रय करता है, आलम्बन करता है।

[लघु०] भृञ् भरणे ॥२॥ भरति, भरते। बभार, बभ्रतु, बभ्रुः। बभर्थ। बभृव। बभृम। बभ्रे। बभर्ति। भर्तासि भर्तासे। भरिष्यति, भरिष्यते। भरतु, भरताम्। अभरत्, अभरत। भरेत् भरेत ॥

अर्थ—भृञ् (भृ) धातु 'पालन करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ञित होने से यह धातु भी उभयपदी है।

लँट्—में 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से गुण हो जाता है। (परस्मै०) भरति, भरतः, भरन्ति। (आत्मने०) भरते भरेते, भरन्ते।

लिट—(परस्मै०) णल में वद्धि—बभार। अतुस आदि अपित् 'असंयोगाल्लिट्०' (४९२) से कित् हैं अतः इन में गुण का निषेध हो कर गुण हो जाता है—बभ्रतुः, बभ्रुः। आदियों में 'भ' को भी परिगणित किया गया है अतः 'कृसृभृ०' (४९२) सूत्र से लिट्पात्र में इट का निषेध हो जाता है। थल् में गुण हो कर—बभर्थ। वस् मस में—बभृव, बभृम। रूपमाला तथा बभार बभ्रतुः, बभ्रुः। बभर्थ, बभ्रथः, बभ्र। बभार-बभर, बभृव, बभृम। (आत्मनेपद) में किन्त्व के कारण सर्वत्र गुण-निषेध हो जाता है—बभ्रे, बभ्राते, बभ्रिरे। बभृषे, बभ्राथे, बभृढ्वे। बभ्रे, बभृवहे, बभृमहे।

लुँट—दोनों पदों में इट का निषेध हो कर गुण हो जाता है। (परस्मै०) भर्ता, भर्तारौ, भर्तारः। भर्तासि—। (आत्मने०) भर्ता, भर्तारौ, भर्तारः। भर्तासे—। लृँट—दोनों पदों में 'ऋद्धनो स्ये' (४९७) से इट् का आगम हो जाता है। (परस्मै०) भरिष्यति, भरिष्यतः, भरिष्यन्ति। (आत्मने०) भरिष्यते, भरिष्येते, भरिष्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) भरतु-भरतात्, भरताम्, भरन्तु। (आत्मने०) भरताम्, भरेताम्, भरन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अभरत्, अभरताम्, अभरन्। (आत्मने०) अभरत, अभरेताम्, अभरन्त। वि० लिङ्—(परस्मै०) भरेत्, भरेताम्, भरेयुः। (आत्मने०) भरेत, भरेयाताम्, भरेरन्।

आ० लिङ्—(परस्मै०) में यासुट् का आगम होकर 'भृ+यास् त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५४३) रिङ् शयग्लिङ्क्षु ।७।४।२८॥

शे यकि यादावार्धधातुके लिङि च ऋतो रिङ् आदेश स्यात्। रीङि प्रकृते रिङ्विधानसामर्थ्याद् दीर्घो न। भ्रियात् ॥

अर्थ—श, यक अथवा यकारादि आर्धधातुक लिङ परे हो तो ऋत् (ह्रस्व ऋकार) को रिङ् आदेश हो। रीङि प्रकृते—रीङ् का अनुवर्त्तन हो रहा था पुनः रिङ् विधान के सामर्थ्य से 'अकृत्सार्व०' (४८३) से दीर्घ नहीं होता।

व्याख्या—रिङ् ।१।१। श-यग्-लिँङ्क्षु ।७।३। यि ।७।१। ('अयङ् यि क्ङिति' से)। असार्वधातुके ।७।१। ('अकृत्सार्वधातुक०' से)। ऋतः ।६।१। ('रीङ् ऋतः' से)। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। शश्च यक् च लिँङ् च तेषु शयग्लिँङ्क्षु। विशेषण होने से 'यि' पद के साथ तदादिविधि हो कर 'यकारादौ' बन जाता है 'यकारादौ' विशेषण केवल लिँङ् के साथ ही सम्बद्ध होता है क्योंकि 'श' के साथ असम्भव होने से तथा यक् के साथ व्यर्थ होने से इसका सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। इसी प्रकार 'असार्वधातुके' (आर्धधातुके) विशेषण भी 'लिँङि' के साथ ही समन्वित होता है अन्यों के साथ नहीं। अर्थः—। यि=यकारादौ) यकार जिस के आदि में हो ऐसे (असार्वधातुके) आर्धधातुक (श-यग्-लिँङ्क्षु) लिँङ् के परे होने पर अथवा 'श' व 'यक्' प्रत्यय के परे होने पर (ऋतः=ऋदन्तस्य) ऋदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (रिङ्) रिङ् आदेश हो। ङित् होने से यह रिङ् आदेश 'ङिच्च' (४६) सूत्र द्वारा अन्त्य अल् ऋकार के स्थान पर होता है। उदाहरण यथा—

'श' परे होने पर—आदृर्वक 'दृङ् आदरे' (तुदा० आत्मने०) धातु से लँट् प्र० पु० के एकवचन में 'तुदादिभ्यः श' (६५१) से शप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा टि को एत्व करने पर 'आद्+अ+ते' इस स्थिति में 'श' के परे होने पर ऋकार को रिङ् आदेश हो कर—आद्रि+अ+ते। अब 'अचि श्नु०' (१९९) से इकार को इयँङ् आदेश करने से 'आद्रियते' प्रयोग सिद्ध होता है।

'यक्' परे होने पर - 'डुकृञ् करणे' (तना० उभय०) धातु के कर्मवाच्य के लँट् के एकवचन में 'सार्वधातुके यक्' (७१२) द्वारा यक् विकरण करने पर—कृ+य+ते। यहां यक् परे है अतः प्रकृतसूत्र से ऋकार को रिङ् आदेश हो कर 'क्रियते' प्रयोग सिद्ध होता है। यक् का उदाहरण कर्मणि 'आद्रियते' भी हो सकता है।

यकारादि आर्धधातुक लिँङ् परे होने पर - 'भृ+यास्त्' यहां 'यासुट्' की 'लिँङाशिषि' (४२१) से आर्धधातुकसञ्ज्ञा है और यह यकारादि भी है अतः इस के परे होने पर प्रकृतसूत्र से ऋकार को रिङ् आदेश हो कर सयोगादि सकार का लोप करने से 'भ्रियात्' प्रयोग सिद्ध होता है।

शङ्का—'भ्रियात्, क्रियते' आदि में यकारादि आर्धधातुक परे होने से 'अकृत्सार्व०' (४८३) से दीर्घ क्यों नहीं होता ?

समाधान—अष्टाध्यायी में इस सूत्र से पूर्व 'रीङ् ऋतः' (७४.२७) सूत्र पढा गया है। उस में रीङ् का विधान किया गया है। यदि भ्रियात् आदि में रिङ् को दीर्घ कर के रीङ् करना ही अभीष्ट होता तो प्रकृतसूत्र में रिङ् का विधान ही न करने पिछले अनुवर्त्यमान रीङ् से ही काम चल सकता था। अतः इस से प्रतीत होता है कि आचार्य यहां रिङ् को दीर्घ कर के रीङ् बनाना नहीं चाहते। [यदि

कोई यह कहे कि रिङ् आदेश तो 'श' (अ) के लिये जरूरी था क्योंकि वहा यकारादि आर्धधातुक परे न रहने से दीर्घ करना अभीष्ट न था तो यह कथन भी युक्त नहीं, कारण कि रीङ् की अनुवृत्ति लाने पर भी 'श' के परे होने पर इयँङ् आदेश हो कर 'आद्रियते' आदि सिद्ध हो सकते थे।]

लिंङ् के साथ 'यकारादि' विशेषण लगाने से 'भूयीष्ट' आदि में तथा 'आर्धधातुक' विशेषण लगाने से 'बिभूयात्' (वि० लिंङ्) आदि में रिङ् आदेश नहीं होता।

'भृ' की आ० लिंङ् मे रूपमाला यथा—भ्रियात्, भ्रियास्ताम्, भ्रियासु।

आ० लिंङ् के आत्मनेपद मे सीयुट् और सुट् का आगम करने पर 'भृ+सीय् स् त' इस अवस्था मे आर्धधातुक परे होने पर 'सावधातुकार्धं०' (३८८) से गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५४४) उश्च।१।२।१२॥

ऋवर्णात्परो झलादी लिंङ्सिचौ कितौ स्तस्तद्धि। भृषीष्ट, भृषीयास्ताम्। अभार्षीत्॥

अर्थ,—ऋवर्ण से परे आत्मनेपदविषयक झलादि लिंङ् और सिच् कित् हों।

व्याख्या—उ (यह 'ऋ' शब्द के षष्ठी का एकवचन है)। च इत्यव्ययपदम्। झलौ।१।२। ('इको झल्' से वचनविपरिणाम कर के)। लिंङ्सिचौ।१।२। आत्मनेपदेषु।७।३। ('लिंङ्सिचावात्मनेपदेषु' से)। कितौ।१।२। ('असंयोगाल्लिट् कित्' से वचनविपरिणाम कर के)। 'झलौ यह 'लिंङ्सिचौ' का विशेषण है अत तदादिविधि हो कर 'झलादी लिंङ्सिचौ' बन जाता है। अर्थ—(उ) ऋवर्ण से परे (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद के विषय में (झलौ=झलादी) झलादि (लिंङ्सिचौ) लिंङ् और सिच् प्रत्यय (कितौ) कित् अर्थात् कित्वत् होते हैं। कित्वत् होने से ऋवर्ण को गुण नही होता। उदाहरण यथा—

'भृ+सीय् स् त' यहां पर ऋवर्ण से परे 'सीयुट्त' यह झलादि लिंङ् कित् हो गया तो ऋकार को प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' (४३३) द्वारा निषेध हो कर यकार का लोप तथा षत्व और ष्टुत्व करने से 'भृषीष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। सिच् का उदाहरण आगे लुंङ् मे देखें।

यहां 'आत्मनेपदेषु' इसलिये कहा है कि 'अकार्षीत्' आदि परस्मैपद में सिच् कित् न हो जाये वरना 'सिचि वृद्धि०' (४८४) से वृद्धि न हो सकती। 'झलादि' के कथन से 'वरिषीष्ट, अवरिष्ट' आदियो मे लिंङ् और सिच् कित् नही होते।

आ० लिंङ् आत्मनेपद मे भृ की रूपमाला यथा—भृषीष्ट, भृषीयास्ताम्, भृषीरन्। भृषीष्ठा, भृषीयास्थाम्, भृषीढ्वम् (इण षीध्०)। भृषीय, भृषीवहि, भृषीमहि।

लुँङ्—परस्मैपद में 'सिचि वृद्धिः०' (४८४) से सर्वत्र ऋवर्ण को आर् वृद्धि हो जाती है—अभार्षीत्, अभार्ष्टाम्, अभार्षुः। अभार्षीः, अभार्ष्टम्, अभार्ष्ट। अभार्षम्, अभार्ष्व, अभार्ष्म। आत्मनेपद प्र० पु० के एकवचन में 'अभृ+स्+त' इस स्थिति में 'उश्च' (५४४) सूत्र से झलादि सिँच् के कित् हो जाने से 'सार्वधातुकार्धः' (३८८) से गुण नहीं होता। अब अग्रिमसूत्र द्वारा सकार का लोप विधान करते हैं --

[लघु०] विधि सूत्रम्—(५४५) ह्रस्वादङ्गात् ।८।२।२७॥

सिँचो लोपो झलि। अभृत। अभृषाताम्। अभरिष्यत्, अभरिष्यत।

अर्थः—ह्रस्वान्त अङ्ग से परे सिँच् का लोप हो झल् परे हो तो।

व्याख्या—ह्रस्वात् ।५।१। अङ्गात् ।५।१। सस्य ।६।१। ('रात्सस्य' से)। लोपः ।१।१। ('संयोगान्तस्य लोपः' से)। झलि ।७।१। ('झलो झलि' से)। 'ह्रस्वात्' यह 'अङ्गात्' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'ह्रस्वान्तादङ्गात्' बन जाता है। अर्थः—(ह्रस्वात्) ह्रस्वान्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (सस्य) सकार का (लोपः) लोप हो जाता है (झलि) झल् परे हो तो। यहां महाभाष्यकार ने सकार से सिँच् का ग्रहण माना है इस से द्विष्टराम्, द्विष्टमाम् आदि में सुच् के सकार का लोप नहीं होता[1]।

'अ भृ+स्+त' यहां पर तकार-झल् परे है अतः ह्रस्वान्त अङ्ग 'भृ' से परे प्रकृतसूत्र से सकार का लोप हो कर—अभृत। द्विवचन में—अभृषाताम्, यहां झल् परे न होने से सकार का लोप नहीं होता। इसी प्रकार बहुवचन में—अभृषत ('आत्मनेपदेष्वनतः' ५२४)। रूपमाला यथा—अभृत, अभृषाताम्, अभृषत। अभृथाः (ह्रस्वादङ्गात्), अभृषाथाम्, अभृढ्वम् (इणः षीध्वं०)। अभृषि, अभृष्वहि, अभृष्महि [वकार मकार झल् में नहीं आते अतः वहि, महिङ् में सिँच् का लोप नहीं होता]।

सूत्र में ह्रस्वात्' के कथन से 'अनेष्ट' आदि में तथा 'अङ्गात्' कहने से 'आतिष्टाम्' आदि में इट् से परे सकार का लोप नहीं होता।

लृँङ्—दोनों पदों में 'ऋद्धनोः स्ये' (४९७) से इट् का आगम हो जाता है। (परस्मै०) अभरिष्यत्, अभरिष्यताम्, अभरिष्यन्। (आत्मने०) अभरिष्यत, अभरिष्येताम्, अभरिष्यन्त।

[लघु०] हृञ् हरणे ॥३॥ हरति, हरते। जहार, जहर्थ, जहृव, जहृम।

---

१. द्विशब्द से 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' (५.४.१८) से सुच् प्रत्यय हो कर सुजन्त से तरप्-तमप् प्रत्यय हो जाते हैं।

जहे, जह्रिपे। हर्ता। हरिष्यति, हरिष्यते। हरतु, हरताम्। अहरत्। हरेत्, हरेत। हियात्। हर्षीष्ट हृषीयास्ताम्। अहार्षीत्, अहृत। अहरिष्यत्, अहरिष्यत॥

अर्थ—हृञ् (हृ) धातु 'हरण करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—हृञ् धातु भी ञित् होने से उभयपदी है। हरण के चार अर्थ हैं—(१) प्रापण=ले जाना (यथा—भारं हरति भार को ले जाता है)। (२) स्वीकार=स्वीकार करना (यथा—भागं हरति—अपने भाग को स्वीकार करता है)। (३) स्तेय=चुराना (यथा—धनं हरति—धन को चुराता है)। (४) (नाशन)=नाश करना (यथा—वैद्यो रोगं हरति—वैद्य रोग का नाश करता है)। लिट् को छोड़कर हृञ् धातु की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'भृञ्' धातु की तरह होती है।

लट्—(परस्मै०) हरति, हरतः, हरन्ति। (आत्मने०) हरते, हरेते, हरन्ते।

लिट्—'ऊदुपधाया०' के अनुसार हृञ् धातु अनुदात्त है। आदियों में इस का परिगणन नहीं किया गया अतः आदिनियम से लिट् में वह सेट् हो जायेगी। यङ् में 'अचस्तास्वत्०' (४८०) द्वारा इट् का निषेध होगा। ऋदन्त होने से भारद्वाजनियम की प्रवृत्ति न होगी। इस प्रकार यङ् के अतिरिक्त लिट् में अन्यत्र इट् हो जायेगा। (परस्मै०) जहार, जहरतुः जहरुः। जहर्थ, जहरथुः, जहर। जहार-जहर, जहरिव, जहरिम। (आत्मने०) जहरे, जहराते, जहिरे। जहिरिषे, जहराथे, जहिढ्वे जहिध्वे (विभाषेट ५२७)। जहरे, जहिरवहे, जहिरमहे।

लुट्—(परस्मै०) हर्ता हर्तारौ, हर्तारः। हर्तासि—। (आत्मने०) हर्ता, हर्तारौ, हर्तारः। हर्तासे—। लृट्—(परस्मै०) हरिष्यति, हरिष्यतः, हरिष्यन्ति। (आत्मने०) हरिष्यते हरिष्येते, हरिष्यन्ते। लोट्—(परस्मै०) हरतु-हरतात्, हरताम्, हरन्तु। (आत्मने०) हरताम्, हरेताम् हरन्ताम्। लङ्—(परस्मै०) अहरत्, अहरताम्, अहरन्। (आत्मने०) अहरत, अहरेताम्, अहरन्त। वि० लिङ्—(परस्मै०) हरेत्, हरेताम्, हरेयुः। (आत्मने०) हरेत, हरेयाताम्, हरेरन्। आ० लिङ्—(परस्मै०) हियात्, हियास्ताम्, हियासुः। (आत्मने०) हृषीष्ट, हृषीयास्ताम्, हृषीरन्। लुङ्—(परस्मै०) अहार्षीत्, अहार्ष्टाम्, अहार्षुः। (आत्मने०) अहृत, अहृषाताम्, अहृषत। लृङ्—(परस्मै०) अहरिष्यत्, अहरिष्यताम्, अहरिष्यन्। (आत्मने०) अहरिष्यत, अहरिष्येताम्, अहरिष्यन्त।

उपसर्गयोग—प्र+हरति=प्रहार करता है। अनु+हरति=अनुकरण करता है। अप+हरति=अपहरण करता है। सम्+हरति=संहरति=संहार करता है। वि+हरति=विहार वा क्रीड़ा करता है। आ+हरति=लाता है। परि+हरति=छोड़ता है। उद्+हरति=उद्धरति=उद्धार करता है (अयो होम्न-

तरस्याम् ७५)। प्रति+हरति=पहरा देता है। उप+हरति=भेंट देता है। अभि+अव+हरति=अभ्यवहरति=खाता है।

[लघु०] धृञ् धारणे ॥४। धरति, धरते ॥

अर्थः—धृञ् (धृ) धातु 'धारण करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—धृञ् धातु की समग्र प्रक्रिया हृञ् धातु की तरह होती है। रूप-माला यथा—

लँट्—(परस्मै०) धरति, धरतः, धरन्ति। (आत्मने०) धरते, धरेते, धरन्ते। लिँट्—(परस्मै०) दधार, दध्रतुः दध्रुः। दधर्थ, दध्रथुः, दध्र। दधार-दधर, दध्रिव, दध्रिम। (आत्मने०) दध्रे, दध्राते, दध्रिरे। दध्रिषे, दध्राथे, दध्रिढ्वे-दध्रिध्वे। दध्रे, दध्रिवहे, दध्रिमहे।

लुँट्—(परस्मै०) धर्ता, धर्तारौ, धर्तारः। धर्तासि—। (आत्मने०) धर्ता, धर्तारौ, धर्तारः। धर्तासे—। लृँट्—(परस्मै०) धरिष्यति, धरिष्यतः, धरिष्यन्ति। (आत्मने०) धरिष्यते, धरिष्येते, धरिष्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) धरतु-धरतात्, धरताम्, धरन्तु। (आत्मने०) धरताम्, धरेताम्, धरन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अधरत्, अधरताम्, अधरन्। (आत्मने०) अधरत, अधरेताम्, अधरन्त। वि० लिँङ्—(परस्मै०) धरेत्, धरेताम्, धरेयुः। (आत्मने०) धरेत, धरेयाताम्, धरेरन्। आ० लिँङ्—(परस्मै०) ध्रियात्, ध्रियास्ताम्, ध्रियासुः। (आत्मने०) धृषीष्ट, धृषीयास्ताम्, धृषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अधार्षीत्, अधार्ष्टाम्, अधार्षुः। (आत्मने०) अधृत, अधृषाताम्, अधृषत। लृँङ्—(परस्मै०) अधरिष्यत्, अधरिष्यताम्, अधरिष्यन्। (आत्मने०) अधरिष्यत, अधरिष्येताम्, अधरिष्यन्त।

[लघु०] णीञ् प्रापणे ॥५॥ नयति, नयते ॥

अर्थः—णीञ् (नी) धातु 'ले जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—ञित् होने से यह धातु उभयपदी है। 'णो नः' (४५८) द्वारा इस के आदि णकार को नकार आदेश हो कर 'नी' धातु बन जाती है। णोपदेश का फल

---

१. यहां पर प्रापण (ले जाना) अर्थ का व्यापक अर्थों में प्रयोग समझना चाहिये। यथा—(समय आदि को गुजारना) संविष्टः कुशशयने निशां निनाय—रघु० १.९५; येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनान्यनायिषत—भामिनीविलास १.१०। (प्रेरणा करना—सञ्चालन करना) मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः—मालविकाग्नि० १.२। (पहुंचाना) ग्राममजां नयति—सि० कौ०। (निश्चय करना) एतैर्लिङ्गैर्नयेत् सीमाम्—मनु० ८.२५२। (किसी अवस्थाविशेष आदि को ले जाना) वशमनयत्—रघु० ८.१६। इत्यादि।

'प्र+नयति=प्रणयति' आदि में 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (४५६) द्वारा णत्व करना है।

लँट—'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से ईकार को एकार गुण हो कर अयादेश हो जाता है। (परस्मै०) नयति, नयतः, नयन्ति। (आत्मने०) नयते, नयेते नयन्ते।

लिँट्—एकाच् अनुदात्त होने के कारण 'नी' धातु अनिट् है। क्रादिनियम से लिँट्मात्र में इसे इट् प्राप्त होता है। परन्तु थल् में 'अचस्तास्वत्०' (४८०) से पुन निषेध हो जाता है। इस पर ऋदन्त भिन्न होने से भारद्वाजनियम से थल् में इट् का विकल्प हो जाता है। इस प्रकार यह धातु थल् में वेट् तथा अन्यत्र लिँट् में सेट् है। (परस्मै०) निनाय, निन्यतुः[1], निन्युः। निनयिथ-निनेथ, निन्यथुः, निन्य। निनाय-निनय, निन्यिव, निन्यिम। (आत्मने०) निन्ये, निन्याते, निन्यिरे। निन्यिषे, निन्याथे, निन्यिढ्वे निन्यिध्वे। निन्ये, निन्यिवहे, निन्यिमहे।

लुँट्—दोनों पदों में गुण हो जाता है। (परस्मै०) नेता, नेतारौ, नेतारः। नेतासि—। (आत्मने०) नेता, नेतारौ, नेतारः। नेतासे—। लृँट्—(परस्मै०) नेष्यति, नेष्यतः, नेष्यन्ति। (आत्मने०) नेष्यते, नेष्येते, नेष्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) नयतु-नयतात् नयताम् नयन्तु। (आत्मने०) नयताम्, नयेताम्, नयन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अनयत्, अनयताम्, अनयन्। (आत्मने०) अनयत, अनयेताम्, अनयन्त। वि० लिँङ्—(परस्मै०) नयेत्, नयेताम्, नयेयुः। (आत्मने०) नयेत, नयेयाताम्, नयेरन्। आ० लिँङ्—परस्मैपद में सवत्र 'अकृत्सार्व०' (४८३) से सर्वत्र यवल्लक्षण-प्रवृत्तिन्याय से दीर्घ हो जाता है—नीयात्, नीयास्ताम्, नीयासुः। (आत्मने०) नेषीष्ट, नेषीयास्ताम्, नेषीरन्। लुँट्—परस्मैपद में 'सिचि वृद्धि०' (४८४) से वृद्धि हो जाती है—अनैषीत्, अनैष्टाम्, अनैषुः। (आत्मने०) अनेष्ट, अनेषाताम्, अनेषत। लृँङ्—(परस्मै०) अनेष्यत्, अनेष्यताम्, अनेष्यन्। (आत्मने०) अनेष्यत, अनेष्येताम्, अनेष्यन्त।

उपसर्गयोग—प्र√नी (प्रणी)=बनाना—रचना करना—उत्पन्न करना आदि (सगशेषप्रणयनात्—कुमार० ६ ६, काकप्रणीतेन हुताशनेन—पञ्चतन्त्र ३ १)।

अप√नी=दूर हटाना—भगाना (शत्रूनपनेष्यामि—भट्टि० १६ ३०)।

अभि√नी=निकट लाना (तटाभिनीतेनाम्भसा—किरात० ८ ३२), अभिनय करना (सकोचेनव दोष्णा मुहुरभिनयन सर्वलोकातिगानाम्—मुद्रा० १ २)।

---

१ 'नी+अतुस्' मे 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) के अनुसार पहले द्वित्व हो जायेगा—नि+नी+अतुस्। अब 'अचि श्नु०' (१६६) से प्राप्त उवङ् का बाध कर 'एरनेकाच०' (२००) से यण् हो जाता है।

निर्√नी (निर्णी)=निर्णय करना (भव हृदय साभिलाषं सम्प्रति सन्देह-निर्णयो जातः—शाकुन्तल १.३०; कथं निर्णीयते परः—हितोप०)।

परि√नी (परिणी)=विवाह करना (परिणेष्यति पार्वतीं यदा—कुमार० ४.४२)।

आ√नी=निकट लाना (मत्पार्श्वमानीयते शाकुन्तल ७.८)।

प्रति+आ√नी (प्रत्यानी)=वापस लौटाना प्रत्यानेष्यामि शत्रुभ्यो वन्दीमिव जयश्रियम्—कुमार० २.५२)।

उद्√नी (उन्नी)=ऊपर उठाना—उछालना (दण्डमुन्नयते—सि० कौ०, 'सम्माननोत्सञ्जन०' १.३.३६ इत्यात्मनेपदम्); पहचानना (कथमपि स इत्युन्नेतव्यस्तयापि दृशोः प्रियः—उत्तर० ३.२२)।

सम्+उद्+नी (समुन्नी)=उन्नत करना—बढ़ाना—उत्कर्ष को ले जाना (समुन्नयन् भूतिमनार्यसङ्गमाद् वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः—किरात० १.८)।

उप√नी=पास ले जाना (आर्यस्यासनमुपनय—मृच्छकटिक); प्राप्त होना—निकट आना (मत्सम्भोगः कथमुपनयेत् मेघ० २.२८); उपनयनद्वारा अपने समीप लाना (माणवकमुपनयते—सि० कौ०, १.३.३६ इत्यात्मनेपदम्)।

वि√नि=शिक्षित करना—सिखाना (विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम्—रघु० ३.२६; विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान्—रघु० २.८); व्यय करना (शतं विनयते—सि० कौ०, १.३.३६ इत्यात्मनेपदम्); ऋण आदि का चुकाना (करं विनयते—सि० कौ०, १.३.३६ इत्यात्मनेपदम्); दूर करना (क्रोधं विनयते—सि० कौ०, 'कर्तृस्थे चाऽशरीरे कर्मणि' १.३.३७ इत्यात्मनेपदम्)।

[लघु०] डुपचँष् पाके॥६॥ पचति, पचते। पपाच। पेचिथ-पपक्थ। पेचे। पक्ता॥

अर्थः—डुपचँष् (पच्) धातु 'पकाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—'आदिर्ञिटुडवः' (४३२) से 'डु' की, 'हलन्त्यम्' (१) से पकार की, तथा 'उपदेशेऽजनु०' (२८) से स्वरित अनुनासिक अकार की इत्संज्ञा हो कर 'पच्' अवशिष्ट रहता है। स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी है। डु के इत् का फल 'डुवितः क्त्रिः' (८५७) से क्त्रिप्रत्यय करना है—पक्त्रिमम्। पकार के इत् का फल 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' (३.३.१०४) द्वारा अङ्प्रत्यय करना है—पचा। यह धातु द्विकर्मक है इस का विवेचन कारकप्रकरण में देखें—तण्डुलान् ओदनं पचति।

लँट्—(परस्मै०) पचति, पचतः, पचन्ति। (आत्मने०) पचते, पचेते, पचन्ते।

लिँट्—(परस्मै०) णल् में 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि हो कर—पपाच। अतुस् के कित् होने से 'प+पच्+अतुस्' इस स्थिति में 'अत एकहल्०' (४६०) द्वारा अत् को एकार तथा अभ्यास का लोप हो कर—पेचतुः। इसी प्रकार

उस् मे—पेचु । चकारान्त अनुदात्तों मे परिगणित होने से यह धातु अनुदात्त है अत अनिट् है । लिँट् मे क्रादिनियम से सवत्र इट् प्राप्त होता है परन्तु थल् में 'उपदेशेऽजनत' (४८१) से इण्निषेध हो कर भारद्वाजनियम से विकल्प हो जाता है । थल् मे इट् के अभाव मे 'चो कु' (३०६) से चकार को ककार हो कर 'पपक्थ' बनता है । इट्पक्ष में 'थलि च सेटि' (४६१) से एत्वाभ्यासलोप हो कर—पेचिथ । रूपमाला—पपाच, पेचतु, पेचु । पेचिथ-पपक्थ, पेचथु, पेच । पपाच-पपच्च, पेचिव, पेचिम । (आत्मने०) में लिँट् कित् होता है अत सर्वत्र एत्वाभ्यासलोप हो जाता है । रूपमाला यथा—पेचे, पेचाते, पेचिरे । पेचिषे, पेचाथे, पेचिध्वे । पेचे, पेचिवहे, पेचिमहे ।

लुँट्—अनुदात्त होने से सर्वत्र इट् का अभाव तथा झल् परे रहने से कुत्व हो जाता है । (परस्मै०) पक्ता, पक्तारौ, पक्तार । पक्तासि—। (आत्मने०) पक्ता, पक्तारौ, पक्तार । पक्तासे—। लृँट्—में 'चो कु' (३०६) से कुत्व तथा 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) से सकार को षकार हो कर क्+ष् का योग क्ष् हो जाता है । (परस्मै०) पक्ष्यति, पक्ष्यत, पक्ष्यन्ति । (आत्मने०) पक्ष्यते, पक्ष्येते, पक्ष्यन्ते । लोँट्—(परस्मै०) पचतु-पचतात्, पचताम्, पचन्तु । (आत्मने०) पचताम्, पचेताम्, पचन्ताम् । लँङ्—(परस्मै०) अपचत्, अपचताम्, अपचन् । (आत्मने०) अपचत, अपचेताम्, अपचन्त । वि० लिँङ्—(परस्मै०) पचेत्, पचेताम, पचेयु । (आत्मने०) पचेत, पचेयाताम्, पचेरन् । आ० लिँङ्—(परस्मै०) मे झल् परे न होने से कुत्व नहीं होता—पक्ष्यात्, पक्ष्यास्ताम्, पक्ष्यासु । (आत्मने०) मे कुत्व हो कर षत्व हो जाता है—पक्षीष्ट, पक्षीयास्ताम्, पक्षीरन् ।

लुँङ्—प्र० पु० के एकवचन मे च्लि, सिच्, अपृक्त को ईट् का आगम तथा अङ्ग को अट् का आगम हो कर 'अपच्+स्+ईत्' इस स्थिति मे 'वदव्रज०' (४८५) से वृद्धि, 'चो कु' (३०६) से कुत्व तथा 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) से षत्व हो कर—अपाक्षीत् । द्विवचन मे वृद्धि हो कर 'अपाच्+स्+ताम्' इस स्थिति मे 'झलो झलि' (४७८) से सकार का लोप तथा चो कु' से कुत्व हो कर—अपाक्ताम् । बहुवचन मे 'सिजभ्यस्त०' (४८७) से झि को जुस् हो कर वृद्धि कुत्व-षत्व करने पर—अपाक्षुः । परस्मै० मे रूपमाला यथा—अपाक्षीत्, अपाक्ताम्, अपाक्षुः । अपाक्षीः, अपाक्तम्, अपाक्त । अपाक्षम्, अपाक्ष्व, अपाक्ष्म । आत्मने० मे वृद्धि नहीं होती क्योंकि सिचि लोप हो कर कुत्व हो जाता है—अपक्त । आताम् मे कुत्व-षत्व हो कर अपक्षाताम् । रूपमाला यथा—अपक्त अपक्षाताम, अपक्षत । अपक्थाः, अपक्षाथाम्, अपक्ध्वम् ('झला जशोऽन्ते' १८) । अपक्षि, अपक्ष्वहि अपक्ष्महि ।

लृँङ्—(परस्मै०) अपक्ष्यत्, अपक्ष्यताम्, अपक्ष्यन् । (आत्मने०) अपक्ष्यत, अपक्ष्येताम्, अपक्ष्यन्त ।

[लघु०] भजँ सेवायाम् ॥७॥ भजति, भजते। बभाज, भेजे। भक्ता। भक्ष्यति, भक्ष्यते। अभाक्षीत्। अभक्त, अभक्षाताम् ॥

अर्थः—भजँ (भज्) धातु 'सेवा करना, सेवन करना, आश्रय करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—स्वरितेत् होने से इस धातु से उभयपद होते हैं।

लँट्—(परस्मै०) भजति, भजतः, भजन्ति। (आत्मने०) भजते, भजेते, भजन्ते।

लिँट्—(परस्मै०) णल् में द्वित्व, अभ्यास को जश्त्व तथा उपधावृद्धि करने पर बभाज। कित् लिँट् में 'तृफलभज०' (५४२) से एत्वाभ्यासलोप हो कर—भेजतुः, भेजुः। भज् धातु जकारान्त अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। क्रादिनियम से यह लिँट्मात्र में सेट् हो जाती है, परन्तु थल् में 'उपदेशेऽजत्वतः' (४८१) से इट् का निषेध हो कर भारद्वाजनियम से विकल्प हो जाता है। इट्पक्ष में 'तृ-फल-भज०' (५४२) से एत्वाभ्यासलोप हो कर—भेजिथ। इट् के अभाव में 'बभज्+थ' इस स्थिति में 'चोः कुः' (३०६) से कुत्व तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो कर—बभक्थ। रूपमाला यथा—बभाज, भेजतुः, भेजुः। भेजिथ-बभक्थ, भेजथुः, भेज। बभाज-बभज, भेजिव, भेजिम। (आत्मने०) भेजे, भेजाते, भेजिरे। भेजिषे, भेजाथे, भेजिध्वे। भेजे, भेजिवहे, भेजिमहे।

लुँट्—में सर्वत्र कुत्व और चर्त्व हो जाता है। (परस्मै०) भक्ता, भक्तारौ, भक्तारः। भक्तासि—। (आत्मने०) भक्ता, भक्तारौ, भक्तारः। भक्तासे—। लृँट्—में सर्वत्र क्रमशः कुत्व, षत्व और चर्त्व हो जाता है। (परस्मै०) भक्ष्यति, भक्ष्यतः, भक्ष्यन्ति। (आत्मने०) भक्ष्यते, भक्ष्येते, भक्ष्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) भजतु-भजतात्, भजताम्, भजन्तु। (आत्मने०) भजताम्, भजेताम्, भजन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अभजत्, अभजताम्, अभजन्। (आत्मने०) अभजत, अभजेताम्, अभजन्त। वि० लिँङ्—(परस्मै०) भजेत्, भजेताम्, भजेयुः। (आत्मने०) भजेत, भजेयाताम्, भजेरन्। आ० लिँङ्—(परस्मै०) भज्यात्, भज्यास्ताम्, भज्यासुः। (आत्मने०) में कुत्व-षत्व-चर्त्व हो जाता है—भक्षीष्ट, भक्षीयास्ताम्, भक्षीरन्। लुँङ्—में समग्र प्रक्रिया पच् धातु की तरह होती है चर्त्व ही विशेष है। (परस्मै०) अभाक्षीत्, अभाक्ताम्, अभाक्षुः। अभाक्षीः, अभाक्तम्, अभाक्त। अभाक्षम्, अभाक्ष्व, अभाक्ष्म। (आत्मने०) अभक्त, अभक्षाताम्, अभक्षत। अभक्थाः, अभक्षाथाम्, अभग्ध्वम्। अभक्षि, अभक्ष्वहि, अभक्ष्महि। लृँङ्—(परस्मै०) अभक्ष्यत्, अभक्ष्यताम्, अभक्ष्यन्। (आत्मने०) अभक्ष्यत, अभक्ष्येताम्, अभक्ष्यन्त। उपसर्गयोग—विभजति=बांटता है, विभाग करता है।

[लघु०] यजँ देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु ॥८॥ यजति, यजते ॥

अर्थ—यजँ (यज्) धातु 'देवताओं की पूजा करना, सगति करना तथा देना' इन तीन अर्थों में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यजँ (यज्) धातु भी स्वरितेत् होने से उभयपदी है।

लँट्—(परस्मै०) यजति, यजत, यजन्ति। (आत्मने०) यजते, यजेते, यजन्ते।

लिँट्—(परस्मै०) में तिप्, णल् तथा द्वित्व करने पर 'यज्+यज्+अ' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५४६) लिटयभ्यासस्योभयेषाम् ।६।१।१७॥

वच्यादीना ग्रह्यादीना चाऽभ्यासस्य सम्प्रसारण लिटि। इयाज ॥

अर्थ—लिट् परे होने पर वच् आदियों तथा ग्रह् आदियों के अभ्यास के स्थान पर सम्प्रसारण हो।

व्याख्या—लिटि ।७।१। अभ्यासस्य ।६।१। उभयेषाम् ।६।३। सम्प्रसारणम् ।१।१। ('व्यञ सम्प्रसारणम्' से)। इस सूत्र से पूर्व दो सूत्रों में दो प्रकार के धातुसमूहों का निर्देश किया गया है। (१) 'वचिस्वपि०' (५४७) में वच्यादियों का तथा (२) 'ग्रहिज्या०' (६३४) में ग्रह्यादियों का। इस सूत्र में 'उभयेषाम्' द्वारा उन दोनों समूहों की ओर सकेत किया गया है। अर्थ—(लिटि) लिट् परे होने पर (उभयेषाम्) वच्यादि तथा ग्रह्यादि दोनों धातुसमूहों के (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण हो। वच्यादिसमूह में—वच्, स्वप्, यज्, वप्, वह्, वस्, वेञ्, व्येञ्, ह्वेञ्, वद् और श्वि ये ग्यारह धातु आती हैं। ग्रह्यादि समूह में—ग्रह्, ज्या, वय्, व्यध्, वश्, व्यच्, व्रश्च्, प्रच्छ् और भ्रस्ज् ये नौ धातु आती हैं। दोनों समूहों के कुल मिला कर बीस धातुओं के अभ्यास को सम्प्रसारण हो जाता है लिट् परे हो तो। 'इग्यण सम्प्रसारणम्' (२५६) के अनुसार यण् के स्थान पर होने वाले इक् को सम्प्रसारण कहा जाता है। इस प्रकार इन बीस धातुओं के अभ्यास के यण् के स्थान पर इक् आदेश हो जाता है।

'यज्+यज्+अ' यहां पर यज् धातु वच्यादि समूह में पढा गया है अत. इस के अभ्यास 'यज्' के यकार को सम्प्रसारण इकार हो कर 'इ अज्+यज्+अ' इस स्थिति में 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) सूत्र से सम्प्रसारण और उस से परले अकार के

---

१ हमारे विचार में यहां पर 'देव' शब्द का सम्बन्ध केवल 'पूजा' के साथ न मान कर सब के साथ मानना उचित है। इस के अनुसार यज् धातु के अर्थ होंगे—देवों की पूजा देवों की (यज्ञस्थान पर) सगति, देवों को हवि आदि देना। इसी धातु से यज्ञ, यजमान, यज्वन्, यजुष्, यज्ञिय, याजक, यायजूक, इज्या आदि शब्द निष्पन्न होते हैं।

स्थान पर पूर्वरूप एकादेश करने पर 'इज्+यज्+ग' हुआ। अब हलादिशेष तथा उपधावृद्धि करने पर 'इयाज' प्रयोग सिद्ध होता है।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण—'सुष्वाप, उवाच, उवास, उवाह, विव्याध' आदि हैं।

लिँट् प्र० पु० के द्विवचन में 'यज्+अतुस्' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५४७) वचि-स्वपि-यजादीनां किति ।६।१।१५॥

वचिस्वप्योर्धजादीनां च सम्प्रसारणं स्यात् किति। ईजतुः। ईजुः। इयजिथ-इयष्ठ। ईजे। यष्टा॥

अर्थः—कित् परे होने पर वच्, स्वप् तथा यजादि धातुओं को सम्प्रसारण हो।

व्याख्या—वचि-स्वपि-यजादीनाम् ।६।३। किति ।७।१। सम्प्रसारणम् ।१।१। ('ष्यङः सम्प्रसारणम्' से)। यज् आदिर्येषान्ते यजादयः[1]। बहुव्रीहि०। वचिश्च स्वपिश्च यजादयश्च वचिस्वपियजादयः, तेषाम्। अर्थः—(किति) कित् परे होने पर (वचिस्वपियजादीनाम्) वच्, स्वप् तथा यजादि धातुओं के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण हो जाता है। 'सम्प्रसारणं तदाश्रयञ्च कार्यं बलवत्' (सम्प्रसारण तथा सम्प्रसारण के आश्रित पूर्वरूप आदि कार्य बलवान् होते हैं) इस परिभाषा के अनुसार सम्प्रसारण सब से पहले हुआ करता है, द्वित्वादि इस के बाद।

'यज्+अतुस्' यहां 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से 'अतुस्' कित् है अतः इस के परे होने पर यज् के यकार को सम्प्रसारण इकार तथा 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप हो कर 'इज्+अतुस्' बना। अब 'इज्' को द्वित्व, अभ्यास के जकार का लोप तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर 'ईजतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—ईजुः।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण—यज्+क्त=इष्टः, यज्+क्तवतुँ=इष्टवान्। वप्—उप्तः, उप्तवान्। वद्—उदितः, उदितवान्। वस्—उषितः, उषितवान्।

थल् में 'यज्+थ'। यज् धातु जकारान्त अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट्

---

१. धातुपाठ में यज् धातु से ले कर भ्वादिगण की अन्तिम धातु 'टुओँश्वि गतिवृद्धयोः' तक नौ धातु यजादि कहे जाते हैं—

"यजिर्वपिर्वहिश्चैव वसिर्वेञ् व्येञ् इत्यपि।
ह्वेञ्वदी श्वयतिश्चैव यजाद्याः स्युरिमे नव॥"

यज्, वप्, वह्, वस्, वेञ्, व्येञ्, ह्वेञ्, वद् और श्वि ये नौ धातु यजादि कहाते हैं।

है। लिँट् में क्रादिनियम से इट् प्राप्त है परन्तु 'उपदेशेऽत्वत' (४८१) से यज् में इट् का निषेध हो जाता है। तब 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) से भारद्वाज के मत मे ऋदन्तभिन्न होने के कारण यज् में इट् हो जायेगा। इस प्रकार यह धातु यज् में वेट् तथा लिँट् मे अन्यत्र सेट् हो जाती है। यज् के इट्पक्ष मे द्वित्व हो कर 'यज्+यज्+इय' इस स्थिति मे 'लिटचभ्यासस्योभयेषाम्' (५४६) से अभ्यास को सम्प्रसारण, पूर्वरूप तथा अभ्यासकाय करने पर 'इयजिय' सिद्ध होता है। इट् के अभाव में 'इयज्+थ' इस दशा मे 'व्रश्चभ्रस्ज०' (३०७) से जकार को षकार तथा 'ष्टुना ष्टु' (६४) से थकार को ठकार करने से 'इयष्ठ' प्रयोग निष्पन्न होता है। रूपमाला यथा—इयाज, ईजतु, ईजु। इयजिथ-इयष्ठ, ईजथु, ईज। इयाज-इयज, ईजिव, ईजिम।

लिँट् आत्मनेपद के सब प्रत्यय 'असयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से कित् हैं अत प्रथम सम्प्रसारण हो कर बाद मे द्वित्वादि कार्य होते हैं। रूपमाला यथा—ईजे, ईजाते, ईजिरे। ईजिषे, ईजाथे, ईजिध्वे। ईजे, ईजिवहे, ईजिमहे।

लुँट्—दोनों पदो मे 'व्रश्चभ्रस्ज०' (३०७) से जकार को षकार हो कर ष्टुत्व हो जाता है—(परस्मै०) यष्टा, यष्टारौ, यष्टार। यष्टासि—। (आत्मने०) यष्टा, यष्टारौ, यष्टार। यष्टासे—।

लृँट्—परस्मैपद मे 'यज्+स्य+ति' इस स्थिति मे 'व्रश्चभ्रस्ज०' से जकार को षकार हो कर—यष्+स्य+ति। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५४८) पढो क सि ।८।२।४१॥

यक्ष्यति, यक्ष्यते। इज्यात्, यक्षीष्ट। अयाक्षीत्, अयष्ट॥

अर्थ—सकार परे हो तो पकार और ढकार को ककार आदेश हो।

व्याख्या—पढो ।६।२। क ।१।१। सि ।७।१। पश्च ढ् च=पढौ, तयो = पढो। पकारादकार उच्चारणार्थ। एव ककारादपि। अर्थ—(सि) सकार परे हो तो (पढो) प् और ढ् के स्थान पर (क) क् आदेश हो। ढकार का उदाहरण (वह्) वक्ष्यति, वक्ष्यते आदि आगे आयेंगे। पकार का उदाहरण प्रकृत मे है—

'यष्+स्य+ति' यहा स्य प्रत्यय का सकार परे है अत प्रकृतसूत्र से पकार को ककार हो कर 'यक्+स्य+ति' हुआ। अब 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) से सकार को षकार करने पर क्+ष्=क्ष् हो कर 'यक्ष्यति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आत्मनेपद में 'यक्ष्यते' बनता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) यक्ष्यति, यक्ष्यत', यक्ष्यन्ति। (आत्मने०) यक्ष्यते, यक्ष्येते, यक्ष्यन्ते।

लोँट्—(परस्मै०) यजतु यजतात्, यजताम्, यजन्तु। (आत्मने०) यजताम्, यजेताम्, यजन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अयजत्, अयजताम्, अयजन्। (आत्मने०)

अयजत, अयजेताम् अयजन्त । वि० लिँङ्—(परस्मै०) यजेत्, यजेताम्, यजेयुः । (आत्मने०) यजेत, यजेयाताम्, यजेरन् ।

आ० लिँङ्—परस्मैपद में 'किदाशिषि' (४३२) से यासुट् कित् है अतः 'वचिस्वपि०' (५४७) से सम्प्रसारण हो जाता है—इज्यात्, इज्यास्ताम्, इज्यासुः । इज्याः, इज्यास्तम्, इज्यास्त । इज्यासम्, इज्यास्व, इज्यास्म । आत्मनेपद में कित् न होने से सम्प्रसारण नहीं होता । 'यज्+सीष्ट' इस दशा में 'व्रश्चभ्रस्ज०' (३०७) से जकार को षकार, 'षढोः कः सि' (५४८) से कत्व तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सीयुट् के सकार को षकार करने पर 'यक्षीष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है । रूपमाला यथा—यक्षीष्ट, यक्षीयास्ताम्, यक्षीरन् । यक्षीष्ठाः, यक्षीयास्थाम्, यक्षीध्वम् । यक्षीय, यक्षीवहि, यक्षीमहि ।

लुँङ्—परस्मैपद में च्लि को सिँच् हो कर 'अयज्+स्+त्' इस स्थिति में 'वदव्रज०' (४६५) द्वारा हलन्तलक्षणा वृद्धि होकर षत्व-कत्व तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सिँच् के सकार को षकार करने पर 'अयाक्षीत्' प्रयोग सिद्ध होता है । द्विवचन में 'अयाज्+स्+ताम्' इस दशा में 'झलो झलि' (४७८) से सकार का लोप हो कर षत्व और ष्टुत्व करने पर—अयाष्टाम् । रूपमाला यथा—अयाक्षीत्, अयाष्टाम्, अयाक्षुः । अयाक्षीः, अयाष्टम्, अयाष्ट । अयाक्षम्, अयाक्ष्व, अयाक्ष्म । आत्मनेपद में 'अयज्+स्+त' इस स्थिति में झलोझलिलोप हो कर 'व्रश्चभ्रस्ज०' (३०७) से षत्व तथा ष्टुत्व से तकार को टकार करने पर 'अयष्ट' सिद्ध होता है । ध्वम् में 'अयज्+स्+ध्वम्' इस दशा में 'धि च' (५१५) से सकार का लोप, 'व्रश्चभ्रस्ज०' (३०७) से जकार को षकार, 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से ष्टुत्व तथा 'झलां जश्झशि' (१९) से षकार को जश्त्व-डकार करने पर 'अयड्ढ्वम्' बनता है । आत्मनेपद में रूपमाला यथा—अयष्ट, अयक्षाताम्, अयक्षत । अयष्ठाः, अयक्षाथाम्, अयड्ढ्वम् । अयक्षि, अयक्ष्वहि, अयक्ष्महि ।

लृँङ्—(परस्मै०) अयक्ष्यत्, अयक्ष्यताम्, अयक्ष्यन् । (आत्मने०) अयक्ष्यत, अयक्ष्येताम्, अयक्ष्यन्त ।

[लघु०] वहँ प्रापणे ॥९॥ वहति, वहते । उवाह, ऊहतुः, ऊहुः । उवहिथ ॥

अर्थः—वहँ (वह्) धातु 'ले जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—वह् धातु स्वरितेत् होने से उभयपदी है । ले जाना, उठा ले जाना, ढोना आदि अर्थ मे यह द्विकर्मक है, यथा—अजां ग्रामं वहति; वहति विधिहुतं या हविः (शाकुन्तले) । इस के लिये कारकप्रकरण सूत्र (८९२) की व्याख्या देखें ।

लँट्—(परस्मै०) वहति, वहतः, वहन्ति । (आत्मने) वहते, वहेते, वहन्ते ।

लिँट्—(परस्मै०) तिप्, णल् और द्वित्व करने पर—वह्+वह्+अ। अब 'लिटयभ्यासस्योभयेषाम्' (५४६) से अभ्यास को सम्प्रसारण, पूवरूप, हलादिशेष तथा उपधावृद्धि करने पर—उवाह। द्विवचन मे 'वह्+अतुस्' इस स्थिति मे लिँट् के कित् होने से द्वित्व से पूर्व 'वचिस्वपि०' (५४७) से सम्प्रसारण हो कर पूर्वरूप किया तो 'उह्+अतुस्' हुआ। अब 'उह्' को द्वित्व, हलादिशेष और सवर्णदीर्घ करने पर 'ऊहतु' प्रयोग सिद्ध होता है। इसीप्रकार बहुवचन मे—'ऊहु' बनेगा। वह् धातु हकारान्त अनुदात्तों में परिगणित है अत अनिट् है। आदिनियम से लिँट् सेट् है परन्तु 'उपदेशेऽत्वत' (४८१) से थल् अनिट् है किन्तु भारद्वाज के मत में वह सेट् है। इस प्रकार थल् वेट् तथा लिँट् के अन्य प्रत्यय सेट् हैं। थल् के इट्पक्ष मे 'वह्+वह्+इथ' इस अवस्था में अभ्यास को सम्प्रसारण (५४६) तथा पूर्वरूपादि होकर—उवहिथ। इट् के अभाव में 'उवह्+थ' इस स्थिति मे झल् परे होने के कारण 'हो ढ' (२५१) सूत्र से हकार को ढकार हो जाता है—उवढ्+थ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५४९) झषस्तथोर्धोऽध ।८।२।४०॥

झष परयोस्तथोर्धं स्याद् न तु दधाते. ॥

अर्थ—झष् (वर्गों के चतुर्थ वर्ण) से परे तकार थकार को धकार आदेश हो परन्तु 'धा' धातु से परे न हो।

व्याख्या—झष ।५।१। तथो ।६।२। ध ।१।१। (धकारादकार उच्चारणार्थं)। अध ।५।१। न धा—अधा तस्माद् अध ('विश्वप' की तरह पञ्चम्यन्त)। अर्थ—(झष) झष् प्रत्याहार से परे (तथो) त् थ् के स्थान पर (ध) ध् आदेश हो जाता है (अध) परन्तु धा धातु से परे नहीं होता। उदाहरण यथा—लभ्+ता=लभ्+धा, 'झषां जश् झशि' (१६) से जश्त्व हो कर—लब्धा। अबुध्+थ=अबुद्ध। अलभ+थास्=अलभ्+धास्=अलब्धा। धा (डुधाञ् धारणपोषणयो—जुहो० उभय०) धातु से परे नहीं होता—धत्त, धत्थ। इन की सिद्धि आगे जुहोत्यादिगण में देखें।

'उवढ्+थ' यहां पर झष्—ढकार से परे थकार को प्रकृतसूत्र से धकार आदेश हो कर 'उवढ्+ध' हुआ। अब 'ष्टुना ष्टु' (६४) से धकार को ष्टुत्व—ढकार करने पर 'उवढ्+ढ' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५५०) ढो ढे लोप.।८।३।१३॥

(ढस्य ढकारे परे लोप स्यात् ॥)

अर्थ—ढकार परे होने पर ढकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—ढ ।६।१। ढे ।७।१। (ढकारादकार उच्चारणार्थं)। लोप ।१।१।

अर्थः —(ढे) ढ् परे होने पर (ढः) ढ् का (लोपः) लोप हो जाता है।

'उवढ्+ढ' यहां ढकार परे है अतः प्रकृत-सूत्र से प्रथम ढकार का लोप हो कर 'उव+ढ' हुआ[1]। अब यहां 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (११२) से वकारोत्तर अकार को दीर्घ प्राप्त होता है। इस पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५५१) सहिवहोरोदवर्णस्य ।६।३।१११॥

अनयोरवर्णस्य ओत् स्याड् ढलोपे। उवोढ। ऊहे। वोढा। वक्ष्यति। अवाक्षीत्, अवोढाम्, अवाक्षुः। अवाक्षीः, अवोढम्, अवोढ। अवाक्षम्, अवाक्ष्व, अवाक्ष्म। अवोढ, अवक्षाताम्, अवक्षत। अवोढाः, अवक्षाथाम्, अवोढ्वम्। अवक्षि, अवक्ष्वहि, अवक्ष्महि। अवक्ष्यत्, अवक्ष्यत॥

अर्थः—ढकार का लोप हुआ हो तो सह् और वह् धातु के अकार के स्थान पर ओकार आदेश हो।

व्याख्या--सहिवहोः ।६।२। ओत् ।१।१। अवर्णस्य ।६।१। ढलोपे ।७।१। ('ढ्रलोपे पूर्वस्य०' से उपयोगी अंश)। ढस्य लोपः—ढलोपस्तस्मिन् ढलोपे, तत्पुरुषसमासः। अर्थः—(ढलोपे) ढकार का लोप होने पर (सहिवहोः) सह् और वह् धातु के (अवर्णस्य) अवर्ण के स्थान पर (ओत्) ओकार आदेश होता है। यह सूत्र 'ढ्रलोपे पूर्वस्य०' (११२) सूत्र का अपवाद है। सह् का उदाहरण—सह्+क्त=सह्+त=सढ्+त (हो ढः)=सढ्+ध (झषस्तथोर्धोऽधः)=सढ्+ढ (ष्टुना ष्टुः)=स+ढ (ढो ढे लोपः)=सोढः। इसी प्रकार सोढवान् आदि। वह् का उदाहरण प्रकृत है—

'उव+ढ' यहां ढकार का लोप हो चुका है अतः वह धातु के वकारोत्तर अकार को प्रकृतसूत्र से ओकार हो कर 'उवोढ' रूप सिद्ध होता है।

सूत्र में 'अवर्णस्य' इसलिये कहा है कि दीर्घ आकार को भी ओकार हो जाये[2]—अवोढाम् (इस की सिद्धि लुंङ् में देखें)।

---

१. यहां 'ढो ढे लोपः' (८.३.१३) की दृष्टि में 'ष्टुना ष्टुः' (८.४.४०) से हुआ ष्टुत्व त्रिपादी में पर होने के कारण यद्यपि असिद्ध है तथापि वचनसामर्थ्य से उसे असिद्ध नहीं मानना चाहिये। क्योंकि यदि उसे असिद्ध मानने लगें तो कहीं भी ढकार से परे ढकार नहीं मिलेगा, सूत्र बनाना ही व्यर्थ हो जायेगा।

२. यदि यहां 'सहिवहोरदस्य' सूत्र बना देते तो 'ओत्+अस्य' में 'तादपि परस्तपरः' के अनुसार केवल ह्रस्व अकार का ही ग्रहण हो सकता दीर्घ का नहीं। अतः अस्य' न कह कर सूत्र में 'अवर्णस्य' कहा गया है। अश्चासौ वर्णः—अवर्णः, तस्य=अवर्णस्य।

लिट् परस्मैपद में वह् की रूपमाला यथा—उवाह, ऊहतु, ऊहु । उवहिथ-उवोढ, ऊहथु, ऊह । उवाह-उवह, ऊहिव, ऊहिम । आत्मने० मे—ऊहे, ऊहाते, ऊहिरे । ऊहिषे, ऊहाथे, ऊहिढ्वे ऊहिध्वे (विभाषेट) । ऊहे, ऊहिवहे, ऊहिमहे ।

लुट्—'वह्+ता' इस स्थिति में हकार को ढकार, 'झषस्तथोर्धोऽध' (५४६) से तकार को धकार, 'ष्टुना ष्टु' (६४) से धकार को ढकार तथा 'ढो ढे लोप' (५५०) से ढकार का लोप हो कर—व+ढा। अब 'सहिवहोरोदवर्णस्य' (५५१) से अवर्ण को ओकार करने पर 'वोढा' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) वोढा, वोढारौ, वोढार । वोढासि—। (आत्मने०) वोढा, वोढारौ, वोढारः । वोढासे—।

लृट्—'वह्+स्य+ति' यहा 'हो ढ' (२५१) से हकार को ढकार, 'षढो क सि' (५४८) से ढकार को ककार तथा 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) से 'स्य' के सकार को मूर्धन्य षकार करने पर 'वक्ष्यति' सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) वक्ष्यति, वक्ष्यत, वक्ष्यन्ति । (आत्मने०) वक्ष्यते, वक्ष्येते, वक्ष्यन्ते ।

लोट्—(परस्मै०) वहतु-वहतात्, वहताम्, वहन्तु । (आत्मने०) वहताम्, वहेताम्, वहन्ताम् । लङ्—(परस्मै०) अवहत्, अवहताम्, अवहन् । (आत्मने०) अवहत, अवहेताम्, अवहन्त । वि० लिङ्—(परस्मै०) वहेत्, वहेताम्, वहेयु । (आत्मने०) वहेत, वहेयाताम्, वहेरन् ।

आ० लिङ्—(परस्मै०) यासुट् के कित् होने से 'वचिस्वपि०' (५४७) द्वारा सर्वत्र सम्प्रसारण हो जाता है—उह्यात् उह्यास्ताम्, उह्यासु । (आत्मने०) सर्वत्र ढत्व-कत्व-षत्व हो जाता है—वक्षीष्ट, वक्षीयास्ताम्, वक्षीरन् ।

लुङ्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में च्लि, सिच्, अपृक्त को ईट् का आगम तथा अङ् को अट् का आगम हो कर—अवह्+स्+ईत् । 'वदव्रज०' (४६५) से हलन्तलक्षणा वृद्धि करने पर—अवाह्+स्+ईत् । अब 'हो ढ' (२५१) से हकार को ढकार, 'षढो क सि' (५४८) से ढकार को ककार तथा 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) से सिच् के सकार को षकार करने से 'अवाक्षीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में वृद्धि करने पर 'अवाह्+स्+ताम्' इस स्थिति में 'झलो झलि' (४७८) से सकार का लोप, 'हो ढ' (२५१) से हकार को ढकार, 'झषस्तथोर्धोऽध' (५४६) से ताम् के तकार को धकार, ष्टुत्व से धकार को ढकार, 'ढो ढे लोप' (५५०) से ढकार का लोप तथा 'सहिवहोरोदवर्णस्य' (५५१) से आकार को ओकार करने से 'अवोढाम्' प्रयोग सिद्ध होता है (ध्यान रहे कि 'सहिवहोरोदवर्णस्य' में 'अवर्ण' ग्रहण का यही प्रयोजन था कि यहा आकार को भी ओकार हो सके)। बहुवचन में 'तिजश्यस्त०' (४४७) से झि को जुस्, वृद्धि, ढत्व, कत्व तथा सिच् के सकार को षत्व करने पर 'अवाक्षुः' प्रयोग बनता है। इसीप्रकार सिप् में—अवाक्षी । 'अवोढाम्'

की तरह थस् और थ में—अवोढम्, अवोढ। उत्तमपु० में ढत्व, कत्व और षत्व हो कर—अवाक्षम्, अवाक्ष्व, अवाक्ष्म। रूपमाला यथा—अवाक्षीत्, अवोढाम्, अवाक्षुः। अवाक्षीः, अवोढम्, अवोढ। अवाक्षम्, अवाक्ष्व, अवाक्ष्म।

लुँङ् के आत्मनेपद में—अवह्+स्+त। वृद्धि न होगी क्योंकि वह परस्मैपद में हुआ करती है आत्मनेपद में नहीं। अब 'झलो झलि' (४७८) से सकार का लोप हो कर 'हो ढः' (२५१) से हकार को ढकार, 'झषस्तथोर्धोऽधः' (५४६) से तकार को धकार, ष्टुत्व से धकार को ढकार, 'ढो ढे लोपः' (५५०) से ढकार का लोप तथा 'सहिवहोरोदवर्णस्य' (५५१) से अवर्ण को ओकार करने पर 'अवोढ' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार थास् में—अवोढाः। ध्वम् में 'धि च' (५१५) से सकार का लोप हो कर ढत्व, धत्व, ष्टुत्व, ढलोप और अकार को ओकार करने पर—अवोढ्वम्। रूपमाला यथा—अवोढ, अवक्षाताम्, अवक्षत। अवोढाः, अवक्षाथाम्, अवोढ्वम्। अवक्षि, अवक्ष्वहि, अवक्ष्महि।

लृँङ्—(परस्मै०) अवक्ष्यत्, अवक्ष्यताम्, अवक्ष्यन्। (आत्मने०) अवक्ष्यत, अवक्ष्येताम्, अवक्ष्यन्त।

उपसर्गयोग तथा विना उपसर्ग के योग में भी इस धातु के विविध अर्थ देखे जाते हैं। निदर्शनार्थ यथा—

(१) वहना—'आस्वाद्यतोयाः प्रवहन्ति नद्यः' (हितोप०), 'परोपकाराय वहन्ति नद्यः' (सुभाषित)।

(२) उठाना, बोझा धारण करना—'तातेऽपद्वितीये वहति रणधुरां को भवस्यावकाशः' (वेणी० ३.५), 'वहति भुवनश्रेणीं शेषः फणाफलकस्थिताम्' (नीति० ६५)। 'भगवति वसुधे कथं वहसि' (हितोप० १.७६)।

(३) दूर हर ले जाना (हृञ् के अर्थ में)—'अद्रेः किस्विद् वहति पवनः' (मेघ० १४ पाठ-भेद)।

(४) पास रखना—'वहति हि धनहार्यं पण्यभूतं शरीरम्' (मृच्छकटिक० १.३१); 'वहति विषधरान् पटीरजन्मा' (भामिनी० १.७४)।

(५) (हवा) का चलना—'धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः' ( )।

(६) विवाह करना—'यदूढया वारणराजहार्यया' (कुमार० ५.७०)। उद्√वह्—'पार्थिवीम् उदवहद् रघूद्वहः' (रघु० ११.५४)। 'नोद्वहेत् कपिलां कन्याम्' (मनु० ३.८)।

(७) थामना—'वेदानुद्धरते जगन्निवहते' (गीतगो०)।

(८) पैदा करना—(आ√वह्) 'व्रीडमावहति मे स सम्प्रति' (रघु० ११.७३); 'महदपि राज्यं न सौख्यमावहति' (पञ्च०)।

(९) पांव आदि दबाना—सम्√वह् [णिजन्त]। 'अङ्के निधाय चरणावुत पद्मताम्रौ संवाहयामि करभोरु यथा सुखं ते'—(शाकुन्तल ३.१५)।

(१०) निभाना, निर्वाह करना, गुजारा करना—निर्√वह्=निर्वहति। 'तत्र नगाधिराजत्व निर्वोढुमाह' (कुमार० मल्लिनाथ १ २)। 'सर्वथा सत्यवचने देहो न निवहेत्' (भागवतटीका ८ १६ ३२)।

(११) ऊपर उठाना—उद्√वह्=उद्वहति। निभाना, पूर्ण करना—'प्रारब्धपुत्तमजनास्त्वमिवोद्वहन्ति' (मुद्रा० २ १७)।

अब निम्न उभयपदी धातुओं के रूप चलाने में विद्यार्थियों को कोई कठिनाई नहीं रहेगी।

(१) डुवपँ बीजसन्ताने (खेत में बीज डालना, गर्भाधान करना, काटना)। लँट्—वपति ; वपते। लिँट्—(परस्मै०) उवाप, ऊपतु, ऊपु। उवपिथ-उवप्थ, ऊपथु, ऊप। उवाप-उवप, ऊपिव, ऊपिम। (आत्मने०) ऊपे, ऊपाते, ऊपिरे। लुँट्—वप्ता, वप्ता। लृँट्—वप्स्यति ; वप्स्यते। लोँट्—वपतु-वपतात्, वपताम्। लँङ्—अवपत् ; अवपत। वि० लिँङ्—वपेत्, वपेत। आ० लिँङ्—उप्यात्, वप्सीष्ट। लुँङ्—(परस्मै०) अवाप्सीत्, अवाप्ताम्, अवाप्सु। (आत्मने०) अवप्त, अवप्साताम्, अवप्सात। लृँङ्—अवप्स्यत्, अवप्स्यत।

(२) धावुँ गतिशुद्धयो (भागना, शुद्ध होना)। लँट्—धावति, धावते। लिँट्—(परस्मै०) दधाव, दधावतु, दधावु। (आत्मने०) दधावे, दधावाते, दधाविरे। लुँट्—धाविता, धाविता। लृँट्—धाविष्यति, धाविष्यते। लोँट्—धावतु-धावतात्, धावताम्। लँङ्—अधावत्, अधावत। वि० लिँङ्—धावेत्, धावेत। आ० लिँङ्—धाव्यात् ; धाविषीष्ट। लुँङ्—अधावीत्, अधाविष्ट। लृँङ्—अधाविष्यत् ; अधाविष्यत।

(३) राजृँ दीप्तौ (चमकना)। लँट्—राजति, राजते। लिँट्—(परस्मै०) रराज, रेजतु-रराजतु, रेजु रराजु। (आत्मने०) रेजे-रराजे, रेजाते-रराजाते, रेजिरे-रराजिरे। 'फणाञ्च सप्तानाम्' (६ ४ १२५) इति वा एत्वाभ्याससलोपौ। लुँट्—राजिता, राजिता। लृँट्—राजिष्यति, राजिष्यते। लोँट्—राजतु-राजतात्, राजताम्। लँङ्—अराजत्, अराजत। वि० लिँङ्—राजेत्, राजेत। आ० लिँङ्—राज्यात्, राजिषीष्ट। लुँङ्—अराजीत् ; अराजिष्ट। लृँङ्—अराजिष्यत् ; अराजिष्यत।

(४) टुयाचृँ याच्ञायाम् (मांगना)। लँट्—याचति, याचते। लिँट्—(परस्मै०) ययाच, ययाचतु, ययाचु। (आत्मने०) ययाचे, ययाचाते, ययाचिरे। लुँट्—याचिता, याचिता। लृँट्—याचिष्यति, याचिष्यते। लोँट्—याचतु याचतात्, याचताम्। लँङ्—अयाचत्, अयाचत। वि०लिँङ्—याचेत्; याचेत। आ० लिँङ्—याच्यात्, याचिषीष्ट। लुङ्—अयाचीत्, अयाचिष्ट। लृँङ्—अयाचिष्यत्, अयाचिष्यत।

(५) खनुं अवदारणे (खोदना)। लँट्—खनति; खनते। लिँट्—(परस्मै०) चखान, चख्नतुः, चख्नुः। (आत्मने०) चख्ने, चख्नाते, चख्निरे। 'गमहनजन०' (५०५) इत्यजादौ क्ङित्युपधालोपः। लुँट्—खनिता; खनिता। लृँट्—खनिष्यति; खनिष्यते। लोँट्—खनतु-खनतात्; खनताम्। लँङ्—अखनत्; अखनत। वि० लिँङ्—खनेत्; खनेत। आ० लिँङ्—(परस्मै०) खायात्-खन्यात् ['ये विभाषा' (६७५) इति वाऽऽत्वम्]; (आत्मने०) खनिषीष्ट। लुँङ्—अखानीत्-अखनीत् ['अनो हलादेर्लघोः, (४५७) इति वा वृद्धिः]; अखनिष्ट। लृँङ्—अखनिष्यत्; अखनिष्यत।

(६) शपँ आक्रोशे (शाप देना)। लँट्—शपति; शपते। लिँट्—(परस्मै०) शशाप, शेपतुः, शेपुः। शेपिथ-शशप्थ आदि। (आत्मने०) शेपे, शेपाते, शेपिरे। लुँट्—शप्ता; शप्ता। लृँट्—शप्स्यति; शप्स्यते। लोँट्—शपतु-शपतात्; शपताम्। लँङ्—अशपत्; अशपत। वि० लिँङ्—शपेत्; शपेत। आ० लिँङ्—शप्यात्; शप्सीष्ट। लुँङ्—(परस्मै०) अशाप्सीत्, अशाप्ताम्, अशाप्सुः। (आत्मने०) अशप्त, अशप्साताम्, अशप्सत। लृँङ्—अशप्स्यत्; अशप्स्यत।

## अभ्यास (६)

(१) सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करें—
शिश्रिये, अशिश्रिये, अशिश्रियत, श्रीयात्, बभर्थ, भ्रियात्, भृषीष्ट, अभृत, हरिष्यति, अभक्त, अयष्ट, इयाज, ईजतुः, इयष्ठ, उह्यात्, उवोढ, अवाक्षीत्, अवोढ्वम्, अभाक्षीत्।

(२) निम्न धातुओं का थल् में रूप सिद्ध करें—
वह्, यज्, हूञ्, डुपचँष्, णीञ्, श्रिञ्।

(३) निम्न धातुओं के दोनों पदों में लुँङ् की रूपमाला लिखें—
वह्, यज्, भज्, हूञ्, श्रिञ्।

(४) निम्न सूत्रों की व्याख्या करें—
रिङ्शयग्लिँङ्क्षु, उश्च, झषस्तथोर्धोऽधः, ह्रस्वादङ्गात्, लिटचभ्यासस्योभयेषाम्, सहिवहोरोदवर्णस्य।

(५) निम्न प्रश्नों का समाधान कीजिये—
(क) 'भ्रियात्' में 'अकृत्सार्व०' से दीर्घ क्यों नहीं होता?
(ख) 'ह्रस्वादङ्गात्' में 'अङ्गात्' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?
(ग) 'पच्यात्' में 'चोः कुः' द्वारा कुत्व क्यों नहीं होता?
(घ) 'भेजिय' में एत्वाभ्यासलोप कैसे हो जाता है?
(ङ) 'डुपचँष्' में पकार और डु को इत् करने का क्या प्रयोजन है?
(च) श्री, नी, हृ और धृ धातुओं के लिँट् के ध्वम् में कितने रूप बनते हैं?

(६) 'अवोढ' और 'हरताम्' प्रयोग दोनों पदों में बनाने हैं, बताइये कहां कहां बनेंगे ?

(७) 'सहिवहोरोद०' सूत्र न होता तो 'उवोढ' की बजाय क्या रूप बनता ?

(८) वच् और स्वप् को भी यजादियों मे डाल कर 'यजादीना किति' इतना मात्र सूत्र क्यों नहीं बना लेते ?

(९) 'लिटयभ्यासस्योभयेषाम्' में 'उभयेषाम्' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(१०) 'द्वि+सुच्+तराम्=द्विष्टराम्' यहा 'ह्रस्वादङ्गात्' से सकार का लोप क्यों नही होता ?

(११) यजादि धातु कौन-कौन से हैं ? कित् परे होने पर उन में क्या परिवर्तन होता है ?

## इति तिङन्ते भ्वादयः

(यहा पर भ्वादिगण की धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)



## अथ तिङन्तेऽदादयः

अब तिङन्तप्रकरण में अदादिगण की धातुओं का निरूपण किया जाता है—

[लघु०] अद भक्षणे ॥१॥

अर्थ —अद (अद्) धातु 'खाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—उदात्तेत् होने से अथवा आत्मनेपद के निमित्तों से हीन होने के कारण अद् धातु परस्मैपदी है। इस धातु का अनेक भारोपीय भाषाओं के साथ अद्भुत साम्य पाया जाता है। यथा—लेटिन edo; ग्रीक edo, जर्मन्, essen, इंग्लिश eat, गोथिक् at; जन्द् ad आदि। वेद और लोक दोनों में इस धातु के प्रचुर प्रयोग पाये जाते हैं—'अत्ति' (ऋग्वेद १.१६४ २०), 'मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्यहम्' (मनु० ५ ५५)। श्रीमद्भागवत (३.२० ५१) में इस का भौवादिक आत्मनेपद के रूप में प्रयोग हुआ है—साकमन्नमदामहे।

लँट्—अद् धातु से लँट्, तिप् और 'कर्तरि शप्' (३९७) से शप् करने पर 'अद्+शप्+ति' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५५२) अदिप्रभृतिभ्यः शपः ।२।४।७२॥

लुक् स्यात्। अत्ति, अत्तः, अदन्ति। अत्सि, अत्थः, अत्थ। अद्मि, अद्वः, अद्मः ॥

अर्थ —अदादिगण की धातुओं से परे शप् का लुक् हो।

व्याख्या—अदिप्रभृतिभ्यः ।५।३। शपः ।६।१। लुक् ।१।१। ('प्यक्षत्रियार्षं०' से) । अदिः प्रभृतिर् (आदिर्)[1] येषां ते—अदिप्रभृतयः, तेभ्यः—अदिप्रभृतिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः । अदादिभ्य इत्यर्थः । अर्थः—(अदिप्रभृतिभ्यः) अद् आदि धातुओं से परे (शपः) शप् का (लुक्) लुक् हो जाता है । शप् का लोप न कह कर लुक् कहा गया है इस से 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१८९) द्वारा प्रत्ययलक्षण न हो सकेगा 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) रोक देगा । अतः 'इतः, वित्तः, विदन्ति' आदि में शब्निमित्तक गुण न होगा ।

'अद्+शप्+ति' यहां पर प्रकृतसूत्र से शप् का लुक् हो कर 'खरि च' (७४) से दकार को चर्त्व-तकार करने पर 'अत्ति' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार—अत्तः । बहुवचन में 'झोऽन्तः' (३८९) सूत्र से झि के झकार को अन्त् आदेश हो कर—अदन्ति (ध्यान रहे कि 'अन्त्' आदेश के आदि में 'अ' जोड़ने का फल भी 'अदन्ति' आदि में प्रकट होता है, भ्वादिगण में तो प्रायः 'अतो गुणे' से पररूप करना पड़ता था) । सिप्, थस् और थ में चर्त्व हो जाता है । उत्तम पु० में झल् परे न रहने से चर्त्व नहीं होता । लँट् में रूपमाला यथा—अत्ति, अत्तः, अदन्ति । अत्सि, अत्थः, अत्थ । अद्मि, अद्वः, अद्मः ।

लिँट्—'अद्+लिँट्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५५३) लिँटि अन्यतरस्याम् ।२।४।४०।।

अदो घस्लृँ वा स्याल्लिँटि । जघास । उपघालोपः ।।

अर्थः—लिँट् परे होने पर अद् के स्थान पर घस्लृँ आदेश हो विकल्प से ।

व्याख्या—लिँटि ।७।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। अदः ।६।१। ('अदो जग्धिर्ल्यप्ति०' से)। घस्लृँ ।१।१। ('लुङ्सनोर्घस्लृँ' से ; लुप्तविभक्तिक निर्देश) । अर्थः—(लिँटि) लिँट् परे होने पर (अदः) अद् के स्थान पर (घस्लृँ) घस्लृँ आदेश हो (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में । दूसरी अवस्था में न होगा अतः विकल्प सिद्ध हो जायेगा । घस्लृँ आदेश अनेकाल् होने से सर्वादेश होता है । इस में लृँकार अनुनासिक है अतः इत्सञ्ज्ञा हो कर उसका लोप हो जाता है, 'घस्' मात्र अवशिष्ट रहता है । इसे लृदित् करने

---

१. 'प्रभृति' शब्द का संस्कृतसाहित्य में प्रायः दो प्रकार का प्रयोग उपलब्ध होता है । (१) अव्यय के रूप में । इस का अर्थ होता है— आरम्भ कर के, से लेकर आदि । तब इस के योग में पञ्चमी या तसिल् प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है— 'शैशवात् प्रभृति पोषितां प्रियाम्' (उत्तर० १.४५) ; ततः प्रभृति, अतः प्रभृति, अद्य प्रभृति आदि । (२) आदि (Beginning) का वाचक । इस का प्रयोग बहुव्रीहि-समास के अन्तिम पद के रूप मे प्रायः देखा जाया है । यथा—इन्द्रप्रभृतयो देवाः, पारस्करप्रभृतीनि च, अदिप्रभृतिभ्यः शपः इत्यादि ।

का प्रयोजन लुंङ् मे 'पुषादि०' (५०७) द्वारा च्लि को अङ् आदेश करना है।

अद् को लिट् में घस्लृ आदेश हो कर प्र० पु० के एकवचन में तिप् और णल् करने पर—घस्+अ। अब द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा 'अत उपधाया' (४५५) से उपधावृद्धि करने से 'जघास' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र० पु० के द्विवचन मे घस्लृ आदेश हो कर—घस्+अतुस्। अब 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (३९४) से द्वित्व तथा 'गमहनजन०' (५०५) से उपधालोप युगपत् प्राप्त होते हैं। परत्व के कारण उपधालोप प्रथम होना चाहिये, परन्तु 'द्विर्वचनेऽचि' (४७४) के निषेध के कारण पहले द्वित्व हो कर 'कुहोश्चु' (४५४) से अभ्यास के घकार को झकार, जश्त्व से झकार को जकार तथा हलादिशेष करने से 'जघस्+अतुस्' इस स्थिति में उपधालोप हो जायेगा—जघ्स्+अतुस्। अब हमे सकार को षकार करना है परन्तु वह 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) से सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि यहा का सकार न तो प्रत्यय का अवयव है और न ही आदेशरूप। अत इस के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५५४) शासि-वसि-घसीनां च ।८।३।६०॥

इण्कुभ्यां परस्य एषां सस्य ष स्यात्। घस्य चत्वम्—जक्षतु, जक्षु। जघसिथ, जक्षथु, जक्ष। जघास-जघस, जक्षिव, जक्षिम। आद, आदतु, आदु॥

अर्थ—इण्प्रत्याहार या कवर्ग से परे शास्, वस् और घस् के सकार को षकार आदेश हो।

व्याख्या—शासि-वसि-घसीनाम् ।६।३। च इत्यव्ययपदम्। इण्को ।५।१। (यह अधिकृत है)।स ।६।१। ('सहे साढ स:' से)।मूर्धन्य ।१।१। ('अपदान्तस्य मूर्धन्य' से)। अर्थ—(इण्को) इण्प्रत्याहार अथवा कवर्ग से परे (शासि-वसि घसीनाम्) शास्, वस् और घस् के (स) सकार के स्थान पर (मूर्धन्य) मूर्धा स्थान वाला वर्ण आदेश हो जाता है। इण् प्रत्याहार सदा 'लेंण्' वाले णकार से ही लिया जाता है। ईषद्विवृत यत्न वाले सकार के स्थान पर वैसे यत्न वाला षकार ही मूर्धन्य आदेश होगा। शास् और वस् तो आदेश ही नही तथा घस् का सकार आदेशरूप नही अत 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) द्वारा सकार को मूर्धन्य प्राप्त न होने पर यह नया सूत्र बनाया गया है। उदाहरण यथा—

शास्—अशिषत्, अशिषताम्, अशिषन्। [शासु अनुशिष्टौ (अदा० परस्मै०), लुंङ्, 'सत्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च' (३।१।५६) इति च्लेरङ्, 'शास इदङ्हलो' (६।४।३४) इतीत्त्वम्।]

वस्—उषित, उषितवान्, उषित्वा। ['वसति-क्षुधोरिट्' (७।२।५२) इति क्त्वानिष्ठयोरिडागम। 'वचिस्वपि०' (५४७) इति सम्प्रसारणम्।]

घस्—'जघ्स्+अतुस्' यहां घस् के सकार को प्रकृतसूत्र से मूर्धन्य षकार हो कर 'खरि च' (७४) से धकार को चर्त्व-ककार करने से 'जक्षतुः' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। इसी प्रकार 'जक्षुः'।

म० पु० के एकवचन में 'घस्+थल्' इस अवस्था में 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) से प्राप्त इट् के आगम का 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (४७५) से निषेध हो जाता है। परन्तु क्रादिनियम से पुनः इट् हो कर द्वित्वादि करने पर 'जघसिथ' प्रयोग सिद्ध होता है। [ध्यान रहे कि घस् आदेश केवल लिँट् और लुँङ् में ही हुआ करता है अतः तास् में प्रयोग न होने से यह तास् में नित्य अनिट् नहीं रहता, इस से 'उपदेशेऽत्वतः' (४८१) द्वारा क्रादिनियम से प्राप्त इट् का थल् में निषेध नहीं होता।] इसी प्रकार व और म में नित्य इट् होकर द्वित्व, उपधालोप, षत्व तथा चर्त्व करने से 'जक्षिव, जक्षिम' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

जहां घस्लृ आदेश नहीं होता वहां लिँट् में 'अत आदेः' (४४३) से अभ्यास के अत् को दीर्घ हो कर सवर्णदीर्घ करने से—'आद, आदतुः, आदुः' रूप बनते हैं। थल् में 'अद्+थ' इस अवस्था में सर्वप्रथम अद् का दकारान्त अनुदात्तों में पाठ होने के कारण इट् का निषेध हो जाता है। क्रादिनियम से लिँट् में पुनः इट् की प्राप्ति होती है। इस पर 'उपदेशेऽत्वतः' (४८१) से थल् में इट् का निषेध हो कर 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) के नियम से इट् का विकल्प प्राप्त होता है। परन्तु हमें थल् में नित्य इट् करना अभीष्ट है। इस के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५५५) इडत्त्यर्ति-व्ययतीनाम् ।७।२।६६॥

अद्, ऋ, व्येञ्—एभ्यस्थलो नित्यमिट् स्यात्। आदिथ। अत्ता। अत्स्यति। अत्तु-अत्तात्, अत्ताम्, अदन्तु॥

अर्थः—अद् (खाना), ऋ (जाना) और व्येञ् (आच्छादन करना)—इन तीन धातुओं से परे थल् को नित्य इट् का आगम हो।

व्याख्या—इट् ।१।१। अत्ति-अर्ति-व्ययतीनाम् ।६।३। (इस का पञ्चम्यन्ततया विपरिणाम कर लिया जाता है)। थलः ।६।१। ('अचस्तास्वत्यल्यनिटः०' स विभक्ति-विपरिणाम कर के)। अद्, ऋ, व्येञ् धातुओं का निर्देश यहां 'इक्ष्वितौ धातुनिर्देशे' द्वारा श्वितप् प्रत्यय लगा कर किया गया है। अत्तिश्च अर्तिश्च व्ययतिश्च तेषाम्—

---

१. यदि 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' (६९६) से उपधा अकार के लोप को स्थानिवत् मान लें तो खर् परे न रहने से 'खरि च' (७४) द्वारा चर्त्व नहीं हो सकता। इस दोष के निवारणार्थ 'न पदान्त-द्विर्वचन-वरे-यलोप-स्वर-सवर्णानुस्वार-दीर्घ-जश्-चर्विधिषु' (१.१.५७) सूत्र में चर्त्व करने में स्थानिवद्भाव के निषेध की व्यवस्था की गई है। इसी सूत्र पर काशिका द्रष्टव्य है।

अत्यतिव्ययतीनाम्, इतरेतरद्वन्द्व । अर्थ —(अत्ति-अति-व्ययतिभ्य ) अद्, ऋ तथा व्येञ् धातु से परे (थल ) थल् का अवयव (इट्) इट् हो जाता है। इन धातुओ से परे थल् को इट् का आगम नित्य ही समझना चाहिये अन्यथा यह सूत्र व्यर्थ हो जायेगा[1]।

'ऋ' धातु का उदाहरण—'आरिथ' तथा 'व्येञ्' धातु का उदाहरण—'विव्यिथ' है। लघुकौमुदी में इन धातुओ का वर्णन नहीं है अत इनकी सिद्धि सिद्धान्तकौमुदी मे देखनी चाहिये।

'अद्' धातु का उदाहरण—'अद्+थ' यहा प्रकृतसूत्र से नित्य इडागम हो कर द्वित्व, हलादिशेष, 'अत आदे' (४४३) से अभ्यास को दीर्घ तथा सवर्णदीर्घ करने पर 'आदिथ' प्रयोग सिद्ध होता है। लिट् मे रूपमाला यथा—(घस्लृ पक्षे) अघास, जक्षतु, जक्षु । जघसिथ, जक्षथु, जक्ष। जघास-जघस, जक्षिव, जक्षिम। (आदेशाभावे)—आद, आदतु, आदु । आदिथ, आदथु, आद। आद, आदिव, आदिम।

लुँट्—मे सर्वत्र 'एकाच उपदेशेऽनु०' (४७५) से इट् का निषेध हो कर 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो जाता है—अत्ता, अत्तारौ, अत्तार । अत्तासि, अत्तास्थ, अत्तास्थ। अत्तास्मि, अत्तास्व, अत्तास्म ।

लृँट्—में भी पूर्ववत् इण्निषेध हो कर चर्त्व हो जाता है—अत्स्यति, अत्स्यत, अत्स्यन्ति। अत्स्यसि, अत्स्यथ, अत्स्यथ। अत्स्यामि, अत्स्याव, अत्स्याम ।

लोँट्—शप् का लुक् हो कर खर् परे रहते चत्व हो जाता है—अत्तु-अत्तात्, अत्ताम्। झि के झकार को अन्त् आदेश हो कर—अदन्तु।

म० पु० के एकवचन मे 'सेर्ह्यपिच्च' (४१५) से सिप् को 'हि' आदेश हो कर शप् का लुक् हो जाता है—अद्+हि। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५५६) हु-झल्भ्यो हेर्धि ।६।४।१०१॥

होर्झलन्तेभ्यश्च हेर्धिः स्यात्। अद्धि-अत्तात्, अत्तम्, अत्त। अदानि, अदाव, अदाम॥

---

१ इस सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी मे निषेध और विकल्प दोनों का प्रकरण चल रहा था परन्तु यहा उन दोनों मे से किसी का भी उपयोग नहीं किया जा सकता। कारण कि यदि निषेध को लाते हैं तो 'ऋ' धातु का ग्रहण व्यर्थ हो जाता है यत उस के थल् मे 'अचस्तास्वत्०' (४८०) तथा 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) के अनुसार निषेध तो स्वत प्राप्त था ही, पुन उस के लिये यत्न कैसा ? और यदि विकल्प को लाते हैं तो अद् और व्येञ् धातुओ का ग्रहण व्यर्थ हो जाता है यत इन में 'उपदेशेऽत्त' (४८१), 'अचस्तास्वत्०' (४८०) तथा 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) के अनुसार इट् का विकल्प पहले से ही प्राप्त था। अत यहां इट् का विधान नित्य ही समझा जाता है। विस्तार के लिये काशिका का अवलोकन करें।

अर्थः—हु (हवन करना, खाना) तथा झलन्त धातुओं से परे हि को धि आदेश हो।

व्याख्या—हु-झल्भ्यः।५।३। हेः।६।१। धिः।१।१। हुश्च झलश्च हुझलः, तेभ्यः—हुझल्भ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। 'अङ्गस्य' के अधिकृत होने से झल् से तदन्तविधि करने पर 'झलन्तेभ्यः' बन जाता है। अर्थः—(हु-झल्भ्यः) हु तथा झलन्तों से परे (हेः) हि के स्थान पर (धिः) धि आदेश हो। 'धि' आदेश अनेकाल् होने से हि के स्थान पर सर्वादेश होता है। 'हु' धातु जुहोत्यादिगण की प्रथम धातु है, इस का उदाहरण 'जुहुधि' है। इस की सिद्धि जुहोत्यादिगण में देखें।

झलन्त का उदाहरण—'अद्+हि' यहां अद् धातु झलन्त है अतः प्रकृतसूत्र से इस से परे हि को धि आदेश हो कर—अद्+धि='अद्धि' प्रयोग सिद्ध होता है[1]।

इस सूत्र में 'हु-झल्भ्यः' इसलिये कहा है कि 'क्रीणीहि, प्रीणीहि, जानीहि' आदि में हि को धि न हो जाये।

शङ्का—'रुदहि, स्वपिहि, श्वसिहि' आदि में रुद्, स्वप्, श्वस् आदि झलन्त धातु हैं। इन से परे 'हि' को यद्यपि 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' (७२.७६) से इट् का आगम हो जाता है तो भी 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' (प०) के अनुसार वह 'हि' का अङ्ग है अतः 'हि' को 'धि' आदेश क्यों नहीं होता?

समाधान—इस शङ्का का समाधान महाभाष्य में तीन प्रकार से किया गया है—

(१) इस सूत्र में पिछले 'घसिभसोर्हलि च' (६.४.१००) सूत्र से 'हलि' की अनुवृत्ति आती है। उसे षष्ठ्यन्ततया विपरिणत कर 'हु और झलन्त से परे हलादि हि को धि आदेश हो ऐसा अर्थ कर लिया जाता है। 'रुदिहि' आदि में 'हि' तो है पर हलादि नहीं इट् का आगम हो कर वह अजादि बन चुका है। अतः धि आदेश नहीं होता।

(२) 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' (प०) इस परिभाषा के अनुसार सूत्र में साक्षात् निर्दिष्ट को ही कार्य हुआ करते हैं अन्य को नहीं। सूत्र में 'हि' का ही निर्देश है और वह 'रुदिहि' आदि में इट् से व्यवहित है अतः यहां 'हि' को 'धि' नहीं होता।

(३) कई वैयाकरणों का यह विचार है कि 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' सूत्र में 'हि' और

---

१. अजी 'हु' से परे 'हि' को 'धि' करना तो ठीक प्रतीत होता है पर झल् से परे उस की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'अद्धि' आदि प्रयोग 'झयो होऽन्यतरस्याम्' (७५) से भी सिद्ध हो सकते हैं। इस का उत्तर यह है कि 'झयो होऽन्यतरस्याम्' सूत्र विकल्प करता है तब पक्ष में 'अद्हि' रूप भी मानना पड़ेगा जो सर्वथा अनिष्ट है। किञ्च झय्प्रत्याहार में श्, ष्, स् के न आने से तब शास्, शिष्, पिष् आदि धातुओं के 'शाधि, शिण्ढि, पिण्ढि' आदि रूप भी न बन सकेंगे।

'धि' दोनो स्थानों पर इकार उच्चारणार्थक है। सूत्र का अर्थ है—हु और झलन्त से परे हकार को धकार हो। 'रुदिहि' आदि में झल् से परे हकार के न होने से धकार आदेश नहीं होता। इस सब का संग्रह यथा—

"हलोऽनुवर्त्तनाद्वापि निर्दिश्यमानतोऽथवा।
हस्य धत्व भवेच्चेति रुदिहीति न दोषभाक्[1]॥"

आशीर्लोट् म० पु० के एकवचन में सिप् को 'हि' आदेश तथा शप् का लुक् हो कर—अद्+हि। अब 'हुझल्भ्यो हेर्धि' (५५६) से धित्व तथा 'तुह्योः०' (४१२) से तातङ् युगपत् प्राप्त होते हैं। दोनों स्वस्वस्थानों में सावकाश हैं। धित्व का अवकाश है विधिलोट् तथा तातङ् का अवकाश 'भवतात्' आदि है। इस पर 'विप्रतिषेधे०' (११३) से परत्व के कारण तातङ आदेश हो कर चर्त्व करने से 'अत्तात्' प्रयोग सिद्ध होता है। तातङ् कर चुकने पर स्थानिवद्भाव के कारण उसे 'हि' मान कर पुन धित्व क्यो न हो? इस शङ्का का समाधान यह है कि 'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधित तद् बाधितमेव'। अर्थात् विप्रतिषेध की एक बार गति प्रवृत्ति होती है उस में जो बाधित हो जाता है वह सदा के लिये बाधित हो जाता है, दुबारा उस की प्रवृत्ति नही हुआ करती।

लोट् के उ० पु० के एकवचन मे 'मेर्नि' (४१७) से मि को नि आदेश, 'आडुत्तमस्य०' (४१८) से उसे आट् का आगम, शप् तथा शप् का लुक् हो कर 'अदानि' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि आट् के आगम का फल 'अदानि' आदि में ही प्रकट होता है, स्वादिगण में तो शप् के अकार के साथ इस का सवर्णदीर्घ करना पडता था। लोट् मे रूपमाला यथा—अत्तु-अत्तात्, अत्ताम्, अदन्तु। अद्धि-अत्तात्, अत्तम्, अत्त। अदानि, अदाव, अदाम।

लेट्—प्र० पु० के एकवचन मे तिप्, शप्, 'इतश्च' (४२४) से इकारलोप, शप्लुक् तथा 'आडजादीनाम्' (४४४) से आट् का आगम हो कर 'आ+अद्+त्' हुआ। अब इस स्थिति मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५५७) अद सर्वेषाम् ।७।३।१००॥

---

१ यहा पर चौथा समाधान यह भी हो सकता है कि 'रुद्+हि' इस अवस्था में धित्व और इट् युगपत् प्राप्त होते हैं। दोनो अपने अपने स्थानों पर सावकाश हैं (धित्व 'अद्धि' आदि मे तथा इट् 'रोदिति' आदि मे सावकाश है)। तब 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) के अनुसार परत्व के कारण इट् हो जाता है। अब यदि धित्व प्राप्त भी हो तो 'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधित तद् बाधितमेव' (प०) के अनुसार वह दुबारा प्रवृत्त नहीं हो सकता। सिद्धान्तकौमुदी में भट्टोजिदीक्षित ने 'परत्वाद् इटि धित्व न' लिख कर इसी समाधान की ओर सकेत किया है।

अदः परस्य अपृक्तसार्वधातुकस्य अट् स्यात् सर्वमतेन । आदत्, आत्ताम्, आदन् । आदः, आत्तम्, आत्त । आदम्, आद्व, आद्म । अद्यात्, अद्याताम्, अद्युः । अद्यात्, अद्यास्ताम्, अद्यासुः ॥

अर्थः—अद् धातु से परे अपृक्त सार्वधातुक को अट् का आगम हो सब आचार्यों के मत से ।

व्याख्या—अदः ।५।१। सर्वेषाम् ।६।३। अपृक्तस्य ।६।१। ('अस्तिसिचोऽपृक्ते' से विभक्तिविपरिणाम कर के[1]) । सार्वधातुकस्य ।६।१। ('तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' से विभक्तिविपरिणाम कर के)।अट् ।१।१। ('अङ् गार्ग्यगालवयोः' से)।अर्थः—(अदः) अद् धातु से परे (अपृक्तस्य सार्वधातुकस्य) अपृक्त सार्वधातुक का अवयव (अट्) अट् हो जाता है (सर्वेषाम्) सब आचार्यों के मत में । इस सूत्र से पीछे अष्टाध्यायी में गार्ग्य और गालव आचार्यों के मत की चर्चा चल रही थी, कहीं यहां भी विद्यार्थी उन के मत में ही अट् का आगम समझ कर विकल्प न कर दें अतः 'सर्वेषाम्' कहा गया है । टित् होने से अट् का आगम अपृक्त-सार्वधातुक का आद्यवयव बनता है ।

'आ+अद्+त्' यहां पर 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' (१७८) से 'त्' अपृक्त है, किञ्च 'तिङ्शित्सार्व०' (३८६) द्वारा सार्वधातुक भी है अतः प्रकृतसूत्र से इसे अट् का आगम हो कर—आ+अद्+अट् त् । अब अनुबन्धलोप हो कर 'आटश्च' (१६७) द्वारा वृद्धि करने से 'आदत्' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार म० पु० के एकवचन में जब सिप् का 'स्' रह जाता है तब उसे अट् का आगम हो कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग करने पर 'आदः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ताम्, तम्, त में चर्त्व हो जाता है । लँङ् में रूपमाला यथा—आदत्, आत्ताम्, आदन् । आदः, आत्तम्, आत्त । आदम्, आद्व, आद्म ।

वि० लिँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, 'इतश्च' (४२४) से इकारलोप, यासुट्, शप् तथा शप् का लुक् हो कर—अद्+यास्+त् । यहां लिँङ् के सार्वधातुक होने के कारण 'लिङः सलोपः०' (४२७) से अनन्त्य सकार का लोप करने पर 'अद्यात्' प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहां शप् का अकार न मिलने से 'अतो येयः' (४२८) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता । रूपमाला यथा—अद्यात्, अद्याताम्, अद्युः ('उस्यपदान्तात्') । अद्याः, अद्यातम्, अद्यात । अद्याम्, अद्याव, अद्याम ।

आ०लिँङ् मे 'अद्+यास्+त्' इस स्थिति में लिँङाशिषि' (४३१) से आ० लिँङ् के आर्धधातुक होने के कारण 'लिङः सलोपः०' (४२७) से सकार का लोप नहीं होता । 'स्कोः०' (३०६) से संयोगादि सकार का लोप हो कर 'अद्यात्' रूप सिद्ध हो

---

१. 'गुणोऽपृक्ते' इत्यतोऽपृक्तग्रहणमनुवर्त्तत इत्युद्घट्टयन्तो बालमनोरमाकाराः श्रीवासुदेवदीक्षिता अत्र भ्रान्ताः ।

जाता है। इसी प्रकार सिप् में 'अद्या' रूप बनता है [वि० लिंङ् और आ० लिंङ् दोनों के तिप् और सिप् प्रत्ययों में 'अद्यात्' और 'अद्या' रूप बनते हैं परन्तु प्रक्रिया में बड़ा अन्तर है—इसे ध्यान में रखना चाहिये]। रूपमाला यथा—अद्यात्, अद्यास्ताम्, अद्यासु। अद्या, अद्यास्तम्, अद्यास्त। अद्यासम्, अद्यास्व, अद्यास्म।

लुंङ् मे घस्लृ आदेश करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५५८) लुंङ्-सनोर्घस्लृ ।२।४।३७॥

अदो घस्लृ स्याल्लुंङि सनि च। लृदित्त्वादङ्—अघसत्। आत्सीत्॥

अर्थ—लुंङ् या सन् प्रत्यय परे होने पर अद् के स्थान पर घस्लृ आदेश हो।

व्याख्या—लुंङ्-सनो ।७।२। घस्लृ ।१।१। (अविभक्तिको निर्देश) अद ।६।१। ('अदो जग्धिर्ल्यप्ति०' से)। अर्थ—(लुंङ्-सनो) लुंङ् या सन् परे हो तो (अद) अद् के स्थान पर (घस्लृ) घस्लृ आदेश हो। 'घस्लृ' मे अनुनासिक ऋकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'घस्' मात्र अवशिष्ट रहता है। अनेकाल् होने से यह आदेश अद् के स्थान पर सर्वादेश होता है। इसे लृदित् करने का फल 'पुषादि०' (५०७) द्वारा च्लि को अङ् करना है।

लुंङ्—अद् धातु से लुंङ्, प्र० पु० के एकवचन मे तिप्, इकारलोप तथा प्रकृत-सूत्र से अद् को घस्लृ आदेश हो कर—घस्+त्। अब 'च्लि लुंङि' (४३७) से च्लि, 'पुषादि०' (५०७) से च्लि को अङ् तथा 'लुंङ्लेंङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (४२६) से अङ् को अट् का आगम करने पर 'अघसत्' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। ध्यान रहे कि 'गम-हनजनखनघसां लोप क्ङित्यनङि' (५०५) में 'अनङि' कहा गया है अत यहा अङ् परे रहते उपधालोप नही होता। लुंङ् में रूपमाला यथा—अघसत्, अघसताम्, अघसन्। अघसः, अघसतम्, अघसत। अघसम्, अघसाव, अघसाम।

सन् का उदाहरण—अत्तुमिच्छति जिघत्सति। यहा 'स स्यार्धधातुके' (७०७) से घस् के सकार को तकार हो जाता है। विशेष सिद्धि सन्नन्त-प्रक्रिया में देखें।

शङ्का—धातुपाठ के भ्वादिगण मे 'घस्लृ अदने' धातु पढ़ी गई है, उस का लुंङ् मे 'अघसत्' तथा सन् में 'जिघत्सति' रूप स्वत बन जाता है। अत इन रूपों के लिये 'लुंङ्सनोर्घस्लृ' सूत्र बनाना व्यर्थ है।

समाधान—यदि सूत्र निर्माण न करते तो अद् का लुंङ् आदि में 'आत्सीत्' आदि अनिष्ट रूप बन जाता। अत उस की निवृत्ति के लिये सूत्रनिर्माण आवश्यक है।

---

१ अट् या आट् का आगम बाद मे ही करना विद्यार्थियों के लिये उचित है। यदि यहां इस आगम को पहले करते तो अद् धातु के अजादि होने के कारण 'आडजादीनाम्' (४४४) से आट् का आगम करना पड़ता तब 'आघसत्' यह अनिष्ट रूप बन जाता।

लृँङ्--आत्स्यत्, आत्स्यताम्, आत्स्यन्। आत्स्य:, आत्स्यतम्, आत्स्यत। आत्स्यम्, आत्स्याव, आत्स्याम।

[लघु०] हन हिंसा-गत्योः ॥२॥ हन्ति ॥

अर्थः—हन् धातु 'हिंसा करना-मारना तथा गमन करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—'हिंसा करना' अर्थ में यह धातु अत्यन्त प्रसिद्ध है। 'गमन करना' अर्थ में इस का प्रयोग प्राचीन साहित्य में अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है[1] परन्तु आलङ्कारिक लोग गमन अर्थ में इस के प्रयोग को दोषावह मानते हैं[2]। गणितशास्त्र में इस धातु का 'गुणा करना' अर्थ बहुत प्रचलित है। गुण्यान्तमङ्कं गुणकेन हन्यात्—लीलावती। गुणन भी एक प्रकार का गमन ही है।

लँट्—हन् धातु से लँट्, तिप्, शप् तथा 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (५५२) से शप् का लुक् करने पर —हन्+ति। अब 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (७८) से अपदान्त नकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) से अनुस्वार को परसवर्ण-नकार करने पर 'हन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है। प्र० पु० के द्विवचन तस् में शप् का लुक् हो कर 'हन्+तस्' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५५९) अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनामनुनासिक लोपो झलि क्ङिति ।६।४।३७॥

अनुनासिकान्तानामेषां[3] वनतेश्च लोपः स्यात्, झलादौ किति ङिति च परे। यमि-रमि-नमि-गमि-हनि-मन्यतयोऽनुदात्तोपदेशाः। तनुँ, क्षणुँ, क्षिणुँ, ऋणुँ, तृणुँ, घृणुँ, वनुँ, मनुँ—तनोत्यादयः। हतः, घ्नन्ति। हंसि, हथः, हथ। हन्मि, हन्वः, हन्मः। जघान, जघ्नतुः, जघ्नुः॥

अर्थः—वन् धातु का तथा अनुनासिकान्त अनुदात्तोपदेश धातुओं और अनुनासिकान्त तनोत्यादि धातुओं का लोप हो झलादि कित् ङित् परे हो तो।

---

१. यथा रामायण में—'किं नु कार्यं हतस्येह' (अयोध्या० ७.३.२) हतस्य—दुःख प्रापितस्य (तिलकटीका); महाभारत में—'ब्राह्मणो हन्तुमर्हति' (उद्योग० ४२.३५) हन्तुम्—गन्तुम् (नीलकण्ठीटीका)। 'तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुः' (शाकुन्तल १.३४) यहां पर हन् धातु गमनार्थक है।

२. 'कुञ्जं हन्ति कृशोदरी' (साहित्यदर्पण सप्तमपरिच्छेद) सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम्' (काव्यप्रकाश सप्तमोल्लास) इन स्थानों पर आलङ्कारिकों ने असमर्थत्वदोष माना है।

३. एषाम्—अनुदात्तोपदेशानां तनोत्यादीनाञ्चेत्यर्थः।

व्याख्या—अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनाम् ।६।३। अनुनासिक ।६।३। (लुप्तविभक्तिको निर्देश)। लोप ।१।१। झलि ।७।१। क्ङिति ।७।१। अनुदात्त उपदेशे येषां ते—अनुदात्तोपदेशा, बहुव्रीहि०। तनोतिरादिर्येषान्ते—तनोत्यादय, बहुव्रीहि०। अनुदात्तोपदेशाश्च वनतिश्च तनोत्यादयश्च तेषाम्—अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्, इतरेतरद्वन्द्व०। 'अनुनासिक' यह लुप्तषष्ठ्यन्त पद अनुदात्तोपदेशो तथा तनोत्यादियों का विशेषण है[1], विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अनुनासिकान्तानाम्' बन जाता है। क् च ङ् च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन् क्ङिति, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहि०। 'झलि' पद 'क्ङिति' का विशेषण है। 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' (प०) से तदादिविधि हो कर 'झलादौ क्ङिति' बन जाता है। अर्थ—(अनुनासिक=अनुनासिकान्तानाम्) अनुनासिक वर्ण जिन के अन्त में है ऐसे (अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनाम्) अनुदात्तोपदेशों तथा तनोत्यादि धातुओं का किञ्च वन् धातु का (लोप) लोप हो जाता है (झलि=झलादौ) झलादि (क्ङिति) कित् ङित् परे हो तो। षष्ठी होने से यह लोप अलोऽन्त्यपरिभाषा द्वारा अन्त्य अल् अर्थात् अनुनासिक वर्ण का ही होता है। अनुदात्तोपदेश धातु पीछे (४७५ पर) गिना चुके हैं, उन में अनुनासिकान्त अनुदात्तोपदेश धातु छ हैं - (१) यम्, (२) रम्, (३) नम्, (४) गम्, (५) हन्, (६) मन्य अर्थात् दिवादिगणीय मन् धातु। वन् धातु भ्वादिगण में 'शब्द करना, सेवा करना, हिंसा करना' आदि अर्थों में पढ़ी गई है, उसी का यहां ग्रहण अभीष्ट है[2]। अनुनासिकान्त तनोत्यादि (तनादिगणपठित) धातु आठ हैं[3]—(१) तनुं, (२) क्षणुं, (३) क्षिणुं, (४) ऋणुं, (५) तृणुं, (६) घृणु, (७) वनुं, (८) मनुं। इस प्रकार कुल मिला कर पन्द्रह धातुओं के अन्त्य अनुनासिक वर्ण का झलादि कित् ङित् परे होने पर लोप हो जाता है। उदाहरण यथा—

(१) यम् (रोकना)—यत (क्त), यतवान् (क्तवतुं), यत्वा (क्त्वा)।
(२) रम् (खेलना)—रत (क्त), रतवान् (क्तवतुं), रत्वा (क्त्वा)।
(३) नम् (झुकना)—नत, नतवान्, नत्वा।
(४) गम् (जाना)—गत, गतवान्, गत्वा।

---

१. वन् धातु स्वत अनुनासिकान्त है अत व्यावर्त्य न होने से इसे उस का विशेषण बनाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अव्यभिचार में विशेषण नहीं होता—'सम्भवव्यभिचाराभ्या स्याद्विशेषणमर्थवत्'।

२ 'वनुं याचने' धातु तनोत्यादियों में भी पठित है, यहा पर 'वन्' से उस का ग्रहण अभीष्ट नहीं, क्योंकि वह तो तनोत्यादित्वेन गृहीत है ही।

३ तनोत्यादिगण में 'षणुं' धातु भी अनुनासिकान्त पढ़ी गई है परन्तु 'अनसनतनां सञ्झलो' (६७६) द्वारा उस में आत्व का विशेष विधान किया है अतः उस का यहां ग्रहण नहीं किया गया।

(५) हन् (मारना)—हतः, हतवान्, हत्वा ।
(६) मन्य (मानना-जानना)—मतः, मतवान्, मत्वा ।
(७) वन् (शब्द करना, सेवा करना, हिंसा करना)—वतिः (क्तिन्)[1] ।
(८) तनुं (विस्तार करना)—ततः, ततवान्, तत्वा[2] । अतत, अतथाः[3] ।
(९) क्षणुं (हिंसा करना)—क्षतः, क्षतवान्, क्षत्वा । अक्षत, अक्षथाः ।
(१०) क्षिणुं (हिंसा करना)—क्षितः, क्षितवान्, क्षित्वा । अक्षित, अक्षिथाः ।
(११) ऋणुं (जाना)—ऋतः, ऋतवान्, ऋत्वा । आर्त, आर्थाः ।
(१२) तृणुं (खाना)—तृतः, तृतवान्, तृत्वा । अतृत, अतृथाः ।
(१३) घृणुं (चमकना)—घृतः, घृतवान्, घृत्वा । अघृत, अघृथाः ।
(१४) वनुं (मांगना)—वतः, वतवान्, वत्वा । अवत, अवथाः ।
(१५) मनुं (जानना)—मतः, मतवान्, मत्वा । अमत, अमथाः ।

अनुदात्तोपदेश धातुओं के साथ 'अनुनासिकान्त' विशेषण इस लिये लगाया गया है कि 'मुक्तः, मुक्तवान्' इत्यादियों में मकार का लोप न हो जाये, क्योंकि मुच् धातु भी उपदेश में अनुदात्त है । तनोत्यादियों के साथ यह विशेषण 'डुकृञ् करणे' धातु की निवृत्ति के लिये है ।

'झलादि' कहने से 'गम्यते, नम्यते, हन्यते' आदि में यक् के परे होने पर लोप नहीं होता । 'कित् ङित्' कहने से 'हन्ति' आदि में लोप नहीं होता ।

'हन्+तस्' यहां हन् धातु अनुनासिकान्त अनुदात्तोपदेश है । 'सार्वधातुकमपित्' (५००) के अनुसार तस् प्रत्यय ङित् है और यह झलादि भी है अतः प्रकृतसूत्र से हन् के अन्त्य अल्-नकार का लोप हो कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग करने से 'हतः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

प्र० पु० के बहुवचन में शब्लुक् तथा 'झोऽन्तः' (३८९) से झ् को अन्त् आदेश हो कर—हन्+अन्ति । यहां झलादि न होने के कारण अनुनासिकलोप नहीं होता । अब 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' (५०५) से उपधालोप हो कर नकार परे

---

१. 'ति-सु-श्र०' (८४५) से इट् का निषेध हो जाता है । क्तिच् प्रत्यय में—वन्तिः, यहां पर 'न क्तिचि दीर्घश्च' (६.४.३९) से अनुनासिकलोप का निषेध हो जाता है । अन्यत्र झलादिप्रत्ययों में धातु के सेट् होने से सर्वत्र इट् हो जाता है अतः इट् का व्यवधान हो जाने से अनुनासिकलोप का उदाहरण नहीं मिलता ।

२. 'उदितो वा' (८८२) से क्त्वा में इट् का विकल्प होता है । इट् के अभाव में अनुनासिकलोप समझना चाहिये । निष्ठा में 'यस्य विभाषा' (७.२.१५) से इट् का निषेध हो जायेगा ।

३. ये लुँङ् के रूप हैं और झलादि ङित् के उदाहरण हैं । इन की सिद्धि तनादिगण में देखें । इसी प्रकार आगे भी समझ लें ।

रहने के कारण 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' (२८७) से हकार को धकार आदेश करने से 'घ्नन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है।

म० पु० के एकवचन में नकार को केवल अनुस्वार हो जाता है। यय परे न होने से परसवर्ण नहीं होता—हसि। उत्तमपु० में झल् परे न होने से अनुस्वार भी नहीं होता। लँट् में रूपमाला यथा—हन्ति, हतः, घ्नन्ति। हंसि, हथ, हथ। हन्मि, हन्व, हन्म।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, णल्, द्वित्व, हलादिशेष, 'कुहोश्चुः' (४५४) से अभ्यास के हकार को झकार तथा 'अभ्यासे चर्च' (३६६) से झकार को जकार हो कर—जहन्+अ। यहा पर णल् णित् है अत उस के परे होने पर 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' (२८७) से हकार को धकार तथा 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधा-वृद्धि करने पर 'जघान' रूप सिद्ध होता है। द्विवचन मे 'जहन्+अतुस्' इस स्थिति में 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से अतुस् कित् है, अत 'गमहनजनखन०' (५०५) मे उपधालोप, तथा नकार परे होने के कारण 'हो हन्ते०' (२८७) से हकार को कुत्व-धकार आदेश करने पर—अघ्नतुः। इसी प्रकार बहुवचन में—अघ्नुः।

म० पु० एकवचन थल्—हन् धातु पीछे अनुदात्तों में पढ़ी गई है अत अनिट् है। लिँट्मात्र में क्रादिनियम से इट् प्राप्त होता है। 'उपदेशेऽजनत' (४८१) से थल् में उस का निषेध हो जाता है, परन्तु भारद्वाजनियम से पुन विकल्प हो जाता है। इस प्रकार थल् में यह धातु वेट् तथा अन्यत्र लिँट् में सेट् हो जाती है। थल् में इट् करने पर 'जहन्+इथ' तथा इट् के अभाव में जहन्+थ'। अब इन दोनों स्थानों पर हकार को धकार करना है परन्तु ञित् णित् या नकार इन मे से किसी के भी परे न रहने से वह 'हो हन्ते०' (२८७) से सिद्ध नहीं हो सकता। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५६०) अभ्यासाच्च ।७।३।५५।।

अभ्यासात् परस्य हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात्। जघनिथ-जघन्थ, जघ्नथुः, जघ्न। जघान-जघन, जघ्निव, जघ्निम। हन्ता। हनिष्यति। हन्तु-हतात्, हताम्, घ्नन्तु।।

अर्थ—अभ्यास से परे भी हन् धातु के हकार के स्थान पर कवर्ग आदेश हो।

व्याख्या—अष्टाध्यायी मे इस से पिछले 'हो हन्ते०' (७।३।५४) सूत्र में ञित् णित् या नकार परे होने पर हन् के हकार को कवर्गादेश कहा गया है। अब इस सूत्र द्वारा अभ्यास से परे भी कवर्गादेश विधान किया जाता है। यहा पर 'च' का ग्रहण पूर्वविधि के संग्रह के लिये है। अभ्यासात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। हन्ते ।६।१। ह ।६।१। ('हो हन्ते०' से)।कु।१।१। ('चवो कु०' से)। अर्थ—(अभ्यासात्) अभ्यास

से परे (च) भी (हन्तेः) हन् धातु के (हः) हकार के स्थान पर (कु) कवर्ग आदेश हो जाता है। हकार के स्थान पर आन्तरतम्य से घकार ही कवर्गादेश होता है—यह पीछे (२८७) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

'जहन्+इथ, जहन्+थ' इन दोनों स्थानों पर प्रकृतसूत्र द्वारा अभ्यास से परे हन् के हकार को कुत्व-घकार आदेश हो कर इट्पक्ष में 'जघनिथ' तथा इट् के अभाव में अनुस्वार और परसवर्ण करने पर 'जघन्थ' रूप सिद्ध होता है।

लिँट् उत्तमपु० का एकवचन णल् 'णलुत्तमो वा' (४५६) सूत्र से विकल्प कर के णित् होता है। णित्वपक्ष में 'हो हन्तेः०' (२८७) से तथा णित्वाभाव में 'अभ्यासाच्च' (५६०) से कुत्व घकार हो कर 'जघान-जघन' दो रूप बनते हैं। लिँट् में रूपमाला यथा—जघान, जघ्नतुः, जघ्नुः। जघनिथ-जघन्थ, जघ्नथुः, जघ्न। जघान-जघन, जघ्निथ, जघ्निम।

लुँट्—में 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से सर्वत्र इट् का निषेध हो कर अनुस्वार और परसवर्ण हो जाता है—हन्ता, हन्तारौ, हन्तारः। हन्तासि, हन्तास्थः, हन्तास्थ। हन्तास्मि, हन्तास्वः, हन्तास्मः।

लृँट्—में 'ऋद्धनोः स्ये' (४६७) से सर्वत्र इट् का आगम हो जाता है—हनिष्यति, हनिष्यतः, हनिष्यन्ति। हनिष्यसि, हनिष्यथः, हनिष्यथ। हनिष्यामि, हनिष्यावः, हनिष्यामः।

लोँट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, श्लुक्, एरुः, पूर्ववत् अनुस्वार तथा परसवर्ण करने पर—हन्तु। आशीर्लिँट् में तु को तातङ् आदेश हो कर उस के ङित् होने के कारण 'अनुदात्तोपदेशवनति०' (५५६) द्वारा अनुनासिक-नकार का लोप हो जाता है—हतात्।

मध्यमपु० के एकवचन में सिप्, उसे हि आदेश, शप् तथा श्लुक् हो कर 'हन्+हि' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५६१) हन्तेर्जः ।६।४।३६॥

हौ परे॥

अर्थः—'हि' परे होने पर हन् के स्थान पर 'ज' आदेश हो।

व्याख्या—हन्तेः ।६।१। जः ।१।१ हौ ।७।१। ('शा हौ' से)। अर्थः—(हौ) 'हि' परे होने पर (हन्तेः) हन् धातु के स्थान पर (जः) 'ज' आदेश हो जाता है। 'ज' आदेश सस्वर है अतः अनेकाल् होने के कारण हन् के स्थान पर सर्वादेश होता है।

'हन्+हि' यहां 'हि' परे है अतः प्रकृतसूत्र से हन् को 'ज' आदेश हो कर—ज+हि। अब यहां 'अतो हेः' (४१६) से 'हि' का लुक् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—(५६२) असिद्धवदत्राऽऽभात् ।६।४।२२॥

इत ऊर्ध्वम् आपादसमाप्तेराभीयम्। समानाश्रये तस्मिन्[1] कर्त्तव्ये तद्[2] असिद्धम्। इति जरयाऽसिद्धत्वान्न हेर्लुक्। जहि-हतात्, हतम्, हत। हनानि, हनाव, हनाम। अहन्, अहनाम्, अघ्नन्। अहन्, अहतम्, अहत। अहनम्, अहन्व, अहन्म। हन्यात्, हन्याताम्, हन्यु ॥

अर्थ—यहा से लेकर 'भस्य' (६.४.१२९) अधिकार की समाप्ति तक होने वाले कार्यों को 'आभीय' कार्य कहते हैं। किसी आश्रय को ले कर यदि कोई आभीय कार्य हो चुका हो तो पुन उसी आश्रय को ले कर होने वाले दूसरे आभीय कार्य की दृष्टि में वह पहला आभीय कार्य असिद्ध हो जाता है।

व्याख्या—असिद्धवत् इत्यव्ययपदम्। अत्र इत्यव्ययपदम्। आ इत्यव्ययपदम्। भात् ।५।१। यह अधिकारसूत्र है। इस की अवधि आभात्' बताई गई है अर्थात् भाऽधिकार की समाप्ति तक[3]। इसी पाद में आगे 'भस्य' (६.४.१२९) का अधिकार प्रारम्भ किया गया है जो पाद की समाप्ति तक जाता है। इस प्रकार इस सूत्र का अधिकार भी षष्ठाध्याय के चतुर्थपाद की समाप्ति तक समझना चाहिये। 'अत्र' में निमित्तसप्तम्यन्त से त्रल् हुआ है, इस तरह समानाश्रयत्व प्राप्त हो जाता है। अर्थः—(आभात्) यहां से आगे 'भस्य' (६.४.१२९) अधिकार की समाप्ति अर्थात् पाद की समाप्ति तक जो कार्य कहेंगे वह (अत्र) समानाश्रय वाले दूसरे आभीय कार्य के करने में (असिद्धवत्) असिद्धवत् अर्थात् निष्पन्न हुआ भी न किये गये के समान होता है। तात्पर्य यह है कि दो आभीय कार्यों में से यदि किसी निमित्त को लेकर एक आभीय कार्य प्रवृत्त हो चुका होगा तो पुनः उसी निमित्त को लेकर प्राप्त होने वाला दूसरा आभीय कार्य उस प्रथम कार्य को असिद्ध समझेगा। उदाहरण यथा—

'ज+हि' यहां पर 'हन्तेज' (५६१) से 'हि' का आश्रय कर के हन् के स्थान पर 'ज' आदेश किया गया है। इधर इसी 'हि' का आश्रय कर के 'अतो हे' (४१६) से 'हि' का लुक् प्राप्त होता है। ये दोनों आभीय कार्य हैं। इस पर प्रकृतसूत्र से 'अतो हे' (४१६) की दृष्टि में पहले किया गया 'हन्तेर्ज' (५६१) सूत्र का कार्य असिद्ध हो जाता है। उस के असिद्ध होने से 'अतो हे' (४१६) सूत्र को 'ज' की जगह

---

१ तस्मिन्=आभीये।

२. तद्=आभीयम्।

३ 'आभात्' में 'आङ्' का अभिविधि अर्थ में प्रयोग किया गया है। भाऽधिकारम् अभिव्याप्येत्यर्थः। इसी 'आभ' शब्द से 'तत्र भव' (१०८९) के अर्थ में छप्रत्यय करने पर 'आभीय' शब्द निष्पन्न होता है। आभीय अर्थात् भाऽधिकार की समाप्ति तक पाया जाने वाला कार्य व सूत्रादि।

'हन्' दिखाई देता है। तब अदन्त न होने से उसकी प्रवृत्ति नहीं होती—'जहि' रूप असुरक्षित रहता है।

दूसरा उदाहरण—अस् धातु के लोँट् के मध्यमपु० के एकवचन में सिप्, शप्, श्लुक् तथा सि को हि आदेश हो कर 'अस्+हि' इस स्थिति में 'श्नसोरल्लोपः' (५७४) से अस् के अकार का लोप हो जाता है। तब 'स्+हि' इस दशा में 'हि' का आश्रय कर के 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (५७७) सूत्र से सकार को एकार आदेश करने पर 'ए+हि' हुआ। अब यहां 'हि' का पुनः आश्रय कर के दूसरा आभीयकार्य 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (५५६) द्वारा 'हि' को 'धि' आदेश करना है, परन्तु झल् के न रहने से वह हो नहीं सकता। इस पर प्रकृतसूत्र से पहले किया गया एत्वरूप आभीयकार्य असिद्ध हो जाता है। इस से 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (५५६) को यहां झल् दिखाई देता है एकार नहीं, तो वह प्रवृत्त हो कर 'हि' को 'धि' कर देता है। इस प्रकार 'एधि' रूप सिद्ध हो जाता है। इत्यम्—शास् के लोँट् में 'शाधि' की सिद्धि में इस सूत्र का उपयोग होता है। इस के लिये सिद्धान्तकौमुदी में 'शासु अनुशिष्टौ' धातु देखें।

इस असिद्ध प्रकरण में दो बातें आवश्यक हैं—(१) दोनों कार्य (असिद्ध होने वाला प्रथम कार्य तथा जिसकी दृष्टि में असिद्ध होना है—वह दूसरा कार्य) आभीय होने चाहियें। (२) दोनों आभीय कार्यों का एक ही निमित्त को आश्रय करना चाहिये।

नोट—विद्यार्थियों को यह सूत्र यहां परिश्रमपूर्वक समझ लेना चाहिये। परीक्षक प्रायः इसे प्रष्टव्य सूत्र समझते हैं।

आशीर्वाद में सिप् को हि आदेश हो कर 'हन्+हि' इस अवस्था में नित्य होने से प्रथम तातङ् आदेश हो जाता है—हन्+तात्। अब स्थानिवद्भाव से यद्यपि तातङ् को हि मान कर 'हन्तेर्जः' (५६१) की प्राप्ति होती है तथापि परत्व के कारण 'अनुदात्तोपदेश०' (५५६) से नकार का लोप हो कर 'हतात्' प्रयोग सिद्ध होता है।

उत्तमपु० में आट् का आगम विशेष है। लोँट् की रूपमाला यथा—हन्तु, हतात्, हताम्, घ्नन्तु। जहि-हतात्, हतम्, हत। हनानि, हनाव, हनाम।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, शप् का लुक्, 'इतश्च' (४२४) से इकारलोप तथा 'लुङ्लङ्०' (४२३) से अट् का आगम हो कर 'अहन्+त्' इस स्थिति में 'हल्ङ्याब्भ्यः०' (१७६) से अपृक्त तकार का लोप करने पर 'अहन्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि 'अहन्' की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा नहीं अतः 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) से नकार का लोप नहीं होता। द्विवचन में तस् को ताम् आदेश हो कर नकार का लोप करने से 'अहताम्' प्रयोग सिद्ध होता है। बहुवचन में झि को अन्त् आदेश, 'गमहनजन०' (५०५) से उपधालोप तथा 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' (२८७) से कुत्व हो कर 'अघ्नन्' रूप सिद्ध होता है। मध्यमपु० के एकवचन में सिप्, शप्, श्लुक्, इकारलोप तथा अट् का आगम हो कर—अहन्+स्। अब 'हल्ङ्याब्भ्यः०'

(१७९) से अपृक्त सकार का लोप करने पर 'अहन्' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—अहन, अहताम्, अघ्नन्, । अहन्, अहतम्, अहत । अहनम्, अहन्व, अहन्म ।

विधिलिङ्—प्र० पु० के एकवचन मे तिप्, इतश्च, यासुट्, शप्, शप् का लुक् तथा सार्वधातुक के अवयव सकार का लोप हो कर—हन्यात् । रूपमाला यथा—हन्यात् हन्याताम् हन्यु । हन्या, हन्यातम्, हन्यात । हन्याम्, हन्याव, हन्याम ।

आ० लिङ् की विवक्षा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—(५६३) आर्धधातुके ।२।४।३५॥

इत्यधिकृत्य ॥

अर्थ —यह अधिकारसूत्र है। यहां से आगे (अष्टाध्यायी में) जो कार्य कहें वह आर्धधातुक की विवक्षा मे हो।

व्याख्या—आर्धधातुके ।७।१। यहा 'आर्धधातुके' में विषयसप्तमी समझी जाती है। परसप्तमी नही[1]। यह अधिकारसूत्र है। इस का अधिकार 'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञो' (२।४।५८) सूत्र तक जाता है। अर्थ —(आर्धधातुके) यहा से आगे 'ण्यक्षत्रियार्षं०' सूत्र तक जो कार्य कहेंगे वे आर्धधातुक के विषय मे अर्थात् आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में हों। तात्पर्य यह है कि ज्योंहि आर्धधातुक प्रत्यय लाने की इच्छा होगी तभी इस अधिकार के कार्य हो जायेंगे, प्रत्यय की उत्पत्ति बाद में होगी। यथा —'अस्तेर्भूः' (५१६), आर्धधातुक की विवक्षा में अस् को भू आदेश हो। बभूव, बभूवतु, बभूवु । 'ब्रुवो वचि' (५९६), आर्धधातुक की विवक्षा में ब्रू को वच् आदेश हो। उवाच, ऊचतु, ऊचु । इन सब की सिद्धि आगे इसी गण में यथास्थान देखें।

---

१ यदि यहा परसप्तमी मानेंगे तो अनेक दोष उपस्थित हो जायेंगे। निदर्शनार्थ अस् (होना) धातु का 'भव्यम्' तथा ब्रू (बोलना) धातु का 'वाच्यम्' रूप न बन सकेगा। क्योंकि तब धातु से परे पहले आर्धधातुक प्रत्यय लाना पडेगा और तदनन्तर 'अस्तेर्भूः' और 'ब्रुवो वचि' से भू और वच् आदेश होंगे। यदि पहले प्रत्यय करेंगे तो अस् धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्' (७८०) से ण्यत् तथा ब्रू धातु से 'अचो यत्' (७७३) से यत् लाना पडेगा तब भू और वच् आदेश हो कर 'भाव्यम्' और 'वच्यम्' ये अनिष्ट रूप बन जायेंगे। परन्तु विषयसप्तमी मानने से कुछ दोष नहीं आता। आर्धधातुक की विवक्षा में पहले अस को भू तथा ब्रू को वच् आदेश हो जायेगा। तब अजन्त होने के कारण भू से यत्, तथा हलन्त होने के कारण वच् से ण्यत् प्रत्यय होकर 'भव्यम्' और 'वाच्यम्' रूप बन जायेंगे। 'वच्यात्' में 'अतो लोप' (४७०) द्वारा अकार का लोप भी तभी सम्भव हो सकता है यदि यहा विषयसप्तमी मानी जाये— यह सब आगे स्पष्ट है।

इस प्रकार 'आर्धधातुके' का अधिकार चला कर इस के अन्तर्गत प्रकृतोपयोगी सूत्रों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५६४) हनो वध लिँङि ।२।४।४२।।

,, ,, (५६५) लुँङि च ।२।४।४३।।

वधादेशोऽदन्तः। आर्धधातुक इति विषयसप्तमी। तेन आर्धधातुकोपदेशेऽदन्तत्वाद् 'अतो लोपः' (४७०)—वध्यात् वध्यास्ताम्। अवधीत्। अहनिष्यत्।।

अर्थः—आर्धधातुक लिँङ् की विवक्षा हो तो हन् के स्थान पर 'वध' आदेश होता है। लुँङ् की विवक्षा में भी हन् के स्थान पर वध आदेश होता है। 'वध' आदेश अदन्त है। इसलिये आर्धधातुक के उपदेश में 'अतो लोपः' (४७०) के द्वारा इस के अकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—हनः ।६।१। वध ।१।१। (लुप्तविभक्तिको निर्देशः)। लिँङि ।७।१। आर्धधातुके ।७।१। (अधिकृत है)। लुँङि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। 'हनो वध' इत्यनुवर्त्तते। अर्थः—(आर्धधातुके लिँङि) आर्धधातुक लिँङ् के विषय में (हनः) हन् के स्थान पर (वध) वध आदेश होता है। (लुँङि) लुँङ् के विषय में (च) भी हन् के स्थान पर वध आदेश हो जाता है। 'वध' आदेश अदन्त है हलन्त नहीं[1]। इसे अदन्त करने का फल लिँङ् में कुछ नहीं, क्योंकि वहां 'अतो लोपः' (४७०) से अन्त्य अकार का लोप हो जाता है। इस का फल लुँङ् में वृद्धि को रोकना है जो आगे सिद्धि में स्पष्ट है। अनेकाल् होने से वध आदेश सम्पूर्ण हन् के स्थान पर होता है।

आशीर्लिँङ् की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से हन् को वध आदेश हो कर बाद में लिँङ् की उत्पत्ति, तिप्, इकारलोप और यासुट् का आगम करने पर 'वध+यास् त्' हुआ। यहां 'लिँङाशिषि' (४३१) से लिँङ् आर्धधातुक है अतः उस का अवयव होने से यासुट् का आगम भी आर्धधातुक है। आर्धधातुक के उपदेशकाल में 'वध' आदेश अदन्त था। इस से 'अतो लोपः' (४७०) द्वारा वध के अन्त्य अत् का लोप करने पर

---

१. न्यासकार श्रीजिनेन्द्रबुद्धि का कहना है कि आचार्य पाणिनि जहां आदेश को हलन्त करना चाहते हैं वहां उस का निर्देश उच्चारणार्थक इकार लगा कर किया करते हैं। यथा—ब्रुवो वचिः (५९६); वेञो वयिः (२.४.४१); णौ गमिरबोधने (२.४.४६) आदि। 'हनो वध लिँङि' में उन्होंने ऐसा नहीं किया, इस से स्पष्ट है कि वे इस आदेश को हलन्त करना नहीं चाहते अपितु अदन्त रखना चाहते हैं। 'वध' आदेश को अदन्त मानने के प्रायः दो लाभ प्रसिद्ध हैं—(१) इण्निषेध का न होना, (२) 'अतो हलादेर्लघोः' (४५७) द्वारा प्राप्त वृद्धि का वारण। इन दोनों का स्पष्टीकरण 'अवधीत्' की सिद्धि में देखें।

सयोगादि सकार का लोप हो कर 'वध्यात्' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—वध्यात्, वध्यास्ताम्, वध्यासु। वध्या, वध्यास्तम्, वध्यास्त। वध्यासम्, वध्यास्व, वध्यास्म।

लुंङ्—की विवक्षा में 'लुंङि च' (५६५) सूत्र से हन् को वध आदेश हो जाता है। आदेश होने के बाद लुंङ् की उत्पत्ति होती है। प्र० पु० के एकवचन में तिप्, इकारलोप, च्लि तथा 'च्लेः सिंच्' (४३८) आदि कार्य हो कर—अवध+स्+त्। वध आदेश उपदेश में अनेकाच् है अत इस से परे 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से इट् का निषेध नहीं होता। अब सिंच् को इट् का आगम और उधर अपृक्त को ईट् का आगम करने पर—अवध+इस्+ईत्। पुन 'अतो लोप' (४७०) से वध आदेश के अन्त्य अकार का लोप तथा 'इट ईटि' (४४६) से सकारलोप और उसे सिद्ध मान कर सवर्णदीर्घ करने से 'अवधीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—अवधीत्, अवधिष्टाम्, अवधिषु। अवधी, अवधिष्टम्, अवधिष्ट। अवधिषम्, अवधिष्व, अवधिष्म।

नोट—ध्यान रहे कि 'अतो लोप' (४७०) से अकार का लोप हो कर 'अवध्+इस्+ईत्' इस स्थिति में 'अगादीत्-अगदीत्' की तरह 'अतो हलादेर्लघो' (४५७) से वैकल्पिक वृद्धि प्राप्त होती है। परन्तु 'अच परस्मिन् पूर्वविधौ' (६६६) सूत्र से अकारलोप को स्थानिवत् मान लेने से बीच में अकार आ जाता है इत्यादि सिंच् परे नहीं रहता अत वृद्धि नहीं होती।

लृंङ्—में 'ऋदृशो स्ये' (४६७) से सर्वत्र इट् का आगम हो जाता है—अहनिष्यत्, अहनिष्यताम् अहनिष्यन्। अहनिष्य, अहनिष्यतम्, अहनिष्यत। अहनिष्यम्, अहनिष्याव, अहनिष्याम।

[लघु०] यु मिश्रणाऽमिश्रणयो ॥३॥

अर्थ—यु धातु 'मिलाना या अलग करना' अर्थों मे प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—आत्मनेपद के निमित्तों से हीन होने के कारण 'यु' धातु कर्तृवाच्य में परस्मैपदी है। यह धातु 'ऊदृदन्तै०' कारिका मे उदात्तों मे परिगणित की गई है अत इस से परे सर्वत्र इट् का आगम निर्बाध हो जाता है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप् और उस का 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (५५२) से लुक् हो कर—यु+ति। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५६६) उतो वृद्धिर्लुकि हलि ।७।३।८९॥

लुग्विषये उतो वृद्धिः पिति हलादौ सार्वधातुके, न त्वम्यस्तस्य। यौति, युत, युवन्ति। यौषि, युथ, युथ। यौमि, युव, युम। युयाव। यविता। यविष्यति। यौतु-युतात्। अयौत्, अयुताम्, अयुवन्। युयात्। इह

उतो वृद्धिर्न, भाष्ये—'पिच्च ङिन्न, ङिच्च पिन्न' इति व्याख्यानात्। युयाताम्, युयुः। यूयात्, यूयास्ताम्, यूयासुः। अयावीत्। अयविष्यत्॥

अर्थः—लुक् के विषय में उदन्त अङ्ग को वृद्धि हो हलादि पित् सार्वधातुक परे हो तो। परन्तु अभ्यस्त को वृद्धि नहीं होती।

व्याख्या—उतः।६।१। वृद्धिः।१।१। लुकि।७।१। हलि।७।१। अङ्गस्य।६।१। (यह अधिकृत है)।अभ्यस्तस्य।६।१। पिति।७।१। सार्वधातुके।७।१। न इत्यव्ययपदम् ('नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' से)। 'उतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'उदन्तस्याङ्गस्य' बन जाता है। 'हलि' पद 'सार्वधातुके' का विशेषण है अतः तदादिविधि हो कर 'हलादौ सार्वधातुके' बन जाता है। 'लुकि' में विषयसप्तमी है। अर्थः—(लुकि) लुक् के विषय में (उतः=उदन्तस्य) उदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि हो जाती है (हलि=हलादौ) हलादि (पिति) पित् (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो परन्तु (अभ्यस्तस्य) अभ्यस्त के स्थान पर यह वृद्धि (न) नहीं होती[1]। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह वृद्धि उदन्त अङ्ग के अन्त्य अल्-उकार के स्थान पर ही होती है। तिप्, सिप् और मिप् ये तीन ही सार्वधातुकों में पित् हैं।

'यु+ति' यहां शप् का लुक् हो चुका है अतः लुक् का विषय है। 'यु' यह उकारान्त अङ्ग है। इस से परे 'ति' यह हलादि पित् सार्वधातुक विद्यमान है। अतः प्रकृतसूत्र से उकार के स्थान पर औकार वृद्धि हो कर 'यौति' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में 'यु+तस्=युतः'। यहां पित् न होने के कारण वृद्धि नहीं होती। 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा ङिद्वत् होने से इगन्तलक्षण गुण का भी निषेध हो जाता है। बहुवचन मे झकार को अन्त आदेश हो कर 'अचि श्नु०' (१९९) से धातु के उकार को उवँङ् हो जाता है—युवन्ति। मध्यमपु० के एकवचन सिप् मे पित् होने के कारण वृद्धि तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व हो कर—यौषि। इसी प्रकार उत्तमपु० के एकवचन मिप् में—यौमि। लँट् में रूपमाला यथा—यौति, युतः, युवन्ति। यौषि, युथः, युथ। यौमि, युवः, युमः।

लिँट्—तिप्, णल्, द्वित्व, 'अचो ञ्णिति' (१८२) से उकार को औकार वृद्धि तथा आवादेश करने पर—युयाव। अनुस् में 'असंयोगाल्लिँट्०' (४५२) से कित्त्व के कारण गुण का निषेध हो कर 'अचि श्नु०' (१८२) से उवँङ् आदेश हो जाता है—युयुवतुः। इसी प्रकार—युयुवुः। थल् मे धातु के सेट् होने से निर्बाध इट् का आगम हो कर द्वित्व करने पर 'युयु+इथ' इस स्थिति में आर्धधातुकगुण तथा अवादेश हो

---

१. योयोति, नोनोति आदि में यङ्लुक्प्रक्रिया में जब धातु अभ्यस्त हो जाती है तब वृद्धि नहीं होती।

जाता है—युयविथ । रूपमाला यथा—युयाव, युयुवतु, युयुव । युयविथ, युयुवथु, युयुव । युयाव युयुव, युयुविव, युयुविम ।

लुँट्—मे सर्वत्र इट्, गुण और अवादेश हो जाता है—यविता, यवितारौ, यवितार । लृँट्—यविष्यति, यविष्यत, यविष्यन्ति ।

लोँट्—प्र० पु० एकवचन मे पूर्ववत् वृद्धि हो जाती है—यौतु । आ० लोँट् में 'तु' को 'तातङ्' आदेश हो जाता है—युतात् । यहा पर स्थानिवत्त्व के कारण यद्यपि तातङ् में पित्त्व विद्यमान है तथापि 'ङिच्च पिन्न' इस भाष्यवचन के कारण साक्षात् विहित ङित्त्व से पित्त्व बाधित हो जाता है अत वृद्धि नहीं होती । म० पु० के एकवचन मे सिप् के स्थान पर होने वाला 'हि' आदेश अपित् माना गया है अत वृद्धि नहीं होती—युहि । उत्तमपु० मे आट् का आगम पित् होने हुए भी हलादि नहीं अत वृद्धि नही होती । गुण और अवादेश हो जाता है—यवानि । रूपमाला यथा—यौतु-युतात्, युताम्, युवन्तु । युहि-युतात्, युतम्, युत । यवानि, यवाव, यवाम ।

लेँट्—में तिप् और सिप् मे वृद्धि हो जाती है—अयौत्, अयौ । सिप् को अमादेश हो जाता है वह हलादि नहीं रहता अत वृद्धि नही होती । गुण और अवादेश हो कर—अयवम् । रूपमाला यथा—अयौत्, अयुताम्, अयुवन् । अयौ, अयुतम्, अयुत । अयवम्, अयुव, अयुम ।

विधिलिँङ्—प्र० पु० के एकवचन मे तिप्, यासुट् और 'इतश्च' (४२४) से इकार का लोप हो कर—यु+यास् त् । अब इस स्थिति में तिप् का अवयव होने के कारण यासुट् भी पित् ठहरता है अत हलादि पित् सार्वधातुक के परे रहने से 'उतो वृद्धि०' (५६६) से वृद्धि प्राप्त होनी है । परन्तु महाभाष्य में 'हलि च' (१ १ ८३) सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'पिच्च, ङिन्न, ङिच्च पिन्न' अर्थात् पित् को ङित् नहीं मानना चाहिये और ङित् को पित् नही मानना चाहिये । यहा यासुट् का ङित् विधान विशेष कर के किया गया है, इस तरह ङित् होने से वह पित् नही होगा अत वृद्धि नही होगी । सार्वधातुक सकार का लोप (४२७) हो कर 'युयात्' रूप बनेगा । ध्यान रहे कि यासुट् के ङित्त्व के कारण गुण का भी निषेध हो जायगा[1] । रूपमाला यथा—युयात, युयाताम्, युयु । युया, युयातम्, युयात । युयाम्, युयाव, युयाम ।

---

१ अजो जसे 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' (३८८) द्वारा प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' (४३३) से निषेध हो जाता है वैसे उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (५६६) से प्राप्त वृद्धि का भी उस से निषेध क्यो नही मान लेते, 'पिच्च ङिन्न, ङिच्च पिन्न' इस पचडे में क्यो पडते हो ? इस का उत्तर यह है कि 'क्ङिति च' (४३३) सूत्र इग्लक्षण गुण वृद्धि का ही निषेध करता है अन्य का नहीं । यहा 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' मे 'उत' कहा गया है अत इग्लक्षण न होने से इस का निषेध सम्भव नहीं, इसलिये 'पिच्च ङिन्न ङिच्च पिन्न' वचन का आश्रय किया गया है ।

आ० लिङ्—में यासुट् के सार्वधातुक न होने से 'उतो वृद्धिः०' (५५६) से वृद्धि नहीं होती। यासुट् के कित् होने के कारण गुण भी नहीं होता। सर्वत्र 'अकृत्सार्व०' (४८३) से दीर्घ हो जाता है—यूयात्, यूयास्ताम्, यूयासुः। यूयाः, यूयास्तम्, यूयास्त। यूयासम्, यूयास्व, यूयास्म।

लुँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, सिच्, इट्, ईट् तथा अङ्ग को अट् का आगम हो कर 'अयु+इस्+ईत्' इस स्थिति में 'सिचि वृद्धिः०' (४८४) से इगन्त अङ्ग को वृद्धि, 'इट ईटि' (४४६) से सकारलोप, 'अकः सवर्णे दीर्घः (४२) से सवर्णदीर्घ तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से आदादेश करने पर 'अयावीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—अयावीत्, अयाविष्टाम्, अयाविषुः। अयावीः, अयाविष्टम्, अयाविष्ट। अयाविषम्, अयाविष्व, अयाविष्म।

लृँङ्—में इट्, गुण और अवादेश हो जाता है—अयविष्यत्, अयविष्यताम्, अयविष्यन्।

**[लघु०] या प्रापणे ॥४॥ याति, यातः, यान्ति। ययौ। याता। यास्यति। यातु। अयात्, अयाताम् ॥**

अर्थः—या धातु 'प्रापण अर्थात् जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—'प्रापण' में णिच् का प्रयोग स्वार्थ में किया गया है अतः 'प्रापण' का अर्थ 'पहुँचाना' नहीं अपितु पहुँचना या जाना मात्र है। यह धातु संस्कृत-साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध है। वेद और लोक दोनों में इस का प्रचुर प्रयोग पाया जाता है। अकेले ऋग्वेद में इस का कई सौ बार प्रयोग हुआ है। यायावर (यानावदोश), शुभंयु (आनन्दवर्धक), ययाति, मृगयु (व्याध), यान, प्रयाण, यियासु (गमन का इच्छुक), यातु (राक्षस), याम (प्रहर), यात्रा आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं।

लँट्—में सर्वत्र शप् का लुक् हो जाता है—याति, यातः, यान्ति। यासि, याथः, याथ। यामि, यावः, यामः।

लिँट्—में इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया भौवादिक 'पा पाने' धातु की तरह होती है। 'ऊदृदन्तैः०' के अनुसार यह धातु अनिट् है। क्रादिनियम से लिँट् में नित्य इट् प्राप्त होता है परन्तु अजन्त होने से थल् में 'अचस्तास्वत्०' (४८०) से इट् का निषेध हो जाता है, पुनः भारद्वाजनियम से उस में विकल्प से इट् हो जाता है। रूपमाला यथा—ययौ, ययतुः, ययुः। ययिथ-ययाथ, ययथुः, यय। ययौ, ययिव, ययिम।

लुँट्—में सर्वत्र इट् का निषेध हो जाता है—याता, यातारौ, यातारः। यातासि, यातास्थः, यातास्थ। यातास्मि, यातास्वः, यातास्मः। लृँट्—में भी सर्वत्र इट् का निषेध हो जाता है—यास्यति, यास्यतः, यास्यन्ति। यास्यसि, यास्यथः, यास्यथ। यास्यामि, यास्यावः, यास्यामः। लोँट्—यातु-यातात्, याताम्, यान्तु। याहि-यातात्, यातम्, यात। यानि, याव, याम।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, इतश्च, तथा शप् का लुक् हो कर—अयात्। इसी प्रकार द्विवचन मे—अयाताम्। बहुवचन मे शप् का लुक् हो कर 'अया+झि' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५६७) लँङ शाकटायनस्यैव ।३।४।१११॥

आदन्तात् परस्य लँङो झेर्जुस् वा स्यात्। अयु। अयान्। यायात्, यायाताम्, यायु। यायात्, यायास्ताम्, यायासु। अयासीत्। अयास्यत्॥

अर्थ—आदन्त धातु से परे लँङ् के झि को विकल्प से जुस् आदेश हो।

व्याख्या—लँङ ।६।१। शाकटायनस्य ।६।१। एव इत्यव्ययपदम्। आत ।५।१। ('आत' से)। झे ।६।१। जुस् ।१।१। ('झेर्जुस्' से)। धातो ।५।१। (यह अधिकृत है)। 'आत' पद 'धातो' का विशेषण है अत तदन्तविधि हो कर 'आदन्ताद् धातो' बन जाता है। अर्थ—(आत =आदन्तात्) आदन्त (धातो) धातु से परे (लँङ्) लँङ् के (झे) झि के स्थान पर (जुस्) जुस् आदेश होता है (शाकटायनस्य एव[1]) परन्तु यह आदेश शाकटायन आचार्य के मत मे ही होता है, अन्य आचार्यों के मत में नहीं। हमें सब आचार्य प्रमाण है अत विकल्प सिद्ध हो जायेगा। अनेकाल् होने से यह जुस् आदेश सम्पूर्ण झि के स्थान पर होता है।

'अया+झि' यहा आदन्त 'या' धातु से परे लँङ् का झि विद्यमान है अत प्रकृतसूत्र से उसे जुस् सर्वादेश हो कर अनुबन्ध जकार का लोप करने से 'अया+उस्' हुआ। अब 'उस्यपदान्तात्' (४९२) से पररूप कर सकार को रुँत्व-विसर्ग करने पर 'अयुः' प्रयोग सिद्ध होता है। जुस् के अभाव मे 'झोऽन्त' (३८९) से झकार को अन्त् आदेश हो कर सवर्णदीर्घ और सयोगान्तलोप करने से 'अयान्' प्रयोग सिद्ध होता है। लँङ् में रूपमाला यथा—अयात्, अयाताम्, अयुः-अयान्। अयाः, अयातम्, अयात। अयाम्, अयाव, अयाम।

शङ्का—'लोँटो लँङ्वत्' (४१३) से लोँट् लँङ्वत् होता है तो पुन 'यान्तु' में 'सँङ, शाकटायनस्यैव' द्वारा झि को जुस् आदेश क्यो नहीं होता?

समाधान—'लोँटो लँङ्वत्' सूत्र मे 'विदो लँटो वा' (३।४।८३) सूत्र से 'वा' पद की अनुवृत्ति आती है और उसे व्यवस्थित-विभाषा मान लेते हैं। इस से जुस् करने मे लँङ्वत् का सदा अभाव तथा तामादि और सलोप करने मे लँङ्वत् का नित्य होना स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार कोई दोष नही आता। इस का अन्य प्रकार से समाधान भी (३।४।१११) सूत्र पर काशिका में देखें।

---

१ 'एव' पद के ग्रहण का यहां कुछ उपयोग नही। अगले 'सिँचि च' (४००) आदि सूत्रों में इस की अनुवृत्ति आवश्यक थी अत यहां ग्रहण किया गया है।

विधिलिङ्—यायात्, यायाताम्, यायुः। यायाः, यायातम्, यायात। यायाम्, यायाव, यायाम। यायुरित्यस्यानभिधानादप्रयोग इति केचिद् इत्यत्रेयः (दृश्यतामत्रत्या धातुवृत्तिः)। आ० लिङ्—यायात्, यायास्ताम्, यायासुः। यायाः, यायास्तम्, यायास्त। यायासम्, यायास्व, यायास्म।

लुङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, इतश्च, च्लि, सिच्, अपृक्त को ईट् का आगम तथा अङ्ग को अट् का आगम हो कर 'अया+स्+ईत्' इस स्थिति में 'यमरमनमातां सक् च' (४६५) सूत्र से धातु को सक् का आगम तथा सिच् को इट् का आगम करने पर 'अयास्+इस्+ईत्' हुआ। अब 'इट ईटि' (४४६) से सिच् का लोप तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर 'अयासीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—अयासीत्, अयासिष्टाम्, अयासिषुः। अयासीः, अयासिष्टम्, अयासिष्ट। अयासिषम्, अयासिष्व, अयासिष्म।

लृङ्—अयास्यत्, अयास्यताम्, अयास्यन्।

उपसर्गयोग—आ√या=आना, उपस्थित होना (आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्—मनु० ८.३५०; क्षणात् प्रद्योतमायाति—शाकुन्तल ५.२)। सम्+आ√या=आना, प्राप्त होना (किं स लुब्धकः समायाति—पञ्च०; समायाति यदा लक्ष्मीर्नारिकेलफलाम्बुवत्—सुभाषित)। अप√या=दूर होना (अपयाहि जनस्यानात्त्वरितः सहबान्धवः। (रामा० ३.२१.२०) प्र√या=जाना—प्रस्थान करना (अस्तादमुतं नगरदेवतवत् प्रयाति—मृच्छ० १.२७)। निर्√या=बाहर निकलना निर्ययावथ पौलस्त्यः पुनर्युद्धाय मन्दिरात्—रघु० १२.८३)। उद्√या=उत्पन्न होना (इति मतिरुदयासीत् पक्षिणः प्रेक्ष्य मैमीम्—नैषध० २.१०६); ऊपर उठना—निकलना (क्रमशस्ते पुनस्तस्य चापात् समभिवोद्ययुः—रघु० १२.४७)। अनु√या=अनुसरण करना—पीछे जाना (एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः—मनु० ८.१७)। उप√या=प्राप्त होना, पास जाना (दुर्मन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः—हितोप० ३.११७)। सम्√या=जाना—भली भांति जाना (अन्यानि संयाति नवानि देही—गीता २.२२)। अभि√या=आक्रमण करना (कुबेरादभियास्यमानात्—रघु० ५.३०, कर्मणि शानच्)। अति√या=उल्लङ्घन करना (धनुः सवाणं कुरु माऽतियासीः—भट्टि० २.५१)।

[लघु०] वा गति-गन्धनयोः ॥५॥

अर्थः—वा धातु 'गति और गन्धन' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—'गति' का अर्थ यहां 'हवा का चलना' ही माना जाता है, साधारण गमन अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं। गन्धन के कई अर्थ हैं—सूचित करना, हिंसा करना, उत्साहित करना (उत्साहने च हिंसायां सूचने चापि गन्धनम् इत्यमरः)। वात, वायु

प्रभृति शब्द इसी धातु से निष्पन्न होते हैं। इस धातु की तुलना करें—(लेटिन) ventus; (स्लैविक) vegati, (गोथिक) waian, winds, (जर्मन) wajan, wajen, (इंगलिश्) wind आदि। इस धातु की समग्र प्रक्रिया 'या' धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—

लँट्—वाति, वात, वान्ति। लिँट्—ववौ, ववतु ववु। लुँट्—वाता, वातारौ, वातार। लृँट्—वास्यति, वास्यत, वास्यन्ति। लोँट्—वातु-वातात्, वाताम्, वान्तु। लँङ्—अवात्, अवाताम्, अवु-अवान् (लँङ शाकटायनस्यैव)। वि० लिँङ्—वायात्, वायाताम्, वायु। आ० लिँङ्—वायात्, वायास्ताम्, वायासु। लुँङ्—अवासीत्, अवासिष्टाम्, अवासिषु। लृँङ्—अवास्यत्, अवास्यताम्, अवास्यन्।

उपसर्गयोग—निर्वाति=बुझता है, शान्त होता है (निर्वास्यत प्रदीपस्य शिखेव जरतो मति—शाकुन्तल ५ २)।

## [लघु०] भा दीप्तौ ॥६॥

अर्थ—भा धातु 'चमकना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इस धातु की प्रक्रिया भी 'या' धातु की तरह होती है—

लँट्—भाति, भात, भान्ति। लिँट्—बभौ, बभतु, बभुः। लुँट्—भाता, भातारौ, भातार। लृँट्—भास्यति, भास्यत, भास्यन्ति। लोँट्—भातु भातात्, भाताम्, भान्तु। लँङ्—अभात्, अभाताम्, अभु अभान् (५६७)। वि० लिँङ्—भायात्, भायाताम्, भायु। आ० लिँङ्—भायात्, भायास्ताम्, भायासु। लुँङ्—अभासीत्, अभासिष्टाम्, अभासिषु। लृँङ्—अभास्यत्, अभास्यताम्, अभास्यन्।

उपसर्गयोग—आ√भा=शोभा पाना (नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुद वंशसुता इवाबभुः—रघु० ३ ३३), प्रतीत होना (स्वप्ने निधिवदाभाति तव सन्दर्शनं हि नः—भट्टि० ७ ६६)। वि√भा=चमकना—शोभा पाना (पद्मसा कमलेन विभाति सरः—सुभाषित, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति—मुण्डकोप० २ २.१०)। प्रति√भा=प्रतीत होना (अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभाति मे त्वम्—रघु० २ ४७), फुरना—अच्छा लगना (बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्=वि० कौ०)।

## [लघु०] ष्णा शौचे ॥७॥

अर्थ—ष्णा (स्ना) धातु 'शौच अर्थात् स्नान करना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ष्णा धातु के आदि षकार को 'धात्वादेः ष स' (२५५) से सकार आदेश हो कर 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' से णकार को भी नकार हो जाता है—

स्ना। षोपदेश का फल 'सिष्णासति' आदि में षत्व करना है। स्ना धातु की प्रक्रिया आ० लिँङ् को छोड़ कर अन्य लकारों में 'या' धातु की तरह चलती है। संयोगादि होने के कारण आ० लिँङ् में 'वाऽन्यस्य संयोगादेः' (४६४) से आकार को वैकल्पिक एत्व हो जाता है—स्नेयात्-स्नायात्।

लँट्—स्नाति, स्नातः, स्नान्ति। लिँट्—सस्नौ, सस्नतुः, सस्नुः। लुँट्—स्नाता, स्नातारौ, स्नातारः। लृँट्—स्नास्यति, स्नास्यतः, स्नास्यन्ति। लोँट्—स्नातु-स्नातात्, स्नाताम्, स्नान्तु। लँङ्—अस्नात्, अस्नाताम्, अस्नुः-अस्नान् (५६७)। वि० लिँङ्—स्नायात्, स्नायाताम्, स्नायुः। आ० लिँङ्—(एत्वपक्षे) स्नेयात्, स्नेयास्ताम्, स्नेयासुः। (एत्वाभावे) स्नायात्, स्नायास्ताम्, स्नायासुः। लुँङ्—अस्नासीत्, अस्नासिष्टाम्, अस्नासिषुः। लृँङ्—अस्नास्यत्, अस्नास्यताम्, अस्नास्यन्।

**[लघु०] श्रा पाके ॥८॥**

अर्थः—श्रा धातु 'पकना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यहां 'पाक' का अर्थ 'पकाना' नहीं अपितु 'पकना' है अत एव यह धातु अकर्मक है। 'पकाना' अर्थ के लिये इसे णिजन्त बनाना पड़ेगा (श्रपयति)। इस के अर्थ के स्पष्टीकरण के लिये 'शृतं पाके' (६.१.२७) सूत्र पर भाष्य, काशिका तथा शेखर आदि द्रष्टव्य हैं। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया और रूपमाला 'ष्णा शौचे' धातुवत् समझनी चाहिये। आ० लिँङ् में 'वाऽन्यस्य संयोगादेः' (४६४) द्वारा वैकल्पिक एत्व हो जाता है।

लँट्—श्राति, श्रातः, श्रान्ति। लिँट्—शश्रौ, शश्रतुः, शश्रुः। लुँट्—श्राता, श्रातारौ, श्रातारः। लृँट्—श्रास्यति, श्रास्यतः, श्रास्यन्ति। लोँट्—श्रातु-श्रातात्, श्राताम्, श्रान्तु। लँङ्—अश्रात्, अश्राताम्, अश्रुः-अश्रान् (५६७)। वि० लिँङ्—श्रायात्, श्रायाताम्, श्रायुः। आ० लिँङ् (एत्वपक्षे) श्रेयात्, श्रेयास्ताम्, श्रेयासुः। (एत्वाभावे) श्रायात्, श्रायास्ताम्, श्रायासुः। लुँङ्—अश्रासीत्, अश्रासिष्टाम्, अश्रासिषुः। लृँङ्—अश्रास्यत्, अश्रास्यताम्, अश्रास्यन्।

**[लघु०] द्रा कुत्सायां गतौ ॥९॥**

अर्थः—द्रा धातु 'कुत्सित गमन' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—क्षीरतरङ्गिणी में 'कुत्सित गति' के दो अर्थ दिये गये हैं—(१) पलायन—भागना (२) शयन—सोना। शयन अर्थ में प्रायः इस धातु का निपूर्वक प्रयोग देखा जाता है—तदा निद्रावुपपल्वलं खगः (नैषध० १.१२१)। इस की रूपमाला भी 'ष्णा' धातु की तरह चलती है।

लँट्—द्राति, द्रातः, द्रान्ति। लिँट्—ददौ, ददतुः, ददुः। लुँट्—द्राता, द्रातारौ, द्रातारः। लृँट्—द्रास्यति, द्रास्यतः, द्रास्यन्ति। लोँट्—द्रातु-द्रातात्, द्राताम्,

द्रान्तु । लँङ्—अद्रात्, अद्राताम्, अदुः-अद्रान् (५६७) । वि० लिँङ्—द्रायात्, द्रायाताम्, द्रायुः । आ० लिँङ्—(एत्वपक्षे) द्रेयात्, द्रेयास्ताम्, द्रेयासुः । (एत्वाभावे) द्रायात्, द्रायास्ताम, द्रायासुः (४६४) । लुँङ्—अद्रासीत्, अद्रासिष्टाम्, अद्रासिषुः । लृँङ्—अद्रास्यत्, अद्रास्यताम्, अद्रास्यन् । निद्राति=निद्रा करता है ।

[लघु०] प्सा भक्षणे॥ १०॥

अर्थ—प्सा धातु 'भक्षण-खाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—सयोगादि होने से यह धातु भी 'एण' धातु की तरह समझनी चाहिये । लँट्—प्साति प्सातः, प्सान्ति । लिँट्—पप्सौ, पप्सतुः, पप्सुः । लुँट्—प्साता, प्सातारौ, प्सातारः । लृँट्—प्सास्यति, प्सास्यतः, प्सास्यन्ति । लोँट्—प्सातु-प्सतात्, प्साताम्, प्सान्तु । लँङ्—अप्सात्, अप्साताम्, अप्सुः-अप्सान् (५६७) । वि० लिँङ्—प्सायात्, प्सायाताम्, प्सायुः । आ० लिँङ्—(एत्वपक्षे) प्सेयात्, प्सेयास्ताम्, प्सेयासुः । (एत्वाऽभावे) प्सायात्, प्सायास्ताम, प्सायासुः (४६४) । लुँङ्—अप्सासीत्, अप्सासिष्टाम्, अप्सासिषुः । लृँङ्—अप्सास्यत्, अप्सास्यताम्, अप्सास्यन् ।

[लघु०] रा दाने ॥११॥

अर्थ—रा धातु 'देना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—सयोगादि न होने से 'वाऽन्यस्य सयोगादे' (४६४) सूत्र द्वारा आशीर्लिँङ् में एत्व न होगा । सम्पूर्ण प्रक्रिया तथा रूपमाला 'या' धातु की तरह होती है ।

लँट्—राति, रातः, रान्ति । लिँट्—रराौ, ररतुः, ररुः । लुँट्—राता, रातारौ, रातारः । लृँट्—रास्यति, रास्यतः, रास्यन्ति । लोँट्—रातु-रातात्, राताम्, रान्तु । लँङ्—अरात्, अराताम्, अरुः-अरान् (५६७) । वि० लिँङ्—रायात्, रायाताम्, रायुः । आ० लिँङ्—रायात्, रायास्ताम्, रायासुः । लुँङ्—अरासीत्, अरासिष्टाम्, अरासिषुः । लृँङ्—अरास्यत्, अरास्यताम्, अरास्यन् ।

[लघु०] ला आदाने ॥१२॥

अर्थ—'ला' धातु 'ग्रहण करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—ला धातु की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'या' धातु की तरह होती है—

लँट्—लाति, लातः, लान्ति । लिँट्—ललौ, ललतुः, ललुः । लुँट्—लाता, लातारौ, लातारः । लृँट्—लास्यति, लास्यतः, लास्यन्ति । लोँट्—लातु लतात्, लाताम्, लान्तु । लँङ्—अलात्, अलाताम्, अलुः-अलान् (५६७) । वि० लिँङ्—लायात्, लायाताम्, लायुः । आ० लिँङ्—लायात्, लायास्ताम्, लायासुः । लुँङ्—

अलासीत्, अलासिष्टाम्, अलासिषुः । लृँङ्—अलास्यत्, अलास्यताम्, अलास्यन् ।

[लघु०] दाप् लवने ॥१३॥

अर्थः—दाप् (दा) धातु 'काटना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—दाप् का पकार 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'दा' मात्र अवशिष्ट रहता है । इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'या' धातु की तरह चलती है—

लँट्—दाति, दातः, दान्ति । लिँट्—ददौ, ददतुः, ददुः । लुँट्—दाता, दातारौ, दातारः । लृँट्—दास्यति, दास्यतः, दास्यन्ति । लोँट्—दातु-दातात्, दाताम्, दान्तु । लँङ्—अदात्, अदाताम् अदुः-अदान् (५६७) । वि० लिँङ्—दायात्, दायाताम्, दायुः । आ० लिँङ्—दायात्, दायास्ताम्, दायासुः । ध्यान रहे कि 'दाधाध्वदाप्' (६२३) सूत्र में दाप् और दैप् को छोड़ कर घुसञ्ज्ञा का विधान किया गया है । अतः यहां घुसञ्ज्ञा न होने के कारण 'एर्लिङि' (४६०) द्वारा एत्व नहीं होता । लुँङ्—अदासीत्,अदासिष्टाम्, अदासिषुः । घुसंज्ञा न होने से 'गातिस्थाघुपा०' (४३६) से सिँच् का लुक् नहीं होता, 'यमरमनमातां सक् च' (४६५) सूत्र से सक् और इट् हो जाते हैं । लृँङ्— अदास्यत्, अदास्यताम्, अदास्यन् ।

[लघु०] पा रक्षणे ॥१४॥

अर्थः—पा धातु 'रक्षा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—पीछे भ्वादिगण में 'पा पाने' धातु आ चुकी है । यह 'पा' धातु उस से भिन्न है । 'गातिस्थाघु०' (४३६) तथा 'एर्लिङि' (४६०) सूत्रों में भौवादिक 'पा पाने' का ही ग्रहण अभीष्ट है अतः इस धातु के लुँङ् में सिँच् का लुक् तथा आ० लिँङ् में एत्व नहीं होता । सम्पूर्ण प्रक्रिया 'या प्रापणे' धातु की तरह ही होती है ।

लँट्—पाति, पातः, पान्ति । लिँट्— पपौ, पपतुः, पपुः । लुँट्—पाता, पातारौ, पातारः । लृँट्—पास्यति, पास्यतः, पास्यन्ति । लोँट्—पातु-पातात्, पाताम्, पान्तु । लँङ्—अपात्, अपाताम्, अपुः-अपान् (५६७) । वि० लिँङ्—पायात्, पायाताम्, पायुः । आ० लिँङ्—पायात्, पायास्ताम्, पायासुः । लुँङ्—अपासीत्, अपासिष्टाम्, अपासिषुः । लृँङ्—अपास्यत्, अपास्यताम्, अपास्यन् ।

[लघु०] ख्या प्रकथने ॥१५॥ अयं सार्वधातुक एव प्रयोक्तव्यः ॥

अर्थः—ख्या धातु 'कहना' अर्थ में प्रयुक्त होती है । इस धातु का केवल सार्वधातुक प्रत्ययों में ही प्रयोग होता है ।

व्याख्या—इस धातु का आर्धधातुकप्रत्ययों में प्रयोग नहीं होता, केवल सार्वधातुक प्रत्ययों में ही प्रयोग होता है । इस में २.४.५४ सूत्र पर 'सस्यानत्वं नमः

ख्यात्रे' यह वार्तिक तथा वहा का भाष्य प्रमाण है। वहा यह निर्णय किया गया है कि आर्धधातुक प्रत्यय के परे होने पर जहा 'ख्या' दिखाई दे वहाँ 'चक्षिङः ख्याञ्' (२.४.५४) द्वारा चक्षिङ् धातु के स्थान पर ख्याञ् आदेश समझना चाहिये। इस से इस 'ख्या' धातु का आर्धधातुक प्रत्ययों में प्रयोग वर्जित है—यह सुतरा सिद्ध हो जाता है। लॅट्, लोँट्, लँङ् और विधिलिँङ् ये चार सार्वधातुक लकार हैं अत इन में ही ख्या धातु का प्रयोग होता है। इस की समग्र प्रक्रिया 'या प्रापणे' धातु की तरह होती है।

लॅट्—ख्याति, ख्यात, ख्यान्ति। लोँट्—ख्यातु ख्यातात्, ख्याताम्, ख्यान्तु। लँङ्—अख्यात्, अख्याताम्, अख्यु-अख्यान् (५६७)। वि०लिँङ्—ख्यायात् ख्यायाताम्, ख्यायु।

उपसर्गयोग—वि+आ√ख्या=व्याख्या करना (इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया—रघु० मल्लि०), कहना (व्याचख्युरुच्चैरथ हृत प्रहस्तम्—भट्टि० १४.११३), नाम धरना (विद्वद्बन्दैर्योगवाणि ! व्याख्याता सा विधुमाला—श्रुतबोध)। प्र√ख्या=कहना (प्रख्याय नमदां चाथ गङ्गेयमिति रावण—रामा० उत्तर० ३१.२६), कर्मणि—प्रसिद्ध होना (प्रख्यातस्त्रिषु लोकेषु—रामा० सु० १.११८)। प्रति+आ√ख्या=मना करना, निषेध करना, खण्डन करना (प्रत्याख्यातो वसिष्ठेन स ययौ दक्षिणां दिशम्—रामा० बाल० ५७.१३)। आ√ख्या=कहना (आख्याहि भद्रे प्रियदर्शनस्य - पञ्च० ४.३२)। सम्+आ√ख्या=कहना, गिनना, नाम धरना (विपुलामिति समाख्याति—वृत्तरत्ना० २.४)। सम्√ख्या=गिनना (न्यासकार के मत में सम्पूर्वक ख्या का प्रयोग नहीं होता, देखें—३.२.७ का न्यास)।

[लघु०] विद ज्ञाने ॥१६॥

अर्थ—विद् धातु 'जानना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—उदात्तेत् होने से अथवा आत्मनेपद के लक्षणों से रहित होने के कारण यह धातु परस्मैपदी है। विद्या, विद्वान्, विदुषी, वेद, कोविद (पण्डित) आदि शब्द इसी धातु से निष्पन्न होते हैं।

लॅट्—प्र० पु० के एकवचन में शप् का लुक् हो कर 'विद्+ति' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५६८) विदो लॅटो वा ।३।४।८३॥

वेत्तेर् लॅटः परस्मैपदाना णलादयो वा स्यु। वेद, विदतु, विदुः। वेत्थ, विदथु, विद। वेद, विद्व, विद्म। पक्षे—वेत्ति, वित्तः, विदन्ति॥

अर्थ—विद् धातु से परे जो लॅट्, उस के स्थान पर हुए परस्मैपद प्रत्ययों को णल् आदि जो प्रत्यय विकल्प से हों।

व्याख्या—विदः ।५।१।[1] लँटः ।६।१। वा इत्यव्ययपदम् । 'परस्मैपदानां णलतुस्०' इस सूत्र की पीछे से अनुवृत्ति आती है। अर्थः—(विदः) विद् धातु से परे (लँटः) जो लँट् उस के स्थान पर हुए (परस्मैपदानाम्) परस्मैपद प्रत्ययों के स्थान पर (णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः) णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस्, अ, णल्, व, म—ये नौ प्रत्यय (वा) विकल्प से हो जाते हैं। परस्मैपदसंज्ञक तिप् आदि प्रत्यय नौ हैं और इधर णल् आदि भी नौ हैं अतः यथासङ्ख्यपरिभाषा से ये आदेश क्रमशः होते हैं। ध्यान रहे कि ये णल् आदि आदेश लँट् के स्थान पर हो रहे हैं लिँट् के स्थान पर नहीं, अतः न तो 'लिँट् च' (४००) से इन की आर्धधातुकसञ्ज्ञा होगी और न ही इन के परे रहते 'लिँटि धातोः०' (३९४) से द्वित्व। 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' (३८८) से इन की सार्वधातुकसञ्ज्ञा ही रहेगी।

'विद्+ति' यहां लँट् के स्थान पर 'तिप्' यह परस्मैपद आदेश हुआ है अतः प्रकृतसूत्र से इसे णल् आदेश हो कर अनुबन्धलोप और लघूपधगुण करने से 'वेद' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्विवचन में तस् के स्थान पर अतुस् आदेश हो कर 'विदतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो गया है। इसी प्रकार बहुवचन में झि को उस् आदेश हो कर—विदुः। ब० पु० के एकवचन में सिप् को थल् आदेश हो कर 'खरि च' (७४) से चर्त्व किया तो—वेत्थ। यहां पर आर्धधातुकसञ्ज्ञा न होने से थल् को इट् का आगम नहीं हुआ। द्विवचन और बहुवचन में क्रमशः 'अथुस्' और 'अ' आदेश हो जाते हैं, लघूपधगुण का पूर्ववत् निषेध हो जाता है—विदथुः, विद।

उत्तम० के एकवचन में मिप् को णल् आदेश हो कर लघूपधगुण हो जाता है—वेद। ध्यान रहे कि यहां 'णलुत्तमो वा' (४५६) सूत्र का कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि उस का उपयोग केवल अजन्त या अकारोपध धातुओं में ही सम्भव होता है। यहां का लघूपधगुण णित्त्व का आश्रय नहीं करता। द्विवचन और बहुवचन

---

१. 'विदः' में पञ्चमी माननी ही युक्त है षष्ठी नहीं। अन्यथा तुदादिगणीय विद् का भी ग्रहण हो कर अनिष्ट हो जायेगा। अब पञ्चमी मान कर विद् से अव्यवहित पर परस्मैपदों को ही णलादि करने पड़ते हैं। इस से तौदादिक विद् का स्वतः परित्याग हो जाता है क्योंकि वहां 'श' विकरण का व्यवधान पड़ता है। दैवादिक और रौधादिक विद् की चिन्ता नहीं करनी चाहिये क्योंकि वे दोनों आत्मनेपदी हैं अतः वहां परस्मैपद सुलभ नहीं। दैवादिक विद् में दोष न आ जाये इस के लिये पञ्चमी मानने वाले तत्त्वबोधिनीकार श्रीज्ञानेन्द्रस्वामी तथा बृहच्छब्देन्दुशेखरकार श्रीनागेशभट्ट चिन्त्य हैं।

में वस् और मस् को क्रमशः व और म आदेश हो जाते हैं अतः विसर्ग नहीं रहते—विद्व, विद्म। 'विद्म' में यर् पदान्त नहीं अतः 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' (वा० ११) द्वारा दकार को अनुनासिक नहीं होता।

णल् आदि आदेश जिस पक्ष में नहीं होते वहां यथासम्भव खर् परे होने पर 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो जाता है। लेट् में रूपमाला यथा—(णलादिपक्षे) वेद, विदतु, विदु। वेत्थ, विदथु, विद। वेद, विद्व, विद्म। (णलाद्यभावे) वेत्ति, वित्तः, विदन्ति। वेत्सि, वित्थः, वित्थ। वेद्मि, विद्वः, विद्मः।

लिट्—में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५६९) उप-विद-जागृभ्योऽन्यतरस्याम् ।३।१।३८॥

एभ्यो लिट्याम् वा स्यात्। विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानाद् आमि न गुण—विदाञ्चकार, विवेद। वेदिता। वेदिष्यति॥

अर्थ—उप् (भ्वा० परस्मै० जलाना), विद् (अदा० परस्मै० जानना) और जागृ (अदा० परस्मै० जागना) धातुओं से परे विकल्प कर के आम् प्रत्यय होता है लिट् परे हो तो। विदेरदन्त०—आम् के सन्नियोग में विद् धातु को अदन्त निपातन किया गया है अतः आम् के परे होने पर इसे लघूपधगुण नहीं होता।

व्याख्या—उप-विद-जागृभ्य ।५।३। अन्यतरस्याम् ।७।१। आम् ।१।१। ('कास्प्रत्ययादाम्०' से)। लिटि ।७।१। ('कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' से)। 'प्रत्यय., परश्च' का अधिकार आ रहा है। अर्थ—(उप-विद जागृभ्य) उप्, विद् और जागृ धातुओं से परे (आम्, प्रत्यय) आम् प्रत्यय होता है (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में, (लिटि) लिट् परे हो तो। दूसरी अवस्था में नहीं होता अतः विकल्प सिद्ध हो जाता है। विद् के दोनों ओर उप् और जागृ परस्मैपदी धातुएं पड़ी गई हैं अतः विद् भी परस्मैपदी गृहीत होगी। परस्मैपदी विद् केवल अदादिगण में ही पठित है अतः यहां अदादिगणीय विद् का ही ग्रहण होगा अन्य का नहीं। 'उप' में अकार उच्चारणार्थक है, परन्तु 'विद्' में अकार निपातन के लिये है। अर्थात् आम् करते समय विद्' को अदन्त 'विद' बना लेना चाहिये। इस से लघूपधगुण का प्रतिषेध हो जाता है जैसा कि आगे प्रक्रिया में स्पष्ट है। उप् के उदाहरण 'ओपाञ्चकार, ओपाम्बभूव, ओपामास' आदि तथा जागृ के उदाहरण 'जागराञ्चकार, जागराम्बभूव, जागरामास' आदि हैं।

'विद्+लिट्' यहां लिट् परे है अतः प्रकृतसूत्र से विद् से परे आम् प्रत्यय विकल्प से हो गया। आमपक्ष में 'विद्+आम्+लिट्' इस स्थिति में 'आर्धधातुके शेषः' (४०४)

से आम् के आर्धधातुक होने के कारण 'पुगन्तलघूप०' (४५१) द्वारा लघूपधगुण प्राप्त होता है। परन्तु प्रकृतसूत्र में आम् का विधान करते समय विद् को अदन्त करने को भी कहा गया है। इस प्रकार 'विद्' को अदन्त बना कर 'अतो लोपः' (४७०) से पुनः उस के अन्त्य अकार का लोप कर दिया जाता है। अब उस लुप्त हुए अकार को 'अचः परस्मिन्०' (६९६) से स्थानिवत् मान कर लघूपधगुण की प्राप्ति ही नहीं होती क्योंकि तब उपधा में इक् नहीं रहता दकार आ जाता है। 'विदाम्+लिट्' इस दशा में 'आमः' (४७१) से लकार का लुक्, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते०' (४७२) से लिट्परक कृ भू और अस् का अनुप्रयोग, कृपक्ष में प्र० पु० के एकवचन की विवक्षा में तिप्, णल्, द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा वृद्धि और रपर करने पर 'गोपायाञ्चकार' की तरह 'विदाञ्चकार' रूप सिद्ध होता है। भूपक्ष में 'विदाम्बभूव' तथा अस्पक्ष में 'विदामास' रूप बनेंगे। आम् के अभाव में तिप्, णल्, द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा लघूपधगुण हो कर 'विवेद' रूप बनता है। धातु के सेट् होने से थल् में—विवेदिथ। लिट् में रूपमाला यथा—आम्पक्षे—(कृधातोरनुप्रयोगे) विदाञ्चकार, विदाञ्चक्रतुः, विदाञ्चक्रुः। विदाञ्चकर्थ, विदाञ्चक्रथुः, विदाञ्चक्र। विदाञ्चकार-विदाञ्चकर, विदाञ्चकृव, विदाञ्चकृम। (भूधातोरनुप्रयोगे) विदाम्बभूव, विदाम्बभूवतुः, विदाम्बभूवुः आदि। (अस्-धातोरनुप्रयोगे) विदामास, विदामासतुः, विदामासुः आदि। आमोऽभावे—विवेद, विविदतुः, विविदुः। विवेदिथ, विविदथुः, विविद। विवेद, विविदिव, विविदिम।

लुँट्—में सर्वत्र इट् का आगम हो कर लघूपधगुण हो जाता है। ध्यान रहे कि अनुदात्तों में श्यन् विकरण वाली विद् धातु निर्दिष्ट है अतः यह धातु सेट् है। वेदिता, वेदितारौ, वेदितारः। लृँट्—वेदिष्यति, वेदिष्यतः, वेदिष्यन्ति।

लोँट्—में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५७०) विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् ।३।१।४१॥

वेत्तेर्लोँटि आम्, गुणाभावो लोँटो लुक्, लोँडन्तकरोत्यनुप्रयोगश्च वा निपात्यते। पुरुषवचने न विवक्षिते॥

अर्थः—लोँट् परे होने पर विद् धातु से आम् प्रत्यय, उस के परे रहते लघूपधगुण का अभाव, लोँट् का लुक् तथा लोँडन्त कृ धातु का अनुप्रयोग ये सब कार्य विकल्प से होते हैं। पुरुषवचने—इस सूत्र की प्रवृत्ति में पुरुष और वचन विवक्षित नहीं अर्थात् यह सूत्र लोँट् के प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक वचन में प्रवृत्त होता है।

व्याख्या—विदाङ्कुर्वन्तु इति क्रियापदम्। इति इत्यव्ययपदम्। अन्यतरस्याम् ।७।१। इतिशब्दः प्रकारे वर्तते। अर्थः—(विदाङ्कुर्वन्तु) विदाङ्कुर्वन्तु (इति) इस प्रकार के

लोक प्रसिद्ध प्रयोग (कम्पतरस्याम्) एक अवस्था में हुआ करते हैं। दूसरी अवस्था में यथाप्राप्त कार्य होते हैं अतः विकल्प सिद्ध हो जाता है। 'विदाङ्कुर्वन्तु' यह बना-बनाया शब्द लोट् में निपातन किया गया है। इस में चार कार्य किये गये हैं जो शास्त्रानुसार प्राप्त नहीं होते थे—(१) लोट् के परे होने पर विद् से आम् प्रत्यय, (२) आम् के परे रहते गुण का अभाव (३) आम् से परे लोट् का लुक् (४) लोडन्त कृ का अनुप्रयोग। यहां सूत्र में 'विदाङ्कुर्वन्तु' यह लोट् के प्र० पु० के बहुवचन का रूप अतिप्रसिद्ध होने से उदाहरण के रूप में दिया गया है वैसे ये सब कार्य लोट् के प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक वचन में हुआ करते हैं। इसीलिये तो सूत्र में 'इति' शब्द लगाया गया है वरन् उस के जोड़ने की आवश्यकता ही क्या थी ?[1]

'विद्+लोट्' यहां पर प्रकृतसूत्र से विद् से परे आम्, उस के परे रहते अचः परस्मिन्नङिति से गुण का अभाव, आम् से परे लोट् का लुक्, पुनः लोडन्त कृ का अनुप्रयोग हो कर प्र० पु० के एकवचन की विवक्षा में लकार को तिप् आदेश करने पर 'विदाम्+कृ+ति' बना। अब 'कर्तरि शप्' (३।१।६८) से शप् विकरण प्राप्त होता है। इस पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५७१) तनादिकृञ्भ्य उ. ।३।१।७९॥

तनादे कृञश्च स प्रत्ययः स्यात्। शपोऽपवादः। गुणः[2]। विदाङ्करोतु॥

अर्थः—कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे हो तो तनादिगण में परिगणित धातुओं से तथा कृञ् धातु से परे 'उ' प्रत्यय हो। यह सूत्र शप् का अपवाद है।

व्याख्या—तनादि-कृञ्भ्यः ।१।३। उः ।१।१। कर्तरि ।७।१। ('कर्तरि शप्' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('सार्वधातुके यक्' से)। 'प्रत्ययः, परश्च' का अधिकार आ रहा

---

१ 'पुरुषवचने न विवक्षिते' वाला पक्ष महाभाष्य में यद्यपि कहीं उपलब्ध नहीं होता, परन्तु फिर भी सब वृत्तिग्रन्थों तथा चान्द्र आदि पाणिनीयभिन्नव्याकरणों में आदृत होने से मान्य है। कुछ वैयाकरण आरम्भ से ही इस के विरोधी रहे हैं। उन का कहना है कि केवल प्रथमपु० के बहुवचन में ही 'विदाङ्कुर्वन्तु' रूप का निपातन किया गया है अन्य पुरुषों या वचनों में नहीं। परमलघुकारः श्रीहरदत्त ने ऐसे लोगों का अपने शब्दों में खण्डन किया है। वर्तमानकाल में आर्यसमाज के प्रवर्तक श्रीस्वा० दयानन्दसरस्वती विरोधिमत के पोषकों में अग्रणी रहे हैं। उन का मत 'अष्टाध्यायीभाष्य' तथा 'अष्टाध्यायीभाष्य' में इसी सूत्र पर देखा जा सकता है।

२. आर्धधातुकम् उत्तरत्र निमित्तीकृत्य अकारस्य गुण सार्वधातुक त्रिमित्तीकृत्य उकारस्य च गुण। तदेव गुणस्य गुणत्व गुणी।

(४०४) से आर्धधातुकसञ्ज्ञा हो जाने से उसे मान कर 'सार्वधातुकार्धं०'(४८८) से ऋकार को अर् गुण तथा 'तिप्' इस सार्वधातुक को मान कर उप्रत्यय को ओकार गुण हो कर 'एरु' (४११) से इकार को उकार आदेश करने पर 'विदांकरोतु' प्रयोग सिद्ध होता है।

आशीर्लिंट् प्र० पु० के एकवचन में 'तु' को तातङ् करने पर 'विदाम्+कृ+उ+तात्' इस स्थिति में 'उ' आर्धधातुक को मान कर ऋकार को तो गुण हो जाता है परन्तु तातङ् के ङित् होने के कारण उसे मान कर उकार को गुण नहीं होता—विदाकरु+तात्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५७२) अत उत्सार्वधातुके ।६।४।११०॥

उप्रत्ययान्तस्य कृञोऽत उत् सार्वधातुके ङिति। विदाकुरुतात्। विदाकुरुताम्। विदाकुर्वन्तु। विदांकुरु। विदाकरवाणि। अवेत्, अवित्ताम्, अविदु।

अर्थ—सार्वधातुक कित् ङित् परे होने पर उप्रत्ययान्त कृञ् के ह्रस्व अकार के स्थान पर ह्रस्व उकार आदेश हो।

व्याख्या—अत' ।६।१। उत् ।१।१। सार्वधातुके ।७।१। उत ।५।१। प्रत्ययात् ।५।१। ('उतश्च प्रत्ययाद्०' से)।करोतेः ।६।१। ('नित्य करोते' से)।ङिति ।७।१। ('गमहनजन०' से)। 'उत' और 'प्रत्ययात्' पदों का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है। तब 'करोतेः' के विशेषण होने से 'उप्रत्ययान्तस्य करोतेः' बन जाता है। अर्थ—(उत प्रत्ययात्—उप्रत्ययान्तस्य) 'उ' प्रत्यय जिस के अन्त में है ऐसी (करोतेः) कृ धातु के (अतः) अत् के स्थान पर (उत्) उन् आदेश होता है (सार्वधातुके ङिति) सार्वधातुक कित् ङित् परे हो तो।

'विदाम्+करु+तात्' यहां 'तातङ्' यह ङित सार्वधातुक परे है अतः 'करु' इस उप्रत्ययान्त 'कृ' के ककारोत्तर अकार को उकार आदेश हो कर 'विदांकुरुतात्' प्रयोग सिद्ध होता है।

कित् ङित् परे होने पर ही उत्व होता है। करोति, करोषि, करोमि, करोतु आदियों मे कित् ङित् परे नहीं अतः उत्व नहीं होता। सार्वधातुक का ग्रहण स्पष्ट-प्रतिपत्ति के लिये है (देखें—इसी सूत्र पर पदमञ्जरी या शेखर)।

शङ्का—'विदाङ्कुरुतात्' मे 'उ' प्रत्यय आर्धधातुक है, इसे मान कर 'विदां-कुर्+उ+तात्' यहां 'पुगन्तलघूप०' (४५१) से लघूपधगुण क्यों नहीं होता?

समाधान—'अत उत्सार्वधातुके' सूत्र मे 'उत्' में तपर किया गया है। अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उप्रत्ययान्त कृधातु मे स्थानी अकार सर्वत्र ह्रस्व उपलब्ध होता है अतः आन्तरतम्य से उसके स्थान पर ह्रस्व उकार ही सम्भव था पुनः तपर

करने का क्या प्रयोजन ? तपरकरण का यही प्रयोजन प्रतीत होता है कि आचार्य 'उ' आदेश को सदा ह्रस्व ही रखना चाहते हैं कुछ अन्य करना नहीं चाहते। इसी लिये यहा लघूपधगुण न होगा।

प्र० पु० के द्विवचन में तस् को ताम् आदेश हो कर पूर्ववत् 'विदाम्+करु+ताम्' बना। यहां 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ताम् ङित् है अतः इस के परे रहते 'अत उत्सार्वधातुके' (५७२) से 'करु' के अकार को उकार हो कर 'विदांकुरुताम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र० पु० के बहुवचन में झि के झकार को 'झोऽन्तः' (३८९) से अन्त् आदेश तथा 'एरुः' (४११) से इकार को उकार करने पर—विदाम्+करु+अन्तु। अब 'अत उत्सार्व०' (५७२) से 'करु' के अकार को उकार आदेश तथा 'इको यणचि' (१५) से उकार को यण्-वकार करने पर 'विदांकुर्वन्तु' प्रयोग सिद्ध होता है। ['विदाम्+कुर्व्+अन्तु' यहां पर 'हलि च' (६१२) से प्राप्त दीर्घ का 'न भकुर्छुराम्' (६७८) से निषेध हो जाता है। आगे तनादिगण में इस का विवेचन करेंगे।]

म० पु० के एकवचन में सिप् को हि आदेश हो कर 'विदाम्+करु+हि' बना। अब यहां नित्य होने के कारण 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' (५०३) से पर भी उत्व का बाध कर प्रथम हि का लुक् हो जाता है। अब लुक् से लुप्त होने के कारण 'हि'को मान कर प्रत्ययलक्षण द्वारा उत्त्व नहीं किया जा सकता। परन्तु हि का लुक् तथा 'अत उत्सार्व०' (५७२) वाला उत्त्व दोनों आभीय कार्य हैं अतः 'असिद्धवदत्राऽऽभात्' (५६२) से हि के लुक् को असिद्ध मान कर दूसरा आभीय कार्य उत्व हो कर 'विद्राङ्कुरु' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। द्विवचन और बहुवचन में—विदाङ्कुरुतम्, विदाङ्कुरुत। उ० पु० में 'आडुत्तमस्य पिच्च' (४१८) से आट् पित् है अतः 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा वह ङिद्वत् नहीं होता। इसलिये वहां कहीं भी उत्व नही होता—विदाङ्करवाणि, विदाङ्करवाव, विदाङ्करवाम।

'विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्' (५७०) सूत्र में निपातित आम् आदि कार्य विकल्प से होते हैं अतः जिस पक्ष में वे न होंगे वहां साधारणप्रक्रिया हो कर 'वेत्तु' आदि रूप भी बनेंगे। लोट् में विद् की रूपमाला यथा—(आम्पक्षे) विदाङ्करोतु-विदाङ्कुरुतात्, विदाङ्कुरुताम्, विदाङ्कुर्वन्तु। विदाङ्कुरु- विदाङ्कुरुतात्, विदाङ्कुरुतम्, विदाङ्कुरुत। विदाङ्करवाणि, विदाङ्करवाव, विदाङ्करवाम। (आमोऽभावे) वेत्तु-वित्तात्, वित्ताम्, विदन्तु। विद्धि ('हुझल्भ्यो हेर्धिः' ५५६)—वित्तात्, वित्तम्, वित्त। वेदानि, वेदाव, वेदाम।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, शप् का लुक्, इतश्च, लघूपधगुण तथा अट् का आगम हो कर 'अवेद्+त्' इस स्थिति में 'हल्ङ्याब्भ्यः०' (१७९) सूत्र से अपृक्त तकार का लोप तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से अवसान में वैकल्पिक चर्त्व करने

पर 'अवेत्-अवेद्' दो रूप सिद्ध होते हैं। द्विवचन में—अवित्ताम्। यहा 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा आम् के ङित् हो जाने से लघूपधगुण का निषेध हो कर 'खरि च' (७४) से दकार को चर्त्व-तकार हो जाता है। बहुवचन मे 'अवेद्+झि' इस अवस्था में 'सिजभ्यस्त०' (४४७) से झि को जुस् आदेश हो कर—अविदु।

म० पु० के एकवचन मे सिप्, शप्, श्लुक्, इतश्च, लघूपधगुण और अट् का आगम करने पर—अवेद्+स्। अब हल्ङ्यादिलोप करने से 'अवेद्' बना। इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५७३) दश्च ।८।२।७५॥

धातोर्दस्य पदान्तस्य सिपि रुर्वा। अवे—अवेत्। विद्यात्, विद्याताम्, विद्यु। विद्यात्, विद्यास्ताम्। अवेदीत्। अवेदिष्यत्॥

अर्थ—सिप् परे होने पर धातु के पदान्त दकार के स्थान पर विकल्प से रु आदेश हो।

व्याख्या—द ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। सिपि ।७।१। धातो ।६।१। रु ।१।१। वा इत्यव्ययपदम्। ('सिपि धातो रुर्वा' से)। पदस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) ।'द' यह 'धातो' का विशेषण है अत विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'दकारान्तस्य धातो' बन जाता है। अर्थ—(द=दकारान्तस्य) दकारान्त (पदस्य) पदसञ्ज्ञक (धातो) धातु के स्थान पर (वा) विकल्प से (रु) रु आदेश होता है (सिपि) सिप् परे हो तो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह आदेश दकारान्त धातु के अन्त्य अल्—दकार के स्थान पर होता है इसी लिये तो वृत्ति मे 'दस्य पदान्तस्य' लिखा है।

'अवेद्' यहा प्रत्ययलक्षण से सिप् परे है अत दकारान्त पदसञ्ज्ञक 'अवेद्' के दकार को प्रकृतसूत्र द्वारा विकल्प से रुत्व हो जाता है। रुत्वपक्ष मे अनुबन्ध उकार का लोप हो कर अवसान में रेफ को विसर्ग करने पर 'अवे' प्रयोग सिद्ध होता है। रुत्वाभाव मे 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चत्व करने से 'अवेत्-अवेद्' दो रूप बनते हैं। लेंड् मे रूपमाला यथा—अवेत् अवेद्, अवित्ताम्, अविदु। अवे अवेत्-अवेद्, अवित्तम्, अवित्त। अवेदम्, अविद्व, अविद्म।

विधिलिंङ्—मे साधारण प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—विद्यात्, विद्याताम्, विद्यु। विद्या, विद्यातम्, विद्यात। विद्याम्, विद्याव, विद्याम। आ० लिंङ्—विद्यात्, विद्यास्ताम्, विद्यासु। विद्या, विद्यास्तम्, विद्यास्त। विद्यासम्, विद्यास्व, विद्यास्म।

लुंङ्—प्र० पु० के एकवचन मे तिप्, इतश्च, सिच्, इट्, ईट्, लघूपधगुण तथा अट् का आगम हो कर 'अवेद्+इस्+ईत्' हुआ। अब 'इट ईटि' (४४६) से सकार का लोप तथा 'अक सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ किया तो 'अवेदीत्' रूप सिद्ध

हुआ। रूपमाला यथा—अवेदीत्, अवेदिष्टाम्, अवेदिषुः। अवेदीः, अवेदिष्टम्, अवेदिष्ट। अवेदिषम्, अवेदिष्व, अवेदिष्म।

लृँङ्—अवेदिष्यत्, अवेदिष्यताम्, अवेदिष्यन् आदि।

उपसर्गयोग—सम्√विद्=भली भांति जानकार होना (अकर्मक होने पर 'विदि-प्रच्छि-स्वरतीनामुपसङ्ख्यानम्' वार्त्तिक से आत्मनेपद हो जाता है। के न संवि-, द्रते वायोर्मैनाकाद्रिर्यथा सखा—भट्टि० ८.१७)। आ√विद् (णिजन्त)=आवेदन करना जनाना, जानकारी देना (आत्मनः सुमहत्कर्म व्रणैरावेद्य संस्थितः—रघु० १२.५५; इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण—रघु० ५.२३)। नि√विद् (णिजन्त) =निवेदन करना—बतलाना (उपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयामि—शाकुन्तल ४; गुरुनृपाणां गुरवे निवेद्य—रघु० २.६८); प्रकट करना—सूचित करना (विगम्बरत्वेन निवेदितं वसु—कुमार० ५.७२), समर्पण करना (स्वराज्यं चन्द्रापीडाय न्यवेदयत्—कादम्बरी)।

[लघु०] अस भुवि ॥१७॥ अस्ति ॥

अर्थः—अस् धातु 'होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—उदात्तेत् होने अथवा आत्मनेपद के लक्षणों से रहित होने के कारण यह धातु परस्मैपदी है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप् और शप् का लुक् (५५२) हो कर 'अस्ति' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में शप् का लुक् हो कर 'अस्+तस्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५७४) श्नसोरल्लोपः ।६।४।१११॥

श्नस्य अस्तेश्चाऽतो लोपः सार्वधातुके क्ङिति। स्तः, सन्ति। असि, स्थः, स्थ। अस्मि, स्वः, स्मः॥

अर्थः—श्न तथा अस् के अकार का लोप हो जाता है सार्वधातुक कित् ङित् परे हो तो।

व्याख्या—श्नसोः ।६।२। अत् ।६।१। (लुप्तविभक्तिको निर्देशः)। लोपः ।१।१। सार्वधातुके ।७।१। ('अत उत्सार्वधातुके' से)। क्ङिति ।७।१। ('गमहन—लोपः क्ङित्यनङि' से)। श्नश्च अस् च श्नसौ, तयोः=श्नसोः, शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्[1]।

---

१. प्राचीन आचार्य 'अस्' धातु को 'स्' धातु मान कर 'स्तः, सन्ति' आदि रूप बना लेते थे। 'अस्ति, आसीत्' आदि की सिद्धि के लिये वे 'स्' धातु को अट् और आट् का आगम करते थे (देखें १.२.२२ सूत्र पर न्यास तथा उस पर श्रीशचन्द्रचक्रवर्ती का टिप्पण)। मुनिवर पाणिनि ने सम्भवतः पूर्वाचार्यों के संस्कारवश यहां 'अस्'

अर्थ —(सार्वधातुके) सार्वधातुक (क्ङिति) कित् ङित् परे होने पर (श्नसो) श्न और अस् के (अत) अत् का (लोप) लोप हो जाता है। 'श्न' यह 'श्नम्' प्रत्यय के एकदेश का ग्रहण किया गया है। इस के उदाहरण 'रुन्ध, भिन्त' आदि आगे रुधादिगण मे आयेंगे।

'अस + तस्' यहा 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से तस् ङित् है। अत इस के पर होने पर प्रकृतसूत्र द्वारा अस् के आदि अकार का लोप हो कर तस् के सकार को रुत्व-विसर्ग करने पर 'स्तः' प्रयोग सिद्ध होता है। प्र० पु० के बहुवचन मे झि के झकार को अन्त् आदेश हो कर 'अस + अन्ति' इस स्थिति मे अस् के अकार का लोप करने पर—सन्ति। म० पु० के एकवचन मे 'अस + सि' इस दशा मे सिप के पित् होने के कारण ङित् न होने से अस् के अकार का लोप नही होता। अब 'सासस्त्योर्लोपः' (४०६) सूत्र से सकार का लोप करने पर 'असि' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन और बहुवचन मे ङित्त्व के कारण अकार का लोप हो जाता है—स्थः, स्थ। उ० पु० के एकवचन मे—अस्मि। द्विवचन और बहुवचन मे ङित्त्व के कारण अकार का लोप होता है—स्वः, स्मः। लेट मे रूपमाला यथा—अस्ति, स्तः, सन्ति। असि, स्थः, स्थ। अस्मि, स्वः, स्मः।

अब उपसर्ग आदि के योग मे विशेषकार्य का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(५७५)उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तियच्परः ।८।३।८७।

उपसर्गेण प्रादुसश्च अस्ते सस्य षो यकारेऽचि च परः। निष्यान्। प्रनिषन्ति। प्रादुषन्ति। यच्परः किम्? अभिस्तः॥

अर्थ —उपसर्गस्थ इण् प्रत्याहार से परे अथवा प्रादुस् (प्रकट होना) अव्यय से परे अस् धातु के सकार के स्थान पर षकार आदेश हो जाता है यकार या अच् पर हो तो।

व्याख्या—उपसर्ग प्रादुर्भ्याम् ।५।२। अस्ति ।१।१। यच्परः ।१।१। स ।६।१। ('सहे साङ स' मे)। मूधन्य ।१।१। ('अपदान्तस्य मूर्धन्य' स)। 'इण्कोः' का अधिकार आ रहा है परन्तु इस के 'कोः' अश का यहा उपयोग नही हो सकता। 'इण्' अश का भी केवल 'उपसर्ग' मे उपयोग होता है 'प्रादुस्' मे असम्भव होने से नही। य च अच् च यचौ, तौ परौ यस्मात् स यच्परः, बहुव्रीहि०। 'यच्परः' तथा 'अस्तिः' दोनो का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है। अर्थ —(उपसर्ग प्रादुर्भ्याम्, इण्) उपसर्गस्थ इण् प्रत्याहार से अथवा प्रादुस् अव्यय से परे (यच्परस्य) यकार या अच्

---

के स्थान पर 'स' का प्रयोग किया है अत हमारे विचार मे शक्ध्वादिवात परस्प की कल्पना करना युक्त नही।

परे वाले, (अस्तेः) अस् धातु के (सः) सकार के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धन्य आदेश हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उपसर्गस्थ इण् या प्रादुस् अव्यय से परे यदि अस् का ऐसा सकार आये जिस से परे यकार या अच् विद्यमान हो तो उस सकार के स्थान पर मूर्धन्य (ष्) आदेश हो जाता है।

उदाहरण यथा—नि + स्यात् = निष्यात्। 'स्यात्' यह 'अस्' धातु के विधिलिंङ् का रूप है। यहां सकार से परे यकार विद्यमान है। अतः उपसर्गस्थ इण् से परे उस सकार को मूर्धन्य (ष्) हो जाता है। प्र + नि + सन्ति = प्रनिषन्ति। यहां 'सन्ति' यह अस् धातु के लँट् का रूप है। इस के सकार से परे अच् (अ) विद्यमान है। अतः उपसर्गस्थ इण् से परे ऐसे सकार को षकार हो जाता है। प्रादुस् + सन्ति = प्रादुषन्ति। यहा 'सन्ति' मे भी पूर्ववत् सकार से परे अच् विद्यमान है। अतः प्रादुस् अव्यय से परे ऐसे सकार को षकार हो जाता है। ध्यान रहे कि यहां प्रादुस् के पदान्त सकार को रुँत्व तथा खर् परे होने के कारण रेफ को विसर्ग कर लिया जाता है।

यदि अस् के सकार से परे यकार वा अच् न होगा तो सकार को मूर्धन्य आदेश न होगा। यथा—अभि + स्तः = अभिस्तः। यहां पर सकार से परे तकार विद्यमान है अतः मूर्धन्य नही हुआ। स्मरण रहे कि उपसर्गस्थ इण् अथवा प्रादुस् से परे साक्षात् अव्यवहित सकार होने पर ही षत्व होता है अन्यथा नहीं। अभि + असि = अभ्यसि, प्रादुस् + असि = प्रादुरसि, इत्यादियों में साक्षात् सकार परे नहीं अतः षत्व नहीं होता।

अब लिँट् की विवक्षा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५७६) **अस्तेर्भूः** ।२।४।५२॥

आर्धधातुके। बभूव। भविता। भविष्यति। अस्तु-स्तात्, स्ताम्, सन्तु॥

अर्थः—आर्धधातुक की विवक्षा में अस् के स्थान पर भू आदेश हो।

व्याख्या—आर्धधातुके ।७।१। [यह अधिकृत है और इस में विषयसप्तमी है यह पीछे (५६३) स्पष्ट कर चुके है]। अस्तेः ।६।१। भूः ।१।१। अर्थः—(आर्धधातुके) आर्धधातुक कहने की इच्छा हो तो (अस्तेः) अस् के स्थान पर (भूः) भू आदेश हो। अनेकाल् होने से भू आदेश सम्पूर्ण अस् के स्थान पर किया जायेगा।

हमें यहां अस् धातु से लिँट् लकार करने की विवक्षा है। 'लिँट् च' (४००) सूत्र मे लिँडादेश आर्धधातुकसञ्ज्ञक हुआ करते है। अतः आर्धधातुकविवक्षामात्र में ही प्रकृतसूत्र से अस् को भू आदेश हो जाता है। अब भू मे ही लिँट् की उत्पत्ति हो कर पूर्ववत् वुक्, द्वित्व आदि कार्य करने पर 'बभूव' आदि रूपो की सिद्धि होती है—बभूव, बभूवतुः, बभूवुः। बभूविथ, बभूवथुः, बभूव। बभूव, बभूविव, बभूविम।

लुँट्—मे 'ताम्' प्रत्यय आर्धधातुकसञ्ज्ञक होता है। अत आर्धधातुक की विवक्षामात्र मे प्रकृतसूत्र से अम् को भू आदेश हो कर पूर्ववत् 'भविता' आदि रूप बनते हैं—भवितारौ, भवितारो, भवितार । भवितासि, भवितास्थ, भवितास्थ । भवितास्मि, भवितास्व, भवितास्म ।

लृँट्—मे 'स्य' प्रत्यय आर्धधातुकसञ्ज्ञक होता है अत आर्धधातुक की विवक्षा मे अम् को भू आदेश हो कर पूर्ववत् 'भविष्यति' आदि रूप सिद्ध होते हैं—भविष्यति, भविष्यत, भविष्यन्ति आदि।

लोँट—आर्धधातुक नही होता अत उस की विवक्षा मे अम् को भू आदेश नही होता। प्र० पु० के एकवचन मे तिप, शप, शप्लुक तथा 'एरु' (८११) से इकार को उकार आदेश होकर 'अस्तु' प्रयोग सिद्ध होता है। आशीर्लोँट मे 'यु' को तातङ् आदेश हो कर तातङ् के ङित सार्वधातुक होने के कारण 'ङसोरल्लोप' (५७४) से अस् के अकार का लोप हो जाता है—स्तात्। द्विवचन मे तस को ताम् हो कर 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित्त्व के कारण अस के अकार का लोप हो जाता है—स्ताम। बहुवचन मे झि के झकार को अन् आदेश हो कर पूर्ववत् अकार का लोप करने से—सन्तु।

म० पु० के एकवचन मे सिप् को 'हि' आदेश हो कर 'अस्+हि' इस दशा मे 'हुझल्भ्यो हेर्धि' (५५६) द्वारा प्राप्त धि-आदेश का परत्व के कारण अग्रिमसूत्र बाध कर लेता है—

## [लघु०] विधि-सूत्रम्—(५७७) घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ।६।४।११९॥

घोरस्तेश्च एत्व स्याद् हौ परे, अभ्यासलोपश्च। एत्वस्यासिद्धत्वाद् हेर्धि । ङसोर० (५७४) इत्यल्लोप—एधि। तातङ्पक्षे एत्व न, परेण तातङा बाधात्—स्तात्। स्तम, स्त। असानि, असाव, असाम। आसीत्, आस्ताम, आसन्। स्यात्, स्याताम्, स्यु । भूयात्। अभूत्। अभविष्यत्॥

अर्थ—'हि' परे होने पर घुसञ्ज्ञक और अस धातु के स्थान पर एकार आदेश हो जाता है तथा अभ्यास (यदि हो तो) का भी लोप हो जाता है। एत्वस्य—एत्व के असिद्ध होने से 'हि' के स्थान पर 'धि' आदेश हो जायेगा।

व्याख्या—घ्वसो ।६।२। एत ।१।१। हौ ।७।१। अभ्यासलोप ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अभ्यासस्य लोप—अभ्यासलोप, षष्ठीतत्पुरुष। घु च अस् च घ्वसौ, तयो—घ्वसो, इतरेतरद्वन्द्व। घुसञ्ज्ञक धातुओं का वर्णन आगे (६२३) सूत्र पर आयेगा। अर्थ—(हौ) 'हि' परे होने पर (घ्वसो) घुसञ्ज्ञक धातुओं तथा अस धातु के स्थान पर (एत) एकार आदेश हो जाता है (च) और साथ ही (अभ्यासलोप)

अभ्यास का लोप भी हो जाता है। अभ्यास सब जगह नहीं होता वह केवल घुसञ्ज्ञक दा धा में ही सम्भव है अतः जहां अभ्यास होगा वहां एकार आदेश के साथ उस का लोप भी हो जायेगा। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह एकार आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। परन्तु लोप सम्पूर्ण अभ्यास का ही होता है क्योंकि पीछे से 'लोपः' की अनुवृत्ति आने पर भी इस सूत्र में दुबारा 'लोपः' कहा गया है अतः प्रतीत होता है कि आचार्य पूरे अभ्यास का ही लोप चाहते हैं उस के केवल अन्त्य अल् का नहीं। उदाहरण यथा—

घुसञ्ज्ञक—दा+दा+हि=देहि। धा+धा+हि=धेहि। इन की विस्तृत सिद्धि आगे जुहोत्यादिगण में देखें।

अस्—'अस्+हि' यहां 'हि' परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से अस् के अन्त्य अल् सकार को एकार आदेश हो जाता है—अ+ए+हि। अब यह एत्त्व आभीयकार्य होने के कारण दूसरे समानाश्रय आभीयकार्य की दृष्टि में असिद्ध है [देखें - असिद्धवदत्राऽऽभात् (५६२)], अतः 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (५५६) सूत्र को यहां एत्त्व दिखाई नहीं देता किन्तु सकार ही दीखता है। इस प्रकार झल्-सकार से परे उस सूत्र द्वारा 'हि' को 'धि' आदेश हो जाता है—अ+ए+धि। अब 'हि' के अपित् होने के कारण 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से उसे ङिद्वत् मान कर 'श्नसोरल्लोपः' (५७४) से अकार का लोप करने पर 'एधि' प्रयोग सिद्ध होता है। आ० लोँट् में 'अस्+हि' इस स्थिति में एत्त्व और तातङ् युगपत् प्राप्त होते हैं। दोनों सावकाश हैं। एत्त्व को शुद्ध लोँट् के 'एधि' में तथा तातङ् को भवतात् आदि में अवकाश प्राप्त हो चुका है। इस प्रकार विप्रतिषेध होने पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११७) से पर-कार्य तातङ् हो कर—अस्+तात्। अब तातङ् के ङित् सार्वधातुक होने के कारण अकार का लोप करने से 'स्तात्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि तातङ् कर चुकने के बाद तातङ् को स्थानिवद्भाव से 'हि' मान कर पुनः एत्त्व नहीं होता, क्योंकि विप्रतिषेध में जो एक बार पिट चुकता है उस की पुनः प्राप्ति नहीं हुआ करती—'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव' (प०)। किञ्च तातङ् को आभीयत्वेन असिद्ध भी नहीं मान सकते। क्योंकि वह आभीयाधिकार से बहिर्भूत सप्तमाध्याय के प्रथमपाद में स्थित है।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, इतश्च, शप् और उस का लुक् हो कर—अस्+त्। अब 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (४४५) से अपृक्त तकार को ईट् का आगम, 'आडजादीनाम्' (४४४) से अङ्ग को आट् का आगम तथा 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि एकादेश करने पर 'आसीत्' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र० पु० के द्विवचन में तस् को ताम् आदेश, गा, गञ्नुक् तथा 'श्नसोरल्लोपः' (५७४) से अस् के अकार का लोप हो कर—स+ताम्। अब अङ्ग (स्) यद्यपि

अजादि नहीं रहा तथापि 'असिद्धवदत्राऽऽभात्' (५६२) से अल्लोप के असिद्ध होने से, 'आडजादीनाम्' (४४४) को वह अजादि ही दीखता है। अत आट का आगम हो कर 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि न हो सकने से 'आस्ताम्' प्रयोग सिद्ध होता है। [ध्यान रहे कि 'झसोरल्लोप' (५७४) तथा 'आडजादीनाम्' (४४४) दोनों आभीयकार्य हैं। दोनों समानाश्रय हैं। अत एक का किया कार्य दूसरे की दृष्टि में असिद्ध हो जाता है।]

प्र० पु० के बहुवचन में 'झोऽन्त' (३८९) से झि के झकार को अन्तादेश, शप्, श्लुक् तथा 'झसोरल्लोप' (५७४) से अस के अकार का लोप होकर—स्+अन्ति। अब अल्लोप को असिद्ध मानकर आट् का आगम, 'इतश्च' (४२४) से इकार का लोप तथा 'सयोगान्तस्य लोप' (२०) से सयोगान्त नकार का भी लोप करने पर 'आसन' प्रयोग सिद्ध होता है।

म० पु० के एकवचन सिप् में भी 'आमीत्' की तरह अपृक्त सकार को ईट का आगम (४४५), अङ्ग को आट् का आगम, 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि तथा अन्त में सकार को रुत्व-विसर्ग करने पर—'आसी' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन और बहुवचन में पूर्ववत् क्रमश 'आस्तम, आस्त' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

उ० पु० के एकवचन में मिप् को अम, श्लुक, आट् का आगम तथा वृद्धि करने पर—आसम्। द्विवचन और बहुवचन में पूर्ववत् अकार का लोप होकर उस के असिद्ध होने से आट का आगम हो जाता है। लँङ् में रूपमाला यथा—आसीन्, आस्ताम्, आसन्। आसी, आस्तम्, आस्त। आसम्, आस्व, आस्म।

वि० लिँङ—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, इतश्च, तथा यासुट् का आगम होकर—अस्+यास्त। अब यासुट् के ङित् होने से उस के परे होने पर 'झसोरल्लोप' (५७४) से अस के अकार का लोप तथा 'लिँङ सलोप०' (४२७) से अन्त्य सकार का भी लोप करने पर 'स्यात' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार तस् आदियों में भी समझना चाहिये। रूपमाला यथा—स्यात्, स्यास्ताम्, स्यु। स्या, स्यातम्, स्यात। स्याम, स्याव, स्याम।

आ० लिँङ्—में यासुट् की 'लिँङाशिषि' (४३१) से आर्धधातुकसञ्ज्ञा होती है अत उसकी विवक्षा में 'अस्तेर्भूः' (५७६) द्वारा अस् को भू आदेश होकर सम्पूर्ण प्रक्रिया भू धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—भूयात, भूयास्ताम्, भूयासु। भूया, भूयास्तम्, भूयास्त। भूयासम, भूयास्व, भूयास्म।

लुङ्—में सिच् की आर्धधातुकसञ्ज्ञा होती है। अत आर्धधातुक की विवक्षा में पूर्ववत अस् को भू आदेश हो जाता है। अब शुद्ध भू धातु की तरह सिच् का लुक् आदि होने लगते हैं। रूपमाला यथा—अभूत्, अभूताम्, अभूवन्। अभूः, अभूतम्, अभूत। अभूवम्, अभूव, अभूम।

लृँङ्—में 'स्य' प्रत्यय आर्धधातुकसंज्ञक होता है अतः उस की विवक्षा में पूर्ववत् अस् को भू आदेश हो जाता है—**अभविष्यत्, अभविष्यताम्, अभविष्यन्** आदि।

[लघु०] **इण् गतौ ॥१८॥** एति। इतः॥

अर्थः—इण् (इ) धातु 'गति-जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इण् धातु के अन्त्य णकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। अतः उस का लोप होकर 'इ' मात्र अवशिष्ट रहता है। धातु में णकार जोड़ने का प्रयोजन यह है कि 'इणो यण्' (५७८) 'इणो गा लुँङि' (५८२) आदि सूत्रों में केवल इसी धातु का ग्रहण हो सके, अन्यथा 'इ' मात्र कहने से 'इङ् अध्ययने', 'इक् स्मरणे' आदि का भी ग्रहण होकर अनिष्ट हो जाता। आत्मनेपद के लक्षणों से रहित होने के कारण यह धातु परस्मैपदी है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन मे तिप्, शप्, तथा शप् का लुक् होकर—इ+ति। अव 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से इकार को एकार गुण होकर 'एति' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा तस्प्रत्यय ङित् है अतः गुण का निषेध हो जाता है—इतः। वहुवचन में झि के झकार को अन्त् आदेश होकर 'इ+अन्ति' इस स्थिति में 'अचि श्नु०' (१९९) से धातु के इकार को इयँङ् आदेश प्राप्त होता है। इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(५७८) इणो यण् ।६।४।८१॥**

अजादौ प्रत्यये परे। यन्ति॥

अर्थः—अजादि प्रत्यय परे होने पर इण् धातु को यण् आदेश हो।

व्याख्या—इणः ।६।१। यण् ।१।१। अचि ।७।१। ('अचि श्नु०' से)। यह सूत्र 'अङ्गस्य' के अधिकार में पढ़ा गया है। विना प्रत्यय के अङ्गसञ्ज्ञा हो नही सकती अतः 'प्रत्यये' पद उपलब्ध हो जाता है। 'अचि' को 'प्रत्यये' का विशेषण मानकर तदादिविधि करने से 'अजादौ प्रत्यये' वन जाता है। 'इणः' में व्याख्यान द्वारा इण् धातु का ही ग्रहण होता है इण् प्रत्याहार का नहीं। अर्थः—(अचि=अजादौ) अजादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर (इणः) इण् धातु के स्थान पर (यण्) यण् आदेश हो जाता है। आन्तरतम्य से इकार के स्थान पर यकार आदेश होता है। यह सूत्र 'अचि श्नु०' (१९९) के वाद पढ़ा गया है। गुण और वृद्धि के विधायक सूत्र इस के आगे (सातवें अध्याय में) पढ़े गये है। अतः **मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् वाधन्ते नोत्तरान्** (मध्य में कहे अपवाद अपने से पूर्व विधियों के वाधक हुआ करते हैं, अपने से आगे की विधियों के नही, इस परिभाषा से यह सूत्र केवल इयँङ् विधि का ही अपवाद है उत्तरवर्ती गुण और वृद्धि का नही। अत एव अयनम् (इ+ल्युट्=इ+

अन=ए+अन=अयनम्) मे गुण तथा आयक (इ+ण्वुल=इ+वु=इ+अक=ऐ+अक=आयक) मे वृद्धि हो जाती है।

'इ+अन्ति' यहा पर 'अन्ति' यह अजादि प्रत्यय परे विद्यमान है। 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा ङिद्भाव के कारण गुण निषिद्ध है। अत प्रकृतसूत्र से इकार को यण् यकार हो कर 'यन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है। [यहा यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि यह सूत्र न होता तो 'अचि श्नु०' (१९९) से इकार को इयँङ् हो कर 'इयति' इस प्रकार अनिष्ट रूप बन जाता। अनेकाच न होने से एरनेकाच०' (२००) का विषय न था]। तिप, सिप और मिप् इन तीन पित प्रत्ययो को छोड कर अन्यत्र लँट मे इण् का कही गुण नही होता। रूपमाला यथा—एति, इत, यन्ति। एषि, इथ, इथ। एमि, इव, इम।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन मे तिप को णल आदेश होकर—इ+अ। अब पर वृद्धि का बाध कर 'द्विर्वचनेऽचि' (८७४) की सहायता से प्रथम द्वित्व हो जाता है—इ+इ+अ। तब अभ्यास मे अग्रिम इकार को 'अचो ञ्णिति' (१८२) से ऐकार वृद्धि हो जाती है—इ+ऐ+अ। अब इस स्थिति मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम् (५७९) अभ्यासस्याऽसवर्णे ।६।४।७८॥

अभ्यासस्य इवर्णोवर्णयोर् इयँङुवँङौ स्तोऽसवर्णेऽचि। इयाय॥

अर्थ — असवर्ण अच् परे होने पर अभ्यास के इवर्ण और उवर्ण को क्रमश इयँङ् और उवङ् आदेश हो।

व्याख्या—अभ्यासस्य ।६।१। असवर्णे ।७।१। अचि ।७।१। य्वो ।६।२। इयँङुवँङौ ।१।२। ('अचि श्नुधातु०' से)। इश्च उश्च यू, तयो=य्वो। इतरेतरद्वन्द्व। 'य्वो' यह 'अभ्यासस्य' का विशेषण है अत विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'इकारान्तस्य उकारान्तस्य चाभ्यासस्य' बन जाता है। अर्थ—(असवर्णे अचि) असवर्ण अच् परे हो तो (इकारान्तस्य उकारान्तस्य चाभ्यासस्य) इकारान्त और उकारान्त अभ्यास के स्थान पर (इयँङुवँङौ) इयँङ् और उवँङ् आदेश हो जाते हैं। अलोऽन्त्यपरिभाषा तथा यथासङ्ख्यपरिभाषा के अनुसार इकार को इयँङ् और उकार को उवँङ् आदेश किया जाता है। इयँङ् और उवँङ् मे अकार और ङकार इत् हैं अत इय् और उव् ही शेष रहते हैं।

'इ+ऐ+अ' यहा पर अभ्यास के इकार से परे असवर्ण अच् ऐकार विद्यमान है अत प्रकृतसूत्र से इकार के स्थान पर इयँङ् आदेश होकर[1]—इयँ+ऐ+अ=

---

१ कई व्याख्याकार 'इ+ऐ+अ' यहा पहले 'एचोऽयवायाव' (२२) से आय् आदेश कर बाद मे इयँङ् आदेश किया करते हैं। परन्तु यह प्रक्रिया अशुद्ध

'इय्+ऐ+अ' हुआ। अब **'एचोऽयवायाव.'** (२२) से ऐकार को आय् आदेश करने पर 'इयाय' प्रयोग सिद्ध होता है।[1]

उकार के उदाहरण 'उवोख, उवोप' आदि **सिद्धान्तकौमुदी** में देखे। 'अचि' इस लिये कहा है कि 'इयाज' (यज्) आदि मे इकार को इयँङ् न हो जाये। 'असवर्णे' के कथन से 'ईषतुः, ईषुः' (**इष इच्छायाम्**) आदि मे सवर्ण अच् परे रहते इयँङ् आदेश नही होता। अतुस् में द्वित्व करने पर 'इ+इ+अतुस्' इस स्थिति में **'असंयोगाल्लिँट् कित्'** (४५२) द्वारा अतुस् के कित् होने से आर्धधातुकगुण का निषेध हो जाता है। तब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।

**[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५८०) दीर्घ इणः किति।७।४।६९॥**

इणोऽभ्यासस्य दीर्घः स्यात् किति लिँटि। ईयतुः। ईयुः। इयथिथ-इयेथ। एता। एष्यति। एतु। ऐत्, ऐताम्, आयन्। इयात्। ईयात्॥

**अर्थः**—कित् लिँट् परे होने पर इण् धातु के अभ्यास को दीर्घ हो।

**व्याख्या**—दीर्घः।१।१। इणः।६।१। किति।७।१। अभ्यासस्य।६।१। (**'अत्र लोपोऽभ्यासस्य'** से)। लिँटि।७।१। (**'व्यथो लिँटि'** से)। अर्थः—(किति लिँटि) कित् लिँट् परे होने पर (इणः) इण् धातु के (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है।

'इ+इ+अतुस्' यहां पर 'अतुस्' प्रत्यय कित् लिँट् है अतः इस के परे होने पर प्रकृतसूत्र द्वारा इण् के अभ्यास इकार को दीर्घ होकर **'वार्णादाङ्गं बलीय.'** के अनुसार सवर्णदीर्घ का बाध कर उत्तरवर्त्ती इकार को **'इणः षण्'** (५७८) से यकार करने पर 'ईयतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार बहुवचन में—ईयुः।

म० पु० के एकवचन में सिप् को थल् होकर—इ+थ। इण् धातु एकाच् होने से अनिट् है। क्रादिनियम से लिँट् मात्र में इट् की प्राप्ति होती है परन्तु 'अचस्तास्वत्०' (४८०) से थल् में निषेध हो जाता है। पुनः **'ऋतो भारद्वाजस्य'** (४८२) से विकल्प से इट् हो जाता है। इट्पक्ष मे 'इ+इथ' इस स्थिति में द्वित्व हो कर—

---

है। **वार्णादाङ्गं बलीयः'** (वर्णसम्बन्धी कार्य की अपेक्षा अङ्गाधिकारप्रोक्त कार्य बलवान् होता है) परिभाषा के अनुसार पहले अङ्गाधिकार का कार्य होना चाहिये।

१. यद्यपि **'अचः परस्मिन्०'** (६९६) से ऐकार को स्थानिवत् अर्थात् इकार मान लेने से सवर्ण परे रहने के कारण इयँङ् नही हो सकता तथापि 'असवर्णे' कथन के सामर्थ्य से ऐसे स्थलों पर स्थानिवद् नही होता—ऐसा समझना चाहिये। अन्यथा इस सूत्र को कही अवकाश ही न मिलेगा और इस का निर्माण व्यर्थ हो जायेगा (देखो—'उवोख' की सिद्धि पर लघुशब्देन्दुशेखर)।

इ+इ+इथ। आर्धधातुकगुण हो कर—इ+ए+इथ। अब 'अभ्यासस्याऽसवर्णे' (५७९) से अभ्यास के इकार को इयँङ आदेश तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से एकार को अय् आदेश करने पर—इय्+अय्+इथ='इयथिथ' रूप सिद्ध होता है। इट् के अभाव में—इयेथ। द्विवचन और बहुवचन में 'ईयतु' की तरह सिद्धि होती है—ईयथु, ईय। उ० पु० में णल् विकल्प से णित् होता है (४५६) अतः णित्वपक्ष में वृद्धि तथा णित्वाभाव में गुण हो जाता है। शेष प्रक्रिया प्र० पु० के पक्ष की तरह होती है—इयाय-इयय। द्विवचन और बहुवचन में आदिनियम से नित्य इट् हो जाता है—ईयिव, ईयिम। लिट में रूपमाला यथा—इयाय, ईयतुः, ईयुः। इयदिथ इयेथ, ईयथुः, ईय। इयाय-इयय, ईयिव, ईयिम।

लुँट्—धातु के अनिट् होने से इट् का आगम कहीं नहीं होता, सर्वत्र गुण हो जाता है। रूपमाला यथा—एता, एतारौ, एतारः। लृँट्—एष्यति, एष्यतः, एष्यन्ति।

लोँट्—में लँट् की तरह प्रक्रिया हो कर लोँट के विशेष कार्य हो जाते हैं। रूपमाला यथा—एतु इतात[1] इताम्, यन्तु[2]। इहि[3]-इतात, इतम्, इत। अयानि[4], अयाव, अयाम।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, शपो लुक्, 'इतश्च' (४२४) से इकारलोप तथा 'सार्वधातुकार्धयोः' (३८८) से गुण हो कर 'अ+त' इस स्थिति में 'आडजादीनाम्' (४४४) से आट् का आगम और 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि करने पर 'ऐत्' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में ङित्त्व के कारण गुण नहीं होता, आट का आगम और वृद्धि करने पर—ऐताम्। बहुवचन में झि के झकार को अन्त् आदेश हो कर 'इ+अन्ति' इस स्थिति में इयँङ का बाध कर 'इणो यण्' (५७८) से यण् आदेश हो जाता है—य्+अन्ति। अब अङ्ग के अजादि न रहने से आट् का आगम प्राप्त नहीं होता। परन्तु 'असिद्धवदत्राऽऽभात्' (५६२) से यणादेश के असिद्ध होने से 'आडजादीनाम्' की दृष्टि में 'इ' ही रहता है। इस प्रकार अङ्ग के अजादि हो जाने से आट् का आगम निर्बाध हो जाता है—आ+य+अन्ति। अब 'इतश्च' (४२४) से इकार का लोप तथा 'सयोगान्तस्य लोपः' (२०) से सयोगान्त तकार का लोप करने पर 'आयन्' प्रयोग सिद्ध होता है। म० पु० के एकवचन में सिप्, इकारलोप, गुण तथा आट् का आगम हो कर—आ+ए+स=ऐस=ऐः' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन और बहुवचन में पूर्ववत्—ऐतम्, ऐत। उ० पु० के एकवचन में मिप् को अम् आदेश

---

१ तातङ् के ङित्त्व के कारण गुण का निषेध हो जाता है।

२ 'इणो यण्' (५७८)।

३ 'हि' अपित् है अतः ङित् हो जाने से गुण नहीं होता।

४ 'इ+आनि' यहाँ 'आडुत्तमस्य पिच्च' (४१८) से आट् पित् है अतः ङिदत नहीं होगा। गुण और अयादेश होकर रूप सिद्ध हो जाता है।

तथा सार्वधातुकगुण हो कर—ए +अम्। अव आट् का आगम, वृद्धि और आयादेश करने पर 'आयम्' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन और बहुवचन में ङित्त्व के कारण गुण नही होता। रूपमाला यथा—ऐत्, ऐताम्, आयन्। ऐः[1], ऐतम्, ऐत। आयम्, ऐव, ऐम।

वि० लिँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, यासुट्, शप् तथा शव्लुक् हो कर—इ+यास्+त्। अव यासुट् के ङित् होने के कारण गुण नही होता। 'लिँङः सलोपः०' (४२७) से अनन्त्य सकार का लोप करने पर 'इयात्' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—इयात्, इयाताम्, इयुः। इयाः, इयातम्, इयात। इयाम्, इयाव, इयाम।

आ० लिँङ्—में यासुट् कित् होना है अतः गुण का निषेध हो कर 'अकृत्सार्व०' (४८३) से सर्वत्र दीर्घ होता है—ईयात्, ईयास्ताम्, ईयासुः।

अव उपसर्गयोग में 'ईयात्' के ईकार को ह्रस्वविधान करने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५८१) एतेर्लिँङि ।७।४।२४।।

उपसर्गात् परस्य इणोऽणो ह्रस्व आर्धधातुके किति लिँङि। निरियात्। उभयत आश्रयणे नान्तादिवत् (प०)—अभीयात्। अणः किम्? समेयात्।।

अर्थः—उपसर्ग से परे इण् धातु के अण् को ह्रस्व आदेश होता है आर्धधातुक कित् लिँङ् परे हो तो[2]।

व्याख्या—एतेः ।६।१। लिँङि ।७।१। अण. ।६।१। ('केऽण.' से)। 'उपसर्गात् ।५।१। ह्रस्वः ।१।१। ('उपसर्गाद ह्रस्व ऊहतेः' से)। किति ।७।३।१। ('अयङ् यि क्ङिति' से उपयुक्त अंश)। अर्थः—(उपसर्गात्) उपसर्ग से परे (एतेः) इण् धातु के (अणः) अण् के स्थान पर (ह्रस्व.) ह्रस्व आदेश हो जाता है (किति लिँटि) कित् लिँङ् परे हो तो। उदाहरण यथा—निर्+ईयात्=निर्+इयात्=निरियात्। सम्+ईयात्=सम्+इयात्=समियात्। उद्+ईयात्=उद्+इयात्=उदियात्।

'अभि+ईयात्' यहां सवर्णदीर्घ हो कर 'अभीयात्' बन जाता है। अब यहां सवर्णदीर्घ से बने 'ई' को 'अन्तादिवच्च' (४१) सूत्र से पर का आदि भाग मान कर

---

१. सन्ध्यावन्दनवेलायां तन्तडागं द्विजोत्तमैः।
अत्र क्रियापदं गुप्तं यो जानाति स पण्डितः।। (द्विजोत्तम+ऐः)

२. 'आर्धधातुके' पद की अनुवृत्ति कही से नही आती। 'किति लिँङि' इतना कहना ही पर्याप्त है। ग्रन्थकार ने बात को अधिक स्पष्ट करने के लिये ऊपर से इस का आक्षेप कर लिया है।

ईयात्' बन जाने से इण धातु का अण उपपन्न हो जाता है और इधर इसी ईकार को पूर्व का अन्तभाग मान कर 'अभि' यह उपसर्ग भी उपपन्न हो जाता है। इस प्रकार उपसर्ग से परे इण् के ईकार को प्रकृतसूत्र से ह्रस्व होना चाहिये परन्तु यह लोकविरुद्ध है। इस का समाधान करने के लिये यहा यह कहा गया है कि 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्'। अर्थात् एक ही काल मे दोनो ओर का आश्रय करने पर 'अन्तादिवच्च' (४१) सूत्र की प्रवृत्ति नही होती। महाभाष्य का यह वचन न्यायसिद्ध है। जैसे दो तुल्यबल व्यक्तियो का एक ही नौकर भिन्न भिन्न दिशाओ मे एक ही समय उन दोनो के द्वारा पृथक्-पृथक् कार्य कहने पर किसी का भी कार्य नही करता वैसे यहा भी एक ही समय एक ही वर्ण मे पूर्वान्तवद्भाव और परादिवद्भाव युगपत नहीं हो सकते। जब बुद्धि मे पूर्वान्तवद्भाव उपस्थित होता है तब परादिवद्भाव नहीं रह सकता, इसी प्रकार जब बुद्धि मे परादिवद्भाव उपस्थित होता है तब पूर्वान्तवद्भाव नही रह सकता। एक साथ दो परस्परविरुद्ध पदार्थ धूप छाया की तरह इकट्ठे नही रहते। अत ऐसे स्थलो पर यदि 'ई' को उपसर्ग का अन्तिम भाग 'इ' मानते हैं तो 'अभि' उपसर्ग तो उपपन्न हो जाता है परन्तु उस के आगे 'यात' रहता है इण धातु का अण् नही। इसी प्रकार यदि 'ई' को इण् का आदि ईकार स्वीकार करते हैं तो 'ईयात' तो उपपन्न हो जाता है परन्तु इधर 'अभ्' रहता है जो उपसर्ग नही, अत 'एतेलिंडि' (५८१) सूत्र प्रवृत्त नही होता।[1]

इस सूत्र मे 'अण' की अनुवृत्ति लाई गई है। अण प्रत्याहार 'अणुदित्सवर्णस्य०' (११) सूत्र के सिवाय सब जगह 'अ इ उ ण्' वाले णकार से ही ग्रहण किया जाता है। इस मे—आ + ईयात = एयात् सम + एयात = समेयात, इत्यादि रूपो मे एकार को ह्रस्व न होगा, क्योकि 'ए' अण् नही[2]।'

---

१ यदि हम केवल परादिवद्भाव मान कर 'ई' को इण् धातु का भाग मान लें और इधर 'अभ्' को 'एकदेशविकृतमनन्यवत' से उपसर्ग मान लें तो तब दोनो ओर का आश्रयण नही रहेगा, अत 'एतेलिंडि' (५८१) की प्रवृत्ति मे कोई अडचन नहीं पडेगी—यहा यह शङ्का व्युत्पन्न विद्यार्थियो के मन मे प्राय उत्पन्न हुआ करती है। इस का समाधान यह है कि कुछ स्थान ऐसे भी होते हैं जहा एकदेशविकृतन्याय प्रवृत्त नहीं होता। यथा दो सख्या मे यदि एक और जोड कर तीन बना लें या उस मे से एक निकाल कर एक कर दें तो वहा एकदेशविकृतन्याय से द्वित्व नही रहेगा। इसी प्रकार 'प्र, परा' आदि परिच्छिन्न शब्दो की इस शास्त्र म उपसर्गसज्ञा होने से उन मे यदि न्यूनाधिक हो जायेगा तो उपसर्गत्व नही रहेगा। अत 'अभ' के उपसर्ग न होने से 'अभीयात्' मे ह्रस्व न होगा।

२ वस्तुत यहा 'वार्णादाङ्गं बलीय' परिभाषा के अनुसार पहले ह्रस्वविधान

लुँङ्—की विवक्षा में इण् को 'गा' आदेश करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५८२) इणो गा लुँङि ।२।४।४५।।

गातिस्था० (४३९) इति सिँचो लुक्—अगात्। ऐप्यत् ।।

अर्थः—लुँङ् की विवक्षा में इण् धातु के स्थान पर 'गा' आदेश हो।

व्याख्या—इणः ।६।१। गा ।१।१। (लुप्तविभक्तिको निर्देशः)। लुँङि ।७।१। (विषयसप्तमीयम्)। अर्थः—(लुँङि) लुँङ् के विषय में अर्थात् लुँङ् कहने की इच्छा हो तो (इणः) इण् धातु के स्थान पर (गा) 'गा' आदेश हो। यह 'गा' आदेश लुँङ् के आने से पूर्व ही हो जाता है, लुँङ् की उत्पत्ति बाद में होती है।

अब हमें इण् धातु से लुँङ् की विवक्षा है अतः प्रकृतसूत्र से इण् को गा आदेश हो कर लुङ्, तिप्, इतश्च, च्लि, सिँच् और 'लुँङ्लँङ्लृँङ्क्ष्वडुदात्तः' (४२३) से अट् का आगम हो कर 'अ+गा+स्+त्' इस स्थिति में 'गातिस्थाघु०' (४३९) सूत्र से सिँच् का लुक् करने से 'अगात्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि 'गा' आदेश लुँङ् आने से पूर्व उस की विवक्षा में ही हो जाता है। अतः लुङ् के उत्पत्तिकाल में धातु के अजादि न रहने से आट् का आगम नहीं हो सकता। लुँङ् में रूपमाला यथा—अगात्, अगाताम्, अगुः। अगाः, अगातम्, अगात। अगाम्, अगाव, अगाम। 'अगुः' की सिद्धि में 'आतः' (४९१) से झि को जुस् तथा 'उस्यपदान्तात्' (४९२) से पररूप एकादेश हो जाता है।

लृँङ्—में इट् का निषेध, आट् का आगम तथा 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि हो जाती है। रूपमाला यथा—ऐष्यत्, ऐष्यताम्, ऐष्यन् आदि।

उपसर्गयोग—अभि√इण् (अभ्येति)=पास जाना (ततोऽभ्यगाद् गाधिसुतः क्षितीन्द्रम्—(भट्टि० १.१७); सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा—माघ २.१००)।

अति√इण् (अत्येति)=लांघना, पार करना (सत्यमतीत्य हरितो हरींश्च

---

कर तब वर्णसन्धि करनी चाहिये। इस तरह 'समेयात्' में कोई दोष नहीं आयेगा। 'लक्ष्ये लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्तिः' (एक लक्ष्य में एक सूत्र की प्रवृत्ति एक बार ही हुआ करती है) इस के अनुसार ऐसे स्थलों पर दुबारा सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। अतः 'अणः' पद के अनुवर्त्तन की कोई आवश्यकता नहीं। किञ्च इसी प्रकार 'अभीयात्' में भी पहले ह्रस्व कर बाद में वर्णकार्य (सवर्णदीर्घ) करना चाहिये, इस से 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्' के आश्रय की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। विस्तार के लिये इसी स्थल पर लघुशब्देन्दुशेखर देखें।

वर्तन्ते वाजिन —शाकुन्तल १, अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते—हितो०)।

अव√इण (अवैति)=जानना (अवेहि मा किङ्करमष्टमूर्तेः —रघु० २ ३५, भवानपीदं परवानवैति—रघु० २ ५६)।

अप√इण् (अपैति)=दूर हटना, परे होना (धर्मोऽपैति पादश —मनु० १ ८२, रम्या नवद्युतिरपैति न शाद्वलेभ्य —किरात० ५ ३७)।

वि+अति√इण् (व्यत्येति)=व्यतीत होना, गुजरना (सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य—रघु० २ २५)।

उद्√इण् (उदेति)=उदय होना उत्पन्न होना (न प्रभातरल ज्योतिरुदेति वसुधातलात्—शाकुन्तल १ २२, उदेति पूर्वं कुसुम ततः फलम – शाकुन्तल ७ ३०।)।

उप√इण् (उपैति)=पास जाना, प्राप्त होना (उद्योगिन पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी —हितो० ३१, कृतान्तवशादुपैति—हितो० १ ४०)।

अभि+उप√इण् (अभ्युपैति)=प्राप्त होना, समीप आना (व्यतीतकाल-स्त्वहमभ्युपेत —रघु० ५ १४), स्वीकार करना, बीडा उठाना, करने की ठान लेना (मन्दायते न खलु सुहृदामभ्युपेतायकृत्या —मेघ० ३०)।

आ√इण् (ऐति)=आना (ऐति स्म राम पथि जामदग्न्य —भट्टि० २ ५०)।

सम्+अव√इण् (समवैति)=इकट्ठे होना (धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सव —गीता १ १)।

निर्√इण् (निरेति)=निकलना (अगान्निरगा मधुपावलि —माघ ६ ८)।

प्र√इण् (प्रैति)=हटना, अलग होना (प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति—केनोप० २ ५), मरना (गुरो प्रेतस्य शिष्यस्तु—मनु० ५ ६५)।

सम्√इण् (समेति)=इकट्ठे होना (पार्थिवा सर्वे समीयुस्तत्र भारत—महा०)।

परा√इण् (परैति)=दूर भागना (य परैति स जीवति—पञ्च० ५ ८४)।

सम्+उद√इण् (समुदेति)=इकट्ठे होना (मदभाग्योपचयादय समुदित सर्वो गुणानां गण —रत्नावली १ ६)।

प्रति√इण् (प्रत्येति)=जानना समझना-पहचानना विश्वास करना (क एता प्रत्येति संवेयमिति—उत्तर० ४, प्रतीयते धातुरिवेहित फलं —किरात० १ २०, संकेतेषु कलहसमाला प्रतीयिरे निनादै — भट्टि० २ १८), प्रसिद्ध होना। चतुर्वर्गफल-प्राप्तिहि काव्यत सुप्रतीतैव—साहित्यदर्पण १)।

अभि+उद्√इण् (अभ्युदेति)=उदय होना (त चेदभ्युदियात सूर्य — मनु० २ २२०, 'अभिरभागे' इत्यभे कर्मप्रवचनीयता, तत कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया)।

अनु√इण (अनेति) पीछे लगना, अनुसरण करना (गुरोर्मतमनेति रक्षा हत-

मपि च हन्त्येव मदनः— भर्तृहरि); सम्बन्ध रखना (परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्य एकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः—सि० कौ०)।

अभि+प्र√इण् (अभिप्रैति) सम्बद्ध करने की इच्छा करना (कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्— १.४.३२); अभिप्राय रखना (किमभिप्रेतमनया— शृङ्गार० ६३)।

नोट—उप+एति, अप+एति, अव+एति इत्यादियों में 'एङि पररूपम्'(३८) से पररूप प्राप्त था उस का बाध कर 'एत्येधत्यूठ्सु' (३४) से वृद्धि एकादेश हो जाता है— उपैति, अपैति, अवैति आदि। ध्यान रहे कि यदि इण् धातु एजादि न होगी तो वृद्धि न होगी, गुण हो जायेगा— उप+इत.=उपेत, आ+इतः=एतः।

## अभ्यास (७)

(१) निम्न दस प्रश्नों का सप्रमाण सक्षिप्त उत्तर दीजिये—

(क) 'झोऽन्तः' मे अन्त् आदेश के आदि में 'अ' जोड़ने का क्या प्रयोजन है ?

(ख) अदादियों से परे शप् का लोप न कर लुक् क्यो किया गया है ?

(ग) यदि लोट् लँङ्वत् है तो 'यान्तु' में 'लँङ. शाकटायनस्यैव' सूत्र प्रवृत्त क्यों नही होता ?

(घ) 'वेद्धि' में 'तन्मात्रम्' की तरह अनुनासिक क्यों नही होता ?

(ङ) 'वध' आदेश को अदन्त क्यों माना गया है ?

(च) 'जहि' में 'अतो हेः' द्वारा हि का लुक् क्यों नहीं होता ?

(छ) 'वेत्थ' में थल् को इट् का आगम क्यों नहीं होता ?

(ज) 'रुदिहि' में 'हुझल्भ्यः०' से हि को धि क्यों नही होता ?

(झ) 'जघसिथ' में भारद्वाजनियम क्यों प्रवृत्त नहीं होता ?

(ञ) 'अभीयात्' में 'एतेर्लिङि' से ह्रस्व क्यो नहीं होता ?

(२) आभीय किसे कहते हैं और इनमें क्या विशेषता होती है ?

(३) 'पुरुषवचने अविवक्षिते' पर एक सारगर्भित नोट लिखें।

(४) निम्न परिभाषाओं का सोदाहरण विवेचन करें—

(क) वार्णादाङ्गं बलीयः।

(ख) उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्।

(ग) मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्।

(५) 'श्नसोरल्लोपः' के स्थान पर 'श्नासोरल्लोपः' सूत्र होना चाहिये था, क्या पाणिनिजी अपने सन्धिनियम भी भूल गये ?

(६) 'तनादिकृञ्भ्य उः' में कृञ् के पृथक् उल्लेख का क्या प्रयोजन है ? क्या इसे तनादियों के अन्तर्गत नहीं पढ़ा गया ?

(७) 'विदो लँटो वा' में किस विद् धातु का ग्रहण करना चाहिये और वह क्यों ?

(८) निम्न सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

असिद्धवदत्राभात, ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च, ग्लिर्विटि, दश्च, अनुदात्तोपदेश०, श्नसोरल्लोपः, उपसर्ग-प्रादुर्भ्याम्०, शासिवसि०, विदाङ्कुर्व०, उतो वृद्धि०, इडत्यर्ति०।

(९) निम्न पाञ्च प्रश्नों का उत्तर दीजिये—

(क) 'आधघातुके' में विषयसप्तमी क्या मानी जाती है ?

(ख) आयन् और आस्ताम् में हलादि अङ्ग को आट् क्यों ?

(ग) 'एणी' धातु को पोपदेश करने का क्या प्रयोजन है ?

(घ) 'जक्षतु' में 'आदेशप्रत्यययोः' द्वारा षत्व क्यों नहीं होता ?

(ङ) 'विदाञ्चकार' में आभिमित्तक लघूपधगुण क्यों न हो ?

(१०) निम्न रूपों की सूत्रोल्लेखपूर्वक सिद्धि करें—

प्रादु पन्ति, स्नेयात, एधि, अद्धि, ईयतु, अवधीत्, आयन्, अवे, अगात्, जक्षतु, जहि, अहन, अविदु, आसीत, जक्षतु, विदाङ्चकुरुतात, अयु-अयात्, युयात्, इयाय, हत।

(११) निम्नस्थ रूपों में अदादिगण की दृष्टि से विचार करें—

राम-राम, लाता-पाता, भान लात रात-पात, वायु-पायु-स्नायु, यानि-पानि-अमानि।

(यहां पर अदादिगण की परस्मैपदी धातुओं का विवेचन समाप्त होता है।)

— ० —

अब अदादिगण की आत्मनेपदी धातुओं का वर्णन प्रारम्भ होता है—

## [लघु०] शीङ् स्वप्ने ॥१९॥

अर्थ—शीङ् (शी) धातु 'शयन करना या सोना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—शीङ् धातु ङित् है अतः 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (३७८) के अनुसार इस से आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं। 'ऊदन्तौ०' कारिका में इस का परिगणन किया गया है अतः अनुदात्तवान् होने से इस से परे झट् का निषेध नहीं होता।

लेट्—प्र० पु० के एकवचन में शप् और श्लु का लुक् हो कर—शी + त। अब यहां 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा त' ङित् है अतः इसके परे होने पर 'सार्वधातुकार्धः०' (३८८) से प्राप्त गुण का 'क्ङिति च' (४३३) से निषेध हो जाता है। इस पर गुण करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

## [लघु०] विधि-सूत्रम्—(५८३) शीङः सार्वधातुके गुणः ।७।४।२१॥

क्ङिति च (४३३) इत्यस्यापवादः। शेते। शयाते॥

अर्थ—सार्वधातुक परे हो तो शीङ् को गुण हो जाता है।

व्याख्या—शीङः ।६।१। सार्वधातुके ।७।१। गुणः ।१।१। अयम्—(सार्वधातुके)

सार्वधातुक परे हो तो (शीङः) शीङ् के स्थान पर (गुणः) गुण आदेश हो। 'इको गुण-वृद्धी' (१.१.३) परिभाषा से शीङ् के ईकार के स्थान पर ही गुण होगा। सार्वधातुक परे होने पर गुण तो 'सार्वधातुकार्धः' (३८८) से भी प्राप्त था, परन्तु उस का 'क्ङिति च' (४३३) से निषेध हो जाता था। अब विशेष विधान होने से इस का निषेध नहीं होगा। इस प्रकार यह सूत्र 'क्ङिति च' (४३३) का अपवाद ठहरता है।

'शी+त' यहां 'त' यह सार्वधातुक प्रत्यय परे है अतः प्रकृतसूत्र से शीङ् के ईकार को एकार गुण हो कर 'शे+त' इस स्थिति में 'टित आत्मने०' (५०८) से टि को एत्व करने पर 'शेते' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र० पु० के द्विवचन में आताम्, शप्, झल्लुक्, गुण (५८३) तथा टि को एत्व हो कर – शे+आते। अब 'एचोऽयवायावः' (२२) से एकार को अय् आदेश करने से 'शयाते' प्रयोग सिद्ध होता है।

बहुवचन में 'आत्मनेपदेष्वनतः' (५२४) से 'झ' के झकार को अत् आदेश हो कर 'शी+अत् अ' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (५८४) शीङो रुँट् ।७।१।६।।

शीङः परस्य झादेशस्यातो रुँडागमः स्यात्। शेरते। शेषे, शयाथे, शेध्वे। शये, शेवहे, शेमहे। शिश्ये, शिश्याते, शिश्यिरे। शयिता। शयिष्यते। शेताम्, शयाताम्, शेरताम। अशेत, अशयाताम्, अशेरत। शयीत, शयीयाताम्, शयीरन्। शयिषीष्ट। अशयिष्ट। अशयिष्यत।।

अर्थः—शीङ् से परे 'झ्' के स्थान पर आदेश हुए 'अत्' को रुँट् का आगम हो।

व्याख्या—शीङः ।५।१। रुँट् ।१।१। झः ।६।१। ('झोऽन्तः' से)। अतः ।६।१। ('अदभ्यस्तात्' से 'अत्' की अनुवृत्ति आकर उस का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है)। अर्थः—(शीङः) शीङ् से परे (झः) झ् के स्थान पर हुए (अतः) 'अत्' का अवयव (रुँट्) रुँट् बन जाता है। रुँट् में उकार और टकार उच्चारणक है। टित् होने के कारण रुँट् का आगम 'अत्' का आद्यवयव बनता है।

'शी+अत् अ' यहां शी से परे आदेश 'अत्' विद्यमान है। अतः प्रकृतसूत्र से उसे रुँट् का आगम हो कर 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' (प०) से सार्वधातुक होने से उस के परे रहते 'शीङः सार्वधातुके गुणः' (५८३) से शीङ् को गुण करने पर शे+र् अत् अ। अब 'टित आत्मने०' (५०८) से टि को एत्व हो कर 'शेरते' प्रयोग सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि 'झ' प्रत्यय को रुँट् का आगम नहीं कहा, अत् आदेश को कहा है। यदि 'झ' प्रत्यय को ही रुँट् का आगम कह देते तो पहले रुँट् हो कर बाद में 'आत्मनेपदेष्वनतः' (५२४) से 'झ' के झकार को अत् आदेश न हो सकता। विस्तार के लिये काशिका तथा शेखर (भैरवी टीका) का अवलोकन करें।

म० पु० के एकवचन मे थास् को से आदेश हो कर गुण और षत्व करने पर—शेषे। उ० पु० के एकवचन में गुण हो कर टि को एत्व तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से अयादेश करने पर—शये। लँट् में रूपमाला यथा—शेते, शयाते, शेरते। शेषे, शयाथे, शेध्वे। शये, शेवहे, शेमहे।

लिँट्—प्र०पु० के एकवचन मे त, उसे एश् आदेश, द्वित्व तथा अभ्यास को ह्रस्व हो कर—शि+शी+ए। अब अङ्ग के अनेकाच् होने से 'अचि श्नु०' (१९९) से प्राप्त इयँङ् आदेश का बाध कर 'एरनेकाचः०' (२००) से यण् आदेश हो जाता है—शिश्ये। इसी प्रकार द्विवचन और बहुवचन मे—शिश्याते, शिश्यिरे। म०पु० के एकवचन मे 'से' को इट् का आगम हो जाता है—शिश्यिषे। बहुवचन में 'विभाषेटः' (५२७) से ध्वम् के धकार को विकल्प से दकार हो जाता है—शिश्यिढ्वे-शिश्यिध्वे। वहि और महिङ् में इट् का आगम हो जाता है। रूपमाला यथा—शिश्ये, शिश्याते, शिश्यिरे। शिश्यिषे, शिश्याथे, शिश्यिढ्वे-शिश्यिध्वे। शिश्ये, शिश्यिवहे, शिश्यिमहे।

लुँट्—मे इट्, गुण और अयादेश हो जाता है—शयिता, शयितारौ शयितारः। शयितासे—। लृँट्—शयिष्यते, शयिष्येते, शयिष्यन्ते। लोँट्—मे लँट् की तरह कार्य हो कर अपने विशिष्ट कार्य हो जाते हैं—शेताम्, शयाताम्, शेरताम्। शेष्व, शयाथाम्, शेध्वम्। शयै, शयावहै, शयामहै। लेँङ्- मे शप् का लुक् होकर 'शीङ सार्वधातुके गुणः' (५८३) से सर्वत्र गुण हो जाता है। ङकार के टित् न होने से टि को एत्व नही होता—अशेत, अशयाताम्, अशेरत। अशेथाः, अशयाथाम्, अशेध्वम्। अशयि, अशेष्वहि, अशेमहि। वि० लिँङ्—में सर्वत्र गुण हो कर अयादेश हो जाता है—शयीत, शयीयाताम्, शयीरन्। शयीथाः, शयीयाथाम्, शयीध्वम्। शयीय, शयीवहि, शयीमहि। आ० लिँङ्—मे प्रत्यय आर्धधातुक होते हैं अत 'शीङ सार्वधातुके गुणः' (५८३) से गुण न होकर 'सार्वधातुकार्धः०' (३८८) से गुण हो जाता है—शयिषीष्ट, शयिषीयास्ताम्, शयिषीरन्। शयिषीष्ठाः, शयिषीयास्थाम्, शयिषीढ्वम्-शयिषीध्वम् (विभाषेटः ५२७)। शयिषीय, शयिषीवहि, शयिषीमहि। लुँङ्—में भी 'सार्वधातुकार्धः०' (३८८) से गुण होता है—अशयिष्ट, अशयियाताम्, अशयिषत। अशयिष्ठाः, अशयियाथाम्, अशयिढ्वम्-अशयिध्वम् (विभाषेटः ५२७)। अशयिषि, अशयिष्वहि, अशयिष्महि। लृँङ्—मे कुछ विशेष नहीं—अशयिष्यत, अशयिष्येताम्, अशयिष्यन्त।

उपसर्गयोग—सम्√शी (संशेते)=संशय करना (संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः—किरात० ३.१४)। अति√शी (अतिशेते)=लाङ्घना (पूर्वान् महाभाग तयाऽतिशेषे—रघु० ५.१४)। अधि√शी (अधिशेते)=रहना-पड़ना (शय्यामधिशेते, यहां 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' १.४.४६ से अधिकरण की कर्मसंज्ञा होकर उस में द्वितीया विभक्ति हो जाती है)। अनु√शी (अनुशेते)=पश्चात्ताप करना (प्रदत्तमिष्टमपि नान्वशेत सः—माघ १४.४५; पुराऽनुशेते तव चञ्चलं मनः—किरात० ८.८)।

[लघु०] इङ् अध्ययने ॥२०॥ इङिकावध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः। अधीते, अधीयाते, अधीयते ॥

अर्थः—इङ् धातु 'पढ़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है। इङिको०—इङ् धातु तथा 'इक् स्मरणे' धातु अधि उपसर्ग के विना कभी प्रयुक्त नहीं होते।

व्याख्या—इङ् धातु ङित् होने से आत्मनेपदी है। इस का प्रयोग सदा पूर्व में अधि उपसर्ग लगा कर ही किया जाता है। यदि कोई अन्य उपसर्ग लगाना भी हो तो पहले 'अधि' लगा कर बाद में उस का योग करना चाहिये। यथा—प्राधीते, प्राध्यापकः, समधीते आदि। पठ् और इस के अर्थ में कुछ अन्तर है। साधारण पढ़ने में पठ् धातु का तथा नियमपूर्वक या अर्थ समझ कर पढ़ने में इङ् धातु का प्रयोग करना चाहिये। जैसा कि महाभाष्य (१.३.१) की व्याख्या में कैयटोपाध्याय लिखते हैं—ततश्च 'अधीते' इत्यस्य विशिष्टार्थयुक्तानां शब्दानां पठनं विधिपूर्वकं वा करोतीत्यर्थः। नागेशभट्ट इसी स्थल पर टिप्पण करते हैं=केचित्तु अवगमपर्यन्तत्वरूप उत्कर्षोऽध्येरर्थ इत्याहुः। अधीते=नियमपूर्वक पढ़ता है या अर्थ समझ कर पढ़ता है। इस धातु के रूपों को पहले सिद्ध कर बाद में उस रूप के साथ 'अधि' का योग कर के सन्धि कर ली जाती है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में त, शप्, श्लुक्, 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से 'त' के ङिद्वत् होने से गुण (३८९) का निषेध तथा 'टित आत्मने०' (५०८) से टि को एत्व करने पर 'इते' बना। अब 'अधि' उपसर्ग का योग करने पर सवर्णदीर्घ करके से 'अधीते' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में 'इ+आताम्' यहां अङ्ग के अनेकाच् न होने से 'एरनेकाचः०' (२००) द्वारा यण् नहीं हो सकता, 'अचि श्नु०' (१९९) से धातु के इकार को इयँङ् आदेश तथा टि को एत्व करने से—इयाते। अधि+इयाते=अधीयाते। बहुवचन में 'इ+झ' इस स्थिति में 'आत्मनेपदेष्वनतः' (५२४) से झ् को अत् आदेश, इकार को इयँङ् तथा टि को एत्व करने पर—इयते। अधि+इयते=अधीयते। म०पु० के एकवचन में थास् को से आदेश होकर षत्व करने से—इषे। अधि+इषे=अधीषे। द्विवचन में—इ+आथाम्=इय्+आथाम्=इयाथे, अधि+इयाथे=अधीयाथे। बहुवचन में—इ+ध्वम्=इ+ध्वे, अधि+इध्वे=

अधीष्वे। उ०पु० के एकवचन में—इ+इ, सवर्णदीर्घ का बाध कर इयँङ् आदेश—इय्+इ, टि को एत्व कर—इये, अधि+इये=अधीये। द्विवचन मे—इ+वहि=इवहे, अधीवहे। बहुवचन में—इ+महि=इमहे, अधीमहे। लँट् में रूपमाला यथा—अधीते, अधीयाते, अधीयते। अधीषे, अधीयाथे, अधीध्वे। अधीये, अधीवहे, अधीमहे।

लिँट्—की विवक्षा में अग्रिमसूत्रप्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५८५) गाङ् लिँटि।२।४।४९॥

इङो गाङ् स्याल्लिँटि। अधिजगे, अधिजगाते, अधिजगिरे। अध्येता। अध्येष्यते। अधीताम्, अधीयाताम्, अधीयताम्। अधीष्व, अधीयाथाम्, अधीध्वम्। अध्ययै, अध्ययावहै, अध्ययामहै। अध्यँत, अध्यैयाताम्, अध्यैयत। अध्यैथा, अध्यैयाथाम्, अध्यैध्वम्। अध्यैयि, अध्यैवहि, अध्यैमहि। अधीयीत, अधीयीयाताम्, अधीयीरन्। अध्येषीष्ट॥

अर्थ—लिँट् की विवक्षा में इङ् धातु के स्थान पर गाङ् आदेश हो।

व्याख्या—इङ १।१। ('इङश्च' से)। गाङ् १।१।। लिँटि १।७।१। विषयसप्तमीयम्। अर्थ—(लिँटि) लिँट् की विवक्षा होने पर (इङ) इङ् धातु के स्थान पर (गाङ्) गाङ् आदेश हो। गाङ् में ङकार इत्संज्ञक है अत 'गा' ही अवशिष्ट रहता है। ङित् होने से इस से परे लकार के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं। यहां यद्यपि स्थानिवद्भाव के कारण 'गा' को ङित् मान कर आत्मनेपद प्रत्यय किये जा सकते हैं तथापि 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन् ङित्' (५८७) सूत्र में केवल इसी का ग्रहण हो अन्य का नहीं—इसके लिये इसे ङित् किया गया है।

हमे यहां लिँट् की विवक्षा है अत प्रकृतसूत्र से इङ् को गाङ् आदेश, उस से लिँट्, प्र०पु० के एकवचन मे 'त' प्रत्यय तथा उसे एश् आदेश हो कर—गा+ए। अब धातु को द्वित्व, अभ्यासहस्व, कुहोश्चु' (४५४) से अभ्यास के गकार को जकार तथा 'आतो लोप इटि च' (४८९) से आकार का लोप करने से—जगे। अधि+जगे=अधिजगे' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार द्विवचन और बहुवचन मे 'अधिजगाते, अधिजगिरे'। म०पु० के एकवचन मे थास् को से आदेश होकर—गा+से। यहां इङ् धातु अनुदात्त थी, तत्स्थानी होने से गाङ् आदेश भी अनुदात्त हुआ। अत इस से परे इट् का निषेध प्राप्त होने पर क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है—गा+इसे। अब द्वित्व आदि कार्य करने पर जगिषे, अधि+जगिषे='अधिजगिषे' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि गाङ् का तास् मे प्रयोग न होने से तथा आत्मनेपदित्वात् थास् न आने से 'अचस्तास्वत्०' (४८०) और 'ऋतो भारद्वाजस्य' (४८२) सूत्रों की प्रवृत्ति नहीं होती। ध्वम् में भी इसी तरह—अधिजगिध्वे। वहि, महिङ् में आदि-

नियम से नित्य इट् हो जाता है। लिँट् में रूपमाला यथा—अधिजगे, अधिजगाते, अधिजगिरे। अधिजगिषे, अधिजगाथे, अधिजगिढ्वे। अधिजगे, अधिजगिवहे, अधिजगिमहे। सर्वत्र 'आतो लोप इटि च' (४८६) से आकार का लोप हो जाता है।

लुँट्—अनुदात्तत्वात् इट् का निषेध होकर सर्वत्र आर्धधातुकनिमित्तक गुण हो जाता है—अध्येता, अध्येतारौ, अध्येतारः। अध्येतासे—। लृँट्—अध्येष्यते, अध्येष्येते, अध्येष्यन्ते।

लोँट्—प्र०पु० के एकवचन में लँट् की तरह 'इते' बना कर 'आमेतः' (५१७) से एकार को आम् आदेश करने पर—इताम्, अधि+इताम्='अधीताम्' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में—अधि+इयाताम्=अधीयाताम्। बहुवचन में—अधि+इयताम्=अधीयताम्। म०पु० के एकवचन में—अधि+इष्व=अधीष्व। द्विवचन में—अधि+इयाथाम्=अधीयाथाम्। बहुवचन में—अधि+इध्वम्=अधीध्वम्। उ० पु० के एकवचन में—इ+इ=इ+ए ('टित आत्मने०' ५०८)=इ+ऐ ('एत ऐ' ५१६)=इ+आट्+ऐ ('आडुत्तमस्य पिच्च' ४१८)=इ+ऐ (आटश्च १६७)=ए+ऐ ('सार्वधातुकार्ध०' ३८८)=अयै ('एचोऽयवा०'२२)=अधि+अयै='अध्ययै' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में—इ+अयावहै=ए+अयावहै=अयावहै=अधि+अयावहै=अध्ययावहै। इसी प्रकार बहु० में—अध्ययामहै। रूपमाला यथा—अधीताम्, अधीयाताम्, अधीयताम्। अधीष्व, अधीयाथाम्, अधीध्वम्। अध्ययै, अध्ययावहै, अध्ययामहै।

लँङ्—प्र पु० के एकवचन में 'त' प्रत्यय, शप् का लुक्, ङिद्भाव से गुण का अभाव, आट् का आगम तथा वृद्धि एकादेश करने पर—ऐत, अधि+ऐत='अध्यैत' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में 'इ+आताम्' इस स्थिति में इयँङ् हो कर—इयाताम्, आट् का आगम और वृद्धि करने पर—ऐयाताम्, अधि+ऐयाताम्=अध्यैयाताम्। बहुवचन में झ' प्रत्यय, झकार को अत् आदेश तथा इकार को इयँङ् आदेश होकर—इयत, आट् का आगम तथा वृद्धि करने पर—ऐयत, अधि+ऐयत=अध्यैयत। म० पु० के एकवचन में—इ+थास्, आट् का आगम तथा वृद्धि करने पर—ऐथाः, अधि+ऐथाः=अध्यैथाः। द्विवचन में—इ+आथाम्, इयँङ् हो कर—इयाथाम्, आट् और वृद्धि करने पर—ऐयाथाम्, अधि+ऐयाथाम्=अध्यैयाथाम्। इसी प्रकार बहुवचन में—अध्यैध्वम्। उ० पु० के एकवचन में—इ+इ, इय्+इ, आट्+इय्+इ, ऐयि, अध्यैयि। द्विवचन और बहुवचन मे—अध्यैवहि, अध्यैमहि। रूपमाला यथा—अध्यैत, अध्यैयाताम्, अध्यैयत। अध्यैथाः, अध्यैयाथाम्, अध्यैध्वम्। अध्यैयि, अध्यैवहि, अध्यैमहि।

वि० लिँङ्—प्र० पु० के एकवचन में—इ+त, सीयुट् का आगम, सकार और यकार का लोप करने पर—इ+ईत। 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित्त्व के कारण

गुण का निषेध हो जाता है, तब धातु के इकार को इयँङ् होकर—इयीत, अधि+इयीत=अधीयीत' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में—इ+ईय् आताम्=इयीयाताम्=अधीयीयाताम्। बहुवचन में 'झ' को रन् आदेश हो कर—इ+ईय रन्=इयीरन्=अधीयीरन्। म० पु० के एकवचन में—इ+ईय थास्=इयीयास्=इयीया=अधीयीया'। द्विवचन और बहुवचन मे पूर्ववत्—अधीयीयाथाम्, अधीयीध्वम्। उ० पु० के एकवचन में 'इटोऽत्' (५२२) से इट् को अत् होकर—इ+ईय् अ=इय्+ईय=इयीय=अधीयीय'। द्विवचन और बहुवचन में=अधीयीवहि, अधीयीमहि। रूपमाला यथा—अधीयीत, अधीयीयाताम्, अधीयीरन्। अधीयीया, अधीयीयाथाम्, अधीयीध्वम्। अधीयीय, अधीयीवहि, अधीयीमहि।

आ० लिँङ्—प्र० पु० के एकवचन में—इ+त। सीयुँट् और सुँट् के आगम होकर—इ+सी+स्+त। यहा लिँङ् सार्वधातुक नहीं अत सकार का लोप नहीं होता, किञ्च 'सार्वधातुकमपित्'(५००) से ङिद्भाव न होने के कारण गुण का निषेध भी नहीं होता। 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से सार्वधातुकनिमित्तक गुण करने पर—ए+सी+स्+त=एषीष्ट=अधि+एषीष्ट='अध्येषीष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये। रूपमाला यथा—अध्येषीष्ट, अध्येषीयास्ताम्, अध्येषीरन्। अध्येषीष्ठा, अध्येषीयास्थाम्, अध्येषीढ्वम्। अध्येषीय, अध्येषीवहि, अध्येषीमहि।

लुँङ् और लृँङ् के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५८६) विभाषा लुँङ्-लृँङो ।२।४।५०॥

इडो गाङ् वा स्यात्॥

अर्थ—लुंङ् और लृंङ् की विवक्षा में इङ् के स्थान पर विकल्प से गाङ् आदेश हो।

व्याख्या—विभाषा ।१।१। लुंङ्-लृंङो ।७।२। इङ ।६।१। ('इङश्च' से)। गाङ् ।१।१। ('गाङ् लिटि' से)। अर्थ—(लुंङ्-लृंङो) लुंङ् या लृंङ् की विवक्षा में (इङ) इङ् के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से (गाङ्) गाङ् आदेश हो।

लुंङ् की विवक्षा में इङ् को वैकल्पिक गाङ् आदेश होकर गाङ्पक्ष में प्र० पु० के एकवचन की विवक्षा में—गा+त। अब 'च्लि लुंङि' (४३७) से च्लि तथा 'च्ले सिच्' (४२८) से च्लि को सिच् करने पर 'गा+स्+त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेशसूत्रम्—(५८७) गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन् ङित्

।१।२।१॥

गाङादेशात् कुटादिभ्यश्च परेऽञ्णित प्रत्यया ङित स्यु॥

**अर्थः**—गाङ् आदेश तथा कुटादि धातुओं से परे ञित्-णित् से भिन्न प्रत्यय ङिद्वत् हों।

**व्याख्या**—गाङ्-कुटादिभ्यः ।५।३। ञ्णित् ।१।१। ङित् ।१।१। कुट आदिर्येषां ते कुटादयः, गाङ् च कुटादयश्च गाङ्कुटादयः, तेभ्यः—गाङ्कुटादिभ्यः। ञ् च ण् च ञ्णौ, इतरेतरद्वन्द्वः। ञ्णौ इतौ यस्य स ञ्णित्, न ञ्णित्—अञ्णित्, बहुव्रीहिगर्भ-नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(गाङ्कुटादिभ्यः) गाङ् तथा कुटादियों से परे (अञ्णित्) ञित् णित् से भिन्न प्रत्यय (ङित्) ङिद्वत् होता है। ङिद्वत् करने का प्रयोजन उस के परे होने पर धातुओं मे ईत्व करना या गुण-वृद्धि का निषेध करना है। 'गाङ्' से यहां इङ् धातु के स्थान पर आदेश होने वाले 'गाङ्' आदेश का ही ग्रहण अभीष्ट है—यह पहले स्पष्ट कर चुके हैं। धातुपाठ के अन्तर्गत तुदादिगण में 'कुट कौटिल्ये' धातु से लेकर 'कुङ् शब्दे' धातु तक छत्तीस धातु कुटादि कहे गये हैं।

ञित्-णित् से भिन्न प्रत्यय इसलिये कहा गया है कि— कोटकः (कुट्+ण्वुल्), कोटः (कुट्+घञ्) आदि में ङिद्वत् होकर लघूपधगुण का निषेध न हो जाये।

'गा+स्+त' यहां पर गाङ् आदेश से परे ञित् णित् से भिन्न सिच् प्रत्यय विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से वह ङिद्वत् हो गया। अब ङिद्वत् करने का प्रयोजन अग्रिमसूत्र में बतलाते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५८८) घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि। ६।४।६६॥

एषमात ईत् स्याद् हलादौ क्ङित्यार्धधातुके। अध्यगीष्ट, अध्यैष्ट। अध्यगीष्यत, अध्यैष्यत॥

**अर्थः**—घु, मा, स्था, गा, पा, ओहाक् और पो धातुओं के आकार के स्थान पर ईकार आदेश हो हलादि कित् ङित् आर्धधातुक परे हो तो।

**व्याख्या**—घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-साम् ।६।३। हलि ।७।१। ङिति ।७।१। ('दीङो युंडचि क्ङिति' से)। आर्धधातुके ।३।१। (अधिकृत है)। आतः६।१। ('आतो लोप इटि च' से)। ईत् ।१।१। ('ईद्यति' से)। 'हलि' यह 'आर्धधातुके' का विशेषण है अतः तदादिविधि होकर 'हलादौ आर्धधातुके' उपलब्ध हो जाता है। 'गा-मा-दाग्रहणेष्वविशेषः' (गा, मा, दा का ग्रहण होने पर किसी विशेष का ग्रहण नहीं होता अपितु सामान्यतः सब रूपों का ग्रहण होता है) इस परिभाषा से 'गै' (गा) धातु का तथा इङ् के स्थान पर होने वाले गाङ् आदेश का भी ग्रहण होता है। गाङ् आदेश के उदाहरण मूल में दिये गये है। अर्थः—(घुमा-स्था-गा-पा-जहाति-साम्) घुसञ्ज्ञकों के तथा मा, स्था, गा, पा, ओहाक् और पो धातुओं के (आतः) आकार के स्थान पर

(ईत्) ईकार आदेश हो (हलि=हलादौ) हलादि (क्ङिति आर्धधातुके) कित् ङित् आर्धधातुक परे हो तो। उदाहरण यथा—

घुसञ्ज्ञक—दीयते, धीयते। यहां 'यक्' यह हलादि कित् आर्धधातुक परे है अतः दा और धा के आकार को ईकार आदेश हो जाता है। मा ('माङ् माने' आदि)—मीयते। स्था (ठहरना)—स्थीयते। गा (गाना, जाना)—गीयते। पा (पीना, पा रक्षणे' का ग्रहण नहीं)—पीयते। ओंहाक् (छोडना)—हीयते। षो (नाश करना)—अवसीयते।

'कित् ङित् परे होने पर' इस लिये कहा गया है कि—'दाता, धाता, माता स्थाता, गाता, पाता, हाता, साता' आदि में ईत्व न हो जाये। 'आर्धधातुके' इसलिये कहा गया है कि—'पात, पायः, पाव, पाम' आदि प्रयोगों में लँट् में ईत्व न हो जाये। 'हलादौ' इस लिये कहा गया है कि—'ददतु, ददु, पपतु, पपु' आदि में 'आतो लोप इटि च' (४९९) को परत्व से बाध कर ईत्व न हो जाये।

'गा+स्+त' यहां 'गा' से परे सिच् का सकार पूर्वसूत्र से ङित् किया गया है, और यह हलादि आर्धधातुक भी है अतः इस के परे होने पर प्रकृतसूत्र द्वारा धातु के आकार को ईकार आदेश होकर—गी+स्+त। अट् का आगम करने पर—अ+गी+स्+त=अगीष्ट, अधि+अगीष्ट='अध्यगीष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। जिस पक्ष में गाङ् आदेश नहीं होता वहा अङ्ग के अजादि होने से अट् का आगम होकर—आ+इ+स्+त। अब 'ह्रस्वादङ्गात्' (५४५) के असिद्ध होने से इकार को एकार गुण तथा 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि एकादेश करने से—ऐष्ट, अधि+ऐष्ट='अध्यैष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी दो दो रूप सिद्ध होते हैं। सुँट् में रूपमाला यथा—(गाङ्पक्षे) अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम्, अध्यगीषत। अध्यगीष्ठाः, अध्यगीषाथाम्, अध्यगीढ्वम्। अध्यगीषि, अध्यगीष्वहि, अध्यगीष्महि। (गाङोऽभावे) अध्यैष्ट, अध्यैषाताम्, अध्यैषत। अध्यैष्ठाः, अध्यैषाथाम्, अध्यैढ्वम्। अध्यैषि, अध्यैष्वहि, अध्यैष्महि।

लृँङ—में भी पूर्ववत् पाक्षिक गाङ् आदेश हो जाता है। गाङ्पक्ष में 'गाङ् कुटादि०' (५२७) से 'स्य' प्रत्यय के ङिद्वत् होने के कारण 'घुमास्था०' (५८८) द्वारा धातु के आकार को ईत्व हो जाता है। (गाङ्पक्षे)—अध्यगीष्यत, अध्यगीष्येताम्, अध्यगीष्यन्त। (गाङोऽभावे) गुण, अट् तथा वृद्धि एकादेश हो जाता है—अध्यैष्यत, अध्यैष्येताम्, अध्यैष्यन्त।

(यहां पर अदादिगण के आत्मनेपदी धातुओं का विवेचन समाप्त होता है।)

अब अदादिगण के उभयपदी धातुओं का वर्णन प्रारम्भ होता है—

[लघु०] दुहँ प्रपूरणे ॥२१॥ दोग्धि, दुग्धः, दुहन्ति। धोक्षि। दुग्धे, दुहाते

दुहते। धुक्षे, दुहाथे, धुग्ध्वे। दुहे, दुह्वहे, दुह्महे। अदोह, अदुहे। दोग्धासि, दोग्धासे। धोक्ष्यति, धोक्ष्यते। दोग्धु-दुग्धात्, दुग्धाम्, दुहन्तु। दुग्धि-दुग्धात्, दुग्धम्, दुग्ध। दोहानि, दोहाव, दोहाम। दुग्धाम्, दुहाताम्, दुहताम्। धुक्ष्व, दुहाथाम्, धुग्ध्वम्। दोहै, दोहावहै, दोहामहै। अधोक्, अदुग्धाम्, अदुहन्। अदोहम्। अदुग्ध, अदुहाताम्, अदुहत। अधुग्ध्वम्। दुह्यात्, दुहीत॥

अर्थः—दुहँ (दुह्) धातु 'प्रपूरण अर्थात् दोहना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—दुह् धातु स्वरितेत् होने से उभयपदी है। 'प्रपूरण' शब्द में 'प्र' उपसर्ग अभाव अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रपूरणम् पूरणाभावः, पूर्ण न करना—रिक्त करना। गाय, भैंस आदि को दोह कर ही रिक्त किया जा सकता है अतः 'प्रपूरण' का अर्थ 'दोहना' हुआ ('धात्वर्थं बाधते कश्चिद्' इत्यनुसृत्य प्रशब्दः पूरणस्याभावं व्यनक्ति)। यह धातु द्विकर्मक है। यथा—गां दोग्धि पयः (गाय से दूध दोहता है)। इस का विवेचन आगे कारकप्रकरण में (८९२) सूत्र पर देखें।

लँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में शप् का लुक्—दुह्+ति। लघूपधगुण हो कर—दोह्+ति। यहां झल् परे है अतः 'दादेर्धातोर्घः' (२५२) से दकारादि धातु दुह् के हकार को घकार करने से—दोघ्+ति। 'झषस्तथोः०' (५४९) से 'ति' के तकार को धकार हो कर—दोघ्+धि। 'झलां जशझशि' (१९) से धकार को जश्-गकार करने पर 'दोग्धि' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में—दुह्+तस्। यहां 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से तस् के ङिद्वत् हो जाने के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। पुनः पूर्ववत् हकार को धकार और तस् के तकार को धकार हो कर—दुघ्+धस्। अब 'झलां जशझशि' (१९) से धातु के धकार को जश्त्व-गकार करने पर 'दुग्धः' प्रयोग सिद्ध होता है। बहुवचन में 'झि' के झकार को अन्त् आदेश हो कर—दुहन्ति। यहां झल् परे न होने से 'दादेर्धातोर्घः' आदि सूत्रों की प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार आगे भी अजादि प्रत्ययों में घत्व आदि का अभाव समझ लेना चाहिये। म० पु० के एकवचन में गुण हो कर—दोह्+सि। 'दादेर्धातोर्घः' से हकार को घकार—दोघ्+सि। यहां सकार परे है अतः 'एकाचो बशो भष्०' (२५३) से धातु के वश्-दकार को भष्-धकार हो कर—दोघ्+सि। कवर्ग से परे 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से प्रत्यय के अवयव सकार को मूर्धन्य-षकार करने पर—दोघ्+षि। अन्त में 'खरि च' (७४) से घकार को चर्त्व-ककार करने से—दोक्+षि='दोक्षि' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में—दुह्+थस्=दुघ्+थस्=दुघ्+धस्=दुग्+धस्=दुग्धः। ध्यान रहे कि यहां सकार या ध्व परे नहीं अतः 'एकाचो बशो भष्०' से भष्भाव नहीं होता। इसी प्रकार बहुवचन में दुह्+थ=दुघ्+थ=दुघ्+ध=दुग्ध। उ० पु० के एकवचन में लघूपधगुण हो कर—दोह्मि। द्विवचन और बहुवचन में—दुह्वः, दुह्मः। स्मरण रहे कि मकार और वकार झलों में नहीं आते अतः झल् परे न रहने से घत्व

आदि नहीं होते। रूपमाला यथा—दोग्धि, दुग्धः, दुहन्ति। धोक्षि, दुग्धः, दुग्ध। दोह्मि, दुह्वः, दुह्मः।

(आत्मने०) प्र० पु० के एकवचन में—दुह्+त। आत्मनेपद में कोई प्रत्यय पित् नहीं होता अत 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से सब प्रत्यय ङित् हैं इस से सर्वत्र गुण का निषेध हो जाता है। पुन टि को एत्व करने पर—दुह्+ते=दुघ्+ते=दुघ्+धे=दुग्धे। द्विवचन में—दुह्+आताम्, टि को एत्व हो कर—दुह्+आते=दुहाते। बहुवचन मे—दुह्+झ, झकार को 'आत्मनेपदेष्वनत' (५२४) से अत आदेश—दुह्+अत् अ=दुहत, टि को एत्व हो कर—दुहते। म० पु० के एकवचन मे थास् को से आदेश हो कर—दुह्+से=दुघ्+से=धुघ्+से=धुघ्+धे=धुक्षे। द्विवचन में टि को एत्व करने पर—दुहाथे। बहुवचन में—दुह्+ध्वम्=दुह्+ध्वे=दुघ्+ध्वे=धुघ्+ध्वे=धुग्ध्वे। उ० पु० के एकवचन में—दुह्+इ, टि को एत्व—दुह्+ए=दुहे। द्विवचन और बहुवचन मे टि को एत्व हो कर—दुह्वहे, दुह्महे। रूपमाला यथा—दुग्धे, दुहाते, दुहते। धुक्षे, दुहाथे, धुग्ध्वे। दुहे, दुह्वहे, दुह्महे।

नोट—यहा 'दादेर्धातोर्घः' (२५२), 'झषस्तथोर्धोऽध' (५४९), 'एकाचो बशो भष्०' (२५३) तथा 'झलां जशझशि' (१९) इन चार कार्यों से विद्यार्थियों को बडा भ्रम हुआ करता है। परन्तु यदि वे निम्न तीन बातों का ध्यान रखें तो उन्हें कोई कठिनाई न हो कर प्रक्रियामार्ग सरल हो जायेगा—

(१) अजादि, वकारादि या मकारादि प्रत्ययों के परे होने पर इन चारों कार्यों में से कोई कार्य नहीं होता। यथा—दुहन्ति, दुहते, दोह्मि, दुह्वः, दुह्म आदि।

(२) तकारादि या थकारादि प्रत्यय परे होने पर हकार को धकार तथा प्रत्यय के तकार थकार को धकार करने पर 'झलां जशझशि' (१९) से धकार को गकार हो जाता है। इस प्रकार—ह्+त=ग्ध, ह्+थ=ग्ध बनता है। यथा—दुह्+ते=दुग्धे, दुह्+तस्=दुग्धः, दुह्+थ=दुग्ध आदि।

(३) सकारादि या ध्वम् प्रत्यय परे हो तो हकार को धकार, धातु के आदि दकार को भष् अर्थात् धकार, यथासम्भव 'आदेशप्रत्यययो' से षत्व तथा अन्त में 'खरि च' से धकार को चर्त्व-ककार हो जाता है यथा—दुह्+से=धुक्षे, दुह्+ध्वे=धुग्ध्वे।

लिट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में तिप्, णल्, द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा लघूपधगुण करने पर—दुदोह। द्विवचन और बहुवचन में 'असंयोगाल्लिट्०' (४५२) द्वारा लिट् के कित् होने से लघूपधगुण का निषेध हो जाता है—दुदुहतु, दुदुह। म० पु० के एकवचन में सिप् को थल् आदेश हो कर—दुह्+थ। दुह् धातु हकारान्त अनुदात्तों में पठित होने मे अनिट् है, परन्तु आदिनियम से सर्वत्र इट् का आगम हो जाता है—दुह्+इथ, द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा लघूपधगुण करने पर—

दुदोहिव । इसी प्रकार व और म में भी झादिनियम से नित्य इट् हो जायेगा—दुदुहिव, दुदुहिम । (आत्मने०) में कोई विशेष कार्य नहीं होता । झादिनियम से सर्वत्र इट् हो जाता है । ध्वम् में 'विभाषेटः' (५२७) द्वारा धकार को वैकल्पिक ढकार हो जाता है । लिट् में रूपमाला यथा—(परस्मै०) दुदोह, दुदुहतुः, दुदुहुः । दुदोहिथ, दुदुहथुः, दुदुह । दुदोह, दुदुहिव, दुदुहिम । (आत्मने०) दुदुहे, दुदुहाते, दुदुहिरे । दुदुहिषे, दुदुहाथे, दुदुहिढ्वे-दुदुहिध्वे । दुदुहे, दुदुहिवहे, दुदुहिमहे ।

लुट्—दोनों पदों में लघूपधगुण हो कर 'दोह्+ता' इस स्थिति में धत्व, धत्व और जश्त्व करने पर 'दोग्धा' प्रयोग सिद्ध होता है । रूपमाला यथा—(परस्मै०) दोग्धा, दोग्धारौ, दोग्धारः । दोग्धासि—। (आत्मने०) दोग्धा, दोग्धारौ, दोग्धारः । दोग्धासे—।

लृट्—दोनों पदों में सकार परे रहता है अतः क्रमशः धत्व-भष्त्व-षत्व-चर्त्व हो कर 'धोक्ष्यति-धोक्ष्यते' आदि रूप सिद्ध होते हैं । रूपमाला यथा—(परस्मै०) धोक्ष्यति, धोक्ष्यतः, धोक्ष्यन्ति । (आत्मने०) धोक्ष्यते, धोक्ष्येते, धोक्ष्यन्ते ।

लोट्—में लट् की तरह प्रथम सब कार्य हो कर पुनः लोट् के अपने विशिष्ट कार्य हो जाते हैं । (परस्मै०) दोग्धु-दुग्धात्, दुग्धाम्, दुहन्तु । दुग्धि-दुग्धात्, दुग्धम्, दुग्ध । दोहानि, दोहाव, दोहाम । (आत्मने०) दुग्धाम्, दुहाताम्, दुहताम् । धुक्ष्व, दुहाथाम्, धुग्ध्वम् । दोहै, दोहावहै, दोहामहै ।

लङ्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, शब्लुक्, 'इतश्च' (४२४) से इकारलोप, लघूपधगुण तथा अट् का आगम हो कर—अदोह्+त् । अब यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः०' (१७६) से अपृक्त तकार का लोप कर पदान्त में हकार को धकार, धातु के आदि दकार को भष्-धकार. जश्त्व तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने से 'अधोक्, अधोग्' दो प्रयोग सिद्ध होते हैं । द्विवचन में—अदुह्+ताम्, धत्व, धत्व तथा जश्त्व करने से—अदुग्धाम् । बहुवचन में झि के झकार को अन्त् आदेश, इकारलोप तथा संयोगान्तलोप करने पर 'अदुहन्' प्रयोग सिद्ध होता है । म० पु० के एकवचन सिप् में भी तिप् की तरह सकार का हल्ङ्यादिलोप हो जाता है—अधोक्-अधोग् । द्विवचन में 'अदुग्धम्' तथा बहुवचन में 'अदुग्ध' । उ० पु० के एकवचन में मिप् को अम् आदेश तथा लघूपधगुण करने पर 'अदोहम्' । द्विवचन और बहुवचन में—अदुह्व, अदुह्म । रूपमाला यथा—अधोक्-अधोग्, अदुग्धाम्, अदुहन् । अधोक्-अधोग्, अदुग्धम्, अदुग्ध । अदोहम्, अदुह्व, अदुह्म ।

(आत्मने०) प्र० पु० के एकवचन में 'अदुह्+त' इस दशा में ष्टिवत् होने से लघूपधगुण नहीं होता । धत्व, धत्व तथा जश्त्व करने पर—अदुग्ध । द्विवचन में 'अदुहाताम्' और बहुवचन में 'अदुहत' (आत्मनेपदेष्वनतः) । म० पु० के एकवचन में 'अदुह्+थास्' इस स्थिति में धत्व-धत्व-जश्त्व करने पर—अदुग्धाः । द्विवचन में—

अदुह्याम्। बहुवचन में ध्वम् प्रत्यय परे होने पर भष्भाव विशेष कार्य है—अधुग्ध्वम्। उ० पु० में कुछ विशेष नहीं। रूपमाला यथा—अदुग्ध, अदुहाताम्, अदुहत। अदुग्धा, अदुहायाम्, अधुग्ध्वम्। अदुहि, अदुह्वहि, अदुह्महि।

नोट—लंङ् के दोनों पदों में 'अदुग्ध' प्रयोग बनता है। परन्तु पुरुष और वचन के भेद का ध्यान रखना आवश्यक है।

वि० लिंङ्—के दोनों पदों में कहीं भी झल् या पदान्त न होने से घत्व आदि कार्य नहीं होते। रूपमाला यथा—(परस्मै०) दुह्यात, दुह्याताम्, दुह्यु:। दुह्या:, दुह्यातम्, दुह्यात। दुह्याम्, दुह्याव, दुह्याम। (आत्मने०) दुहीत, दुहीयाताम्, दुहीरन्। दुहीथा, दुहीयाथाम्, दुहीध्वम्। दुहीय, दुहीवहि, दुहीमहि।

आ० लिंङ्—(परस्मै०) में कुछ विशेष नहीं। रूपमाला यथा—दुह्यात्, दुह्यास्ताम्, दुह्यासु:। दुह्या:, दुह्यास्तम्, दुह्यास्त। दुह्यासम्, दुह्यास्व, दुह्यास्म।

आत्मनेपद मे 'दुह्+सीयुट्+सुट्+त' इस स्थिति मे 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) द्वारा आर्धधातुकनिमित्तक लघूपधगुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेशसूत्रम्—(५८६) लिंङ्सिचावात्मनेपदेषु ।१।२।११॥

इक्समीपाद् हल परो झलादी लिंङ्सिचौ कितौ स्तस्तङि। घुसीष्ट॥

अर्थ—इक् के समीप जो हल् उस से परे झलादि लिंङ् और सिच् कित् हों तङ् अर्थात् आत्मनेपद प्रत्यय परे हो तो।

व्याख्या—लिंङ्सिचौ ।१।२। आत्मनेपदेषु ।७।३। इक: ।६।१। झल् ।१।१। ('इको झल्' से)। हलन्तात् ।५।१। ('हलन्ताच्च' से)। कित् ।१।१। ('असयोगाल्लिट् कित्' से)। झल् यह 'लिंङ्सिचौ' का विशेषण है अत. विशेषण से तदादिविधि होकर 'झलादी लिंङ्सिचौ' उपलब्ध हो जाता है। 'हलन्तात्' में 'अन्त' शब्द का अर्थ है—समीपवर्ती। हल् चासौ अन्तश्चेति हलन्त, तस्माद् हलन्तात्। यहा समास में विशेषण होने पर भी अन्तशब्द का सौत्रत्वात् परनिपात समझना चाहिये। अर्थ—(इक:) इक् के (हलन्तात्) समीप जो हल् उस से परे (झलादी लिंङ्सिचौ) झलादि लिंङ् और सिच् (कित्) कित्वत् होते है (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद प्रत्यय परे हों तो[1]।

---

१ 'आत्मनेपदेषु' यह सिच् के लिये ही प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि उस से परे ही आत्मनेपद प्रत्यय सम्भव हो सकते हैं। झलादि लिंङ् ('सीय्+स्+त' आदि) तो स्वय आत्मनेपद होगा ही अत उस से परे आत्मनेपद सम्भव नहीं।

कित् करने का प्रयोजन 'क्ङिति च' (४३३) से गुण का निषेध करना है। सिच् का उदाहरण आगे आयेगा, यहां लिङ् का उदाहरण प्रस्तुत है—

'दुह्+सीय्+स्+त' यहां दकारोत्तरवर्ती उकार इक् है, इस के समीप हल् है—ह्, अतः इस से परे प्रकृतसूत्र द्वारा झलादि लिङ् (सीय्+स्+त) कित् हो गया। इस के कित् होने से 'क्ङिति च' (४३३) सूत्र से लघूपधगुण का निषेध होकर पूर्ववत् धत्व, भष्त्व, षत्व और चर्त्व करने पर 'धुक्षीष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। आ० लिङ् आत्मने० में रूपमाला यथा—धुक्षीष्ट, धुक्षीयास्ताम्, धुक्षीरन्। धुक्षीष्ठाः, धुक्षीयास्थाम्, धुक्षीध्वम्। धुक्षीय, धुक्षीवहि, धुक्षीमहि।

'इक् के समीप' कहने का प्रयोजन यह है कि 'यक्षीष्ट' (यज्+सीय्+स्+त), 'अयष्ट' (अयज्+स्+त) में झलादि लिङ् वा सिच् कित् न हो जायें। इन के कित् होने से यज् को 'वचिस्वपि०' (५४७) से सम्प्रसारण होने लगता। हल्' का ग्रहण इस लिये किया गया है कि 'नेषीष्ट, अनेष्ट' आदि में झलादि लिङ् और सिच् कित् न हो जायें। यदि ये कित् हो जाते तो नी को गुण न हो सकता। 'झलादि' कहने से 'वर्तिषीष्ट, अवर्तिष्ट' आदि में इट् का आगम हो जाने से लिङ् और सिच् कित् नहीं होते। यदि ये कित् हो जाते तो वृत् को लघुपधगुण न हो सकता।

लुङ्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन की विवक्षा में तिप्, इकारलोप तथा च्लि करने पर 'दुह्+च्लि+त्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५९०) शल इगुपधादनिटः क्सः। ३।१।४५॥

इगुपधो यः शलन्तस्तस्माद् अनिटश्च्लेः क्सादेशः स्यात्। अधुक्षत्॥

अर्थः—इक् जिस की उपधा में हो ऐसी जो शलन्त धातु, उस से परे अनिट् च्लि के स्थान पर क्स आदेश हो।

व्याख्या—शलः।५।१। इगुपधात् ।५।१। अनिटः।६।१। क्सः।१।१। च्लेः।६।१। ('च्लेः सिच्' से)। धातोः।५।१। ('धातोरेकाचो हलादेः०' से)। इक् (प्रत्याहारः) उपधा यस्य स इगुपधः, तस्माद् इगुपधात्, बहुव्रीहि०। न विद्यते इट् यस्य सोऽनिट्, तस्य=अनिटः। 'शलः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि होकर 'शलन्ताद् धातोः' बन जायेगा। अर्थः—(इगुपधात्) जिस की उपधा में इक् प्रत्याहार हो ऐसी (शलन्ताद् धातोः) शलन्त धातु से परे (अनिटः च्लेः) अनिट् च्लि के स्थान पर (क्सः) 'क्स' आदेश हो जाता है[1]। यह सूत्र 'च्लेः सिच्'

१. 'अनिटः' को 'धातोः' का विशेषण न बनाकर 'च्लेः' का विशेषण बनाया

(४३८) का अपवाद है। वस में ककार इत् है 'स' यह अदन्त ही अवशिष्ट रहता है। सिच् और वस के रूप मे यही अन्तर है। उदाहरण यथा—

'दुह्+च्लि+त्' यहा 'दुह्' की उपधा मे इक्-उकार है और इस के अन्त मे हकार-शल् भी विद्यमान है। इस से परे च्लि के 'लि' को प्राप्त इट् का 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से निषेध हो जाता है अत वह अनिट् है। इस प्रकार प्रकृतसूत्र के पूर्णतया घट जाने से च्लि को वस आदेश होकर अट् का आगम करने से—अदुह्+स+त्। अब धत्व, भष्त्व, षत्व तथा चत्व कर देने पर 'अधुक्षत्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहा वस के कित् होने के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है[1]। लुँङ् (परस्मै०) मे रूपमाला यथा—अधुक्षत्, अधुक्षताम्, अधुक्षन्। अधुक्ष, अधुक्षतम्, अधुक्षत। अधुक्षम्, अधुक्षाव, अधुक्षाम।

लुँङ्—(आत्मने०) प्र० पु० के एकवचन मे 'दुह्+च्लि+त' इस स्थिति मे पूर्ववत् च्लि को वस आदेश होकर—दुह्+स+त। अब क्स का वैकल्पिक लुक् करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(५९१) लुग्वा दुह-दिह-लिह-गुहामात्मनेपदे दन्त्ये ।७।३।७३।।

एषा वसस्य लुग्वा स्याद् दन्त्ये तडि। अदुग्ध, अधुक्षत॥

अर्थ—दुह् (दोहना), दिह् (बढाना), लिह् (चाटना) और गुह् (छिपाना) इन धातुओं के वस का विकल्प से लुक् हो जाता है दन्त्यादि आत्मनेपद प्रत्यय परे हो तो।

---

गया है। यदि इसे 'धातो' का विशेषण बनाते तो गुहूँ सवरणे' धातु के 'अधुक्षत्' आदि प्रयोगो मे दोष आता, क्योंकि वहा धातु सेट् है, अगर ऊदित् के कारण उसे अनिट् मानते हैं तो फिर सदा 'वस' ही होगा सिच् नहीं। च्लि के अनिट्त्व की उपपत्ति इस प्रकार समझनी चाहिये। 'दुह्+च्लि+त्' यहा 'प्रकल्प्य चापवादविषय-मुत्सर्गोऽभिनिविशते' (अपवाद के विषय को छोड कर ही उत्सर्ग की प्रवृत्ति हुआ करती है) इस परिभाषा से 'च्लेः सिच्' तो होगा नही, रुक जायेगा। तदन्तर वस आदेश भी तब तक रुका रहेगा जब तक च्लि के अनिट्त्व का निश्चय नहीं हो जाता। इस बीच च्लि के 'लि' को इट् की प्राप्ति तथा 'एकाच उपदेशे०' (४७५) से उस का निषेध हो जायेगा। अब च्लि के अनिट्त्व सिद्ध हो जाने पर वस प्रवृत्त हो जायेगा। विस्तार के लिये महाभाष्य, प्रदीपोद्योत तथा लघुशब्देन्दुशेखर देखें।

[1] कई अनभिज्ञ टीकाकार यहा हलन्तलक्षणा वृद्धि की प्राप्ति दर्शा कर कित्त्व के कारण उस का निषेध किया करते है। वे यहा यह नहीं सोचते कि भला सिच् के बिना कही वृद्धि प्राप्त भी हो सकती है या नहीं?

व्याख्या—लुक् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् । दुह-दिह-लिह-गुहाम् ।६।३। आत्मनेपदे ।७।१। दन्त्ये ।७।१। क्सस्य ६।१। ('क्सस्याचि' से ) । दन्तेषु भवः—दन्त्यः, 'शरीरावयवाच्च' (१०६१) इति यत्प्रत्ययः । दन्तस्थान वाले वर्ण को 'दन्त्य' कहते हैं । 'दन्त्ये' पद 'आत्मनेपदे' का विशेषण है अतः विशेषण से तदादिविधि होकर 'दन्त्यादौ आत्मनेपदे' बन जाता है । अर्थः—(दुह-दिह-लिह-गुहाम्) दुह्, दिह्, लिह् और गुह् धातुओं के (क्सस्य) क्स प्रत्यय का (वा) विकल्प करके (लुक्) लुक् हो जाता है (दन्त्ये=दन्त्यादौ) दन्त्यादि (आत्मनेपदे) आत्मनेपद परे हो तो । पीछे से 'लोपः' की अनुवृत्ति आ रही थी उस का आश्रय न करके 'लुक्' का कथन इसलिये किया गया है कि 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' (१८६) के अनुसार सम्पूर्ण क्स (स) प्रत्यय का अदर्शन हो सके । यदि 'लोपः' को लाते तो अलोऽन्त्यपरिभाषा से क्स के अन्त्य अकार का ही लोप होता, सकार सहित का नहीं । दन्त्यादि अर्थात् दन्त्य वर्ण जिनके आदि में है ऐसे आत्मनेपद प्रत्यय चार हैं—त, थास्, ध्वम् और वहि[1] । अतः इन चार प्रत्ययों के परे रहते ही दुहादि धातु के क्सप्रत्यय का लुक् होगा । उदाहरण यथा—

'दुह्+स+त' यहां दुह् धातु का क्स विद्यमान है इस से परे दन्त्यादि आत्मनेपद 'त' भी मौजूद है, अतः प्रकृतसूत्र से क्स का वैकल्पिक लुक् होकर अट् का आगम लाने से—अदुह्+त । अब लँङ् की तरह घत्व, धत्व और जश्त्व करने पर 'अदुग्ध' प्रयोग सिद्ध होता है । लुक् के अभाव में—अदुह्+स+त, घत्व-भष्त्व-षत्व-चर्त्व करने से—अधुक्षत । इस प्रकार 'अदुग्ध, अधुक्षत' ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

प्र० पु० के द्विवचन में क्स आदेश कर 'अदुह्+स+आताम्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५६२) क्सस्याऽचि ।७।३।७२।।

अजादौ तङि क्सस्य लोपः । अधुक्षाताम् । अधुक्षन्त । अदुग्धाः-अधुक्षथाः, अधुक्षाथाम्, अधुग्ध्वम्-अधुक्षध्वम् । अधुक्षि, अदुह्वहि-अधुक्षावहि, अधुक्षामहि । अधोक्ष्यत्, अधोक्ष्यत ।।

अर्थः—अजादि आत्मनेपद प्रत्यय परे होने पर क्स प्रत्यय का लोप हो ।

---

१. यदि कहें कि 'वहि' का आदि वकार तो दन्त्य नहीं दन्तोष्ठ्य है अतः उस का ग्रहण न होना चाहिये—तो यह ठीक नहीं । क्योंकि यदि उसका ग्रहण अभीष्ट न होता तो सूत्र में 'दन्त्ये' न रखते, केवल 'तौ' (तवर्ग) ही कह सकते थे, इसी से तथास्-ध्वम् का ग्रहण हो जाता । अतः 'दन्त्ये' कथन से दन्तोष्ठ्य वर्ण वकार का भी ग्रहण अभीष्ट है यह सिद्ध होता है ।

व्याख्या—वसस्य ।६।१। अचि ।७।१। लोप ।१।१। ('धोर्लोपो लेंटि वा' से) यहां अष्टाध्यायीक्रम मे अगले सूत्र से 'तङि' का अपकर्षण कर 'अचि' को उस का विशेषण बना कर 'अजादौ तङि' बना लिया जाता है[1]। अर्थ — (अचि=अजादौ) अजादि (तङि) तङ् परे होने पर (वसस्य) वस प्रत्यय का (लोप) लोप हो जाता है। 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) से यह लोप वस के अन्त्य अल् अर्थात् अकार का होता है। इस प्रकार वस हलन्त हो जाता है। इसे हलन्त करने का प्रयोजन आताम् आदि मे 'आतो ङित' (५०६) द्वारा प्राप्त इय् आदेश का वारण करना है।

'अदुह्+स+आताम्' यहां अजादि तङ् 'आताम्' परे है अत प्रकृतसूत्र से वस के अन्त्य अकार का लोप होकर—अदुह्+स्+आताम्। अब क्रमश धत्व, भष्त्व, षत्व और चर्त्व करने पर 'अधुक्षाताम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार प्र० पु० के बहुवचन मे 'झल झुप०' (५६०) से झि को वस आदेश हो कर 'अदुह्+स+झ' इस स्थिति में अत् से परे होने के कारण 'आत्मनेपदेष्वनत' (५२४) सूत्र की प्रवृत्ति नही होती, 'झोऽन्त' (६८६) से झकार को अन्त् आदेश हो जाता है—अदुह्+स+अन्त। अब अजादि तङ् परे होने के कारण 'वसस्यांचि' से अन्त्य अकार का लोप होकर—अदुह्+स्+अन्त। पुन. धत्व, भष्त्व, षत्व और चर्त्व करने पर 'अधुक्षन्त' प्रयोग सिद्ध होता है।

म० पु० के एकवचन थास् मे—अदुह्+स+थास्। यहां दन्त्यादि तङ् परे है अत 'सुग्वा दुह०' (५६१) सूत्र से समग्र वस का वैकल्पिक लुक् होकर पूर्ववत् भष्त्व, धत्व और जश्त्व करने से 'अदुग्धा, अधुक्षथा' दो रूप सिद्ध होते हैं। द्विवचन आथाम् मे अजादि तङ् परे है अत 'वसस्यांचि' (५६२) से वस के अन्त्य अकार का नित्य लोप होकर 'अधुक्षाथाम्' यह एक रूप सिद्ध होता है। बहुवचन ध्वम् में दन्त्यादि तङ् परे है अत सम्पूर्ण वस का वैकल्पिक लुक् होकर 'अधुग्ध्वम्, अधुक्षध्वम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

उ० पु० के एकवचन इट् मे—अदुह्+स+इ। यहा अजादि तङ् परे है अत

---

१ प्राचीन वैयाकरण 'तङि' का अपकर्षण नहीं करते थे। वे 'अचि' को अनुवृत्ति 'प्रत्यये' का विशेषण बना कर 'अजादि प्रत्यय परे होने पर वस के अन्त्य अकार का लोप हो' इस प्रकार अर्थ करते थे। इस अर्थ मे एक दोष प्राप्त होता था। 'वृशे वसश्च' वार्तिक मे दृश् धातु से वस प्रत्यय कर के प्रथमा के बहुवचन में 'यादृशा' आदि प्रयोगों को जब सिद्ध किया जाता था तो वहां 'तद्+दृश्+वस+अस्' मे अस् (जस्) इस अजादि प्रत्यय के परे रहते वस के अन्त्य अकार का लोप प्राप्त होता था जो अनिष्ट था। अब 'तङि' के अपकर्षण करने से यह दोष नही आता।

अन्त्य अकार का नित्य लोप होकर 'अधुक्षि' यह एक प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में—अदुह्+स+वहि। यहां दन्त्यादि तङ् परे है अतः समग्र वस का वैकल्पिक लुक् होकर लुक्पक्ष में 'अदुह्वहि' और लुक् के अभाव में 'अतो दीर्घो यञि' (३९०) से दीर्घ करने पर 'अधुक्षावहि' रूप सिद्ध होता है। बहुवचन में 'अदुह्+स+महि' यहां न तो दन्त्यादि तङ् परे है और न ही अजादि, अतः लुक् और अन्त्य लोप दोनों में से कोई कार्य न होगा। 'अतो दीर्घो यञि' (३९०) से दीर्घ होकर—अधुक्षामहि। लुङ् के आत्मनेपद में रूपमाला यथा—अदुग्ध-अधुक्षत, अधुक्षाताम्, अधुक्षन्त। अदुग्धाः-अधुक्षथाः, अधुक्षाथाम्, अधुग्ध्वम्-अधुक्षध्वम्। अधुक्षि, अदुह्वहि-अधुक्षावहि, अधुक्षामहि।

नोट—यहां आत्मनेपद में यह ध्यान रखना चाहिये कि 'वस' आदेश का त, थास्, ध्वम् और वहि में वैकल्पिक लुक् हो जाता है तथा आताम्, आथाम्, अन्त् और इट् में अन्त्य अकार का लोप होता है[1]।

लृङ्—दोनों पदों में लृट् की तरह प्रक्रिया होती है। (परस्मै०) अधोक्ष्यत्, अधोक्ष्यताम्, अधोक्ष्यन्। (आत्मने०) अधोक्ष्यत, अधोक्ष्येताम्, अधोक्ष्यन्त।

[लघु०] एवम्—दिहँ उपचये ॥२२॥

अर्थः—दिहँ (दिह्) धातु 'बढ़ाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2]। इस की प्रक्रिया भी 'दुह्' धातुवत् होती है।

---

१. यहां यह नहीं भूलना चाहिये कि वस का लुक् केवल दुह्, दिह्, लिह् और गुह् धातुओं में ही होता है, जबकि तदन्तलोप अन्य धातुओं में भी प्रवृत्त होता है। यथा ('गृहूँ ग्रहणे')—अगृक्षाताम्, अगृक्षन्त, अगृक्षाथाम्, अगृक्षि आदि।

ध्वमि ते च वहौ थासि दन्त्ये क्सो लुप्यतेऽखिलम्।
दुह्दिहोर्लिह्गुहोश्चैव नाऽन्यत्रेति विनिर्णयः।
लोपोऽजादौ तदन्तस्याऽविशेषेणाऽभिधीयते ॥

२. तत्त्वबोधिनीकार तथा बालमनोरमाकार ने यहां पर 'उपचयो वृद्धिः' लिख कर अल्पज्ञ वैयाकरणों में महती भ्रांति पैदा कर दी है। आधुनिक अनेक टीकाकार इसे अकर्मक समझ कर इस का अर्थ 'बढ़ना' करने लगे हैं जो नितान्त अशुद्ध है। इस धातु का अर्थ 'लेप करना या लेप आदि के द्वारा बढ़ाना' ही है। तभी तो भट्टि ने 'अदिहन् चन्दनैः शुभ्रैः' (१७.५४; शुक्लवर्णैश्चन्दनैरदिहन् गात्राणि लिप्तवन्तः—जयमङ्गला) लिखा है। सायण ने अपनी धातुवृत्ति में इसे सकर्मक मानते हुए 'देह' शब्द को कर्मणि घञ् के द्वारा सिद्ध किया है—दिह्यते चन्दनादिभिर्लिप्यत इति देहः। वाचस्पत्यकोष में इसे स्पष्टतः सकर्मक माना गया है। गणदर्पणकार ने स्पष्ट लिखा है—वृद्धिः=वृद्धिकरणम्। क्षीरस्वामी ने इस धातु पर अतीव उपयुक्त लिखा है—उपचयोऽत्र लेपः।

व्याख्या—देह, विदेह, सन्देह, देहिन् (आत्मा) आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं। स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'दुह्' धातु की तरह होती है। दुह् में उकार को ओकार गुण होता था तो यहा इकार को एकार। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) देग्धि, दिग्ध, दिहन्ति। धेक्षि, दिग्ध, दिग्ध। देह्मि, दिह्व, दिह्म। (आत्मने०) दिग्धे, दिहाते, दिहते। धिक्षे, दिहाथे, धिग्ध्वे। दिहे, दिह्वहे, दिह्महे। लिँट्—(परस्मै०) दिदेह, दिदिहतु, दिदिहु। (आत्मने०) दिदिहे, दिदिहाते, दिदिहिरे। लुँट्—(परस्मै०) देग्धा, देग्धारौ, देग्धार। देग्धासि—। (आत्मने०) देग्धा, देग्धारौ, देग्धार। देग्धासे—। लृँट्—(परस्मै०) धेक्ष्यति, धेक्ष्यत, धेक्ष्यन्ति। (आत्मने०) धेक्ष्यते, धेक्ष्येते, धेक्ष्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) देग्धु दिग्धात्, दिग्धाम्, दिहन्तु। दिग्धि-दिग्धात्, दिग्धम्, दिग्ध। देहानि, देहाव, देहाम। (आत्मने०) दिग्धाम् दिहाताम्, दिहताम्। धिक्ष्व, दिहाथाम्, धिग्ध्वम्। देहै, देहावहै, देहामहै। लँङ्—(परस्मै०) अधेक्-अधेग्, अदिग्धाम्, अदिहन्। अधेक्-अधेग्, अदिग्धम्, अदिग्ध। अदेह्म्, अदिह्व, अदिह्म। (आत्मने०) अदिग्ध, अदिहाताम्, अदिहत। अदिग्धाः, अदिहाथाम्, अधिग्ध्वम्। अदिहि, अदिह्वहि, अदिह्महि। वि० लिँङ्—(परस्मै०) दिह्यात्, दिह्याताम्, दिह्यु। (आत्मने०) दिहीत, दिहीयाताम्, दिहीरन्। आ० लिँङ्—(परस्मै०) दिह्यात्, दिह्यास्ताम्, दिह्यासु। (आत्मने०) धिक्षीष्ट, धिक्षीयास्ताम्, धिक्षीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अधिक्षत्, अधिक्षताम्, अधिक्षन्। (आत्मने०) अदिग्ध-अधिक्षत, अधिक्षाताम्, अधिक्षन्त। अदिग्धाः-अधिक्षथाः, अधिक्षाथाम्, अधिग्ध्वम्-अधिक्षध्वम्। अदिहि, अदिह्वहि-अधिक्षावहि, अधिक्षामहि। लृँङ्—(परस्मै०) अधेक्ष्यत्, अधेक्ष्यताम्, अधेक्ष्यन्। (आत्मने०) अधेक्ष्यत, अधेक्ष्येताम्, अधेक्ष्यन्त।

उपसर्गयोग—सम्√दिह् (सन्देग्धि)=सन्देह करना (अग्नौ सन्दिहान, पवते धूम पश्यन्—तर्कसंग्रह, सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तय—शाकुन्तल १.२३)।

[लघु०] लिहँ आस्वादने ॥२३॥ लेढि, लीढ, लिहन्ति। लेक्षि। लीढे, लिहाते, लिहते। लिक्षे, लिहाथे, लीढ्वे। लिलेह। लिलिहे। लेढासि, लेढासे। लेक्ष्यति, लेक्ष्यते। लेढु-लीढात्, लीढाम्, लिहन्तु। लीढि। लेहानि। लीढाम्। अलेट्-अलेड्। अलिक्षत्। अलीढ-अलिक्षत। अलेक्ष्यत्, अलेक्ष्यत ॥

अर्थ—लिहँ (लिह्) धातु 'चाटना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—लिह् धातु भी स्वरितेत् होने से उभयपदी है। हकारादि न होने

से यह धातु 'दादेर्धातोर्घः' (२५२) का विषय नहीं, इसी प्रकार इस में वश् वर्ण न होने से 'एकाचो वशो भष्०' (२५३) द्वारा भष्त्व भी नहीं होता।

लँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में शप् का लुक् तथा लघूपधगुण हो कर—लेह्+ति। 'हो ढः' (२५१) से हकार को ढकार, 'झषस्तथोर्धोऽधः' (५४६) से तिप् के तकार को धकार, 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से धकार को भी ष्टुत्व से ढकार करने पर—लेढ्+ढि। अब 'ढो ढे लोपः' (५५०) से प्रथम ढकार का लोप करने से 'लेढि' प्रयोग सिद्ध होता है, ध्यान रहे कि यहां पूर्व में अण् (अ इ उ) न होने से 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (११२) की प्रवृत्ति नहीं होती। द्विवचन में ङिद्वद्भाव के कारण गुण न होगा—लिह्+तस्=लिढ्+तस्=लिढ्+धस्=लिढ्+ढस्, अब ढकार का लोप तथा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य०' से पूर्व अण्-इकार को दीर्घ करने से 'लीढः' प्रयोग सिद्ध होता है। बहुवचन में—लिहन्ति। म० पु० के एकवचन में गुण हो कर—लेह्+सि। ढत्व हो कर—लेढ्+सि। 'पढोः कः सि' (५४८) से ढकार को ककार हो कर—लेक्+सि। 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व करने पर 'लेक्षि' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में ढत्व, धत्व, ष्टुत्व, ढोढेलोप तथा पूर्व अण् को दीर्घ करने पर—लीढः। इसी प्रकार बहुवचन में—लीढ। उ० पु० में कुछ विशेष नहीं होता। रूपमाला यथा—लेढि, लीढः, लिहन्ति। लेक्षि, लीढः, लीढ। लेह्मि, लिह्वः, लिह्मः।

(आत्मने०) प्र० पु० के एकवचन में—लिह्+त। टि को एत्व हो कर—लिह्+ते। अब ढत्व, धत्व, ष्टुत्व, ढलोप तथा पूर्व अण् को दीर्घ करने पर 'लीढे' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में टि को एत्व हो कर—लिहाते। बहुवचन में झकार को अत् आदेश करने पर—लिहते। म० पु० के एकवचन में थास् को से आदेश हो कर—लिह्+से। अब ढत्व, 'पढोः कः सि' (५४८) से ढकार को ककार तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सकार को षकार करने पर—लिक्षे। द्विवचन में—लिहाथे। बहुवचन में—लिह्+ध्वे, ढत्व तथा ष्टुत्व हो कर—लिढ्+ढ्वे। अब ढोढेलोप तथा पूर्व अण् को दीर्घ करने पर 'लीढ्वे' प्रयोग सिद्ध होता है। उ० पु० में कुछ विशेष नहीं। रूपमाला यथा—लीढे, लिहाते, लिहते। लिक्षे, लिहाथे, लीढ्वे। लिहे, लिह्वहे, लिह्महे।

लिँट्—दोनों पदों में दुह् की तरह प्रक्रिया होती है। आदिनियम से नित्य इट् हो जाता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) लिलेह, लिलिहतुः, लिलिहुः। लिलेहिथ, लिलिहथुः, लिलिह। लिलेह, लिलिहिव, लिलिहिम। (आत्मने०)। लिलिहे, लिलिहाते, लिलिहिरे आदि।

लुँट्—दोनों पदों में लघूपधगुण हो कर 'लेह्+ता' इस स्थिति में ढत्व, धत्व, ष्टुत्व तथा ढोढेलोप करने पर 'लेढा' सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) लेढा, लेढारौ, लेढारः। लेढासि—। (आत्मने०) लेढा, लेढारौ, लेढारः। लेढासे—।

लुँट्—दोनों पदों में पूर्ववत् लघूपधगुण, ढत्व, कत्व तथा षत्व हो जाता है। (परस्मै०) लेक्ष्यति, लेक्ष्यतः, लेक्ष्यन्ति। (आत्मने०) लेक्ष्यते, लेक्ष्येते, लेक्ष्यन्ते।

लोँट्—मे लँट्वत् कार्य हो कर पुन लोँट् के अपने विशिष्ट कार्य होते हैं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) लेढु-लीढात्, लीढाम्, लिहन्तु। लीढि-लीढात्, लीढम्, लीढ। लेहानि, लेहाव, लेहाम। (आत्मने०) लीढाम्, लिहाताम्, लिहताम्। लिक्ष्व, लिहाथाम्, लीढ्वम्। लेहै, लेहावहै, लेहामहै।

लँङ्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, शब्लुक्, इतश्च, लघूपधगुण तथा अङ्ग को अट् का आगम हो कर—अलेह्+त्। अब अपृक्त तकार का हल्ङ्यादिलोप कर पदान्त में हकार को ढकार तथा जश्त्व-चर्त्व करने पर—'अलेट्-अलेड्' रूप सिद्ध होते हैं। द्विवचन में 'अलिह्+ताम्' इस दशा मे ढत्व, धत्व, ष्टुत्व, ढोढेलोप तथा पूर्व अण् को दीर्घ करने से—अलीढाम्। बहुवचन मे झि के झकार को अन्त् आदेश, इतश्च तथा सयोगान्तलोप करने पर—अलिहन्। म० पु० के एकवचन मे भी तिप् की तरह—अलेट्-अलेड्। द्विवचन और बहुवचन मे तस् की तरह—अलीढम् अलीढ। उ० पु० में कुछ विशेष नही। रूपमाला यथा—अलेट्-अलेड्, अलीढाम्, अलिहन्। अलेट्-अलेड्, अलीढम्, अलीढ। अलेहम्, अलिह्व, अलिह्म।

(आत्मने०) प्र० पु० के एकवचन में अलिह्+त। ढत्व, धत्व, ष्टुत्व, ढोढेलोप तथा पूर्व अण् को दीर्घ करने पर—अलीढ। द्विवचन में—अलिहाताम्। बहुवचन में अत् आदेश हो कर—अलिहत। म० पु० के एकवचन में 'अलिह्+थास्', ढत्व, धत्व, ष्टुत्व, ढोढेलोप तथा पूर्व अण् को दीर्घ करने पर—अलीढा। इसी प्रकार—अलीढ्वम्। रूपमाला यथा—अलीढ, अलिहाताम्, अलिहत। अलीढा, अलिहाथाम्, अलीढ्वम्। अलिहि, अलिह्वहि, अलिह्महि।

वि० लिँङ्—दोनों पदों मे कहीं झल् या पदान्त नही मिलता अत ढत्व आदि कार्य नहीं होते। (परस्मै०) लिह्यात्, लिह्याताम्, लिह्यु। (आत्मने०) लिहीत लिहीयाताम्, लिहीरन्। आ०लिँङ्—(परस्मै०) लिह्यात्, लिह्यास्ताम्, लिह्यासु। (आत्मने०) मे 'लिँङ्सिचावात्मनेपदेषु' (५८६) से क्ित्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है—लिक्षीष्ट, लिक्षीयास्ताम्, लिक्षीरन्।

लुँङ्—(परस्मै०) में 'शल इगुपधादनिट क्स' (५६०) से च्लि को क्स आदेश हो कर ढत्व, धत्व और षत्व करने से 'अलिक्षत्' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। क्स के क्ित्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। रूपमाला यथा—अलिक्षत्, अलिक्षताम्, अलिक्षन् आदि। (आत्मने०) के दन्त्यादि प्रत्ययों (त, थास्, ध्वम् और वहि) में 'स्वा वुहविहलिह०' (५६१) से क्स का वैकल्पिक लुक् हो जाता है। लुक्-पक्ष में लँङ् की तरह प्रक्रिया होती है। अजादि प्रत्ययों (आताम्, आथाम्, अन्त और

इट्) में 'क्सस्याऽचि' (५६२) से क्स के अन्त्य अकार का लोप हो जाता है। आत्मने० में रूपमाला यथा—अलीढ-अलिक्षत, अलिक्षाताम्, अलिक्षन्त। अलीढाः-अलिक्षथाः, अलिक्षाथाम्, अलीढ्वम्-अलिक्षध्वम्। अलिक्षि, अलिह्वहि-अलिक्षावहि, अलिक्षामहि।

लृँट्—(परस्मै०) अलेक्ष्यत्, अलेक्ष्यताम्, अलेक्ष्यन्। (आत्मने०) अलेक्ष्यत, अलेक्ष्येताम्, अलेक्ष्यन्त।

उपसर्गयोग—आ√लिह् (आलेढि)=चाटना—आस्वादन करना—चखना; चीखना—छेदना—घायल करना—जख्मी करना (सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः—रघु० २.३७)। अव√लिह् (अवलेढि)=खाना-चबाना (दर्भैरर्धावलीढश्रमविवृतमुख-भ्रंशिभिः क्षीर्णवर्त्मा—शाकुन्तल १.७); व्याप्त करना (अस्त्रज्वालावलीढ०—वेणी० ३.५)। उद्√लिह् (उल्लेढि)=शाण आदि पर चमकाना, तेज़ करना (मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतः—नीतिशतक ३५)।

[लघु०] ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि ॥२४॥

अर्थः—ब्रूञ् (ब्रू) धातु 'स्पष्ट बोलना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—मनुष्य स्पष्ट बोलते हैं पशु पक्षी आदि अस्पष्ट, अतः मनुष्यों के बोलने में ब्रूञ् धातु का प्रयोग होता है। ञित् होने से ब्रूञ् धातु उभयपदी है।

लँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में 'ब्रू+ति' इस अवस्था में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५६३) ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः। ३।४।८४॥

ब्रुवो लँटस्तिवादीनां पञ्चानां णलादयः पञ्च वा स्युर्ब्रुवश्चा-ऽऽहादेशः। आह, आहतुः, आहुः॥

अर्थः—ब्रू धातु से परे लँट्स्थानीय तिप्-तस्-झि-सिप्-थस् इन पाञ्च प्रत्ययों के स्थान पर णल्-अतुस्-उस्-थल्-अथुस् ये पाञ्च प्रत्यय विकल्प से हो जाते हैं किञ्च इन के साथ ब्रू को आह् आदेश भी हो जाता है।

व्याख्या—ब्रुवः।५।१। पञ्चानाम्।६।३। आदितः इत्यव्ययपदम्। आहः।१।१। (हकारादकार उच्चारणार्थः)ब्रुवः।६।१। लँटः।६।१। वा इत्यव्ययपदम् ('विदो लँटो वा' से)। परस्मैपदानाम्।६।३। णलतुसुस्थलथुसः।१।३। ('परस्मैपदानां णलतुस्०' से)। अर्थः—(ब्रुवः) ब्रू धातु से परे (लँटः) लँट् के स्थान पर होने वाले (परस्मैपदानाम्) परस्मैपदसञ्ज्ञक (आदितः पञ्चानाम्) पहले पाञ्च प्रत्ययों के स्थान पर (णलतुसु-स्थलथुसः) णल्-अतुस्-उस्-थल्-अथुस् ये पाञ्च प्रत्यय हो जाते हैं और (ब्रुवः) ब्रू के स्थान पर (आहः) आह् आदेश भी हो जाता है परन्तु यह सब कार्य (वा) विकल्प

से होता है। परस्मैपदों में तिप्-तस्-झि-सिप्-थस् ये पाञ्च पहले प्रत्यय हैं, इन के स्थान पर णलादियों के भी पहले पाञ्च प्रत्यय हो जायेंगे[1]। 'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्ति सह वा निवृत्ति.' (एक साथ कहे गये कार्यों की प्रवृत्ति वा निवृत्ति एक साथ ही हुआ करती है) इस परिभाषा के बल से णल् आदि आदेश और आह् आदेश इकट्ठे ही होंगे। अत पक्ष में 'ब्रू+ति' आदि भी रहेगा। आह् आदेश अनेकाल् होने से ब्रू के स्थान पर सर्वादेश होगा।

'ब्रू+ति' यहा ब्रू से परे लॅट्स्थानीय तिप् विद्यमान है अत प्रकृतसूत्र से उसे णल् आदेश तथा ब्रू को आह् आदेश हो कर शप् और शप् का लुक् करने से—आह्+णल्=आह्+अ='आह' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में—ब्रू+तस्=आह्+अतुस्=आहतु। बहुवचन में—ब्रू+झि=आह्+उस्=आहु।

म० पु० के एकवचन में—ब्रू+सिप्=आह्+थ (थल्)। यहां पर लॅट्स्थानीय होने से थल् की आर्धधातुकसञ्ज्ञा नहीं है अत इट् के आगम की प्राप्ति नहीं होती। अब यहा अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५९४) आहस्थ ।८।२।३५॥

झलि परे। चत्वंम्—आत्थ। आहथु॥

अर्थ—झल् परे होने पर आह् के हकार को थकार आदेश हो।

व्याख्या—आहः ।६।१। थ ।१।१। (थकारादकार उच्चारणार्थं)। झलि ।७।१। ('झलो झलि' से)। अर्थ—(झलि) झल् परे हो तो (आह) आह् के स्थान पर (थ) थ् आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह थकार आदेश आह् के अन्त्य अन् हकार के स्थान पर ही होगा।

'आह्+थ' यहा थकार झल् परे है अत प्रकृतसूत्र से आह् के हकार को थकार हो कर 'खरि च' (७४) से उसे तकार किया तो 'आत्थ' प्रयोग सिद्ध हुआ। 'झलि' कहने से 'आहतु, आहु' आदि में थकारादेश नही होता।

अब जिस पक्ष में णल् आदेश तथा आह् आदेश नहीं होता उस पक्ष का वर्णन करते हैं। 'ब्रू+ति' इस अवस्था मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

१ सूत्र में 'पञ्चानाम्' के द्वारा तिप् आदि पाञ्चों का तो निर्देश किया गया है परन्तु णलादियों का नहीं, तो क्या तिप् आदि पाञ्चों के स्थान पर पर्याय से सब णल् आदि प्रत्यय किये जायें? यह यहा शङ्का उत्पन्न होती है। इस का समाधान यह है कि 'स्थानेऽन्तरतम' (१७) सूत्र की यहां प्रवृत्ति हो कर अर्थकृत आन्तर्य से तिप् आदि पाञ्चों के स्थान पर वैसे अर्थों वाले णल् आदि पाञ्च आदेश ही होंगे। अथवा पूर्वसूत्र में इन का यथासख्यसम्बन्ध निर्धारित हो चुका है, उसी से यहां भी कार्य चल जायेगा।

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५९५) ब्रुव ईट् ।७।३।९३॥

ब्रुवः परस्य हलादेः पित ईट् स्यात् । ब्रवीति, ब्रूतः, ब्रुवन्ति । ब्रूते, ब्रुवाते, ब्रुवते ॥

अर्थः—ब्रू से परे हलादि पित् को ईट् का आगम हो ।

व्याख्या—ब्रुवः ।५।१। ईट् ।१।१ हलि ।७।१। ('उतो वृद्धिर्लुकि हलि' से) । पिति ।७।१। सार्वधातुके ।७।१। ('नाऽभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' से) । पञ्चमी-निर्देश के बलवान् होने के कारण 'सार्वधातुके' इस सप्तम्यन्त का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है । विशेषण होने के कारण 'हलि' और 'पिति' का भी तदनुसार 'हलः' और 'पितः' बना लिया जाता है । 'हलः' से तदादिविधि हो कर 'हलादेः पितः सार्वधातुकस्य' बन जाता है[1] । अर्थः—(ब्रुवः) ब्रू धातु से परे (हलादेः) हलादि (पित) पित् (सार्वधातुकस्य) सार्वधातुक का अवयव (ईट्) ईट् हो जाता है । टित् होने के कारण ईट् का आगम सार्वधातुक का आद्यवयव बनता है ।

'हलादि' इसलिये कहा है कि 'ब्रवाणि' में ईट् न हो जाये । 'पित्' इस लिये कहा है कि 'ब्रूतः' आदि में ईट् न हो ।

'ब्रू+ति' यहां ब्रू धातु से परे हलादि पित् सार्वधातुक 'ति' विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से उसे ईट् का आगम हो कर—ब्रू+ईति । अब 'सार्वधातुकार्धः०' (३८८) से गुण तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से ओकार को अवादेश करने पर 'ब्रवीति' प्रयोग सिद्ध होता है । द्विवचन में पित् न होने से ईट् का आगम नहीं होता, किञ्च 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित्त्व के कारण गुण भी नहीं होता—ब्रूतः । बहुवचन में अन्त् आदेश होकर—ब्रू+अन्ति, ङित्त्व के कारण गुण का निषेध है ही अतः 'अचि श्नु०' (१९९) से ऊकार को उवङ् आदेश करने पर 'ब्रुवन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है । म० पु० के एकवचन में—ब्रू+सि, यहां ईट् का आगम, गुण, अवादेश तथा प्रत्यय के अवयव सकार को षत्व करने पर—ब्रवीषि । द्विवचन में—ब्रूथः । यहां तक लँट् के परस्मैपद में ब्रू धातु के दो-दो रूप बनते हैं । इस से आगे 'ब्रुवः पञ्चानाम्०' (५९३) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । म० पु० के बहुवचन में—ब्रूथ । उ० पु० के एकवचन में—ब्रू+मि । ईट् का आगम, गुण तथा अवादेश हो कर—ब्रवीमि । द्विवचन और बहुवचन में ब्रवः, ब्रूमः । रूपमाला यथा—ब्राह-ब्रवीति, ब्राहतुः-ब्रूतः, ब्राहुः-ब्रुवन्ति । ब्रात्थ-ब्रवीषि, ब्राहथुः-ब्रूथः, ब्रूथ । ब्रवीमि, ब्रूवः, ब्रूमः ।

---

१. लघुकौमुदी तथा सिद्धान्तकौमुदी में प्रमादवश यहां 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति नहीं लाई गई । 'सार्वधातुके' का अनुवर्त्तन न करने से 'उवक्थ' में भी ईट् प्रसक्त होगा जो स्पष्टतः अनिष्ट है ।

(आत्मने०) में ङित्त्व के कारण कहीं गुण नहीं होता। पित् न होने से इट् भी कहीं नहीं होता। अजादि प्रत्ययों मे सर्वत्र उवङ् आदेश हो जाता है। रूपमाला यथा—ब्रूते, ब्रुवाते, ब्रुवते। ब्रूषे, ब्रुवाथे, ब्रूध्वे। ब्रुवे, ब्रूवहे, ब्रूमहे।

लिँट्—में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(५९६) ब्रुवो वचि ।२।४।५३ ॥

आर्धधातुके। उवाच, ऊचतु, ऊचु। उवचिथ-उवक्थ। ऊचे। वक्तासि, वक्तासे। वक्ष्यति, वक्ष्यते। ब्रवीतु, ब्रूतात्। ब्रुवन्तु। ब्रूहि। ब्रवाणि। ब्रूताम्। ब्रवै। अब्रवीत्, अब्रूत। ब्रूयात्, ब्रुवीत। उच्यात्, वक्षीष्ट ॥

अर्थ—आर्धधातुक की विवक्षा में ब्रू के स्थान पर वच् आदेश हो।

व्याख्या—ब्रुव ।६।१। वचि ।१।१। (चकारादिकार उच्चारणार्थ)। आर्धधातुके ।७।१। (विषयसप्तम्यन्तमधिकृतम्)। अर्थ.—(आर्धधातुके) आर्धधातुक की विवक्षा में (ब्रुवः) ब्रू के स्थान पर (वचि) वच् आदेश हो। अनेकाल् होने से वच् आदेश सम्पूर्ण ब्रू के स्थान पर किया जायेगा।

'ब्रू+लिँट्' यहां हमें 'लिँट् च' (४००) द्वारा आर्धधातुक प्रत्यय करने हैं अतः प्रकृतसूत्र से उन की विवक्षामात्र में वच् आदेश हो कर—वच्+लिँट्। अब परस्मै० के प्र० पु० के एकवचन में तिप्, णल् और द्वित्व करने पर—व+वच्+अ। 'लिँटयभ्यासस्योभयेषाम्' (५४६) से अभ्यास के वकार को उकार सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप तथा 'अत उपधाया' (४५५) से उपधावृद्धि करने पर 'उवाच' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन मे वच् आदेश होकर—वच्+अतुस्। अब यहां 'सम्प्रसारणं तदाश्रयञ्च कार्यं बलवत्' परिभाषा के अनुसार द्वित्व का बाध कर 'यचिस्वपि०' (५४७) से वकार को उकार सम्प्रसारण तथा 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप हो कर—उच्+अतुस्। द्वित्वादिकार्य तथा सवर्णदीर्घ करने पर 'ऊचतु' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार बहुवचन में—ऊचु। म० पु० के एकवचन में सिप् को थल् आदेश हो कर—वच्+थ। चकारान्त अनुदात्तों में पठित होने से वच धातु अनिट् है। क्रादिनियम से लिँट् में इट् प्रसक्त होता है परन्तु तास् में नित्य अनिट् होने के कारण 'उपदेशेऽजत्वत्' (४८१) से उस का निषेध हो जाता है। इस पर भारद्वाजनियम से विकल्प हो जाता है। इट्पक्ष में 'वच्+इथ' इस स्थिति में द्वित्व और अभ्यास को सम्प्रसारणादि करने पर—उवचिथ। इट् के अभाव में 'चो कुः' (३०६) द्वारा कुत्व करने से—उवक्थ। व और म में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। लिँट् परस्मै० में रूपमाला यथा—उवाच, ऊचतु, ऊचु। उवचिथ-उवक्थ, ऊचथुः, ऊच। उवाच-उवच, ऊचिव, ऊचिम।

(आत्मने०) में—वच्+त=वच्+एश्, 'वचिस्वपि०' (५४७) से सम्प्रसारण हो कर—उच्+ए। अब द्वित्वादि कार्य करने पर 'ऊचे' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये। लिँट् आत्मने० में रूपमाला यथा—ऊचे, ऊचाते, ऊचिरे। ऊचिषे, ऊचाथे, ऊचिध्वे। ऊचे, ऊचिवहे, ऊचिमहे।

लुँट्—के दोनों पदों में ब्रू को वच् आदेश हो कर 'चोः कुः' (३०६) से कुत्व हो जाता है। (परस्मै०) वक्ता, वक्तारौ, वक्तारः। वक्तासि—। (आत्मने०) वक्ता, वक्तारौ, वक्तारः। वक्तासे—। लृँट्—में भी वच् आदेश और कुत्व हो जाता है। (परस्मै०) वक्ष्यति, वक्ष्यतः, वक्ष्यन्ति। (आत्मने०) वक्ष्यते, वक्ष्येते, वक्ष्यन्ते।

लोँट्—परस्मै० में लँट् की तरह शलादि आदेश तथा आहादेश नहीं होता, क्योंकि 'ब्रुवः पञ्चानाम्०' (५९३) सूत्र में स्पष्टतः 'लँटः' की अनुवृत्ति आ रही है 'नोँटः' की नहीं। अतः लोँट् में अन्य सब कार्य लँट् की तरह हो कर पुनः लोँट् के अपने विशिष्ट कार्य भी हो जाते हैं। परस्मैपद में रूपमाला यथा—ब्रवीतु-ब्रूतात्[1], ब्रूताम्, ब्रुवन्तु। ब्रूहि-ब्रूतात्, ब्रूतम्, ब्रूत। ब्रवाणि[2], ब्रवाव, ब्रवाम। आत्मनेपद में कुछ विशेष नहीं। रूपमाला यथा—ब्रूताम्, ब्रुवाताम्, ब्रुवताम्। ब्रूष्व, ब्रुवाथाम्, ब्रूध्वम्। ब्रवै, ब्रवावहै, ब्रवामहै।

लँङ्—में कुछ विशेष नहीं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अब्रवीत्, अब्रूताम्, अब्रुवन्। अब्रवीः, अब्रूतम्, अब्रूत। अब्रवम्, अब्रूव, अब्रूम। तिप् और सिप् में ईट् का आगम हो जाता है। (आत्मने०) अब्रूत, अब्रुवाताम्, अब्रुवत। अब्रूथाः, अब्रुवाथाम्, अब्रूध्वम्। अब्रुवि, अब्रूवहि, अब्रूमहि।

वि० लिँङ्—(परस्मै०) ब्रूयात्, ब्रूयाताम्, ब्रूयुः आदि। (आत्मने०) ब्रुवीत, ब्रुवीयाताम्, ब्रुवीरन् आदि।

आ० लिँङ्—में तिङ् के आर्धधातुक होने से ब्रू को वच् आदेश हो जाता है। परस्मै० में यासुट् के कित् होने से 'वचिस्वपि०' (५४७) से सम्प्रसारण होकर 'उच्यात्' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। आत्मने० में 'वच्+सीय्+स्+त' इस स्थिति में कुत्व और षत्व करने पर 'वक्षीष्ट' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) उच्यात्, उच्यास्ताम्, उच्यासुः। (आत्मने०) वक्षीष्ट, वक्षीयास्ताम्, वक्षीरन्।

---

१. तातङ् के ङित् होने से गुण नहीं होता। 'पिच्च ङिन्न, ङिच्च पिन्न' इस वचन के अनुसार तिप्स्थानीय होता हुआ भी तातङ् पित् नहीं माना जाता अतः इसे 'ब्रुव ईट्' (५९५) से ईट् नहीं होता।

२. 'ब्रू+आनि' में आट् पित् है अतः गुण हो जाता है परन्तु हलादि न होने से ईट् का आगम नहीं होता।

लुंङ्—में वच् आदेश होकर परस्मै० में 'वच्+च्लि+त्' इस स्थिति में च्लि को सिच् प्राप्त होता है। इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम् (५६७) अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्योऽङ्। ३।१।५२॥

एभ्यश्च्लेरङ् स्यात्॥

अर्थ—अस् (फेंकना), वच् (बोलना) और ख्या (कहना) धातुओं से परे च्लि को अङ् आदेश हो।

व्याख्या—अस्यति-वक्ति ख्यातिभ्य ।५।३। अङ् ।१।१। च्लेः ।६।१। ('च्लेः सिच्' से)। कर्तरि ।७।१। ('शिति दुरुभ्य कर्तरि चङ्' से)। लुंङि ।७।१। ('च्लि लुंङि' से)। 'अस्यति' को श्यन् से निर्दिष्ट किया गया है अतः श्यन्विकरण दिवादिगणीय 'असु क्षेपणे' धातु ही यहां अभिप्रेत है। 'वक्ति' से 'वच परिभाषणे' धातु तथा 'वचो वचि' (५६६) वाले वच् आदेश दोनों का ग्रहण अभीष्ट है। 'ख्याति' से केवल 'लिटः ख्याञ्' (२।४।५४) वाले ख्याञ् आदेश का ग्रहण होता है 'ख्या प्रकथने' धातु का नहीं क्योंकि वह केवल सार्वधातुकविषयक है। अर्थ—(अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्यः) वच्, ख्या और दिवादिगणीय अस् धातु से परे (च्लेः) च्लि के स्थान पर (अङ्) अङ् आदेश हो (कर्तरि लुंङि) कर्तृवाचक लुंङ् परे हो तो[1]। अङ् में ङकारानुबन्ध 'आतो लोप इटि च' (४६६) आदि कार्यों के लिये जोड़ा गया है। 'च्लि' का 'ल्' मात्र अवशिष्ट रहता है उसी के स्थान पर अङ् आदेश किया जाता है। दिवादिगणीय अस् धातु परस्मैपदी है और पुषादियों में पढ़ी गई है अतः 'पुषादिद्युता०' (५०७) सूत्र से भी इस में च्लि को अङ् सिद्ध था इस का पुनर्ग्रहण 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम्' (वा०) द्वारा आत्मनेपद किये जाने पर अङ् विधानार्थ समझना चाहिये—पर्यास्यत, पर्यास्येताम्, पर्यास्यन्त। ख्या के उदाहरण—अख्यत् आदि हैं। वच् के उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं—

'वच्+ल् (च्लि)+त्' यहां वच् धातु से परे च्लि विद्यमान है, इस से परे कर्तृवाचक लुंङ् भी मौजूद है, अतः प्रकृतसूत्र से च्लि को अङ् आदेश हो गया तो—वच्+अङ्+त्। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(५६८) वच उम् ।७।४।२०॥

---

१ यहां सिद्धान्तकौमुदी तथा लघुकौमुदी में 'कर्तरि' का अनुवर्तन करना प्रमादवश छूट गया है। यह अङ् कर्तृवाच्य में ही होता है कर्मवाच्य में नहीं। अतः 'निरास्यिषातां बाणौ शूरेण, पर्यास्यिषातां गावौ वत्सेन, अवख्यातां वचने विदुषा' इत्यादि में कर्मवाच्य में यह अङ् आदेश न होगा।

अङि परे। अवोचत्, अवोचत। अवक्ष्यत्, अवक्ष्यत ॥

अर्थः—अङ् परे हो तो वच् को उम् का आगम हो।

व्याख्या—वचः ।६।१। उम् ।१।१। अङि ।७।१। ('ऋदृशोऽङि गुणः' से)। अर्थः—(अङि) अङ् परे हो तो (वचः) वच् का अवयव (उम्) उम् हो जाता है। उम् में मकार इत्संज्ञक है अतः मित् होने के कारण 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (२४०) के अनुसार यह वच् के अन्त्य अच् से परे होता है।

'वच्+अङ्+त्' यहां अङ् परे है अतः प्रकृतसूत्र से वच् को उम् का आगम होकर—व उम् च्+अङ्+त=व उ च्+अ+त। अव गुण तथा अङ्ग को अट् का आगम करने पर 'अवोचत्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी प्रक्रिया समझ लेनी चाहिये। आत्मनेपद में भी इसी प्रकार सिद्धि होती है। लुंङ् में रूपमाला यथा—(परस्मै०) अवोचत्, अवोचताम्, अवोचन्। अवोचः, अवोचतम्, अवोचत। अवोचम्, अवोचाव, अवोचाम। (आत्मने)० अवोचत, अवोचेताम्, अवोचन्त। अवोचथाः, अवोचेथाम्, अवोचध्वम्। अवोचे, अवोचावहि, अवोचामहि।

लृंङ्—में कुछ विशेष नहीं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अवक्ष्यत्, अवक्ष्यताम्, अवक्ष्यन्। (आत्मने०) अवक्ष्यत, अवक्ष्येताम्, अवक्ष्यन्त।

[लघु०] गण-सूत्रम्—— चर्करीतञ्च ॥

चर्करीतम् इति यङ्लुगन्तस्य सञ्ज्ञा[1], तद् अदादौ बोध्यम् ॥

अर्थः—चर्करीत अर्थात् यङ्लुगन्त धातु को भी अदादिगण में पढ़ना चाहिये।

व्याख्या—पाणिनीय धातुपाठ के अदादिगण में यह वचन पढ़ा गया है। इस का अभिप्राय यह है कि 'चर्करीत' को अदादिगण में गिना जाये। पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्य यङ्लुगन्त धातु को 'चर्करीत' कहते थे[2], पाणिनि ने भी अपने समय में प्रसिद्ध उसी सञ्ज्ञा का उसी अर्थ में यहां प्रयोग किया है। यङ्लुगन्त धातुओं

---

१. नेयं यङ्लुगन्तस्य सञ्ज्ञा, अपि तु यङ्लुक एव, अत एव 'किरति चर्करीतान्तम्' (७.४.६२) इति भाष्यप्रयोगः संगच्छते। अत्र सामर्थ्यादेव यङ्लुगन्तस्य ग्रहणं बोध्यम्।

२. प्राचीन आचार्य ण्यन्त को कारित', सन्नन्त को 'चिकीर्षित', यङन्त को 'चेक्रीयित' तथा यङ्लुगन्त को 'चर्करीत' नामों से पुकारते थे। कारण कि तत्तत्प्रक्रियाओं में कृधातु का रूप वैसा बनता है। कृधातु क्रियासामान्यवाची होने से बहुत प्रसिद्ध है, अतः उसी से संकेत किया जाता है।

का अदादिगण में परिगणन इस लिये किया गया है कि इन से परे 'अविप्रभृतिभ्य शप' (५५२) द्वारा शप् का लुक् किया जा सके[1]। आगे यङ्लुगन्तप्रक्रिया में 'बोभोति, बोभूत' आदि प्रयोगों की सिद्धि में शप् का लुक् किया जायेगा, इस का स्पष्टीकरण और सिद्धि यङ्लुगन्तप्रक्रिया में देखें।

[लघु०] ऊर्णुञ् आच्छादने ॥२५॥

अर्थ—ऊर्णुञ् (ऊर्णु) धातु 'ढांपना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ऊर्णु धातु का वेद में कई स्थानों पर प्रयोग पाया जाता है परन्तु लोक में इस का प्रयोग अत्यन्त विरल है। लक्षणैकचक्षुष् भट्टि ने इस का पर्याप्त प्रयोग किया है। संस्कृत के ऊर्णा (ऊन), ऊर्णायु (ऊनी), ऊरु (पट्टू), उरु (बड़ा) प्रभृति शब्द इसी धातु से बनते हैं। हिन्दीशब्दसागर में हिन्दी के ओढ़ना शब्द का मूल संस्कृत का उपवेष्टन (उपवेष्टन>ओवेड्ढन) शब्द दिया गया है, परन्तु हमें यह क्लिष्ट कल्पना प्रतीत होती है। हमारे विचार मे इस का मूल ऊर्णु धातु को ही मानना उचित है। ञित् होने से यह धातु उभयपदी तथा अनेकाच् होने से सेट् है।

लँट्—परस्मै० प्र० पु० के एकवचन मे शप्लुक् होकर 'ऊर्णु+ति' इस स्थिति में गुण का बाधकर 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (५६६) से नित्य वृद्धि प्राप्त होती है। इस पर वृद्धि का विकल्प विधान करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(५६६) ऊर्णोतेर्विभाषा ।७।३।९०॥

या वृद्धि स्याद् हलादौ पिति सार्वधातुके। ऊर्णोति-ऊर्णोति, ऊर्णुत, ऊर्णुवन्ति। ऊर्णुते, ऊर्णुवाते, ऊर्णुवते॥

अर्थ—हलादि पित् सार्वधातुक परे होने पर ऊर्णुञ् धातु को विकल्प से वृद्धि हो।

व्याख्या—ऊर्णोति ।६।१। विभाषा ।१।१। वृद्धि ।१।१। हलि ।७।१। ('उतो वृद्धिर्लुकि हलि' से)। पिति ।७।१। सार्वधातुके ।७।१। ('नाऽभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' से)। 'हलि' यह 'सार्वधातुके' का विशेषण है अत इस से तदादिविधि होकर 'हलादौ सार्वधातुके' बन जाता है। अर्थ—(ऊर्णोति) ऊर्णु धातु के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से (वृद्धि) वृद्धि हो जाती है (हलादौ पिति सार्वधातुके) हलादि पित् सार्वधातुक परे हो तो। लँट्, लोँट्, लँङ् और विधिलिँङ् के तिप्-तिप्-मिप् मे

---

१ अत एव 'बाभाषते, वरीवर्तते, जरीजृम्भन्ते' आदि प्रयोग ठीक नहीं। यदि ये यङन्त हैं तो 'बाभास्यते, वरीवृत्यते, जरीजृम्भ्यते' आदि होने चाहियें। यदि ये यङ्लुक् के हैं तो शप् का लुक् होकर परस्मैपदी ही रूप 'बाभासीति-बाभास्ति, वरीवर्ति, जरीजृम्भति' आदि रखने चाहियें।

तीन हलादि पित् सार्वधातुक होते हैं। विधिलिङ् के सिवाय अन्यत्र इन के परे रहते ऊर्णु के अन्त्य अल्-ऊकार को विकल्प से वृद्धि हो जाती है। पक्ष में 'सार्वधातुकार्धः' (३८८) से गुण हो जाता है। इस प्रकार 'ऊर्णौति, ऊर्णोति' इत्यादिप्रकारेण दो दो रूप बनते हैं। तस् आदि में पित् न होने से यह वृद्धि तो हो नहीं सकती, सार्वधातुक गुण प्राप्त होता है। परन्तु 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङिद्वद्भाव के कारण उस का भी निषेध हो जाता है—ऊर्णुतः। झि में अन्त् आदेश होकर 'अचि श्नु०' (१९९) से उवँङ् हो जाता है—ऊर्णुवन्ति। इसी प्रकार आगे भी। आत्मने० में कोई भी प्रत्यय पित् नहीं होता अतः कहीं भी वृद्धि नहीं होती। अपित् होने से ङिद्वद्भाव के कारण गुण का भी निषेध हो जाता है। अजादियों में सर्वत्र उवँङ् आदेश हो जाता है। दोनो पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०)ऊर्णौति-ऊर्णोति, ऊर्णुतः, ऊर्णुवन्ति। ऊर्णौषि-ऊर्णोषि, ऊर्णुथः, ऊर्णुथ। ऊर्णौमि—ऊर्णोमि, ऊर्णुवः, ऊर्णुमः। (आत्मने०) ऊर्णुते, ऊर्णुवाते, ऊर्णुवते। ऊर्णुषे, ऊर्णुवाथे, ऊर्णुध्वे। ऊर्णुवे, ऊर्णुवहे, ऊर्णुमहे।

लिट्—में ऊर्णुञ् धातु से 'इजादेश्च गुरु०' (५११) द्वारा अथवा 'कास्यनेकाच आम्०' (वा० ३४) द्वारा आम् प्रत्यय प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम वार्तिक से उस का निषेध करते हैं—

[लघु०] वा०—(३६) ऊर्णोतेराम् नेति वाच्यम् ॥

अर्थः—ऊर्णुञ् धातु से आम् नहीं होता—ऐसा कहना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्त्तिक महाभाष्यस्थ (३.१.२२) एक कारिका का अर्थानुवाद है। वह कारिका इस प्रकार है—

वाच्य ऊर्णोर्नुवद्भावो यङ्प्रसिद्धिः प्रयोजनम्।
आमश्च प्रतिषेधार्थम् एकाचश्चेडुपग्रहात् ॥

अर्थात् ऊर्णु धातु को 'नु' धातु के समान समझना चाहिये। जिस से तीन कार्य सिद्ध हो जायें। (१) यङ्; 'धातोरेकाचो हलादेः०' (७११) द्वारा एकाच् हलादि धातु से परे यङ् प्रत्यय का विधान किया जाता है अतः अजादि अनेकाच् होने के कारण यह ऊर्णुञ् से प्राप्त नहीं होता। परन्तु अब इसे नुवत् मान कर वह हो जायेगा—ऊर्णोनूयते। (२) आम् का निषेध; इजादि गुरुमान् होने से ऊर्णुञ् से लिट् में आम् प्रसक्त होता है, परन्तु नुवद्भाव के कारण एकाच् मानने से उस का निषेध हो जाता है। (३) इडुपग्रह—इट् का निषेध; 'अचुकः किति' (६५०) द्वारा एकाच् धातु से परे गित् कित् प्रत्ययों को इट् का निषेध कहा गया है, परन्तु ऊर्णुञ् धातु अनेकाच् है अतः इस से परे इट् का निषेध प्राप्त नहीं था, अब नुवद्भाव के कारण ऊर्णुञ् एकाच् हो जाती है इसलिये इस से परे इट् का निषेध हो जाता है—ऊर्णुतः (क्त), ऊर्णुतवान् (क्तवतुँ)।

इस प्रकार ऊर्णुञ् धातु से लिट् के दोनों पदों में आम् का निषेध हो जाता है। अब परस्मै० प्र० पु० के एकवचन में 'ऊर्णु+अ(णल्)' इस स्थिति में 'लिटि धातो०' (३९४) से द्वित्व करना है, यह द्वित्व धातु के अजादि होने के कारण द्वितीय एकाच् भाग को होना है। यहां 'ऊर्णु' मे द्वितीय एकाच्भाग 'र्णु' है अत इसे द्वित्व प्रसक्त होता है। परन्तु रेफ को द्वित्व करना अभीष्ट नहीं इसलिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(६००) न न्द्रा संयोगादयः ।६।१।३॥

अच परा संयोगादयो नदरा द्विर्न भवन्ति। नुशब्दस्य द्वित्वम्—ऊर्णुनाव, ऊर्णुनुवतुः, ऊर्णुनुवुः ॥

अर्थ—अच् से परे संयोग के आदि नकार, दकार और रेफ को द्वित्व नहीं होता। नुशब्दस्य०—इस प्रकार 'नु' शब्द को ही द्वित्व होता है।

व्याख्या—न इदयव्ययपदम्। न्द्रा ।१।३। संयोगादयः ।१।३। अजादे ।५।१। ('अजादेर्द्वितीयस्य' से)। द्वे ।१।२। ('एकाचो द्वे प्रथमस्य' से)। 'अजादे' में कर्म-धारय समास है बहुव्रीहि नहीं; अञ्चासौ आदिश्च अजादि, तस्माद् अजादे। इस का विवेचन पीछे (३९४) सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें। अर्थ—(अजादे) आदि-भूत अच् से परे (संयोगादयः) संयोग के आदि में स्थित (न्द्रा) न्, द् और रेफ (द्वे न) द्वित्व नहीं होते। यथा—

न् का उदाहरण—(उन्द्) उन्दिदिषति। यहां पर 'सन्यङो' (७०९) से न्दिष् को द्वित्व होना था, परन्तु संयोगादि नकार का निषेध होकर 'दिष्' मात्र को द्वित्व हुआ है।

द् का उदाहरण—(अद्द्) अद्दिदिषति। यहां पर 'द्दिष्' को द्वित्व होना था परन्तु संयोगादि दकार का निषेध होकर 'दिष्' मात्र को द्वित्व हुआ है।

र् का उदाहरण—'ऊर्णु+अ' यहां ऊकार आदिभूत अच् है अतः इस से परे संयोग (र्+ण्) के आदि में रेफ के द्वित्व का निषेध होकर 'नु' भाग को ही द्वित्व होगा। ध्यान रहे कि 'र्णु' में रेफ के कारण ही नकार को 'रषाभ्यां नो ण०' (२६७) से णकार हुआ था (इस के लिये पीछे पृष्ठ २५० पर टिप्पण देखें), द्वित्व की दृष्टि में णत्व असिद्ध है अत 'नु' को ही द्वित्व हुआ—ऊर्+नु+नु+अ। अब उकार को ओकार वृद्धि, आवादेश तथा नकार को णकार करने पर 'ऊर्णुनाव' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में—ऊर्णु+अतुस्। नु भाग को द्वित्व होकर—ऊर्+नु+नु+अतुस्। 'असंयोगाल्लिट् कित्' (४५२) द्वारा लिट् के कित् होने के कारण गुण का निषेध होकर 'अचि श्नु०' (१९९) से उवङ् आदेश करने पर—ऊर्णुनुवतुः। इसी प्रकार बहु-वचन में—ऊर्णुनुवुः।

म० पु० के एकवचन सिप् को थस् आदेश होकर—ऊर्णु+थ। ऊर्णु धातु

अनेकाच् होने से सेट् है अतः इस से परे थल् को इट् का आगम करने पर—ऊर्णु+इथ। नु को द्वित्व—ऊर्+नु+नु+इथ। अब यहां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'(३८८) से आर्धधातुकनिमित्तक गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(६०१) विभाषोर्णोः ।१।२।३॥

इडादिप्रत्ययो वा ङित् स्यात्। ऊर्णुनुविथ-ऊर्णुनविथ। ऊर्णुविता-ऊर्णविता। ऊर्णुविष्यति-ऊर्णविष्यति। ऊर्णोतु-ऊर्णोतु। ऊर्णवानि। ऊर्णवै।

अर्थः—ऊर्णुञ् धातु से परे इडादि प्रत्यय विकल्प से ङित् हों।

व्याख्या—विभाषा ।१।१। ऊर्णोः ।५।१। इट् ।१।१। ('विज इट्' से) ङित्। १।१। ('गाङ्कुटादि०' से)। इट् का आगम प्रत्यय के विना नहीं हो सकता अतः 'प्रत्ययः' का अध्याहार कर इट् को उस का विशेषण बना कर तदादिविधि करने से 'इडादिः प्रत्ययः' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(ऊर्णोः) ऊर्णु धातु से परे (इट्—इडादिः प्रत्ययः) इडादि प्रत्यय (विभाषा) विकल्प से (ङित्) ङित् अर्थात् ङिद्वत् हो।

'ऊर्णु+इथ' यहां पर 'इथ' यह इडादिप्रत्यय प्रकृतसूत्र से विकल्प कर ङिद्वत् हो गया। ङित्वपक्ष में 'क्ङिति च' (४३३) से गुण का निषेध हो जाता है, तब उवँङ् आदेश हो कर—ऊर्णुनुविथ। जिस पक्ष में ङिद्वत् नहीं होता वहां गुण हो कर अवादेश हो जाता है—ऊर्णुनविथ। इस प्रकार 'ऊर्णुनुविथ-ऊर्णुनविथ' दो रूप सिद्ध होते हैं। उ० पु० के व और म प्रत्यय भी इडादि होने से यद्यपि विकल्प कर के ङित् हो जाते हैं तथापि वहां 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से कित्त्व के कारण गुण नहीं हो पाता। अतः वहां एक-एक रूप ही बनता है दो-दो नहीं। लिँट् परस्मै० में रूपमाला यथा—ऊर्णुनाव, ऊर्णुनुवतुः, ऊर्णुनुवुः। ऊर्णुनुविथ-ऊर्णुनविथ, ऊर्णुनुवथुः, ऊर्णुनुव। ऊर्णुनाव-ऊर्णुनव, ऊर्णुनुविव, ऊर्णुनुविम। आत्मनेपद में—से, ध्वे, वहे और महे स्थानों पर इट् का आगम हो जाता है परन्तु वहां 'विभाषोर्णोः' (६०१) द्वारा वैकल्पिक ङित्त्व का कुछ लाभ नहीं होता क्योंकि 'असंयोगाल्लिँट् कित् (४५२) से नित्य कित्त्व के कारण कहीं गुण नहीं हो सकता (यहां पर प्रायः रूपावलियों के लेखक भ्रान्त हैं उन से सावधान रहना चाहिये)। लिँट् आत्मने० में रूपमाला यथा—ऊर्णुनुवे, ऊर्णुनुवाते, ऊर्णुनुविरे। ऊर्णुनुविषे, ऊर्णुनुवाथे, ऊर्णुनुविढ्वे-ऊर्णुनुविध्वे (विभाषेटः ५२७)। ऊर्णुनुवे, ऊर्णुनुविवहे, ऊर्णुनुविमहे।

लुँट्—में भी इडादिप्रत्यय विकल्प से ङित् हो जाते हैं। ङित्वपक्ष में उवँङ् तथा तदभाव में गुण-अवादेश करने पर दो दो रूप बन जाते हैं। (परस्मै०) ङित्वपक्षे—ऊर्णुविता, ऊर्णुवितारौ, ऊर्णुवितारः। ऊर्णुवितासि—। ङित्त्वाभावे—ऊर्णविता, ऊर्णवितारौ, ऊर्णवितारः। ऊर्णवितासि—। (आत्मने०) ङित्वपक्षे—ऊर्णुविता,

ऊर्णुवितारौ, ऊर्णुवितारः । ऊर्णुवितासे—। डित्त्वाभावे—ऊर्णविता, ऊर्णवितारौ, ऊर्णवितार॰ । ऊर्णवितासे—।

लृट्—में भी लुट् की तरह दो दो रूप बनते हैं। (परस्मै०) डित्त्वपक्षे—ऊर्णुविष्यति, ऊर्णुविष्यत, ऊर्णुविष्यन्ति । डित्त्वाभावे—ऊर्णविष्यति, ऊर्णविष्यत॰, ऊर्णविष्यन्ति । (आत्मने०) डित्त्वपक्षे—ऊर्णुविष्यते, ऊर्णुविष्येते, ऊर्णुविष्यन्ते। डित्त्वाभावे—ऊर्णविष्यते, ऊर्णविष्येते, ऊर्णविष्यन्ते ।

लोट्—परस्मै० प्र० पु० के एकवचन तिप् में 'ऊर्णोतेर्विभाषा' (५९९) से वैकल्पिक वृद्धि हो जाती है—ऊर्णोतु-ऊर्णोतु। तातङ् के ङित् होने से 'ङिच्च पित्' के अनुसार वह पित् नही रहता अत वृद्धि नही होती। गुण का भी ङित्त्व के कारण निषेध हो जाता है—ऊर्णुतात्। म० पु० के एकवचन मे सिप्स्थानीय 'हि' को अपित् माना गया है अत वृद्धि नही होती—ऊर्णुहि। ध्यान रहे कि यहा न तो प्रत्यय का उकार है और न ही असयोगपूर्व अत 'उतश्च प्रत्ययादसयोगपूर्वात्' (५०३) से हि का लुक् नही होता। उ० पु० मे आट् का आगम पित् तो है पर हलादि नहीं अत वृद्धि नहीं होती गुण-अवादेश हो जाता है—ऊर्णवानि । परस्मै० में रूपमाला यथा—ऊर्णोतु ऊर्णोतु ऊर्णुतात्, ऊर्णुताम्, ऊर्णुवन्तु । ऊर्णुहि-ऊर्णुतात्, ऊर्णुतम्, ऊर्णुत । ऊर्णवानि, ऊर्णवाव ऊर्णवाम। (आत्मने०) में कुछ विशेष नहीं, रूपमाला यथा—ऊर्णुताम् ऊर्णुवाताम्, ऊर्णुवताम् । ऊर्णुष्व, ऊर्णुवायाम्, ऊर्णुध्वम् । ऊर्णवै, ऊर्णवावहै, ऊर्णवामहै ।

लङ्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन मे शन्लुक् हो कर—ऊर्णु+त् । अब तिप् के हलादि पित् सार्वधातुक होने से 'ऊर्णोतेर्विभाषा' (५९९) द्वारा वैकल्पिक वृद्धि प्राप्त होती है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६०२) गुणोऽपृक्ते ।७।३।९१॥

ऊर्णोतेर्गुणोऽपृक्ते हलादौ पिति सार्वधातुके । वृद्ध्यपवाद॰ । और्णोत्। और्णो । ऊर्णुयात्। ऊर्णुया । ऊर्णुवीत । ऊर्णुयात् । ऊर्णुविषीष्ट-ऊर्णविषीष्ट ॥

अर्थ—अपृक्त हलादि पित् सार्वधातुक परे हो तो ऊर्णु को गुण हो। यह सूत्र वृद्धि (५९९) का अपवाद है।

व्याख्या—गुण ।१।१। अपृक्ते ।७।१। वृद्धि ।१।१। हलि ।७।१। ('अतो वृद्धिर्लुकि हलि' से)। पिति ।७।१। सार्वधातुके ।७।१। ('नाऽभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' से)। ऊर्णोते ।६।१। ('ऊर्णोतेर्विभाषा' से) । अर्थ—(ऊर्णोति) ऊर्णु धातु के स्थान पर (गुण) गुण हो जाता है (अपृक्ते हलि पिति सार्वधातुके) अपृक्त हलादि पित् सार्वधातुक परे हो तो। 'अपृक्त एकाल्प्रत्यय' (१७८) द्वारा एकाल्प्रत्यय की

अपृक्तसंज्ञा कही गई है। हलादि पित् सार्वधातुकों में केवल तिप् और सिप् के तकार और सकार ही अपृक्त हैं। अतः इन के परे रहते 'ऊर्णोतेर्विभाषा' (५९९) से प्राप्त वैकल्पिक वृद्धि का बाध कर प्रकृतसूत्र से केवल गुण ही किया जायेगा।

'ऊर्णु+त्' यहां 'त्' यह अपृक्त हलादि पित् सार्वधातुक परे है अतः ऊर्णु के अन्त्य उकार को प्रकृतसूत्र से गुण हो कर अङ्ग को आट् का आगम और 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि करने पर 'और्णोत्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार म० पु० के एकवचन सिप् (स्) में—और्णोः। उ० पु० के एकवचन मिप् को अम् आदेश हो जाता है, अतः वहां हलादि न होने से वैकल्पिक वृद्धि तथा अपृक्त न होने से प्रकृतगुण की प्राप्ति ही नहीं होती, साधारण सार्वधातुकगुण हो कर—और्णवम्। लँङ् के परस्मैपद में रूपमाला यथा—और्णोत्, और्णुताम्, और्णुवन्। और्णोः, और्णुतम्, और्णुत। और्णवम्, और्णुव, और्णुम।

लँङ् के आत्मने० में पित् के न होने से न तो वृद्धि प्राप्त होती है और न ही प्रकृतसूत्र से गुण। 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा ङिदत् हो जाने से सार्वधातुकगुण भी नहीं होता। रूपमाला यथा—और्णुत, और्णुवाताम्, और्णुवत। और्णुथाः, और्णुवाथाम्, और्णुध्वम्। और्णुवि, और्णुवहि, और्णुमहि।

विधिलिङ्—(परस्मै०) में यासुट् ङित् है अतः 'ङिच्च पिन्न' के अनुसार वह पित् नहीं हो सकता। इस से 'ऊर्णोतेर्विभाषा' (५९९) द्वारा वैकल्पिक वृद्धि न होगी। ङित्त्व के कारण सार्वधातुकगुण का भी निषेध हो जायेगा। परस्मैपद में रूपमाला यथा—ऊर्णुयात्, ऊर्णुयाताम्, ऊर्णुयुः आदि। (आत्मने०) में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित्त्व के कारण गुण का निषेध हो कर उवँङ् आदेश हो जाता है। रूपमाला यथा—ऊर्णुवीत, ऊर्णुवीयाताम्, ऊर्णुवीरन् आदि।

आ० लिङ्—(परस्मै०) में 'अकृत्सार्व०' (४८३) से सर्वत्र दीर्घ हो जाता है—ऊर्णूयात्, ऊर्णूयास्ताम्, ऊर्णूयासुः आदि। (आत्मने०) में इट् का आगम हो कर 'ऊर्णु+इ+सीय्+स्+त' इस अवस्था में 'विभाषोर्णोः' (६०१) से इडादि-प्रत्यय (इसीयुत्) विकल्प से ङित् हो जाता है। ङित्पक्ष में गुण का निषेध हो कर उवँङ् हो जाता है। ङित्त्वाभाव में सर्वत्र आर्धधातुकगुण हो जाता है। रूपमाला यथा—(ङित्त्वपक्षे) ऊर्णुविषीष्ट, ऊर्णुविषीयास्ताम्, ऊर्णुविषीरन्। (ङित्त्वाभावे) ऊर्णविषीष्ट, ऊर्णविषीयास्ताम्, ऊर्णविषीरन्।

लुँङ्—(परस्मै०) में इट् का आगम हो कर 'ऊर्णु+इस्+ईत्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६०३) ऊर्णोतेर्विभाषा[1] ।७।२।६॥

इडादौ सिंचि वा वृद्धि. परस्मैपदे परे । पक्षे गुण । और्णावीत्, और्णुवीत्, और्णवीत् । और्णाविष्टाम्, और्णुविष्टाम्, और्णविष्टाम् । और्णुविष्ट, और्णविष्ट । और्णुविष्यत्, और्णविष्यत् । और्णुविष्यत और्णविष्यत ॥

अर्थ —परस्मैपद परे होने पर जो इडादि सिंच् उस के परे रहते ऊर्णु धातु को विकल्प से वृद्धि हो ।

व्याख्या—ऊर्णोतेः ।६।१। विभाषा ।१।१। सिंचि ।७।१। वृद्धि ।१।१। परस्मैपदेषु ।७।३। ('सिंचि वृद्धि परस्मैपदेषु' से)। इटि ।७।१। ('नेटि' से) । अर्थ — (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्ययों के परे रहते (इटि=इडादौ, सिंचि) जो इडादि सिंच्, उस के परे होने पर (ऊर्णोतेः) ऊर्णु के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से (वृद्धि) वृद्धि हो जाती है। 'इको गुणवृद्धी' (१ १ ३) तथा अलोऽन्त्यपरिभाषा से ऊर्णु के अन्त्य उकार के स्थान पर विकल्प से औकार वृद्धि होगी।

'ऊर्णु+इस्+ईत्' यहां प्रकृतसूत्र से उकार को वैकल्पिक औकार वृद्धि हो कर अङ्ग को आट् आदि कार्य करने पर 'और्णावीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। वृद्धि के अभाव मे 'विभाषोर्णोः' (६०१) से वैकल्पिक डित्त्व हो जाता है। डित्त्वपक्ष में आर्धधातुक-गुण का निषेध हो कर उवँङ् आदेश हो जाता है—और्णुवीत् । डित्त्वाभाव में आर्धधातुकगुण करने पर—और्णवीत् । इस प्रकार लुंङ् के परस्मैपद मे प्रत्येक वचन मे तीन तीन रूप बनते चले जायेंगे । रूपमाला यथा—(वृद्धिपक्षे) और्णावीत्, और्णाविष्टाम्, और्णाविषुः । (वृद्धयभावे) डित्त्वपक्षे—और्णुवीत्, और्णुविष्टाम्, और्णुविषुः । डित्त्वाभावे—और्णवीत्, और्णविष्टाम्, और्णविषुः ।

(आत्मने०) मे 'विभाषोर्णोः' (६०१) से इडादि प्रत्यय (इस्) विकल्प से डित् हो जाता है । डित्पक्ष में उवँङ् तथा डित् के अभाव में गुण हो जाता है । रूपमाला यथा—(डित्त्वपक्षे) और्णुविष्ट, और्णुविषाताम्, और्णुविषत । (डित्त्वाभावे) और्णविष्ट, और्णविषाताम्, और्णविषत ।

लृँङ्—के दोनों पदो मे इडादिप्रत्यय विकल्प से डित् हो जाता है। डित्त्वपक्ष मे उवँङ् तथा डित्त्वाभाव मे गुण हो जाता है । रूपमाला यथा—(परस्मै०) डित्त्व-पक्षे—और्णुविष्यत्, और्णुविष्यताम्, और्णुविष्यन् । डित्त्वाभावे—और्णविष्यत्, और्ण-

---

१ यह सूत्र इस ग्रन्थ मे तथा अष्टाध्यायी मे दो भिन्न भिन्न स्थानों पर पढ़ा गया है। दोनों स्थानों पर विकल्प से वृद्धि कही गई है। एक (५९९) हलादि पित् सार्वधातुक में वृद्धि का विधान करता है और दूसरा (६०३) इडादि सिंच् परस्मैपद में। दोनो सूत्रों के विषय का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिये ।

दिष्यताम्, और्णदिष्यन् । (आत्मने०) ङित्त्वपक्षे—और्णुदिष्यत, और्णुदिष्येताम्, और्णुदिष्यन्त । ङित्त्वाभावे—और्णदिष्यत, और्णदिष्येताम्, और्णदिष्यन्त ।

उपसर्गयोग—काशिका आदि प्राचीन ग्रन्थों में तथा भट्टिकाव्य में इस धातु का प्रपूर्वक प्रयोग ही देखा जाता है ।

## अभ्यास (८)

(१) 'चकरीत' किस की सञ्ज्ञा है और इस का किस गण में पाठ माना गया है ? सप्रयोजन विवेचन करें ।

(२) अलीढ, अदुग्ध, और्णुत, अवोचत, अधूत, धूताम्, और्णुविष्यत, और्णुविष्ट—ये रूप कहां कहां एक समान बनेंगे ?

(३) 'शल इगुपधादनिटः क्सः' में 'अनिटः' को 'धातोः' का विशेषण क्यों नहीं बनाते ?

(४) उत्तर दीजिये—

(क) 'उच्यात्' की तरह 'वक्षीष्ट' में सम्प्रसारण क्यों नहीं होता ?

(ख) 'अस्यतिवक्ति०' सूत्र में 'कर्तरि' का अनुवर्त्तन क्यों आवश्यक है ?

(ग) 'और्णोत्' में 'ऊर्णोति' की तरह वृद्धि क्यों नहीं होती ?

(घ) 'ऊर्णोतेराम् नेति वाच्यम्' वार्त्तिक का क्या आधार है ?

(ङ) 'अदुह्वहि' और 'अदुह्महि' में कौन सा रूप शुद्ध और कौन सा रूप अशुद्ध है ? लँङ् और लुँङ् दोनों की दृष्टि से विचार करें ।

(५) समाधान कीजिये—

(क) 'आत्य' में थल् को इट् का आगम क्यों नहीं होता ?

(ख) 'अधीते' और 'पठति' के अर्थों में क्या अन्तर है ?

(ग) 'ऊर्णुहि' में हि का लुक् क्यों नहीं होता ?

(घ) 'धूतात्' में ईट् का आगम क्यों नहीं होता ?

(ङ) 'लुग्वा दुह०' सूत्र में 'दन्त्ये' से दन्तोष्ठ्य वकार कैसे गृहीत होता है ?

(६) निम्न धातुओं की लँट्, लोँट्, लँङ्, और लुँङ् में रूपमाला लिखें—
दुह्, ब्रू, लिह्, विह्, इङ्, शीङ्, ऊर्णुञ् ।

(७) 'पुषादिद्युतादि०' द्वारा सिद्ध होने पर भी 'अस्यतिवक्ति०' मे 'अस्यति' से पुनः अङ्विधान क्यों किया गया है ?

(८) सब वैकल्पिक रूपों का निर्देश करते हुए सनूत्र सिद्धि करें—
अध्यगीष्ट ; ब्रवीति; और्णवीत्; दुग्धः; लीढः; अवोचत्; धोक्षि; आत्थ; अध्यर्यै; अधोक्; शेरते; अधिजगे; ऊर्णुनाव; ऊचतुः; शिश्ये; अधीयते; अधुक्षत; अधुक्षाताम्; लीढि ।

(६) सोदाहरण सूत्रों की व्याख्या करें—

ऊर्णोतेर्विभाषा (दोनों), लुग्वा दुहदिह०, दाश इगुप०, न म्रा सयोगादय, घुमास्था०, गुणोऽपृक्ते, लिङ्सिचावात्मने०; क्सस्याचि।

## इति तिङन्तेऽदादयः

(यहा पर अदादिगण की धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)



## अथ तिङन्ते जुहोत्यादयः

अब तिङन्तप्रकरण में जुहोत्यादिगण की धातुओं का निरूपण किया जाता है। जुहोत्यादिगण की प्रथम धातु 'हु' है, इस से 'हक्षितपौ धातुनिर्देशे' वार्त्तिक के अनुसार श्तिप् प्रत्यय करने पर लँड्वत् 'जुहोति' रूप बनता है। जुहोतिर् (हुधातु) वादिर्येषां ते जुहोत्यादय। कहीं कहीं इसे ह्वादिगण भी कहा जाता है।

[लघु०] हु दानाऽदनयो. ॥१॥

अर्थ—हु धातु दान और भक्षण' अर्थों मे प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यहा 'दान' का अर्थ देवताओं के उद्देश्य से यज्ञ में विधिपूर्वक हवि आदि के देने से है, साधारण दान (देना) अर्थ विवक्षित नही। कई लोग इस का अर्थ आदान=ग्रहण करना और प्रीणन=प्रसन्न करना भी मानते हैं। हविष्, होम, होत्र, होतृ, आहुति आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं। आत्मनेपद के निमित्तों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी है।

लँट्—हु धातु से प्र० पु० के एकवचन में तिप् प्रत्यय आ कर 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् किया तो 'हु+शप्+ति' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६०४) जुहोत्यादिभ्य श्लुः ।२।४।७५॥

शप श्लु स्यात्॥

अर्थ—हु आदि धातुओं से परे शप् का श्लु (अदर्शन) हो।

व्याख्या जुहोत्यादिभ्य ।५।३। शप ।६।१। ('अदिप्रभृतिभ्य शपः' से) श्लु ।१।१। अर्थ—(जुहोत्यादिभ्य) हु आदि धातुओं से परे (शप) शप् का (श्लु) श्लु हो जाता है। 'प्रत्ययस्य लुक् श्लु-लुप' (१८६) द्वारा प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक् श्लु और लुप् तीन सज्ञाए की जा चुकी हैं। अत हु आदि धातुओं से परे शप् का अदर्शन हो जाता है—यह अर्थ फलित होता है। श्लुसज्ञा का प्रयोग 'श्लौ' (६०५) आदि सूत्रों द्वारा द्वित्व आदि कार्यों के लिये किया गया है।

'हु+शप्+ति' यहां शप् का श्लु हो कर—हु+ति । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६०५) श्लौ ।६।१।१०॥

धातोर्द्वे स्तः । जुहोति । जुहुतः ॥

अर्थः—श्लु परे होने पर धातु को द्वित्व हो ।

व्याख्या—श्लौ ।७।१। धातोः ।६।१। ('सिचि धातोः०' से)द्वे ।१।२। ('एकाचो द्वे प्रथमस्य' से)। अर्थः—(श्लौ) श्लु परे होने पर (धातोः) धातु के (द्वे) दो रूप हो जाते हैं[1] ।

'हु+ति' यहां श्लु परे है अतः प्रकृतसूत्र से हु को द्वित्व हो जाता है—हु+हु+ति । अब पूर्व की अभ्याससंज्ञा, 'कुहोश्चुः' (४५४) से अभ्यास के हकार को धकार तथा 'अभ्यासे चर्च' (२९९) से धकार को जश्त्व-अकार कर—जु+हु+ति । 'सार्वधातुकार्ध०' (३८८) से तिप्-सार्वधातुक को मान कर हु के उकार को ओकार गुण करने पर 'जुहोति' रूप सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि श्लु हुए शप् को 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१९०) द्वारा मान कर तन्निमित्तक गुण नहीं किया जा सकता, 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) सूत्र निरोध करता है । द्विवचन में शप् का श्लु और 'श्लौ' से द्वित्व करने पर—जुहुतः । यहां 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से तस् के ङित्वत् हो जाने से गुण का निषेध समझना चाहिये ।

प्र० पु० के बहुवचन में 'जुहु+झि' इस स्थिति में 'झोऽन्तः' (३८६) सूत्र से झि के झकार को अन्त् आदेश प्राप्त होता है । परन्तु इस का बाध कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६०६) अदभ्यस्तात् ।७।१।४॥

अस्य अत् स्यात् । हुश्नुवोः० (५०१) इति यण्—जुह्वति ॥

अर्थः—अभ्यस्त से परे प्रत्यय के अवयव झकार के स्थान पर 'अत्' आदेश हो ।

व्याख्या—अत् ।१।१। अभ्यस्तात् ।५।१। प्रत्ययावयवः ।६।१। ('आद्यन्तौ टकितौ' से)झः ।६।१। ('झोऽन्तः' से) । अर्थः—(अभ्यस्तात्) अभ्यस्त से परे

---

१. यद्यपि यह सूत्र भी 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' और 'अजादेर्द्वितीयस्य' के अधिकारों के अन्तर्गत है तथापि जुहोत्यादिगण में किसी धातु के अजादि अनेकाच् न होने से उन अधिकारों की यहां आवश्यकता नहीं पड़ती अतः उन का अनुवर्तन नहीं किया गया ।

(प्रत्ययादे) प्रत्यय के आदि (झस्य) झ् के स्थान पर (अत्) 'अत्' आदेश हो। विभक्तिसंज्ञक (१३०) झिप्रत्यय के झकार के स्थान पर होने के कारण अत् आदेश भी विभक्तिसंज्ञक है अत इस के तकार को 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्संज्ञा न होगी, 'न विभक्तौ तुस्मा' (१३१) से निषेध हो जायेगा।

'जुहु+झि' यहां पर 'उभे अभ्यस्तम्' (३४४) के अनुसार 'जुहु' की अभ्यस्तसंज्ञा है अत प्रकृतसूत्र द्वारा इस से परे झिप्रत्यय के झकार के स्थान पर 'अत' आदेश हो कर—जुहु+अत्+इ। अब 'अचि श्नु०' (१९९) से प्राप्त उवङ् आदेश का बाध कर 'हुश्नुवो०' (५०१) से यण् आदेश करने पर 'जुह्वति' प्रयोग सिद्ध होता है। लँट् में रूपमाला यथा—जुहोति, जुहुत, जुह्वति। जुहोषि, जुहुथ, जुहुथ। जुहोमि, जुहुव, जुहुम.। 'जुहुव-जुहुम' में उकार धातु का अवयव है प्रत्यय का अवयव नहीं अत 'लोपश्चास्या०' (५०२) से उस का वैकल्पिक लोप नहीं होता।

लिँट्—हु धातु से लिँट् लाने पर 'हु+लिँट्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६०७) भी-ह्री-भृ-हुवां श्लुवच्च ।३।१।३९॥

एभ्यो लिँटि आम् वा स्याद् आमि श्लाविव कार्यं च। जुहवाञ्चकार, जुहाव। होता। होष्यति। जुहोतु-जुहुतात्, जुहुताम्, जुह्वतु। जुहुधि। जुहवानि। अजुहोत्, अजुहुताम् ॥

अर्थ—लिँट् परे होने पर—भी (डरना), ह्री (लज्जा करना), भृ (धारण या पोषण करना) तथा हु (हवन करना) धातुओं से परे विकल्प से आम् प्रत्यय हो जाता है किञ्च आम् के परे रहते श्लु की तरह कार्य भी हो जाते हैं।

व्याख्या—भी-ह्री-भृ हुवाम् ।६।३। श्लुवत् इत्यव्ययपदम्। च इत्यव्ययपदम्। आम् ।१।१। लिँटि ।७।१। ('कास्प्रत्ययाद्०' से)। अन्यतरस्याम् ।७।१। ('उपविद-जागृभ्योऽन्य०' से)। 'प्रत्यय, परश्च' दोनों अधिकृत हैं। 'भी-ह्री भृ-हुवाम्' में पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग किया गया है। श्लौ इव श्लुवत्, 'तत्र तस्येव' (११४६) इति सप्तम्यन्ताद्वतिप्रत्यय। अर्थ—(लिँटि) लिँट् परे हो तो (भी-ह्री-भृ-हुवाम्) भी, ह्री, भृ और हु धातुओं से परे (आम्) आम् प्रत्यय हो जाता है (च) किञ्च वह आम् (श्लुवत्) श्लु की तरह होता है अर्थात् जैसे श्लु परे होने पर द्वित्व इत्व आदि कार्य होते हैं वैसे आम् परे होने पर भी हो जाते हैं (अन्यतरस्याम्) परन्तु यह सब कार्यकलाप एक दशा में होता है। दूसरी दशा में न तो आम् होगा और न वह श्लुवत्। इन सब धातुओं का वर्णन इसी गण में आगे यथास्थान किया जायेगा। यहां हु धातु प्रकृत है—

'हु+लिँट्' यहां लिँट् परे है अत प्रकृतसूत्र द्वारा हु धातु से परे आम् प्रत्यय आ कर उसे श्लुवत् मान लेने से 'श्लौ' (६०५) से द्वित्व तथा अभ्यासकार्य करने

पर—जुहु+आम्+लिट्। अब 'गोपायाञ्चकार' की तरह लिट् का लुक् और लिट्-परक कृ भू और अस् धातुओं का अनुप्रयोग हो कर 'जुहवाञ्चकार, जुहवाम्बभूव, जुहवामास' आदि रूप सिद्ध होते हैं। आम् के अभावपक्ष में शुद्ध हु धातु से लिट्, परस्मै तथा द्वित्वादि हो कर—जुहु+अ। अब 'अचो ञ्णिति' (१८२) से ओकार वृद्धि तथा आवादेश करने पर 'जुहाव' प्रयोग सिद्ध होता है। परस्मै में हु धातु के अनिट् होने से प्रथम इट् का निषेध हो जाता है, पुनः आदिनियम से नित्य इट् प्राप्त होता है, उस का भी 'अचस्तास्वत्०' (४८०) सूत्र से निषेध हो जाता है। तब भारद्वाज-नियम से वैकल्पिक इट् हो कर 'जुहविव-जुहुव' दो रूप सिद्ध होते हैं। व और म में आदिनियम से नित्य इट् हो कर उवँङ् आदेश हो जाता है—जुहुविव, जुहुविम। लिट् में रूपमाला यथा—(आम्पक्षे) कृधातोरनुप्रयोगे—जुहवाञ्चकार, जुहवाञ्चक्रतुः, जुहवाञ्चक्रुः। भूधातोरनुप्रयोगे—जुहवाम्बभूव, जुहवाम्बभूवतुः, जुहवाम्बभूवुः। अस्-धातोरनुप्रयोगे—जुहवामास, जुहवामासतुः, जुहवामासुः। (आमोऽभावे) जुहाव, जुहुवतुः, जुहुवुः। जुहविव-जुहुव, जुहुवथुः, जुहुव। जुहाव-जुहव, जुहुविव, जुहुविम।

लृट्—में ञ्णिनिषेध हो कर गुण हो जाता है—होता, होतारौ, होतारः।

लृट्—होष्यति, होष्यतः, होष्यन्ति।

लोट्—लट् की तरह शप्, शप् का श्लु, 'श्लौ' (६०५) से द्वित्व तथा अभ्यासकार्य हो कर लोट् के उत्वादि कार्य हो जाते हैं—जुहोतु-जुहुतात्। म० पु० के एकवचन में सिप् को हि आदेश होकर 'हुझल्भ्यः०' (५५६) से उसे धि आदेश हो जाता है—जुहुधि। उ० पु० में 'जुहु+आनि' इस स्थिति में गुण और 'हुश्नुवोः०' (५०१) से यण् युगपत् प्राप्त होते हैं। दोनों अपने अपने स्थानों पर सावकाश हैं अतः 'त्रिप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से परकार्य गुण हो कर अवादेश करने पर—जुहवानि। लोट् में रूपमाला यथा—जुहोतु जुहुतात्, जुहुताम्, जुह्वतु (अदभ्यस्तात्)। जुहुधि-जुहुतात्, जुहुतम्, जुहुत। जुहवानि, जुहवाव, जुहवाम।

लङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, श्लु, द्वित्व गुण और अट् का आगम करने पर—अजुहोत्। द्विवचन में द्वित्व के कारण गुण नहीं होता—अजुहुताम्। बहुवचन में 'अजुहु+झि' इस स्थिति में 'झेर्जुम्०' (४४७) द्वारा अभ्यस्त से परे झि को जुस् आदेश हो कर—अजुहु+उस्। अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६०८) जुसि च ।७।३।८३॥

इगन्ताङ्गस्य गुणोऽजादौ जुसि। अजुहवुः। जुहुयात्। हूयात्। अहौषीत्। अहोष्यत्॥

अर्थः—अजादि जुस् परे होने पर इगन्त अङ्ग को गुण हो।

व्याख्या—जुसि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। अचि ।७।१। ('वसस्वाचि' से) गुण ।१।१। ('सिदेर्गुण' से)। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। यहां 'गुण' तो कह दिया गया है। परन्तु स्थानी वर्ण का निर्देश नहीं किया गया अत 'इको गुणवृद्धी' (१ १ ३) से 'इक' पद उपस्थित हो कर तदन्तविधि करने से 'इगन्तस्य अङ्गस्य' बन जाता है। अर्थ —(अचि=अजादौ) अजादि (जुसि) जुस् परे होने पर (इक=इगन्तस्य) इगन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुण) गुण हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह गुण इगन्त अङ्ग के अन्त्य इक् के स्थान पर किया जायेगा। 'अजादि' कहने से 'शृणुयु' आदि मे गुण नहीं होगा।

'अजुहु+उस्' यहा अजादि उस् परे है अत प्रकृतसूत्र से इगन्त अङ्ग के अन्त्य उकार को ओकार गुण हो कर अवादेश करने से 'अजुहवु' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। लँङ् में रूपमाला यथा—अजुहोत्, अजुहुताम्, अजुहवु। अजुहो, अजुहुतम्, अजुहुत। अजुहवम्, अजुहुव, अजुहुम।

वि० लिँङ्—मे पूर्ववत् यप् श्लु और द्वित्व आदि कार्य हो जाते हैं। रूपमाला यथा—जुहुयात्, जुहुयाताम्, जुहुयु। जुहुया, जुहुयातम्, जुहुयात। जुहुयाम्, जुहुयाव, जुहुयाम।

आशीर्लिङ्—में 'अकृत्सार्व०' (४८३) से दीर्घ हो जाता है। रूपमाला यथा—हूयात्, हूयास्ताम्, हूयासु। हूया., हूयास्तम्, हूयास्त। हूयासम्, हूयास्व, हूयास्म।

लुँङ्—में 'सिचि वृद्धि०' (४८४) से इगन्तलक्षणा वृद्धि हो जाती है—अहौषीत्, अहौष्टाम्, अहौषु। अहौषी, अहौष्टम्, अहौष्ट। अहौषम्, अहौष्व, अहौष्म।

लृँङ्—अहोष्यत्, अहोष्यताम्, अहोष्यन्।

[लघु०] त्रिभी भये ॥२॥ बिभेति ॥

अर्थ —त्रिभी (भी) धातु 'डरना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—त्रिभी धातु में 'त्रि' की 'आदिर्ञिटुडवः' (४६२) से इत्सञ्ज्ञा हो कर लोप हो जाता है 'भी' मात्र अवशिष्ट रहता है। 'त्रि' के जोडने का प्रयोजन 'शीङ् शत.' (३.२ १८७) द्वारा वर्त्तमानकाल में क्तप्रत्यय करना है—भीत (जो डरता है)। इसी धातु से भीम, भीष्म, भयानक, भीरु, भय, भीति, भी (डर), भेक

---

१. ध्यान रहे कि यहां 'हुश्नुवो०' (६.४.८७) से यण तथा 'जुसि च' (७ ३.१०९) से गुण युगपत् प्राप्त होते थे। दोनों स्वस्वस्थानों में सावकाश थे ('हुश्नुवो०' का अवकाश 'जुहुति' आदि तथा 'जुसि च' का अवकाश 'अग्निमयु:' आदि) अत. 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१११) से परकार्य गुण हो जाता है।

वादि शब्द बनते हैं। इस के योग में भय के हेतु की अपादानसंज्ञा (१.४.२५) हो कर उस में पञ्चमी विभक्ति का विधान किया जाता है—सिंहाद् बिभेति (शेर से डरता है)। यह धातु भी 'हु' धातु की तरह अनिट् है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में शप्, श्लु, द्वित्व और गुण करने पर 'बिभेति' रूप सिद्ध होता है। द्विवचन में 'बिभी+तस्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६०९) भियोऽन्यतरस्याम् ।६।४।११५॥

इकारो वा स्याद् हलादौ ङिति सार्वधातुके। बिभितः-बिभीतः। बिभ्यति। बिभयाञ्चकार, बिभाय। भेता। भेष्यति। बिभेतु, बिभितात्-बिभीतात्। अबिभेत्। बिभियात्-बिभीयात्। भीयात्। अभैषीत्। अभेष्यत्॥

अर्थः—हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे होने पर 'भी' धातु को विकल्प से इकार आदेश हो।

व्याख्या—भियः ।६।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। इत् ।१।१। ('इद् वरिव्रस्य' से) हलि ।७।१। ('ई हल्यघोः' से)। ङिति ।७।१। ('गमहनजन०' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('अत उत् सार्वधातुके' से)। 'हलि' यह 'सार्वधातुके' का विशेषण है अतः तदादि-विधि हो कर 'हलादौ ङिति सार्वधातुके' बन जायेगा। अर्थः—(हलि=हलादौ) हलादि (ङिति) कित् ङित् (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो (भियः) 'भी' के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार आदेश हो (अन्यतरस्याम्) एक दशा में। दूसरी दशा में आदेश नहीं होगा अतः विकल्प सिद्ध हो जायेगा। यह इकारादेश अलोऽन्त्य-परिभाषा से 'भी' के अन्त्य ईकार के स्थान पर होता है। इस प्रकार एक पक्ष में 'भि' और दूसरे पक्ष में 'भी' बना रहता है।

'बिभी+तस्' यहां 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से तस् ङित् है और यह हलादि सार्वधातुक भी है अतः प्रकृतसूत्र से 'भी' धातु के ईकार को विकल्प से इकार हो कर 'बिभितः-बिभीतः' दो रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार थस्, थ, वस् और मस् में भी दो-दो रूप बनते हैं। प्र० पु० के बहुवचन में—बिभी+झि। 'अदभ्यस्तात्' (६०६) से 'अत्' आदेश हो कर—बिभी+अति। यहां हलादि न होने से इकारादेश नहीं होता[1], अतः 'एरनेकाच०' (२००) से यण् करने पर 'बिभ्यति' प्रयोग सिद्ध

१. वस्तुतः 'भियोऽन्यतरस्याम्' सूत्र में 'हलादि कित् ङित्' के अनुवर्त्तन की आवश्यकता ही नहीं है। केवल 'सार्वधातुके' ही पर्याप्त है। अजादियों में ह्रस्व हो जाने पर भी 'एरनेकाचः०' (२००) से यण् हो जायेगा। पित् प्रत्ययों में इत् का

होता है। लेंट् में रूपमाला यथा—बिभेति, बिभित -बिभीत, बिभ्यति। बिभेषि, बिभिथ -बिभीथ, बिभिथ बिभीथ। बिभेमि, बिभिवः-बिभीव, बिभिम -बिभीम।

लिंट्—में पूर्ववत् भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' (६०७) से आम् प्रत्यय, उसे श्लुवत् मान कर द्वित्वादि कार्य, गुण, तथा वृञ् आदियों का अनुप्रयोग करने पर—बिभयाञ्चकार, बिभयाम्बभूव, बिभयामास' आदि रूप सिद्ध होते हैं। आम् के अभाव में द्वित्व, वृद्धि और आयादेश करने पर 'बिभाय' आदि रूप बनते हैं। रूपमाला यथा—आम्पक्षे—(कृधातोरनुप्रयोगे) बिभयाञ्चकार, बिभयाञ्चक्रतु, बिभयाञ्चक्रु। (भूधातो-रनुप्रयोगे) बिभयाम्बभूव, बिभयाम्बभूवतु, बिभयाम्बभूवु। अस्धातोरनुप्रयोगे—बिभयामास, बिभयामासतु, बिभयामासु। आमोऽभावे—बिभाय, बिभ्यतु, बिभ्यु। बिभयिथ-बिभेथ, बिभ्यथु, बिभ्य। बिभाय-बिभय, बिभिव, बिभिम।

लुंट्—भेता, भेतारौ, भेतार। लृट्—भेष्यति, भेष्यतः, भेष्यन्ति। लोंट्—बिभेतु बिभितात्-बिभीतात्, बिभिताम्-बिभीताम्, बिभ्यतु। बिभिहि-बिभीहि-बिभितात्-बिभीतात्, बिभितम्-बिभीतम्, बिभित बिभीत। बिभयानि, बिभयाव, बिभयाम। लँङ्—अबिभेत्, अबिभिताम्-अबिभीताम्, अबिभयु (जुसि च)। अबिभेः, अबिभितम्-अबिभीतम्, अबिभित-अबिभीत। अबिभयम्, अबिभिव-अबिभीव, अबिभिम-अबिभीम।

वि० लिंङ्—यहा यास् के कारण हलादि ङित् सार्वधातुक सर्वत्र उपलब्ध होता है अत वैकल्पिक इत्व हो जाता है। रूपमाला यथा—(इत्वपक्षे) बिभियात्, बिभियाताम्, बिभियु। (इत्वाभावे) बिभीयात्, बिभीयाताम्, बिभीयु। आ० लिंङ्—भीयात्, भीयास्ताम्, भीयासु।

लुंङ्—में सर्वत्र इगन्तलक्षणा वृद्धि हो जाती है—अभैषीत्, अभैष्टाम्, अभैषु। अभैषीः, अभैष्टम्, अभैष्ट। अभैषम्, अभैष्व, अभैष्म। मा भैषीः [मत डर; 'न माङ्योगे' (४४१) इत्यडागमो निषिध्यते][1]।

लृंङ्—अभेष्यत्, अभेष्यताम्, अभेष्यन् आदि।

---

बाध कर परत्वात् गुण हो जायेगा, वहा इत्व का विधानसामर्थ्य नहीं चलेगा क्योंकि वह 'बिभित-बिभीत' आदियों में सावकाश हो चुका है।

१ कुछ लोग 'गातिस्थाघुपाभूभ्य०' (४३१) सूत्र के 'भूभ्य' में 'भू+भी' का समाहारद्वन्द्व कर उस से पञ्चमी के एकवचन मे 'भूभ्य' बना कर 'भी' धातु से परे भी सिच् के लुक् का विधान मानते हैं। उनके मत मे 'भैत्, भैताम्, भैषुः' आदि रूप बनते हैं। मा भैः शशाङ्क 'मम सौधनि नास्ति राहुः' इत्यादि कुछ कवि-प्रयोग उन के अनुकूल बैठते हैं। परन्तु यह मत महाभाष्यादि मे अनारूढ होने से वैयाकरणनिकाय में प्रामाणिक नहीं समझा जाता।

[लघु०] ह्री लज्जायाम् ॥३॥ जिह्रेति, जिह्रीतः, जिह्रियति । जिह्रियाञ्चकार, जिह्राय । ह्रेता । ह्रेष्यति । जिह्रेतु । अजिह्रेत् । जिह्रीयात् । ह्रीयात् । अह्रैषीत् । अह्रेष्यत् ॥

अर्थः—ह्री धातु 'लज्जा करना, शर्माना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—आत्मनेपद के निमित्तों से हीन होने के कारण यह धातु भी परस्मैपदी है । इस की प्रक्रिया भी 'भी' धातु की तरह होती है, केवल दो बातों में अन्तर है । एक 'भियोऽन्यतरस्याम्' (६०९) वाला इत्व नहीं होता और दूसरा संयोगपूर्व होने के कारण अजादिप्रत्ययों में 'एरनेकाचः०' (२००) से यण् न हो कर 'अचि श्नु०' (१९९) से इयँङ् हो जाता है । रूपमाला यथा—

लँट्—जिह्रेति, जिह्रीतः, जिह्रियति । जिह्रेषि, जिह्रीथः, जिह्रीथ । जिह्रेमि, जिह्रीवः, जिह्रीमः । लिँट्—(आम्पक्षे)जिह्रियाञ्चकार, जिह्रियाम्बभूव, जिह्रियामास आदि । (आमोऽभावे) जिह्राय, जिह्रियतुः, जिह्रियुः । जिह्रियिथ-जिह्रेथ, जिह्रियथुः, जिह्रिय । जिह्राथ-जिह्रयथ, जिह्रियिव, जिह्रियिम । लुँट्—ह्रेता, ह्रेतारौ, ह्रेतारः । लृँट्—ह्रेष्यति, ह्रेष्यतः, ह्रेष्यन्ति । लोँट्—जिह्रेतु-जिह्रीतात्, जिह्रीताम्, जिह्रियतु । जिह्रीहि-जिह्रीतात्, जिह्रीतम्, जिह्रीत । जिह्रयाणि, जिह्रयाव, जिह्रयाम । लँङ्—अजिह्रेत्, अजिह्रीताम्, अजिह्रयुः । अजिह्रेः, अजिह्रीतम्, अजिह्रीत् । अजिह्रयम्, अजिह्रीव, अजिह्रीम । वि० लिँङ्—जिह्रीयात्, जिह्रीयाताम्, जिह्रीयुः । आ० लिँङ्—ह्रीयात्, ह्रीयास्ताम्, ह्रीयासुः । लुँङ्—अह्रैषीत्, अह्रैष्टाम्, अह्रैषुः । अह्रैषीः, अह्रैष्टम्, अह्रैष्ट । अह्रैषम्, अह्रैष्व, अह्रैष्म । लृँङ्—अह्रेष्यत्, अह्रेष्यताम्, अह्रेष्यन् ।

[लघु०] पॄ पालनपूरणयोः ॥४॥

अर्थः—पॄ धातु 'पालना और पूर्ण करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणों से रहित होने के कारण यह धातु परस्मैपदी है । 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (६११) द्वारा उत्व करने के लिये इस धातु के ऋवर्ण को दीर्घ किया गया है । ऋदन्त होने से यह धातु सेट् है ।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, श्लु और द्वित्व कर 'पॄ+पॄ+ति' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६१०) अर्ति-पिपर्त्योश्च ।७।४।७७॥

अभ्यासस्य इकारोऽन्तादेशः स्यात् श्लौ । पिपर्ति ॥

अर्थः—ऋ और पॄ धातु के अभ्यास के अन्त्य वर्ण को इकार आदेश हो श्लु परे हो तो ।

व्याख्या—अर्ति-पिपर्त्योः ।६।२। च इत्यव्ययपदम् । अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। इत् १।१। ('भृञामित्' से)। श्लौ ।७।१। ('निजां त्रयाणां गुण श्लौ' से)। अर्तिश्च पिपर्तिश्च तयो =अर्तिपिपर्त्योः, इतरेतरद्वन्द्व । 'अर्ति' से 'ऋ गतौ' (जुहो० परस्मै०) धातु तथा 'पिपर्ति' से 'पॄ पालनपूरणयो' (जुहो० परस्मै०) धातु का ग्रहण किया जाता है। अर्थ —(अर्ति-पिपर्त्योः) ऋ और पॄ धातु के (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (च) भी (इत्) ह्रस्व इकार आदेश हो जाता है (श्लौ) श्लु परे हो तो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह इकार आदेश अभ्यास के अन्त्य अल् के स्थान पर होता है[1]। 'उरण्रपरः' (२६) से रपर हो कर यह इकार 'इर्' बन जाता है। 'ऋ' धातु के उदाहरण 'इर्ति' आदि सिद्धान्तकौमुदी मे देखें। यहां 'पॄ' धातु प्रकृत है।

'पॄ+पॄ+ति' यहा श्लु परे है अत अभ्यास के ऋकार को प्रकृतसूत्र से इत्व और रपर करने पर—पिर्+पॄ+ति। अब 'हलादि शेषः' (६६) से अभ्यास के रेफ का लोप तथा 'सार्वधातुकार्धयोः' (३८८) से अभ्यासोत्तरखण्ड के ऋकार को गुण-अर् करने से 'पिपर्ति' प्रयोग सिद्ध होता है[2]।

प्र० पु० के द्विवचन में पूर्ववत् शप्, श्लु, द्वित्व और इत्व हो कर 'पि+पॄ+तस्' इस स्थिति में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से तस् के डित् होने से गुण का निषेध हो जाता है। अब 'ऋत इद्धातोः' (६६०) से धातु के ऋकार को इत्व प्राप्त होता है, इस पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६११) उदोष्ठ्यपूर्वस्य ।७।१।१०२।।

अङ्गावयवौष्ठ्यपूर्वो य ऋत् तदन्तस्याङ्गस्य उत् स्यात् ।।

अर्थ—अङ्ग का अवयव ओष्ठ्य वर्ण जिस के पूर्व में है ऐसा जो ऋवर्ण, तदन्त अङ्ग को उत् (ह्रस्व उकार) आदेश हो।

व्याख्या—उत् ।१।१। ओष्ठ्यपूर्वस्य ।६।१। ऋत ।६।१। ('ऋत इद्धातोः' से)। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। ओष्ठ्योभवः—ओष्ठ्यः, स पूर्वो यस्यासौ ओष्ठ्य-पूर्वः, तस्य ओष्ठ्यपूर्वस्य, बहुव्रीहि०। 'अङ्गस्य' की आवृत्ति की जाती है, एक 'अङ्गस्य' का सम्बन्ध 'ओष्ठ्य' वर्ण से किया जाता है अर्थात् अङ्गावयव ओष्ठ्यवर्णः पूर्वो यस्यासौ ओष्ठ्यपूर्वः। दूसरे 'अङ्गस्य' को विशेष्य बना कर उस का 'ऋतः'

---

१ अनर्थक में यद्यपि अलोऽन्त्यविधि प्रवृत्त नही हुआ करती तथापि वह निषेध अभ्यास के विकार के लिये नही है। जैसा कि कहा है—'नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे (देखें—पूर्वार्ध सूत्र २७७)।

२ कई वैयाकरण यहा परत्व के कारण पहले गुण कर बाद में द्वित्व तथा अभ्यास के अकार को इर् किया करते हैं (देखें इसी सूत्र पर न्यास)।

विशेषण बना लेते हैं, तब विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'ऋदन्तस्याङ्गस्य' बन जाता है। अर्थः—(ओष्ठ्यपूर्वस्य) अङ्गसम्बन्धी ओष्ठ्यवर्ण जिस के पूर्व में है[1] ऐसा जो (ऋतः=ऋदन्तस्य) ऋकार, तदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (उत्) ह्रस्व उकार आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह उत्व ऋदन्त अङ्ग के अन्त्य अल्-ऋकार के स्थान पर प्रवृत्त होता है। 'उरण्रपरः' (२६) से रपर हो कर 'उर्' आदेश बन जाता है। 'उपूपध्मानीयानामोष्ठौ' के अनुसार उकार, पवर्ग और उपध्मानीय वर्ण ओष्ठ्य कहलाते हैं। वकार में भी ओष्ठ्यत्व अक्षुण्ण है। यह सूत्र आगे आने वाले 'ऋत इद् धातोः' (६६०) द्वारा किये जाने वाले इत्त्व का अपवाद है। यहां यह बात ध्यातव्य है कि पर होने से गुण और वृद्धि इस इत्त्व और उत्त्व का बाध कर लेते हैं अतः गुण और वृद्धि के अविषय में ही इत्त्व उत्त्व की प्रवृत्ति समझनी चाहिये। अत एव वार्त्तिककार ने कहा है—इत्वोत्वाभ्यां गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन (७.१.१०२ भाष्ये)। इस सूत्र के उदाहरण 'पुपूर्षति, मुमूर्षति, सुस्वूर्षति, पूर्तः' आदि हैं।

'पि+पृ+तस्' यहां गुण का अविषय है, ऋकार से पूर्व ओष्ठ्यवर्ण पकार विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से ऋकार को उर् आदेश हो कर—पि+पुर्+तस्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६१२) हलि च ।८।२।७७॥

रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घो हलि। पिपूर्तः। पिपुरति। पपार॥

अर्थः—हल् परे होने पर रेफान्त और वकारान्त धातु की उपधा को दीर्घ हो।

व्याख्या—हलि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। धातोः ।६।१। ('सिपि धातो रुर्वा' से)। र्वोः ।६।२। उपधायाः ।६।१। दीर्घः ।१।१। इकः ।६।१। ('र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' से)। र् च व् च र्वौ, तयोः='र्वोः', इतरेतरद्वन्द्वः। 'र्वोः' यह धातोः का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'रेफान्तस्य वान्तस्य च धातोः' बन जाता है। अर्थः—(र्वोः=रेफवान्तस्य) रेफान्त और वकारान्त (धातोः) धातु के (उपधाया इकः) उपधा के इक् के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है (हलि) हल् परे हो तो। 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (३५१) सूत्र पदान्त में दीर्घ करता है और यह सूत्र हल् परे होने पर—यही इन

---

१. ओष्ठ्य वर्ण का सम्बन्ध अङ्ग के साथ होना आवश्यक है अन्यथा 'समीर्णः' [सम्√ऋ (ऋधादि०)+क्त] में उपसर्ग का मकार ओष्ठ्यवर्ण पूर्व होने से ऋकार को उत्व हो कर 'समूर्णः' यह अनिष्ट रूप बन जायेगा। विस्तार के लिये इसी सूत्र पर काशिकावृत्ति देखें।

दोनो का भेद है। इस सूत्र मे 'च' का ग्रहण समुच्चय के लिये किया गया है अर्थात् पूर्वोक्त दीर्घ हल् परे होने पर भी हो। रेफान्त धातु के उदाहरण—आस्तीर्णम्, विस्तीर्णम् आदि। वकारान्त धातु के उदाहरण—दीव्यति, सीव्यति आदि।

'पिपुर्+तस्' यहा पिपुर् यह रेफान्त धातु है। इस से परे तस् का तकार हल् विद्यमान है अत प्रकृतसूत्र से इस की उपधा-उकार को दीर्घ करने पर—पिपूर्+तस्='पिपूर्त' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहा पदान्त न होने के कारण खर् परे होने पर भी रेफ को विसर्ग नही होता।

प्र० पु० के बहुवचन झ शप्, श्लु, द्वित्व, 'अर्तिपिपर्त्योश्च' (६१०) से अभ्यास के ऋकार को इर् आदेश, हलादिशेष तथा 'अदभ्यस्तात्' (५०६) से झि के झकार को अत् आदेश करने पर—पिपुर्+अति। यहा हल् परे नही है अत उपधा के उकार को दीर्घ नहीं होना—'पिपुरति' प्रयोग सिद्ध होता है। लँट् मे रूपमाला यथा—पिपर्ति, पिपूर्तः, पिपुरति। पिपर्षि, पिपूर्थः, पिपूर्थ। पिपर्मि, पिपूर्वः, पिपूर्मः।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन मे तिप्, णल्, द्वित्व, उरत् (४७३), रपर और हलादिशेष करने पर—प+पृ+अ। यहा श्लु परे नहीं अत 'अर्तिपिपर्त्योश्च' (६१०) से अभ्यास को इत्व नही होता। अब 'अचो ञ्णिति' (१८२) से वृद्धि करने पर 'पपार' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। द्विवचन में 'प+पृ+अतुस्' इस स्थिति मे अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६१३) शृ-दृ-प्रा ह्रस्वो वा।७।४।१२॥

एषा किति लिँटि ह्रस्वो वा स्यात्। पप्रतु॥

अर्थ—कित् लिँट् परे होने पर[2] शृ (हिंसा करना), दृ (विदारण करना) और पॄ (पालना व पूर्ण करना) धातुओं को विकल्प से ह्रस्व हो।

व्याख्या—शृ-दृ प्राम् ।६।३। ह्रस्व. ।१।१। वा इत्यव्ययपदम्। लिँटि ।७।१। ('दयतेर्दिगि लिँटि' से)। अर्थ—(लिँटि) लिँट् परे होने पर (शृ दृ-प्राम्) शृ, दृ

---

१ वस्तुत यहा 'ऋच्छत्यृताम्' (६१४) सूत्र से प्रथम गुण कर बाद में 'अत उपधाया' (४५५) से उपधावृद्धि करने पर उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध होता है। परन्तु श्रीवरदराज ने कुछ विशेष फल न देख कर बालकों के सुखबोध के लिये ऐसा नहीं किया।

२ 'किति' की कहीं से अनुवृत्ति नहीं आती। यह सूत्र कित् अकित् दोनों स्थानों पर ह्रस्व का विधान करता है। परन्तु अकितों में ह्रस्व करने पर भी यथा-सम्भव वृद्धि या गुण हो जाता है अत कुछ भी फल दिखाई नहीं देता, यही विचार कर वृत्तिकार ने यहा 'किति' कह दिया है।

और पॄ धातुओं के स्थान पर (वा) विकल्प से (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश हो जाता है। 'अचश्च' (१.२.२८) परिभाषा से इन धातुओं के ऋकार को विकल्प से ह्रस्व ऋकार हो जायेगा[1]।

शॄ के उदाहरण—(ह्रस्वपक्षे) शश्रतुः, (ह्रस्वाभावे) शशरतुः आदि।

दॄ के उदाहरण—(ह्रस्वपक्षे) दद्रतुः, (ह्रस्वाभावे) ददरतुः आदि।

पॄ के उदाहरण—'प+पॄ+अतुस्' यहां लिट् परे है अतः प्रकृतसूत्र से पॄ के ऋवर्ण को वैकल्पिक ह्रस्व हो जाता है। ह्रस्वपक्ष में ह्रस्वविधानसामर्थ्य से वक्ष्यमाण 'ऋच्छत्यृताम्' (६१४) द्वारा गुण नहीं होता, 'इको यणचि'(१५)से यण् होकर 'पप्रतुः' रूप सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'उस्' में 'पप्रुः'। 'व' और 'म' में धातु के सेट् होने के कारण इट् का आगम हो कर—पप्रिव, पप्रिम। जिस पक्ष में ह्रस्व न होगा वहां 'प+पॄ+अतुस्' में 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (६११) से उत्व प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र से गुण का विधान करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्— (६१४)ऋच्छत्यृताम्[2] ।७।४।११।

तौदादिकऋच्छेर्[3] ऋधातोर् ऋतां च गुणो लिँटि। पपरतुः, पपरुः॥

अर्थः—तौदादिक ऋच्छ् धातु, ऋ धातु तथा ऋदन्त धातुओं के स्थान पर गुण हो जाता है लिट् परे हो तो।

व्याख्या— ऋच्छत्यृताम् ।६।३। गुणः ।१।१। ('ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' से)। लिँटि ।७।१। ('दयतेर्दिगि लिँटि' से)। ऋच्छतिश्च 'ऋ' च 'ऋत्' च ऋच्छत्यृतः, तेषाम् ऋच्छत्यृताम्। ऋच्छ् धातु तुदादिगण में पढ़ी गई है—ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु। 'ऋ' धातु भ्वादि और जुहोत्यादि दोनों गणों में पढ़ी गई है। ऋदन्त धातु— पॄ, कॄ, तॄ आदि हैं। अर्थः—(लिँटि) लिट् परे होने पर (ऋच्छत्यृताम्) ऋच्छ्, ऋ और ऋदन्त धातुओं के स्थान पर (गुणः) गुण हो जाता है। 'इको

---

१. पीछे अष्टाध्यायी में गुणः' का प्रकरण आ रहा था। यदि 'शॄ-दॄ-प्रां वा' इस प्रकार सूत्र बना कर उस गुण को ही विकल्प कर देते तो गुण के अभाव में यण् न हो कर 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (६११) से उत्व हो जाता जो अनिष्ट था। अतः मुनि ने गुण का विकल्प न कर ह्रस्व का ही विकल्प किया है।

२. 'ऋच्छति+ऋ+ऋताम्' इतिच्छेदः। यहां पर बहुवचन का ग्रहण 'ऋ' के श्लेष का सूचक है। अन्यथा द्विवचन का ही प्रयोग करते।

३. तौदादिक+ऋच्छेर् इत्यत्र 'ऋत्यकः' (६१) इति प्रकृतिभावादसन्धिः।

गुणवृद्धी' (१.१.३) के अनुसार इन धातुओं के इक् के स्थान पर गुण होता है। 'ऋच्छ्' में ऋवर्ण उपधा में न था अत लघूपधगुण प्राप्त न था, तथा ऋ और ऋदन्तों में 'असंयोगाल्लिट् कित्' (४५२) द्वारा कित्त्व के कारण गुण प्रतिषिद्ध था, अतः इस सूत्र से गुण का विधान किया गया है।

ऋच्छ् के उदाहरण 'आनर्च्छ, आनर्च्छतु, आनर्च्छुः' आदि आगे तुदादिगण में देखें। 'ऋ' के उदाहरण 'आर, आरतु, आरुः' आदि सिद्धान्तकौमुदी मे देखें। ऋदन्त के उदाहरण यहा प्रस्तुत हैं—

'पॄ +अतुस्' यहां पॄ धातु ऋदन्त है, इस से परे 'अतुस्' यह लिट् भी विद्यमान है अत प्रकृतसूत्र से गुण, रपर करने पर 'पपरतु' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे 'पपरुः' आदि समझ लेने चाहियें। लिट् मे रूपमाला यथा—पपार, पप्रतु-पपरतु, पप्रुः-पपरुः। पपरिथ, पप्रथु-पपरथु, पप्र-पपर। पपार पपर, पप्रिव-पपरिव, पप्रिम-पपरिम।

लुट्—धातु के सेट् होने से इट् का आगम हो कर गुण करने से 'पर्+इ+ता' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६१५) वृतो वा ।७।२।३८॥

वृङ्वृञ्भ्याम् ऋदन्ताच्च इटो दीर्घो वा स्यान्न तु लिटि। परीता-परिता। परीष्यति-परिष्यति। विपर्तुं। अविप, अविपूर्ताम्, अविपरुः। पिपूर्यात्। पूर्यात्। अपारीत्॥

अर्थ—वृङ्, वृञ् और ऋदन्त धातुओं मे परे इट् को विकल्प से दीर्घ हो, परन्तु लिट् परे होने पर न हो।

व्याख्या—वृत ।५।१। वा इत्यव्ययपदम्। इट् ।१।१। ('आर्धधातुकस्येड्०' से)। दीर्घ ।१।१। अलिटि ।७।१। (अचोऽलिटि दीर्घः' से)। वृ च ऋत् च वृत्, तस्माद् वृत। समाहारद्वन्द्व। वृ' में अनुबन्धनिर्देश न होने से वृङ् और वृञ् दोनों धातुओं का ग्रहण होता है। 'ऋत्' से ऋदन्त धातुओं का ग्रहण समझना चाहिये। अर्थ—(वृत) वृङ्, वृञ् और ऋदन्त धातुओं से परे (इट्) इट् (वा) विकल्प से (दीर्घ) दीर्घ हो जाता है (अलिटि) परन्तु लिट् परे होने पर नहीं होता[1]। वृङ् और वृञ् से परे इट् के उदाहरण 'वरीता-वरिता' आदि आगे क्र्यादिगण मे आयेंगे। यहां प्रकृत में ऋदन्त का उदाहरण है—

'पर्+इ+ता' यहां ऋदन्त पॄ धातु से परे इट् विद्यमान है अत प्रकृतसूत्र से

---

१. अत एव लिट् में 'पप्रिथ-पपरिथ, पप्रिव-पपरिव, पप्रिम-पपरिम' में इट् को दीर्घ नहीं होता।

इट् को विकल्प से दीर्घ हो जाता है। दीर्घपक्ष में—'परीता' और दीर्घ के अभाव में 'परिता' दो रूप सिद्ध होते हैं। लुँट् में रूपमाला यथा—(दीर्घपक्षे) परीता, परीतारौ, परीतारः आदि। (दीर्घाऽभावे) परिता, परितारौ, परितारः आदि।

लृँट्—में भी सर्वत्र 'वृतो वा (६१५) से इट् को वैकल्पिक दीर्घ हो जाता है। (दीर्घपक्षे) परीष्यति, परीष्यतः, परीष्यन्ति आदि। (दीर्घाऽभावे) परिष्यति, परिष्यतः, परिष्यन्ति आदि।

लोँट्—में लँट् की तरह प्रक्रिया हो कर लोँट् के अपने विशिष्ट कार्य हो जाते हैं। तातङ् में ङित्त्व के कारण गुण का निषेध हो कर 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (६११) से उत्त्व तथा 'हलि च' (६१२) से दीर्घ हो जाता है। इसी प्रकार अपित्त्व के कारण ङित् हो जाने से 'हि' में भी समझ लेना चाहिये। उ० पु० में आट् का आगम पित् है अतः गुण हो जाता है। झि में 'अदभ्यस्तात्' (६०६) से झकार को अत् आदेश हो जाता है। रूपमाला यथा—पिपर्तु-पिपूर्तात्, पिपूर्ताम्, पिपुरत्तु। पिपूर्हि-पिपूर्तात्[1], पिपूर्तम्, पिपूर्त। पिपराणि, पिपराव, पिपराम।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में तिप्, इकारलोप, शप्, श्लु, द्वित्व, 'अर्तिपिपर्त्योश्च' (६१०) से अभ्यास को इत्त्व, सार्वधातुकगुण, रपर तथा अङ्ग को अट् का आगम करने पर—अपिपर्+त्। अब अपृक्त तकार का हल्ङ्यादिलोप (१७६) कर पदान्त में रेफ को विसर्ग करने से 'अपिपः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार सिप् में भी अपृक्त सकार का लोप हो कर 'अपिपः' रूप बनता है। मिप् में अम् आदेश तथा गुण हो कर—अपिपरम्। अन्यत्र 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङिद्वद्भाव के कारण गुण का निषेध हो कर 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (६११) से उत्त्व तथा 'हलि च' (६१२) से दीर्घ हो जाता है। झि को 'सिजभ्यस्त०' (४४७) से जुस् आदेश हो कर 'जुसि च' (६०८) से गुण हो जाता है। रूपमाला यथा—अपिपः, अपिपूर्ताम्, अपिपरुः। अपिपः, अपिपूर्तम्, अपिपूर्त। अपिपरम्, अपिपूर्व, अपिपूर्म।

विधिलिँङ्—में यासुट् के ङित् होने से गुण नहीं होता। 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (६११) से उत्त्व तथा 'हलि च' (६१२) से दीर्घ हो जाता है—पिपूर्यात्, पिपूर्यातम्, पिपूर्युः। पिपूर्याः, पिपूर्यातम्, पिपूर्यात। पिपूर्याम्, पिपूर्याव, पिपूर्याम।

आ० लिँङ्—में शप् और श्लु नहीं होता। अतः द्वित्व और अभ्यास को इत्त्व नहीं हो पाता। यहां यासुट् के कित्त्व के कारण गुण का निषेध होकर उत्त्व तथा 'हलि च' (६१२) से दीर्घ हो जाता है—पूर्यात्, पूर्यास्ताम्, पूर्यासुः।

---

१. स्वामिदयानन्दसरस्वतीनिर्मित 'आख्यातिक' मे यहा संशोधकों के प्रमादवश 'पिपूर्धि' प्रयोग लिखा गया है उसे शुद्ध कर 'पिपूर्हि' पढ़ना चाहिये क्योंकि 'हुझल्भ्यः०' (५५६) द्वारा यहां धित्व प्राप्त नहीं हो सकता।

लुङ्—मे 'अप्+इस्+ईत्' इस स्थिति में 'वृतो वा' (६१५) से इट् को वैकल्पिक दीर्घ प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से निषेध हो जाता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६१६) सिचि च परस्मैपदेषु ।७।२।४०॥

अत्र इटो न दीर्घः । अपारिष्टाम्। अपरीष्यत्-अपरिष्यत ॥

अर्थः—परस्मैपदपरक सिच् परे हो तो वृङ्, वृञ् तथा ऋदन्त धातुओं से परे इट् को दीर्घ न हो।

व्याख्या—सिचि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। परस्मैपदेषु ।७।३। वृत ।५।१। ('वृतो वा' से)। इट् ।१।१। ('आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से)। दीर्घः ।१।१। ('ग्रहोऽसिचिदीर्घः' से)। न इत्यव्ययपदम् ('न लिङि' से)। अर्थः—(परस्मैपदेषु) परस्मैपद परे होने पर (सिचि) जो सिच्, उस के परे रहते (वृत) वृङ्, वृञ् और ऋदन्त धातु से परे (इट्) इट् (दीर्घः) दीर्घ (न) नहीं होता। यह सूत्र 'वृतो वा' (६१५) से प्राप्त वैकल्पिक दीर्घ का अपवाद है। वृञ् के उदाहरण 'अवारीत्, अवारिष्टाम्, अवारिषुः' आदि आगे आयेंगे। वृङ् धातु आत्मनेपदी है अतः उस के उदाहरण सम्भव नहीं। यहां ऋदन्त के उदाहरण प्रस्तुत हैं—

'अप्+इस्+ईत्' यहां 'पॄ' यह ऋदन्त धातु है अतः प्रकृतसूत्र से इट् के दीर्घ का निषेध हो गया। अब 'सिचि वृद्धि०' (४८४) से इगन्तलक्षणा वृद्धि, इट ईटि' (४४६) से सकारलोप और अन्त में उसे सिद्ध मान कर सवर्णदीर्घ करने से 'अपारीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां इण्निषेध न भी होता तो भी सवर्णदीर्घ होकर अपारीत्' प्रयोग बनता अतः इस निषेध का फल 'अपारिष्टाम्' आदियों में स्पष्ट होता है—यह सोच कर ग्रन्थकार ने इस सूत्र से पूर्व 'अपारीत्' लिख दिया और इस सूत्र पर 'अपारिष्टाम्' उदाहरण दिया है[1]। लुङ् में रूपमाला यथा—अपारीत्, अपारिष्टाम्, अपारिषुः। अपारीः, अपारिष्टम्, अपारिष्ट। अपारिषम्, अपारिष्व, अपारिष्म।

लृङ्—में 'वृतो वा' (६१५) से इट् को वैकल्पिक दीर्घ हो जाता है। दीर्घपक्षे—अपरीष्यत्, अपरीष्यताम्, अपरीष्यन। दीर्घाऽभावे—अपरिष्यत्, अपरिष्यताम्, अपरिष्यन् आदि।

[लघु०] ओहाक् त्यागे ।५॥ जहाति ॥

---

१. परन्तु हमारे विचार में इस निषेध के बिना 'अपारीत्' भी नहीं बन सकेगा। 'अप्+इस्+ईत्' में यदि 'वृतो वा' से दीर्घ कर दें तो इट न रहने से 'इट ईटि' की प्रवृत्ति हो न होगी। तब सकार का लोप न होने से 'अपारीषीत्' इस प्रकार अनिष्ट रूप बनेगा। अतः 'अपारीत्' में भी निषेध की प्रवृत्ति के बिना काम नहीं चल सकेगा।

अर्थः—ओंहाक् (हा) धातु 'छोड़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी है। इस में आदि ओकार 'उपदेशेऽजनु०' (२८) से तथा अन्त्य ककार 'हलन्त्यम्' (१) से इत्संज्ञक है अतः उन दोनों का लोप होकर 'हा' ही अवशिष्ट रहता है। ओकारानुबन्ध 'ओदितश्च' (८२०) द्वारा निष्ठा (क्त, क्तवतु) में नत्व करने के लिये जोड़ा गया है—हा+क्त=हीनः, हा+क्तवतु=हीनवान्। ककारानुबन्ध 'हश्च व्रीहिकालयोः' (३.१.१४८) में 'ओंहाङ् गतौ' तथा 'ओंहाक् त्यागे' दोनों धातुओं के सामान्यग्रहण कराने के लिये जोड़ा गया है। अन्यथा—'एकाऽनुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य' (सीरदेववृत्ति पृ० ५४) परिभाषा से ओंहाङ् का ग्रहण न हो सकता केवल इसी का ही ग्रहण होता। 'ऊदुपदेशस्य०' के अनुसार यह धातु उपदेश में अनुदात्त होने से अनिट् है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में 'हा+ति' इस स्थिति में शप्, श्लु, द्वित्व, अभ्यास के हकार को कुत्व-झकार तथा जश्त्व-जकार करने पर 'जहाति' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में 'जहा+तस्' इस स्थिति में 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' (६१६) से प्राप्त आकार के लोप का बाध कर 'ई हल्यघोः' (६१८) से ईत्व प्राप्त होता है। इस पर उस का भी अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६१७) जहातेश्च ।६।४।११६॥

इद् वा स्याद् हलादौ किङिति सार्वधातुके। जहितः॥

अर्थः—हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे हो तो ओंहाक् धातु के आकार को विकल्प से ह्रस्व इकार आदेश हो।

व्याख्या—जहातेः ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। इत् ।१।१। ('इद् दरिद्रस्य' से)। अन्यतरस्याम् ।७।१। ('नियोऽन्यतरस्याम्' से)। हलि ।७।१। ('ई हल्यघोः' से)। किङिति ।७।१। ('गमहनजन०' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('अत उत्सार्वधातुके' से)। 'हलि' यह 'सार्वधातुके' का विशेषण है अतः इस से तदादिविधि होकर 'हलादौ सार्वधातुके' बन जाता है। अर्थः—(हलि=हलादौ) हलादि (किङिति) कित् ङित् (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो (जहातेः) ओंहाक् धातु के स्थान पर (च) भी

---

१. इसी धातु से हानि, हेय, अहन्, हित्वा (छोड़ कर; 'जहातेश्च क्त्वि' इतीत्वम्) आदि शब्द बनते हैं। यह धातु लोक और वेद दोनों में अत्यन्त प्रसिद्ध है। 'यमा न पूर्वमपरो जहाति'—ऋग्वेद १०. १८. ५। 'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्'—गीता २.५५।

(इत्) ह्रस्व इकार आदेश हो जाता है (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में। दूसरी अवस्था में आदेश नहीं होता अत विकल्प सिद्ध हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह इत्व 'हा' के अन्त्य अल्-आकार के स्थान पर किया जायेगा। यह सूत्र वक्ष्यमाण 'ई हल्यघो' (६१८) का अपवाद है—

जहा+तस् यहा 'तस्' यह हलादि सार्वधातुक परे है, 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से यह ङित् भी है। अत प्रकृतसूत्र से 'हा' के आकार को इकार आदेश करने से 'जहित' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। जिस पक्ष में इत्व नही होता उस पक्ष मे 'जहा+तस्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६१८) ई हल्यघो ।६।४।११३॥

श्नाऽभ्यस्तयोरात ईत् स्यात् सार्वधातुके ङिति हलि, न तु घो। जहीत ॥

अर्थ—हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे होने पर श्नाप्रत्यय के तथा अभ्यस्त-सञ्ज्ञक धातु के आकार को ईकार आदेश हो परन्तु घुसञ्ज्ञक धातुओं के आकार को न हो।

व्याख्या—ई इति लुप्तप्रथमैकवचनान्त पदम्। हलि ।७।१। अघो ।६।१। श्नाऽभ्यस्तयो ।६।२। आत ।६।१। ('श्नाभ्यस्तयोरात' से)। ङिति ।७।१। ('गमहन-जन०' से) सार्वधातुके ।७।१। ('अत उत्सार्वधातुके' से)। अघ—(हलि=हलादौ) हलादि (ङिति) कित् ङित् (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो (श्नाभ्यस्तयो) श्ना और अभ्यस्त के (आत) आकार के स्थान पर (ई) ईकार आदेश हो जाता है (अघो) परन्तु घुसञ्ज्ञक के स्थान पर नहीं होता[2]। यह सूत्र वक्ष्यमाण 'श्नाऽभ्यस्त-योरात.' (६१६) सूत्र का अपवाद है।

श्ना के उदाहरण—क्री+श्ना+तस्=क्रीणीत, गृह्णीत, सुनीत, पुनीत

---

१ ध्यान रहे कि यह इत्व 'श्लौ' (६०५) द्वारा द्वित्व करने के बाद ही करना चाहिये। यदि पहले करेंगे तो अभ्यास में इकार सुनाई देगा, 'जहित.' न बन कर 'जिहित' बनेगा। ऐसा क्यो किया जाये? इस के दो समाधान प्रस्तुत किये जाते हैं। एक तो यह कि यहा 'श्नाभ्यस्तयोरात' से 'अभ्यस्तस्य' की अनुवृत्ति आ रही है, इस से द्वित्व करने के बाद अभ्यस्तसञ्ज्ञक 'जहाति' के ही आकार को इत्व होता है। दूसरा—द्वित्व अल्पापेक्षी होने के कारण अन्तरङ्ग और इत्व बहु-अपेक्षी होने के कारण बहिरङ्ग है। 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' के अनुसार प्रथम अन्तरङ्ग और बाद में बहिरङ्ग कार्य किया जाता है।

२ घु में ईत्वाभाव के उदाहरण 'दत्त, दत्य' आदि आगे आयेंगे।

आदि ऋधादिगण में देखें। अभ्यस्तों के उदाहरण—मिमीते, मिमीषे आदि इसी गण में आगे स्पष्ट किये गये हैं।

'जहा+तस्' यहां 'उभे अभ्यस्तम्' (३४४) के अनुसार 'जहा' अभ्यस्त-सञ्ज्ञक है। इस से परे 'तस्' यह हलादि ङित् सार्वधातुक विद्यमान है। अतः प्रकृतसूत्र से अभ्यस्त के आकार को ईत्व होकर 'जहीतः' रूप सिद्ध होता है। इस प्रकार तस् में 'जाहतः, जहीतः' दो रूप बन जाते हैं।

प्र० पु० के बहुवचन में शप्, श्लु और द्वित्वादि करने के बाद 'अदभ्यस्तात्' (६०६) से झि के झकार को अत् आदेश होकर 'जहा+अति' इस दशा में हलादि न होने से इत्व वा ईत्व कुछ प्राप्त नहीं होता। इस पर अग्रिम उत्सर्गसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६१९) श्नाऽभ्यस्तयोरातः ।६।४।११२॥

अनयोरातो लोपः ङिति सार्वधातुके। जहति। जहौ। हाता। हास्यति। जहातु-जहितात्-जहीतात् ॥

अर्थः—कित् ङित् सार्वधातुक परे होने पर श्नाप्रत्यय के तथा अभ्यस्तसंज्ञक धातु के आकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—श्नाऽभ्यस्तयोः ।६।२। आतः ।६।१। लोपः ।१।१। ('श्नसोरल्लोपः' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('अत उत्सार्वधातुके' से)। ङिति ।७।१। ('गमहनजन०' से)। अर्थः—(श्नाऽभ्यस्तयोः) श्ना और अभ्यस्त के (आतः) आकार का (लोपः) लोप हो जाता है (ङिति सार्वधातुके) कित् ङित् सार्वधातुक परे हो तो। यह सूत्र अजादि हलादि सब प्रकार के कित् ङित् सार्वधातुकों के लिये सामान्य है। परन्तु हलादि कित् ङित् सार्वधातुकों में 'ई हल्यघोः' (६१८) सूत्र इस का अपवाद है, अतः अजादि कित् ङित् सार्वधातुकों में तथा घुसञ्ज्ञकों के विषय में हलादि कित् ङित् सार्वधातुकों में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। ध्यान रहे कि 'ई हल्यघोः' (६१८) सूत्र का भी 'जहातेश्च' (६१७) सूत्र अपवाद है। अतः उत्सर्गापवादक्रम से इन सूत्रों को इस प्रकार से रखना चाहिये—श्नाऽभ्यस्तयोरातः, ई हल्यघोः, जहातेश्च। अष्टाध्यायी में इन सूत्रों का क्रम है भी यही।

श्ना के उदाहरण—क्रीणन्ति, लुनन्ति, पुनन्ति आदि आगे ऋधादिगण में आयेंगे। अभ्यस्तों के उदाहरण यहां प्रकृत में हैं—

'जहा+अति' यहां अभ्यस्त से परे 'अति' यह ङित् सार्वधातुक विद्यमान है। हलादि न होने से यहां 'ई हल्यघोः' (६१८) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः प्रकृतसूत्र से अभ्यस्त के आकार का लोप होकर जह्+अति='जहति' प्रयोग सिद्ध

होता है। लँट् में रूपमाला यथा—जहाति, जहित-जहीत, जहति। जहासि, जहिथ-जहीथ, जहिथ-जहीथ। जहामि, जहिव-जहीव, जहिम-जहीम।

लिँट्—मे ओँहाक् को 'पा' धातु की तरह प्रक्रिया होती है—जहौ, जहतुः, जहुः। जहिथ जहाथ, जहथु, जह। जहौ, जहिव, जहिम।

लुँट्—मे अनिट् होने से इण्निषेध हो जाता है—हाता, हातारौ, हातारः।

लृँट्—हास्यति, हास्यत, हास्यन्ति।

लोँट्—प्र० पु० के एकवचन में शप्, श्लु, द्वित्व तथा 'एच' (४११) से उत्व हो कर 'जहातु' रूप सिद्ध होता है। यहा कित् ङित् न होने से इत्व ईत्व कुछ नहीं होता। आ० लोँट् में 'तु' को ताताङ् आदेश हो जाता है, उस के ङित् होने से 'जहातेश्च' (६१७) से इत्व तथा पक्ष मे 'ई हल्यघो' (६१८) से ईत्व करने पर—जहिहात्-जहीतात्। इसी प्रकार द्विवचन में—जहिहाताम्-जहीताम्। बहुवचन मे अभ्यस्त से परे 'झदभ्यस्तात्' (६०६) द्वारा अत् आदेश हो कर 'झोऽभ्यस्तयोरात्' (६१६) से आकार का लोप तथा 'एच' से उत्व करने पर—जहतु। म० पु० के एकवचन में सिप् को 'हि' आदेश हो जाता है। अपित् होने से 'हि' आदेश ङित् है अत. 'जहा+हि' इस स्थिति मे इत्व और ईत्व प्राप्त होते हैं। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६२०) आ च हौ ।६।४।११७॥

जहातेर् हौ परे आ स्याच्चाद् इदीतौ। जहाहि-जहिहि-जहीहि। अजहात्। अजहुः॥

अर्थ—'हि' परे होने पर ओँहाक् धातु के आकार के स्थान पर आकार, इकार तथा ईकार आदेश हो।

व्याख्या—आ इति लुप्तप्रथमान्त पदम्। च इत्यव्ययपदम्। हौ ।७।१। इत्। १।१। ('इद् वरिव्रस्य' से)। ई ।१।१। ('ई हल्यघो' से)। जहाते ।६।१। ('जहातेश्च' से)। अर्थ—(हौ) 'हि' परे होने पर (जहाते) ओँहाक् धातु के स्थान पर (आ) आकार (च) तथा (इत्) इकार (ई) ईकार भी आदेश हो जाते हैं[1]। अलोऽन्त्यपरिभाषा से ये सब आदेश अन्त्य अल-आकार के स्थान पर होते हैं।

---

१. प्राचीन वैयाकरण इस सूत्र में चकार के बल से केवल 'इत्' और 'अन्यतरस्याम्' पदों का अनुवर्तन कर इस प्रकार सूत्रार्थ करते हैं—'हि' परे होने पर ओँहाक् के आकार को आकार और इत्व विकल्प से हों। इस अर्थ में इन दोनों से मुक्त होने पर पक्ष में 'ई हल्यघो' से ईत्व हो कर तीन रूप बन जाते हैं। कौमुदी के अर्थ की अपेक्षा प्राचीन अर्थ अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। दीक्षितजी ने अपने अर्थ की पुष्टि में प्रौढमनोरमा में यहां कुछ नहीं लिखा।

'जहा+हि' यहां ओँहाक् धातु से 'हि' परे है अतः प्रकृतसूत्र से आकार को आकार आदेश हो कर—जहाहि, इकार आदेश हो कर—जहिहि, ईकार आदेश हो कर—जहीहि, इस प्रकार तीन रूप सिद्ध होते हैं। उ० पु० में आट् का आगम पित् है अतः उस के ङित् न होने से 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' (६१६) से आकार का लोप नहीं होता, सर्वत्र सवर्णदीर्घ हो जाता है। लोँट् में रूपमाला यथा- जहातु-जहितात्-जहीतात्, जहितम्-जहीतम्, जहत । जहाहि-जहिहि-जहीहि-जहितात्-जहीतात्, जहितम्-जहीतम्, जहित-जहीत। जहानि, जहाव, जहाम।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में शप्, श्लु और द्वित्व हो कर—अजहात्। द्विवचन में इत्व-ईत्व होकर—अजहिताम्-अजहीताम्। बहुवचन में 'सिँजभ्यस्त०' (४४७) से झि को जुस् हो कर 'अजहा+उस्' इस स्थिति में 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' (६१६) द्वारा आकार का लोप करने पर—अजहुः। उ० पु० में मिप् को अम् हो कर सवर्णदीर्घ हो जाता है—अजहाम्। रूपमाला यथा—अजहात्, अजहिताम्-अजहीताम्, अजहुः। अजहाः, अजहितम्-अजहीतम्, अजहित-अजहीत। अजहाम्, अजहिव-अजहीव, अजहिम-अजहीम।

वि० लिँङ्—में यासुट्, शप्, श्लु और द्वित्वादि हो कर 'जहा+यास्+त्' इस स्थिति में इत्व-ईत्व प्राप्त होते हैं। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६२१) लोपो यि ।६।४।११८॥

जहातेरात्लोपो यादौ सार्वधातुके। जह्यात्। एलिँङि (४६०)—हेयात्। अहासीत्। अहास्यत्॥

अर्थः—यकारादि सार्वधातुक परे होने पर ओँहाक् धातु के आकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—लोपः ।१।१। यि ।७।१। सार्वधातुके ।७।१।('अत उत्सार्वधातुके' से)। जहातेः ।६।१। ('जहातेश्च' से)। 'यि' यह 'सार्वधातुके' का विशेषण है अतः तदादिविधि हो कर 'यकारादौ सार्वधातुके' बन जायेगा। अर्थः—(यि=यकारादौ) यकारादि (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे होने पर (जहातेः) ओँहाक् धातु का (लोपः) लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह लोप अन्त्य अच्-आकार का ही होगा।

'जहा+यास्+त्' यहां 'यास्त्' यह यकारादि सार्वधातुक परे है अतः प्रकृतसूत्र से 'जहा' के आकार का लोप हो कर जह्+यास्+त्='जह्यात्' रूप सिद्ध होता है। वि० लिँङ् में रूपमाला यथा—जह्यात्, जह्याताम्, जह्युः आदि।

आ०-लिँङ्—में शप्, श्लु और द्वित्वादि नहीं होते। सार्वधातुकसञ्ज्ञा न होने से 'लोपो यि' (६२१) द्वारा आकार का लोप भी नहीं होता। अब 'घुमास्था०'

(५८८) से प्राप्त ईत्व का बाध कर 'एर्लिङि' (४६०) से एत्व हो जाता है—हेषाद्, हेषास्ताम्, हेषासु आदि।

लुँङ्—में 'या' धातु की तरह 'यम-रम-नमाता सक् च' (४६५) से धातु को सक् का आगम तथा सिच् को इट् का आगम हो जाता है—अहासीत्, अहासिष्टाम्, अहासिषु। अहासी, अहासिष्टम्, अहासिष्ट। अहासिषम्, अहासिष्व, अहासिष्म।

लृँङ्—अहास्यत्, अहास्यताम्, अहास्यन्।

उपसर्गयोग—उत्कर्ष को प्रकट करने के लिये इस धातु के साथ प्राय प्र, वि और सम् उपसर्गों का योग किया जाता है—प्रजहाति=अच्छी तरह छोड़ता है; विजहाति=विशेष रीति से छोड़ता है, सजहाति=सम्यक् प्रकार से छोड़ता है।

यहा पर जुहोत्यादिगण की परस्मैपदी धातुओं का विवेचन समाप्त होता है।

अब आत्मनेपदी धातुओं का वर्णन किया जायेगा—

[लघु०] माङ् माने शब्दे च ॥६॥

अर्थ—माङ् (मा) धातु 'मापना तथा शब्द करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इस धातु का 'शब्द करना' अर्थ अत्यन्त अप्रसिद्ध है। ङित् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा 'ऋदन्तै०' के अनुसार अनिट् है। लिँट् में आदिनियम से सर्वत्र इट् हो जायेगा।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में तप्, शप् और द्वित्व करने पर 'मा+मा+त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६२२) भृञामित् ।७।४।७६॥

भृञ् माङ् ओंहाङ्—एषा त्रयाणामभ्यासस्य इत् स्याच्छ्लौ। मिमीते, मिमाते, मिमते। ममे। माता। मास्यते। मिमीताम्। अमिमीत। मिमीत। मासीष्ट। अमास्त। अमास्यत॥

अर्थ—शप् परे होने पर भृञ्, माङ् और ओंहाङ् धातुओं के अभ्यास को ह्रस्व इकार आदेश हो।

व्याख्या—भृञाम् ।६।३। इत् ।१।१। त्रयाणाम् ।६।३। शपि ।७।१। (भिद्यो त्रयाणां गुण शपि' से)। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत लोपोऽभ्यासस्य' से)। 'भृञाम्' में बहुवचन के निर्देश के कारण 'भृञादीनाम्' अर्थ उपलब्ध हो जाता है। अर्थ—(भृञाम्=भृञादीनाम्) भृञ् आदि (त्रयाणाम्) तीन धातुओं के (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार आदेश होता है (शपि) शप् परे हो तो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह इकारादेश अभ्यास के अन्त्य अच् के स्थान पर किया जायेगा। भृञ् आदि तीन धातु धातुपाठ में मूलोक्त क्रम से पढ़ी गई हैं, इन सब का इसी क्रम में वर्णन आयेगा।

'मा+मा+त' यहां श्लु परे होने से माङ् धातु के अभ्यास के आकार को प्रकृतसूत्र से इकारादेश हो कर—मि+मा+त। अब 'ई हल्यघोः' (६१८) से अभ्यासोत्तर धातु के आकार को ईकार आदेश तथा 'टित आत्मने०' (५०८) से टि को एत्व करने पर 'मिमीते' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में 'मिमा+आताम्' यहां 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' (६१९) से आकार का लोप कर टि को एत्व करने से—मिमाते। बहुवचन में अभ्यास को इत्व करने के बाद 'अदभ्यस्तात्' (६०६) से झकार को अत् आदेश हो कर आकार का लोप हो जाता है—मिमते। लँट् में रूपमाला यथा—मिमीते, मिमाते, मिमते। मिमीषे, मिमाथे, मिमीध्वे। मिमे, मिमीवहे, मिमीमहे।

लिँट्—में सर्वत्र 'आतो लोप इटि च' (४८९) से आकार का लोप हो जाता है—ममे, ममाते, ममिरे। ममिषे, ममाथे, ममिध्वे। ममे, ममिवहे, ममिमहे। श्लु परे न होने से अभ्यास को इत्व नहीं होता।

लुँट्—माता, मातारौ, मातारः। मातासे—। लृँट्—मास्यते, मास्येते, मास्यन्ते। लोँट्—में लँड्वत् कार्य हो कर लोँट् के अपने विशिष्ट कार्य हो जाते हैं। उ० पु० में आट् का आगम पित् होने से ङिद्वत् नहीं होता अतः आकार का लोप नहीं होता। एकवचन में वृद्धि तथा अन्यत्र सवर्णदीर्घ हो जाता है। रूपमाला यथा—मिमीताम्, मिमाताम्, मिमताम्। मिमीष्व, मिमायाम्, मिमीध्वम्। मिमै, मिमावहै, मिमामहै।

लँङ्—पूर्ववत् हलादियों में ईत्व तथा अजादियों में आकार का लोप हो जाता है। प्र० पु० के बहुवचन में 'झि' न होने से 'सिँजभ्यस्त०' (४४७) से जुस् न होगा। 'अदभ्यस्तात्' (६०६) से अत् आदेश हो कर आकारलोप हो जायेगा। रूपमाला यथा—अमिमीत, अमिमाताम्, अमिमत। अमिमीथाः, अमिमाथाम्, अमिमीध्वम्। अमिमि, अमिमीवहि, अमिमीमहि।

वि० लिँङ्—में भी पूर्ववत् शप्, श्लु, द्वित्व तथा 'भृञामित्' (६२२) से अभ्यास को इत्व हो जाता है। सीयुट् के सकार का लोप हो जाने से सर्वत्र अजादियों में आकार का लोप हो जाता है—मिमीत, मिमीयाताम्, मिमीरन्। मिमीथाः, मिमीयाथाम्, मिमीध्वम्। मिमीय, मिमीवहि, मिमीमहि।

आ० लिँङ्—में शप्, श्लु और द्वित्वादि कुछ नहीं होता—मासीष्ट, मासीयास्ताम्, मासीरन्। मासीष्ठाः, मासीयास्थाम्, मासीध्वम्। मासीय, मासीवहि, मासीमहि।

लुँङ्—में कुछ विशेष कार्य नहीं। रूपमाला यथा—अमास्त, अमासाताम्, अमासत (आत्मनेपदेष्वनतः)। अमास्थाः, अमासाथाम्, अमाध्वम् (धि च)। अमासि, अमास्वहि, अमास्महि।

लुँङ्—अमास्यत, अमास्येताम्, अमास्यन्त आदि।

उपसर्गयोग—प्रमिमीते=निश्चय करता है (न परोपहितं न च स्वतः प्रमिमीतेऽनुभवादृतेऽन्यधी —माघ १६।४०)। निर्मिमीते=निर्माण करता है (भुवनरचना-मन्यथा निर्मिमीते (अनर्घ०)। अनुमिमीते=अनुमान करता है (अतिङ्गां प्रकृतिं त्वामुतिङ्गैरनुमिमीमहे—महाभारत)। उपमिमीते=तुलना करता है (स्तनौ मासपन्यौ कनककलशावित्युपमितौ—वैराग्य० १६)। उन्मिमीते=तोलता है।

[लघु०] ओँहाङ् गतौ ॥७॥ जिहीते, जिहाते, जिहते। जहे। हाता। हास्यते। जिहीताम्। अजिहीत। जिहीत। हासीष्ट। अहास्त। अहास्यत॥

अर्थ—ओँहाङ् (हा) धातु 'जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् ङित् होने से आत्मनेपदी तथा 'ऊदन्तैर्०' के अनुसार अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। श्लु में इस के अभ्यास को भी 'भृञामित्' (६२२) से इत्व हो जाता है। रूपमाला यथा—

लँट्—जिहीते, जिहाते, जिहते। जिहीषे, जिहाथे, जिहीध्वे। जिहे, जिहीवहे, जिहीमहे। लिँट—जहे, जहाते, जहिरे। जहिषे, जहाथे, जहिढ्वे जहिध्वे (विभाषेट्)। जहे, जहिवहे जहिमहे। लुँट—हाता, हातारौ, हातारः। हातासे—। लृँट्—हास्यते, हास्येते, हास्यन्ते। लोँट्—जिहीताम्, जिहाताम्, जिहताम्। जिहीष्व, जिहाथाम्, जिहीध्वम्। जिहै, जिहावहै जिहामहै। लँङ्—अजिहीत, अजिहाताम्, अजिहत। अजिहीथाः, अजिहाथाम्, अजिहीध्वम्। अजिहि, अजिहीवहि, अजिहीमहि। वि०लिँङ्—जिहीत, जिहीयाताम्, जिहीरन्। आ०लिँङ्—हासीष्ट, हासीयास्ताम्, हासीरन्। लुँङ्—अहास्त, अहासाताम्, अहासत। अहास्थाः, अहासाथाम्, अहाध्वम्। अहासि, अहास्वहि, अहास्महि। लृँङ्—अहास्यत, अहास्येताम् अहास्यन्त।

उपसर्गयोग—उपाजिहीते=पास आता है (उपाजिहीर्षा न महीतल यदि—माघ १।३७)। उज्जिहीते=उदय होता है (उज्जिहीते हिमांशु—महाना० ४।३५, गणदर्पणे)।

यहा पर जुहोत्यादिगण की आत्मनेपदी धातुओं का विवेचन समाप्त होता है। अब उभयपदी धातुओं का वर्णन करेंगे—

[लघु०] डुभृञ् धारणपोषणयोः ॥८॥

अर्थ—डुभृञ् (भृ) धातु 'धारण करना तथा पालना' अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—डुभृञ् में 'आदिर्ञिटुडवः' (४६२) से 'डु' की तथा 'हलन्त्यम्' (१) से ञकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। दोनों का लोप करने पर 'भृ' मात्र अवशिष्ट

रहता है। ञित् होने से यह धातु उभयपदी है। 'डु' के इत् के कारण 'इवितः क्तिः' (८५७) से क्तिच् तथा 'क्त्रेर्मम् नित्यम्' (८५८) से मप् हो कर 'भृत्रिमम्' (धारण किया हुआ या पाला पोसा गया) रूप बनता है। लँट्, लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् इन चार सार्वधातुक लकारों में शप्, श्लु और द्वित्व करने पर अभ्यास को 'भृञामित्' (६२२) से इत्व हो जाता है।

लँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में शप्, श्लु, द्वित्व तथा अभ्यास को इकारादेश हो कर 'बिभृ+ति' इस स्थिति में सार्वधातुकगुण हो कर—बिभर्ति। द्विवचन में डिद्वद्भाव (५००) के कारण गुण का निषेध हो जाता है—बिभृतः। बहुवचन में झि के झकार को 'अदभ्यस्तात्' (६०६) से अत् आदेश हो कर यणादेश करने से—बिभ्रति। (आत्मने०) में अपित् होने से सर्वत्र डिद्वद्भाव के कारण गुण का निषेध हो जाता है। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) बिभर्ति, बिभृतः, बिभ्रति। बिभर्षि, बिभृथः, बिभृथ। बिभर्मि, बिभृवः, बिभृमः। (आत्मने०) बिभृते, बिभ्राते, बिभ्रते। बिभृषे, बिभ्राथे, बिभृध्वे। बिभ्रे, बिभृवहे, बिभृमहे।

लिँट्—में 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' (६०७) से वैकल्पिक आम् प्रत्यय हो जाता है। आम्पक्ष में श्लुवद्भाव के कारण द्वित्व और अभ्यास को इत्व करने से परस्मै० में 'बिभराञ्चकार, बिभराम्बभूव, बिभरामास' आदि रूप बनते हैं। आम् के अभाव में श्लुवद्भाव न होने से अभ्यास को इकारादेश नहीं होता—'बभार, बभ्रतुः, बभ्रुः' आदि रूप बनते हैं। ऋदियों में 'भृ' का परिगणन होने से लिँट् में कहीं इट् का आगम नहीं होता—बभर्थ, बभूव, बभूम। आत्मने० के आम्पक्ष में श्लुवद्भाव होने से 'बिभराञ्चक्रे, बिभराम्बभूव, बिभरामास' आदि रूप सिद्ध होते हैं। आम् के अभाव में 'बभ्रे' आदि। यहां भी पूर्ववत् इट् कहीं नहीं होता। 'ध्वे' में 'इणः षीध्वम्०' (५१४) से ढत्व हो जाता है। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) आम्पक्षे—बिभराञ्चकार-बिभराम्बभूव-बिभरामास आदि। आमोऽभावे—बभार, बभ्रतुः, बभ्रुः। बभर्थ, बभ्रथुः, बभ्र। बभार-बभर, बभूव, बभूम। (आत्मने०) आम्पक्षे—बिभराञ्चक्रे-बिभराम्बभूव-बिभरामास आदि। आमोऽभावे—बभ्रे, बभ्राते, बभ्रिरे। बभृषे, बभ्राथे, बभृढ्वे। बभ्रे, बभृवहे, बभृमहे।

लुँट्—धातु के अनुदात्त होने से दोनों पदों में इट् का निषेध हो जाता है। (परस्मै०) भर्ता, भर्तारौ, भर्तारः। भर्तासि—। (आत्मने०) भर्ता, भर्तारौ, भर्तारः। भर्तासे—।

लृँट्—'ऋदृनोः स्ये' (४६७) से दोनों पदों में इट् का आगम हो जाता है—(परस्मै०) भरिष्यति, भरिष्यतः, भरिष्यन्ति। (आत्मने०) भरिष्यते, भरिष्येते, भरिष्यन्ते।

लोँट्—में लँट् की तरह शप्, श्लु, द्वित्व तथा अभ्यास को इत्व हो कर लोँट् के अपने विशिष्ट कार्य हो जाते हैं। परस्मै० के तिप् में गुण हो जाता है। 'तातङ्' और 'हि' में गुण नहीं होता। इसी प्रकार ताम् आदि मे भी जान लेना चाहिये। उ० पु० मे आट् के पित् होने से सर्वत्र गुण हो जाता है। आत्मने० में आट् के सिवाय अन्यत्र कहीं गुण नहीं होता। दोनो पदो मे रूपमाला यथा—(परस्मै०) बिभर्तु-बिभृतात्, बिभृताम्, बिभ्रतु। बिभृहि-बिभृतात्, बिभृतम्, बिभृत। बिभराणि, बिभराव, बिभराम। (आत्मने०) बिभृताम्, बिभ्राताम्, बिभ्रताम्। बिभृष्व, बिभ्रायाम्, बिभृध्वम्। बिभरै, बिभरावहै, बिभरामहै।

लँङ्—मे शप्, श्लु, द्वित्व तथा अभ्यास को इत्व हो कर परस्मै० के तिप् और सिप् में गुण करने पर अपृक्त तकार सकार का हल्ङ्यादिलोप हो जाता है। तब पदान्त रेफ को विसर्ग करने पर 'अबिभः' प्रयोग सिद्ध होता है। प्र० पु० के बहुवचन में अभ्यस्त से परे झि को जुस (४४७) तथा 'जुसि च' (६०८) से गुण हो जाता है—अबिभरु। उ० पु० के एकवचन में मिप् को अम् आदेश हो कर गुण हो जाता है—अबिभरम्। आत्मने० में द्वित्व के कारण कहीं गुण नहीं होता। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अबिभः, अबिभृताम्, अबिभरु। अबिभः, अबिभृतम्, अबिभृत। अबिभरम्, अबिभृव, अबिभृम। (आत्मने०) अबिभृत, अबिभ्राताम्, अबिभ्रत। अबिभृथाः, अबिभ्रायाम्, अबिभृध्वम्। अबिभ्रि, अबिभृवहि, अबिभृमहि।

वि० लिँङ्—मे भी शप्, श्लु, द्वित्व और अभ्यास को इत्व हो जाता है। परस्मैपद में यासुट् के डित् होने से गुण नहीं होता। आत्मनेपद में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङिद्वद्भाव के कारण गुण का निषेध हो जाता है। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) बिभृयात्, बिभृयाताम्, बिभृयुः। (आत्मने०) बिभ्रीत, बिभ्रीयाताम्, बिभ्रीरन्। आ० लिँङ्—परस्मै० में आर्धधातुक परे होने से 'रिङ्शयग्लिँङ्क्षु' (५४३) से रिङ् आदेश होकर 'भ्रियात्' आदि रूप सिद्ध होते हैं। आत्मने० में 'उश्च' (५४४) द्वारा ञलादि लिँङ् के कित होने से गुण का निषेध हो जाता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) भ्रियात्, भ्रियास्ताम्, भ्रियासुः। (आत्मने०) भृषीष्ट, भृषीयास्ताम्, भृषीरन्।

लुँङ्—परस्मै० में श्लसहित वृद्धि (४८४) हो कर 'अभार्षीत्' आदि रूप सिद्ध होते हैं। आत्मने० में 'उश्च' (५४४) द्वारा सिच् कित हो जाता है अतः गुण नहीं होता। तः धास् और धम् में 'हस्वादङ्गात्' (५४५) द्वारा सिच् का लोप हो जाता है। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) अभार्षीत्, अभार्ष्टाम्, अभार्षुः। अभार्षीः, अभार्ष्टम्, अभार्ष्ट। अभार्षम्, अभार्ष्व, अभार्ष्म। (आत्मने०) अभृत, अभृषाताम्, अभृषत। अभृथाः, अभृषायाम्, अभृढ्वम्। अभृषि, अभृष्वहि, अभृष्महि।

लृङ्—'ऋद्धनोः स्ये' (४६७) से इट् का आगम हो जाता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अभरिष्यत्, अभरिष्यताम्, अभरिष्यन्। (आत्मने०) अभरिष्यत, अभरिष्येताम्, अभरिष्यन्त।

नोट—'भृञामित्' की तीनों धातुओं का वर्णन हो चुका है। अब आगे अभ्यास को इत्व नहीं होगा।

## [लघु०] डुदाञ् दाने ॥६॥

अर्थः—डुदाञ् (दा) धातु 'देना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ञित् होने से यह धातु भी उभयपदी है। यहां भी पूर्ववत् डु की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। डु के इत् होने से 'ड्वितः क्त्रिः' (८५७) से क्त्रि प्रत्यय तथा 'क्त्रेर्मम् नित्यम्' (८५८) से मप् हो कर 'दो दद् घोः' (८२७) से दद् आदेश हो जाता है—दत्त्रिमः[1]। 'ऊदुदन्तैः०' के अनुसार यह धातु अनुदात्त होने से अनिट् है। लिट् में ऋादिनियम से इट् हो जाता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प होता है।

लँट्—परस्मै० प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, श्लु, द्वित्व और अभ्यास को ह्रस्व हो कर—ददाति। द्विवचन में 'ददा+तस्' इस स्थिति में 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' (६१६)) से आकार का लोप हो कर 'खरि च' (७४) से चर्त्व अर्थात् दकार को तकार करने से 'दत्तः' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि वक्ष्यमाण 'दाधा घ्वदाप्' (६२३) सूत्र से दा धातु की घुसंज्ञा हो जाती है अतः हलादि ङित् सार्वधातुक परे होने पर भी 'ई हल्यघोः' (६१८) में 'अघोः' कहने से ईत्व नहीं होता। घुसञ्ज्ञकों से परे अजादि या हलादि कोई सा भी ङित् सार्वधातुक आये तो आकार का लोप ही हुआ करता है। बहुवचन में 'अदभ्यस्तात्' (६०६) से अत् आदेश हो कर आकार का लोप करने से—ददति। इसी प्रकार आगे भी। आत्मने० में सर्वत्र ङिद्वद्भाव होने से आकार का लोप हो कर यथासम्भव चर्त्व हो जाता है। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) ददाति, दत्तः, ददति। ददासि, दत्थः, दत्थ। ददामि, दद्वः, दद्मः। (आत्मने०) दत्ते, ददाते, ददते। दत्से, ददाथे, दद्ध्वे। ददे, दद्वहे, दद्महे।

लिट्—(परस्मै०) में 'आत श्रौ णलः' (४८८) आदि कार्य हो कर पा धातु की तरह 'ददौ' आदि रूप सिद्ध होते हैं। आत्मने० में सर्वत्र 'आतो लोप इटि च' (४८६) से आकार का लोप हो जाता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) ददौ, ददतुः, ददुः। ददिथ-ददाथ, ददथुः, दद। ददौ, ददिव, ददिम। (आत्मने०) ददे, ददाते, ददिरे। ददिषे, ददाथे, ददिध्वे। ददे, ददिवहे, ददिमहे।

---

१. मनुप्रोक्त १२ पुत्रों में से एक पुत्र। माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि। सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः—मनु० ६.१६८।

लुँट्—धातु के अनुदात्त होने से दोनों पदो मे इण्निषेध हो जाता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) दाता, दातारौ, दातार । दातासि—। (आत्मने०) दाता, दातारौ, दातार । दातासे—।

लृँट्—पूर्ववत् इण्निषेध हो जाता है—(परस्मै०) दास्यति, दास्यत, दास्यन्ति । (आत्मने०) दास्यते, दास्येते, दास्यन्ते ।

लोँट्—(परस्मै०) प्रथम पुरुष मे लँट् की तरह कार्य हो कर पुन लोँट् के अपने विशिष्ट कार्य हो जाते हैं—ददातु-दत्तात्, दत्ताम्, ददतु । म० पु० के एकवचन मे 'ददा+हि' इस स्थिति मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(६२३) दाधा घ्वदाप् ।१।१।१९॥

दारूपा धारूपाश्च धातवो घुसञ्ज्ञा. स्यु., दाप्-दैपौ विना । घ्वसोर्० (५७७) इत्येत्त्वम्—देहि । दत्तम् । अददात्, अदत्त । दद्यात्, ददीत । देयात्, दासीष्ट । अदात्, अदाताम्, अदु ॥

अर्थ—दारूप वाले तथा धारूप वाले धातु घुसञ्ज्ञक होते हैं दाप् और दैप् को छोड कर ।

व्याख्या—दाधा ।१।३। घु ।१।१। अदाप् ।१।१। दाश्च दाश्च दाश्च दाश्चेत्येतेषामेकशेषे—दा । धाश्च धाश्च—धौ । दाश्च धौ च—दाधा । न दाप्—अदाप् । अर्थ—(दाधा) दा और धा रूप वाली धातुए (घु) घुसञ्ज्ञक होती हैं (अदाप्) दाप् रूप वाली धातुओं को छोड कर । जिन धातुओ का दा और धा रूप बनता है उन सब का यहां ग्रहण अभीष्ट है[1] । कुछ धातु तो स्वत दा धा रूप वाली होती हैं, यथा—डुदाञ् दाने, दाण् दाने, डुधाञ् धारणपोषणयो । कुछ धातु 'आदेच उपदेशेऽशिति' (४६३) के लगने के बाद दा धा रूप धारण कर लेती है । यथा—धेट् पाने, देट् रक्षणे, दो अवखण्डने । यहा स्वाभाविक और लाक्षणिक दोनों प्रकार की दा धा रूप वाली धातुओ का ग्रहण अभीष्ट है । 'अदाप्' मे भी इसी प्रकार स्वाभाविक और लाक्षणिक दोनों प्रकार के 'दाप्' का वर्जन होता है । 'दाप् लवने (अदा० परस्मै०) धातु स्वत दाप् है और दैप् शोधने (भ्वा० परस्मै०) धातु 'आदेच०' (४६३) से आत्व करने पर दाप् बनती है । इस प्रकार सारे धातुपाठ मे दारूप वाली चार और धारूप वाली दो, कुल मिला कर छ धातु घुसञ्ज्ञक ठहरती हैं—(१) दाण् दाने;

---

१ 'गा-मा दाण्हणेष्वविशेषे' इस परिभाषा के बल से दारूप वाली स्वाभाविक और लाक्षणिक दोनो प्रकार की धातुओ का यहा निर्बाध ग्रहण हो जाता है । 'धा' के अश मे दोनों प्रकार की धातुओं के ग्रहण मे ज्ञापक है 'दो दद् घो' (८२७) सूत्र मे 'द' का ग्रहण । वह धेट् की निवृत्ति के लिये ही किया गया है क्योंकि 'डुधाञ् धारणपोषणयो' के लिये तो 'दधातेर्हि' (८२६) द्वारा विशेष विधान है ही (विस्तार के लिये काशिका-न्यास-पदमञ्जरी का अवलोकन करें) ।

(२) डुदाञ् दाने; (३) दो अवखण्डने; (४) देङ् रक्षणे; (५) डुधाञ् धारणपोषणयोः; (६) धेट् पाने। इन के अतिरिक्त अन्य कोई धातु घुसञ्ज्ञक नहीं[1]—

देङ्-दाणौ,दो-डुदाञौ च, धेट्-डुधाञावुभावपि।
पाणिनीये महातन्त्रे, प्रोक्ता घुसञ्ज्ञका अमी॥

घुसञ्ज्ञा के अनेक कार्य हुआ करते हैं। यथा—(१) घुमास्था० (५८८) से हलादि कित्प्रत्ययों में घुसञ्ज्ञकों को ईत्व होता है—दीयते, धीयते (यक्) आदि। (२) ध्वसोर्० (५७७) से 'हि' परे होने पर घुसञ्ज्ञक धातु को एत्व तथा उस के अभ्यास का लोप हो जाता है—देहि, धेहि। (३) एर्लिङि (४९०) से कित् लिङ् में घुसञ्ज्ञक को एकार आदेश हो जाता है—देयात्, धेयात्। (४) गातिस्था० (४३९) से लुङ् में घुसञ्ज्ञकों से परे सिच् का लुक् हो जाता है—अदात्, अधात्। (५) 'नेर्गद०' (४५३) द्वारा घुसञ्ज्ञक के परे रहते णत्व हो जाता है—प्रणिददाति, प्रणिदधाति, प्रणियच्छति। (६) स्थाघ्वोरिच्च (६२४) से घुसञ्ज्ञकों को इत् अन्तादेश तथा उन से परे सिच् कित् हो जाता है—अदित, अधित। (७) ई हल्यघोः (६१८) में 'अघोः' कह कर घुसञ्ज्ञकों के आकार को ईत्व नहीं किया जाता—दत्तः, दत्यः, दद्यः आदि।

दाप् और दैप् भी यद्यपि दा रूप वाले हैं तथापि सूत्र में 'अदाप्' के कथन से उन की घुसञ्ज्ञा नहीं होती। इस से 'अवदातं वर्हिः' (कटी हुई कुशा; अव√दाप्+क्त), 'अवदातं मुखम्' (शुद्ध किया हुआ मुख; अव√दैप्+क्त) इत्यादियों में दाप् और दैप् के आकार को 'अच उपसर्गात्तः' (७.४.४७) द्वारा 'त्' आदेश नहीं होता।

'ददा+हि' यहां 'दा' की प्रकृतसूत्र से घुसञ्ज्ञा हो जाने पर 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (५७७) से घु के आकार को एत्व तथा अभ्यास का लोप करने से 'देहि' प्रयोग सिद्ध होता है।

(आत्मने०) में उ० पु० को छोड़ कर सर्वत्र आकार का लोप हो जाता है। उ० पु० में आट् के पित् होने से एकवचन में वृद्धि तथा अन्य वचनों में सवर्णदीर्घ हो जाता है। लोट् के दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) ददातु-दत्तात्, दत्ताम्, ददतु। देहि-दत्तात्, दत्तम्, दत्त। ददानि, ददाव, ददाम। (आत्मने०) दत्ताम्, ददाताम्, ददताम्। दत्स्व, ददाथाम्, दद्ध्वम्। ददै, ददावहै, ददामहै।

लँङ्—में पूर्ववत् शप्, श्लु, द्वित्व और आकार का लोप हो जाता है। परस्मै० के तिप्, सिप् और मिप् (अम्) में ङित् न होने से आकार का लोप नहीं होता। झि में 'सिजभ्यस्त०' (४४७) से जुस् आदेश हो कर आकार का लोप हो जाता

---

१. 'दीङ्' के विषय में इस धातु की व्याख्या में हमारी टिप्पणी देखें।

है। आत्मने० में सर्वत्र ङित्त्व के कारण आकारलोप होता है। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) अददात्, अदत्ताम्, अददुः। अददाः, अदत्तम्, अदत्त। अददाम्, अदद्व, अदद्म। (आत्मने०) अदत्त, अददाताम्, अददत। अदत्थाः, अददाथाम्, अदद्ध्वम्। अददि, अदद्वहि, अदद्महि।

वि० लिङ्—परस्मै० में यासुट् के ङित् होने से सर्वत्र आकार का लोप हो जाता है। आत्मने० में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित्त्व के कारण आकारलोप समझना चाहिये। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) दद्यात्, दद्याताम्, दद्युः। (आत्मने०) ददीत, ददीयाताम्, ददीरन्।

आ० लिङ्—परस्मै० में यासुट् के आर्धधातुक कित् होने के कारण 'एर्लिङि' (४६०) द्वारा घुसञ्ज्ञक दा के आकार को एकार होकर 'देयात्' आदि रूप सिद्ध होते हैं। आत्मने० में सार्वधातुक न होने से आकार का लोप न हो कर 'दासीष्ट' आदि रूप बनते हैं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) देयात्, देयास्ताम्, देयासुः। (आत्मने०) दासीष्ट, दासीयास्ताम्, दासीरन्।

लुङ्—(परस्मै०) में घुसञ्ज्ञा हो कर 'गातिस्थाघु०' (४३६) से सिच् का लुक् हो कर 'अदात्, अदाताम्' सिद्ध होते हैं। झि में सिच् का लुक् हो कर 'आत' (४६१) से 'झि' को जुस् तथा 'उस्यपदान्तात्' (४६२) से पररूप एकादेश करने पर—अदुः। रूपमाला यथा—अदात्, अदाताम्, अदुः। अदाः, अदातम्, अदात। अदाम्, अदाव, अदाम।

(आत्मने०) में 'अदा+स्+त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६२४) स्याश्वोरिच्च ।१।२।१७॥

अनयोरिदन्तादेशः, सिच्च कित् स्यादात्मनेपदे। अदित। अदास्यत्, अदास्यत॥

अर्थ—स्या तथा घुसञ्ज्ञक धातुओं के अन्त्य अल् के स्थान पर ह्रस्व इकार आदेश हो तथा सिच् कित् भी हो जाये आत्मनेपद प्रत्यय परे हों तो।

व्याख्या—स्याश्वोः ।६।२। इत् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। सिच् ।१।१। ('हन सिच्' से)। कित् ।१।१। ('अनयोर्गाङ्किट् कित्' से)। आत्मनेपदेषु ।७।३। ('लिङ्-सिचावात्मनेपदेषु' से)। स्याश्च घुश्च स्याघू, तयोः—स्याश्वोः। इतरेतरद्वन्द्वः[1]। अर्थः—(स्याश्वोः) स्या और घुसञ्ज्ञक धातुओं के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार आदेश हो जाता है (च) और साथ ही (सिच्) सिच् भी (कित्) कित् हो जाता है

१ 'द्वन्द्वे घि' (६८७) इति घे पूर्वनिपाते घुसंज्ञोरिन्द्वोचितमासीत्। पर इतरेतरनिपातशास्त्रस्याऽनित्यत्वज्ञापनाय सौत्रोऽत्र स्याघाविति केचित्।

(आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद प्रत्ययों के परे होने पर। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह ह्रस्व अन्त्य अल्-आकार के स्थान पर होता है। स्था के उदाहरण—उपास्थित, उपास्थिषाताम्, उपास्थिषत आदि सि० कौ० की आत्मनेपदप्रक्रिया में देखें।

'अदा+स्+त' यहां आत्मनेपद परे है अतः प्रकृतसूत्र से घुसञ्ज्ञक 'दा' के आकार को इकारादेश तथा सिँच् किद्वत् हो गया—अदि+स्+त। सिँच् के कित् होने से सिँज्निमित्तक गुण का निषेध हो कर 'ह्रस्वादङ्गात्' (६.४.९) से सकार का लोप करने पर 'अदित' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि अब यहां 'त' को मान कर ह्रस्व इकार को गुण प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि गुण (७.३.८४) की दृष्टि में सकार का लोप (८.२.२७) असिद्ध है[1]।

शङ्का—अजी! सिँच् को कित् क्यों करते हो? ह्रस्वविधानसामर्थ्य से ही गुण न होगा।

समाधान—'अदा+स्+त' इत्यादि में इक् न होने से गुण सर्वथा प्राप्त न था अतः ह्रस्वविधान लाघववश गुण की प्रवृत्ति के लिये किया गया है—ऐसा कहीं समझ न लिया जाये इसलिये सिँच् को कित् किया गया है।

द्विवचन में झल् परे न होने से सकार का लोप नहीं होता—अदिषाताम्। लुँङ् आत्मने० में रूपमाला यथा—अदित, अदिषाताम्, अदिषत। अदिथाः, अदिषाथाम्, अदिढ्वम्। अदिषि, अदिष्वहि, अदिष्महि।

लृँङ्—(परस्मै०) अदास्यत्, अदास्यताम्, अदास्यन्। (आत्मने०) अदास्यत, अदास्येताम्, अदास्यन्त।

उपसर्गयोग—आदत्ते[2]=ग्रहण करता है (सहस्रगुणमुत्स्रष्टुम् आदत्ते हि रसं रविः—रघु० १.१८)। प्रदत्ते-प्रददाति=देता है (सकृत् कन्या प्रदीयते—मनु० ९.४७)। सम्प्रदत्ते=भली भांति देता है। व्याददाति मुखम्—मुह खोलता है।

**[लघु०] डुधाञ् धारण-पोषणयोः ॥१०॥ दधाति।**

अर्थः—डुधाञ् (धा) धातु 'धारण वा पोषण करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—डुधाञ् में भी पूर्ववत् 'डु' तथा 'ञ्' इत्सञ्ज्ञक हैं। डु के इत् होने से पूर्ववत् किञ्च तथा मप् हो कर 'दधातेर्हिः' (८२६) से 'हि' आदेश करने पर 'हिञ्चिमम्'

---

१. 'त' इत्यस्य ङित्त्वादिकारस्य न गुणः—इति व्याचक्षाणा बालमनोरमाकारा अत्र भ्रान्ताः।

२. 'आङो दोऽनास्यविहरणे' (१.३.२०) से यहां नित्य आत्मनेपद हो जाता है।

प्रयोग सिद्ध होता है। अनेक आचार्य इस धातु को दानार्थक भी मानते हैं। अत एव निरुक्त (७ १५) में 'रत्नधातमम्—रमणीयानां धनानां दातृतमम्' ऐसा व्याख्यान किया गया है। क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी में 'डुधाञ् दान-पोषणयो' ऐसा स्पष्ट लिखा भी है। 'ऋवृदन्तं०' के अनुसार यह धातु अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से इट् होता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प हो जाता है।

लँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में शप्, श्लु, द्वित्व तथा अभ्यास को जश्त्व करने पर 'दधाति' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां ङित् परे न होने से 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (६।४।६६) से आकार का लोप नहीं होता। द्विवचन में 'दधा+तस्' इस स्थिति में ङित् परे होने पर आकार का लोप करने पर—दध्+तस्। अब हमें 'धष्' इस झषन्त के बश्-दकार को भष्-धकार करना है, परन्तु यह कार्य 'एकाचो बशो भष्०' (२५३) से सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह सकार झ्य या पदान्त में ही प्रवृत्त होता है। किञ्च 'दध्' मे 'अभ्यासे चर्च' (३६६) द्वारा किया गया जश्त्व भी उस की दृष्टि में असिद्ध है, उसे यहां बश् नहीं दिखाई दे रहा अपितु षकार दिखाई देता है। अत. इस के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६२५) दधस्तथोश्च ।८।२।३८॥

द्विरुक्तस्य झषन्तस्य धात्रो बशो भष् स्यात्, तथो स्ध्वोश्च परत.। धत्तः। दधति। दधासि, धत्थः, धत्थ। धत्ते, दधाते, दधते। धत्से। धद्ध्वे। ध्वसोरेद्०(५७७)—धेहि। अदधात्, अधत्त। दध्यात्, दधीत। धेषात्, धासीष्ट। अधात्; अधित। अधास्यत्, अधास्यत॥

अर्थः—तकार, थकार, सकार या ध्वशब्द परे होने पर द्वित्व किये हुए झषन्त धात्र् धातु के बश् को भष् हो।

व्याख्या—दध. ।६।१। तथो ।७।२। च इत्यव्ययपदम्[1]। झषन्तस्य ।६।१। बश ।६।१। भष् ।१।१। स्ध्वो ।७।२। ('एकाचो बशो भष्०' से)। द्वित्व करने पर धात्र् का 'दधा' रूप बन जाता है, 'विश्वप' की तरह उस का षष्ठ्यन्तरूप 'दध' यहा ग्रहण किया गया है। 'झषन्तस्य' और 'दध' का सामानाधिकरण्य है। त् च प् च तथो, तथो =तथो। तकारादकार उच्चारणार्थ, इतरेतरद्वन्द्व। झष् (प्रत्याहार) अन्ते यस्य स झषन्त, तस्य=झषन्तस्य। बहुव्रीहि०। अर्थ.—(तथो. स्ध्वोश्च) तकार, थकार, सकार या ध्वशब्द परे होने पर (झषन्तस्य दध =कृतद्वित्वस्य धात्र') द्वित्व किये गये झषन्त धात्र् धातु के (बश) बश् के स्थान पर (भष्) भष् आदेश हो जाता

---

१ यदि 'च' का ग्रहण न करते तो केवल तकार थकार मे ही भष्भाव होता, 'धत्से, धद्ध्वे' मे न होता। अब थकार के बल से 'स्ध्वो.' की अनुवृत्ति आ कर कोई दोष नहीं आता।

है। कृतद्वित्व झषन्त धाञ् धातु में वश् केवल दकार ही मिल सकता है अतः आन्तर-तम्य से इसे भष्-धकार ही होगा। ध्यान रहे कि इस सूत्र की दृष्टि में 'अभ्यासे चर्च' (३९९) द्वारा किया जश्त्व असिद्ध नहीं होता, कारण कि यदि ऐसा हो तो इसे कहीं वश् ही न मिले और यह सूत्र व्यर्थ हो जाये।

इस सूत्र की प्रवृत्ति में तीन बातें आवश्यक हैं। (१) द्वित्व की हुई धाञ् धातु। (२) उस का झषन्त होना। (३) उस से परे तकार थकार सकार या ध्वशब्द का होना। जब तक तीनों बातें पूरी नहीं होतीं इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। 'दधाति, दधासि' में धाञ् को द्वित्व तो हुआ है परन्तु आकार का लोप न होने से वह झषन्त नहीं अतः इस सूत्र से दकार को धकार नहीं हुआ। 'दध्यात्' आदि में धाञ् को द्वित्व हुआ है, आकार का लोप होने से वह झषन्त भी है परन्तु उस से परे तकार थकार सकार या ध्वशब्द में से कोई नहीं अतः भष्भाव नहीं होता।

यह सूत्र धाञ् में एक प्रकार से 'अभ्यासे चर्च' (३९९) द्वारा किये कार्य को नष्ट कर देता है। 'अभ्यासे चर्च' से धकार को दकार किया जाता है परन्तु यह सूत्र दकार को पुनः धकार कर देता है।

'दध्+तस्' यहां धाञ् धातु को द्वित्व हो चुका है, आकार का लोप होने से यह झषन्त बन चुकी है। इस से परे तकार भी विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से अभ्यास के वश् अर्थात् दकार को भष् धकार हो कर—धध्+तस्। 'झषस्तथोर्धोऽधः' (५४९) में 'अधः' कहा गया है अतः धाञ् से परे तकार को धकार नहीं होता। अब 'खरि च' (७४) से धातु के अन्त्य धकार को चर्त्व-तकार करने पर दत्तः' प्रयोग सिद्ध होता है।

बहुवचन में 'दधा+झि' यहां 'अदभ्यस्तात्' (६०६) से अत् आदेश तथा 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' (६१९) से आकार का लोप करने से—दध्+अति। अब यहां द्वित्व हो कर धातु झषन्त तो बन चुकी है परन्तु तकार, थकार, सकार और ध्वशब्द में से किसी के परे न होने से वश् को भष् नहीं होता, 'दधति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

म० पु० के एकवचन सिप् में तिप्प्रत्यय की तरह—दधासि। द्विवचन में आकार का लोप हो कर—दध्+थस्। यहां थकार परे होने से प्रकृतसूत्र द्वारा दकार को धकार हो जाता है—धध्+थस्। अब 'खरि च' (७४) से चर्त्व करने पर 'धत्थः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार बहुवचन में—धत्थ। उ० पु० के एकवचन में पूर्ववत्—दधामि। द्विवचन और बहुवचन में आकार का लोप हो जाता है। लँट् परस्मैपद में रूपमाला यथा—दधाति, दत्तः, दधति। दधासि, धत्थः, धत्थ। दधामि, दध्वः, दध्मः।

(आत्मने०) प्र० पु० के एकवचन में द्वित्व, आकारलोप, तकार परे रहने से 'दधस्तथोश्च' द्वारा दकार को धकार तथा टि को एत्व कर चर्त्व करने पर—धत्ते।

द्विवचन में—दधा+आते=दध्+आते=दधाते। बहुवचन में झत् आदेश तथा टि को एत्व हो कर—दधा+अते=दध्+अते=दधते। म०पु० के एकवचन में—दधा+से=दध्+से, यहा सकार परे है अत भष्त्व हो जाता है—धध्+से। अन्त मे 'खरि च' (७४) द्वारा चर्त्व करने पर 'धत्से' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार बहुवचन में—दधा+ध्वे=दध्+ध्वे=धध्+ध्वे, अब 'झषां जशस्झि' (१६) से अन्त्य धकार को जशत्व-दकार करने पर—धद्ध्वे। उ० पु० के एकवचन में—दधा+इट्=दधा+ए=दध्+ए=दधे। द्विवचन और बहुवचन में आकार का लोप हो कर रूप सिद्ध होते हैं। लेंट् के आत्मनेपद में रूपमाला यथा—धत्ते, दधाते, दधते। धत्से, दधाथे, धद्ध्वे। दधे, दध्वहे, दध्महे।

लिंट्—में डुदाञ् की तरह दोनो पदों में प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) दधौ, दधतुः, दधुः। दधिथ-दधाथ, दधथुः, दध। दधौ, दधिव, दधिम। (आत्मने०) दधे, दधाते, दधिरे। दधिषे, दधाथे, दधिध्वे। दधे, दधिवहे, दधिमहे।

लुंट्—(परस्मै०) धाता, धातारौ, धातारः। धातासि—। (आत्मने०) धाता, धातारौ, धातारः। धातासे—। लृंट्—(परस्मै०) धास्यति, धास्यतः, धास्यन्ति। (आत्मने०) धास्यते, धास्येते, धास्यन्ते।

लोंट्—दोनों पदों में लेंट् की तरह प्रक्रिया हो कर लोंट् के अपने विशिष्ट कार्य हो जाते हैं। परस्मै० के सिप् मे 'दधा+हि' इस स्थिति में घुसञ्ज्ञा हो कर 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' (६४११२) का परत्व के कारण बाध कर 'च्वोरेदावभ्यासलोपश्च'(६४११६) से आकार को एकार तथा साथ ही अभ्यास का लोप करने से धेहि' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) दधातु-धत्तात्, धत्ताम्, दधतु। धेहि धत्तात्, धत्तम्, धत्त। दधानि, दधाव, दधाम। (आत्मने०) धत्ताम्, दधाताम्, दधताम्। धत्स्व, दधाथाम्, धद्ध्वम्। दधै, दधावहै, दधामहै।

लेंड्—मे कुछ विशेष नहीं। दोनों पदों मे रूपमाला यथा—(परस्मै०) अदधात्, अधत्ताम्, अदधुः। अदधाः, अधत्तम्, अधत्त। अदधाम्, अदध्व, अदध्म। (आत्मने०) अधत्त, अदधाताम्, अदधत। अधत्थाः, अदधाथाम्, अधद्ध्वम्। अदधि, अदध्वहि, अदध्महि।

वि० लिंड्—(परस्मै०) दध्यात्, दध्याताम्, दध्युः। (आत्मने०) दधीत, दधीयाताम्, दधीरन्।

आ० लिंट्—परस्मै० में 'एर्लिङि' (४६०) से एत्व हो जाता है। आत्मने० में कुछ विशेष नही। रूपमाला यथा—(परस्मै०) धेयात्, धेयास्ताम्, धेयासुः। (आत्मने०) धासीष्ट, धासीयास्ताम्, धासीरन्।

लुंट्—परस्मै० मे 'गातिस्थाघु०' (४३६) से सिच् का लुक् हो जाता है। आत्मने० में 'अधा+स्+त' इस स्थिति में 'स्थाध्वोरिच्च' (६२४) से आकार को

इत्व तथा सिच् के कित् हो जाने से गुण का निषेध हो कर 'हल्यादङ्गात्' (५४५) से सकार का लोप हो जाता है अधित । रूपमाला यथा—(परस्मै०) अधात्, अधाताम्, अधुः । अधाः, अधातम्, अधात । अधाम्, अधाव, अधाम । (आत्मने०) अधित, अधिषाताम्, अधिषत । अधिथाः, अधिषाथाम्, अधिढ्वम् । अधिषि, अधिष्वहि, अधिष्महि ।

लृँङ्—(परस्मै०) अधास्यत्, अधास्यताम्, अधास्यन् । (आत्मने०) अधास्यत, अधास्येताम्, अधास्यन्त ।

उपसर्गादियोग—वि√धा=करना (सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्—किरात० २.३०); निर्माण करना-बनाना (ये द्वे कालं विधत्तः—शाकुन्तल १.१; तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना—रघु० १.२९); विधान करना (प्राङ् नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते—मनु० २.२९; पाणिनिश्च क्रियाफलस्य कर्तृगामित्वे सत्यात्मनेपदं विदधाति—जैनेन्द्र व्या०) ।

परि√धा=पहनना (त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीम्—रघु० ३.३१) ।

प्रति+वि√धा=प्रतिकार करना (दोषं तु मे कञ्चित्कमपि येन स प्रतिविधीयते—उत्तर० १; क्षिप्रमेव कस्मान्न प्रतिविहितमार्येण—मुद्रा० ३) ।

अभि√धा=कहना (साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः—काव्यप्रकाश २.७; इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते—गीता १३.१) ।

नि√धा=रखना (निधाय हृदि विश्वेशम्—तर्कसंग्रह; पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते—रघु० ३.६२); देना-अलग करना (दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः—रघु० ४.१) ।

आ√धा=धारण करना (गर्भमाधत्त राज्ञी—रघु० २.७५; शेषः सर्वंसहोर्वीभारः—शाकुन्तल ५.४); अर्पण करना, ध्यान करना (ब्रह्मण्याधाय कर्माणि—गीता ५.१०; मय्येव मन आधत्स्व—गीता १२.८); रखना (जनपदे न पदः पदमादधौ—रघु० ९.४); उत्पन्न करना (छायाश्चरन्ति बहुधा नयमादधानाः—शाकुन्तल ३.४१; इसी प्रकार—शुद्धिमादधाना, विस्मयमादधाना आदि) ।

अव√धा=रखना, अन्दर रखना (यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः—शतपथ०); ध्यान करना (भवद्भिरवधानं दीयमानं प्रार्थये—वेणी० १; शृणुत जना अवधानात् क्रियामिमां कालिदासस्य—विक्रमो० १.२) ।

वि+अव√धा=छिपाना (शापव्यवहितस्मृतिः—शाकु० ५) ।

सम्√धा=सन्धि करना, मिलाप करना (शत्रुणा न हि सन्दध्यात् सुश्लिष्टेनापि सन्धिना—हितोप० १८८); मिलाना-संयुक्त करना-चढ़ाना (धनुष्यमोघं समधत्त सायकम्—कुमार० ३.६६); सामना करना-सामना (शतमेकोऽपि सन्धत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः—पञ्च० १.२२९); उत्पन्न करना (सन्धत्ते मृगमरतिं हि सद्वियोगः—किरात० ५.५१) ।

अनु+सम्√धा=अनुसन्धान करना, ढूंढना, खोजना (प्रसवयोग्यस्थान-मनुसन्धीयताम्—हितोप० २ ६); शान्त करना (आत्मानमनुसन्धेहि शोकचर्चाश्च परिहर—हितोप० ४ ३), विचार करना ध्यान करना (यथाकर्तव्यमनुसन्धीयताम्—हितोप० ३, मेतदनुसन्धाय मयोक्तम्—महावीरचरित ६; यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतर—मनु० १२ १०६, अलमतीतोपालम्भनेन प्रस्तुतमनुसन्धीयताम्—हितोप० ३), प्रबन्ध करना, ठीक-ठाक करना (सारस ! त्व दुर्गमनुसन्धेहि—हितोप० ३)।

सम्+आ√धा=समाधान करना, हल करना (उत्पन्नामापद वस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान्—हितोप०), रखना (पद मूर्ध्नि समाधत्ते केसरी मत्तदन्तिन—पञ्च० १.३५७); शान्त करना (न शशाक समाधातु मनो मदनवेपितम्—भागवत)।

अति+सम्√धा=धोखा देना (त्वया चन्द्रमसा चाऽतिविश्वसनीयाभ्याम् अतिसन्धीयते कामिसार्थ—शाकु० ३)।

अभि+सम्√धा=धोखा देना, ठगना (जनं विज्ञानेक सकलमभिसन्धाय कपटै—मालती० १ १७), जीतना-वशीभूत करना (तान् सर्वान् अभिसन्दध्यात् सामादिभिरुपक्रमै —मनु० ७ १९६), उद्देश्य करना (ऋष्यमूकमभिसन्धाय—महावीर० ५, अभिसन्धाय तु फलम्—गीता १७ १२)।

प्र+नि√धा=जडना (कनकभूषणसग्रहणोचितो यदि मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते—पञ्च० १ ८१); फैलाना (ममाकाशप्रणिहितभुज निर्दयाश्लेषहेतो.—मेघ० १०६), झुकाना-नीचे करना (तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायम्—गीता ११.४४)।

अपि√धा=आच्छादित करना, ढापना ('दधि भागुरिरल्लोपमवाप्योपसर्गयो' से 'अपि' के अकार का लोप हो जाता है, पिधत्ते=ढापता है; गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते। कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्य वा ततोऽन्यत—मनु० २.२००)।

पुरस्√धा (पुरोधा)=आगे करना (पुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायम्भुव ययौ—कुमार० २.१)।

तिरस्√धा (तिरोधा)=छिपना (अभिवृष्य मरुत्सख्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे—रघु० १०.४८; ऋषिस्तिरोदधे—रघु० ११.६१)[1]।

---

१ उपसृष्ट धा धातु के विषय में पण्डितराज जगन्नाथ का यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है (गङ्गालहरी १८)—

निधान धर्माणां किमपि च विधान नवमुदा
प्रधान सौख्यानाममलपरिधान त्रिजगत।
समाधान बुद्धेरप सतु तिरोधानमधियां
श्रियामाधान न परिहरतु ताप तव वपु॥

अन्तर्√धा=छिपना (मत्तो माऽन्तर्धिथाः सीते—भट्टि० ६.१५; अन्तर्धत्स्व रघुव्याघ्रात् तस्मात्त्वं राक्षसेश्वर— भट्टि० ५.३२; उपाध्यायादन्तर्धत्ते—काशिका १.४.२८); छिपाना-गुप्त करना-अन्दर डालना (तया विश्वम्भरे देवि ! मामन्तर्धातुमर्हसि—रघु० १५.८१)।

[लघु०] णिजिर् शौच-पोषणयोः ॥११॥

अर्थः—णिजिर् (निज्) धातु 'पवित्र करना-धोना या पोषण करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—णिजिर् धातु का इर् अनुबन्ध वक्ष्यमाण वार्त्तिक (३७) से इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। 'णो नः' से आदि णकार को भी नकार हो जाता है। इस प्रकार 'निज्' ही अवशिष्ट रहता है। इर् के इत् करने का प्रयोजन 'इदितो वा' (६२८) द्वारा च्लि को वैकल्पिक अङ् करना है। णोपदेश का फल 'उपसर्गादसमासेऽपि०' (४५६) द्वारा णत्व करना है—निर्+नेनिक्ते=निर्णेनिक्ते। इर् में इकार के स्वरित होने से स्वरितेत् के कारण यह धातु उभयपदी है। इस धातु का साहित्य में विरल प्रयोग देखा जाता है—सन्तुः पयः पपुरनेनिजुरम्बराणि (माघ ५.२८); तोयनिर्णिक्तपाणयः (रघु० १७.२२)। अनुदात्तों में परिगणित होने से यह धातु अनिट् है परन्तु लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। अब इर् की समुदितरूपेण इत्सञ्ज्ञा करने के लिये अग्रिमवार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(३७) इर इत्सञ्ज्ञा वाच्या ॥

अर्थः—इर् की इत्सञ्ज्ञा कहनी चाहिये।

व्याख्या—इस वार्त्तिक से णिजिर् विजिर् आदि धातुओं में इर् की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। यद्यपि 'हलन्त्यम्' (१) से रेफ की तथा 'उपदेशेऽजनु०' (२८) से इकार की इत्सञ्ज्ञा हो कर भी इर् लुप्त हो सकता था तथापि इस प्रकार करने से इदित् होने के कारण 'इदितो नुम् धातोः' (४६३) द्वारा धातु को नुम् प्रसक्त होता था जो अनिष्ट था अतः उस से बचने के लिये यहां समूचे इर् की इत्सञ्ज्ञा की गई है[1]।

लँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप्, श्लु, द्वित्व तथा अभ्यास के हल् का लोप हो कर—नि+निज्+ति। अब अभ्यास को गुण करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

१. वस्तुतः यह वार्तिक व्यर्थ है क्योंकि 'इदितो नुम् धातोः' (४६३) में 'गोः पादान्ते' (७.१.५७) से 'अन्ते' की अनुवृत्ति आ कर 'अन्त में इकार इत् वाली धातु को नुम् हो' इस प्रकार अर्थ हो जाने से कोई दोष प्रसक्त नहीं होता। यह सब पीछे उस सूत्र की व्याख्या में हम स्पष्ट कर चुके हैं।

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६२६) णिजा त्रयाणा गुण. श्लौ ।[1]
७।४।७५॥

णिज्-विज्-विषाम् अभ्यासस्य गुण स्याच्छ्लौ । नेनेक्ति, नेनिक्त, नेनिजति । नेनिक्ते । निनेज, निनिजे । नेक्ता । नेक्ष्यति, नेक्ष्यते । नेनेक्तु । नेनिग्धि ॥

अर्थं —णिजाम् ।६।३। त्रयाणाम् ।६।३। गुण ।१।१। श्लौ ।७।१। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत लोपोऽभ्यासस्य' से) । 'णिजाम्' मे बहुवचन के निर्देश से 'णिजादीनाम्' समझा जाता है । णिज् आदि तीन धातु धातुपाठ मे इस प्रकार पढी गई हैं—(१) णिजिर् शौचपोषणयो, (२) विजिर् पृथग्भावे, (३) विष्लृ व्याप्तौ। अर्थ —(णिजाम्) णिज् आदि (त्रयाणाम्) तीन धातुओ के (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (गुण·) गुण आदेश हो जाता है (श्लौ) श्लु परे हो तो। 'इको गुणवृद्धी' (१।१।३) के अनुसार यह गुण अभ्यास के इक् के स्थान पर होता है। लँट्-लोँट्-लँङ् और विधिलिँङ् में ही श्लु हुआ करता है अत इन में ही अभ्यास के इक् को गुण हो जायेगा ।

'नि+निज्+ति' यहाँ श्लु परे है अत णिज् धातु के अभ्यास 'नि' के इक्—इकार को प्रकृतसूत्र से एकार गुण करने पर—ने+निज्+ति । अब धातु को तिङ्निमित्तक लघूपध-गुण हो कर 'चो कु' (३०६) से कुत्व तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व करने से 'नेनेक्ति' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में तस् के ङित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है परन्तु श्लुनिमित्तक अभ्यासगुण निर्बाध हो जाता है—नेनिक्त । बहुवचन में अत् आदेश (६०६) होकर—नेनिजति । म०पु०—के एकवचन मे अभ्यासगुण तथा लघूपधगुण हो कर 'नेनेज्+सि' इस स्थिति में 'चो कुः (३०६) से कुत्व, 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) से षत्व तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व करने पर 'नेनेक्षि' प्रयोग सिद्ध होता है। परस्मै० में रूपमाला यथा—नेनेक्ति, नेनिक्त, नेनिजति । नेनेक्षि, नेनिक्थ, नेनिक्थ । नेनेज्मि, नेनिज्वः, नेनिज्मः ।

(आत्मने०) में ङित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है परन्तु श्लुनिमित्तक अभ्यासगुण सर्वत्र निर्बाध होता है । रूपमाला यथा—नेनिक्ते, नेनिजाते, नेनिजते । नेनिक्षे, नेनिजाथे, नेनिग्ध्वे । नेनिजे, नेनिज्वहे, नेनिज्महे ।

लिँट्—में शप्-श्लु नहीं होता अत अभ्यास को गुण भी नहीं होता। रूपमाला यथा—(परस्मै०) निनेज, निनिजतु, निनिजु । निनेजिथ, निनिजथु, निनिज । निनेज, निनिजिव, निनिजिम । (आत्मने०) निनिजे, निनिजाते, निनिजिरे । निनिजिषे, निनिजाथे, निनिजिध्वे । निनिजे, निनिजिवहे, निनिजिमहे ।

---

१ इस सूत्र का 'णिजां त्रयाणां गुण श्लौ' इस प्रकार नकारघटित पाठ भी उपलब्ध होता है ।

लुँट्—इट् का निषेध होकर लघूपधगुण तथा ष्टुत्व-चर्त्व हो जाते हैं। (परस्मै०) नेक्ता, नेक्तारौ, नेक्तारः। नेक्तासि—। (आत्मने०) नेक्ता, नेक्तारौ, नेक्तारः। नेक्तासे—।

लृँट्—में भी पूर्ववत् इण्निषेध और लघूपधगुण होकर 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो जाता है—(परस्मै०) नेक्ष्यति, नेक्ष्यतः, नेक्ष्यन्ति। (आत्मने०) नेक्ष्यते, नेक्ष्येते, नेक्ष्यन्ते।

लोँट्—(परस्मै०) में लँट् की तरह शप्-श्लु-द्वित्व-अभ्यासगुण आदि होकर लोँट् के विशिष्ट कार्य 'एरुः' (४११) आदि हो जाते हैं—नेनेक्तु। तातङ् में ङित्त्व के कारण लघूपधगुण नहीं होता—नेनिक्तात्। 'हि' के अपित् होने से उस में भी गुण नहीं होता, 'हुझल्भ्यः०' (५५६) से 'हि' को 'धि' आदेश कर ष्टुत्व करने से – नेनिग्धि। उ० पु० में आट् का आगम पित् होता है अतः उस के ङित् न होने से 'नेनिज्+आनि' आदि में लघूपधगुण प्राप्त होता है। इस पर गुण का निषेध करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम् (६२७) नाऽभ्यस्तस्याऽचि पिति सार्वधातुके ।७।३।८७॥

लघूपधगुणो न स्यात्। नेनिजानि। नेनिक्ताम्। अनेनेक्। अनेनिक्ताम्, अनेनिजुः। अनेनिजम्। अनेनिक्त। नेनिज्यात्। नेनिजीत। निज्यात्, निक्षीष्ट॥

अर्थः—अजादि पित् सार्वधातुक परे होने पर अभ्यस्त के स्थान पर लघूपधगुण नहीं होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। अभ्यस्तस्य।६।१। अचि।७।१। सार्वधातुके।७।१। लघूपधस्य।६।१। ('पुगन्तलघूपधस्य च' से)। गुणः।१।१। ('मिदेर्गुणः' से)। 'अचि' यह 'सार्वधातुके' का विशेषण है अतः तदादिविधि होकर 'अजादौ पिति सार्वधातुके' बन जाता है। अर्थः—(अचि=अजादौ) अजादि (पिति) पित् (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे होने पर (अभ्यस्तस्य) अभ्यस्तसञ्ज्ञक की (लघूपधस्य) लघु उपधा के स्थान पर (गुणः) गुण (न) नहीं होता। यह 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) का अपवाद है।

'नेनिज्+आनि' यहां 'आनि' यह अजादि पित् सार्वधातुक परे है और 'उभे अभ्यस्तम्' (३४४) से 'नेनिज्' की अभ्यस्तसञ्ज्ञा भी है अतः प्रकृतसूत्र से इस की लघुभूत उपधा-इकार को गुण का निषेध होकर 'नेनिजानि' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार द्विवचन और बहुवचन में भी समझ लेना चाहिये। लोँट् के परस्मै० में रूपमाला यथा—नेनेक्तु-नेनिक्तात्, नेनिक्ताम्, नेनिजतु। नेनिग्धि-नेनिक्तात्, नेनिक्तम्, नेनिक्त। नेनिजानि, नेनिजाव, नेनिजाम।

(आत्मने०) के उ० पु० में भी इसी सूत्र से लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। अन्यत्र ङित्त्व के कारण गुण नहीं होता। रूपमाला यथा—नेनिक्ताम्, नेनिक्षाताम्, नेनिक्षताम्। नेनिक्ष्व, नेनिक्षायाम्, नेनिक्ष्वम्। नेनिक्षै, नेनिक्षावहै, नेनिक्षामहै।

सिंङ्—परस्मै० में 'अनेनिज्+त्' इस स्थिति में लघूपधगुण होकर अपृक्त तकार का लोप तथा 'चो. कु.' (३०६) से कुत्व और अवसान में 'खरवसानयो' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर 'अनेनेक्-अनेनेग्' दो रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सिप् के अपृक्त सकार का लोप होकर दो रूप बनते हैं। झि को 'सिंझभ्यस्त०' (४५७) से जुस् होकर—अनेनिजुः। मिप् को अम् आदेश होकर 'नाभ्यस्तस्याचि०' से लघूपधगुण का निषेध हो जाता है—अनेनिजम्। आत्मने० में कुछ विशेष नहीं, ङित्त्व के कारण सर्वत्र लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अनेनेक्-अनेनेग्, अनेनिक्ताम्, अनेनिजुः। अनेनेक्-अनेनेग्, अनेनिक्तम्, अनेनिक्त। अनेनिजम्, अनेनिज्व, अनेनिज्म। (आत्मने०) अनेनिक्त, अनेनिजाताम्, अनेनिजत। अनेनिक्थाः, अनेनिजायाम्, अनेनिग्ध्वम्। अनेनिजि, अनेनिज्वहि, अनेनिज्महि।

वि० लिंङ्—परस्मै० में शप्, श्लु, द्वित्व तथा अभ्यास को गुण हो जाता है। यासुट् के ङित् होने से लघूपधगुण नहीं होता। आत्मने० में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा ङित्त्व के कारण लघूपधगुण नहीं होता। रूपमाला यथा—(परस्मै०) नेनिज्यात्, नेनिज्यास्ताम्, नेनिज्युः। (आत्मने०) नेनिजीत, नेनिजीयास्ताम्, नेनिजीरन्।

आ० लिंङ्—परस्मै० में यासुट् के कित् होने से लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। आत्मने० में 'लिंङ्सिचावात्मनेपदेषु' (५९९) से सलादि लिंङ् के कित् होने के कारण गुण नहीं होता। रूपमाला यथा—(परस्मै०) निक्ष्यात्, निक्ष्यास्ताम्, निक्ष्यासुः। (आत्मने०) निक्षीष्ट, निक्षीयास्ताम्, निक्षीरन्।

लुंङ्—(परस्मै०) में 'अनिज्+च्लि+त्' इस स्थिति में 'च्ले सिंच्' (४३८) का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६२८) इरितो वा ।३।१।५७।

इरितो धातोश्च्लेरङ् वा परस्मैपदेषु। अनिजत्-अनैक्षीत्, अनिक्त। अनेक्ष्यत्, अनेक्ष्यत॥

अर्थ—इरित् धातु से परे च्लि के स्थान पर विकल्प से अङ् आदेश हो जाता है परस्मैपद परे हो तो।

व्याख्या—इरितः ।५।१। वा इत्यव्ययपदम्। धातोः ।५।१। ('धातोरेकाच०' से)। च्लेः ।६।१। ('च्ले सिंच्' से)। अङ् ।१।१। ('अस्तिसिचिलृदात्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' से)। परस्मैपदेषु ।७।३। ('पुषादिद्युता०' से)। इर् इत् यस्य स इरित्, तस्माद् इरितः, बहु०। अर्थः—(इरितः) जिस के इर् की इत्संज्ञा होती हो ऐसी (धातोः) धातु से परे

(च्लेः) च्लि के स्थान पर (वा) विकल्प से (अङ्) अङ् आदेश हो (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्यय परे हों तो। अङ् में ङकार गुण के निषेध के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

'अनिज्+च्लि+त्' यहां 'त्' यह परस्मैपद प्रत्यय परे है अतः इरित् धातु निज् से परे च्लि के स्थान पर विकल्प से अङ् आदेश हो गया। अङ्पक्ष में अङ् के ङित् होने से लघूपधगुण का निषेध होकर 'अनिजत्' प्रयोग सिद्ध होता है। अङ् के अभाव में 'च्लेः सिच्' (४३८) से च्लि को सिच् होकर हलन्तलक्षणा वृद्धि करने पर 'अनैक्षीत्' रूप सिद्ध होता है। परस्मै० में रूपमाला यथा—(अङ्पक्षे) अनिजत्, अनिजताम्, अनिजन्। अनिजः, अनिजतम्, अनिजत। अनिजम्, अनिजाव, अनिजाम। (अङ्भावे) अनैक्षीत्, अनैक्षताम्, अनैक्षुः। अनैक्षीः, अनैक्षम्, अनैक्ष। अनैक्षम्, अनैक्ष्व, अनैक्ष्म।

लृङ्—(आत्मने०) में 'अनिज्+स्+त' इस स्थिति में 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' (५८९) से सिच् के कित् हो जाने से लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। तब 'झलो झलि' (४७८) से सकार का लोप, 'चोः कुः' (३०६) से कुत्व तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व करने पर 'अनिक्त' रूप सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—अनिक्त, अनिक्षाताम्, अनिक्षत। अनिक्थाः, अनिक्षाथाम्, अनिग्ध्वम्। अनिक्षि, अनिक्ष्वहि, अनिक्ष्महि।

लृङ्—में कुछ विशेष नहीं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अनेक्ष्यत्, अनेक्ष्यताम्, अनेक्ष्यन्। (आत्मने०) अनेक्ष्यत, अनेक्ष्येताम्, अनेक्ष्यन्त।

इसी प्रकार—विजिर् पृथग्भावे (अलग होना) के 'वेवेक्ति, वेविक्तः, वेविजति' आदि रूप बनते हैं।

[यहां पर जुहोत्यादिगण की उभयपदी धातुओं का विवेचन समाप्त होता है।]

## अभ्यास (९)

(१) निम्न युगलों में सप्रमाण भेद स्पष्ट करें—

अविभृत-अविभ्रत; बभृट्वे-बिभृध्वे; बभृवहे-बिभृवहे; जहिताम्-जिहीताम्; ददे-ददे; दत्ताम्-दत्ताम्; दधृवे-ददिध्वे; ददतु-ददातु; बिभ्रे-बभ्रे; दधे-दधे; अधत्त-अधत्त।

(२) 'इर इत्सञ्ज्ञा वाच्या' वार्तिक की व्यर्थता सिद्ध करें।

(३) निम्न प्रश्नों का उत्तर दीजिये—

(क) 'नेनिक्तः' में लघूपध-गुण की तरह अभ्यासगुण का निषेध क्यों न हो?

(ख) 'पिधत्ते' में धात्र् के साथ कौन सा उपसर्ग लगा है?

(ग) 'बभर्ति' में क्रादिनियम द्वारा श्लु क्यों न हो?

(घ) 'अनिजत्' में हलन्तलक्षणा वृद्धि (?) का वारण कैसे होगा?

(ङ) 'जुहुव-जुहुम' में 'शुष्व-शुष्म' की तरह उकारलोप क्यों नहीं होता ?
(च) 'पिपूर्तं' में सर् परे रहते रेफ को विसर्गादेश क्यों नहीं होता ?
(छ) 'पपरिथ' में 'श्नुसो वा' द्वारा इट् को दीर्घ क्यों नहीं होता ?
(ज) 'पिपूर्धि' प्रयोग क्यों शुद्ध नहीं ?

(४) 'मा भै' प्रयोग की शुद्धता वा अशुद्धता का विवेचन करें।

(५) निक्षीष्ट, भूषीष्ट, अनिक्त, अभृत, जुहुयात्—इन में गुण का वारण कैसे होगा ?

(६) भ्वादि और णिजादि तीन धातुओं का कहा किस प्रयोजन के लिये उल्लेख किया गया है ?

(७) घुसञ्ज्ञोपयोगी सात कार्यों का सोदाहरण उल्लेख करें।

(८) दधस्तथोश्च, स्थाध्वोरिच्च, ई हल्यघो, ऋच्छत्यृताम्, उदोष्ठ्यपूर्वस्य, णिजां त्रयाणाम्०, आ च हौ, ज्ञाम्यस्तयोरात — इन सूत्रों की व्याख्या करें।

(९) यथासम्भव वैकल्पिक रूपों का निर्देश करते हुए समूल सिद्धि करें—
परीता, पिपूर्तं, धत्त, अदित, देहि, देयात्, अबिभः, जह्यात्, नेनिग्धि, नेनिजानि, हेयात्, मिमीते, अजुहवु, बिभित, जहित, पपरतु, जुह्वति, बिभराम्बभूव, अनेनेक् अबिभः, जहाहि।

(१०) लेट्, लिट्, लोट्, दोनों लिङ्, तथा लुङ् में रूपमाला लिखें—
दुदाव्, दुधाव्, दुभूव्, पू, ओहाक्, ओहाङ्, माङ्, णिजिर्, भी और ह्री।

## इति तिङन्ते जुहोत्यादयः

(यहां पर जुहोत्यादिगण की धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)



## अथ तिङन्ते दिवादयः

अब तिङन्तप्रकरण में दिवादिगण की धातुओं का निरूपण करते हैं —

[लघु०] दिवुँ क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु ॥१॥

अर्थ—दिवुं (दिव्) धातु 'खेलना, जीतने की इच्छा करना, व्यवहार करना, चमकना, स्तुति करना, प्रसन्न होना, मदमत्त होना, सोना, इच्छा करना, गमन करना' इन दस अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु बहुत प्रसिद्ध है। इसी से 'देव, देवता, देवी, द्यूत, दिव् (स्वर्ग), द्यो (स्वर्ग), देवर, देवृ' आदि शब्द बनते हैं। यहां अर्थनिर्देश में 'कान्ति' का अर्थ 'चमकना' नहीं अपितु 'इच्छा करना' है, चमकना अर्थ द्युति में आ गया है। जूआ खेलना तथा चमकना अर्थ में यह

धातु विशेष प्रसिद्ध है, शेष अर्थों में इस का क्वाचित्क प्रयोग पाया जाता है। 'जूआ खेलना' अर्थ में इस के करण की 'दिवः कर्म च' (१.४.४३) सूत्र द्वारा विकल्प से कर्मसञ्ज्ञा हुआ करती है—अक्षैरक्षान् वा दीव्यति (पासों से खेलता है)। दिवुं में अनुनासिक उकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'दिव्' ही अवशिष्ट रहता है। इसे उदित् करने का प्रयोजन 'उदितो वा' (८८२) द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प करना तथा 'यस्य विभाषा' (७.२.१५) द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध करना है – देवित्वा-द्यूत्वा; द्यूतम्-द्यूतवान्। आत्मनेपद के निमित्तों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में 'दिव्+ति' इस स्थिति में 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् प्राप्त होता है। इस पर इसका अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६२९) दिवादिभ्यः श्यन् ।३।१।६९॥

शपोऽपवादः। हलि च (६१२) इति दीर्घः—दीव्यति। दिदेव। देविता। देविष्यति। दीव्यतु। अदीव्यत्। दीव्येत्। दीव्यात्। अदेवीत्। अदेविष्यत्॥

अर्थः—कर्तृवाचक सार्वधातुक परे होने पर दिवादिगण की धातुओं से परे श्यन् प्रत्यय हो जाता है। शपोऽपवादः—यह सूत्र शप् का अपवाद है।

व्याख्या—दिवादिभ्यः ।५।३। श्यन् ।१।१। कर्तरि ।७।१। ('कर्तरि शप्' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('सार्वधातुके यक्' से)। दिव् आदिर्येषान्ते दिवादयः, तेभ्यः= दिवादिभ्यः। तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः। यहाँ 'प्रत्ययः, परश्च' का भी अधिकार आ रहा है। अर्थः— (कर्तरि) कर्ता अर्थ में (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो (दिवादिभ्यः) दिवादिगण की धातुओं से परे (श्यन्) श्यन् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो। श्यन् में शकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से तथा अन्त्य नकार की 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है, 'य' मात्र अवशिष्ट रहता है। शकारानुबन्ध 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' (३८६) से सार्वधातुकसञ्ज्ञा करने के लिये जोड़ा गया है। नकारानुबन्ध 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६.१.१९१) सूत्र द्वारा आद्युदात्त स्वर के लिये लगाया गया है।

'दिव्+ति' यहाँ 'ति' यह कर्तृवाचक सार्वधातुक परे है अतः प्रकृतसूत्र से दिव् धातु से परे श्यन् प्रत्यय होकर अनुबन्धलोप करने से 'दिव्+य+ति' हुआ। यहाँ श्यन् के सार्वधातुक होने से लघूपधगुण प्राप्त होता है परन्तु 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा श्यन् के ङित् होने से उस का निषेध हो जाता है। अब 'हलि च' (६१२) से वकारान्त धातु 'दिव्' की उपधा इकार को दीर्घ करने पर 'दीव्यति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये। लँट् में रूपमाला यथा—दीव्यति, दीव्यतः, दीव्यन्ति। दीव्यसि, दीव्यथः, दीव्यथ। दीव्यामि, दीव्यावः, दीव्यामः।

लिंट्—में कुछ विशेष नहीं। धातु के सेट् होने से वलादियों में इट् का आगम हो जाता है। पित् प्रत्ययों में लघूपधगुण हो जाता है परन्तु अपितों में 'अमयोगाल्लिंट्०' (४५२) से कित्त्व के कारण उस का निषेध हो जाता है। रूपमाला यथा—विदेव, विदिवतु, विदिवु। विदेविथ, विदिवथु, विदिव। विदेव, विदिविव, विदिविम।

लुंट्—में इट् का आगम तथा लघूपधगुण हो जाता है—वेवितृ, वेवितारौ, वेवितार। लृंट्—वेविष्यति, वेविष्यतः, वेविष्यन्ति।

लोंट्—में लँट् की तरह श्यन् होकर 'हलि च' (६१२) से उपधा को दीर्घ हो जाता है—दीव्यतु-दीव्यतात्, दीव्यताम्, दीव्यन्तु। दीव्य-दीव्यतात्, दीव्यतम्, दीव्यत। दीव्यानि, दीव्याव, दीव्याम।

लँङ्—मे श्यन्, उपधादीर्घ तथा अट् का आगम हो जाता है—अदीव्यत्, अदीव्यताम्, अदीव्यन्। अदीव्यः, अदीव्यतम्, अदीव्यत। अदीव्यम्, अदीव्याव, अदीव्याम।

वि० लिंङ्—में श्यन् होकर भ्वादिगण की तरह 'अतो येय' (४२८) द्वारा इय् आदि कार्य हो जाते हैं— दीव्येत्, दीव्येताम्, दीव्येयुः। दीव्येः, दीव्येतम्, दीव्येत। दीव्येयम्, दीव्येव, दीव्येम।

आ० लिंङ्—में यासुट् के कित् होने से लघूपधगुण नहीं होता। केवल उपधादीर्घ हो जाता है—दीव्यात्, दीव्यास्ताम्, दीव्यासुः।

लुंङ्—में 'असेधीत्' की तरह प्रक्रिया होती है—अदेवीत्, अदेविष्टाम्, अदेविषुः। अदेवीः, अदेविष्टम्, अदेविष्ट। अदेविषम्, अदेविष्व, अदेविष्म।

लृंङ्—अदेविष्यत्, अदेविष्यताम्, अदेविष्यन् आदि।

[लघु०] एवम्—षिवुँ तन्तुसन्ताने ॥२॥

अर्थ—षिवुँ (सिव्) धातु तन्तुओं के विस्तार करने अर्थात् सीने अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—षिवुँ में भी पूर्ववत् इत्संज्ञक उकार का लोप होकर 'धात्वादेः षः सः' (२२५) से षकार को सकार हो जाता है। इस प्रकार 'सिव्' धातु बन जाती है। योपदेश का फल 'परि-नि-विभ्य सेव-सित-सय-सिवुँ-सह-सुट्-स्तु-स्वञ्जाम्' (८ ३ ७०) द्वारा परि+सीव्यति=परिषीव्यति, निषीव्यति, विषीव्यति आदियों में षत्व करना है। अट् के व्यवधान में 'सिवादीनां वाऽट्-व्यवायेऽपि' (८ ३ ७१) से वैकल्पिक षत्व हो जाता है—पर्यषीव्यत्, पर्यसीव्यत्। यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा सेट् है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'दिव्' धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—

लँट्—सीव्यति, सीव्यतः, सीव्यन्ति। लिंट्—सिषेव, सिषिवतुः, सिषिवुः। सिषेविथ, सिषिवथुः, सिषिव। सिषेव, सिषिविव, सिषिविम। लुंट्—सेविता, सेवितारौ, सेवितारः। लृंट्—सेविष्यति, सेविष्यतः, सेविष्यन्ति। लोंट्—सीव्यतु-

सीव्यताम्, सीव्यताम्, सीव्यन्तु । लँङ्—असीव्यत्, असीव्यताम्, असीव्यन् । वि० लिङ्—सीव्येत्, सीव्येताम्, सीव्येयुः । आ० लिङ्—सीव्यात्, सीव्यास्ताम्, सीव्यासुः । लुँङ्—असेवीत्, असेविष्टाम्, असेविषुः । असेवीः, असेविष्टम्, असेविष्ट । असेविषम्, असेविष्व, असेविष्म । लृँङ्—असेविष्यत्, असेविष्यताम्, असेविष्यन् ।

[लघु०] नृती गात्रविक्षेपे ॥३॥ नृत्यति । ननर्त । नर्तिता ॥

अर्थः—नृती (नृत्) धातु 'गात्रविक्षेप—अङ्गपटकना अर्थात् नाचना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—नृती में ईकार अनुनासिक है अतः इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाता है, 'नृत्' मात्र अवशिष्ट रहता है । ईदित् करने का फल 'श्वीदितो निष्ठायाम्' (७.२.१४) द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध करना है—नृत्तम्, नृत्तवान्[1] । यह धातु भी दिव् धातु की तरह परस्मैपदी तथा सेट् है ।

लँट्—नृत्यति, नृत्यतः, नृत्यन्ति । लिँट्—ननर्त, ननृततुः, ननृतुः । ननर्तिथ, ननृतथुः, ननृत । ननर्त, ननृतिव, ननृतिम । लुँट्—नर्तिता, नर्तितारौ, नर्तितारः ।

लृँट्—'नृत्+स्य+ति' यहां धातु के सेट् होने से 'आर्धधातुकस्येड्०' (४०१) से स्य को इट् का आगम प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र विकल्प का विधान करता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(६३०) सेऽसिँचि कृत-चृत-च्छृद-तृद-नृतः । ७।२।५७।

एभ्यः परस्य सिँज्भिन्नस्य सादेरार्धधातुकस्येड् वा । नर्तिष्यति-नर्त्स्यति । नृत्यतु । अनृत्यत् । नृत्येत् । नृत्यात् । अनर्तीत् । अनर्तिष्यत्-अनर्त्स्यत् ।

अर्थः—कृत्, चृत्, छृद्, तृद् और नृत् इन पाँच धातुओं से परे सिँज्भिन्न सकारादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम हो ।

व्याख्या—से ।७।१। असिँचि ।७।१। कृत-चृत-छृद-तृद-नृतः ।५।१। आर्धधातुकस्य ।६।१। इट् ।१।१। ('आर्धधातुकस्येड्०' से)। वा इत्यव्ययपदम् ('उदितो वा' से) । न सिँच्—असिँच्, तस्मिन्=असिँचि । 'से' के 'स' में अकार उच्चारणार्थ है, यहां षष्ठी के अर्थ में सप्तमी जाननी चाहिये । विशेषण होने से तदादिविधि होकर

---

१. सकारादि आर्धधातुक को वैकल्पिक इट्विधान के कारण निष्ठा में इण्निषेध तो यहां 'यस्य विभाषा' (७.२.१५) से भी सिद्ध है, इस के लिये पुनः ईदित् करना 'यस्य विभाषा' की अनित्यता को प्रकट करता है । इस से 'धावितम्' आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं (इसी धातु पर माधवीयधातुवृत्ति देखें) ।

'सकारादेरार्धधातुकस्य' उपलब्ध हो जाता है। अर्थ —(कृत-चृत-छृद-तृद-नृत ) कृत्, चृत्, छृद्, तृद्, और नृत् धातुओं से परे (असिंच ) सिंच् से भिन्न (सादेरार्धधातुकस्य) सकारादि आर्धधातुक का अवयव (इट्) इट् (वा) विकल्प से होता है। इत् आदि सब धातु सेट् हैं, इन से परे नित्य इट् प्राप्त था परन्तु अब सिंज्भिन्न सकारादि आर्धधातुक मे इस सूत्र से विकल्प किया जा रहा है। उदाहरण यथा —

कृत्—कृतीं छेदने (काटना, तुदा० परस्मै०),कृतीं वेष्टने (लपेटना, रुधा० परस्मै०) इन दोनों धातुओं का ग्रहण होता है—कर्तिष्यति-कर्त्स्यति। चृत्— चृतीं हिंसा-संश्रयनयो (हिंसा करना, संश्रयन करना, तुदा० परस्मै०)—चर्तिष्यति-चर्त्स्यति। छृद्—ऊँछृदिंर् दीप्ति-देवनयो (चमकना, खेलना; रुधा० उभय०)—छर्दिष्यति-छर्त्स्यति। तृद्—ऊँतृदिंर् हिंसाऽनादरयो (हिंसा करना, अनादर करना, रुधा० उभय०)—तर्दिष्यति-तर्त्स्यति।

'नृत्+स्य+ति' यहां नृत् से परे 'स्य' यह सकारादि आर्धधातुक विद्यमान है और यह सिंच् से भिन्न है अत प्रकृतसूत्र द्वारा इसे विकल्प से इट् का आगम होकर नघूपधगुण करने से 'नर्तिष्यति-नर्त्स्यति' दो रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—(इट्पक्षे) नर्तिष्यति, नर्तिष्यत', नर्तिष्यन्ति। (इटोऽभावे) नर्त्स्यति, नर्त्स्यत , नर्त्स्यन्ति।

लोंट्—नृत्यतु-नृत्यतात्, नृत्यताम्, नृत्यन्तु । लँङ्—अनृत्यत्, अनृत्यताम्, अनृत्यन्। वि० लिंङ्—नृत्येत्, नृत्येताम्, नृत्येयु । आ० लिंङ्—नृत्यात्, नृत्यास्ताम्, नृत्यासु ।

लुंङ्—'सेऽसिंचि०' (६३०) में सिंच्-भिन्न को इट् का विकल्प किया गया है अत यहा लुंङ् मे सिंच् को नित्य इट् हो जाता है। हलन्तलक्षणा वृद्धि का 'नेटि' (४७७) से निषेध होकर सर्वत्र लघूपधगुण हो जायेगा—अनर्तीत्, अनर्तिष्टाम्, अनर्तिषु । अनर्तीः, अनर्तिष्टम्, अनर्तिष्ट। अनर्तिषम्, अनर्तिष्व, अनर्तिष्म।

लृंङ्—यहा 'सेऽसिंचि०' (६३०) से 'स्य' को विकल्प से इट् का आगम हो जाता है—(इट्पक्षे) अनर्तिष्यत्, अनर्तिष्यताम्, अनर्तिष्यन्। (इटोऽभावे) अनर्त्स्यत्, अनर्त्स्यताम्, अनर्त्स्यन्।

नोट—नृत् धातु णोपदेश नहीं अत 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (४५६) से णत्व नहीं होता—प्रनृत्यति।

[लघु०] त्रसीं उद्वेगे ॥४॥ वा भ्राश० (४८५) इति श्यन्वा।

त्रस्यति-त्रसति। तत्रास ॥

अर्थ —त्रसीं (त्रस्) धातु 'डरना या घबराना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् ईदित्, सेट् और परस्मैपदी है। इसे ईदित् करने का फल 'स्वोदितो निष्ठायाम्' (७२१४) द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध करना है—त्रस्त , त्रस्तवान्।

लँट्—पीछे 'वा भ्राशम्लाशभ्रमुंक्रमुंक्लमुंत्रसित्रुटिलषः' (४८५) सूत्र में त्रस् को भी गिनाया जा चुका है अतः सार्वधातुक प्रत्ययों में इस से परे श्यन् का विकल्प हो जाता है। पक्ष में 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् भी हो जायेगा। रूपमाला यथा—(श्यन्पक्षे) त्रस्यति, त्रस्यतः, त्रस्यन्ति। (शप्पक्षे) त्रसति, त्रसतः, त्रसन्ति।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में उपधावृद्धि होकर—तत्रास। द्विवचन में द्वित्व होकर 'त्रस्+त्रस्+अतुस्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६३१) वा जॄ-भ्रमुँ-त्रसाम् ।६।४।१२४॥

एषां किति लिँटि सेटि थलि च एत्त्वाभ्यासलोपौ वा। त्रेसतुः-तत्रसतुः। त्रेसिथ-तत्रसिथ। त्रसिता॥

अर्थः—कित् लिँट् या सेट् थल् परे हो तो जॄ, भ्रमुँ और त्रस् धातुओं को एत्त्व तथा अभ्यास का लोप विकल्प से हो।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम्। जॄ-भ्रमुँ-त्रसाम्। ६।३। अतः ।६।१। ('अत एकहल्मध्ये०'से)।एत् ।१।१। अभ्यासलोपः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् ('घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' से)। किति ।७।१। ('गमहनजन०' से)। लिँटि ।७।१। ('अत एकहल्मध्ये०' से)। 'थलि च सेटि' की भी अनुवृत्ति आती है। अर्थः—(किति लिँटि) कित् लिँट् (च) या (सेटि थलि) सेट् थल् परे होने पर (जॄ-भ्रमुँ-त्रसाम्) जॄ, भ्रम् और त्रस् धातुओं के (अतः) अत् के स्थान पर[1] (एत्) एकार (च) तथा साथ ही (अभ्यास-लोपः) अभ्यास का लोप (वा) विकल्प से होता है।

जॄ धातु में द्वित्व तथा 'ऋच्छत्यृताम्' (६१४) से गुण करने पर 'ज+जर्+अतुस्' इस स्थिति में गुण शब्द से भावित होने के कारण 'न शसददवादिगुणानाम्' (५४१) से निषेध होता था अतः एत्वाभ्यासलोप प्राप्त न था। भ्रम् में असंयुक्तहलों के मध्य में स्थित न होने से तथा आदि में लिँण्निमित्तक आदेश होने से प्राप्त न था, इसी प्रकार त्रस् में केवल असंयुक्तहलों के मध्य में स्थित न होने से प्राप्त न था। इत्थम् इन सब धातुओं में प्राप्त न होने पर इस सूत्र से विकल्प का विधान किया गया है, इस लिये यह अप्राप्तविभाषा है। उदाहरण यथा—जॄष् वयोहानौ (बूढ़ा होना)—जेरतुः-जजरतुः, जेरिथ-जजरिथ। भ्रमुँ अनवस्थाने (भ्रमण करना)—भ्रेमतुः-बभ्रमतुः, भ्रेमिथ-बभ्रमिथ। त्रस् का उदाहरण प्रकृत में है—

'त्रस्+त्रस्+अतुस्' यहाँ 'अतुस्' यह कित् लिँट् परे है अतः प्रकृतसूत्र से त्रस् के अत् को एत्त्व तथा अभ्यास का लोप विकल्प से करने पर 'त्रेसतुः-तत्रसतुः' ये दो रूप सिद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार आगे उस् आदियों में तथा थल् में भी

---

१. कौमुदी की वृत्ति में 'अतः' का उल्लेख नहीं—यह भूल है। अन्यथा यह एत्त्व 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) से अन्त्य अल् को प्राप्त होगा तब भ्रम् और त्रस् में दोष आयेगा।

जानने चाहियें। लिट् मे रूपमाला यथा—तत्रास, त्रेसतु-तत्रसतु, त्रेसु-तत्रसु। त्रेसिथ-तत्रसिथ, त्रेसथु-तत्रसथु, त्रेस-तत्रस। तत्रास-तत्रस, त्रेसिव-तत्रसिव, त्रेसिम-तत्रसिम।

लुट्—त्रसिता, त्रसितारौ, त्रसितार। लृट्—त्रसिष्यति, त्रसिष्यत, त्रसिष्यन्ति। लोट्—(श्यन्पक्षे) त्रस्यतु-त्रस्यतात्, त्रस्यताम्, त्रस्यन्तु। (शप्पक्षे) त्रसतु-त्रसतात्, त्रसताम्, त्रसन्तु। लङ्—(श्यन्पक्षे) अत्रस्यत्, अत्रस्यताम्, अत्रस्यन्। (शप्पक्षे) अत्रसत्, अत्रसताम्, अत्रसन्। वि० लिङ्—(श्यन्पक्षे) त्रस्येत्, त्रस्येताम्, त्रस्येयु। (शप्पक्षे) त्रसेत्, त्रसेताम्, त्रसेयु। आ० लिङ्—त्रस्यात्, त्रस्यास्ताम्, त्रस्यासु। लुङ्—ने हलन्तलक्षणा वृद्धि का 'नेटि' (४७७) से निषेध होकर पुन 'अतो हलादेर्लघो' (४५७) से वैकल्पिक वृद्धि हो जाती है—(वृद्धिपक्षे) अत्रासीत्, अत्रासिष्टाम्, अत्रासिषु। (वृद्ध्यभावे) अत्रसीत, अत्रसिष्टाम्, अत्रसिषु। लृङ्—अत्रसिष्यत्, अत्रसिष्यताम्, अत्रसिष्यन्।

उपसर्गयोग—सम्√त्रस् =डरना (सन्त्रास =भय, डर)। वि√त्रस्=डरना (वित्रासः=भय, डर)। उद्√त्रस्=बहुत डरना (उत्त्रास =अत्यन्त भय)।

[लघु०] शो तनूकरणे ॥५॥

अर्थ—शो धातु 'पतला करना, छीलना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—शो मे ओकार अनुनासिक न होने से इत्संज्ञक होकर लुप्त नहीं होता। आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा 'ऊदुदन्तै०' के अनुसार अनिट् है। लिट् मे आदिनियम से नित्य इट् होगा परन्तु थल् मे भारद्वाजनियम से विकल्प।

लट्—में श्यन् होकर 'शो+य+ति' इस स्थिति मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६३२) ओत श्यनि ।७।३।७१॥

लोपः स्याच्छ्यनि। श्यति, श्यत, श्यन्ति। शशौ, शशतु। शाता। शास्यति॥

अर्थ—श्यन् परे होने पर ओकार का लोप हो।

व्याख्या—ओत ।६।१। श्यनि ।७।१। लोप ।१।१। ('घोर्लोपो लेटि वा' से)। अर्थ—(श्यनि) श्यन् परे होने पर (ओत) ओकार का (लोप) लोप हो जाता है। उदाहरण यथा—'शो+य+ति' यहाँ श्यन् परे है अत शो के ओकार का लोप होकर 'श्यति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी। लट् में रूपमाला यथा—श्यति, श्यतः, श्यन्ति। श्यसि, श्यथः, श्यथ। श्यामि, श्याव, श्याम।

लिट्—के आर्धधातुक होने से इस मे श्यन् नहीं होता। अत शित् परे न रहने से 'आदेच उपदेशोऽशिति' (४६३) द्वारा शो के ओकार को आकार आदेश

हो कर 'शा' यह आकारान्त धातु बन जाती है । अब इस की 'पा पाने' की तरह प्रक्रिया होने लगती है। रूपमाला यथा—शशौ, शशतुः, शशुः। शशिथ-शशाथ, शशथुः, शश। शशौ, शशिव, शशिम।

लुँट्—यहाँ भी आकारादेश हो जाता है—शाता, शातारौ, शातारः। लृँट्—शास्यति, शास्यतः, शास्यन्ति। लोँट्—में श्यन् होकर 'ओतः श्यनि' से ओकार का लोप हो जाता है—श्यतु-श्यतात्, श्यताम्, श्यन्तु। श्य-श्यतात्, श्यतम्, श्यत। श्यानि, श्याव, श्याम। लँङ्—में भी श्यन् होकर ओकार का लोप हो जाता है—अश्यत्, अश्यताम्, अश्यन्। वि० लिँङ्—में भी श्यन् होकर ओकार का लोप हो जाता है—श्येत्, श्येताम्, श्येयुः। श्येः, श्येतम्, श्येत। श्येयम्, श्येव, श्येम। आ० लिँङ्—में आकारादेश होता है—शायात्, शायास्ताम्, शायासुः।

लुँङ्—में आत्व हो कर 'अशा+स्+त्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्— (६३३) विभाषा घ्रा-धेट्-शा-च्छा-सः २।४।७८॥

एभ्यः सिँचो लुग्वा स्यात् परस्मैपदे परे। अशात्, अशाताम्, अशुः। इट्सकौ (४९५)—अशासीत्, अशासिष्टाम्॥

अर्थः—घ्रा, धेट्, शो, छो और षो धातुओं से परे सिँच् का विकल्प से लुक् हो परस्मैपद प्रत्यय परे हो तो।

व्याख्या—विभाषा।१।१। घ्रा-धेट्-शा-च्छा-सः।५।३। सिँचः।६।१। परस्मैपदेषु।७।३। ('गातिस्था०' से)। लुक्।१।१। ('ण्यक्षत्रियार्ष०' से)। घ्राश्च धेट् च शाश्च छाश्च साश्च—घ्राधेट्शाच्छासम्, समाहारद्वन्द्वः। तस्मात्—घ्राधेट्शाच्छासः ('विश्वपः' की तरह)। सूत्र में शो, छो, सो (षो) धातुओं को आत्व कर के निर्देश किया गया है, सन्विजन्य लुक् के कारण बीच में चकार आ गया है। 'धा' से कहीं डुधाञ् का ग्रहण न हो जाये इसलिये धेट् को आत्व न कर साक्षात् निर्दिष्ट किया गया है। अर्थः—(घ्राधेट्शाच्छासः) घ्रा, धेट्, शो, छो और षो धातुओं से परे (सिँचः) सिँच् का (विभाषा) विकल्प से (लुक्) लुक् हो जाता है (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्ययों के परे रहते। उदाहरण यथा—

घ्रा गन्धोपादाने (सूँघना; भ्वा० परस्मै०)—अघ्रात्, अघ्राताम्, अघ्रुः। लुक् के अभाव में 'यमरमनमातां सक् च' (४९५) से सक् और इट् हो जाते हैं—अघ्रासीत्, अघ्रासिष्टाम्, अघ्रासिषुः। धेट् पाने (पीना; भ्वा० परस्मै०)—अधात्, अधाताम् अधुः। लुक् के अभाव में सक् और इट् होकर—अधासीत्, अधासिष्टाम्,

अशासिषु । छो और षो धातुओं का वर्णन अनुपद आ रहा है। यहाँ प्रकृत में षो का उदाहरण है—

'अशा+स्+त्' यहाँ परस्मैपद परे है अत शो (शा) से परे सिच् का विकल्प से लुक् हो जाता है। लुक्पक्ष में 'पा पाने' की तरह 'अशात्' आदि रूप सिद्ध होते हैं। लुक् के अभाव में 'यमरमनमातां सक् च' (४९५) से सक् और इट् का आगम होकर 'ग्लै हर्षक्षये' की तरह 'अशासीत्' आदि रूप बनते हैं। रूपमाला यथा—(सिज्लुक्पक्षे) अशात्, अशाताम्, अशु । अशा, अशातम्, अशात । अशाम्, अशाव, अशाम । (लुकोऽभावे) अशासीत्, अशासिष्टाम्, अशासिषु । अशासी., अशासिष्टम्, अशासिष्ट । अशासिषम्, अशासिष्व, अशासिष्म ।

लृँङ्—अशास्यत्, अशास्यताम्, अशास्यन् ।

उपसर्गयोग—नि√शो (निश्यति)=तेज करना (न्यशयन् शस्त्राणि—भट्टि० १७.४)। निशितम् निशातम्=तेज किया हुआ (तमुपतनिशातासिम्—भट्टि० ५.४६, 'शाच्छोरन्यतरस्याम्' ७.४.४१ इति तकारादौ किति वा इत्त्वम्)।

[लघु०] छो छेदने ॥६॥ छ्यति ॥

अर्थ—छो धातु 'काटना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—छो धातु भी 'शो तनूकरणे' की तरह परस्मैपदी तथा अनिट् है। इस की प्रक्रिया 'शो' की तरह होती है। लँङ्, लुँङ् और सृँङ् में वट् का आगम कर के 'झे च' (१०१) से तुक् तथा 'स्तो' श्चुना श्चुः' (६२) से श्चुत्व ही विशेष कार्य है। इसी प्रकार लिँट् में भी समझना चाहिये। रूपमाला यथा—

लँट्—छ्यति, छ्यतः छ्यन्ति। लिँट्—चच्छौ, चच्छतुः, चच्छुः। चच्छिथ-चच्छाथ, चच्छथुः, चच्छ। चच्छौ, चच्छिव, चच्छिम। लुँट्—छाता, छातारौ, छातारः। लृँट्—छास्यति, छास्यतः छास्यन्ति। लोँट्—छ्यतु छ्यतात्, छ्यताम्, छ्यन्तु। लँङ्—अच्छ्यत्, अच्छ्यताम्, अच्छ्यन्। वि० लिँङ्—छ्येत्, छ्येताम्, छ्येयुः। आ० लिँङ्—छायात्, छायास्ताम्, छायासुः। लुँङ्—(लुक्पक्षे) अच्छात्, अच्छाताम्, अच्छुः। (लुगभावे) अच्छासीत अच्छासिष्टाम्, अच्छासिषुः। लृँङ्—अच्छास्यत्, अच्छास्यताम्, अच्छास्यन्।

[लघु०] षो अन्तकर्मणि[1] ॥७॥ स्यति। ससौ ॥

अर्थ—षो (सो) धातु 'अन्तकर्म अर्थात् नाश करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—'धात्वादे षः सः' (२५५) से इसके आदि षकार को सकार आदेश होकर 'सो' बन जाता है। यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा अनिट् है। लिँट् में

---

१. 'षोऽन्तकर्मणि' इति पूर्वरूपघटितोऽपपाठः।

क्त्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प । इस की प्रक्रिया तथा रूपमाला 'शो तनूकरणे' धातु की तरह होती है—

लँट्—स्यति[1], स्यतः, स्यन्ति । लिँट्—ससौ, ससतुः, सतुः । ससिथ-ससाथ, ससथुः, सस । ससौ, ससिव, ससिम । लुँट्—साता, सातारौ, सातारः । लृँट्—सास्यति, सास्यतः, सास्यन्ति । लोँट्—स्यतु-स्यतात्, स्यताम्, स्यन्तु । स्य[2]-स्यतात्, स्यतम्, स्यत । स्यानि, स्याव, स्याम । लँङ्—अस्यत्, अस्यताम्, अस्यन् । वि०लिँङ्—स्येत्, स्येताम्, स्येयुः । आ० लिँङ्—में 'एर्लिङि' (४९०) से एत्व हो जाता है—सेयात्, सेयास्ताम्, सेयासुः । लुँङ्—(सिँज्लुकि) असात्, असाताम्, असुः । (लुकोऽभावे) असासीत्, असासिष्टाम्, असासिषुः । लृँङ्—असास्यत्, असास्यताम्, असास्यन् ।

उपसर्गयोग—अव√षो (अवस्यति)=समाप्त करना (यदि नेपथ्यविधानमवसितम्—शाकुन्तल १), समाप्त होना-नष्ट होना (अकर्मक—शक्तिमंमाऽवस्यति हीनयुद्धे—किरात० १६.१७); जानना (अवसेयाश्च कार्याणि धर्मेण पुरवासिनाम्—भट्टि० १९.२८; अवसाययितुं क्षमाः सुखम्—किरात० २.२९) । वि+अव√षो (व्यवस्यति)=प्रयत्न करना-कोशिश करना (करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः । फलं पुनस्तदेवास्य यद्विधेर्मनसि स्थितम्—हितो०२.१४; ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति—शाकुन्तल १.१८); निश्चय करना (मन्दीचकार मरणव्यवसायबुद्धिम्—कुमार० ४.४५); चाहना (पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या—शाकुन्तल ४.८); बीड़ा उठाना—करने की ठान लेना (क्वचित्सौम्य ! व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे—मेघ० ११४) । अधि+अव√षो (अध्यवस्यति)=निश्चय करना (कथमिदानीं दुर्जनवचनादेवमध्यवसितं देवेन—उत्तर० १); प्रयत्न करना-उद्यम करना (न स्वल्पमप्यध्यवसायभीरोः करोति विज्ञाननिधिर्गुणं हि—हितो० १.१७२); संकल्प करना-करने की ठानना (व्रतं दुष्करमध्यवसितम्—हितो० १) । प्रति+अव√षो (प्रत्यवस्यति) =खाना (प्रत्यवसानं घसिराहारः—हेमचन्द्र; गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ०—अष्टा० १.४.५२) । परि+अव√षो (पर्यवस्यति) = समाप्त होना—लीन होना—नतीजा निकलना—अन्ततोगत्वा समझ में आना

---

१. पण्डितेन्द्रो जगन्नाथः स्यति गर्वं गुरुद्रुहाम्—मनोरमाकुचमर्दिन्यारम्भे । गुरुद्रुहाम् भट्टोजिदीक्षितानाम् गर्वं स्यति=नाशयतीति भावः ।

२. राघवस्य शरैर्घोरैर्घोररावणमाहवे ।
अत्र क्रियापदं गुप्तं मर्यादा दशवार्षिकी ॥ (सुभाषित)

राघव ! घोररावणम् आहवे (युद्धे) घोरैः शरैः स्य=नाशयेत्यर्थः । इसी प्रकार—कुमरीनव भूपस्य [ कुम्- अरीन्-अव-भूप-स्य यह छेद है ; भूप ! कुम् (पृथिवीम्) अव (रक्ष),अरीन् (शत्रून्) स्य (नाशय)], ब्राह्मणस्य महत्पापं सन्ध्यावन्दनतर्पणैः (हे ब्राह्मण ! सन्ध्यावन्दनतर्पणैर्महत्पापं स्य=नाशय) ।

(तस्मात् तद् देवानां व्रतमाचरन् ओंकारे परे ब्रह्मणि पर्यवसितो भवेत्—नृसिंहोत्तर० उप० ७, एव एव समुच्चय सद्योगेऽसद्योगे सदसद्योगे च पर्यवस्यति—काव्यप्रकाश १०) 'निरस्यति' आदि 'असु क्षेपणे' के रूप हैं।

नोट—यह धातु लियुआनियन लेट्टिश आदि कई भारोपीय भाषाओं में भी उपलब्ध होती है।

[लघु०] दो अवखण्डने ॥८॥ द्यति। ददौ। देयात्। अदात् ॥

अर्थ—दो धातु 'काटना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी 'छो छेदने' धातु की तरह परस्मैपदी तथा अनिट् है। इस की सिद्धि और रूपमाला भी पूर्ववत् होती है परन्तु 'दाधा घ्वदाप्' (६२३) से इस के घुसञ्ज्ञक होने के कारण आ० लिंङ् में 'एर्लिङि' (४९०) द्वारा नित्य एत्त्व तथा लुंङ् में 'गातिस्थाघु०' (४३९) से नित्य सिच् का लुक् हो जाता है। रूपमाला यथा—

लँट्—द्यति, द्यत', द्यन्ति। लिँट्—ददौ, ददतु, ददु। ददिथ-ददाथ, ददथु, दद। ददौ, ददिव, ददिम। लुँट्—दाता, दातारौ, दातार। लृँट्—दास्यति, दास्यत', दास्यन्ति। लोँट्—द्यतु-द्यतात्, द्यताम्, द्यन्तु। द्य[1]-द्यतात्, द्यतम्, द्यत। द्यानि, द्याव, द्याम। लँङ्—अद्यत्, अद्यताम्, अद्यन्। वि० लिँङ्—द्येत्, द्येताम्, द्येयु.। आ० लिँङ्—देयात्, देयास्ताम्, देयासु। लुंङ्—अदात्, अदाताम्, अदु'। लृँङ्—अदास्यत्, अदास्यताम्, अदास्यन्।

नोट—इस धातु का भाव अवपूर्वक प्रयोग उपलब्ध होता है। यथा—देवतास्योऽवद्यति—शत० ब्रा०१.३.२.१०।

[लघु०] व्यध ताडने ॥९॥

अर्थ—व्यध (व्यध्) धातु 'बींधना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—शर आदि से लक्ष्य को ताडित करने का नाम बींधना है। इसी धातु से व्याध, विधु आदि शब्द निष्पन्न होते है। यह धातु उदात्तेत् होने अथवा आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण परस्मैपदी तथा धकारान्त अनुदात्तों में पठित होने से अनिट् है। लिंट् में झादिनियम से नित्य इट् होगा परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प।

नँट्—में श्यन् करने पर 'व्यध्+य+ति' इस स्थिति मे सम्प्रसारणविधान करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्- (६३४) ग्रहि-ज्या-वयि-व्यधि-वष्टि-विचति-वृश्चति-पृच्छति-भृज्जतीना डिति च ।६।१।१६॥

---

१. विद्विषोश्च रणे बहून् [रणे बहून् विद्विष=शत्रून् द्य=अवखण्डय यहीति भाव]। इसी प्रकार—मामवद्य च शत्रूम्ने (माम् अव, मे शत्रून् द्य)।

एषां सम्प्रसारणं स्यात् किति ङिति च । विध्यति । विव्याध, विविधतुः, विविधुः । विव्यधिथ-विव्यद्ध । व्यद्धा । व्यत्स्यति । विध्येत् । विध्यात् । अव्यात्सीत् ॥

**अर्थः**—ग्रह्, ज्या, वय्, व्यध्, वश्, व्यच्, व्रश्च्, प्रच्छ्, भ्रस्ज्—इन नौ धातुओं को कित् या ङित् प्रत्यय परे होने पर सम्प्रसारण हो ।

**व्याख्या**—ग्रहि—भृज्जतीनाम् ।६।३। ङिति ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । किति ।७।१। ('यचिस्वपियजादीनां किति' से)। सम्प्रसारणम् ।१।१। ('व्यधः सम्प्रसारणम्' से) । अर्थः—(ग्रहि—भृज्जतीनाम्) ग्रह्, ज्या, वय्, व्यध्, वश्, व्यच्, व्रश्च्, प्रच्छ् और भ्रस्ज् इन नौ धातुओं के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण हो जाता है (ङिति किति च) ङित् या कित् प्रत्यय परे हो तो । 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' (२५६) के अनुसार इन धातुओं के यण् को इक् आदेश हो जाता है ।

उदाहरण यथा—

(१) ग्रह् (ग्रहण करना, क्र्या०)—(ङिति) गृह्णाति । (किति) गृहीतः, गृहीतवान् ।
(२) ज्या (बूढ़ा होना, क्र्या०)—(ङिति) जिनाति । (किति) जीनः, जीनवान् ।
(३) वय् ('वेञो वयिः' २.४.४१)—ङित्युदाहरणं नास्ति । (किति) ऊयतुः, ऊयुः ।
(४) व्यध् (बींधना. दिवा०)—(ङिति) विध्यति । (किति) विद्धः, विद्धवान् ।
(५) वश् (चाहना. अदा०)—(ङिति) उशन्ति । (किति) उशितः, उशितवान् ।
(६) व्यच् (धोखा देना, तुदा०),(ङिति) विचति । (किति) विचितः, विचितवान् ।
(७) व्रश्च् (काटना, तुदा०)—(ङिति) वृश्चति । (किति), वृक्णः, वृक्णवान् ।
(८) प्रच्छ् (पूछना, तुदा०)—(ङिति) पृच्छति । (किति), पृष्टः, पृष्टवान् ।
(९) भ्रस्ज् (भूनना, तुदा०)—(ङिति) भृज्जति । (किति) भृष्टः, भृष्टवान् ।

'व्यध्+य+ति' यहाँ पर 'सार्वधातुकमपित्' (५००) के अनुसार श्यन् प्रत्यय ङित् है, अतः उस के परे रहते प्रकृतसूत्र से व्यध् के यकार को सम्प्रसारण इकार हो कर 'व् इ अध्+य+ति' हुआ । अब 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप एकादेश करने पर—विध्+य+ति=विध्यति' प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (२९१) के अनुसार यहां वकार को सम्प्रसारण नहीं होता । इसी प्रकार 'विध्यतः' आदि जानने चाहियें । लँट् में रूपमाला यथा—विध्यति, विध्यतः, विध्यन्ति । विध्यसि, विध्यथः, विध्यथ । विध्यामि, विध्यावः, विध्यामः ।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप् को णल् तथा द्वित्वकार्य करने पर—व्यध्+व्यध्+अ । अब 'लिँटचभ्यासस्योभयेषाम्' (५४६) से अभ्यास को सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप, तथा 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि करने से 'विव्याध' प्रयोग सिद्ध होता है । द्विवचन में 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) द्वारा अतुस् कित् होता है अतः 'सम्प्रसारणं तदाश्रयञ्च कार्यं बलवत्' (प०) के अनुसार

द्वित्व से पूर्व 'ग्रहिज्या०' सूत्र से सम्प्रसारण हो कर पूर्वरूप हो जाता है—विष्+अतुस्। अब द्वित्वादि कार्य करने पर 'विविधतु' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार बहुवचन में—विविधु। म० पु० का एकवचन थल् न तो कित् है, और न ही ङित्, अत पहले सम्प्रसारण न हो कर द्वित्व करने के बाद अभ्यास को ही सम्प्रसारण (५४६) होता है—विव्यधिथ। भारद्वाजनियम के कारण इट् के अभाव में 'विव्यध्+थ' यहाँ 'झषस्तथोर्धोऽध' (५४६) से थकार को धकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' (१६) से धातु के धकार को जश्त्व-दकार होकर 'विव्यद्ध' रूप सिद्ध होता है। वस् और मस् में आदिनियम से नित्य इट् हो जाता है। रूपमाला यथा—विव्याध, विविधतु, विविधु। विव्यधिथ-विव्यद्ध, विविधथु, विविध। विव्याध-विव्यध, विविधिव, विविधिम।

लुँट्—में द्ध्यिपेध हो कर 'व्यध्+ता' इस स्थिति में 'झषस्तथोर्धोऽधः' (५४६) से तकार को धकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' (१६) से धातु के धकार को जश्त्व दकार करने पर—व्यद्धा। रूपमाला यथा—व्यद्धा, व्यद्धारौ, व्यद्धारः। लृँट्—में 'खरि च' (७४) से सर्वत्र चर्त्व हो जाता है—व्यत्स्यति, व्यत्स्यतः, व्यत्स्यन्ति।

लोँट्—में लँट् की तरह द्वित्व के कारण सर्वत्र सम्प्रसारण हो जाता है—विध्यतु-विध्यतात्, विध्यताम्, विध्यन्तु। लँङ्—अविध्यत्, अविध्यताम्, अविध्यन्। वि० लिँङ्—विध्येत्, विध्येताम्, विध्येयुः। आ० लिँङ्—में यासुट् के कित् होने से सम्प्रसारण हो जाता है—विध्यात्, विध्यास्ताम्, विध्यासुः।

लुँङ्—प्र० पु० के एकवचन में 'अव्यध्+स्+ईत्' इस स्थिति में हलन्त-लक्षणा वृद्धि हो कर चर्त्व करने से 'अव्यात्सीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन में हलन्तलक्षणा वृद्धि हो कर—अव्याध्+स्+ताम्। 'झलो झलि' (४७८) से सकार का लोप—अव्याध्+ताम्। अब 'झषस्तथोर्धोऽध' (५४६) से तकार को धकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' (१६) से धातु के धकार को जश्त्व-दकार करने पर 'अव्याद्धाम्' प्रयोग सिद्ध होता है। बहुवचन में 'सिजभ्यस्त०' (४४७) से सि को जुस् आदेश हो कर हलन्तलक्षणा वृद्धि तथा चर्त्व करने पर—अव्यात्सुः। इसी प्रकार आगे भी प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—अव्यात्सीत्, अव्याद्धाम्, अव्यात्सुः। अव्यात्सीः, अव्याद्धम्, अव्याद्ध। अव्यात्सम्, अव्यात्स्व, अव्यात्स्म। लृँङ्—अव्यत्स्यत्, अव्यत्स्यताम्, अव्यत्स्यन्।

[लघु०] पुष पुष्टौ ॥१०॥ पुष्यति। पुपोष। पुपोषिथ। पोष्टा। पोक्ष्यति। पुषादिद्युतादि० (५०७) इत्यङ्—अपुषत् ॥

अर्थः—पुष् धातु 'पालना या पुष्ट करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा पकारान्त अनुदात्तों में पठित होने से अनिट् है। लिट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। धातु के अकारवान् अथवा अजन्त न होने से यङ् में भारद्वाजनियम से इट् को विकल्प न होगा अपितु नित्य ही इट् होगा।

लँट्—श्यन् के ङित्त्व के कारण लघूपधगुण नहीं होता—पुष्यति, पुष्यतः, पुष्यन्ति। लिँट्—णित्प्रत्ययों में लघूपधगुण तथा अन्यत्र कित्त्व के कारण उस का निषेध हो जाता है—पुपोष, पुपुषतुः, पुपुषुः। पुपोषिथ, पुपुषथुः, पुपुष। पुपोष, पुपुषिव, पुपुषिम। लुँट्—इण्निषेध हो कर लघूपधगुण तथा ष्टुत्व हो जाता है—पोष्टा, पोष्टारौ, पोष्टारः। लृँट्—में लघूपधगुण हो कर 'षढोः कः सि' (५४८) से धातु के षकार को ककार तथा 'आदेशप्रत्यययोः (१५८) से 'स्' के सकार को षकार हो जाता है—पोक्ष्यति, पोक्ष्यतः, पोक्ष्यन्ति। लोँट्—पुष्यतु-पुष्यतात्, पुष्यताम्, पुष्यन्तु। लेङ्—अपुष्यत्, अपुष्यताम्, अपुष्यन्। वि० लिङ्—पुष्येत्, पुष्येताम्, पुष्येयुः। आ० लिङ्—यासुट् के कित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है—पुष्यात्, पुष्यास्ताम्, पुष्यासुः। लुङ्—में 'पुषादिद्युताद्यृदितः परस्मैपदेषु' (५०७) से च्लि को अङ् आदेश हो जाता है। अङ् के ङित् के कारण लघूपधगुण नहीं होता—अपुषत्, अपुषताम्, अपुषन्। लृङ्—अपोक्ष्यत्, अपोक्ष्यताम्, अपोक्ष्यन्।

[लघु०] शुष शोषणे ॥११॥ शुष्यति। शुशोष। अशुषत् ॥

अर्थः—शुष् धातु 'सूखना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ध्यान रहे कि इस धातु का अर्थ 'सूखना' है 'सुखाना' नहीं। 'सुखाना' अर्थ विवक्षित होने पर णिजन्त का प्रयोग करना पड़ता है—न शोषयति मारुतः (गीता २.२३)। यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में पठित होने

---

१. दिवादिगण में अधिकांश धातु अकर्मक हैं, 'विषु तन्तुसन्ताने, असु क्षेपणे' आदि की तरह सकर्मक धातुएं थोड़ी हैं। पर यह पुष् धातु सकर्मक-अकर्मक उभयविध प्रयुक्त होती है। यद्यपि इस के सकर्मक प्रयोग बहुप्रचलित हैं। यथा— वपुरभिनवमस्याः पुष्यति त्वां न शोभाम् (शाकु० १.१६) ; नार्यमणं पुष्यति नो सखायम् (ऋग्वेद १०.११७.६) ; पुष्यति कान्तिमग्र्यां (कुमार० ७.७८) ; तस्मिन्नपुष्यन्नुदिते समग्रां पुष्टिं जनाः पुष्य इव द्वितीये (रघु० १८.३२)। तथापि इसके अकर्मक प्रयोग भी कई स्थानों पर देखे जाते हैं। यथा—पुष्यन्ति न च धातवः (चरक चिकित्सा० ८.२६) ; धातुः पुष्यति धातुतः (चरक चिकित्सा० ८.३६) ; पुष्यन्त्यस्मिन्नर्था इति पुष्यो नक्षत्रम् (काशिका ३.१.११६)।

से अनिट् है। यन्सहित लिंट् में आदिनियम से नित्य इट् हो जाता है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया तथा रूपमाला 'पुष पुष्टौ' धातु की तरह समझनी चाहिये—

लँट्—शुष्यति, शुष्यत, शुष्यन्ति। लिंट्—शुशोष, शुशुष्वतु, शुशुषु। शुशोषिथ, शुशुष्वथु, शुशुष्व। शुशोष, शुशुषिव, शुशुषिम। लुँट्—शोष्टा, शोष्टारौ, शोष्टार। लृँट्—शोष्यति, शोष्यत, शोष्यन्ति। लोँट्—शुष्यतु-शुष्यतात्, शुष्यताम्, शुष्यन्तु। लँङ्—अशुष्यत्, अशुष्यताम्, अशुष्यन्। वि० लिँङ्—शुष्येत्, शुष्येताम्, शुष्येयुः। आ० लिँङ्—शुष्यात्, शुष्यास्ताम्, शुष्यासुः। लुँङ्—अशुषत्, अशुषताम्, अशुषन्। लृँङ्—अशोष्यत्, अशोष्यताम्, अशोष्यन्।

इसी प्रकार निम्न धातुओं के रूप चलते हैं—

(१) तुष तुष्टौ (प्रसन्न होना)। लँट्—तुष्यति। लिंट्—तुतोष, तुतुष्वतु, तुतुषुः। लुँट्—तोष्टा। लृँट्—तोष्यति। लोँट्—तुष्यतु-तुष्यतात्। लँङ्—अतुष्यत्। वि० लिँङ्—तुष्येत्। आ० लिँङ्—तुष्यात्। लुँङ्—अतुषत् (पुषादित्वादङ्)। लृँङ्—अतोष्यत्।

(२) दुष वैकृत्ये (दूषित होना)। लँट्—दुष्यति। लिंट्—दुदोष, दुदुष्वतु, दुदुषुः। लुँट्—दोष्टा। लृँट्—दोष्यति। लोँट्—दुष्यतु-दुष्यतात्। लँङ्—अदुष्यत्। वि० लिँङ्—दुष्येत्। आ० लिँङ्—दुष्यात्। लुँङ्—अदुषत् (पुषादित्वादङ्)। लृँङ्—अदोष्यत्।

(३) क्रुध क्रोधे (क्रोध करना)। लँट्—क्रुध्यति। लिंट्—चुक्रोध। लुँट्—क्रोद्धा। लृँट्—क्रोत्स्यति। लोँट्—क्रुध्यतु-क्रुध्यतात्। लँङ्—अक्रुध्यत्। वि० लिँङ्—क्रुध्येत्। आ० लिँङ्—क्रुध्यात्। लुँङ्—अक्रुधत् (पुषादित्वादङ्)। लृँङ्—अक्रोत्स्यत्।

(४) शुध शौचे (शुद्ध होना)। लँट्—शुध्यति। लिंट्—शुशोध। लुँट्—शोद्धा। लृँट्—शोत्स्यति। लोँट्—शुध्यतु-शुध्यतात्। लँङ्—अशुध्यत्। वि० लिँङ्—शुध्येत्। आ० लिँङ्—शुध्यात्। लुँङ्—अशुधत् (पुषादित्वादङ्)। लृँङ्—अशोत्स्यत्।

(५) षिधुँ निष्पत्तौ (सिद्ध होना)। लँट्—सिध्यति। लिंट्—सिषेध। लुँट्—सेद्धा। लृँट्—सेत्स्यति। लोँट्—सिध्यतु-सिध्यतात्। लँङ्—असिध्यत्। वि० लिँङ्—सिध्येत्। आ० लिँङ्—सिध्यात्। लुँङ्—असिधत् (पुषादित्वादङ्)। लृँङ्—असेत्स्यत।

[लघु०] णशँ अदर्शने ॥१२॥ नश्यति। ननाश। नेशतुः॥

अर्थ—णशँ (नश्) धातु 'नष्ट होना—लुप्त होना—नेत्रों से ओझल होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—णश् के आदि णकार को 'णो नः' (४५८) सूत्र से नकार आदेश हो कर 'नश्' बन जाता है। यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी है परन्तु शकारान्त अनुदात्तों में पठित न होने से सेट् है। णोपदेश का फल प्र+नश्यति=प्रणश्यति आदि में 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (४५९) द्वारा णत्व करना है। ध्यान रहे कि धातु की पान्तावस्था में यह णत्व 'नशेः षान्तस्य' (८.४.३५) से निषिद्ध हो जाता है—प्र+नष्टः=प्रनष्टः, प्रनष्टवान्।

लँट्—नश्यति, नश्यतः, नश्यन्ति।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप् को णल्, द्वित्व, अभ्यासहल्लोप तथा उपधावृद्धि करने से—ननाश। द्विवचन में 'न+नश्+अतुस्' इस स्थिति में 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) द्वारा अत् को एत्व तथा अभ्यासलोप करने से—नेशतुः। इसी प्रकार बहुवचन में—नेशुः। म० पु० के एकवचन में 'नश्+थ' इस अवस्था में धातु के सेट् होने से इट् का आगम प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से विकल्प का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६३५) रधादिभ्यश्च ।७।२।४५॥

रध्, नश्, तृप्, दृप्, द्रुह्, मुह्, ष्णुह्, ष्णिह्—एभ्यो वलादार्धधातुकस्य वेट् स्यात्। नेशिथ॥

अर्थः—रध् (हिंसा करना आदि, दिवा०), नश् (नष्ट होना, दिवा०), तृप् (तृप्त होना, दिवा०), दृप् (अभिमान करना, दिवा०), द्रुह् (द्रोह करना, दिवा०), मुह् (मूढ होना, दिवा०), ष्णुह् (वमन करना, दिवा०), ष्णिह् (स्नेह करना, दिवा०)—इन आठ धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम हो।

व्याख्या—रधादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम्। आर्धधातुकस्य ।६।१। इट् ।१।१। वलादेः ।६।१। ('आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से)। वा इत्यव्ययपदम्।('स्वरतिसूति०' से)। अर्थः—(रधादिभ्यः) रध् आदि धातुओं से परे (वलादेः) वलादि (आर्धधातुकस्य) आर्धधातुक का अवयव (इट्) इट् हो जाता है (वा) विकल्प से। रधादि धातु धातुपाठ के दिवादिगण में 'वृत्' द्वारा आठ बताई गई हैं[1]। इनमें तृप् और दृप् अनिट् हैं, उन से परे वलादि आर्धधातुक को इट् का निषेध प्राप्त था; शेष धातु सेट् हैं उन से परे इट् नित्य प्राप्त था। अब इस सूत्र द्वारा सब से परे इट् का विकल्प किया गया है।

---

१. जहाँ तक कोई भाग अभीष्ट होता है वहाँ तक धातुपाठ में 'वृत्' लिख दिया जाता है। यह धातुपाठ की परम्परा है।

'नश्+थ' यहाँ प्रकृतसूत्र से थकार को विकल्प से इट् का आगम हुआ। इट्पक्ष में द्वित्व तथा 'थलि च सेटि'(४६१) से एत्वाभ्यासलोप करने से 'नेशिथ' रूप बनता है। इट् के अभाव में 'नश्+थ' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है —

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (६३६) मस्जिनशोर्झलि। ७।१।६०॥

नुम् स्यात्। ननष्ठ। नेशिव-नेश्व, नेशिम-नेश्म। नशिता-नष्टा। नशिष्यति-नङ्क्ष्यति। नश्यतु। अनश्यत्। नश्येत्। नश्यात्। अनशत्॥

अर्थ — झलादि प्रत्यय परे होने पर मस्ज् और नश् धातुओं को नुम् का आगम हो।

व्याख्या —मस्जिनशो।६।२। झलि।७।१। नुम्।१।१। ('इदितो नुम् धातो.' से)। 'अङ्गस्य' के अधिकृत होने से 'प्रत्यये' पद सुलभ हो जाता है, तब 'झलि' पद को 'प्रत्यये' का विशेषण बना कर तदादिविधि करने से 'झलादौ प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है। अर्थ.—(झलि) झलादि प्रत्यय परे होने पर (मस्जिनशो) मस्ज् और नश् का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है। नुम् में उकार उच्चारणार्थक और मकार इत्संज्ञक है, अतः मित् होने से यह अन्त्य अच् से परे किया जायेगा। मस्ज् के उदाहरण आगे आयेंगे, यहां नश् का उदाहरण प्रकृत है।

'नश्+थ' यहाँ इट् के अभावपक्ष में झलादि प्रत्यय 'थ' परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से नश् को नुम् का आगम होकर 'नन्श्+थ' हुआ। अब द्वित्व और अभ्यासकार्य करने पर—न+नन्श+थ। 'व्रश्चभ्रस्ज०' (३०७) से शकार को षकार तथा 'ष्टुना ष्टु' (६४) से थकार को ठकार करने से—न+नन्ष्+ठ। अन्त में 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (७८) से अपदान्त नकार को अनुस्वार किया तो 'नन्ष्ठ' प्रयोग सिद्ध हुआ। वस् और मस् के इट्पक्ष में—नेशिव, नेशिम। इट् के अभाव में—नेश्व, नेश्म। लिट् में रूपमाला यथा—ननाश, नेशतुः, नेशुः। नेशिथ-ननष्ठ, नेशथुः, नेश। ननाश-ननश, नेशिव-नेश्व, नेशिम-नेश्म।

सृट्—के इट्पक्ष में 'नशिता'। इट् के अभाव में 'नश्+ता' इस स्थिति में नुम् का आगम, शकार को षकार, ष्टुत्व तथा अपदान्त नकार को अनुस्वार करने पर 'नष्टा'[1]। रूपमाला यथा—(इट्पक्षे) नशिता, नशितारौ, नशितारः। (इटोऽभावे) नष्टा, नष्टारौ, नष्टारः।

सृट्—के इट्पक्ष में 'नशिष्यति'। इट् के अभाव में नुम् का आगम होकर—नन्श्+स्य+ति। 'व्रश्चभ्रस्ज०' (३०७) से शकार, 'षढो: क: सि' (६४८) से सकार को षकार, 'आदेशप्रत्यययो:' (१५०) से स्य के सकार को षकार, 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (७८) से अपदान्त नकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि०' (७६) से

---

१ 'नश्+ता' यहाँ पदान्त न होने से 'नशोर्वा' (३४६) द्वारा कुत्व नहीं होता।

परसवर्ण ङकार करने पर 'नङ्क्ष्यति'। रूपमाला यथा—(इट्पक्षे) नशिष्यति, नशिष्यतः, नशिष्यन्ति। (इटोऽभावे) नङ्क्ष्यति, नङ्क्ष्यतः, नङ्क्ष्यन्ति।

लोट्—नश्यतु-नश्यतात्, नश्यताम्, नश्यन्तु। लङ्—अनश्यत्, अनश्यताम् अनश्यन्। वि० लिङ्—नश्येत्, नश्येताम्, नश्येयुः। आ० लिङ्—नश्यात्, नश्यास्ताम्, नश्यासुः। झलादि न होने से नुम् का आगम नहीं होता। लुङ्—में 'पुषादि०' (५०७) से च्लि को अङ् आदेश हो जाता है—अनशत्, अनशताम्, अनशन्। लृङ्—(इट्पक्षे) अनशिष्यत्, अनशिष्यताम्, अनशिष्यन्। (इटोऽभावे) अनङ्क्ष्यत्, अनङ्क्ष्यताम्, अनङ्क्ष्यन्।

(यहां पर दिवादिगण की परस्मैपदी धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

अब दिवादिगण की आत्मनेपदी धातुओं का वर्णन प्रारम्भ होता है—

[लघु०] पूङ् प्राणिप्रसवे ॥१३॥ सूयते। सुषुवे। क्रादिनियमाद् इट्—सुषुविषे। सुषुविवहे, सुषुविमहे। सविता, सोता॥

अर्थः—पूङ् (सू) धातु 'प्राणियों को पैदा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—प्रसवः—उत्पादनम्, प्राणिनाम्प्रसवः—प्राणिप्रसवः। वृक्ष भी प्राणी होते हैं[1] अतः 'प्रसूतास्तरवः' आदि प्रयोग देखे जाते हैं[2]। ङकारानुबन्ध के कारण पूङ् धातु आत्मनेपदी है। 'धात्वादेः षः सः' (२५५) से इस के आदि षकार को सकार होकर 'सू' बन जाता है। षोपदेश के कारण 'सुषुवे' आदि में षत्व सिद्ध हो जाता है। ऊदन्त होने से यह धातु यद्यपि सेट् है तथापि 'स्वरति-सूति-सूयति०' (४७६) में परिगणित होने से वेट् है। लिट् में 'अचुकः कित्' (६५०) से सर्वथा निषेध प्राप्त होने पर क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। रूपमाला यथा—

लट्—सूयते, सूयेते, सूयन्ते। सूयसे, सूयेथे, सूयध्वे। सूये, सूयावहे, सूयामहे।

लिट्—में कहीं स्वतः और कहीं इडागम के कारण अजादि-प्रत्यय उपलब्ध है अतः 'अचि श्नु०' (१९९) से सब जगह ऊकार को उवङ् आदेश हो जाता है—सुषुवे,

---

१. येन प्राणन्ति वीरुधः—वायवं० १.५.३२.१। तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना। अन्तःसञ्ज्ञा भवन्त्येते सुख-दुःखसमन्विताः (मनु० १.४९)।

२. तत्त्वबोधिनीकार श्रीज्ञानेन्द्रस्वामी का कथन है कि लोक में 'मृत्पिण्डो घटं सूयते' इत्यादि प्रयोगों का अभाव होने से धातु के अर्थनिर्देश में 'प्राणि' शब्द का ग्रहण किया गया है। परन्तु अन्य अनेक वैयाकरण यहां 'प्राणि' ग्रहण को अतन्त्र (गौण) मानते हैं। अत एव 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराऽचरम्' (गीता ९.१०) तथा हलायुध का 'धर्ममर्थः प्रसूयते' यह वचन उपपन्न हो जाता है। इस विषय पर श्रीकृष्णलीलाशुकमुनिकृत पुरुषकारवार्त्तिक में अच्छा प्रकाश डाला गया है, विशेष-जिज्ञासु वहीं देखें।

सुषुवाते, सुषुविरे। सुषुविषे, सुषुवाथे, सुषुविढ्वे-सुषुविध्वे ('विभाषेट.' ५२७)। सुषुवे, सुषुविवहे, सुषुविमहे।

सुँट्— में वैकल्पिक इट् होकर दोनों पक्षों में गुण हो जाता है — (इट्पक्षे) सविता, सवितारौ, सवितार। सवितासे —। (इटोऽभावे) सोता, सोतारौ, सोतार। सोतासे —। स्यँट्— (इट्पक्षे) सविष्यते, सविष्येते, सविष्यन्ते। (इटोऽभावे) सोष्यते, सोष्येते, सोष्यन्ते। लोँट्— सूयताम्, सूयेताम्, सूयन्ताम्। लँङ्— असूयत, असूयेताम्, असूयन्त। वि० लिँङ्—सूयेत, सूयेयाताम्, सूयेरन्। आ० लिँङ्—(इट्पक्षे) सविषीष्ट, सविषीयास्ताम्, सविषीरन्। (इटोऽभावे) सोषीष्ट, सोषीयास्ताम्, सोषीरन्। सुँङ्— (इट्पक्षे) असविष्ट, असविषाताम्, असविषत। असविष्ठा, असविषाथाम्, असविढ्वम्-असविध्वम्। असविषि, असविष्वहि, असविष्महि। (इटोऽभावे) असोष्ट, असोषाताम्, असोषत। असोष्ठा, असोषाथाम्, असोढ्वम्। असोषि असोष्वहि, असोष्महि। स्यँङ्—(इट्पक्षे) असविष्यत, असविष्येताम्, असविष्यन्त। (इटोऽभावे) असोष्यत, असोष्येताम् असोष्यन्त।

उपसर्गयोग—इस धातु का अधिकतर प्रपूर्वक प्रयोग देखा जाता है। यथा—

एक प्रसूयते माता द्वितीय वाक् प्रसूयते।
वाग्जातमधिक प्राहु सोदर्यादपि बान्धवात्॥ (पञ्च० ४ ६)

[लघु०] दूङ् परितापे॥१४॥ दूयते॥

अर्थ—दूङ् (दू) धातु 'दुःखी होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु अकर्मक ही देखी जाती है। यथा—तया हीन विधातर्मा कथ पश्यन्न दूयसे (रघु० १७०), न दूये सात्वतीसूनुर्यन्मह्यमपराध्यति (माघ २ ११)। परन्तु कविकल्पद्रुम के व्याख्याता श्रीदुर्गादास तथा बालमनोरमाकार श्रीवासुदेवदीक्षित आदियों ने इसे सकर्मक भी माना है— दूयते दैन्य जनम् (दीनता मनुष्य को दुःखी करती है) दूयते दीन खलजन (दुष्ट आदमी दीन को दुःखी करता है)। ङकारानुबन्ध के कारण यह धातु आत्मनेपदी तथा ऊदन्त होने से सेट् है। स्वरतिसूति० आदियों में पाठ के न होने से इसे कहीं इट् का विकल्प नहीं होता। रूपमाला यथा—लँट्—दूयते, दूयेते, दूयन्ते। लिँट्—दुदुवे, दुदुवाते, दुदुविरे। दुदुविषे, दुदुवाथे, दुदुविढ्वे-दुदुविध्वे (विभाषेट ५२७)। दुदुवे, दुदुविवहे, दुदुविमहे। नुँट्—दविता, दवितारौ, दवितार। दवितासे —। स्यँट्—दविष्यते, दविष्येते, दविष्यन्ते। लोँट्—दूयताम्, दूयेताम्, दूयन्ताम्। लँङ्—अदूयत, अदूयेताम्, अदूयन्त। वि० लिँङ्—दूयेत, दूयेयाताम्, दूयेरन्। आ० लिँङ्—दविषीष्ट, दविषीयास्ताम्, दविषीरन्। सुँङ्—अदविष्ट, अदविषाताम्, अदविषत। अदविष्ठा, अदविषाथाम्, अदविढ्वम्-अदविध्वम्। अदविषि, अदविष्वहि, अदविष्महि। स्यँङ्—अदविष्यत, अदविष्येताम्, अदविष्यन्त।

[लघु०] दीङ् क्षये ॥१५॥ दीयते ॥

अर्थः—दीङ् (दी) धातु 'नष्ट होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—लौकिक साहित्य में इस के अत्यन्त विरल प्रयोग पाये जाते हैं। महाभाष्य में इस का पांच स्थानों पर उपपूर्वक प्रयोग किया गया है— उपादास्त अस्य स्वरः शिक्षकस्य (इस शिक्षक का स्वर क्षीण हो गया अर्थात् गला बैठ गया है; १.१.२० पर)। इस धातु से बना 'दीन' शब्द लोक में अत्यन्त प्रसिद्ध है। ङकारानुबन्ध के कारण यह धातु आत्मनेपदी तथा 'ऊदुपधाया०' के अनुसार अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से इट् हो जायेगा।

लँट्— दीयते, दीयेते, दीयन्ते। दीयसे, दीयेथे, दीयध्वे। दीये, दीयावहे, दीयामहे।

लिँट्— प्र० पु० के एकवचन में तकार को एकार आदेश होकर 'दी+ए' इस स्थिति में 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से 'ए' के कित् होने के कारण गुण का निषेध होकर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (६३७) दीङो युँडचि क्ङिति ।६।४।६३॥

दीङः परस्य अजादेः क्ङित आर्धधातुकस्य युँट् ॥

अर्थः— दीङ् से परे अजादि कित् ङित् आर्धधातुक को युँट् का आगम हो।

व्याख्या— दीङः ।५।१। युँट् ।१।१। अचि ।७।१। क्ङिति ।७।१। आर्धधातुके ।७।१। (यह अधिकृत है)। 'अचि' यह 'आर्धधातुके' का विशेषण है अतः विशेषण से तदादिविधि होकर 'अजादौ क्ङित्यार्धधातुके' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(दीङः) दीङ् से परे (अचि-अजादौ) अजादि (क्ङिति) कित् ङित् (आर्धधातुके) आर्धधातुक परे हो तो (युँट्) युँट् हो जाता है। युँट् में 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा टकार की तथा 'उपदेशेऽजनु०' (२८) से अनुनासिक उकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाने से 'य्' ही अवशिष्ट रहता है। युँट् टित् है, टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) द्वारा इसे आद्यवयव होना है परन्तु यह किस का आद्यवयव हो, दीङ् का या अजादि प्रत्यय का? यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है। इस का उत्तर यह है कि 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' इस परिभाषा के अनुसार यह अजादि प्रत्यय ही का आद्यवयव बनेगा, दीङ् का नहीं। इस का विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'डः सि धुट्' (८४) सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें।

'दी+ए' यहां दीङ् धातु के परे 'ए' यह अजादि कित् विद्यमान है अतः इसे युँट् का आगम होकर 'दी+ये' बना। अब द्वित्व तथा अभ्यास को ह्रस्व करने पर 'दिदीये' रूप सिद्ध होता है।

अब यहां एक शङ्का उत्पन्न होती है कि नित्य होने से युँडागम को पहले कर लेने पर भी 'दिदी+ये' इस स्थिति में 'असिद्धवदत्राभात्' (५६२) से युँट् के

असिद्ध होने से सामने अजादि प्रत्यय के आ जाने के कारण 'एरनेकाच०' (२००) द्वारा यण् क्यों न कर दिया जाये ? इसके समाधान के लिए अग्रिमवार्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(३८) वुंग्युंटावुवेङ्यणो सिद्धौ वक्तव्यौ ॥ दिदीये ॥

अर्थ—उवेङ् करने में वुंक् को तथा यण् करने में युंट् को सिद्ध कहना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्तिक 'असिद्धवदत्राभात्' (५६२) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। यहाँ यथासंख्यपरिभाषा का आश्रय लिया जाता है। उवेङ् करने में वुंक् सिद्ध होता है। यथा—'बभूव्+अतुस्' यहाँ 'असिद्धवदत्राभात्' से वुंक् को असिद्ध समझ कर 'अचि श्नु०' (१९९) से ऊकार को उवेङ् प्राप्त होता था परन्तु अब इस वार्तिक से उसके सिद्ध हो जाने से अजादि प्रत्यय परे न रहने के कारण नहीं होता।

यण् करने में युंट् सिद्ध होता है। यथा—'दिदी+ये' यहाँ युंट् को असिद्ध समझ कर यण् करना था परन्तु अब इस वार्तिक से उसके सिद्ध हो जाने से अजादि प्रत्यय परे न रहने से यण् नहीं होता 'दिदीये' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'दिदीयाते' आदियों में भी समझ लेना चाहिये। लिट् में रूपमाला यथा—दिदीये, दिदीयाते, दिदीयिरे। दिदीयिषे, दिदीयाथे, दिदीयिढ्वे दिदीयिध्वे ('विभाषेटः' ५२७)। दिदीये, दिदीयिवहे, दिदीयिमहे।

लुंट् की विवक्षा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम् (६३८) मीनाति-मिनोति-दीङां ल्यपि च। ६।१।५०॥

एषाम् आत्त्वं स्याल्ल्यपि चाद् अशित्येजिनिमित्ते। दाता। दास्यति॥

अर्थ—ल्यप् के विषय में या एच् करने में निमित्त शिद्भिन्न प्रत्यय के विषय में मीञ् (हिंसा करना, क्रया० उभय०), मिञ् (फेंकना, स्वा० उभय०) और दीङ् (नष्ट होना, दिवा० आत्मने०) धातुओं को आकार अन्तादेश हो जाता है।

व्याख्या—मीनाति-मिनोति दीङाम् (६।१।५०) ल्यपि (७।१।४६) च इत्यव्ययपदम्। 'आदेच उपदेशेऽशिति' सूत्र का अनुवर्तन होता है। 'उपदेशे' की अनुवृत्ति आने से यह आत्व उपदेश में ही हो जाता है। परन्तु यदि यह उपदेश में हो तो ल्यप् आदि का परे रहना कैसे सम्भव हो सकता है ? अतः 'ल्यपि' में विषयसप्तमी मान ली जाती है। 'एच' को 'मीनाति' आदियों का विशेषण नहीं मान सकते क्योंकि इन में से कोई भी धातु एजन्त नहीं है। अतः 'एच' को भी 'विषये' से सम्बद्ध कर लिया जाता है—

एच् के विषय में अर्थात् एच् को उत्पन्न करने वाले प्रत्यय के विषय में[1]। अर्थः—(मीनाति-मिनोति-दीङाम्) मीञ्, मिञ् और दीङ् धातुओं के स्थान पर (आत्) आकार आदेश हो जाता है (ल्यपि) ल्यप् का विषय हो या (अशिति) शित्-भिन्न (एचः—एञ्निमित्ते प्रत्यये) ऐसे प्रत्यय का विषय हो जो धातु में एच् उत्पन्न कर देता हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह आकार धातु के अन्त्य अल्-इकार को ही किया जायेगा। उदाहरण यथा—

मीञ्—(ल्यपि) प्रमाय। (एञ्निमित्तप्रत्यये) प्रमाता। प्रमास्यति।

मिञ्—(ल्यपि) निमाय। (एञ्निमित्तप्रत्यये) निमाता। निमास्यति।

दीङ्—(ल्यपि) उपदाय। (एञ्निमित्तप्रत्यये) उपदाता। उपदास्यति।

यहां दीङ् धातु से हमें लुँट् की विवक्षा है। लुँट् के होने पर त, तास् आदियों के आ जाने से 'दी' के ईकार को आर्धधातुक गुण हो कर एकार-एच् हो सकता है अतः लुँट् एञ्निमित्तक प्रत्यय है। इसकी विवक्षा में प्रकृतसूत्र से उपदेशमात्र में ही दीङ् के ईकार को आकार हो कर 'दा' बन गया। अब इस से आगे लुँट्, त, तास् आदियों के करने पर दाता, दातारौ, दातारः। दातासे—आदि रूप बनते हैं।

यहां 'अशिति' की अनुवृत्ति लाना व्यर्थ है, क्योंकि शित्प्रत्यय इन धातुओं में कभी एच् के निमित्त नहीं हो सकते। वहां सर्वत्र 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित्त्व के कारण गुण का निषेध हो जायेगा।

लुँट्— में 'स्य' एञ्निमित्तक प्रत्यय है अतः उस की कर्त्तव्यता में आकार आदेश हो जायेगा— दास्यते, दास्येते, दास्यन्ते।

लाँट्— दीयताम्, दीयेताम्, दीयन्ताम्। लँङ्— अदीयत, अदीयेताम्, अदीयन्त। वि० लिँङ्— दीयेत, दीयेयाताम्, दीयेरन्। आ० लिँङ्— में सीयुट् एञ्निमित्तक प्रत्यय है अतः पहले ही आत्व हो जायेगा— दासीष्ट, दासीयास्ताम्, दासीरन्।

लुँङ्— में सिच् एञ्निमित्तक प्रत्यय है अतः आत्व होकर 'अदा+स्+त' हुआ। अब यहां धातु का 'दा' रूप होने से 'दाधा घ्वदाप्' (६२३) द्वारा घुसञ्ज्ञा हो जाने के कारण 'स्याश्वोरिच्च' (६२४) से इत्त्व प्राप्त होता है परन्तु यह अनिष्ट है।

---

१. विषयसप्तमी मानने से ही 'भावे' (८५१) सूत्रद्वारा सामान्यविहित घञ् प्रत्यय होकर मुँक् का आगम (७५७) करने पर 'उपदायः' रूप सम्भव हो सकता है। अन्यथा 'एरच्' (८५५) से इवर्णान्तलक्षण अच् प्रत्यय होकर अनिष्ट रूप बन जाता।

अत. इसके वारण करने के लिये अग्रिमवार्तिक प्रवृत्त होता है[1]—

[लघु०] वा०—(३६) स्याघ्वोरित्त्वे दीङ. प्रतिषेध ॥ अदास्त ।।

अर्थ—स्याघ्वोरित्त्व' (६२४) सूत्र के विषय में दीङ् का निषेध होता है।

व्याख्या—इस निषेध के कारण 'अदा+स्+त' मे इत्त्व न हुआ तो 'अदास्त' रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार आगे भी समझ लें। लुंङ् मे रूपमाला यथा—अदास्त, अदासाताम्, अदासत। अदास्याः, अदासाथाम्, अदाध्वम् (धि च' ५१५)। अदासि, अदास्वहि, अदास्महि।

लृंङ्—अदास्यत, अदास्येताम्, अदास्यन्त।

[लघु०] डीङ् विहायसा गतौ ॥१६॥ डीयते। डिड्ये। डयिता ॥

अर्थ—डीङ् (डी) धातु 'आकाशमार्गद्वारा गमन अर्थात् उड़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—क्षीरस्वामिकृत 'क्षीरतरङ्गिणी' तथा देवकृत 'देवम्' में यहाँ पर 'डीङ् विहायसा गतौ' पाठ उपलब्ध होता है। वहा 'विहायस्' शब्द आकाशवाचक न हो कर पक्षिवाचक है, जैसाकि कोष का वचन है—'विहाया शकुनौ पुंसि, गगने पुनर्पुंसकम्'। नैषधकार ने पक्षिवाचक विहायस् (पु०) शब्द का प्रयोग भी किया है—अभोवि चञ्चूपुटमौनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूप (नैषध ३.९९)। काशकृत्स्न धातुपाठ के व्याख्याता श्रीचन्नवीरकवि तथा धातुरूपकल्पद्रुम के निर्माता श्रीगुरुनाथविद्यानिधि भी इसी पाठ के समर्थक हैं। डीङ् में डकारानुबन्ध आत्मनेपद के लिए है। 'ऋदुदन्तै०' कारिका में परिगणित होने से यह धातु सेट् है। रूपमाला यथा—

लॅट्—डीयते, डीयेते, डीयन्ते। लिंट्—सर्वत्र 'एरनेकाच०' (२००) से यण् हो जाता है—डिड्ये, डिड्याते, डिड्यिरे। डिड्यिषे, डिड्याथे, डिड्यिढ्वे-डिड्यिध्वे ('विभाषेट' ५२७)। डिड्ये, डिड्यिवहे, डिड्यिमहे। लुंट्—डयिता, डयितारौ, डयितार। डयितासे—। लृंट्—डयिष्यते, डयिष्येते, डयिष्यन्ते। लोंट्—

---

१ वस्तुत. 'दाधाघ्वदाप्' (६२३) में दा,दे,दो धे, धा' आदि सूत्र धातुओं का अनुकरण किया गया है। 'प्रकृतिवदनुकरण भवति' के अनुसार अनुकरण को प्रकृतिवत् मान कर एजन्त स्थलों में 'आदेच उपदेशेऽशिति' (४६३) से निमित्तक आत्व किया हुआ है। यह आत्व दीङ् के अनुकरण में सम्भव नही है क्योंकि 'शीनाति-मिनोति०' (६३८) वाला आत्व निमित्तक नहीं, अत दीङ् की घुसज्ञा न होने से 'स्याघ्वोरित्त्व' (६२४) सूत्र द्वारा उसमें इत्त्व प्राप्त ही नहीं, जब इत्त्व प्राप्त ही नहीं तो पुन. निषेध कैसा ? वार्तिककार का अभिप्राय आकरग्रन्थों में देखना चाहिए।

डीयताम्, डीयेताम्, डीयन्ताम् । लँङ्—अडीयत, अडीयेताम्, अडीयन्त । वि० लिँङ्—डीयेत, डीयेयाताम्, डीयेरन् । आ० लिँङ्—डयिषीष्ट, डयिषीयास्ताम्, डयिषीरन् । लुँङ्—अडयिष्ट, अडयिषाताम्, अडयिषत । अडयिष्ठाः, अडयिषाथाम्, अडयिढ्वम्-अडयिध्वम् । अडयिषि, अडयिष्वहि, अडयिष्महि । लृँङ्—अडयिष्यत, अडयिष्येताम्, अडयिष्यन्त ।

उपसर्गयोग—इस धातु का प्रायः उद्पूर्वक प्रयोग देखा जाता है। उड्डीयते= उड़ता है (उदडीयत पक्षिभिः—नैषध २.५)।

[लघु०] पीङ् पाने ॥१७॥ पीयते । पेता । अपेष्ट ॥

अर्थः—पीङ् (पी) धातु 'पीना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ङित् होने से यह धातु पूर्ववत् आत्मनेपदी है। परन्तु ऊदुदन्तैः० में परिगणित न होने से अनिट् है। लिँट् मे क्रादिनियम से सर्वत्र इट् हो जाता है—

लँट्—पीयते[1], पीयेते, पीयन्ते । लिँट्—पिप्ये, पिप्याते, पिप्यिरे । पिप्यिषे, पिप्याथे, पिप्यिढ्वे-पिप्यिध्वे (विभाषेटः ५२७)। पिप्ये, पिप्यिवहे, पिप्यिमहे । लुँट्—पेता, पेतारौ, पेतारः । पेतासे— । लृँट्—पेष्यते, पेष्येते, पेष्यन्ते । लोँट्—पीयताम्, पीयेताम्, पीयन्ताम् । लँङ्—अपीयत, अपीयेताम्, अपीयन्त । वि० लिँङ्—पीयेत, पीयेयाताम्, पीयेरन् । आ० लिँङ्—पेषीष्ट, पेषीयास्ताम्, पेषीरन् । लुँङ्—अपेष्ट, अपेषाताम्, अपेषत । अपेष्ठाः, अपेषाथाम्, अपेढ्वम् । अपेषि, अपेष्वहि, अपेष्महि । लृँङ्—अपेष्यत, अपेष्येताम्, अपेष्यन्त ।

उपसर्गयोग—इस का बहुधा नि-पूर्वक प्रयोग देखा जाता है। यथा—निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां तथाऽऽद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि (नैषध १.१)। ध्यान रहे कि 'पा पाने' का ल्यबन्त रूप 'निपाय' बनता है वहाँ 'न ल्यपि' (६.४.६९) से ईत्व का निषेध हो जाता है।

[लघु०] माङ् माने ॥१८॥ मायते । ममे ॥

अर्थः—माङ् (मा) धातु 'मापना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—वर्त्तमान उपलब्ध वैदिक वा लौकिक साहित्य में हमें इस धातु का कहीं प्रयोग नहीं मिला। श्रीकृष्णलीलाशुकमुनि पुरुषकारवार्त्तिक में लिखते हैं कि इस धातु का उल्लेख केवल मैत्रेयरक्षित ने किया है। क्षीरस्वामी का क्षीरतरङ्गिणी में कथन है कि इस धातु को दुर्ग ही पढ़ते हैं अन्य वैयाकरण नहीं। इस से प्रतीत होता है कि यह धातु पाणिनीयव्याकरण में बाद में प्रक्षिप्त की गई है। अत एव न्यासकार श्रीजिनेन्द्रबुद्धि तथा पदमञ्जरीकार श्रीहरदत्त को इस धातु का कुछ पता नहीं (देखें ६.४.६६; ७.४.४० तथा ७.४.५४ सूत्रों पर उनकी व्याख्याएं)। ङकारानुबन्ध के कारण यह धातु आत्मनेपदी तथा 'ऊदुदन्तैः०' कारिका में परिगणित

१. परयाऽपि तृषा विबाधितो न हि रथ्यागतमम्बु पीयते—क्षीरस्वामी।

न होने से अनिट् है। लिंट् मे आदिनियम से नित्य इट् हो जायेगा। रूपमाला यथा—

लँट्—मायते, मायेते, मायन्ते। लिंट्—ममे, ममाते, ममिरे। लृट्—माता, मातारौ, मातार। मातासे—। लृँट्—मास्यते, मास्येते, मास्यन्ते। लोँट—मायताम्, मायेताम्, मायन्ताम्। लंङ्—अमायत, अमायेताम्, अमायन्त। वि० लिंङ्—मायेत, मायेयाताम्, मायेरन्। आ० लिंङ्—मासीष्ट, मासीयास्ताम्, मासीरन्। लुंङ्—अमास्त, अमासाताम्, अमासत। लृँङ्—अमास्यत, अमास्येताम्, अमास्यन्त।

[लघु०] जनीँ प्रादुर्भावे ॥१६॥

अर्थ—जनीँ (जन्) धातु 'उत्पन्न होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु वेद-लोक दोनो मे अत्यन्त प्रसिद्ध है। जन, जननी, जनक, जाति, जाया, जन्मन्, प्रजा, अज, द्विज आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं। जनीँ मे ईकार अनुनासिक एवम् अनुदात्त है अत इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाता है, 'जन्' ही अवशिष्ट रहता है। ईदित् करने का प्रयोजन 'इदितो निष्ठायाम्' (७ २ १४) से निष्ठा मे इट् का निषेध करना है—जात, जातवान् ['जनसनखनां सञ्झलो' (६७६) इत्यात्त्वम्]। अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा नकारान्त अनुदात्तों मे परिगणित न होने से सेट् है।

लँट्—में श्यन् होकर 'जन्+य+ते' इस स्थिति मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६३६) ज्ञाजनोर्जा ।७।३।७६॥

अनयोर्जादेश स्याच्छिति। जायते। जज्ञे। जनिता। जनिष्यते॥

अर्थ—शित् परे होने पर ज्ञा और जन् धातुओ को 'जा' आदेश हो।

व्याख्या—ज्ञाजनो ।६।२। जा ।१।१। (लुप्तविभक्तिको निर्देश)।शिति ।७।१। ('ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' से)। अर्थ—(ज्ञाजनो) ज्ञा और जन् धातुओं के स्थान पर (जा) 'जा' आदेश हो जाता है (शिति) शित् परे हो तो। अनेकाल् होने से 'जा' आदेश सम्पूर्ण जन् और ज्ञा के स्थान पर होता है। ज्ञा के उदाहरण 'जानाति' आदि आगे क्र्यादिगण मे आयेंगे। जन् का उदाहरण यथा—

'जन्+य+ते' यहाँ 'श्यन्' यह शित् परे है अत प्रकृतसूत्र से जन् को 'जा' आदेश होकर 'जायते' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार लोँट्, लँङ् और विधिलिंङ में जहा श्यन् होता है वहा सर्वत्र 'जा' आदेश हो जायेगा। लँट् मे रूपमाला यथा—जायते, जायेते, जायन्ते। जायसे, जायेथे, जायध्वे। जाये, जायावहे, जायामहे।

लिंट्—प्र० पु० के एकवचन मे 'त' को एश् आदेश तथा द्वित्व आदि करने पर 'ज+जन्+ए' हुआ। अब 'गमहनजनखनघसां लोप क्ङित्यनङ' (५००) सूत्र से उपधालोप होकर 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' (६२) से नकार को ञकार करने स 'जञे' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे 'जनाते' आदि। रूपमाला यथा—जज्ञे, जज्ञाते, जज्ञिरे। जज्ञिषे, जज्ञाथे, जज्ञिध्वे। जज्ञे, जज्ञिवहे, जज्ञिमहे।

लुँट्—जनिता, जनितारौ, जनितारः। जनितासे—। लृँट्—जनिष्यते, जनिष्येते, जनिष्यन्ते। लोँट्—जायताम्, जायेताम्, जायन्ताम्। जायस्व, जायेथाम्, जायध्वम्। जायै, जायावहै, जायामहै। लँङ्—अजायत, अजायेताम्, अजायन्त। अजायथाः, अजायेथाम्, अजायध्वम्। अजायै, अजायावहि, अजायामहि। वि० लिँङ्—जायेत, जायेयाताम्, जायेरन्। जायेथाः, जायेयाथाम्, जायेध्वम्। जायेय, जायेवहि, जायेमहि। आ० लिँङ्—जनियीष्ट, जनियीयास्ताम्, जनियीरन्।

लुँङ्—प्र० पु० के एकवचन में च्लिप्रत्यय होकर 'जन्+च्लि+त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४०) दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्यो-ऽन्यतरस्याम् ।३।१।६१॥

एभ्यश्च्लेश्चिण् वा स्यादेकवचने तशब्दे परे ॥

अर्थः—एकवचनवाचक 'त' शब्द परे हो तो दीप्, जन्, बुध्, पूर्, ताय् और प्याय् धातुओं से परे च्लि के स्थान पर विकल्प से चिण् हो।

व्याख्या—दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्यः ।५।३। अन्यतरस्याम् ।७।१। च्लेः ।६।१। ('च्लेः सिँच्' से)। चिण् ।१।१। ते ।७।१। ('चिण् ते पदः' से)। दीपीँ दीप्तौ (चमकना, दिवा० आत्मने०), जनीँ प्रादुर्भावे (दिवा० आत्मने०), बुधँ अवगमने[1] (जानना, दिवा० आत्मने०), पूरीँ आप्यायने (पूर्ण करना, दिवा० आत्मने०), तायृँ सन्तानपालनयोः (फैलाना, पालन करना, भ्वा० आत्मने०), ओँप्यायीँ वृद्धौ (फूलना, भ्वा० आत्मने०)—ये सब धातुएं आत्मनेपदी हैं, इन से परे 'त' प्रत्यय एकवचन में ही प्रयुक्त हो सकता है [यदि धातु परस्मैपदी होती तो मध्यमपुरुष के बहुवचन में भी 'त' आ सकता था] अतः 'त' शब्द से एकवचनवाचक 'त' शब्द ही लिया जायेगा अन्य नहीं। अर्थः—(दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्यः) दीप्, जन्, बुध्, पूर्, ताय् और प्याय् धातुओं से परे (च्लेः) च्लि के स्थान पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (चिण्) चिण् आदेश हो जाता है (ते) एकवचनवाचक 'त' शब्द परे हो तो। दूसरी अवस्था में चिण् न होगा अतः विकल्प सिद्ध हो जायेगा। चिण् के चकार और णकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है, 'इ' मात्र अवशिष्ट रहता है।

'जन्+च्लि+त' यहां जन् से एकवचनवाचक 'त' शब्द परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से च्लि के स्थान पर चिण् आदेश होकर अनुबन्धलोप करने से 'जन्+इ+त' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४१) चिणो लुक् ।६।४।१०४॥

---

१. यहां दीपीँ, जनीँ आदि आत्मनेपदी धातुओं के साहचर्य से बुध् धातु भी आत्मनेपदी गृहीत होती है।

चिण परस्य तशब्दस्य लुक् स्यात् ॥

अर्थ —चिण् से परे 'त' का लुक् हो।

व्याख्या—चिण ।५।१। लुक् ।१।१। अर्थ —(चिण) चिण् से परे (लुक्) लुक् हो। किस का लुक् हो ? यह नहीं बताया गया। यह सूत्र अङ्गाधिकार में पढा गया है अङ्गसञ्ज्ञा प्रत्यय के विना हो नहीं सकती अत 'प्रत्ययस्य' का अध्याहार कर लिया जायेगा। वह प्रत्यय 'त' ही हो सकता है अन्य नहीं, क्योंकि 'त' के परे होने पर ही च्लि को चिण् का विधान किया गया है। 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुप' (१८९) से प्रत्ययादर्शन की लुक्सज्ञा होने से सम्पूर्ण 'त' का ही लुक् होगा केवल अन्त्य वर्ण का नहीं।

'जन्+इ+त' यहा पर चिण् से परे 'त' का लुक् होकर अङ्ग को अट् का आगम करने पर 'अजनि' बना। अब यहा चिण् के णित्त्व के कारण 'अत उपधाया' (४५५) से उपधावृद्धि प्राप्त होती है परन्तु वह अनिष्ट है। अत उसके निवारणार्थ अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(६४२) जनि-वध्योश्च ।७।३।३५॥

अनयोरुपधाया वृद्धिर्न स्याच्चिणि ञ्णिति कृति च। अजनि—अजनिष्ट ॥

अर्थ —चिण् परे होने पर अथवा कृत्सञ्ज्ञक ञित् वा णित् परे होने पर जन् और वध् धातुओ की उपधा को वृद्धि न हो।

व्याख्या—जनि वध्यो ।६।२। च इत्यव्ययपदम्। उपधाया ।६।१। ('अत उपधाया' से)। वृद्धि ।१।१। ('मुजेर्वृद्धिः' से)। न इत्यव्ययपदम् ('नोदात्तोपदेश०' से)। चिण्कृतो ।७।२। ('आतो युक् चिण्कृतो' से)। ञ्णिति ।७।१। ('अचो ञ्णिति' से)। अर्थ —(जनि-वध्यो) जन् और वध् धातुओ की (उपधाया) उपधा के स्थान पर (वृद्धि) वृद्धि (न) नहीं होती (ञ्णिति चिण्कृतो) चिण् परे हो या ञित् णित् कृत् परे हो तो। चिण् का उदाहरण प्रकृत में है। ञित् कृत् का उदाहरण—जन (जन्+घञ्), तथा णित् कृत् का उदाहरण—जनक (जन्+ण्वुल्) है। वध् के उदाहरण काशिका में देखें।

'अजन्+इ' में चिण् परे है अत प्रकृतसूत्र से उपधावृद्धि का निषेध हो गया तो 'अजनि' प्रयोग सिद्ध हुआ। जिस पक्ष मे चिण् नहीं हुआ वहां 'च्लेः सिच्' (४३८) से च्लि के स्थान पर सिच् आदेश होकर इट् का आगम करने पर 'अजनिष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। आगे 'आताम्' आदियों में कहीं चिण् नहीं होता अत च्लि को सिच् आदेश होकर केवल एक ही रूप बनता चला जायेगा। लुंङ् में रूपमाला यथा—अजनि-अजनिष्ट, अजनिषाताम्, अजनिषत। अजनिष्ठा, अजनिषाथाम्, अजनिढ्वम्। अजनिषि, अजनिष्वहि, अजनिष्महि।

लृंङ्—अजनिष्यत, अजनिष्येताम्, अजनिष्यन्त।

उपसर्गयोग—अधि√जन्=उत्कृष्ट होना, अधिपति होना (ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते—मनु० १.९९)। अनु√जन्=पीछे पैदा होना, सकर्मक, (तमजोऽनुजातः—रघु० ६.७)। उप√जन्=पैदा होना (अस्मिंस्तु निर्गुणं गोत्रे नाऽपत्यमुपजायते—हितोप० प्रस्तावना)। अभि√जन्=पैदा होना (कामात्क्रोधोऽभिजायते—गीता २.६२)। सम्√जन्=पैदा होना (बलं सञ्जायते राज्ञः—मनु० ८.१७२)। प्र√जन्=पैदा होना (ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते—सि० कौ०); पैदा करना (प्रजायन्ते सुतान् नार्यः—महाभारत; प्रजायते जनयति जजन्ति छान्दसं विदुः—भट्टमल्ल २.४६)। वि√जन्=गर्भ को छोड़ना, ब्याना [धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहादकर्मकः। समायां समायां विजायत इति समासमीना गौः। 'समांसमां विजायते' (५.२.१२) इति खप्रत्ययः। समांसमीना सा यैव प्रतिवर्षं प्रसूयते।]; पैदा होना (तस्य सदृशः पुत्रो व्यजायत—रामायण)।

[लघु०] दीपीँ दीप्तौ ॥२०॥ दीप्यते। दिदीपे। अदीपि-अदीपिष्ट॥

अर्थः—दीपीँ (दीप्) धातु 'चमकना या दीप्त होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—दीपीँ मे अन्त्य ईकार अनुनासिक तथा अनुदात्त है। इत्सञ्ज्ञा होकर लोप करने से 'दीप्' अवशिष्ट रहता है। ईदित् करने का फल 'दीप्तः, दीप्तवान्' में 'श्वीदितो निष्ठायाम्' (७.२.१४) द्वारा इण्निषेध करना है। अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है।

लँट्—दीप्यते[1], दीप्येते, दीप्यन्ते। लिँट्—दिदीपे, दिदीपाते, दिदीपिरे। लुँट्—दीपिता, दीपितारौ, दीपितारः। दीपितासे—। लृँट्—दीपिष्यते, दीपिष्येते, दीपिष्यन्ते। लोँट्—दीप्यताम्, दीप्येताम्, दीप्यन्ताम्। लँङ्—अदीप्यत, अदीप्येताम्, अदीप्यन्त। वि० लिँङ्—दीप्येत, दीप्येयाताम्, दीप्येरन्। आ० लिँङ्—दीपिषीष्ट, दीपिषीयास्ताम्, दीपिषीरन्।

लुँङ्—प्र० पु० के एकवचन में 'दीपजनबुध०' (६४०) से च्लि को वैकल्पिक चिण् होकर चिण्पक्ष में 'चिणो लुक्' (३४१) से 'त' का लुक् हो जाता है—अदीपि-अदीपिष्ट, अदीपिषाताम्, अदीपिषत। अदीपिष्ठाः, अदीपिषाथाम्, अदीपिढ्वम्। अदीपिषि, अदीपिष्वहि, अदीपिष्महि।

लृँङ्—अदीपिष्यत, अदीपिष्येताम्, अदीपिष्यन्त।

उपसर्गयोग—प्र√दीप्=प्रदीप्त होना, खूब चमकना, जलना, प्रज्वलित होना (यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः—गीता ११.२९)। इसी प्रकार सम्पूर्वक दीप् का भी प्रयोग होता है (सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः—वैराग्य० ७५)।

---

१. यथोदयगिरेर्द्रव्यं सन्निकर्षेण दीप्यते।
तथा सत्सन्निधानेन हीनवर्णोऽपि दीप्यते॥ (हितो० ४६)॥

[लघु०] पदृँ गतौ ॥२१॥ पद्यते । पेदे । पत्ता । पत्सीष्ट ॥

अर्थ —पदृँ (पद्) धातु 'जाना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इस धातु मे अन्त्य अकार अनुदात्त तथा अनुनासिक है, इत्सञ्ज्ञा और लोप करने से 'पद्' ही शेष रहता है। अनुदात्तेत् होने से यह आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिंट् मे सर्वत्र क्रादिनियम से इट् हो जाता है। इसी धातु से उत्पत्ति, विपत्ति, सम्पत्ति, निष्पत्ति, आपत्ति, व्युत्पत्ति, विप्रतिपत्ति, सम्पद्, पाद, पद्धति, पद्य, पादुका आदि विविध शब्द उत्पन्न होते हैं।

लँट्—पद्यते, पद्येते, पद्यन्ते। लिंट्—मे सर्वत्र 'अत एकहल्०' (४६०) से एत्वाभ्यासलोप हो जाता है—पेदे, पेदाते, पेदिरे। पेदिषे, पेदाथे, पेदिध्वे। पेदे, पेदिवहे, पेदिमहे। लुँट्—'खरि च (७४) से चर्त्व हो जाता है—पत्ता, पत्तारौ, पत्तार। पत्तासे—। लृँट्—पत्स्यते, पत्स्येते, पत्स्यन्ते। लोँट्—पद्यताम् पद्येताम्, पद्यन्ताम्। लँङ्—अपद्यत, अपद्येताम्, अपद्यन्त। वि० लिंङ्—पद्येत, पद्येयाताम्, पद्येरन्। आ० लिंङ्—पत्सीष्ट, पत्सीयास्ताम्, पत्सीरन्।

लुँङ्—प्र० पु० के एकवचन में 'अपद्+च्लि+त' इस स्थिति मे अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४३) च्विण् ते पद ।३।१।६०॥

पदेश्च्लेश्च्विण् स्यात् तशब्दे परे। अपादि, अपत्साताम्, अपत्सत ॥

अर्थ —पद् धातु से परे च्लि के स्थान पर च्विण् आदेश हो, 'त' शब्द परे हो तो।

व्याख्या—च्विण् ।१।१। ते ।७।१। पद ।५।१। च्लेः ।६।१। ('च्लेः सिच्' से)। अर्थ —(पद) पद् धातु से परे (च्लेः) च्लि के स्थान पर (च्विण्) च्विण् आदेश हो (ते) 'त' परे हो तो।

'अपद्+च्लि+त' यहा पद् धातु से परे च्लि को च्विण् आदेश होकर 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि तथा 'च्विणो लुक्' (६४१) से 'त' का लुक् करने पर 'अपादि' रूप सिद्ध होता है। द्विवचन मे 'अपत्साताम्'। बहुवचन में झ् को अत् आदेश होकर—अपत्सत। सास् मे 'झलो झलि' (४७८) से तथा ध्वम् मे 'धि च' (५१५) से सकार का लोप हो जाता है। लुँङ् मे रूपमाला यथा—अपादि, अपत्साताम्, अपत्सत। अपत्थाः, अपत्साथाम् अपद्ध्वम्। अपत्सि, अपत्स्वहि, अपत्स्महि।

लृँङ्—अपत्स्यत, अपत्स्येताम्, अपत्स्यन्त।

उपसर्गयोग—सम्√पद्=पूरा होना (सम्पत्स्यते च कामोऽस्य कालः कश्चित् प्रतीक्ष्यताम्—कुमार० २ ५४, सम्पत्स्यते ते मनसः प्रसादः—रघु० १४ ७६), होना (सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः—मेघ० ११), सम्पन्न होना (सम्भाव्य गोषु सम्पन्नम्—पञ्च० ४ ७७, अशोक! यदि सद्य एव मुकुलनं सम्पत्स्यसे—मालविका० ३.१७)।

वि√पद्=मरना (नाथवन्तस्त्वया लोकास्त्वमनाथा विपत्स्यसे—उत्तर० १.४३); विपत्तिग्रस्त होना (स बन्धुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षमः—हितो० १.३१)।

उद्√पद्=उत्पन्न होना (उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा—मालती० ८; रूप्यकाणां शतमुत्पद्यते—पञ्च० ५)।

निस्√पद् (निष्पद्)=निष्पन्न होना, पैदा होना (निष्पद्यन्ते च सस्यानि—मनु०९.२४७), णिजन्त—उत्पन्न करना (त्वं नित्यमेकमेव पटं निष्पादयसि—पञ्च०)।

अनु√पद्=प्राप्त करना (जरां सद्योऽन्वपद्यत—महा०; वसुधामन्वपद्येतां वातनुन्नाविव द्रुमौ—महा०)।

आ√पद्=आना (एष रावणिरापेदे—भट्टि० १५.८९, आपेदे=आगतः); प्राप्त करना (निर्वेदमापद्यते—मृच्छकटिक १.१४; श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः—रघु० १४.७०, इसी प्रकार वशमापद्यते, विस्मयमापद्यते, चिन्तामापद्यते आदि); दुःखी होना, आपत्तिग्रस्त होना (अर्थधर्मौ परित्यज्य यः काममनुवर्त्तते। एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा—रामा० अयो० ५३.१४)।

वि+आ√पद्=मरना, णिजन्त=मारना (आत्मानं तव द्वारि व्यापादयामि—हितो०)।

प्रति√पद्=प्राप्त करना (उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः—कुमार० १.४३, स हि तस्य न केवलां श्रियं प्रतिपेदे सकलान् गुणानपि—रघु० ८.५, प्रतिपद्य मनोहरं वपुः—कुमार० ४.१६), स्वीकार करना—ग्रहण करना (स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते—रघु० १०.४०; रथं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिमारोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे—रघु० १४.४७); व्यवहार करना—वर्ताव करना (प्रायः अधिकरण के साथ; न युक्तं भवतोऽस्मासु प्रतिपत्तुमसाम्प्रतम्—महाभारत)। णिजन्त—देना (गुणवते कन्या प्रतिपादनीया—शाकुन्तल; अर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम्—नीति० १२); प्रतिपादन करना (उक्तमेवार्थमुदाहरणेन प्रतिपादयति)।

प्र√पद्=प्राप्त करना (कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे—रघु० ५.५१; बाल्यात्परं साऽद्य वयः प्रपेदे—कुमार० १.३१; रेणुः प्रपेदे पथि पङ्गुभावम्—रघु० १६.३०); शरण में आना (शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्—गीता २.७)।

अभि√पद्=प्राप्त करना (स चिन्तामभ्यपद्यत—रामायण); जाना-पहुँचना (अभिपेदे राघवं मदनातुरा—रघु० १२.३२); स्वीकार करना (निरास्यायतमं शून्यं (राज्यं) भरतो नाऽभिपत्स्यते—रामायण अयो० ३६.१२); काबू करना, वशीभूत करना (यदिदं सर्वं मृत्युनाऽभिपन्नम्—शत० ब्रा०; कालाभिपन्नाः सीदन्ति सिकतासेतवो यथा—रामायण अरण्य० ६९.५०); सहायता करना (मयाऽभिपन्नं तं चापि न सर्पो धर्षयिष्यति—महाभारत)।

उप√पद्=समीप जाना, पहुँचना (यमुनातटमुपपेदे—पञ्च० १); पाया

जाना, होना (स्वदन्य सहायस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते—गीता ६ ३९), सम्भव होना (नेश्वरो जगत कारणमुपपद्यते—श्रीभाष्य), उचित होना, ठीक होना, फ़िट होना, सगत होना (प्राय अधिकरण के साथ, कलेव्य मा स्म गम पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते—गीता २ ३, सर्वं सखे ! त्वय्युपपन्नमेतत—कुमार० ३ १२)।

अभि+उप √पद्=अनुग्रह करना (अभ्युपपत्तिरनुग्रह इत्यमर, अनयाऽभ्युपपत्त्या सूचिता ते भर्तुर्हेऽनुमन्तव्या राजलक्ष्मी—शाकुन्तल ४, तप कृशामभ्युपपत्स्यते सखीम्—कुमार० ५ ६१), रक्षा करना (ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम्—मनु० ८ ११२)।

[लघु०] विदॄं सत्तायाम् ॥२२॥ विद्यते। वेत्ता। अवित्त॥

अर्थ—विदॄं (विद्) धातु 'विद्यमान होना, पाया जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा अनुदात्तौं में पठित होने से अनिट् है। लिट् में क्रादिनियम से सर्वत्र इट् हो जायेगा। रूपमाला यथा—

लॅट्—विद्यते, विद्येते, विद्यन्ते। 'नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सत' (गीता २ १६)। लिट्—विविदे, विविदाते, विविदिरे। लुट्—वेत्ता, वेत्तारौ, वेत्तार.। वेत्तासे—। लृट्—वेत्स्यते, वेत्स्येते, वेत्स्यन्ते। लोट्—विद्यताम्, विद्येताम्, विद्यन्ताम्। लङ्—अविद्यत, अविद्येताम्, अविद्यन्त। वि० लिङ्—विद्येत, विद्येयाताम्, विद्येरन्। आ० लिङ्—'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु (५८६) से क्रलादि लिङ् के कित् होने के कारण लघूपधगुण नहीं होता—वित्सीष्ट, वित्सीयास्ताम्, वित्सीरन्।

लुङ्—'अविद्+स्+त' यहाँ 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' (५८६) से सिच् के कित् होने के कारण लघूपधगुण नहीं होता। 'झलो झलि' (४७८) से सकार का लोप तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व करने पर—अवित्त। इसी प्रकार थास् में—अवित्था। ध्वम् में 'धि च' (५१४) से सकार का लोप हो जाता है—अविद्ध्वम्। रूपमाला यथा—अवित्त, अवित्साताम्, अवित्सत। अवित्थाः, अवित्साथाम्, अविद्ध्वम् अवित्सि, अवित्स्वहि, अवित्स्महि।

लृङ्—अवेत्स्यत, अवेत्स्येताम्, अवेत्स्यन्त।

[लघु०] बुधॄं अवगमने ॥२३॥ बुध्यते। बोद्धा। भोत्स्यते। अभुत्सीष्ट। अबोधि-अबुद्ध। अभुत्साताम्॥

अर्थ—बुधॄं (बुध्) धातु 'जानना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

---

१ 'जानना' अर्थ में इस धातु के प्रयोग यथा—हिरण्मय हंसमबोधि नैषध (नैषध १ ११७), क्रमादमु नारद इत्यबोधि स (माघ १.३), नाबुद्ध कस्यूमतां विहाय जात तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम् (रघु० १४ ४८), एवं बुद्ध्वा पर बुद्ध्वा (गीता ३ ४२) इत्यादि। परन्तु 'जागना' अर्थ में भी इस धातु के बहुश प्रयोग उपलब्ध

व्याख्या—अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र इट् हो जाता है।

लँट्—बुध्यते, बुध्येते, बुध्यन्ते। लिँट्—बुबुधे, बुबुधाते, बुबुधिरे।

लुँट्—लघूपधगुण होकर 'बोध्+ता' इस स्थिति मे 'झषस्तथोर्धोऽधः' (५४६) से तकार को धकार तथा 'झलां जश्झशि' (१६) से धातु के धकार को जश्त्व-दकार करने पर—बोद्धा। रूपमाला यथा—बोद्धा, बोद्धारौ, बोद्धारः। बोद्धासे—।

लृँट्—लघूपधगुण होकर 'बोध्+स्य+ते' इस स्थिति में सकार परे होने के कारण 'एकाचो बशो भष्०' (२५३) से बकार को भकार तथा 'खरि च' (७४) से धकार को चर्त्व-तकार होकर 'भोत्स्यते' रूप सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—भोत्स्यते, भोत्स्येते, भोत्स्यन्ते।

लोँट्—बुध्यताम्, बुध्येताम्, बुध्यन्ताम्। लँङ्—अबुध्यत, अबुध्येताम्, अबुध्यन्त। वि० लिँङ्—बुध्येत, बुध्येयाताम्, बुध्येरन्। आ० लिँङ्—मे 'लिँङ्सिँचावात्मनेपदेषु' (५८६) द्वारा झलादि लिँङ् के कित् होने से लघूपधगुण नही होता, तब भष्त्व तथा चर्त्व हो जाते हैं—भुत्सीष्ट, भुत्सीयास्ताम्, भुत्सीरन्।

लुँङ्—प्र० पु० के एकवचन में 'दीपजनबुध०' (६४०) से च्लि को विकल्प से चिण् आदेश होकर लघूपधगुण तथा 'चिणो लुक्' (६४१) से 'त' का लुक् करने पर 'अबोधि' रूप बनता है। चिण् के अभाव मे च्लि को सिँच् हो जाता है। तब 'लिँङ्सिँचावात्मनेपदेषु' (५८६) से झलादि सिँच् के कित्त्व के कारण लघूपधगुण नही होता। 'अबुध्+स्+त' इस स्थिति मे 'झलो झलि' (४७८) से सकार का लोप, 'झषस्तथोर्धोऽधः' (५४६) से तकार को धकार तथा 'झलां जश्झशि' (१६) से धातु के धकार को जश्त्व-दकार करने पर 'अबुद्ध' रूप सिद्ध होता है। द्विवचन में 'अबुध्+स्+आताम्' इस स्थिति में भष्त्व और चर्त्व होकर—अभुत्साताम्। बहुवचन में झकार को अत् आदेश होकर—अभुत्सत। थास् मे 'अबुध्+स्+थास्' इस स्थिति मे सकार का लोप, धत्व तथा जश्त्व करने पर—अबुद्धाः। ध्वम् में 'धि च' (५१५) से सकार का लोप होकर भष्त्व-जश्त्व हो जाते हैं—अभुद्ध्वम्। उ० पु० मे सकार का लोप न होकर भष्त्व-चर्त्व हो जाते हैं। रूपमाला यथा—अबोधि-अबुद्ध, अभुत्साताम्, अभुत्सत। अबुद्धाः, अभुत्साथाम्, अभुद्ध्वम्। अभुत्सि, अभुत्स्वहि, अभुत्स्महि।

लृँङ्—अभोत्स्यत, अभोत्स्येताम्, अभोत्स्यन्त।

उपसर्गयोग—अव√बुध्=जानना (त्वयैवमेतं नाऽवबुध्यते—महाभारत)। प्र√बुध्=जागना (लघुपतनकनामा वायसः प्रबुद्धः—हितोप० १)। सम्√बुध्=

---

होते हैं। यथा—काले मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चाऽनुचिन्तयेत् (मनु० ४.६२); ते च प्राबुध्यन्त बुबुधे चादिपूरुषः (रघु० १०.६); ददर्पि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः (माघ ११.४) इत्यादि।

भली भाँति जानना (सम्भुत्सीष्ठा सुनयनयनैर्विद्विषामोहितानि—भट्टि० १६ ३०)।

[लघु०] युधँ सम्प्रहारे[1] ॥२४॥ युध्यते। युयुधे। योद्धा। अयुद्ध॥

अर्थ—युधँ (युध्) धातु 'युद्ध करना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् मे आदिनियम से नित्य इट् हो जाता है।

लँट्—युध्यते, युध्येते, युध्यन्ते। लिँट्—युयुधे, युयुधाते, युयुधिरे। लुट्—मे लघूपधगुण होकर 'झषस्तथोर्धोऽध' (५४६) से धत्व तथा 'झला जशोऽशि' (१६) से जश्त्व करने पर—योद्धा, योद्धारौ, योद्धार। योद्धासे—। लृँट्—मे लघूपधगुण होकर त्यँ हो जाता है—योत्स्यते, योत्स्येते, योत्स्यन्ते। लोँट्—युध्यताम्, युध्येताम् युध्यन्ताम्। लँङ्—अयुध्यत, अयुध्येताम्, अयुध्यन्त। वि० लिँङ्—युध्येत, युध्येयाताम्, युध्येरन्। आ० लिँङ्—मे 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' (५८६) से भलादि लिँङ् के कित् होने से लघूपधगुण नहीं होता—युत्सीष्ट, युत्सीयास्ताम्, युत्सीरन्।

लुँङ्—'दीप-जन-बुध०' (६४०) सूत्र मे युध् धातु का उल्लेख नहीं अत इस से परे च्लि को चिण् नही होता। 'अयुध्+स्+त' इस स्थिति मे 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' (५८६) से सिच् के कित् होने के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। अब 'झलो झलि' (४७८) से सकार का लोप, 'झषस्तथोर्धोऽध (५४६) से तकार को धकार तथा 'झलां जशोऽशि' (१६) से धातु के धकार को जश्त्व-दकार करने पर—अयुद्ध। इसी प्रकार थास् में—अयुद्धा। ध्वम् मे 'धि च' (५१५) से सकार का लोप होकर जश्त्व करने पर—अयुद्ध्वम्। रूपमाला यथा—अयुद्ध, अयुत्साताम्, अयुत्सत। अयुद्धा, अयुत्सायाम्, अयुद्ध्वम्। अयुत्सि, अयुत्स्वहि, अयुत्स्महि।

लृँङ्—अयोत्स्यत, अयोत्स्येताम्, अयोत्स्यन्त।

उपसर्गयोग—नि√युध्=बाहुयुद्ध करना (नियुद्ध बाहुयुद्धे स्याद् इत्यमर। नियोद्धुकामे किमु बद्धवर्मणो—नैषध १ १२३)। प्रति√युध्=प्रतिरोध करना, जवाबी हमला करना, सामना करना (सकर्मक, इषुभि प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन—गीता २ ४)।

[लघु०] सृजँ विसर्गे ॥२५॥ सृज्यते। समृजे। ससृजिषे॥

अर्थ—सृजँ (सृज्) धातु 'छोड़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2]।

---

१ सम्प्रहियतेऽस्मिन्निति सम्प्रहारो युद्धम्। तत्क्रियायाम् इत्यर्थे। यह धातु अकर्मकतया प्रयुक्त होती है। जिसके साथ युद्ध किया जाता है उस मे 'सह' योग मे तृतीया विभक्ति का विधान किया जाता है। यथा—युध्यस्व विगतत्रास सर्वैः सार्धं महाबल—रामा० उत्तर० ३७ २१।

२ इस धातु के उपसर्गहीन प्रयोग क्वचित विरल ही मिलते हैं। यथा—

व्याख्या—अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र इट् हो जाता है।

लँट्—सृज्यते, सृज्येते, सृज्यन्ते। लिँट्—ससृजे, ससृजाते, ससृजिरे। ससृजिषे, ससृजाथे, ससृजिध्वे। ससृजे, ससृजिवहे, ससृजिमहे।

लुँट्—प्र० पु० के एकवचन में ता.स्, डा, टिलोप आदि होकर, 'सृज्+ता' इस स्थिति मे लघूपधगुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४४) सृजि-दृशोर्झल्यमकिति ।६।१।५७॥

अनयोरमागमः स्याज्झलादावकिति। स्रष्टा। स्रक्ष्यति। सृक्षीष्ट। असृष्ट। असृक्षाताम्॥

अर्थः—कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय परे हो तो सृज् और दृश् धातुओं को अम् का आगम हो।

व्याख्या—सृजिदृशोः ।६।२। झलि ।७।१। अम् ।१।१। अकिति ।७।१। 'धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यविज्ञानम्' अर्थात् धातु का स्वरूप ग्रहण करके यदि कोई कार्य कहा जाय तो वह कार्य उस धातु से विहित प्रत्यय के परे होने पर ही किया जाता है। इस परिभाषा के बल से यहां 'प्रत्यये' का अध्याहार कर उस का 'झलि' विशेषण बना लिया जाता है। तब विशेषण से तदादिविधि होकर 'झलादौ प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(सृजि-दृशोः) सृज् और दृश् का अवयव (अम्) अम् हो जाता है (अकिति) कित् से भिन्न (झलि=झलादौ प्रत्यये) झलादि प्रत्यय परे हो तो। अम् के मकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। 'अ' मात्र अवशिष्ट रहता है। मित् होने से यह आगम 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (२४०) के अनुसार सृज् और दृश् के अन्त्य अच् अर्थात् ऋवर्ण से परे होता है। तब 'इको यणचि' (१५) से ऋकार को यण्-रेफ आदेश होकर सृज् का स्रज् तथा दृश् का द्रश् बन जाता है[1]। यह सूत्र एक प्रकार से लघूपधगुण का अपवाद है।

'सृज्+ता' यहां 'तास्' यह कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से सृज् को अम् का आगम हो गया—सृ अम् ज्+ता। अनुबन्ध मकार का

---

असृष्ट योऽस्मान् (भट्टि० ३.१३)। परन्तु 'मिलना' अर्थ में अकर्मकतया इसका सम्पूर्वक प्रयोग बहुधा देखा जाता है। यथा—(वातः) संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिर्नैः—रघु० ५.६६; (तया) शिवोऽभूत् संसृज्यमानः शरदेव लोकः—कुमार० ७.७४; सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैनम्—रघु० १३.७३ इत्यादि। यह धातु तुदादिगण के परस्मैपद में भी पढ़ी गई है, सकर्मकतया प्रायः उसी के ही प्रयोग उपलब्ध होते हैं। यथा—सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमलङ्करणं भुवः—नीति० ८६। वैदिक-साहित्य में तौदादिक सृज् के दोनों पदों में प्रयोग उपलब्ध हैं—यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च (मुण्डकोप० १.७); अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु (ऋग्वेद १.१६.७)।

१. दृश् के उदाहरण 'द्रष्टा, द्रक्ष्यति' आदि हैं।

लोप कर यण् किया तो—स्रज्+ता । अब 'ग्रश्चभ्रस्जसृज०' (३०७) सूत्र से जकार को षकार तथा 'ष्टुना ष्टु' (६४) से तकार को ष्टुत्व-टकार करने पर 'स्रष्टा' प्रयोग सिद्ध होता है। लुँट् में रूपमाला यथा—स्रष्टा, स्रष्टारौ, स्रष्टारः। स्रष्टासे—।

लृँट्—में 'स्य' यह क्ङिद्भिन्न झलादि प्रत्यय परे विद्यमान रहता है अतः लघूपधगुण का बाध कर अम् का आगम कर यण् किया तो—स्रज्+स्य+ते। अब 'ग्रश्चभ्रस्जसृज०' (३०७) से षत्व, 'षढो क सि' (५४८) से षकार को ककार तथा 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) से स्य के सकार को मूर्धन्य षकार करने पर 'स्रक्ष्यते' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—स्रक्ष्यते, स्रक्ष्येते, स्रक्ष्यन्ते।

लोँट्—सृज्यताम्, सृज्येताम्, सृज्यन्ताम्। लँङ्—असृज्यत, असृज्येताम्, असृज्यन्त। वि० लिँङ्—सृज्येत, सृज्येयाताम्, सृज्येरन्। आ० लिँङ्—में 'लिँङ्-सिँचावात्म०' (५८६) से झलादि लिँङ् (सीयुट्+सुट्+त) कित् है अतः प्रकृतसूत्र में 'अकिति' कहने के कारण अम् का आगम नहीं होता। किञ्च कित्त्व के कारण लघूपधगुण भी नहीं होता। तब 'सृज्+सीष्ट' इस स्थिति मे 'ग्रश्चभ्रस्जसृज०' (३०७) से षत्व, 'षढो क सि' (५४८) से कत्व तथा 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) से प्रत्यय के अवयव सकार को षकार करने पर 'सृक्षीष्ट' रूप बनता है। रूपमाला यथा—सृक्षीष्ट, सृक्षीयास्ताम्, सृक्षीरन्।

लुँङ्—में भी पूर्ववत् झलादि सिच् के कित्त्व के कारण अम् का आगम नहीं होता। तब 'असृज्+स+त' इस स्थिति में सकार का झलोझलिलोप होकर षत्व और ष्टुत्व करने पर 'असृष्ट' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार पास् में—असृष्ठा। आताम् में 'असृज्+स्+आताम्' इस स्थिति में षत्व, कत्व तथा प्रत्यय के अवयव सकार को षत्व करने पर—असृक्षाताम्। इसी प्रकार उ० पु० में प्रक्रिया होती है। ध्वम् में 'धि च' (५१५) से सकार का लोप होकर 'असृज्+ध्वम' इस स्थिति में षत्व, जश्त्व और ष्टुत्व करने पर—असृड्ढ्वम्। रूपमाला यथा—असृष्ट, असृक्षाताम्, असृक्षत। असृष्ठाः, असृक्षाथाम्, असृड्ढ्वम्। असृक्षि, असृज्वहि, असृज्महि।

लृँङ्—अस्रक्ष्यत, अस्रक्ष्येताम्, अस्रक्ष्यन्त।

उपसर्गयोग—प्रायः उद् और वि उपसर्गों के साथ सृज् धातु का 'छोड़ना' अर्थ हुआ करता है[1], उपसर्गहीनावस्था में 'निर्माण करना या बनाना' अर्थ देखा जाता है। परन्तु यह सब तौदादिक सृज् के विषय मे ही समझना चाहिये। दैवादिक सृज् के प्रयोग तो अत्यन्त विरल ही हैं।

यहाँ पर दिवादिगण की आत्मनेपदी धातुओं का वर्णन समाप्त होता है।

---

१. विपूर्वक का भेजना अर्थ अधिक प्रसिद्ध है—भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः (रघु० ५ ३६)।

अब उभयपदी धातुओं का विवेचन प्रारम्भ होता है—

[लघु०] मृषँ तितिक्षायाम् ॥२६॥ मृष्यति; मृष्यते। ममर्ष। ममर्षिथ; ममृषिषे। मर्षितासि; मर्षितासे। मर्षिष्यति; मर्षिष्यते॥

अर्थः—मृषँ (मृष्) धातु 'सहना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—इस धातु का अन्त्य अकार अनुनासिक तथा स्वरित है अतः इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाता है, 'मृष्' मात्र अवशिष्ट रहता है। स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी तथा अनुदात्तो मे परिगणित न होने से सेट् है।

लँट्—(परस्मै०) मृष्यति, मृष्यतः, मृष्यन्ति। (आत्मने०) मृष्यते, मृष्येते, मृष्यन्ते। लिँट्—(परस्मै०) ममर्ष, ममृषतुः, ममृषुः। ममर्षिथ, ममृषथुः, ममृष। ममर्ष, ममृषिव, ममृषिम। (आत्मने०) ममृषे, ममृषाते, ममृषिरे। लुँट्—(परस्मै०) मर्षिता, मर्षितारौ, मर्षितारः। मर्षितासि—। (आत्मने०) मर्षिता, मर्षितारौ, मर्षितारः। मर्षितासे—। लृँट्—(परस्मै०) मर्षिष्यति, मर्षिष्यतः, मर्षिष्यन्ति। (आत्मने०) मर्षिष्यते, मर्षिष्येते, मर्षिष्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) मृष्यतु-मृष्यतात्, मृष्यताम्, मृष्यन्तु। (आत्मने०) मृष्यताम्, मृष्येताम्, मृष्यन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अमृष्यत्, अमृष्यताम्, अमृष्यन्। (आत्मने०) अमृष्यत, अमृष्येताम्, अमृष्यन्त। वि० लिँङ्—(परस्मै०) मृष्येत्, मृष्येताम्, मृष्येयुः। (आत्मने०) मृष्येत, मृष्येयाताम्, मृष्येरन्। आ० लिँङ्—(परस्मै०) मृष्यात्, मृष्यास्ताम्, मृष्यासुः। (आत्मने०) मर्षिषीष्ट, मर्षिषीयास्ताम्, मर्षिषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अमर्षीत्, अमर्षिष्टाम्, अमर्षिषुः। (आत्मने०) अमर्षिष्ट, अमर्षिषाताम्, अमर्षिषत। लृँङ्—(परस्मै०) अमर्षिष्यत्, अमर्षिष्यताम्, अमर्षिष्यन्। (आत्मने०) अमर्षिष्यत, अमर्षिष्येताम्, अमर्षिष्यन्त।

उपसर्गयोग—परि√मृष्=असूया करना [मघोने परिमृष्यन्तमारमन्तं परं स्मरे—भट्टि० ८.५२; परिमृष्यन्तम्=असूयन्तम् इति जयमङ्गला; 'परेर्मृषः' (७४८) इति परस्मैपदमेव। 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः' (१.४.३७) इति सम्प्रदानसञ्ज्ञायां चतुर्थी।]

[लघु०] णहँ बन्धने ॥२७॥ नह्यति; नह्यते। ननाह। नेहिथ-ननद्ध। नेहे। नद्धा। नत्स्यति; नत्स्यते। अनात्सीत्; अनद्ध॥

अर्थः—णहँ (नह्) धातु 'बान्धना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है[2]।

---

१. 'सहन करना' अर्थ में प्रयोग यथा—तत्किमिदमकार्यमनुष्ठितं देवेन? लोको न मृष्यतीति (उत्तर० ३)। 'क्षमा करना' भी सहना होता है। 'क्षमा करना' अर्थ मे प्रयोग यथा—मृष्यन्तु लवस्य वालिशतां तातपादाः (उत्तर० ६)।

२. 'बान्धना' का यहां व्यापक अर्थो मे प्रयोग समझना चाहिये। भूषण आदि का धारण करना, व्यापना आदि भी 'बान्धना' ही हैं। यथा—(धारण करना)

व्याख्या—णह धातु भी पूर्ववत् स्वरितेत् होने से उभयपदी है। 'णो न' (४५८) से इस के आदि णकार को नकार होकर 'नह्' बन जाता है। णोपदेश का फल 'परिणाह' (विस्तार, चौडाई) आदि में णत्व करना है। अनुदात्तो मे परिगणित होने से यह धातु अनिट् है। लिंट् के दोनो पदो मे आदिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु थल् मे भारद्वाजनियम से वैकल्पिक इट् होता है। उपानह् (जूता), नाभि नभस् (आकाश) आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं।

लँट्—(परस्मै०) नह्यति, नह्यत, नह्यन्ति। (आत्मने०) नह्यते, नह्येते, नह्यन्ते। लिंट्—(परस्मै०) ननाह, नेहतु[1], नेहु,। नेहिथ-ननद्ध[2], नेहथु, नेह। ननाह-ननह, नेहिव, नेहिम। (आत्मने०) नेहे[3], नेहाते, नेहिरे। नेहिषे, नेहाथे, नेहिढ्वे-नेहिध्वे[4]। नेहे, नेहिवहे, नेहिमहे। लुंट—(परस्मै०) नद्धा[5], नद्धारौ, नद्धार। नद्धासि—। (आत्मने०) नद्धा, नद्धारौ नद्धार। नद्धासे—। लृट्—(परस्मै०) नत्स्यति[6], नत्स्यत, नत्स्यन्ति। (आत्मने०) नत्स्यते, नत्स्येते, नत्स्यन्ते। लोंट्—(परस्मै०) नह्यतु-नह्यतात्, नह्यताम्, नह्यन्तु। (आत्मने०) नह्यताम्, नह्येताम् नह्यन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अनह्यत्, अनह्यताम्, अनह्यन्। (आत्मने०) अनह्यत, अनह्येताम्, अनह्यन्त। वि० लिंङ्—(परस्मै०) नह्येत्, नह्येताम्, नह्येयु। (आत्मने०) नह्येत, नह्येयाताम्, नह्येरन्। आ० लिंङ्—(परस्मै०) नह्यात्, नह्यास्ताम्, नह्यासु। (आत्मने०) नत्सीष्ट[7], नत्सीयास्ताम्, नत्सीरन्। लुंङ्—(परस्मै०) अनात्सीत्[8], अनाद्धाम्[9], अनात्सु। अनात्सी, अनाद्धम्, अनाद्ध। अनात्सम्,

---

सर्वाङ्गनद्धाऽऽभरणेव नारी—रघु० १६ ४१, (व्यापना) शैलेयनद्धानि शिलातलानि—कुमार० १ ५५।

१ 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) से कित् लिंट् मे एत्वाभ्यासलोप हो जाता है। २ इट्पक्ष मे 'थलि च सेटि' (४६१) से एत्वाभ्यासलोप। इट् के अभाव मे 'ननह्+थ' इस स्थिति मे 'नहो ध' (३५६) से धातु के हकार को धकार तथा—'झषस्तथो०' (५४६) से थकार को भी धकार होकर 'झलां जशोऽशि' (१६) से जश्त्व करने पर—नद्ध। ३ आत्मनेपद मे सर्वत्र कित्त्व के कारण एत्वाभ्यासलोप हो जाता है। ४ विभाषेट (५२७)।

५ 'नह्+ता' इस स्थिति मे 'नहो ध' (३५६) से हकार को धकार, 'झषस्तथो०' (५४६) से तकार को भी धकार तथा अन्त मे जश्त्व हो जाता है।

६ 'नहो ध' (३५६) से हकार को धकार होकर 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो जाता है।

७ 'नह्+सीष्ट' में हकार को धकार पुन चर्त्व से उसे तकार हो जाता है।

८ हलन्तलक्षणा वृद्धि होकर हकार को धकार तथा चर्त्व से उसे तकार हो जाता है। ९ 'अनाह्+स्+ताम्' में झलोझलिलोप होकर 'नहो ध' (३५८)

अनात्स्व, अनात्स्म । (आत्मने०) अनद्ध[10], अनत्साताम्, अनत्सत । अनद्धाः, अनत्साथाम्, अनद्ध्वम्[11] । अनत्सि, अनत्स्वहि, अनत्स्महि ।

लृँङ्—(परस्मै०) अनत्स्यत्, अनत्स्यताम्, अनत्स्यन् (आत्मने०) अनत्स्यत, अनत्स्येताम्, अनत्स्यन्त ।

उपसर्गयोग—सम्√नह्=तैयार होना, उद्यत होना, अकर्मक (छेत्तुं वज्रमणि शिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नह्यते—नीति० ५; नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः—विक्रमो० ४.७) । अपि√नह्=पिनह्[12]=ढांपना (कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्त्रोदरेण—शाकुन्तल १.१६) ।

## अभ्यास (१०)

(१) निम्न प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर दीजिये—

(क) 'अजनि' में णिन्निमित्तक उपधावृद्धि क्यों नहीं होती ?

(ख) श्यन् को शित् करने का क्या प्रयोजन है ?

(ग) 'नंप्+ता' में 'नशेर्वा' द्वारा कुत्व क्यों नहीं होता ?

(घ) 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' में 'अकिति' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(ङ) 'युध्यते, सृज्यते' आदि में लघूपधगुण क्यों नहीं होता ?

(२) निम्न धातुओं की लुँङ् मे रूपमाला लिखें—

युध्, बुध्, विद्, पद्, दीप्, जन्, दीङ्, नश्, व्यध्, शो, नृत् ।

(३) निम्न धातुओं की लृँट् में रूपमाला लिखें—

नृत्, सृज्, व्यध्, बुध्, नह् ।

(४) निम्न धातुओं की लिँट् में रूपमाला लिखें—

मृष्, नह्, पद्, जन्, दीङ्, डीङ्, नश्, व्यध्, पो, अस् ।

(५) दिवुँ में उकारानुबन्ध और दीपीँ में ईकारानुबन्ध का क्या प्रयोजन है ?

(६) 'स्याघ्वोरित्त्वे दीङः प्रतिषेधः' वार्त्तिक की निरर्थकता स्पष्ट करें ।

(७) 'वुग्युटावुवँङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ' वार्त्तिक की क्या आवश्यकता है ? सयुक्तिक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करें ।

(८) निम्न रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

जज्ञे, लक्ष्यते, अशात्, दीव्यति, अबोधि, सृक्षीष्ट, जायते, स्यति, त्रेसतुः, नत्स्यति, अपादि, ननंष्ठ, अदास्त, अपुपत्, दिदीये, नङ्क्ष्यति, ननद्ध,

---

से धत्व, 'झषस्तथोः०' (५४६) से तकार को भी धत्व होकर जश्त्व-दकार हो जाता है । १०. 'अनह्+स्+त' इस स्थिति में सकार का लोप, हकार को धकार तथा तकार को भी धकार होकर जश्त्व हो जाता है । ११. ध्वम् में 'धि च' (५१५) से सकार का लोप होकर हकार को धकार करने पर जश्त्व हो जाता है ।

१२. 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' से 'अपि' के अकार का लोप हो जाता है ।

अभुत्साताम्, डिडर्थे ।

९) छाया, सोता, अद्य, विविध, छायासु, स्य—ये रूप किस धातु के किस लकार मे कहां बनते हैं ?

१०) सूत्रों की व्याख्या करें—
मीनातिमिनोति०, मस्जिनशोर्०, रधादिभ्यश्च, ग्रहिज्या०, सृजिदृशोर्०, सेऽसिंचि०, वा जृभ्रमुत्रसाम्, दीङो युडचि०, ओत श्यनि, जनिवध्योश्च ।

## इति तिङन्ते दिवादयः

(यहाँ पर दिवादिगण की धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)



## अथ तिङन्ते स्वादयः

अब तिङन्तप्रकरण मे स्वादि (सु+आदि) गण की धातुओं का निरूपण किया जाता है—

[लघु०] **षुञ् अभिषवे ॥१॥**

अर्थ —षुञ् (सु) धातु 'अभिषव' अर्थ मे प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—माधवीयधातुवृत्ति मे अभिषव के चार अर्थ लिखे हैं—(१) स्नान कराना, (२) निचोडना, (३) स्नान करना, (४) सुरासन्धान—शराब बनाना । ञित् होने से यह धातु उभयपदी है। 'धात्वादे ष स' (२५५) से धातु के आदि षकार को सकार करने पर 'सु' बन जाता है । षोपदेश का फल 'सुषाव, सुषुवे' आदि में षत्व करना है । 'ऊदुदन्तै०' के अनुसार यह धातु अनिट् है । लिट् मे कादिनियम से इट् होता है परन्तु थल् मे 'अचस्तास्वत्०' (४८०) के निषेध के कारण भारद्वाजनियम से विकल्प हो जाता है ।

लॅट्—'सु+ति' इस स्थिति में 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४५) **स्वादिभ्य श्नु ।३।१।७३॥**

शपोऽपवाद । सुनोति, सुनुत, हुश्नुवो० (५०१) इति यण्—सुन्वन्ति । सुन्व-सुनुव । सुनुते, सुन्वाते, सुन्वते । सुन्वहे-सुनुवहे । सुषाव, सुषुवे । सोता । सुनु । सुनवानि, सुनवै । सुनुयात् । सूयात् ॥

अर्थ —कर्तृवाचक सार्वधातुक परे होने पर स्वादिगण की धातुओं से परे श्नुप्रत्यय हो ।

व्याख्या—स्वादिभ्य ।५।३। श्नु ।१।१। कर्तरि ।७।१। ('कर्तरि शप्' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('सार्वधातुके यक्' से) । 'प्रत्यय, परश्च' दोनों अधिकृत हैं ।

अर्थः—(स्वादिभ्यः) सु आदि धातुओं से परे (श्नुः प्रत्ययः) श्नु प्रत्यय हो (कर्तरि) कर्तृवाचक (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो। यह सूत्र शप् का अपवाद है अतः स्वादिगणीय धातुओं से लँट्, लोँट्, लँङ् और विधिलिँङ् इन चार सार्वधातुक लकारों में शप् की बजाय श्नुप्रत्यय प्रवृत्त होता है। श्नु में शकार इत्संज्ञक है अतः शित् होने से 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' (३८६) द्वारा इस की सार्वधातुकसञ्ज्ञा होती है।

'सु+ति' यहां 'ति' यह कर्तृवाचक सार्वधातुक परे है, अतः प्रकृतसूत्र से श्नुप्रत्यय होकर—सु+नु+ति। श्नु सार्वधातुक है परन्तु अपित् होने से 'सार्वधातुकमपित्' (५००) के अनुसार ङित् है अतः इसे मान कर 'सु' को गुण नहीं होता। तिप् पित् सार्वधातुक है इसलिये वह ङित् नही, इसे मान कर नु को गुण हो जाता है—सुनोति। इसी प्रकार सिप् में 'सुनोषि' और मिप् में 'सुनोमि' बनेगा। तस् आदि अपित् सार्वधातुक हैं अतः उन को मान कर 'नु' को गुण नहीं होता—सुनुतः। प्र० पु० के बहुवचन में झकार को अन्त् आदेश होकर 'सुनु+अन्ति' इस स्थिति में 'अचि श्नु०' (१९९) से प्राप्त उवँङ् आदेश का बाध कर 'हुश्नुवोः०' (५०१) से यण् करने पर 'सुन्वन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है। वस् और मस् में 'लोपश्चाऽस्यान्यतरस्यां म्वोः' (५०२) से नु के उकार का वैकल्पिक लोप हो जाता है। आत्मने० में श्नु तथा त आदि प्रत्यय दोनों अपित् सार्वधातुक होते हैं अतः ङिद्वद्भाव के कारण कहीं गुण नहीं होता। वहि और महिङ् में उकार का वैकल्पिक लोप हो जाता है। लँट् के दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) सुनोति, सुनुतः, सुन्वन्ति। सुनोषि सुनुथः, सुनुथ। सुनोमि, सुन्वः-सुनुवः, सुन्मः-सुनुमः। (आत्मने०) सुनुते, सुन्वाते, सुन्वते। सुनुषे, सुन्वाथे, सुनुध्वे। सुन्वे, सुन्वहे-सुनुवहे, सुन्महे-सुनुमहे।

लिँट्—मे द्वित्वादि कार्य होकर 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व हो जाता है। ध्यान रहे कि लिँट् आर्धधातुक लकार है अतः अजादि प्रत्ययों के परे रहते 'हुश्नुवोः०' (५०१) से यण् न होकर 'अचि श्नु०' (१९९) से उवँङ् ही होता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) सुषाव, सुषुवतुः, सुषुवुः। सुषविथ-सुषोथ, सुषुवथुः, सुषुव। सुषाव-सुषव, सुषुविव, सुषुविम। (आत्मने०) सुषुवे, सुषुवाते, सुषुविरे। सुषुविषे, सुषुवाथे, सुषुविढ्वे-सुषुविध्वे (विभाषेटः ५२७)। सुषुवे, सुषुविवहे, सुषुविमहे।

लुँट्—में आर्धधातुक गुण हो जाता है। (परस्मै०) सोता, सोतारौ, सोतारः। सोतासि—। (आत्मने०) सोता, सोतारौ, सोतारः। सोतासे—। लृँट्—में भी गुण होकर षत्व हो जाता है। (परस्मै०) सोष्यति, सोष्यतः, सोष्यन्ति। (आत्मने०) सोष्यते, सोष्येते, सोष्यन्ते।

लोँट्—परस्मैपद में लँट् की तरह श्नुप्रत्यय हो जाता है—सुनोतु-सुनुतात्। 'हि' में 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' (५०२) से 'हि' का लुक् हो जाता है—सुनु। उ० पु० के एकवचन में 'मि' को 'नि' आदेश तथा उसे आट् का आगम होकर 'सुनु+

आनि' इस स्थिति में गुण और अवादेश हो जाते हैं—सुनवानि। आत्मने० के उ० पु० के एकवचन में 'सुनु+आ+इ' इस दशा में इकार को एत्व और ऐत्व होकर 'आटश्च' (१६७) से वृद्धि एकादेश तथा इधर आट् के पित् होने से नु को गुण और अवादेश करने पर—सुनवै। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) सुनोतु-सुनुतात्, सुनुताम्, सुन्वन्तु। सुनु-सुनुतात्, सुनुतम्, सुनुत। सुनवानि, सुनवाव, सुनवाम। (आत्मने०) सुनुताम्, सुन्वाताम्, सुन्वताम्। सुनुष्व, सुन्वाथाम्, सुनुध्वम्। सुनवै, सुनवावहै, सुनवामहै।

लँङ्—(परस्मै०) असुनोत्, असुनुताम्, असुन्वन्। असुनो, असुनुतम्, असुनुत। असुनवम्, असुन्व असुनुव, असुन्म-असुनुम। (आत्मने०) असुनुत, असुन्वाताम्, असुन्वत। असुनुथा, असुन्वाथाम्, असुनुध्वम्। असुन्वि, असुन्वहि-असुनुवहि, असुन्महि-असुनुमहि।

वि० लिङ्—(परस्मै०) सुनुयात्, सुनुयाताम्, सुनुयु। (आत्मने०) सुन्वीत, सुन्वीयाताम्, सुन्वीरन्।

आ० लिङ्—(परस्मै०) में 'अकृत्सार्व०' (४८३) से दीर्घ हो जाता है—सूयात्, सूयास्ताम्, सूयासु। (आत्मने०) सोषीष्ट, सोषीयास्ताम्, सोषीरन्।

लुङ्—परस्मै० प्र० पु० के एकवचन में अपृक्त को ईट् का आगम होकर 'असु+स्+ईत्' इस स्थिति में धातु के अनिट् होने से सिच् को इट् का निषेध प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४६) स्तु-सु-धूञ्भ्य परस्मैपदेषु ।७।२।७२॥

एभ्य सिच इट् स्यात् परस्मैपदेषु। असावीत्। असोष्ट॥

अर्थ—स्तु (स्तुति करना), सु और धूञ् (हिलाना) धातुओं से परे सिच् को इट् का आगम हो परस्मैपद प्रत्यय परे हो तो।

व्याख्या—स्तु-सु-धूञ्भ्य ।५।३। परस्मैपदेषु ।७।३। सिच ।६।१। ('अञ्जेः सिचि' से विभक्तिविपरिणाम कर)। इट् ।१।१। ('इडत्यर्तिव्ययतीनाम्' से)। अर्थ—(स्तु-सु-धूञ्भ्य) स्तु, सु और धूञ् धातु से परे (सिच) सिच् का अवयव (इट्) इट् हो जाता है (परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्यय परे हों तो। स्तु और सु अनिट् थे अतः इन से परे सिच् को इट् का निषेध प्राप्त था तथा धूञ् से परे 'स्वरतिसूति०' (४७६) सूत्र से सिच् को इट् का विकल्प होता था, इस पर इस सूत्र के द्वारा इट् का नित्य विधान किया गया है। स्तु और धूञ् के उदाहरण 'अस्तावीत्, अधावीत्' आदि हैं। 'सु' का उदाहरण यहां प्रकृत है—

'असु+स्+ईत्' इस स्थिति में प्रकृतसूत्र से सिच् को इट् का आगम करने पर 'सिचि वृद्धि०' (४८४) से वृद्धि, सकारलोप (४४६), सवर्णदीर्घ तथा अवादेश होकर 'असावीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'असाविष्टाम्' आदि रूप बनते हैं। प्रकृतसूत्र में 'परस्मैपदेषु' कहा गया है अतः आत्मनेपद में इट् न होगा। वहां

आर्धधातुकगुण होकर 'असोष्ट' आदि रूप बनेंगे। लुँङ् के दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) असावीत्, असाविष्टाम्, असाविषुः। असावीः, असाविष्टम्, असाविष्ट। असाविषम्, असाविष्व, असाविष्म। (आत्मने०) असोष्ट, असोषाताम्, असोषत। असोष्ठाः, असोषाथाम्, असोढ्वम्। असोषि, असोष्वहि, असोष्महि।

लृँङ्—(परस्मै०) असोष्यत्, असोष्यताम्, असोष्यन्। (आत्मने०) असोष्यत, असोष्येताम्, असोष्यन्त।

उपसर्गयोग—इस धातु का अभि तथा आङ् उपसर्गों के साथ बहुधा योग देखा जाता है—अभिषुणोति, 'उपसर्गात् सुनोति०' (८.३.८६) से षत्व हो जाता है। आसुनोति। आसुति (क्तिन्नन्त) का सूत्रकार स्वयं प्रयोग करते हैं—रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच्(५.२.११२)।

[लघु०] चिञ् चयने ॥२॥ चिनोति; चिनुते ॥

अर्थः—चिञ् (चि) धातु 'चयन करना—चुनना—बटोरना—संग्रह करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु द्विकर्मक है (८९२)—वृक्षम् अवचिनोति फलानि (वृक्ष से फलों को बटोरता है)। इसी धातु से काय, निकाय, निश्चय, उपचय, अपचय, अपचिति, चिता, चिति, सञ्चय आदि शब्द बनते हैं। ञित् होने से यह धातु उभयपदी है। 'ऊदृदन्तैः०' के अनुसार यह अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् होता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प हो जाता है। लिँट् और लुँङ् को छोड़ कर इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया 'सु' धातु की तरह होती है।

लँट्—(परस्मै०) चिनोति, चिनुतः, चिन्वन्ति। चिनोषि, चिनुथः, चिनुथ। चिनोमि, चिन्वः-चिनुवः, चिन्मः-चिनुमः। (आत्मने०) चिनुते, चिन्वाते, चिन्वते। चिनुषे, चिन्वाथे, चिनुध्वे। चिन्वे, चिन्वहे-चिनुवहे, चिन्महे-चिनुमहे।

लिँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में तिप् को णल् होकर द्वित्व करने पर 'चि+चि+अ' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४७) विभाषा चेः ।७।३।५८॥

अभ्यासात्परस्य कुत्वं वा स्यात् सनि लिँटि च। चिकाय-चिचाय। चिक्ये-चिच्ये। अचैषीत्; अचेष्ट ॥

अर्थः—अभ्यास से परे चिञ् धातु को विकल्प से कुत्व हो सन् या लिँट् परे हो तो।

व्याख्या—विभाषा ।१।१। चेः ।६।१। कु ।१।१। ('चजोः कु घिण्ण्यतोः') से। अभ्यासात् ।५।१। ('अभ्यासाच्च' से)। सन्लिँटोः ।७।२। ('सन्-लिँटोर्जः' से)।
अर्थः—(अभ्यासात्) अभ्यास से परे (चेः) 'चि' धातु के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से (कु) कवर्ग आदेश हो जाता है (सन्-लिँटोः) सन् या लिँट् परे हो तो।

'चजो' का अधिकार होने से 'चि' धातु के चकार को ही कवर्ग-ककार आदेश होता है अन्त्य अल् को नहीं। सन् परे होने के 'चिकीषति-चिचीषति' आदि उदाहरण हैं। लिँट् परे रहने का उदाहरण यथा—

'चि+चि+अ' यहां लिँट् परे है अत अभ्यास से परे 'चि' के चकार को प्रकृतसूत्र से वैकल्पिक ककार आदेश होकर दोनों पक्षो मे अजन्त अङ्ग को वृद्धि और आयादेश करने से 'चिकाय-चिचाय' दो रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार आत्मनेपद मे भी कुत्व हो जाता है—चिक्ये चिच्ये। गुण-वृद्धि के अविषय मे अजादि प्रत्ययो के परे रहते इयँङ् का बाध कर 'एरनेकाच०' (२००) से यण् हो जाता है। लिँट् के दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) कुत्वपक्षे—चिकाय, चिक्यतु, चिक्यु। चिकयिथ,-चिकेथ, चिक्यथु, चिक्य। चिकाय चिकय, चिकियव, चिकियम। कुत्वाभावे—चिचाय, चिच्यतु, चिच्यु आदि। (आत्मने०) कुत्वपक्षे—चिक्ये, चिक्याते, चिक्यिरे। चिक्यिषे, चिक्याथे, चिक्यिढ्वे,-चिक्यिध्वे (विभाषेट)। चिक्ये, चिक्यिवहे, चिक्यिमहे। कुत्वाभावे—चिच्ये, चिच्याते, चिच्यिरे आदि।

लुँट्—दोनों पदो में इण्निषेध होकर गुण हो जाता है। (परस्मै०) चेता, चेतारौ, चेतार। चेतासि—। (आत्मने०) चेता, चेतारौ, चेतार। चेतासे—। लृँट्—(परस्मै०) चेष्यति, चेष्यत, चेष्यन्ति। (आत्मने०) चेष्यते, चेष्येते, चेष्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) चिनोतु-चिनुतात्, चिनुताम्, चिन्वन्तु। चिनु-चिनुतात्, चिनुतम्, चिनुत। चिनवानि, चिनवाव, चिनवाम। (आत्मने०) चिनुताम्, चिन्वाताम्, चिन्वताम्। चिनुष्व, चिन्वायाम्, चिनुध्वम्। चिनवै, चिनवावहै, चिनवामहै। लँङ्—(परस्मै०) अचिनोत्, अचिनुताम्, अचिन्वन्। अचिनो, अचिनुतम्, अचिनुत। अचिनवम्, अचिन्व-अचिनुव, अचिन्म-अचिनुम। (आत्मने०) अचिनुत, अचिन्वाताम्, अचिन्वत। अचिनुथा, अचिन्वायाम्, अचिनुध्वम्। अचिन्वि, अचिन्वहि-अचिनुवहि, अचिन्महि-अचिनुमहि। विधिलिँङ्—(परस्मै०) चिन्यात्, चिन्युताम्, चिन्यु। (आत्मने०) चिन्वीत, चिन्वीयाताम्, चिन्वीरन्। आ० लिँङ्—(परस्मै०) चीयात्, चीयास्ताम्, चीयासु। (आत्मने०) चेषीष्ट, चेषीयास्ताम्, चेषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) में इगन्तसाधना वृद्धि तथा आत्मने० में गुण हो जाता है—(परस्मै०) अचैषीत्, अचैष्टाम्, अचैषु। (आत्मने०) अचेष्ट, अचेषाताम्, अचेषत। लृँङ्—(परस्मै०) अचेष्यत्, अचेष्यताम्, अचेष्यन्। (आत्मने०) अचेष्यत, अचेष्येताम्, अचेष्यन्त।

उपसर्गयोग—सम्√चि=सञ्चय करना, सग्रह करना (तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः—मनु० ४ २४२)।

आ√चि=आच्छादित करना (आचिचाय स तं सेनाम् आचिकाय च रावणौ—भट्टि० १४ ४६)।

सम्+आ√चि=ढेर लगाना (यदा तु वाससां राशिं सभामध्ये समाचित —महा०)।

अव√चि=नीचे ठहर कर चुनना, बटोरना (गता स्यादवचिन्वाना कुसुमान्याश्रमद्रुमान्—भट्टि० ६.१०)।

उद्√चि=ऊँचा ढेर लगाना (रूपोच्चयेन विधिना विहिता कृशाङ्गी—शाकुन्तल २.१०, इसी प्रकार 'शिलोच्चयः, पुष्पोच्चयः' आदि)।

वि+निस्√चि=निश्चय करना (विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा—उत्तर० १.३५)।

उप√चि=बढ़ाना (उपचिन्वन् प्रभां तन्वीं प्रत्याह परमेश्वरः—कुमार० ६.२५; चेतःपीडामुपचिनोति—मुद्रा० २)।

अप√चि=घटाना, क्षीण करना (अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यम्—शाकुन्तल २.४)।

नोट—'उचित, अनुचित' शब्द 'उच समवाये' (दिवा० परस्मै०) धातु से बनते हैं। अपचित (पूजित) और अपचिति (पूजा) शब्द 'चायृ पूजानिशामनयोः' (भ्वा० उभय०) धातु से बनते हैं ('अपचितश्च' ७.२.३०)।

इस धातु के कर्मकर्तरि प्रयोग बहुत उपलब्ध होते हैं। यथा—अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते (हितो० २.२); राजहंस! तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते (काव्यप्रकाश १०); छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः (नीति० ७९); चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः (मुद्रा० ३)।

[लघु०] स्तृञ् आच्छादने ॥३॥ स्तृणोति; स्तृणुते ॥

अर्थः—स्तृञ् (स्तृ) धातु 'आच्छादन करना, ढांपना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ञित् होने से यह धातु उभयपदी तथा 'ऊदृदन्तैः०' कारिका के अनुसार अनिट् है। लिट् में क्रादिनियम से इट् हो जाता है परन्तु अजन्त होने से थल् में 'अचस्तास्वत्०' (४८०) द्वारा पुनः निषेध हो जाता है। ध्यान रहे कि ऋदन्त होने से यहां भारद्वाजनियम से विकल्प नहीं होता।

लँट्—दोनों पदों में पूर्ववत् श्नु प्रत्यय तथा यथासम्भव गुण और गुणाभाव होकर 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' (वा० २१) से णत्व हो जाता है—(परस्मै०) स्तृणोति, स्तृणुतः, स्तृण्वन्ति। (आत्मने०) स्तृणुते, स्तृण्वाते, स्तृण्वते।

लिँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में द्वित्व करने पर 'स्तृ+स्तृ+अ' इस स्थिति में 'उरत्' (४७३) द्वारा अभ्यास के ऋवर्ण को अर् होकर—स्तर्+स्तृ+अ। अब 'हलादिः शेषः' (३९६) से सकार के अतिरिक्त अभ्यास के अन्य सब हलों का लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४८) शर्पूर्वाः खयः ।७।४।६१॥

अभ्यासस्य शर्पूर्वाः खयः शिष्यन्ते, अन्ये हलो लुप्यन्ते। तस्तार

तस्तरतु । तस्तरे । गुणोऽर्ति० (४६८) इति गुण —स्तर्यात् ॥

अर्थ —अभ्यास के शर्पूर्व (शर् है पूर्व जिन के ऐसे) खय् ही शेष रहते हैं, अन्य हल् लुप्त हो जाते हैं।

व्याख्या—शर्पूर्वा ।१।३। खय ।१।३। शेषा ।१।३। ('हलादि शेष' से वचन-विपरिणाम कर के)। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से) । शर् (शषसवर्णा) पूर्वो येभ्यस्ते शर्पूर्वा, अतद्गुणसविज्ञानबहुव्रीहि० । शिष्यन्त इति शेषा, कर्मणि घञ् । इतरनिवृत्तिपूर्वकमवस्थानमेव शिषेरर्थ, तेन 'अभ्यासस्य अन्ये हलो लुप्यन्ते' इति लभ्यते । अर्थ — (अभ्यासस्य) अभ्यास के, (शर्पूर्वा) शर् है पूर्व जिन के ऐसे (खय) खय् वर्ण (शेषा) शेष रहते हैं अर्थात् अभ्यास के अन्य हलों का लोप हो जाता है[1] । वर्गों के प्रथम और द्वितीय वर्ण ही खय् प्रत्याहार के अन्तर्गत आते हैं।

'स्तर्+स्तृ+अ' यहाँ अभ्यास का तकार खय् वर्ण है, इस से पूर्व शर् (स्) मौजूद है अत केवल यही तकार ही अवशिष्ट रहा अन्य सब अभ्यासगत हल् लुप्त हो गये—त+स्तृ+अ । अब 'ऋतश्च संयोगादेर्गुण' (४६६) से ऋवर्ण को गुण, रपर तथा 'अत उपधाया' (४५५) से उपधा के अकार को वृद्धि करने पर 'तस्तार' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'तस्तरतु' आदि की सिद्धि समझनी चाहिये । आत्मनेपद में भी इसी तरह प्रक्रिया होती है। लिट् में रूपमाला यथा—(परस्मै०) तस्तार[2], तस्तरतु, तस्तरु । तस्तर्थ, तस्तरथु, तस्तर । तस्तार-तस्तर, तस्तरिव, तस्तरिम । (आत्मने०) तस्तरे, तस्तराते, तस्तरिरे । तस्तरिषे, तस्तराथे, तस्तरिढ्वे-तस्तरिध्वे । तस्तरे, तस्तरिवहे, तस्तरिमहे ।

सुट्—में इण्निषेध होकर गुण हो जाता है—(परस्मै०) स्तर्ता, स्तर्तारौ, स्तर्तार. । स्तर्तासि—। (आत्मने०) स्तर्ता, स्तर्तारौ, स्तर्तार । स्तर्तासे—। सृट्—में 'ऋदृनो स्ये' (४९७) से इट् हो जाता है—(परस्मै०) स्तरिष्यति, स्तरिष्यत, स्तरिष्यन्ति । (आत्मने०) स्तरिष्यते, स्तरिष्येते, स्तरिष्यन्ते । लोट्—(परस्मै०) स्तृणोतु-स्तृणुतात्, स्तृणुताम्, स्तृण्वन्तु, । स्तृणु-स्तृणुतात्—। (आत्मने०) स्तृणुताम्, स्तृण्वाताम्, स्तृण्वताम् । स्तृणुष्व—। लँङ्—(परस्मै०) अस्तृणोत्, अस्तृणुताम्, अस्तृण्वन् । (आत्मने०) अस्तृणुत, अस्तृण्वाताम्, अस्तृण्वत । वि० लिङ्—(परस्मै०) स्तृणुयात्, स्तृणुयाताम्, स्तृणुयुः । (आत्मने०) स्तृण्वीत, स्तृण्वीयाताम्, स्तृण्वीरन् ।

---

१ यहाँ पर 'हलादि शेष' (३६६) सूत्र से 'आदि' पद का भी अनुवर्तन कर लेना चाहिये। ये खय् जहाँ शर्पूर्व हों वहाँ अभ्यास के आदि में भी स्थित होने चाहियें। अर्थात् शर् के अतिरिक्त यदि कोई अभ्यास के आदि में स्थित हो तो वह खय् हो हो। इससे 'बभ्रच्+बभ्रच्+अ=बभ्रच' यहाँ पर अभ्यास का बकार शर्पूर्व होता हुआ भी शेष नहीं रहता कारण कि वह आदि में स्थित नहीं है।

२ तस्तार सरयाम्भार्यं सभौमपटसंनिभम्—रघु० ४ ६३ ।

आ० लिँङ्—(परस्मै०) में 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' (४९८) से गुण हो जाता है—स्तर्यात्, स्तर्यास्ताम् स्तर्यासुः। (आत्मने०) में 'स्तृ+सीस्त' इस स्थिति में इट् का निषेध प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र से विकल्प विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६४९) ऋतश्च संयोगादेः[1] ।७।२।४३॥

ऋदन्तात् संयोगादेः परयोर्लिँङ्सिँचोरिड् वा स्यात्तङि। स्तरिषीष्ट-स्तृषीष्ट। अस्तरिष्ट-अस्तृत॥

अर्थः—संयोग जिस के आदि में हो ऐसी ऋदन्त धातु से परे लिँङ् और सिँच् को विकल्प से इट् का आगम हो जाता है आत्मनेपद प्रत्ययों का विषय हो तो।

व्याख्या—ऋतः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। संयोगादेः ।५।१। लिँङ्-सिँचोः ।६।२। आत्मनेपदेषु ।७।३। इट् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् ('इट् सनि वा' से)। 'अङ्गस्य' का अधिकार आ रहा है, वह अङ्ग धातु ही हो सकता है, अतः 'धातोः' का अध्याहार कर लिया जाता है। 'ऋतः' और 'संयोगादेः' दोनों को 'धातोः' का विशेषण बना दिया जाता है। 'ऋतः' से तदन्तविधि होकर 'ऋदन्ताद् धातोः' उपलब्ध हो जाता है। संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिस्तस्मात् संयोगादेः, बहु०। अर्थः—(संयोगादेः) संयोग जिसके आदि में हो ऐसी (ऋतः=ऋदन्ताद् धातोः) ऋदन्त धातु से परे (लिँङ्-सिँचोः) लिँङ् और सिँच् का अवयव (इट्) इट् (वा) विकल्प से हो जाता है (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद प्रत्ययों का विषय हो तो।

'स्तृ+सीस्त' यहां 'स्तृ' यह संयोगादि ऋदन्त धातु है इस से परे आत्मनेपद में लिँङ् (सीस्त) को प्रकृतसूत्र से इट् का आगम विकल्प से हो गया। इट्पक्ष में आर्धधातुकगुण होकर 'स्तरिषीष्ट' तथा इट् के अभाव में 'उश्च' (५४४) द्वारा झलादि लिँङ् के कित्त्व के कारण गुण का निषेध होकर 'स्तृषीष्ट' रूप सिद्ध होता है। आ० लिँङ् के आत्मने० में रूपमाला यथा—इट्पक्षे—स्तरिषीष्ट, स्तरिषीयास्ताम्, स्तरिषीरन्। इटोऽभावे—स्तृषीष्ट, स्तृषीयास्ताम्, स्तृषीरन्।

लुँङ्—(परस्मै०) में इगन्तलक्षणा वृद्धि हो जाती है—अस्तार्षीत्, अस्तार्ष्टाम्, अस्तार्षुः। अस्तार्षीः, अस्तार्ष्टम्, अस्तार्ष्ट। अस्तार्षम्, अस्तार्ष्व, अस्तार्ष्म। (आत्मने०) में प्रकृतसूत्र से सिँच् को इट् का आगम विकल्प से हो जाता है। इट्पक्ष में गुण होकर 'अस्तरिष्ट' आदि रूप बनते हैं। इट् के अभाव में 'उश्च' (५४४) द्वारा सिँच् के कित्त्व के कारण गुण का निषेध हो जाता है। तब झलादि प्रत्ययों में 'ह्रस्वादङ्गात्' (५४५) से सिँच् के सकार का लोप हो जाता है। रूपमाला यथा—अस्तृत, अस्तृषाताम्, अस्तृषत। अस्तृथाः, अस्तृषाथाम्, अस्तृढ्वम्। अस्तृषि, अस्तृष्वहि, अस्तृष्महि।

---

१. 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' (७.४.१०) तथा इस 'ऋतश्च संयोगादेः' सूत्र का पृथक् पृथक् विषय है। प्रायः विद्यार्थी इन को एक समझ कर भूल कर जाते हैं।

लृङ्—के दोनो पदों मे 'ऋद्धनो स्ये' (४९७) से इट् का आगम हो जाता है—(परस्मै०) अस्तरिष्यत्, अस्तरिष्यताम्, अस्तरिष्यन्। (आत्मने०) अस्तरिष्यत, अस्तरिष्येताम्, अस्तरिष्यन्त।

नोट—अवेस्ता, ग्रीक्, लेटिन्, गोथिक्, जर्मन्, इग्लिश आदि कई भारोपीय भाषाओ मे इस धातु का अद्भुत साम्य पाया जाता है।

[लघु०] धूञ् कम्पने[1] ॥४॥ धूनोति, धूनुते। दुधाव। स्वरति० (४७६) इति वेट्—दुधविथ-दुधोथ ॥

अर्थ—धूञ् (धू) धातु 'कम्पाना-हिलाना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु स्वादि, तुदादि, क्र्यादि और चुरादि इन चार गणो मे पढ़ी गई है। कई वैयाकरण स्वादिगण मे इसे ह्रस्वान्त भी पढते हैं। श्रीहलायुधकृत कविरहस्य के आठवें पद्य मे इन सब का सुन्दररीत्या सकलन किया गया है—

धूनोति चम्पक-वनानि धुनोत्यशोक
चूत धुनाति धुवति स्फुटिताऽतिमुक्तम्।
वायुर्विधूनयति चम्पक-पुष्प-रेणून्
यत्कानने धवति चन्दन-मञ्जरीश्च ॥

जित् होने से यह धातु उभयपदी तथा ऊदन्त होने से सेट् है। परन्तु 'स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा' (४७६) सूत्र मे परिगणित होने से यह वेट् हो जाती है। लिट् के विषय में विशेष बात आगे मूल मे ही कही गई है।

लेट—(परस्मै०) धूनोति, धूनुत, धून्वन्ति। (आत्मने०) धूनुते, धून्वाते, धून्वते।

लिट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन मे तिप्, णल्, द्वित्व और अभ्यास-कार्य करने पर—दुधू+अ। अब अजन्तलक्षणा वृद्धि और ओकार को आवादेश करने से 'दुधाव' प्रयोग सिद्ध होता है। द्विवचन मे 'असयोगाल्लिट्०' (४५२) से अतुस् के कित् होने के कारण गुण नहीं होता, 'अचि श्नु०' (१९९) से उवङ् होकर—दुधूवतु। इसी प्रकार बहुवचन मे—दुधूवु। म० पु० के एकवचन मे 'धू+थ' इस स्थिति में धातु के सेट् होने से नित्य इट् प्राप्त था पुन 'स्वरतिसूति०' (४७६) सूत्र से उसका बाध कर वैकल्पिक इट् होकर द्वित्व, गुण और अवादेश करने पर 'दुधविथ-दुधोथ' दो रूप सिद्ध होते हैं। उ० पु० के वस् और मस् मे क्रमश व और म आदेश होकर 'धू+व, धू+म' इस स्थिति मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(६५०) श्वयुक किति ॥७।२।११॥

---

१ यहा 'कम्पन' का अर्थ 'कांपना या हिलना' नहीं, अपितु 'कपि चलने' धातु के णिजन्त का ल्युट् मे प्रयोग बन कर 'कम्पना या हिलाना' अर्थ है। अत एव यह धातु अकर्मक न होकर सकर्मक है।

श्रिञः, एकाच उगन्ताच्च गिल्कितोरिण् न ॥

अर्थः—श्रिञ् धातु से परे या एकाच् उगन्त धातु से परे गित् कित् प्रत्ययों को इट् का आगम न हो।

व्याख्या—अचुकः ।५।१। क्किति ।७।१। (इस का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है)। एकाचः ।५।१। ('एकाच उपदेश०' से)। न इत्यव्ययपदम्। इट् ।१।१। ('नेट् दशि कृति' से)। श्रिञ्च उक् च अचुक्। तस्मात् अचुकः। ग् च क् च क्कौ, क्कौ इतौ यस्य स क्कित्, तस्मिन् क्किति[1]। 'उक्' प्रत्याहार है, इस में उ, ऋ, ऌ इन तीन वर्णों का समावेश होता है। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है, इस का पञ्चम्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है। 'उकः' यह 'अङ्गात्' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि होकर 'उगन्तादङ्गात्' बन जायेगा। 'एकाचः' को 'उगन्त' का ही विशेषण मानना उचित है इस से 'ऊर्णु' आदि अनेकाच् उगन्तों में इस सूत्र की प्रवृत्ति न होगी। अर्थः—(एकाचः अचुकः) श्रिधातु से परे तथा एकाच् उगन्त अङ्ग से परे (क्किति=क्कितः) गित् और कित् प्रत्ययों का अवयव (इट्) इट् (न)नहीं होता। उदाहरण यथा—श्रिञ्—(किति) श्रितः, श्रितवान्[2]; गित् का उदाहरण नहीं मिलता। एकाच् उगन्त—(किति) भूतः, भूतवान्, (गिति) भूष्णुः [स्नु]।

'धू+व, धू+म' यहां एकाच् उगन्त अङ्ग 'धू' है, इस से परे व और म दोनों 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से कित् हैं अतः प्रकृतसूत्र से इट् का निषेध हो जाता है। परन्तु यहां एक शङ्का उत्पन्न होती है कि जहां एक तरफ यह निषेध प्राप्त होता है वहां दूसरी तरफ 'स्वरतिसूति०' (४७६) से वैकल्पिक इट् भी प्राप्त होता है; दोनों ही कार्य स्वस्वस्थानों पर सावकाश हैं। 'अचुकः क्किति' को 'भूतः, भूतवान्' में तथा 'स्वरतिसूति०' को 'धविता-धोता' में अवकाश है। अतः दोनों के युगपत् प्राप्त होने पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से परकार्य इट् का विकल्प (७.२.४४) होना चाहिये न कि इण्निषेध (७.२.११)। इस शङ्का के समाधान के लिये अग्रिम-पङ्क्तिका लिखते हैं—

[लघु०] परमपि स्वरत्यादिविकल्पं बाधित्वा पुरस्तात् प्रतिषेध-काण्डाऽऽरम्भसामर्थ्यादनेन निषेधे प्राप्ते क्रादिनियमान्नित्यमिट्—दुधुविव। दुधुवे।

---

१. यहां 'क्किति' में प्रथम ककार को चर्त्व (८.४.५४) करने से ककार हो गया है। चर्त्व के असिद्ध होने से 'हशि च' (६.१.११०) को सामने गकार ही दीखेगा तो पुनः 'अचुको क्किति' सूत्र बनना चाहिये न कि 'अचुकः क्किति'। वैयाकरणों का कहना है कि यहां सौत्रत्वात् उत्व नहीं हुआ।

२. श्रिञ् धातु के लिँट् में भी इस सूत्र से इट् का निषेध होकर पुनः क्रादि-नियम से इट् का नित्य विधान हो जाता है—शिश्रियिव, शिश्रियिम आदि। इसी प्रकार एकाच् उगन्त भू धातु में भी समझना चाहिये—बभूविव, बभूविम।

अधावीत्। अधविष्ट, अधोष्ट। अधविष्यत्-अधोष्यत्, अधविष्यताम्-अधोष्यताम्। अधविष्यत -अधोष्यत॥

अर्थ —'स्वरतिसूति०' (४७६) द्वारा प्रतिपादित इट् का विकल्प यद्यपि निषेध (६५०) से पर है तथापि विधिकाण्ड से पूर्व प्रतिषेधकाण्ड को आरम्भ करने से निषेध की प्रधानता समझनी चाहिये, अत निषेध ही प्रवृत्त होगा विकल्प नहीं। तब क्रादिनियम से नित्य इट् हो जायेगा।

व्याख्या—अष्टाध्यायी के सप्तम अध्याय के द्वितीयपाद में 'नेड् वशि कृति, एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्, यचुक किकिनि' आदि सूत्रों से पहले इट् का निषेध और बाद में 'आर्धधातुकस्येड् वलादे' आदि सूत्रों से इट् का विधान प्रारम्भ किया गया है। संसार में यह नियम है कि प्रथम किसी कार्य का विधान होता है और बाद मे उस का निषेध। विधान से पूर्व निषेध संगत नहीं होता। परन्तु यहाँ आचार्य ने इट् के विधान से पूर्व उसके निषेध का प्रकरण आरम्भ कर दिया है। आचार्य की कोई प्रवृत्ति निष्फल नहीं होती अत इस से प्रतीत होता है कि वे इट् के निषेध को इट् के विधान की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनकी दृष्टि में निषेध को प्राथमिकता दी जानी चाहिये न कि विधान को। बस इसी कारण 'धू+व, धू+म' में विप्रतिषेध में पर होते हुए भी 'स्वरतिसूति०' सूत्र से विकल्प नहीं होता, निषेध ही प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार निषेध के प्रवृत्त हो जाने पर क्रादिनियम से पुन नित्य इट् हो जाता है। तब, द्वित्व, अभ्यासकार्य और उर्वंड करने पर, 'दुधुविव, दुधुविम' रूप सिद्ध होते हैं। इसी तरह आत्मने० के वलादि स्थलों (से, ध्वे, वहे, महे) में भी प्रथम इट् का निषेध होकर बाद मे क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। दोनों पदों मे रूपमाला यथा—(परस्मै०) दुधाव, दुधुवतु, दुधुवु। दुधविथ-दुधोथ, दुधुवथु, दुधुव। दुधाव-दुधव, दुधुविव, दुधुविम। (आत्मने०) दुधुवे, दुधुवाते, दुधुविरे। दुधुविषे, दुधुवाथे, दुधुविढ्वे-दुधुविध्वे। दुधुवे, दुधुविवहे, दुधुविमहे।

लुँट्—दोनो पदों मे 'स्वरतिसूति०' (४७६) से वैकल्पिक इट् हो जाता है—(परस्मै०) इट्पक्षे—धविता, धवितारौ, धवितार। धवितासि—। इटोऽभावे—धोता, धोतारौ, धोतार। धोतासि—। (आत्मने०) इट्पक्षे—धविता, धवितारौ, धवितार। धवितासे—। इटोऽभावे—धोता, धोतारौ, धोतार। धोतासे—। लृँट्—(परस्मै०) इट्पक्षे—धविष्यति, धविष्यत, धविष्यन्ति। इटोऽभावे—धोष्यति, धोष्यत, धोष्यन्ति।

लोँट्—(परस्मै०) धूनोतु-धूनुतात्, धूनुताम्, धून्वन्तु। (आत्मने०) धूनुताम्, धून्वाताम्, धून्वताम्। लँङ्—(परस्मै०) अधूनोत्, अधूनुताम्, अधून्वन्। (आत्मने०) अधूनुत, अधून्वाताम्, अधून्वत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) धूनुयात्, धूनुयाताम्, धूनुयु। (आत्मने०) धून्वीत, धून्वीयाताम्, धून्वीरन्। । मा० लिँङ्—(परस्मै०) धूयात्, धूयास्ताम्, धूयासु। (आत्मने०) इट्पक्षे—धविषीष्ट, धविषीयास्ताम्,

धविषीरन् । इटोऽभावे—धोषीष्ट, धोषीयास्ताम्, धोषीरन् ।

लुँङ्—(परस्मै०) में 'स्वरतिसूति०' के विकल्प का बाध कर 'स्तु-सु-धूञ्भ्यः परस्मैपदेषु' (६४६) से नित्य इट् हो जाता है । तब इगन्तलक्षणा वृद्धि हो जाती है । रूपमाला यथा—अधावीत्, अधाविष्टाम्, अधाविषुः । (आत्मने०) में पूर्ववत् इट् का विकल्प हो जाता है । रूपमाला यथा—(इट्पक्षे) अधविष्ट, अधविषाताम्, अधविषत । (इटोऽभावे) अधोष्ट, अधोषाताम्, अधोषत ।

लृँङ्—(परस्मै०) इट्पक्षे—अधविष्यत्, अधविष्यताम्, अधविष्यन् । इटोऽभावे—अधोष्यत्, अधोष्यताम्, अधोष्यन् । (आत्मने०) इट्पक्षे—अधविष्यत, अधविष्येताम्, अधविष्यन्त । इटोऽभावे—अधोष्यत, अधोष्येताम्, अधोष्यन्त ।

अब निम्न-धातुओं की रूपसिद्धि मे कोई कठिनाई नही आयेगी—

(१) टुदु उपतापे (स्वा० परस्मै० अनिट्; दुःखी करना व दुःखी होना[1]) । लँट्—दुनोति । लिँट्—दुदाव, दुदुवतुः, दुदुवुः । दुदविथ-दुदोथ, दुदुवथुः, दुदुव । दुदाव-दुदव, दुदुविव, दुदुविम । लुँट्—दोता । लृँट्—दोष्यति । लोँट्—दुनोतु-दुनुतात् । लँङ्—अदुनोत् । वि० लिँङ्—दुनुयात् । आ० लिँङ्—दूयात् । लुँङ्—अदौषीत् । लृँङ्—अदोष्यत् ।

(२) शक्लृँ शक्तौ (स्वा० परस्मै० अनिट्; समर्थ होना वा शक्त होना) । लँट्—शक्नोति, शक्नुतः, शक्नुवन्ति[2] । लिँट्—शशाक, शेकतुः, शेकुः । शेकिथ-शशक्थ, शेकथुः, शेक । शशाक-शशक, शेकिव, शेकिम । लुँट्—शक्ता । लृँट्—शक्ष्यति । लोँट्—शक्नोतु-शक्नुतात् । लँङ्—अशक्नोत् । वि० लिँङ्—शक्नुयात् । आ० लिँङ्—शक्यात् । लुँङ्—अशकत् (लृदित्त्वादङ् ५०७) । लृँङ्—अशक्ष्यत् ।

(३) आप्लृँ व्याप्तौ (स्वा० परस्मै० अनिट्; व्याप्त करना, पाना) । लँट्—आप्नोति । लिँट्—आप, आपतुः, आपुः । आपिथ[3], आपथुः, आप । आप, आपिव, आपिम । लुँट्—आप्ता । लृँट्—आप्स्यति । लोँट्—आप्नोतु-आप्नुतात् । लँङ्—आप्नोत् । वि० लिँङ्—आप्नुयात् । आ० लिँङ्—आप्यात् । लुँङ्—आपत् (लृदित्त्वादङ्) । लृँङ्—आप्स्यत् । उपसर्गयोग—प्राप्नोति=पाता है । समाप्नोति=समाप्त करता है । व्याप्नोति=व्याप्त करता है । अवाप्नोति=पाता है । आप्नोति (आङ्)=पाता है ।

---

१. दुःखी करना यथा—मुखं तव दुनोति माम् (रघु० ८.५६); दुःखी होना यथा—मन्मथेन दुनोमि (गीतगोविन्द ३.६) ।

२. संयोगपूर्व होने से 'हुश्नुवोः०' (५०१) से यण् नही होता । इसी प्रकार 'शक्नुवः, शक्नुमः' में 'लोपश्चाऽस्यान्यतरस्यां म्वोः' (५०२) तथा 'शक्नुहि' में 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' (५०३) प्रवृत्त नही होता ।

३. क्रादिनियमान्नित्यमिट् ।

## (अभ्यास ११)

(१) निम्न प्रश्नों का सप्रमाण उत्तर दीजिये—
  (क) 'सुन्वन्ति' में 'शक्नुवन्ति' की तरह उवँङ् क्यों नहीं होता ?
  (ख) 'शक्नुव' की तरह 'सुव' में उकारलोप का अभाव क्यों न हो ?
  (ग) श्नु को शित् करने का क्या प्रयोजन है ?
  (घ) 'चिनोति' में श्लुनिमित्तक गुण क्यों नहीं होता ?
  (ङ) 'पुञ्' को पोपदेश करने का क्या प्रयोजन है ?
(२) 'स्वरतिसूति०' द्वारा 'दुधुविव, दुधुविम' में वैकल्पिक इट क्यों नहीं ?
(३) निम्न सूत्रों की व्याख्या करें—
  अचुक क्तिति, शर्पूर्वा खम, ऋतश्च संयोगादे, विभाषा चे ।
(४) निम्न रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
  चिकाय, सुन्वन्ति, असावीत्, दुधुविव, स्तरिषीष्ट, तस्तरतु, सुनु, स्तर्पात्, आपत्, आप ।
(५) 'असावीत्' में 'स्वरतिसूति०' द्वारा इट् का विकल्प क्यों न हो ?

# इति तिङन्ते स्वादयः

(यहा पर स्वादिगण की धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

# अथ तिङन्ते तुदादयः

अब तिङन्तप्रकरण में तुदादिगण की धातुओं का निरूपण किया जाता है—

[लघु०] तुदँ व्यथने ॥१॥

अर्थ—तुदँ (तुद्) धातु 'दुःख देना, सताना, घुमोना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—तुदँ में अन्त्य अकार स्वरित तथा अनुनासिक है, इत्संज्ञा कर इस का लोप करने से 'तुद्' ही अवशिष्ट रहता है। स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी तथा अनुदात्तो मे परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् मे सर्वत्र (थल् में भी) आदिनियम से इट् हो जाता है। इसी धातु से ही 'प्रतोद, तुत्थ, अरन्तुद, विधुन्तुद' आदि शब्द निष्पन्न होते हैं।

लँट्—(परस्मै) प्र० पु० के एकवचन मे 'तुद्+ति' इस स्थिति मे 'कर्तरि शप्' (३८७) से प्राप्त शप् का बाध कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६५१) तुदादिभ्यः शः ।३।१।७७॥

शपोऽपवादः। तुदति; तुदते। तुतोद। तुतोदिथ। तुतुदे। तोत्ता। अतौत्सीत्; अतुत्त ॥

अर्थः—कर्तृवाचक सार्वधातुक परे होने पर तुदादिगण की धातुओं से परे 'श' प्रत्यय हो। शपोऽप०—यह सूत्र शप् का अपवाद है।

व्याख्या—तुदादिभ्यः ।५।३। शः ।१।१। कर्त्तरि ।७।१। ('कर्त्तरि शप्' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('सार्वधातुके यक्' से)। 'प्रत्ययः, परश्च' दोनों अधिकृत हैं। तुद् आदिर्येषान्ते तुदादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः। अर्थः—(तुदादिभ्यः) तुद् आदि धातुओं से परे (शः प्रत्ययः) 'श' प्रत्यय हो जाता है (कर्तरि सार्वधातुके) कर्त्ता अर्थ में सार्वधातुक परे हो तो। 'श' में 'लशक्वतद्धिते' (१३६) द्वारा शकार इत्सञ्ज्ञक है अतः 'अ' ही अवशिष्ट रहता है। सार्वधातुकसञ्ज्ञा करने के लिये इसे शित् किया गया है।

'तुद्+ति' यहां कर्तृवाचक सार्वधातुक 'ति' परे है अतः प्रकृतसूत्र से शप्रत्यय होकर अनुबन्धलोप करने से—तुद्+अ+ति। 'श' की 'तिङ्शित्सार्व०' (३८६) से सार्वधातुकसञ्ज्ञा है अतः उस के परे रहते 'पुगन्त-लघूपधस्य च' (४५१) से लघूपधगुण प्राप्त होता है। परन्तु 'श' अपित् है, 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से वह ङिद्वत् हो जाता है इस से 'क्ङिति च' (४३३) द्वारा गुण का निषेध हो जाता है—तुदति।

शप् और श में मुख्यतया यही भेद है कि शप् के परे होने पर गुण हो सकता है जो श के परे रहते नहीं होता। इस के अतिरिक्त 'वृश्चति' आदि में सम्प्रसारण[1], तथा शी और ङीप् में नुम् का विकल्प भी प्रयोजन है[2]। किञ्च वैदिक प्रयोगों में शप् और श के स्वर में भी अन्तर पड़ता है[3]।

आत्मने० में भी इसी प्रकार शप्रत्यय होकर 'तुदते' आदि रूप बनते हैं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) तुदति, तुदतः, तुदन्ति। (आत्मने०) तुदते, तुदेते, तुदन्ते।

लिट्—में कुछ विशेष नहीं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) तुतोद, तुतुदतुः, तुतुदुः। तुतोदिथ, तुतुदथुः, तुतुद। तुतोद, तुतुदिव, तुतुदिम। (आत्मने०) तुतुदे, तुतुदाते, तुतुदिरे। तुतुदिषे, तुतुदाथे, तुतुदिध्वे। तुतुदे, तुतुदिवहे, तुतुदिमहे।

लुट्—में इण्निषेध और गुण होकर 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो जाता है।

---

१. ग्रहिज्या० (६२४) से ङित् परे रहते सम्प्रसारण होता है।

२. शविकरण शत्रन्तों के स्त्रीलिङ्ग में 'तुदन्ती-तुदती, नुदन्ती-नुदती' इस प्रकार दो दो रूप बनते हैं, परन्तु शप्-विकरण शत्रन्तों का 'भवन्ती, गच्छन्ती' इस प्रकार एक एक रूप बनता है। इसी प्रकार नपुंसकलिङ्ग के द्विवचन शी (औ) में भी अन्तर पड़ता है। यह सब हम पूर्वार्ध में (३६६) सूत्र पर सविस्तर लिख चुके हैं वहीं देखें।

३. शप् पित् है अतः 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३.१.४) से अनुदात्त होता है, परन्तु श प्रत्यय 'आद्युदात्तश्च' (३.१.३) से उदात्त है।

(परस्मै०) तोत्ता, तोत्तारौ, तोत्तारः। तोत्तासि—। (आत्मने०) तोत्ता, तोत्तारौ, तोत्तारः। तोत्तासे—। लृट्—(परस्मै०) तोत्स्यति, तोत्स्यतः, तोत्स्यन्ति। (आत्मने०) तोत्स्यते, तोत्स्येते, तोत्स्यन्ते। लोट्—(परस्मै०) तुदतु-तुदतात्, तुदताम्, तुदन्तु। (आत्मने०) तुदताम्, तुदेताम्, तुदन्ताम्। लङ्—(परस्मै०) अतुदत्, अतुदताम्, अतुदन्। (आत्मने०) अतुदत, अतुदेताम्, अतुदन्त। वि० लिङ्—(परस्मै०) तुदेत्, तुदेताम्, तुदेयुः। (आत्मने०) तुदेत, तुदेयाताम्, तुदेरन्। आ० लिङ्—(परस्मै०) तुद्यात्, तुद्यास्ताम्, तुद्यासुः। (आत्मने०) 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' (५८६) से क्ित्व के कारण लघूपधगुण नहीं होता—तुत्सीष्ट, तुत्सीयास्ताम्, तुत्सीरन्।

लुङ्—परस्मै० में हलन्तलक्षणा (४६५) वृद्धि हो जाती है। ताम्, तम् और त में सकार का झलोझलिलोप हो जाता है। आत्मने० में 'लिङ्सिचावात्मने०' (५८६) से सिच् के क्ित्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। त, थास् और ध्वम् में सकार का लोप हो जाता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अतौत्सीत्, अतौत्ताम्, अतौत्सुः। अतौत्सीः, अतौत्तम्, अतौत। अतौत्सम्, अतौत्स्व, अतौत्स्म। (आत्मने०) अतुत्त, अतुत्साताम्, अतुत्सत। अतुत्थाः, अतुत्साथाम्, अतुद्ध्वम्। अतुत्सि, अतुत्स्वहि, अतुत्स्महि।

लृङ्—(परस्मै०) अतोत्स्यत्, अतोत्स्यताम्, अतोत्स्यन्। (आत्मने०) अतोत्स्यत, अतोत्स्येताम्, अतोत्स्यन्त।

[लघु०] णुद[1] प्रेरणे ॥२॥ नुदति, नुदते। नुनोद। नोत्ता॥

अर्थ—णुद (नुद्) धातु 'प्रेरणा करना, फेंकना, परे हटाना, दूर करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् स्वरितेत् होने से उभयपदी है। 'नो नः' (४५८) द्वारा इस के णकार को नकार होकर 'नुद्' बन जाता है। णोपदेश का फल 'प्रणुदति' आदि में 'उपसर्गादसमासेऽपि णोप०' (४५६) द्वारा णत्व करना है। अनुदात्तौ में परिगणित होने से यह अनिट् है। लिट् में आदिनियम से सर्वत्र (धत् में भी) इट् हो जाता है। इस की समग्र प्रक्रिया 'तुद्' धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—

लट्—(परस्मै०) नुदति, नुदतः, नुदन्ति। (आत्मने०) नुदते, नुदेते, नुदन्ते। लिट्—(परस्मै०) नुनोद, नुनुदतुः, नुनुदुः। (आत्मने०) नुनुदे, नुनुदाते, नुनुदिरे। लुट्—(परस्मै०) नोत्ता, नोत्तारौ, नोत्तारः। नोत्तासि—। (आत्मने०) नोत्ता, नोत्तारौ, नोत्तारः। नोत्तासे—। लृट्—(परस्मै०) नोत्स्यति, नोत्स्यतः, नोत्स्यन्ति। (आत्मने०) नोत्स्यते, नोत्स्येते, नोत्स्यन्ते। लोट्—(परस्मै०) नुदतु-नुदतात्,

---

१ प्रेरणा करना—हयारुचं नाराचश्च बहून्नि नोदिना (हितोप०)। फेंकना—नुदति शरं योधः (कविकल्पद्रुम)। दूर करना—आत्मापराधं नुदतो विराय (रघु० १६ ८२)।

नुदताम्, नुदन्तु । (आत्मने०) नुदताम्, नुदेताम्, नुदन्ताम् । लँङ्—(परस्मै०) अनुदत्, अनुदताम्, अनुदन् । (आत्मने०) अनुदत, अनुदेताम्, अनुदन्त । वि० लिँङ्—(परस्मै०) नुदेत्, नुदेताम्, नुदेयुः । (आत्मने०) नुदेत, नुदेयाताम्, नुदेरन् । आ० लिँङ्—(परस्मै०) नुद्यात्, नुद्यास्ताम्, नुद्यासुः । (आत्मने०) नुत्सीष्ट, नुत्सीयास्ताम्, नुत्सीरन् । लुँङ्—(परस्मै०) अनौत्सीत्, अनौत्ताम्, अनौत्सुः । (आत्मने०) अनुत्त, अनुत्साताम्, अनुत्सत । लृँङ्—(परस्मै०) अनोत्स्यत्, अनोत्स्यताम्, अनोत्स्यन् । अनोत्स्यत, अनोत्स्येताम्, अनोत्स्यन्त ।

उपसर्गयोग—अप√नुद्=दूर हटाना (न हि प्रपश्यामि ममाऽपनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्—गीता २.८) । प्र√नुद् (प्रणुद्)=भली भांति हटाना (ततोऽन्धकारं प्रणुदन्नुदतिष्ठत चन्द्रमाः—महा० वन० ३१)। परा√नुद्(पराणुद्)=दूर भगाना (तन्नः पराणुद विभो ! कश्मलं मानसं महत्—भागवत ३.७.७) । वि√नुद् (णिजन्त—विनोदयति)—बहलाना, (क्व खिन्नमात्मानं विनोदयामि—शाकुन्तल ३.२०), दूर भगाना (तापं विनोदय दृष्टिभिः—गीतगोविन्द १०.१३) ।

[लघु०] **भ्रस्जँ पाके** ॥३॥ ग्रहिज्या० (६३४) इति सम्प्रसारणम् । सस्य श्चुत्वेन शः, शस्य जश्त्वेन जः—भृज्जति; भृज्जते ॥

अर्थः—भ्रस्जँ (भ्रस्ज्) धातु 'भूनना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1] ।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् स्वरितेत् होने से उभयपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है । लिँट् में क्रादिनियम से इट् हो जाता है परन्तु थल् में अकारवान् धातु होने के कारण भारद्वाजनियम से विकल्प होता है ।

लँट्—परस्मै प्र० पु० के एकवचन में श-विकरण होकर—भ्रस्ज्+अ+ति । 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से श (अ) प्रत्यय ङित् है अतः उसके परे रहते 'ग्रहिज्या०' (६३४) सूत्र से भ्रस्ज् के रेफ को सम्प्रसारण ऋकार और 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप एकादेश करने पर—भृस्ज्+अ+ति । अब 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) से सकार को शकार तथा 'झलां जश्झशि'(१९) से शकार को जकार करने से 'भृज्जति' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'भृज्जतः' आदि रूप बनते है । आत्मने० मे भी इसी तरह प्रक्रिया होती है । रूपमाला यथा—(परस्मै०) भृज्जति, भृज्जतः, भृज्जन्ति । (आत्मने०) भृज्जते, भृज्जेते, भृज्जन्ते ।

लिँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन मे तिप् को णल् होकर 'भ्रस्ज्+अ' इस स्थिति मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

१. भ्रस्ज् का अर्थ यद्यपि यहां मूल में 'पाक-पकाना' लिखा है तथापि यहां साधारण पाक अभिप्रेत नही । 'शाकं पचति' की तरह 'शाकं भृज्जति' का प्रयोग नही देखा जाता । पाक से यहां चने जौ आदि का भट्ठी मे भूननारूप—पाकविशेष विवक्षित है । 'वभ्रज्ज निहते तस्मिन् शोको रावणमग्निवत्' (भट्टि० १४.८६) इत्यादि प्रयोग लाक्षणिक समझने चाहियें ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६५२) भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्। ६।४।४७॥

भ्रस्जे रेफस्योपधायाश्च स्थाने रमागमो वा स्याद् आर्धधातुके। मित्त्वादन्त्यादच पर। स्थानषष्ठीनिर्देशाद् रोपधयोर्निवृत्ति। बभर्ज। बभर्जतु। बभर्जिथ-बभर्ष्ठ। बभ्रज्ज। बभ्रज्जतु। बभ्रज्जिथ। स्को० (३०६) इति सलोप, झषच० (३०७) इति ष—बभ्रष्ठ। बभर्जे; बभ्रज्जे। भर्ष्टा; भ्रष्टा। भर्क्ष्यति, भ्रक्ष्यति॥

अर्थ—आर्धधातुक परे होने पर भ्रस्ज् धातु के रेफ और उपधा के स्थान पर विकल्प से रम् का आगम हो। मित्त्वाद्—मित् होने से रम् का आगम अन्त्य अच् से परे होता है। स्थानषष्ठी०—'रोपधयो' मे स्थानषष्ठी का निर्देश किया गया है अत उन दोनो की निवृत्ति (लोप) हो जाती है।

व्याख्या—भ्रस्ज ।६।१। रोपधयो ।६।२। रम् ।१।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। आर्धधातुके ।७।१। (यह अधिकृत है)। रश्च उपधा च रोपधे, रेफादकार उच्चारणार्थ, तयो =रोपधयो,, इतरेतरद्वन्द्व। अर्थ—(भ्रस्ज) भ्रस्ज् धातु के (रोपधयो) रेफ और उपधा के स्थान पर (रम्) रम् हो (आर्धधातुके) आर्धधातुक परे होने पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था मे। दूसरी अवस्था में रम् न होगा अत विकल्प सिद्ध हो जायेगा। रम् मे अकार उच्चारणार्थक है, म् की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। इस प्रकार रम् का 'र्' ही अवशिष्ट रहता है।

अब यहा यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह 'रम्' कहाँ किया जाये? एक तरफ तो मित् होने से 'मिदचोऽन्त्यात्पर' (२४०) के अनुसार इसे भ्रस्ज् के अन्त्य अच् अर्थात् 'भ्र' से परे होना चाहिये, परन्तु दूसरी ओर इसे 'रोपधयो' अर्थात् रेफ और उपधा (स्) के स्थान पर विधान किया गया है। यहां ये दोनों बातें क्योंकर एक साथ सम्भव हो सकती हैं? यदि इसे मित् मान कर अन्त्य अच् से परे करें तो रेफ के स्थान पर आदेश नहीं हो सकता, कारण कि रेफ अन्त्य अच् से पूर्व अवस्थित है, और यदि इसे रेफ के स्थान पर आदेश करें तो यह अन्त्य अच् से परे नहीं हो सकता। दोनो में एक बात की जा सकती है, या तो इसे मित् मान कर अन्त्य अच् से परे करें या फिर आदेश मान कर रेफ और उपधा के स्थान पर कर लें। यह आदेश भी रहे और मित् के कारण आगम भी—ये दोनों बातें सम्भव नहीं। इस के समाधान में वैयाकरणों का कहना है कि 'रोपधयो' में स्थानषष्ठी कही गई है, स्थानषष्ठी जिस से लगाई जाती है उस की निवृत्ति (लोप) अभीष्ट हुआ करती है। यथा—'अतेर्भू' (५७६) मे अस् की, 'धूञो वचि' (५९६) मे धू की, तथा 'क्ले सिंच्' (४३८) मे च्लि की निवृत्ति अभीष्ट है। अत यहां पर भी सब से पहले रेफ और उपधा की निवृत्ति कर ली जायेगी, भ्रस्ज्=भज् बन जायेगा। अब उसे रम् का आगम कर भरज्=भर्ज् बना लिया जायेगा। इस प्रकार पाणिनि

के दोनों कथन सार्थक हो जायेंगे कोई व्यर्थ नहीं होगा। महाभाष्य में कहा भी है—**'भ्रस्जो रोपधयोर्लोप आगमो रम् विधीयते'**।

इस सूत्र के द्वारा मोटे रूप में आर्धधातुक प्रत्ययों के परे रहते भ्रस्ज् को विकल्प से भर्ज् कर दिया जाता है। इस तरह आर्धधातुक प्रत्ययों में इस के भर्ज् और भ्रस्ज् दो रूप बन जाते हैं।

'भ्रस्ज्+अ' यहां 'लिट् च' (४००) से लिंडादेश 'अ' आर्धधातुक है। इस के परे रहते प्रकृतसूत्र से रेफ और उपधा की निवृत्ति तथा रम् का आगम विकल्प से हो गया। रम् के पक्ष में 'भर्ज्+अ' इस स्थिति में द्वित्व, हलादिशेष तथा अभ्यास के भकार को बकार करने पर 'बभर्ज' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे अतुस् आदियों में सिद्धि होती है। थल् में भारद्वाजनियम से इट् का विकल्प होता है, इट्पक्ष में—बभर्जिथ। इट् के अभाव में 'बभर्ज्+थ' इस स्थिति में **'व्रश्चभ्रस्ज०'** (३०७) से जकार को षकार तथा **'ष्टुना ष्टुः'** से थकार को ठकार होकर 'बभर्ष्ठ' रूप बनता है। ब और म में झादिनियम से नित्य इट् होकर—बभर्जिव, बभर्जिम। यह तो हुई रम्पक्ष की प्रक्रिया। रम् के अभाव में 'भ्रस्ज्+अ' इस स्थिति में द्वित्वादि कर 'बभ्रस्ज्+अ' हुआ। अब श्चुत्व से सकार को शकार तथा **'झलां जशोऽशि'** (१९) से उसे जकार करने पर 'बभ्रज्ज' रूप बनता है। इसी प्रकार 'बभ्रज्जतुः' आदि। थल् के इट्पक्ष में—बभ्रज्जिथ। इट् के अभाव में 'बभ्रस्ज्+थ' इस स्थिति में झल् परे रहने से **'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च'** (३०९) द्वारा संयोगादि सकार का लोप होकर **'व्रश्च-भ्रस्ज०'** (३०७) से जकार को षकार तथा ष्टुत्व से थकार को ठकार करने पर 'बभ्रष्ठ' रूप बनता है। लिट् (परस्मै०) में रूपमाला यथा—(रम्पक्षे) **बभर्ज, बभर्जतुः, बभर्जुः। बभर्जिथ-बभर्ष्ठ, बभर्जथुः, बभर्ज। बभर्ज, बभर्जिव, बभर्जिम।** (रमोऽभावे) **बभ्रज्ज, बभ्रज्जतुः**[1]**, बभ्रज्जुः। बभ्रज्जिथ-बभ्रष्ठ, बभ्रज्जथुः, बभ्रज्ज। बभ्रज्ज, बभ्रज्जिव, बभ्रज्जिम।** (आत्मने०)में भी इसी प्रकार रम् का आगम हो जाता है। रूपमाला यथा—(रम्पक्षे) **बभर्जे, बभर्जाते, बभर्जिरे। बभर्जिषे, बभर्जाथे, बभर्जिध्वे। बभर्जे, बभर्जिवहे, बभर्जिमहे।** (रमोऽभावे) **बभ्रज्जे, बभ्रज्जाते, बभ्रज्जिरे। बभ्रज्जिषे, बभ्रज्जाथे, बभ्रज्जिध्वे। बभ्रज्जे, बभ्रज्जिवहे, बभ्रज्जिमहे।**

लुंट्—के दोनों पदों में तास् प्रत्यय आर्धधातुक है अतः उस के परे रहते प्रकृतसूत्र से रेफ और उपधा (स्) का लोप होकर रम् का आगम हो जाता है। रम्पक्ष में 'भर्ज्+ता' इस स्थिति में **'व्रश्च-भ्रस्ज०'** (३०७) से जकार को षकार और **'ष्टुना ष्टुः'** (६४) से तकार को टकार करने पर 'भर्ष्टा' रूप बनता है। रम् के अभाव में 'भ्रस्ज्+ता' इस स्थिति में 'स्कोः०' (३०९) से संयोगादि सकार का लोप होकर षत्व और ष्टुत्व करने पर 'भ्रष्टा' रूप बनता है। रूपमाला यथा—

---

१. ध्यान रहे कि 'भ्रस्ज्+अतुस्' में संयोग से परे अतुस् कित् नहीं अतः **'ग्रहिज्या०'** (३०७) से सम्प्रसारण नहीं होता।

(परस्मै०) रम्पक्षे—भर्ष्टा, भर्ष्टारौ, भर्ष्टार । भर्ष्टासि—। रमोऽभावे—भ्रष्टा, भ्रष्टारौ, भ्रष्टार । भ्रष्टासि—। (आत्मने०) रम्पक्षे—भर्ष्टा, भर्ष्टारौ, भर्ष्टार । भर्ष्टासे—। रमोऽभावे—भ्रष्टा, भ्रष्टारौ, भ्रष्टार । भ्रष्टासे—।

लृट्—क दोनो पदो में स्य प्रत्यय आर्धधातुक है अत रम् का आगम विकल्प से हो जायेगा। रम्पक्ष मे—'भर्ज्+स्य+ति, भर्ज्+स्य+ते' इस दशा मे 'व्रश्च भ्रस्ज०' (३०७) से जकार को षकार, 'षढो क सि' (५४८) से षकार को ककार, 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) से स्य के सकार को षकार तथा क्+ष् के सयोग से क्ष् करने पर 'भर्क्ष्यति, भर्क्ष्यते' रूप सिद्ध होते हैं। रम् के अभाव मे 'भ्रस्ज्+स्य+ति, भ्रस्ज्+स्य+ते' इस दशा मे सयोगादि सकार का लोप होकर 'व्रश्च भ्रस्ज०' (३०७) से जकार को षकार, उसे 'षढो क सि' (५४८) से ककार तथा उस से परे स्य के सकार को मूर्धन्य षकार करने पर 'भ्रक्ष्यति, भ्रक्ष्यते' रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) रम्पक्षे—भर्क्ष्यति, भर्क्ष्यत, भर्क्ष्यन्ति। रमोऽभावे—भ्रक्ष्यति, भ्रक्ष्यत, भ्रक्ष्यन्ति। (आत्मने०) रम्पक्षे—भर्क्ष्यते, भर्क्ष्येते, भर्क्ष्यन्ते। रमोऽभावे—भ्रक्ष्यते, भ्रक्ष्येते, भ्रक्ष्यन्ते।

लोट्, लङ् और वि० लिङ् मे लट् की तरह प्रक्रिया होती है। लोट्—(परस्मै०) भृज्जतु भृज्जतात्, भृज्जताम्, भृज्जन्तु। (आत्मने०) भृज्जताम्, भृज्जेताम्, भृज्जन्ताम्। लङ्—(परस्मै०) अभृज्जत्, अभृज्जताम्, अभृज्जन्। (आत्मने०) अभृज्जत, अभज्जेताम्, अभृज्जन्त। वि० लिङ्—(परस्मै०) भृज्जेत्, भृज्जेताम्, भृज्जेयु। (आत्मने०) भृज्जेत, भृज्जेयाताम्, भृज्जेरन्।

आ० लिङ्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन मे 'भ्रस्ज्+यास्+त्' यहाँ यासुट् आर्धधातुक भी है और कित् भी। अत प्रकृतसूत्र (६४४७) से रम् का आगम तथा 'ग्रहिज्या०' (६११६) से सम्प्रसारण दोनो युगपत् प्राप्त होते हैं। इन दोनों को अन्यत्रान्यत्र अवकाश मिल चुका है (रम् आगम को भर्ष्टा, भर्क्ष्यति आदि में तथा सम्प्रसारण को भृज्जति, भृज्जतु आदि मे अवकाश प्राप्त है)। 'विप्रतिषेधे पर कार्यम्' (११३) द्वारा पर होने से रम् का आगम होना चाहिये। परन्तु यह अनिष्ट है अत इस के वारण के लिये अग्रिमवार्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(४०) क्ङिति रमागम बाधित्वा सम्प्रसारण पूर्वविप्रतिषेधेन ॥

भृज्ज्यात्, भृज्ज्यास्ताम्, भृज्ज्यासु। भर्क्षीष्ट; भ्रक्षीष्ट। अभार्क्षीत्, अभ्राक्षीत्। अभर्ष्ट; अभ्रष्ट ॥

अर्थ—कित् ङित् आर्धधातुक परे हो तो रम् के आगम का बाध कर पूर्वविप्रतिषेध से सम्प्रसारण हो जाता है[1]।

---

१ यहा कित् आर्धधातुक का उदाहरण दिया गया है, ङित् आर्धधातुक

**व्याख्या**—जहां जहां वैयाकरणों को विप्रतिषेध में परकार्य अभीष्ट नहीं होता वहां वहा **'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'** (११३) मे 'पर' शब्द को इष्टवाचक मान कर पूर्वकार्य कर लिया जाता है। यहां पर भी रम् का आगम पर होता हुआ भी अनिष्ट होने से नही किया जाता अपितु पूर्वकार्य सम्प्रसारण हो जाता है। विप्रतिषेध की विस्तृत व्याख्या इस ग्रन्थ के पूर्वार्ध में (११३) सूत्र पर तथा १९वें वार्त्तिक पर कर चुके है वहीं देखें।

'भ्रस्ज्+यास्+त्' यहां कित् के परे रहते प्रकृतवार्त्तिक से रम् के आगम का बाध कर सम्प्रसारण हो जाता है। तब **'सम्प्रसारणाच्च'** (२५८) से पूर्वरूप, श्चुत्व, जश्त्व और यासुट् के सकार का संयोगादिलोप करने पर 'भृज्ज्यात्' रूप सिद्ध होता है। आ० लिँङ् परस्मै० मे रूपमाला यथा—भृज्ज्यात्, भृज्ज्यास्ताम्, भृज्ज्यासुः।

आत्मने० के आ० लिँङ् में भ्रस्ज् से परे कित् ङित् कहीं नही आता अतः सम्प्रसारण का प्रसङ्ग ही नहीं होता; निर्बाधरूपेण रम् का आगम हो जाता है। रम्पक्ष में 'भर्ज्+सीय्+स्+त' इस स्थिति में जकार को पकार, **'पढोः कः सि'** (५४८) से उसे ककार, सकारों को मूर्धन्य पकार तथा ष्टुत्व से तकार को टकार होकर—'भर्क्षीष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। रम् के अभाव में 'भ्रस्ज्+सीष्ट' इस स्थिति में भ्रस्ज् के संयोगादि सकार का लोप होकर पूर्ववत् पत्व-कत्व आदि करने से 'भ्रक्षीष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा— (रम्पक्षे) **भर्क्षीष्ट, भर्क्षीयास्ताम्, भर्क्षीरन्।** (रमोऽभावे) **भ्रक्षीष्ट, भ्रक्षीयास्ताम्, भ्रक्षीरन्।**

लुँङ्—दोनों पदों में सिँच् आर्धधातुक है अतः रम् का आगम विकल्प से हो जाता है। परस्मै० के रम्पक्ष में 'अभर्ज्+स्+ईत्' इस दशा में **'वदव्रज०'** (४६५) से हलन्तलक्षणा वृद्धि होकर जकार को पकार, **'पढोः कः सि'** (५४८) से पकार को ककार तथा अन्त में सिँच् के सकार को मूर्धन्य करने पर—अभार्क्षीत्। रम् के अभाव में 'अभ्रस्ज्+स्+ईत्' यहां हलन्तलक्षणा वृद्धि होकर संयोगादि सकार का लोप तथा पत्व-कत्व आदि कार्य करने पर 'अभ्राक्षीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। परस्मै० में रूपमाला यथा—(रम्पक्षे) **अभार्क्षीत्, अभार्ष्टाम्**[1], **अभार्क्षुः। अभार्क्षीः, अभार्ष्टम्**[2], **अभार्ष्ट**[3]। **अभार्क्षम्, अभार्क्ष्व, अभार्क्ष्म।** (रमोऽभावे) **अभ्राक्षीत्, अभ्राष्टाम्**[4], **अभ्राक्षुः। अभ्राक्षीः, अभ्राष्टम्**[5], **अभ्राष्ट**[6]। **अभ्राक्षम्, अभ्राक्ष्व, अभ्राक्ष्म।**

लुँङ् के आत्मने० में रमागम के पक्ष में 'अभर्ज्+स्+त' इस स्थिति में **'झलो झलि'** (४७८) से सकार का लोप होकर **'व्रश्च-भ्रस्ज०'** (३०७) से जकार को

---

का उदाहरण सम्भव नही क्योंकि भ्रस्ज् से परे सर्वत्र ङित् सार्वधातुक ही आता है आर्धधातुक नहीं। दीक्षितजी ने यहां 'ङिति' पद विद्यार्थियों को सम्प्रसारण का झटिति बोध कराने के लिये जोड़ा प्रतीत होता है। कात्यायनजी का मूल वार्त्तिक महाभाष्य मे इस प्रकार पढ़ा गया है—**भ्रस्जादेशात् सम्प्रसारणं पूर्वविप्रतिषेधेन।**

१—६. इन स्थानों पर **'झलो झलि'** (४७८) से सकार का लोप होता है।

षकार तथा ष्टुत्व से तकार को टकार करने पर—अभष्टं। आताम् मे 'अभर्ज् + स्+आताम्' इस स्थिति मे झल् परे न होने से सकार का लोप नही होता, पत्व-कत्व-षत्व करने पर—अभक्षाताम्। इसी प्रकार बहुवचन मे—अभक्षत। थास् मे पूर्ववत् सकारलोप, षत्व और ष्टुत्व करने पर—अभष्ठा। ध्वम् में 'अभर्ज् + स्+ध्वम्' इस स्थिति मे 'यि च' (५१५) से सकार का लोप होकर जकार को षकार तथा ष्टुत्व से धकार को ढकार कर 'अभर्ष् +ढ्वम्'। अब 'झलां जश्झशि' (१६) से षकार को डकार तथा 'झरो झरि सवर्णे' (७३) से डकार का वैकल्पिक लोप होकर लोपपक्ष मे 'अभर्ड्ढ्वम्' तथा लोपाभाव मे 'अभर्ड्ढ्वम्' दो रूप सिद्ध होते हैं। रम् के अभावपक्ष मे 'अभ्रस्ज्+स्+त' इस स्थिति मे झलोझलिलोप होकर—अभ्रस्ज्+त। 'स्को०' (२०६) से संयोगादिलोप होकर—अभ्रज्+त। अब पत्व तथा ष्टुत्व करने पर 'अभ्रष्ट' प्रयोग सिद्ध होता है। आताम् मे पूर्ववत्—अभ्रक्षाताम्। बहुवचन मे—अभ्रक्षत। थास् मे प्र० पु० के एकवचन की तरह—अभ्रष्ठा। ध्वम् मे पूर्ववत् सब प्रक्रिया होती है परन्तु हल् से परे न होने के कारण झरोझरिलोप प्रवृत्त नहीं होता—अभ्रड्ढ्वम्। आत्मने० मे रूपमाला यथा—(रम्पक्षे) अभष्ट, अभक्षाताम्, अभक्षत। अभष्ठा, अभक्षाथाम्, अभर्ड्ढ्वम्-अभड्ढ्वम्। अभक्षि, अभक्ष्वहि, अभक्ष्महि। (रमोऽभावे) अभ्रष्ट, अभ्रक्षाताम्, अभ्रक्षत। अभ्रष्ठा, अभ्रक्षाथाम्, अभ्रड्ढ्वम्। अभ्रक्षि, अभ्रक्ष्वहि, अभ्रक्ष्महि।

लृट्—के दोनों पदो मे लृट् की तरह प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) रम्पक्षे—अभक्ष्यत्, अभक्ष्यताम्, अभक्ष्यन्। रमोऽभावे—अभ्रक्ष्यत्, अभ्रक्ष्यताम्, अभ्रक्ष्यन्। (आत्मने०) रम्पक्षे—अभक्ष्यत, अभक्ष्येताम्, अभक्ष्यन्त। रमोऽभावे—अभ्रक्ष्यत, अभ्रक्ष्येताम्, अभ्रक्ष्यन्त।

[लघु०] कृषं विलेखने ॥४॥ कृषति, कृषते। चकर्ष, चकृषे ॥

अर्थ—कृषं (कृष्) धातु 'हल चलाना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी तथा अनुदात्तो मे परिगणित होने से अनिट् है। लिट् मे आदिनियम से सर्वत्र (थल् मे भी) इट् हो जाता है।

लट्—(परस्मै०) कृषति, कृषत, कृषन्ति। (आत्मने०) कृषते, कृषेते, कृषन्ते। शप्रत्यय के ङित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। लिट्—

---

१ खींचना आदि अर्थों मे भौवादिक कृष् धातु का ही प्राय प्रयोग देखा जाता है। यथा—बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति (मनु० २ २१५), नक्र स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति (पञ्च० ३ ४६)। द्विकर्मक धातुओ के 'तथा स्यान्नीवृकृष्वहाम्' इस परिगणन मे भी उसी कृष् धातु का ही ग्रहण समझना चाहिये। तौदादिक कृष् के प्रयोग मे हल आदि की करणता तथा भूमि आदि की कर्मता प्रसिद्ध है—कृषति भूमिं हलेन।

(परस्मै०) चकर्ष, चकृपतुः, चकृपुः। चकर्षिथ, चकृपथुः, चकृप। चकर्ष, चकृपिव, चकृपिम। (आत्मने०) चकृपे, चकृपाते, चकृपिरे। चकृपिषे, चकृपाथे, चकृपिध्वे। चकृपे, चकृपिवहे, चकृपिमहे।

लुँट्—'कृप्+ता' इस स्थिति मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६५३) अनुदात्तस्य चर्दुपधस्याऽन्यतरस्याम्। ६।१।५८॥

उपदेशेऽनुदात्तो य ऋदुपधः, तस्य अम् वा स्याज्झलादौ अकिति। क्रप्टा-कर्प्टा। कृक्षीष्ट॥

अर्थः—उपदेश मे अनुदात्त जो ऋदुपध (ऋत् जिस की उपधा में है) धातु, उसे अम् का आगम विकल्प से हो जाता है कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय परे हो तो।

व्याख्या—अनुदात्तस्य।६।१। च इत्यव्ययपदम्। ऋदुपधस्य।६।१। अन्यतरस्याम्।७।१। उपदेशे।७।१। ('आदेच उपदेशे०' से)। झलि।७।१। अम्।१।१। अकिति।७।१। ('सृजिदृशोर्झल्यमकिति' से)। ऋद् (ह्रस्व ऋवर्णः) उपधा यस्य स ऋदुपधस्तस्य ऋदुपधस्य, बहुव्रीहि०। 'धातोः कार्यम् उच्यमानं तत्प्रत्यये भवति' इस परिभाषा से 'प्रत्यये' पद उपलब्ध हो जाता है। तब 'झलि' को उस का विशेषण बना कर तदादि-विधि करने से 'झलादौ अकिति प्रत्यये' बन जाता है। अर्थः—(उपदेशे) उपदेश में (अनुदात्तस्य) अनुदात्त (ऋदुपधस्य) जो ऋदुपध धातु, उस का अवयव (अम्) अम् हो जाता है (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में, (झलि=झलादौ अकिति) कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय परे हो तो। दूसरी अवस्था में अम् का आगम नहीं होता अतः विकल्प सिद्ध हो जाता है। अम् का आगम मित् होने से अन्त्य अच् अर्थात् ऋवर्ण से परे होता है। तब 'इको यणचि' (१५) से यण् करने पर कृप् का क्रप्, सृप् का स्रप्, दृप् का द्रप् रूप बन जाता है। पक्ष में कृप्, सृप्, दृप् आदि भी रहता है।

'उपदेशे' इस लिये कहा है कि 'स्रप्तुम्' (सृप्+तुमुन्) में तुमुन् प्रत्यय के परे रहते 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६.१.१९१) से धातु के उदात्त हो जाने पर भी अम् का आगम निर्बाध हो जाये, क्योंकि उपदेशावस्था में धातु अनुदात्त थी।

'कृप्+ता' यहाँ पर ताम्-यह कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से अम् का आगम होकर अनुबन्धलोप और यण् करने से—क्रप्+ता='क्रप्टा' रूप सिद्ध होता है। पक्ष में लघूपधगुण होकर—कर्प्टा। लृँट् में रूपमाला यथा—(परस्मै०) अम्पक्षे—क्रप्टा, क्रप्टारौ, क्रप्टारः। क्रप्टासि—। अमोऽभावे—कर्प्टा, कर्प्टारौ, कर्प्टारः। कर्प्टासि—। (आत्मने०) अम्पक्षे—क्रप्टा, क्रप्टारौ, क्रप्टारः। क्रप्टासे—। अमोऽभावे—कर्प्टा, कर्प्टारौ, कर्प्टारः। कर्प्टासे—।

लृँट्—मे भी अम् के आगम का विकल्प हो जाता है। दोनों पक्षों में 'षढोः कः सि' (५४८) से कत्व तथा उस से परे 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व होकर 'क्रक्ष्यति-कर्क्ष्यति' आदि रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अम्पक्षे—

क्ष्यति, क्ष्यतः, क्ष्यन्ति। अमोऽभावे—कर्क्ष्यति, कर्क्ष्यतः, कर्क्ष्यन्ति। (आत्मने०) अम्पक्षे—क्ष्यते, क्ष्येते, क्ष्यन्ते। अमोऽभावे—कर्क्ष्यते, कर्क्ष्येते, कर्क्ष्यन्ते।

लोट्—(परस्मै०) कृषतु-कृषतात्, कृषताम्, कृषन्तु। (आत्मने०) कृषताम्, कृषेताम्, कृषन्ताम्। लेट्—(परस्मै०) अकृषत्, अकृषताम्, अकृषन्। (आत्मने०) अकृषत, अकृषेताम्, अकृषन्त। वि० लिङ्—(परस्मै०) कृषेत, कृषेताम्, कृषेयुः। (आत्मने०) कृषेत, कृषेयाताम्, कृषेरन्।

आ० लिङ्—(परस्मै०) में यासुट् के कित् होने तथा झलादि न होने के कारण अम् का आगम नहीं होता—कृष्यात्, कृष्यास्ताम्, कृष्यासुः। (आत्मने०) में 'कृष्+सीष्ट' यहां 'लिङ्सिचावात्मने०' (५८६) से झलादि लिङ् के कित् हो जाने से अमागम नहीं होता। तब कत्व-षत्व हो जाता है—कृक्षीष्ट, कृक्षीयास्ताम्, कृक्षीरन्।

लुङ्—दोनों पदों में 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (५६०) से च्लि को क्स प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमवार्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०]वा०(४१) स्पृश-मृश-कृष-तृप-दृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः॥

अकार्क्षीत्-अकार्क्षीत्-अकृक्षत्। अकृष्ट, अकृक्षाताम्, अकृक्षत। क्सपक्षे—अकृक्षत, अकृक्षाताम्, अकृक्षन्त॥

अर्थ—स्पृश् (छूना, तुदा० परस्मै०), मृश् (सोचना, तुदा० परस्मै०), कृष् (हल चलाना, तुदा० उभय०), तृप् (तृप्त होना वा करना, दिवा० परस्मै०), दृप् (घमण्ड करना, दिवा० परस्मै०)—इन पाञ्च धातुओं से परे च्लि के स्थान पर विकल्प से सिच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—स्पृश्, मृश् और कृष् से 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (५६०) द्वारा क्स प्राप्त होने तथा तृप् और दृप् से पुषादित्वात् अङ् प्राप्त होने पर इस वार्त्तिक से वैकल्पिक सिच् का विधान किया जा रहा है। सिच् के अभाव में यथाप्राप्त क्स और अङ् हो जायेंगे।

लुङ्—(परस्मै०) में 'अकृष्+च्लि+त्' इस अवस्था में प्रकृतवार्तिक से च्लि को सिच् होकर अम् का पाक्षिक आगम हो जाता है। तब 'वदव्रज०' (४६५) से हलन्तलक्षणा वृद्धि होकर कत्व-षत्व करने पर अम्पक्ष में 'अकार्क्षीत्' तथा अम् के अभाव में 'अकार्क्षीत्' दो रूप सिद्ध होते हैं। सिच् के अभाव में क्सप्रत्यय हो जाता है। क्स के कित् होने से अम् का आगम एवं लघूपधगुण नहीं होता, सिच् परे न रहने से वृद्धि का तो प्रसङ्ग ही नहीं। तब पूर्ववत् कत्व-षत्व करने में—अकृक्षत्। इस प्रकार परस्मै० में तीन तीन रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—(सिचि) अम्पक्षे—अकार्क्षीत्, अकार्ष्टाम् (झलो झलि), अकार्क्षुः। अकार्क्षीः, अकार्ष्टम्, अकार्ष्ट। अकार्क्षम्, अकार्क्ष्व, अकार्क्ष्म। अमोऽभावे—अकार्क्षीत्, अकार्ष्टाम्,

अकार्क्षुः। अकार्क्षीः, अकार्ष्टम्, अकार्ष्ट। अकार्ष्म्, अकार्ष्व, अकार्ष्म। (क्से) अकृक्षत्, अकृक्षताम्, अकृक्षन्। अकृक्षः, अकृक्षतम्, अकृक्षत। अकृक्षम् अकृक्षाव, अकृक्षाम।

लुँङ् के आत्मने० में सिँच् करने पर 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' (५८६) से सिँच् कित् हो जाता है। तब न तो अम् का आगम और न ही लघूपधगुण हो सकता है। 'अकृप्+स्+त' इस स्थिति मे सकार का झलोझलिलोप होकर ष्टुत्व करने से 'अकृष्ट' रूप बनता है। सिँच् के अभाव मे क्स हो जाता है, वह स्वतः कित् है अतः अम् का आगम तथा लघूपधगुण नही होता। कत्व-पत्व करने पर 'अकृक्षत' रूप सिद्ध होता है। इस प्रकार आत्मने० में दो दो रूप बनते है। रूपमाला यथा—(सिँचि) अकृष्ट, अकृक्षाताम्, अकृक्षत। अकृष्ठाः, अकृक्षाथाम्, अकृढ्वम्[1]। अकृक्षि, अकृक्ष्वहि, अकृक्ष्महि।(क्से)अकृक्षत, अकृक्षाताम्[2], अकृक्षन्त[3]। अकृक्षथाः, अकृक्षाथाम्, अकृक्षध्वम्। अकृक्षि, अकृक्षावहि, अकृक्षामहि।

लृँङ्—मे भी लँट् की तरह प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अम्पक्षे—अक्रक्ष्यत्, अक्रक्ष्यताम्, अक्रक्ष्यन्। अमोऽभावे—अकर्क्ष्यत्, अकर्क्ष्यताम्, अकर्क्ष्यन्। (आत्मने०) अम्पक्षे—अक्रक्ष्यत, अक्रक्ष्येताम् अक्रक्ष्यन्त। अमोऽभावे—अकर्क्ष्यत, अकर्क्ष्येताम्, अकर्क्ष्यन्त।

[लघु०] मिलँ सङ्गमे॥ ५॥ मिलति; मिलते। मिमेल। मेलिता। अमेलीत्॥

अर्थः—मिलँ (मिल्)धातु 'मिलना—संयुक्त होना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[4]।

व्याख्या—स्वरितेत् होने से मिल् धातु उभयपदी तथा अनुदात्तों मे परिगणित न होने से सेट् है। यह धातु प्रायः अकर्मक उपलब्ध होती है। जिस के साथ मिलन (संयोग) होता है उस मे 'सह' योग में तृतीया विभक्ति लगाई जाती है। यथा—मिलति तव **तोयैर्मृगमदः** (गङ्गालहरी ७.४), **मिलति** का न वनस्पतिना लता (साहित्यदर्पण में अपह्नुति का उदाहरण)। इस की प्रक्रिया में कुछ विशेष नहीं।

---

१. यहां 'धि च' (५१५) से सकारलोप होकर ष्टुत्व तथा 'झलां जश् झशि' (१६) से जश्त्व हो जाता है।

२. आताम् झ (अन्त), आथाम् और ध्वट् में क्स के अन्त्य अकार का 'क्सस्यात्रि' (५६२) से लोप हो जाता है।

३. 'झ' मे पहले अन्तादेश कर बाद में अकार का लोप करना चाहिये।

४. इस धातु का 'पाया जाना' अर्थ भी कई स्थानों पर देखा जाता है। यथा—**ये चान्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याभिलाषाकुलाः, ते सर्वत्र मिलन्ति तत्र निकषग्रावा तु तेषां विपत्** (हितोप० १.२१४)।

लँट्—(परस्मै०) मिलति, मिलत , मिलन्ति । (आत्मने०) मिलते, मिलेते, मिलन्ते । लिँट्—(परस्मै०) मिमेल, मिमिलतु, मिमिलु । (आत्मने०) मिमिले, मिमिलाते, मिमिलिरे । लुँट्—(परस्मै०) मेलिता, मेलितारौ, मेलितार । मेलितासि—(आत्मने०) मेलिता, मेलितारौ, मेलितार । मेलितासे—। लृँट्—(परस्मै०) मेलिष्यति, मेलिष्यत , मेलिष्यन्ति । (आत्मने०) मेलिष्यते, मेलिष्येते, मेलिष्यन्ते । लोँट्—(परस्मै०) मिलतु मिलतात्, मिलताम्, मिलन्तु । (आत्मने०) मिलताम्, मिलेताम्, मिलन्ताम् । लँङ्—(परस्मै०) अमिलत्, अमिलताम्, अमिलन् । (आत्मने०) अमिलत, अमिलेताम्, अमिलन्त । वि० लिँङ्—(परस्मै०) मिलेत्, मिलेताम्, मिलेयु । (आत्मने०) मिलेत, मिलेयाताम्, मिलेरन् । आ० लिँङ्—(परस्मै०) मिल्यात्, मिल्यास्ताम्, मिल्यासु । (आत्मने०) मेलिषीष्ट, मेलिषीयास्ताम्, मेलिषीरन् । लुँङ्—(परस्मै०) अमेलीत्, अमेलिष्टाम्, अमेलिषु । (आत्मने०) अमेलिष्ट, अमेलिषाताम्, अमेलिषत । लृँङ्—(परस्मै०) अमेलिष्यत्, अमेलिष्यताम् अमेलिष्यन् । (आत्मने०) अमेलिष्यत, अमेलिष्येताम्, अमेलिष्यन्त ।

नोट—कुछ वैयाकरण इस धातु को वैकल्पिक कुटादि मान कर 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' (५८७) सूत्र से ङिद्वत् के कारण 'मिलिता, मिलिष्यति, अमिलीत्, अमिलिष्यत्' आदि रूप भी बनाते हैं। साहित्य मे इस प्रकार के प्रयोग पाये भी जाते हैं—(१) ततो विद्याधरेन्द्रेण मिलिष्याम सुमेरुणा (कथासरित्सागर ४५ ७), (२) महापातकिन पञ्च मिलितव्य न तै सह (कविकल्प० दुर्गादासद्वारा उद्धृत), (३) व्यालनिलयमिलनेन गरलमिव कलयति मलयसमीरम् (गीतगो० ४ २), (४) न दृष्टे शैथिल्य मिलनमिति चेतो दहति मे (अमरशतक) इत्यादि। इस धातु के आत्मनेपद प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

## [ लघु० ] मुर्च्छ्लृँ मोचने ॥६॥

अर्थ—मुर्च्छ्लृँ (मुच्) धातु 'छोडना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—इस धातु का अन्त्य लृकार स्वरित एवम् अनुनासिक है। स्वरितेन् होने से मुच् धातु उभयपदी तथा अनुदात्तो मे परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् मे ऋदिनियम से सब जगह (थल् मे भी) इट् हो जाता है। इसे लृदित् करने का प्रयोजन परस्मै० के लुँङ् मे च्लि को अङ् करना है।

---

१ 'छोडना' अर्थ में किसी वस्तु का छोडना, काम क्रोध आदि मानसिक वेगो का छोडना तथा अश्रु आदियो का छोडना-बहाना भी सम्मिलित है। यथा—रात्रिर्गता मतिमतां वर मुञ्च शय्याम् (रघु० ५ ६), मुञ्च मानं हि मानिनि (साहित्यदर्पण ७), यात्रा स्वैरा यद् विमुच्येह वाष्प प्राप्ताऽऽनुकूल्या याति बुद्धि प्रसादम् (स्वप्नवासवदत्ता ४ ७)। सिवाय (except) अर्थ में भी इस का प्रयोग देखा जाता है—वायु मुक्त्वा नाऽन्यस्य प्रवेशोऽस्ति। यह धातु सकर्मक है परन्तु कर्मवर्ता में अकर्मक हो जाती है—मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोक स गच्छति।

लँट्—(परस्म०) प्र० पु० के एकवचन में 'श' विकरण करने पर 'मुच्+अ+ति' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६५४) शे मुचादीनाम् ।७।१।५९॥

मुच्-लिप्-विद्-लुप्-सिच्-कृत्-खिद्-पिशां नुम् स्यात् शे परे। मुञ्चति; मुञ्चते। मोक्ता। मुच्यात्; मुक्षीष्ट। अमुचत्; अमुक्त, अमुक्षाताम् ॥

अर्थः—मुच् (छोड़ना), लिप् (लीपना), विद् (पाना), लुप् (काटना), सिच् (सीचना), कृत् (काटना), खिद् (प्रहार करना), पिश् (टुकड़े करना)—इन आठ धातुओं को श परे होने पर नुम् का आगम हो।

व्याख्या—शे ।७।१। मुचादीनाम् ।६।३। नुम् ।१।१। ('इदितो नुम् धातोः' से) अर्थः—(मुचादीनाम्) मुच् आदि धातुओं का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है (शे) 'श' परे हो तो। मुचादि धातु आठ है जो पाणिनिनिर्मित धातुपाठ के तुदादिगण के अन्त में पढ़ी गई हैं[1]। इन सब का लघुकौमुदी में आगे वर्णन आ रहा है। नुम् में मकार इत्सञ्ज्ञक तथा उकार उच्चारणार्थक है। मित् होने से नुम् का आगम अन्त्य अच् से परे होता है। 'श' विकरण लँट्-लोँट्-लँङ्-विधिलिँङ् तथा शतृ-शानच् आदि प्रत्ययों में हुआ करता है अतः नुम् का आगम भी इन्ही स्थानों पर समझना चाहिये[2]।

'मुच्+अ+ति' यहां श (अ) परे है अतः प्रकृतसूत्र से मुच् को नुम् का आगम हो गया—मुन्च्+अ+ति[3]। अब 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' (७८) से अपदान्त नकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) से उसे परसवर्ण ञकार करने पर 'मुञ्चति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आत्मने० में 'मुञ्चते' आदि। रूपमाला यथा—(परस्मै०) मुञ्चति, मुञ्चतः, मुञ्चन्ति। (आत्मने०) मुञ्चते, मुञ्चेते, मुञ्चन्ते।

शङ्का—इन मुचादि धातुओं को रुधादिगण में क्यों नहीं पढ़ देते, जिस से श्नम् के आ जाने से नकारघटित रूप स्वतः ही बन जायेंगे ?

---

१. इन का श्लोकबद्ध संग्रह यथा—

मुच्-सिचौ लुप्-लिपौ चेति विद्-खिदौ कृत्-पिशौ तथा।
नुम्भाजः शे भवन्त्यष्टौ मुञ्चतीति निदर्शनम् ॥

२. अत एव 'सिञ्चनम्, कृन्तनम्, सिञ्चितः' आदि अशुद्ध हैं। इन के स्थान पर 'सेचनम्, कर्त्तनम्, सिक्तः' आदि शुद्ध प्रयोग होने चाहियें।

३. 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से श (अ) यद्यपि ङित् है तथापि इस के परे रहते 'अनिदितां हलः०' (३३४) से नकार का लोप नहीं होता। क्योंकि तब नुम् का विधान व्यर्थ हो जायेगा।

समाधान—तब 'मुञ्चति' के स्थान पर 'मुनक्ति' आदि अनिष्ट रूप बनने लगेंगे। अत मुनि ने ऐसा नहीं किया।

लिट्—(परस्मै०) मुमोच, मुमुचतु, मुमुचु। मुमोचिथ, मुमुचथु, मुमुच। मुमोच, मुमुचिव, मुमुचिम। (आत्मने०) मुमुचे, मुमुचाते, मुमुचिरे। मुमुचिषे, मुमुचाथे, मुमुचिध्वे। मुमुचे, मुमुचिवहे, मुमुचिमहे। लुट्—मे लघूपधगुण होकर 'चो कु' (३०६) से कुत्व हो जाता है—(परस्मै०) मोक्ता, मोक्तारौ, मोक्तार। मोक्तासि—। (आत्मने०) मोक्ता, मोक्तारौ, मोक्तार। मोक्तासे—। लृट्—(परस्मै०) मोक्ष्यति, मोक्ष्यत, मोक्ष्यन्ति। (आत्मने०) मोक्ष्यते, मोक्ष्येते, मोक्ष्यन्ते। लोट्—(परस्मै०) मुञ्चतु-मुञ्चतात्, मुञ्चताम्, मुञ्चन्तु। (आत्मने०) मुञ्चताम्, मुञ्चेताम्, मुञ्चन्ताम्। लङ्—(परस्मै०) अमुञ्चत्, अमुञ्चताम्, अमुञ्चन्। (आत्मने०) अमुञ्चत, अमुञ्चेताम्, अमुञ्चन्त। वि० लिङ्—(परस्मै०) मुञ्चेत्, मुञ्चेताम्, मुञ्चेयु। (आत्मने०) मुञ्चेत, मुञ्चेयाताम्, मुञ्चेरन्। आ० लिङ्—परस्मै० मे यासुट् के कित् होने से तथा आत्मने० में 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' (५८६) द्वारा ऋलादि लिङ् के कित्त्व के कारण गुण नहीं होता। (परस्मै०) मुच्यात्, मुच्यास्ताम्, मुच्यासु। (आत्मने०) मुक्षीष्ट, मुक्षीयास्ताम्, मुक्षीरन्।

लुङ्—(परस्मै०) मे 'पुषादिद्युताद्यृदित०' (५०७) से च्लि को अङ् आदेश हो जाता है। अङ् के डित् होने से लघूपधगुण नहीं होता—अमुचत्, अमुचताम्, अमुचन्। अमुच, अमुचतम्, अमुचत। अमुचम्, अमुचाव, अमुचाम। (आत्मने०) प्र० पु० के एकवचन मे सकार का झलोझलिलोप होकर कुत्व करने पर—अमुक्त। ध्यान रहे कि यहा 'लिङ्सिचावात्मने०'(५८६)से सिच् के कित्त्व के कारण लघूपधगुण नहीं होता। सिज्लोप गुण की दृष्टि मे असिद्ध है अत लोप हो जाने पर भी गुण नहीं होता। आताम् मे कुत्व-पत्व होकर—अमुक्षाताम्। इसी प्रकार—अमुक्षत। ध्वम् मे 'धि च' (५१५) से सकार का लोप होकर कुत्व तथा 'झलां जश्झशि' (१६) से जश्त्व हो जाता है—अमुग्ध्वम्। रूपमाला यथा—अमुक्त, अमुक्षाताम्, अमुक्षत। अमुक्था, अमुक्षाथाम्, अमुग्ध्वम्। अमुक्षि, अमुक्ष्वहि, अमुक्ष्महि।

लृट्—(परस्मै०) अमोक्ष्यत्, अमोक्ष्यताम, अमोक्ष्यन्। (आत्मने०) अमोक्ष्यत, अमोक्ष्येताम्, अमोक्ष्यन्त।

उपसर्गयोग—वि√मुच्=छोडना (चिरमभूमि विमुच्य राघव—रघु० ८ २५)। प्रति√मुच्=बान्धना-पहनना-धारणकरना (यज्ञोपवीत परम पवित्र प्रजापतेर्यत्सहज पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्य प्रतिमुञ्च शुभ्र यज्ञोपवीत बलमस्तु तेज—पारस्कर० गृ० २ २ १०), लौटाना (अमु तुरङ्ग प्रतिमोक्तुमर्हसि—रघु० ३ ४६)। आ√मुच्=(वस्त्रादि) धारण करना (आमुञ्चदूर्म—उसने कवच धारण किया—भट्टि० १७ ६, आमुक्त प्रतिमुक्तश्च पिनद्धश्चापिनद्धवत्—इत्यमर), अर्पण करना (आमुञ्चतीवाभरण द्वितीयम्—रघु० १३ २१)। उद्√मुच्—उतारना (विमूषणानि

उन्मुमुचुः—भट्टि० ३.२२)।

[लघु०] लुप्लृँ छेदने ॥७॥ लुम्पति; लुम्पते। लोप्ता। अलुपत्; अलुप्त॥

अर्थः—लुप्लृँ (लुप्) धातु 'काटना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—इस धातु का भी अन्त्य लृकार अनुनासिक तथा स्वरित है। इस का लोप होकर 'लुप्' मात्र शेष रहता है। स्वरितेत् होने से यह उभयपदी तथा अनुदात्तों मे परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में ऋदिनियम से सर्वत्र (थल् मे भी) इट् हो जाता है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया मुच् धातु की तरह होती है। लँट्, लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् में 'शे मुचादीनाम्' (६५४) द्वारा नुम् का आगम होकर अनुस्वार और परसवर्ण करने पर 'लुम्प्' धातु बन जाती है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) लुम्पति, लुम्पतः, लुम्पन्ति। (आत्मने०) लुम्पते, लुम्पेते, लुम्पन्ते। लिँट्—(परस्मै०) लुलोप, लुलुपतुः, लुलुपुः। (आत्मने०) लुलुपे, लुलुपाते, लुलुपिरे। लुँट्—(परस्मै०) लोप्ता, लोप्तारौ, लोप्तारः। लोप्तासि—। (आत्मने०) लोप्ता, लोप्तारौ, लोप्तारः। लोप्तासे—। लृँट्—(परस्मै०) लोप्स्यति, लोप्स्यतः, लोप्स्यन्ति। (आत्मने०) लोप्स्यते, लोप्स्येते, लोप्स्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) लुम्पतु-लुम्पतात्, लुम्पताम्, लुम्पन्तु। (आत्मने०) लुम्पताम्, लुम्पेताम्, लुम्पन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अलुम्पत्, अलुम्पताम्, अलुम्पन्। (आत्मने०) अलुम्पत, अलुम्पेताम्, अलुम्पन्त। वि० लिँङ्—(परस्मै०) लुम्पेत्, लुम्पेताम्, लुम्पेयुः। (आत्मने०) लुम्पेत, लुम्पेयाताम्, लुम्पेरन्। आ० लिँङ्—(परस्मै०) लुप्यात्, लुप्यास्ताम्, लुप्यासुः। (आत्मने०) लुप्सीष्ट, लुप्सीयास्ताम्, लुप्सीरन् (लिँङ्सिचावात्मनेपदेषु)। लुँङ्—(परस्मै०) अलुपत्, अलुपताम्, अलुपन् (लृदित्त्वादङ् ५०७)। (आत्मने०) अलुप्त, अलुप्साताम्, अलुप्सत। लृँङ्—(परस्मै०) अलोप्स्यत्, अलोप्स्यताम्, अलोप्स्यन्। (आत्मने०) अलोप्स्यत, अलोप्स्येताम्, अलोप्स्यन्त।

[लघु०] विद्लृँ लाभे ॥८॥ विन्दति; विन्दते। विवेद; विविदे। व्याघ्र-भूतिमते सेट्—वेदिता। भाष्यमतेऽनिट्—परिवेत्ता॥

अर्थः—विद्लृँ (विद्) धातु 'प्राप्त करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् लृदित् तथा स्वरितेत् है। स्वरितेत् होने से

---

१. यहां 'छेदन' से केवल 'काटना' ही नही अपितु 'दूर भगाना, नष्ट करना, इन्कार करना' आदि लाक्षणिक अर्थों का भी संग्रह समझना चाहिये। यथा—बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते (शार्ङ्गधर० ४.२१), अनुभवं वचसा सखि लुम्पसि (नैषध ४.१०५); तस्य भावो न लुप्यते (मनु० ६.२११); लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुङ्काममनसोरपि (महाभाष्य ६.१.१४४)। व्याकरणशास्त्र का प्रसिद्ध 'लोप' शब्द इसी धातु से बनता है। यङन्तात्लुपेरचि लोलुपः (गर्हितं लुम्पति परद्रव्यमिति लोलुपः—अत्यन्त लालची)।

उभयपद तथा लुदित् होने से परस्मै० के लुँङ् मे च्लि के स्थान पर अङ् आदेश हो जाता है। इस के अनिट् होने मे मतभेद है। महाभाष्य तथा कातन्त्र, चान्द्र आदि व्याकरणो मे इसे अनिट् माना गया है[1]। परन्तु व्याघ्रभूति आचार्य (काशिकागत अनिट् कारिकाओं के निर्माता) इसे सेट् मानते हैं। इस प्रकार मतभेद के कारण वलादि प्रत्ययो मे इस के दो दो रूप बनते हैं। पर ध्यान रहे कि इसे अनिट् मानने वालों के पक्ष मे भी थलसहित लिँट् मे इसे क्रादिनियम से नित्य इट् हो जायेगा, अत लिँट् के वलादि-प्रत्ययों मे केवल एक एक रूप ही बनेगा।

परिवेत्ता—यह परिपूर्वक 'विदॢ लाभे' धातु का तृच्प्रत्ययान्त रूप है। यह धर्मशास्त्रो का पारिभाषिक शब्द है। बडे भाई के अविवाहित रहते जब छोटा भाई विवाहित हो जाता है तो उसे 'परिवेत्तृ' कहते हैं। जैसा कि मनु० (३ १७१) में कहा है—दाराग्निहोत्रसयोग कुरुते योऽग्रजे स्थिते। परिवेत्ता स विज्ञेय परिवित्तिस्तु पूर्वज। यहा 'परिविद्+तृ' इस अवस्था में धातु से परे तृच् को इण्निषेध किया गया है। अत इस से प्रतीत होता है कि यह धातु अनिट् है और भाष्यकार आदियों का मत युक्त है[2]। इस धातु की समग्र प्रक्रिया मुच् धातु की तरह समझनी चाहिये। लँट्, लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् मे इसे भी 'शे मुचादीनाम्' (६५४) के द्वारा नुम् का आगम हो जाता है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) विन्दति, विन्दत, विन्दन्ति। (आत्मने०) विन्दते, विन्देते, विन्दन्ते। लिँट्—(परस्मै०) विवेद, विविदतु, विविदु। (आत्मने०) विविदे, विविदाते, विविदिरे। लुँट्—(परस्मै०) वेत्ता, वेत्तारौ, वेत्तार। वेत्तासि—। (आत्मने०) वेत्ता, वेत्तारौ, वेत्तार। वेत्तासे—। व्याघ्रभूति के मत मे—वेदिता, वेदितारौ, वेदितार आदि। लृँट्—(परस्मै०) वेत्स्यति, वेत्स्यत, वेत्स्यन्ति। (आत्मने०) वेत्स्यते, वेत्स्येते, वेत्स्यन्ते। व्याघ्रभूति के मत मे—वेदिष्यति, वेदिष्यत, वेदिष्यन्ति आदि। लोँट्—(परस्मै०) विन्दतु विन्दतात्, विन्दताम्, विन्दन्तु। (आत्मने०) विन्दताम्, विन्देताम्, विन्दन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अविन्दत्, अविन्दताम्, अविन्दन्। (आत्मने०) अविन्दत, अविन्देताम्, अविन्दन्त। वि० लिँङ्—(परस्मै०) विन्देत्, विन्देताम्, विन्देयु। (आत्मने०) विन्देत, विन्देयाताम्, विन्देरन्। आ० लिँङ्—(परस्मै०) विद्यात्, विद्यास्ताम्, विद्यासु। (आत्मने०) वित्सीष्ट, वित्सीयास्ताम्, वित्सीरन्। व्याघ्रभूति के मत मे आत्मने० मे—वेदिषीष्ट, वेदिषीयास्ताम्, वेदिषीरन्। यहाँ लिँङ् के झलादि न रहने से 'लिँङ्सिचावात्मने०' (५८६) से क्सि्व

---

१ विन्दतिश्चाप्रयोगादिरिष्टो भाष्येऽपि दृश्यते।
व्याघ्रभूत्यादयस्त्वेन मेह पेठुरिति स्थितम् ॥सि० कौ०॥

२ परन्तु इसे सेट् मानने वाले वैयाकरण यहाँ दैवादिक या रौधादिक विद् धातु को अर्थान्तर मे गया मान कर इण्निषेध स्वीकार किया करते हैं (देखें इसी धातु पर माधवीयधातुवृत्ति)।

नहीं होता अतः लघूपधगुण निर्बाध हो जाता है।

लुँङ्—(परस्मै०) लृदित् होने से अङ् हो जाता है—अविदत्, अविदताम् अविदन्। (आत्मने०) अवित्त, अवित्साताम्, अवित्सत। अवित्थाः, अवित्साथाम्, अविद्ध्वम्। अवित्सि, अवित्स्वहि, अवित्स्महि। व्याघ्रभूति के मत में—अवेदिष्ट, अवेदिषाताम्, अवेदिषत आदि। लृँङ् (परस्मै०) अवेत्स्यत्, अवेत्स्यताम्, अवेत्स्यन्। (आत्मने०) अवेत्स्यत, अवेत्स्येताम्, अवेत्स्यन्त। व्याघ्रभूति के मत में—अवेदिष्यत्, अवेदिष्यताम्, अवेदिष्यन् आदि।

[लघु०] षिचँ क्षरणे ॥९॥ सिञ्चति; सिञ्चते ॥

अर्थः—पिचँ (सिच्) धातु 'सीचना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी मुच् धातु की तरह स्वरितेत् होने से उभयपदी है। 'धात्वादेः षः सः' (२५५) से इस के आदि पकार को सकार होकर 'सिच्' बन जाता है। षोपदेश का फल 'सिषेच' आदियों मे आदेशरूप सकार को 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व करना है। अनुदात्तों में परिगणित होने से यह धातु अनिट् है। परन्तु क्रादिनियम से लिँट् में सर्वत्र (थल् में भी) इट् हो जाता है। इस की प्रक्रिया लुँङ् के सिवाय अन्यत्र मुच् धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) सिञ्चति, सिञ्चतः, सिञ्चन्ति। (आत्मने०,) सिञ्चते, सिञ्चेते, सिञ्चन्ते। लिँट्—(परस्मै०) सिषेच, सिषिचतुः, सिषिचुः। (आत्मने०) सिषिचे, सिषिचाते, सिषिचिरे। लुँट्—(परस्मै०) सेक्ता, सेक्तारौ, सेक्तारः। सेक्तासि—। (आत्मने०) सेक्ता, सेक्तारौ, सेक्तारः। सेक्तासे—। लृँट्—(परस्मै०) सेक्ष्यति, सेक्ष्यतः, सेक्ष्यन्ति। (आत्मने०) सेक्ष्यते, सेक्ष्येते, सेक्ष्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) सिञ्चतु-सिञ्चतात्, सिञ्चताम्, सिञ्चन्तु। (आत्मने०) सिञ्चताम्, सिञ्चेताम्, सिञ्चन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) असिञ्चत्, असिञ्चताम्, असिञ्चन्। (आत्मने०) असिञ्चत, असिञ्चेताम्, असिञ्चन्त। वि० लिँङ्—(परस्मै०) सिञ्चेत्, सिञ्चेताम्, सिञ्चेयुः। (आत्मने०) सिञ्चेत, सिञ्चेयाताम्, सिञ्चेरन्। आ० लिँङ्—(परस्मै०) सिच्यात्, सिच्यास्ताम्, सिच्यासुः। (आत्मने०) सिक्षीष्ट, सिक्षीयास्ताम्, सिक्षीरन् (लिँङ्सिचावात्मनेपदेषु ५८९)।

लुँङ्—लृदित् न होने से च्लि को अङ् प्राप्त नही होता। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६५५) लिपि-सिचि-ह्वश्च ।३।१।५३॥

एभ्यश्च्लेरङ् स्यात्। असिचत् ॥

अर्थः—लिप्, सिच् और ह्वा (ह्वेञ् स्पर्धायाम् भ्वा० उभय०) धातुओं से परे च्लि के स्थान पर अङ् आदेश हो।

व्याख्या—लिपि-सिचि-ह्वः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। च्लेः ।६।१। ('च्लेः

सिंच्' से)। अट् ।१।१। ('अस्यतिवक्ति०' से)। कर्तरि ।७।१। ('शिभिदुरुभ्य कर्तरि चङ्' से)।लुंङि ।७।१। ('च्लि लुङि' से)। लिपिश्च सिचिश्च ह्वाश्च—लिपि-सिचिह्वा (समाहारेऽपि सौत्रम्पुंस्त्वम्), तस्मात्—लिपिसिचिह्व (विश्वप ।५।१। की तरह)[1]। लिपि और सिचि मे अन्त्य इकार उच्चारणार्थक है। अर्थ —(लिपि-सिचि-ह्व) लिप्, सिच् और ह्वेञ् धातु से परे (च्लेः) च्लि के स्थान पर (अट्) अट् आदेश हो जाता है (कर्तरि लुंङि) कर्तृवाचक लुंङ् परे हो तो[2]। च्लि का ल् मात्र अवशिष्ट रहता है उसे ही अट् आदेश हो जाता है। अट् मे डकारानुबन्ध गुणनिषेध आदि प्रयोजनो के लिये जोडा गया है। लिप् धातु का वर्णन आगे आ रहा है। ह्वेञ् का वर्णन लघुकौमुदी मे नहीं है, इस के 'आह्वत्' आदि उदाहरण ।पद्धान्त-कौमुदी मे देखें। सिच् का उदाहरण प्रकृत है—

'असिच्+च्लि+त्' यहाँ सिच् धातु से परे प्रकृतसूत्र से च्लि को अट् आदेश होकर डित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध करने पर 'असिचत्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'असिचताम्' आदि। आत्मने० मे भी प्रकृतसूत्र से च्लि को अट् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से विकल्प का प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६५६) आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ।३।१।५४॥

लिपि-सिचि-ह्व परस्य च्लेरङ् वा स्यात्तङि। असिचत-असिक्त॥

अर्थ —लिप्, सिच् और ह्वेञ् धातु से परे च्लि के स्थान पर विकल्प से अट् हो आत्मनेपद परे हो तो।

व्याख्या—आत्मनेपदेषु ।७।३। अन्यतरस्याम् ।७।१। लिपिसिचिह्व ।५।१। ('लिपिसिचिह्वश्च' से)। च्लेः ।६।१। अट् ।१।१। कर्तरि ।७।१। (पूर्ववत् अनुवर्तन होता है)। अर्थ —(लिपि सिचि-ह्व) लिप्, सिच् और ह्वेञ् से परे (च्लेः) च्लि के स्थान पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था मे (अट्) अट् आदेश हो जाता है (कर्तरि आत्मनेपदेषु) कर्तृवाचक आत्मनेपद प्रत्यय परे हो तो। दूसरी अवस्था मे अट् न होगा अत विकल्प सिद्ध हो जायेगा।

'असिच्+च्लि+त' यहा आत्मने० परे है अत प्रकृतसूत्र से च्लि को अट् आदेश होकर 'असिचत' प्रयोग सिद्ध होता है। अट् के अभाव मे च्लि को सिच्,

---

१ यहाँ का समास भी एक समस्या है। क्योकि यदि यहा समाहारद्वन्द्व मानते हैं तो नपुंसक होने से ह्रस्व होकर 'लिपिसिचिह्वात्' बनना चाहिये, और यदि इतरेतर-द्वन्द्व मानते हैं तो 'लिपिसिचिह्वाभ्य' इस प्रकार बहुवचन लगाना चाहिये। पद-मञ्जरीकार ने इन दोनों से बचने के लिये 'लिपिसिचिसहितो ह्वा—लिपिसिचिह्वा, तस्मात्—लिपिसिचिह्व' इस प्रकार समास माना है।

२ यहाँ 'कर्तरि' का अनुवर्तन करना आवश्यक है। अन्यथा कर्मवाच्य में भी अट् होने लगेगा—असिक्षातां क्षेत्रे देवदत्तेन, असिप्सातां बेहल्यौ कन्यया।

झलोझलिलोप तथा 'चोः कुः' (३०६) से कुत्व करने पर 'असिक्त' प्रयोग सिद्ध होता है। लुँङ् मे रूपमाला यथा—(परस्मै०) असिचत्, असिचताम्, असिचन्। (आत्मने०) अङ्पक्षे—असिचत, असिचेताम्, असिचन्त। अङोऽभावे—असिक्त, असिक्षाताम्, असिक्षत (लिँङ्सिचावात्मने० ५८६)।

लृँङ्—(परस्मै०) असेक्ष्यत्, असेक्ष्यताम्, असेक्ष्यन्। (आत्मने०) असेक्ष्यत, असेक्ष्येताम्, असेक्ष्यन्त।

उपसर्गयोग—इस धातु का बहुधा अभि, नि, वि आदि उपसर्गों के साथ प्रयोग हुआ करता है। तब 'उपसर्गात् सुनोति०' (८.४.६५) सूत्र से धातु के सकार को षत्व हो जाता है—अभिषिञ्चति, निषिञ्चति, विषिञ्चति आदि। यह षत्व अट् के व्यवधान में भी हो जाता है—अभ्यषिञ्चत्, न्यषिञ्चत्, व्यषिञ्चत् आदि (प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि ८.४.६३)।

[लघु०] लिपँ उपदेहे ॥१०॥ उपदेहो वृद्धिः। लिम्पति; लिम्पते। लेप्ता। अलिपत्; अलिपत-अलिप्त ॥

अर्थः—लिपँ(लिप्)धातु 'लेप द्वारा बढ़ाना—लीपना—आच्छादित करना—चिपकना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् स्वरितेत् होने से उभयपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र (थल् में भी) इट् का आगम हो जाता है। इसकी प्रक्रिया भी पिछली सिच् धातु की तरह समझनी चाहिये। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) लिम्पति, लिम्पतः, लिम्पन्ति। (आत्मने०) लिम्पते, लिम्पेते, लिम्पन्ते। लिँट्—(परस्मै०) लिलेप, लिलिपतुः, लिलिपुः। (आत्मने०) लिलिपे, लिलिपाते, लिलिपिरे। लुँट्—(परस्मै०) लेप्ता, लेप्तारौ, लेप्तारः। लेप्तासि—। (आत्मने०) लेप्ता, लेप्तारौ, लेप्तारः। लेप्तासे—। लृँट्—(परस्मै०) लेप्स्यति, लेप्स्यतः, लेप्स्यन्ति। (आत्मने०) लेप्स्यते, लेप्स्येते, लेप्स्यन्ते। लोँट्—

---

१. लीपना—लिप्तेषु भासा गृहदेहलीनाम् (माघ ३.४८)। आच्छादित करना—लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः (मृच्छकटिक १.३४)। कर्म, पाप, फल आदि द्वारा लिप्त किये जाने पर इस के बहुधा प्रयोग देखे जाते हैं—लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा (गीता ५.१०), न चाऽलिप्यत पापेन (मनु० १०.१०५), न मां कर्माणि लिम्पन्ति (गीता ४.१४), फलेन न लिप्यते (गीता शाङ्कर० १३.३१)। तस्याऽलिपत शोकाग्निः स्वान्तं काष्ठमिव ज्वलन् (भट्टि० ६.२२) इत्यादि प्रयोगों में 'जलाना' अर्थ लाक्षणिक है। इसी धातु से ही लिपि, लेप, लेपन, अवलेप (अभिमान), लिप्त आदि शब्द बनते हैं। लिप्सु, लिप्सा आदि शब्द लभ् (पाना) धातु से बने हैं इस से नहीं।

(परस्मै०) लिम्पतु-लिम्पतात्, लिम्पताम्, लिम्पन्तु । (आत्मने०) लिम्पताम्, लिम्पेताम्, लिम्पन्ताम् । लँङ्—(परस्मै०) अलिम्पत्, अलिम्पताम्, अलिम्पन् । (आत्मने०) अलिम्पत, अलिम्पेताम्, अलिम्पन्त । वि० लिँङ्—(परस्मै०) लिम्पेत्, लिम्पेताम्, लिम्पेयु । (आत्मने०) लिम्पेत, लिम्पेयाताम्, लिम्पेरन् । आ० लिँङ्—(परस्मै०) लिप्यात्, लिप्यास्ताम्, लिप्यासु । (आत्मने०) लिप्सीष्ट, लिप्सीयास्ताम्, लिप्सीरन् (लिँङ्सिचावात्मनेपदेषु) । लुँङ्—(परस्मै०) 'लिपिसिचिह्वश्च' (६५५) से च्लि को अङ् आदेश हो जाता है—अलिपत्, अलिपताम्, अलिपन् । (आत्मने०) 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' (६५६) से च्लि को वैकल्पिक अङ् हो जाता है । अङ्पक्षे—अलिपत, अलिपेताम्, अलिपन्त । अडोऽभावे—अलिप्त, अलिप्साताम्, अलिप्सत । लृँङ्—(परस्मै०) अलेप्स्यत्, अलेप्स्यताम्, अलेप्स्यन् । (आत्मने०) अलेप्स्यत, अलेप्स्येताम्, अलेप्स्यन्त ।

यहा तक तुदादिगण की उभयपदी धातुओ का विवेचन किया गया है। ध्यान रहे कि तुदादिगण की प्रथम धातु तुद् उभयपदी थी अत उसके अनुरोध से पहले उभयपदी धातुओ की व्याख्या की गई है ।

अब परस्मैपदी धातुओ का विवेचन प्रारम्भ होता है—

[लघु०] कृतीँ छेदने ॥११॥ कृन्तति । चकर्त । कर्तिता । कर्तिष्यति-कर्स्यति । अकर्तीत् ॥

अर्थ —कृतीँ (कृत्) धातु 'छेदन करना—काटना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—इस धातु का अन्त्य ईकार उदात्त तथा अनुनासिक है । अनुबन्ध का लोप करने पर 'कृत्' मात्र अवशिष्ट रहता है । ईदित् करने का फल निष्ठा मे इट् का निषेध करना है—कृत्त, कृत्तवान् ('श्वीदितो निष्ठायाम्' ७ २ १४) । आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तो मे परिगणित न होने से सेट् है । परन्तु सिँच्-भिन्न सकारादि आर्धधातुक प्रत्ययो मे 'सेऽसिँचि०' (६३०) सूत्र द्वारा इट् का विकल्प हो जाता है । मुचादि होने के कारण इसे भी शविकरण मे नुम् का आगम हो जाता है (६५४) ।

लँट्—कृन्तति, कृन्तत, कृन्तन्ति । 'प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्' (उत्तरराम० ३ ३१) ।

लिँट्—चकर्त, चकृततु, चकृतु । चकर्तिथ, चकृतथु, चकृत । चकर्त, चकृतिव, चकृतिम । लुँट्—कर्तिता, कर्तितारौ, कर्तितार । लृँट्—(इट्पक्षे) कर्तिष्यति, कर्तिष्यत, कर्तिष्यन्ति । (इटोऽभावे) कर्स्यति, कर्स्यत, कर्स्यन्ति । लोँट्—कृततु-कृतात्, कृन्ताम्, कृन्तन्तु । लँङ्—अकृन्तत्, अकृन्तताम्, अकृन्तन् । वि० लिँङ्—कृन्तेत्, कृन्तेताम्, कृन्तेयु । आ० लिँङ्—कृत्यात, कृत्यास्ताम्, कृत्यासु । लुँङ्—'सेऽसिँचि०' (६३०) सूत्र मे 'असिँचि' कहा गया है अत इट् का विकल्प नही होता । हलन्तलक्षणा वृद्धि का 'नेटि' (४७७) से निषेध होकर लघूपधगुण हो

जाना है—अकर्तीत्, अकर्तिष्टाम्, अकर्तिषुः। लृँङ्—(इट्पक्षे) अकर्तिष्यत्, अकर्तिष्यताम्, अकर्तिष्यन्। (इटोऽभावे) अकर्त्स्यत्, अकर्त्स्यताम्, अकर्त्स्यन्।

उपसर्गयोग—नि√कृत् = काटना (विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति—पञ्च० ४.१४) उद्√कृत् = उखाड़ना-उधेड़ना (उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिम्—मालती० ५.१६)॥

[लघु०] खिद परिघाते ॥१२॥ खिन्दति। चिखेद। खेत्ता॥

अर्थः—खिद (खिद्) धातु 'प्रहार करना, सताना, दुःख देना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा दकारान्त अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र (थल् में भी) इट् का आगम हो जाता है। मुचादि होने के कारण 'श्नो मुचादीनाम्' (६५४) द्वारा इसे भी श्नविकरण में नुम् का आगम हो जाता है। रूपमाला यथा—

लँट्—खिन्दति, खिन्दतः, खिन्दन्ति। लिँट्—चिखेद, चिखिदतुः, चिखिदुः। लुँट्—खेत्ता, खेत्तारौ, खेत्तारः। लृँट्—खेत्स्यति, खेत्स्यतः, खेत्स्यन्ति। लोँट्—खिन्दतु-खिन्दतात्, खिन्दताम्, खिन्दन्तु। लँङ्—अखिन्दत्, अखिन्दताम्, अखिन्दन्। वि० लिँङ्—खिन्देत्, खिन्देताम्, खिन्देयुः। आ० लिँङ्—खिद्यात्, खिद्यास्ताम्, खिद्यासुः। लुँङ्—अखेत्सीत्, अखेत्ताम्, अखेत्सुः। लृँङ्—अखेत्स्यत्, अखेत्स्यताम्, अखेत्स्यन्।

[लघु०] पिश अवयवे ॥१३॥ पिंशति। पेशिता॥

अर्थः—पिश (पिश्) धातु 'अवयव करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—लोक में इस धातु के तिङन्त प्रयोग अन्वेषणीय है। कई लोग इसे अकर्मक मान कर 'अवयव होना' ऐसा अर्थ किया करते हैं। त्वष्टा रूपाणि पिंशतु (ऋग्वेद १०.१८४.१) इत्यादि वैदिक प्रयोगों में इस का अर्थ 'विभाग करना-बांटना

१. यह धातु दिवादि तथा रुधादि गणों में भी पढ़ी गई है—खिद्यते, खिन्ते आदि। वहां इस का अर्थ 'दैन्ये' (दुःखी होना या खिन्न होना) है। परन्तु यहां के अर्थ के विषय में बड़ी दुर्दशा है। कई लोग इसे यहां 'खिद परितापे' (सन्तप्त करना, दुःखी करना) पढते है जैसा कि क्षीरतरङ्गिणी, प्रक्रियाकौमुदी (प्रसादटीका) आदि में लिखा है। अन्य लोग 'खिद परिघाते' पाठ मानते हुए भी 'परिघातो दैन्यम्' (खिन्न होना) इस प्रकार व्याख्या करते हैं जैसा कि महामहोपाध्याय श्रीगिरिधरशर्मा-जी ने लघुकौमुदी की अपनी टिप्पणी में किया है। मध्यकौमुदी में इस का अर्थ 'परिदेवने' (दुःखी होना) दिया गया है। वस्तुतः इस धातु के तिङन्त प्रयोग कहीं दृग्गोचर नहीं होते, इसीलिये यह सारी अव्यवस्था है। वेद मे 'खिदति' आदि का प्रयोग है परन्तु नुम्सहित का नहीं।

देना-प्रकाशित करना' आदि प्रतीत होता है। पिशित (मास), पिशाच, पिशुन आदि शब्द इसी धातु से बनते है। यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा अनुदात्तो मे परिगणित न होने से सेट् है। मुचादिया मे पाठ होने से इसे भी शविकरण मे नुम् का आगम हो जाता है। रूपमाला यथा—

लँट्—पिंशति, पिंशत, पिंशन्ति। लिँट्—पिपेश, पिपिशतु, पिपिशु.। लुँट्—पेशिता, पेशितारौ, पेशितार। लृँट्—पेशिष्यति, पेशिष्यत, पेशिष्यन्ति। लोँट्—पिंशतु पिंशतात, पिंशताम्, पिंशन्तु। लँङ्—अपिंशत्, अपिंशताम, अपिंशन्। वि० लिँङ्—पिंशेत्, पिंशेताम्, पिंशेयु। आ० लिँङ्—पिंश्यात्, पिंश्यास्ताम्, पिंश्यासु। लुँङ—अपेशीत, अपेशिष्टाम्, अपेशिषु। लृँङ्—अपेशिष्यत्, अपेशिष्यताम्, अपेशिष्यन्।

(यहा पर मुचादि आठ धातु समाप्त हो जाते हैं)

[लघु०] **ओँव्रश्चूँ छेदने** ॥१४॥ वृश्चति। वव्रश्च। वव्रश्चिथ-वव्रष्ठ। व्रश्चिता-व्रष्ठा। व्रश्चिष्यति-व्रक्ष्यति। वृश्च्यात्। अव्रश्चीत्-अव्राक्षीत्॥

**अर्थ**—ओँव्रश्चूँ (व्रश्च्) धातु 'छेदन करना—काटना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है[1]।

**व्याख्या**—ओँव्रश्चूँ का आदि ओकार तथा अन्त्य ऊकार दोनों अनुनासिक होने से इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाते हैं, इस प्रकार 'व्रश्च्' ही अवशिष्ट रहता है। 'व्रश्च्' का भी असली रूप 'व्रस्च' ही है, चकार के कारण सकार को श्चुत्व से शकार हुआ है (देखें पृष्ठ २५० पर टिप्पण)। आत्मनेपद के लक्षणो से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी है। इसे ओदित् करने का प्रयोजन 'ओदितश्च' (८ २ ४५) द्वारा निष्ठा के तकार को नकार करना है—वृक्ण, वृक्णवान्। ऊदित् करने का प्रयोजन 'स्वरतिसूति०' (४७६) द्वारा इट् का विकल्प करना है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन मे शविकरण होकर 'व्रश्च्+अ+ति' इस स्थिति में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा श (अ) के डित् होने के कारण 'ग्रहिज्या०' (६३४) से व्रश्च् के रेफ को ऋकार सम्प्रसारण तथा 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) मे पूर्वरूप करने पर 'वृश्चति' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहा 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (२६१) इस निषेध के कारण वकार को सम्प्रसारण नहीं होता। रूपमाला यथा— वृश्चति, वृश्चत, वृश्चन्ति आदि।

लिँट्—प्र० पु के एकवचन म तिप् को णल् आदेश होकर द्वित्व करन पर—व्रश्च्+व्रश्च्+अ। अब 'लिँटयभ्यासस्योभयेषाम्' (५४६) से अभ्यास के रेफ को सम्प्रसारण ऋकार, पूर्वरूप, 'उरत' (४७३) से ऋकार को अकार, रपर

१ यहाँ पर 'काटना' अर्थ मे जहाँ वृक्ष आदि का काटना अर्थ अभिप्रेत है वहाँ बिच्छू आदि के द्वारा 'काटना-डक मारना' अर्थ भी अभीष्ट है। इसी धातु से 'वृश्चिक, वृक्ष' आदि शब्द निष्पन्न होते हैं।

वृश्चताम्, वृश्चन्तु । लँङ्—अवृश्चत्, अवृश्चताम्, अवृश्चन् । वि० लिङ्—वृश्चेत्, वृश्चेताम्, वृश्चेयुः ।

आ० लिङ्—मे यासुट् के कित् होने से सम्प्रसारण हो जाता है । वृश्च्यात्, वृश्च्यास्ताम्, वृश्च्यासुः ।

लुँङ्—इट्पक्ष मे 'नेटि' (४७७) द्वारा हलन्तलक्षणा वृद्धि का निषेध हो जाता है—अव्रश्चीत्, अव्रश्चिष्टाम्, अव्रश्चिषुः आदि । इट् के अभाव मे 'अव्रश्च्+स्+ईत्' इस स्थिति मे हलन्तलक्षणा वृद्धि निर्बाध होकर सयोगादिलोप, षत्व, क्त्व और उस से परे सिच् के सकार को मूर्धन्य षकार करने पर—अव्राक्षीत्, अव्राष्टाम् (झलो झलि), अव्राक्षुः । अव्राक्षीः, अव्राष्टम्, अव्राष्ट । अव्राक्षम्, अव्राक्ष्व, अव्राक्ष्म ।

लृँङ्—(इट्पक्षे) अव्रश्चिष्यत्, अव्रश्चिष्यताम्, अव्रश्चिष्यन् । (इटोऽभावे) अव्रक्ष्यत्, अव्रक्ष्यताम्, अव्रक्ष्यन् ।

[लघु०] व्यच व्याजीकरणे ॥१५॥ विचति । विव्याच । विविचतुः । व्यचिता । व्यचिष्यति । विच्यात् । अव्याचीत्-अव्यचीत् ॥

अर्थ—व्यच (व्यच्) धातु 'छलना, ठगना, धोखा देना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणो से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तो मे परिगणित न होने से सेट् है । लोक मे इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं । कविकल्पद्रुम की व्याख्या मे श्रीदुर्गादास ने 'विचति सन्त खल' उदाहरण दिया है । ऋग्वेद (३ ३६ ५) मे 'विव्याच' का प्रयोग देखा जाता है । ऐतरेय ब्राह्मण तथा ऐतरेय आरण्यक मे भी इस के प्रयोग उपलब्ध होते हैं ।

लँट्—'ग्रहिज्या०' (६३४) सूत्र मे इस धातु का भी परिगणन किया गया है अत कित् ङित् प्रत्ययो मे इसे सम्प्रसारण हो जाता है । 'श' प्रत्यय 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित् है अत उस के परे रहने व्यच् के यकार को सम्प्रसारण होकर पूर्वरूप (२५८) हो जाता है—विचति, विचतः, विचन्ति ।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन मे 'व्यच्+अ' यहा कित् ङित् परे नही है अत सम्प्रसारण नहीं होता । द्वित्व करने पर 'लिँटयभ्यासस्योभयेषाम्' (५४६) से अभ्यास को सम्प्रसारण होकर उपधावृद्धि हो जाती है—विव्याच । अतुस् कित् है अत 'ग्रहिज्या०' से प्रथम सम्प्रसारण होकर बाद मे द्वित्व हो जाता है—विविचतुः । इसी प्रकार आगे भी कितो मे समझ लेना चाहिये । रूपमाला यथा—विव्याच, विविचतुः, विविचुः । विव्यचिथ, विविचथुः, विविच । विव्याच-विव्यच, विविचिव, विविचिम ।

लुँट्—व्यचिता, व्यचितारौ, व्यचितारः । लृँट्—व्यचिष्यति, व्यचिष्यतः, व्यचिष्यन्ति । लोँट्—विचतु-विचतात्, विचताम्, विचन्तु । लँङ्—अविचत् अविच-

ताम्, अविचन् । वि० लिङ्—विचेत्, विचेताम्, विचेयुः । आ० लिङ्—यासुट् के कित्त्व के कारण सम्प्रसारण हो जाता है—विच्यात्, विच्यास्ताम्, विच्यासुः । लुङ्—हलन्तलक्षणा वृद्धि का 'नेटि' (४७७) द्वारा निषेध होकर 'अतो हलादेर्लघोः' (४५७) से वृद्धि का विकल्प हो जाता है । वृद्धिपक्षे—अव्याचीत्, अव्याचिष्टाम्, अव्याचिषुः । वृद्ध्यभावे—अव्यचीत्, अव्यचिष्टाम्, अव्यचिषुः । लृङ्—अव्यचिष्यत्, अव्यचिष्यताम्, अव्यचिष्यन् ।

'व्यचेः कुटादित्वम् अनसि' यह वार्त्तिक महाभाष्य में ६.१.१७ सूत्र पर पढ़ा गया है । इस का अभिप्राय यह है कि अनस् (न अस्—अनस्, नञ्तत्पुरुषः) अर्थात् अस्प्रत्यय से भिन्न प्रत्यय के परे रहते व्यच् धातु का कुटादियों में परिगणन समझना चाहिये । व्यच् धातु धातुपाठ मे कुटादियों से मध्य में नही पढ़ी गई अपितु कुटादियों से बहुत पहले तुदादियों में आई है । 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' (५८७) सूत्र द्वारा कुटादि धातुओं से परे ञित्-णित् से भिन्न प्रत्यय ङिद्वत् होते हैं । इस वार्त्तिक से व्यच् धातु के कुटादियों में आ जाने से इस से परे भी ञित्-णित् से भिन्न प्रत्यय ङित् हो जायेंगे । ङित् होने से उन के परे रहते व्यच् को 'ग्रहिज्या०' (६३४) से सम्प्रसारण हो जायेगा । यथा—व्यच्+तृच्=विचिता, व्यच्+तुम्=विचितुम्, व्यच्+तव्य=विचितव्यम् आदि । अस्प्रत्यय परे होने पर व्यच् को कुटादियो में परिगणित नहीं किया जाता । यथा—उरुव्यचाः कण्टकः (उरुव्यचस्=बहुत विस्तृत कांटा), उरु विचतीति उरुव्यचाः ('वेधाः' की तरह प्रथमैकवचन) । यहां उरु उपपद रहते व्यच् धातु से 'मिथुनेऽसिः पूर्ववच्च सर्वम्' (उणादि० ६६२) इस औणादिक सूत्र से असिं प्रत्यय किया तो व्यच् के कुटादि न होने से उस से परे अस् प्रत्यय ङित् नहीं होता, अतः सम्प्रसारण नही होता ।

अब इस वार्त्तिक के प्रकाश मे यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि लुङ् में 'अव्यच्+इस्+ईत्' इस स्थिति में अस्भिन्न सिच् प्रत्यय के परे रहते यदि व्यच् को कुटादि समझा जाएगा तो सिच् के ङित् हो जाने से एक तरफ तो वृद्धि न हो सकेगी और दूसरी तरफ व्यच् को सम्प्रसारण होकर 'अविचीत्' रूप बनने लगेगा । इसी प्रकार लुट् में 'तास्' तथा लृट् में 'स्य' के ङित् हो जाने से सम्प्रसारण होकर 'विचिता, विचिष्यति' इस प्रकार अनिष्ट रूप बनने लगेंगे । इस शंका का समाधान करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

[लघु०] 'व्यचेः कुटादित्वम् अनसि' इति तु नेह प्रवर्त्तते, 'अनसि' इति पर्युदासेन कृन्मात्रविषयत्वात् ॥

**अर्थः**—'अस्भिन्न प्रत्यय परे होने पर व्यच् धातु को कुटादि समझना चाहिये'—यह वार्त्तिक यहां प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि 'अनसि' में पर्युदासप्रतिषेध होने से वह केवल अस्भिन्न कृत्प्रत्ययों में ही प्रवृत्त होता है ।

**व्याख्या**—वार्त्तिक के 'अनसि' पद में नञ्समास है । न अस्—अनस्, तस्मिन्

अनसि। यहा पर नञ् पर्युदासप्रतिषेध को प्रकट करता है, क्योंकि समास मे प्राय वही हुआ करता है। पर्युदासप्रतिषेध मे निषिध्यमान से भिन्न का ग्रहण होते हुए भी तत्सदृश पदार्थ ग्रहण किया जाता है। यथा किसी ने कहा—अब्राह्मणम् आनय (ब्राह्मण से भिन्न को लाओ), यहाँ ब्राह्मण से भिन्न पत्थर लकडी आदि भी हो सकते हैं परन्तु उन को नही लाया जाता अपितु ब्राह्मण से भिन्न उस जैसे किसी मनुष्य को ही लाया जाता है। वैसे यहाँ 'अनसि' मे भी समझना चाहिये। अस् प्रत्यय औणादिक होने से कृत्प्रत्ययो के अन्तर्गत आता है अत असुभिन्न प्रत्यय भी कोई कृत्प्रत्यय ही हो सकेगा। स्य, तास्, सिच् आदि कृत्प्रत्यय नहीं अत उन के परे रहते व्यच् को कुटादि नही समझा जायेगा। जब वह कुटादि नहीं होगा तो उस से परे वे प्रत्यय ङित् भी न होंगे अत उपर्युक्त कोई दोष प्रसक्त न होगा। प्रतिषेध दो प्रकार का होता है पर्युदास और प्रसज्य, इसका विस्तृत विवेचन प्रथमभाग मे (१८) सूत्र पर कर चुके हैं विशेषजिज्ञासु उसे वही देखें[1]।

[लघु०] उछिं उञ्छे ॥१६॥ उञ्छति। उञ्छ कणश आदानं कणिशाद्यर्जन शिलम्—इति यादव[2] ॥

अर्थ—उछिं (उञ्छ्) धातु 'अनाज के एक एक दाने को चुनना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—खेत के कट जाने पर जब भूस्वामी भूमि से सब अनाज उठा कर ले जा चुकते थे तब प्राचीन काल मे मुनि लोग उस अबाधितस्थान पर आकर अनाज के इधर उधर बिखरे एक एक दाने को अथवा अनाज की बालों को बटोर बटोर कर अपना निर्वाह करते थे। इसे ही शास्त्रो मे मुनिवृत्ति कहा गया है। अनाज के दानो का बीनना 'उञ्छ करना' तथा अनाज के कणिशो (बालो) का बीनना 'शिल करना' कहाता था। यही बात ऊपर यादव-प्रणीत धैंजयन्तीकोष के प्रमाण से कही गई है। उछिं का अन्त्य इकार उदात्तानुनासिक है अत उदात्तेत् होने से यह धातु

---

१ इस प्रकार के विवाद छात्रोपयोगी न समझ कर वरदराजजी प्राय लघुकौमुदी मे नहीं दिया करते। इस विवाद के उल्लेख का कारण ऐतिहासिक है। भट्टोजिदीक्षित से पहले श्रीरामचन्द्राचार्य-प्रणीत प्रक्रियाकौमुदी तथा श्रीबोपदेव-गोस्वामिप्रणीत मुग्धबोध व्याकरण का आबालवृद्ध खूब प्रचार हो चुका था। उन दोनों में 'अनसि' को प्रसज्यप्रतिषेध मान कर लुँट् मे 'विचिता' लृट् मे 'विचिष्यति' और लुँट् में 'अविचीत्' रूप बनाये गये थे। अत इन अशुद्ध रूपों का अत्यधिक प्रचार देखते हुए वरदराजजी को उनके खण्डन में कटिबद्ध होना पडा।

२ यादवप्रणीत धैंजयन्तीकोष के मुद्रितसस्करण में यह पाठ इस प्रकार पाया जाता है—उञ्छो धान्यस्य आदानं कणिशाद्यर्जन शिलम्।

परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में पठित न होने से सेट् है। इदित् होने के कारण इसे नुम् का आगम होकर अनुस्वार और परसवर्ण करने पर 'उञ्छ्' बन जाता है।

लँट्—उञ्छति, उञ्छतः, उञ्छन्ति। लिँट्—में 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (५११) से आम् प्रत्यय हो कर लिँट् का लुक् तथा कृ भू और अस् का अनुप्रयोग हो जाता है—(कृपक्षे) उञ्छाञ्चकार, उञ्छाञ्चक्रतुः, उञ्छाञ्चक्रुः। (भूपक्षे) उञ्छाम्बभूव, उञ्छाम्बभूवतुः, उञ्छाम्बभूवुः। (अस्पक्षे) उञ्छामास, उञ्छामासतुः, उञ्छामासुः। लुँट्—उञ्छिता, उञ्छितारौ, उञ्छितारः। लृँट्—उञ्छिष्यति, उञ्छिष्यतः, उञ्छिष्यन्ति। लोँट्—उञ्छतु-उञ्छतात्, उञ्छताम्, उञ्छन्तु। लँङ्—में आट् का आगम होकर वृद्धि हो जाती है—औञ्छत्, औञ्छताम्, औञ्छन्। वि० लिँङ्—उञ्छेत्, उञ्छेताम्, उञ्छेयुः। आ० लिँङ्—इदित् होने के कारण 'अनिदितां हलः०' (३३४) से उपधा के नकार का लोप नहीं होता—उञ्छ्यात्, उञ्छ्यास्ताम्, उञ्छ्यासुः। लुँङ्—औञ्छीत्, औञ्छिष्टाम्, औञ्छिषुः। मा भवान् उञ्छीत् (न माङ्योगे ४४१)। लृँङ्—औञ्छिष्यत्, औञ्छिष्यताम्, औञ्छिष्यन्।

उपसर्गयोग—प्र√उञ्छ्=पोंछना-मिटाना (विवेकप्रोञ्छनाय विषये रससेकः—नैषध० ५.३६)।

[लघु०] ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्त्तिभावेषु ॥१७॥ ऋच्छति। ऋच्छत्यृताम् (६१४) इति गुणः। द्विहल्ग्रहणस्याऽनेकहलुपलक्षणत्वान्नुट्। आनर्च्छ। आनर्च्छतुः। ऋच्छिता॥

अर्थः—ऋच्छ् धातु 'गमन करना, इन्द्रियों का बल नष्ट होना, कठिन या दृढ़ होना' अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। इस धातु का मूल रूप 'ऋछ्' है, 'छे च' (१०१) से छकार को तुक् का आगम होकर श्चुत्व करने से 'ऋच्छ्' बन जाता है।

लँट्—ऋच्छति, ऋच्छतः, ऋच्छन्ति।

लिँट्—'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (५११) सूत्र में 'अनृच्छः' कहने से यहां आम् नहीं होता। प्र० पु० के एकवचन में 'ऋच्छ्+अ' इस स्थिति में द्वित्व करने पर 'उरत्' (४७३) से अभ्यास के ऋकार को अत्, रपर, हलादिशेष और 'अत आदेः' (४४३) से अभ्यास के अत् को दीर्घ करने पर—आ+ऋच्छ्+अ। अब 'ऋच्छत्यृताम्' (६१४) से धातु के ऋकार को अर् गुण कर 'आ+अर् च् छ्+अ' इस स्थिति में 'तस्मान्नुड् द्विहलः' (४६४) से नुट् का आगम करना है, परन्तु यहाँ दो से अधिक तीन हल् (र्+च्+छ्) होने के कारण वह प्राप्त नहीं हो सकता। इस का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि सूत्र में 'द्वि' का कथन केवल दो हलों

के लिये ही नही अपितु एक से अधिक हलो के उपलक्षण[1] के लिये है, इस से तीन हलो के होने पर भी नुट् हो जायेगा—आ+न् अर्च्छ्+अ=आनर्च्छ[2]। इसी प्रकार 'आनर्च्छतु' आदि मे गुण तथा नुट् कर लेना चाहिये। रूपमाला यथा—आनर्च्छ, आनर्च्छतु, आनर्च्छु। आनर्च्छिथ, आनर्च्छथु, आनर्च्छ। आनर्च्छ, आनर्च्छिव, आनर्च्छिम।

लुँट्—ऋच्छिता, ऋच्छितारौ, ऋच्छितार। लृँट्—ऋच्छिष्यति, ऋच्छिष्यत, ऋच्छिष्यन्ति। लोँट्—ऋच्छतु-ऋच्छतात्, ऋच्छताम्, ऋच्छन्तु। लँङ्—आट् का आगम होकर वृद्धि हो जाती है[3]—आर्च्छत्, आर्च्छताम्, आर्च्छन्। वि० लिँङ्—ऋच्छेत्, ऋच्छेताम्, ऋच्छेयु। आ० लिँङ्—ऋच्छ्यात्, ऋच्छ्यास्ताम्, ऋच्छ्यासु। लुँङ्—आर्च्छीत्, आर्च्छिष्टाम्, आर्च्छिषु। लृँङ्—आर्च्छिष्यत्, आर्च्छिष्यताम्, आर्च्छिष्यन्।

उपसर्गयोग—सम्√ऋच्छ्=सगत होना (समृच्छते, सम्पूर्वक अकर्मक ऋच्छ् धातु से 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' १ ३ २९ सूत्र से आत्मनेपद हो जाता है)।

[लघु०] उज्झ उत्सर्गे ॥१८॥ उज्झति ॥

अर्थ—उज्झ (उज्झ्) धातु 'छोडना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणो से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तो मे परिगणित न होने से सेट् है। इस धातु का मूलरूप 'उद्झ्' है, श्चुत्व होकर 'उज्झ्' बन जाता है।

लँट्—उज्झति, उज्झत, उज्झन्ति। 'मनस्तु य नोज्झति जातु यातु मनोरथ कष्टपय कथ स' (नैषध ३ ५९)। लिँट्—मे 'इजादेश्च०' (५११) से आम् प्रत्यय हो जाता है—(कृपक्षे) उज्झाञ्चकार[4], उज्झाञ्चक्रतु, उज्झाञ्चक्रु। (भृपक्षे)

---

१ उपलक्ष्यते स्व स्वेतरत् चानेनेत्युपलक्षणम्। स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतर-प्रतिपादकत्वम् उपलक्षणत्वम्। निदर्शन या उदाहरण को 'उपलक्षण' कहते हैं। यथा—काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् (कौवो से दही बचाओ)—यहा 'काक' से तात्पर्य केवल कौवो से नहीं अपितु दही के विनाशक कुत्ते, बिल्ली, चोल आदि सब मे है। 'काक' पद तो मोटे तौर पर निदर्शनार्थ रखा गया है। इसी प्रकार यहा भी 'द्वि' शब्द एक से अधिक हलो को बतलाने के लिये रखा गया है केवल दो हलो से तात्पर्य नहीं।

२ 'ऋच्छाञ्चकार' इति क्वचिदुपलभ्यमान प्रयोगो 'गुरोश्च हल' (८९८) इत्यकारप्रत्ययान्ताद् ऋच्छाशब्दात् कर्मणि द्वितीयायाम्बोध्य।

३ पदान्त न होने से 'अत्यक' (६१) द्वारा ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव न हुआ।

४ सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झाञ्चकार—रघु० ५ ७५।

उज्झाम्बभूव, उज्झाम्बभूवतुः, उज्झाम्बभूवुः। (अस्पक्षे) उज्झामास, उज्झामासतुः, उज्झामासुः। लुंट्—उज्झिता, उज्झितारौ, उज्झितारः। लृट्—उज्झिष्यति, उज्झिष्यतः, उज्झिष्यन्ति। लोट्—उज्झतु-उज्झतात्, उज्झताम्, उज्झन्तु। लँङ्—औज्झत्, औज्झताम्, औज्झन्। वि० लिङ्—उज्झेत्, उज्झेताम्, उज्झेयुः। आ० लिङ्—उज्झ्यात्, उज्झ्यास्ताम्, उज्झ्यासुः। लुङ्—औज्झीत्, औज्झिष्टाम्, औज्झिषुः। लृङ्—औज्झिष्यत्, औज्झिष्यताम्, औज्झिष्यन्।

उपसर्गयोग—प्र√उज्झ्=छोड़ना, लाञ्छना (लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः—हितोप० १.२१)।

[लघु०] लुभ विमोहने ॥१६॥ लुभति ॥

अर्थः—लुभ (लुभ्) धातु 'मोहना, आकृष्ट करना, लुभाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है।

लँट्—लुभति, लुभतः, लुभन्ति। लिँट्—लुलोभ, लुलुभतुः, लुलुभुः। लुंट्—में धातु के सेट् होने से 'लुभ्+ता' इस स्थिति में नित्य इट् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से विकल्प का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६५७) तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः ।७।२।४८॥

इच्छत्यादेः परस्य तादेरार्धधातुकस्येड् वा स्यात्। लोभिता-लोब्धा। लोभिष्यति ॥

अर्थः—इष्, सह्, लुभ्, रुष् और रिष्—इन धातुओं से परे तकारादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम हो।

व्याख्या—ति ।७।१। इष-सह-लुभ-रुष-रिषः ।५।१। आर्धधातुकस्य ।६।१। इट् ।१।१। ('आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से)। वा इत्यव्ययपदम् ('स्वरतिसूति०' से)। 'ति' पद को विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त बना कर तदादिविधि कर ली जाती है। अर्थः—(इष-सह-लुभ-रुष-रिषः) इष्, सह्, लुभ्, रुष् और रिष् धातुओं से परे

---

१. विमोहनम् आकुलीकरणम् (लुभाना)। इस अर्थ में यह सकर्मक है। लोभनीया=आकर्षणीया (रघु० ६.५८), विलुभिताः केशाः, विलुभितः सीमन्तः, विलुभितानि पदानि (काशिका ७.२.५४) इत्यादियों में इसी धातु का प्रयोग हुआ है। 'लुभो विमोहने' (७.२.५४) सूत्र में भी इसी का ग्रहण है। पर कहीं कहीं इस का अकर्मकतया प्रयोग भी देखा जाता है, यथा—लुभति आत्मनि कामे च (कविकल्पद्रुम की टीका में दुर्गादास द्वारा हलायुध के नाम से उद्धृत)। 'लुभ्यति' आदि प्रसिद्ध प्रयोग दैवादिक 'लुभ गार्ध्ये' धातु के हैं। कथमिह 'परिलोभसे धनेन' (मृच्छ० ) ? भ्वादेरवृत्करणादिति ॥

(ति=त =तादे) तकारादि (आर्धधातुकस्य) आर्धधातुक का अवयव (इट्) इट् हो जाता है (वा) विकल्प से। 'इष्' से यहां तौदादिक और क्र्यादिक इष् का ही ग्रहण होता है दैवादिक का नहीं, जैसा कि महाभाष्य में वार्तिक पढ़ा गया है—इषेस्तकारे श्यन्प्रत्ययात् प्रतिषेध । इष्, सह् आदि सब धातुए सेट् हैं अत इन से परे तकारादि आर्धधातुक को नित्य इट् प्राप्त था, परन्तु अब इस सूत्र से विकल्प का विधान किया गया है। उदाहरण यथा—इष् (चाहना)—इष्+तृच्=एषिता, एष्टा। सह् (सहना)—सह्+तृच्=सहिता, सोढा (सहिवहोरोदवर्णस्य ५५१)। लुभ् (लुभाना)—लुभ्+तृच्=लोभिता, लोब्धा। रुष् (हिंसा करना)—रुष्+तृच्=रोषिता, रोष्टा। रिष् (हिंसा करना)—रिष्+तृच्=रेषिता, रेष्टा।

'लुभ्+ता' यहाँ पर 'तास्' यह तकारादि आर्धधातुक परे है अत प्रकृतसूत्र से इट् का विकल्प हो जाता है। इट् के पक्ष मे लघूपधगुण होकर—लोभिता। इट् के अभाव मे लघूपधगुण, 'झषस्तथोर्धोऽध' (५४६) से तकार को धकार तथा 'झलां जश्झशि' (१६) से धातु के भकार को जश्त्व बकार करने पर—लोब्धा। लुंट्—मे रूपमाला यथा—(इट्पक्षे) लोभिता, लोभितारौ, लोभितार। (इटोऽभावे) लोब्धा, लोब्धारौ, लोब्धार। लृट्—लोभिष्यति, लोभिष्यत, लोभिष्यन्ति। लोट्—लुभतु-लुभतात्, लुभताम्, लुभन्तु। लङ्—अलुभत्, अलुभताम्, अलुभन्। वि० लिङ्—लुभेत्, लुभेताम्, लुभेयु। आ० लिङ्—लुभ्यात्, लुभ्यास्ताम्, लुभ्यासु। लुङ्—में 'नेटि' (४७७) से वृद्धि का निषेध होकर लघूपधगुण हो जाता है—अलोभीत्, अलोभिष्टाम्, अलोभिषु। लृङ्—अलोभिष्यत्, अलोभिष्यताम्, अलोभिष्यन्।

[लघु०] तृप तृम्फ तृप्तौ ॥२०॥२१॥ तृपति। ततर्प। तर्पिता। अतर्पीत्॥

अर्थ—तृप् और तृम्फ् धातुए 'तृप्त होना या तृप्त करना' अर्थों मे प्रयुक्त होती हैं।

व्याख्या—दोनो धातु आत्मनेपद के लक्षणो से हीन होने के कारण परस्मैपदी तथा अनुदात्तो मे परिगणित न होने से सेट् हैं। ध्यान रहे कि अनुदात्तों मे परिगणित 'तृप्' धातु दिवादिगणीय है तभी तो श्यन् लगा कर 'तृप्य' इस प्रकार उस का निर्देश किया गया है। तृप् की रूपमाला यथा[1]—

लट्—तृपति, तृपत तृपन्ति। लिट्—ततर्प, ततृपतु, ततृपु। लुट्—तर्पिता, तर्पितारौ, तर्पितार। लृट्—तर्पिष्यति, तर्पिष्यत, तर्पिष्यन्ति। लोट्—तृपतु-तृपतात्, तृपताम्, तृपन्तु। लङ्—अतृपत्, अतृपताम्, अतृपन्। वि० लिङ्—तृपेत्, तृपेताम्,

---

१ तौदादिक तृप् धातु के प्रयोग लौकिक साहित्य मे अन्वेष्टव्य हैं। 'तृपत्सोमं पाहि इन्द्रविन्द्र' (ऋग्वेद २ ११ ५) मे इसी धातु का प्रयोग देखा जाता है।

तृपेषुः। आ० लिङ्—तृप्यात्, तृप्यास्ताम्, तृप्यासुः। लुङ्—अतर्पीत्[1], अतर्पिष्टाम्, अतर्पिषुः। लृङ्—अतर्पिष्यत्, अतर्पिष्यताम्, अतर्पिष्यन्।

तृम्फ् धातु[2] 'नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु' (पृष्ठ २५०) के अनुसार नकारोपध है। तृम्फ् के नकार को अनुस्वार और उसे परसवर्ण करने से 'तृम्फ्' बन जाता है। लँट् में शविकरण करने पर 'तृम्फ्+अ+ति' इस स्थिति में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से 'श' (अ) के ङित् होने से 'अनिदितां हल उपधायाः ङिति' (३३४) द्वारा उपधा के नकार का लोप हो जाता है[3]—तृफ्+अ+ति। अब यहाँ अग्रिम-वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(४२) शे तृम्फादीनां नुम् वाच्यः॥

आदिशब्दः प्रकारे, तेन येऽत्र नकाराऽनुपक्तास्ते तृम्फादयः[4]। तृम्फति। ततृम्फ। तृफ्यात्॥

अर्थः—शविकरण परे होने पर तृम्फ् आदि धातुओं को नुम् का आगम हो।

आदिशब्दः०—'तृम्फादि' पद में 'आदि' शब्द सादृश्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तृम्फादि अर्थात् तृम्फ् धातु तथा तत्सदृश उपधा में नकार वाली धातुएं।

व्याख्या—यह वार्त्तिक 'शे मुचादीनाम्' (६५४) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। तृम्फादि धातुओं का धातुपाठ में वृत्करण नहीं किया गया। यहां 'आदि' शब्द प्रकार अर्थात् सादृश्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तृम्फ् के साथ सादृश्य उपधा में नकारवत्ता के कारण है अतः 'तृम्फ्सदृश अर्थात् उपधा में नकार वाली तौदादिक धातुओं को नुम् का आगम हो शविकरण परे हो तो' यह अर्थ पर्यवसित होता है। तुदादिगण में गुम्फ्, गुम्भ्, उम्भ् प्रभृति अनेक धातु नकारोपध हैं। शविकरण में इन धातुओं का अपना नकार 'अनिदितां हलः०' (३३४) में लुप्त हो जाता है, तब इस

---

१. 'स्पृश-मृश-कृष-तृप०' (वा० ४२) इस वार्त्तिक में दैवादिक तृप् का ही ग्रहण होता है इस तृप् का नहीं, अतः इस से परे सिच् का वैकल्पिक विधान नहीं होता। दैवादिक तृप् से परे च्लि को सिच् और पक्ष में पुषादित्वाद् अङ् हो जाता है—अताप्सीत्, अतृपत्। यदि इस तौदादिक तृप् का भी वार्तिक में ग्रहण मानते हैं तो पक्ष में च्लि का श्रवण प्रसक्त होगा जो महाभाष्य के इस वचन से विरुद्ध है—च्लिः क्वापि न श्रूयते (महाभाष्य ३.१.४३)।

२. तृम्फ् धातु के प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं।

३. ध्यान रहे कि 'अनिदितां हलः०' (६.४.२४) की दृष्टि में धातु में हुए अनुस्वार (८.३.२४) और परसवर्ण (८.४.५७) दोनों असिद्ध हैं अतः उसे नकार ही दीखता है मकार नहीं।

४. नकारानुपक्ताः=नकारयुक्ताः। प्राचां मते नकारस्य 'अनुपङ्क' इति सञ्ज्ञा।

वार्तिक से दूसरा नकार आ कर अनुस्वार और परसवर्ण करने पर पुन वैसा रूप बन जाता है। ध्यान रहे कि विधानसामर्थ्य से इस आगन्तुक नकार का पुन लोप नहीं होता।

'तृफ्+अ+ति' यहा एकदेशविकृतन्याय से तृम्फ् धातु से परे श (अ) मौजूद है अत प्रकृतवार्तिक से नुम् का आगम होकर 'नश्चापदान्तस्य झलि (७८) से नकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य यमि परसवर्ण' (७६) से उसे परसवर्ण मकार करने पर 'तृम्फति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार लोट्, लङ् और विधिलिङ् मे प्रक्रिया समझनी चाहिये। रूपमाला यथा—

लट्—तृम्फति, तृम्फत, तृम्फन्ति। लिट्—ततृम्फ, ततृम्फतु[1], ततृम्फु। लुट्—तृम्फिता, तृम्फितारौ, तृम्फितार। लृट्—तृम्फिष्यति, तृम्फिष्यत, तृम्फिष्यन्ति। लोट्—तृम्फतु-तृम्फतात्, तृम्फताम्, तृम्फन्तु। लङ्—अतृम्फत्, अतृम्फताम्, अतृम्फन्। वि० लिङ्—तृम्फेत्, तृम्फेताम्, तृम्फेयु। आ० लिङ्—मे यासुट् के किन्वत् के कारण उपधा के नकार का लोप (३३४) हो जाता है, परन्तु 'स' विकरण परे न होने से पुन नुम् का आगम नहीं होता—तृफ्यात्, तृफ्यास्ताम्, तृफ्यासु। लुङ्—अतृम्फीत्, अतृम्फिष्टाम्, अतृम्फिषु। लृङ्—अतृम्फिष्यत्, अतृम्फिष्यताम्, अतृम्फिष्यन्।

[लघु०] मृड मृद सुखने ॥२२॥ ॥२३॥ मृडति। मृदति॥

अर्थ—मृड(मृड्) और मृद(मृद्)धातुए 'सुख देना' अर्थ में प्रयुक्त होती हैं[2]।

व्याख्या—ये दोनों धातु पूर्ववत् परस्मैपदी तथा अनुदात्तों मे परिगणित न होने से सेट् हैं। रूपमाला यथा—

लट्—मृडति, मृडत, मृडन्ति। लिट्—ममर्ड, ममृडतु, ममृडु। लुट्—मर्डिता, मर्डितारौ, मर्डितार। लृट्—मर्डिष्यति, मर्डिष्यत, मर्डिष्यन्ति। लोट्—मृडतु-मृडतात्, मृडताम्, मृडन्तु। लङ्—अमृडत्, अमृडताम्, अमृडन्। वि० लिङ्—मृडेत्, मृडेताम्, मृडेयु। आ० लिङ्—मृडषीष्, मृडषीस्ताम्, मृडषीरन्। लुङ्—अमर्डीत्, अमर्डिष्टाम्, अमर्डिषु। लृङ्—अमर्डिष्यत्, अमर्डिष्यताम्, अमर्डिष्यन्। इसी प्रकार मृद् की रूपमाला चलती है। लट्—मृदति। लिट्—ममर्द। लुट्—मर्दिता। लृट्—मर्दिष्यति। लोट्—मृदतु-मृदतात्। लङ्—अमृदत्। वि० लिङ्—

---

1 'तृम्फ्+अनुम्' मे सयोग से परे लिट् को किद्भाव नहीं होता (४१२) अत कित् परे न रहने से उपधा के नकार का लोप नहीं होता।

2 मृड् धातु वेद में (न नाथितो विन्दते मर्डितारम्—ऋग्वेद १० ३४ ३) तथा कुछ कुछ लोके भी प्रसिद्ध है यथा—अमृडित्वा सहस्राक्षम्—भट्टि० ७ ६७। परन्तु मृद् धातु का हमें कहीं प्रयोग नहीं मिला। कविकल्पद्रुम की व्याख्या मे दुर्गादास का 'मृदति दीन दाना' यह उदाहरण स्वकल्पित प्रतीत होता है।

पृडेत् । आ० लिँङ्—पृडधात् । लुंङ्—अपर्डीत् । लृँङ्—अर्पडिष्यत् ।

[लघु०] शुन गतौ ॥२४॥ शुनति ॥

अर्थः—शुन (शुन्) धातु 'गमन करना—जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों मे परिगणित न होने से सेट् है। रूपमाला यथा—

लँट्—शुनति, शुनतः, शुनन्ति । लिँट्—शुशोन, शुशुनतुः, शुशुनुः । लुँट्—शोनिता, शोनितारौ, शोनितारः । लृँट्—शोनिष्यति, शोनिष्यतः, शोनिष्यन्ति । लोँट्—शुनतु-शुनतात्, शुनताम्, शुनन्तु । लँङ्—अशुनत्, अशुनताम्, अशुनन् । वि० लिँङ्—शुनेत्, शुनेताम्, शुनेयुः । आ० लिँङ्—शुन्यात्, शुन्यास्ताम्, शुन्यासुः । लुंङ्—अशोनीत्, अशोनिष्टाम्, अशोनिषुः । लृँङ्—अशोनिष्यत्, अशोनिष्यताम्, अशोनिष्यन् ।

[लघु०] इषुँ इच्छायाम् ॥२५॥ इच्छति । एषिता-एष्टा । एषिष्यति । इष्यात् । ऐषीत् ॥

अर्थः—इषुँ (इष्) धातु 'इच्छा करना—चाहना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इस धातु का अन्त्य उकार उदात्त तथा अनुनासिक है अतः इत्सञ्ज्ञा कर लोप करने से 'इष्' मात्र अवशिष्ट रहता है। उदात्तेत् होने से यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों मे परिगणित न होने से सेट् है। तास् में 'तीषसहलुभरुषरिषः' (६५७) से इट् का विकल्प हो जाता है। इसे उदित् करने का प्रयोजन 'उदितो वा' (८८२) द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प करना है-एषित्वा-इष्ट्वा[2]।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में 'इष्+अ+ति' इस स्थिति में 'इषुगमियमां छः' (५०४) से पकार को छकार होकर 'छे च' (१०१) से तुक् का आगम तथा 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) से श्चुत्व करने पर 'इच्छति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् में प्रक्रिया होती है। लँट् मे रूपमाला यथा—इच्छति, इच्छतः, इच्छन्ति ।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में द्वित्व, हलादिशेष तथा लघूपधगुण किया तो

---

१. इस धातु के प्रयोग अन्वेषणीय है। शुनक (कुत्ता) शब्द इसी धातु से बना है। श्वन् (कुत्ता) शब्द की उत्पत्ति 'टुओँश्वि गतिवृद्धयोः' से हुई है।

२. परन्तु क्त्वा में इट् का विकल्प तो 'तीषसहः' (६५७) से ही सिद्ध है। अतः 'इषुगमियमां छः' (५०४) में इसी का ग्रहण हो अन्यगणीय का नहीं इसलिये यहां उदित्करण किया गया है पर ७.२.४८ का महाभाष्य देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस का उदित्करण अनार्ष है। भाष्य के अनुसार 'इषुगमियमां छः' सूत्र को 'इषगमियमां छः' पढ़ना चाहिये।

'इ+एए+अ' हुआ। अब असवर्ण अच् परे रहने 'अभ्यासस्यासवर्णे' (५७६) सूत्र से अभ्यास के इकार को इयँङ् आदेश करने पर 'इयेष' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार थल् मे—इयेषिथ। अतुस् मे 'इ+इए्+अतुस्' इस स्थिति मे अतुस् के ङित्व के कारण लघूपधगुण नहीं होता, अत असवर्ण परे न रहने से इयँङादेश भी नहीं होता, सवर्णदीर्घ होकर—ईषतु। रूपमाला यथा—इयेष, ईषतु, ईषु। इयेषिथ, ईषथु, ईष। इयेष, ईषिव, ईषिम।

लुँट्—मे 'लोपमह०' से इट् का विकल्प हो जाता है। (इट्पक्षे) एषिता, एषितारौ, एषितार। (इटोऽभावे) एष्टा, एष्टारौ, एष्टार।

लृँट्—एषिष्यति, एषिष्यत, एषिष्यन्ति। लाँट्—इच्छतु-इच्छतात्, इच्छताम्, इच्छन्तु। लँङ्—आट् का आगम होकर वृद्धि हो जाती है—ऐच्छत्, ऐच्छताम्, ऐच्छन्। वि० लिँङ्—इच्छेत्, इच्छेताम्, इच्छेयु। आ० लिँङ्—इष्यात्, इष्यास्ताम्, इष्यासु। लुँङ्—मे 'नेटि' (४७७) से वृद्धि का निषेध होकर लघूपधगुण हो जाता है—एषीत्, अब आट् का आगम और वृद्धि करने से—ऐषीत्, ऐषिष्टाम्, ऐषिषु। ऐषी, ऐषिष्टम्, ऐषिष्ट। ऐषिषम्, ऐषिष्व, ऐषिष्म। लृँङ्—ऐषिष्यत्, ऐषिष्यताम्, ऐषिष्यन्।

[लघु०] कुट कौटिल्ये ॥२६॥ गाङ्कुटादि० (५८७) इति ङित्त्वम्—चुकुटिथ। चुकोट-चुकुट। कुटिता॥

अर्थ—कुट (कुट्) धातु 'टेढा होना, टेढा करना, कुटिलता करना, धोखा देना' अर्थों में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तो में परिगणित न होने से सेट् है। इस धातु के तिङन्त प्रयोग साहित्य में क्वचित् ही मिलते हैं। इस से बने 'कुटिल, कुटी, कोट, कौटिल्य' आदि अनेक शब्द प्रसिद्ध हैं। व्याकरणप्रक्रिया मे तुदादिगण के अन्तर्गत कुटादिगण की प्रथम धातु होने के कारण यह अत्यन्त प्रसिद्ध है[1]। 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' (५८७) सूत्र द्वारा ञित्-णित् से भिन्न प्रत्यय ङिदवत् हो जाते हैं अत उन के परे रहते लघूपधगुण आदि नहीं होता।

लँट्—कुटति, कुटत, कुटन्ति।

लिँट्—मे थल् प्रत्यय के णित् होने के कारण 'गाङ्कुटादि०' (५८७) से ङिदद्भाव नहीं होता, लघूपधगुण होकर—चुकोट। अतुस् आदि स्वत ङित् (४५२) हैं अत गुण नहीं होता—चुकुटतु। थल् प्रत्यय ञित्-णित्-भिन्न होने के कारण ङित् हो जाता है—चुकुटिथ। उ० पु० का वल 'असंयोगाल्लिट्' (४५६) से विकल्प करके

---

१ धातुपाठ में लगभग ४२ धातु कुटादियों के अन्तर्गत पढ़ी गई हैं, परन्तु यहा लघुकौमुदी मे कुट्, पुट्, स्फुट्, स्फुर्, स्फुल और णू इन छ धातुओं का ही वर्णन किया गया है।

णित् होता है अतः णित्त्वपक्ष मे ङिद्वद्भाव के न होने से गुण हो जाता है—चुकोट। णित्त्व के अभाव मे ङिद्वद्भाव हो जाने से—चुकुट। रूपमाला यथा—चुकोट, चुकुटतुः, चुकुटुः। चुकुटिथ, चुकुटथुः, चुकुट। चुकोट-चुकुट, चुकुटिव, चुकुटिम।

लुँट्—में ताम् के ङिद्वत् हो जाने से लघूपधगुण नहीं होता—कुटिता, कुटितारौ, कुटितारः। लृँट्—मे भी स्य के ङिद्वद्भाव के कारण लघूपधगुण नहीं होता—कुटिष्यति, कुटिष्यतः, कुटिष्यन्ति। लोँट्—कुटतु-कुटतात्, कुटताम्, कुटन्तु। लँङ्—अकुटत्, अकुटताम्, अकुटन्। वि० लिँङ्—कुटेत्, कुटेताम्, कुटेयुः। आ० लिँङ्—कुटचात्, कुटचास्ताम्, कुटचासुः।

लुँङ्—में 'नेटि' (४७७) द्वारा हलन्तलक्षणा वृद्धि का निषेध स्वतः सिद्ध है, सिँच् के ङिद्वद्भाव के कारण लघूपधगुण भी नही होता—अकुटीत्, अकुटिष्टाम्, अकुटिषुः। लृँङ्—अकुटिष्यत्, अकुटिष्यताम्, अकुटिष्यन्।

उपसर्गयोग—सम् √कुट् = निश्चेष्ट होना (केचित् सञ्चुकुटुर्भीताः—भट्टि० १४.१०५, निष्प्रयत्नाः स्थिता इति जयमङ्गला)।

[लघु०] पुट संश्लेषणे ॥२७॥ पुटति। पुटिता॥

अर्थ—पुट (पुट्) धातु 'आलिङ्गन करना या मिलाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा सेट् है। कुटादिगर्गत होने के कारण इस से परे भी ञित्-णित् से भिन्न प्रत्यय ङिद्वत् होते हैं। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया कुट् धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—

लँट्—पुटति, पुटतः, पुटन्ति। लिँट्—पुपोट, पुपुटतुः, पुपुटुः। पुपुटिथ, पुपुटथुः, पुपुट। पुपोट-पुपुट, पुपुटिव, पुपुटिम। लुँट्—पुटिता, पुटितारौ, पुटितारः। लृँट्—पुटिष्यति, पुटिष्यतः, पुटिष्यन्ति। लोँट्—पुटतु-पुटतात्, पुटताम्, पुटन्तु। लँङ्—अपुटत्, अपुटताम्, अपुटन्। वि० लिँङ्—पुटेत्, पुटेताम्, पुटेयुः। आ० लिँङ्—पुटचात्, पुटचास्ताम्, पुटचासुः। लुँङ्—अपुटीत्, अपुटिष्टाम्, अपुटिषुः। लृँङ्—अपुटिष्यत्, अपुटिष्यताम्, अपुटिष्यन्।

[लघु०] स्फुट विकसने ॥२८॥ स्फुटति। स्फुटिता॥

अर्थः—स्फुट (स्फुट्) धातु 'विकसित होना या खिलना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2]।

---

१. इस धातु के तिङन्तप्रयोग अन्वेषणीय हैं। 'ओष्ठचौ परिपुटचेते' यह सुश्रुत का वचन कहा जाता है। करपुट, नासापुट, पत्रपुट (दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयम्—रघु० २.६५), पुटपाक आदियों में 'पुट' शब्द इसी धातु से बना है। पोटली, पुड़िया आदि हिन्दीशब्द भी इसी से बने प्रतीत होते हैं।

२. इस धातु का 'फटना-फूटना' अर्थ भी हुआ करता है वह भी एक प्रकार

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी, सेट् तथा कुटादिगर्गत है। इस की समग्र प्रक्रिया कुट्धातुवत् होती है—

लँट्— स्फुटति, स्फुटत, स्फुटन्ति। लिँट्—मे 'शर्पूर्वा खय' (६४८) से अभ्यास का खय्-फकार शेष रहता है पुन 'अभ्यासे चर्च'(३६६) द्वारा उसे चर्त्व-पकार हो जाता है—पुस्फोट, पुस्फुटतु, पुस्फुटु। लुँट्—स्फुटिता, स्फुटितारौ, स्फुटितार। लृँट्—स्फुटिष्यति, स्फुटिष्यत, स्फुटिष्यन्ति। लोँट्—स्फुटतु-स्फुटतात्, स्फुटताम्, स्फुटन्तु। लँङ्—अस्फुटत्, अस्फुटताम्, अस्फुटन्। वि० लिँङ्—स्फुटेत्, स्फुटेताम्, स्फुटेयु। आ० लिँङ्—स्फुटधात्, स्फुटधास्ताम्, स्फुटध्वम्। लुँङ्—अस्फुटीत्, अस्फुटिष्टाम्, अस्फुटिषु। लृँङ्—अस्फुटिष्यत्, अस्फुटिष्यताम्, अस्फुटिष्यन्।

उपसर्गयोग—इसी अर्थ मे प्र और वि उपसर्गों के साथ इस का बहुधा प्रयोग देखा जाता है—प्रस्फुटति, विस्फुटति।

[लघु०] स्फुर स्फुल सञ्चलने ॥२६॥३०॥ स्फुरति। स्फुलति॥

अर्थ—स्फुर (स्फुर्) और स्फुल (स्फुल्) धातुओ का 'हिलना-डुलना, स्पन्दित होना, नेत्रादि का फडकना, चेष्टा करना, प्रकाशित होना, भासना-झलकना, कापना' आदि अर्थों मे प्रयोग होता है[1]।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण दोनों धातुए परस्मैपदी तथा अनुदात्तों मे परिगणित न होने से सेट् हैं। कुटादि होने से दोनों धातुओं से परे ञित्-णित्-भिन्न प्रत्यय ङित् हो जाते हैं अत दोनों की रूपमाला कुट्धातुवत् चलती है—(स्फुर्)

लँट्—स्फुरति, स्फुरत, स्फुरन्ति। लिँट्—पुस्फोर (६४८), पुस्फुरतु, पुस्फुरु। लुँट्—स्फुरिता, स्फुरितारौ, स्फुरितार। लृँट्—स्फुरिष्यति, स्फुरिष्यत, स्फुरिष्यन्ति। लोँट—स्फुरतु-स्फुरतात्, स्फुरताम्, स्फुरन्तु। लँङ्—अस्फुरत्, अस्फुरताम्, अस्फुरन्। वि० लिँङ्—स्फुरेत्, स्फुरेताम्, स्फुरेयु। आ० लिँङ्—मे 'हलि च' (६१२) से रेफान्त धातु की उपधा को दीर्घ हो जाता है—स्फूर्यात्, स्फूर्यास्ताम्, स्फूर्यासु। लुँङ्—अस्फुरीत्, अस्फुरिष्टाम्, अस्फुरिषु। लृँङ्—अस्फुरिष्यत्, अस्फुरिष्यताम्, अस्फुरिष्यन्।

---

का विकसन ही होता है। यथा—हा हा देवि! स्फुटति हृदय खलते देहबन्ध (उत्तर०३ ३८), तेन स्वान्त स्फुटति चटुल हन्त भाव्य न जाने (कस्यचित्)।

१ फडकना यथा—शान्तमिदमाश्रमपद स्फुरति च बाहु कुत फलमिहास्य (शाकुन्तल १ १६)। कापना यथा—स्फुरदधरनासापुटतया (उत्तररामा० १ २६)। प्रकाशित होना यथा—मुखात् स्फुरन्तीं को हर्तुमिच्छति हरे परिभूय दंष्ट्राम् (मुद्रा० १ ८)। शोभित होना यथा—स्फुरति कुचकुम्भयोरुपरि मणिमञ्जरी (गीतगो० १० ६)। स्फूर्ति, स्फुरण, स्फुलिङ्ग आदि शब्द इन्ही धातुओ से बने हैं।

स्फुल्—(लँट्) स्फुलति। लिँट्—पुस्फोल, पुस्फुलतुः, पुस्फुलुः। लुँट्—स्फुलिता। लृँट्—स्फुलिष्यति। लोँट्—स्फुलतु-स्फुलतात्। लँङ्—अस्फुलत्। वि० लिँङ्—स्फुलेत्। आ० लिँङ्—स्फुल्यात्[1]। लुँङ्—अस्फुलीत्। लृँङ्—अस्फुलिष्यत्।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा कुछ विशिष्ट उपसर्गों के योग में स्फुर् और स्फुल् को षत्व विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— ( ६५८ ) स्फुरति-स्फुलत्योर्निर्निविभ्यः। ८।३।७६॥

षत्वं वा स्यात्। निःष्फुरति, निःस्फुरति॥

**अर्थः**—निर्, नि अथवा वि उपसर्ग से परे स्फुर् और स्फुल् धातुओं के सकार को विकल्प से षकार आदेश हो।

**व्याख्या**—स्फुरति-स्फुलत्योः।६।२। निर्-नि-विभ्यः।५।३। सः।६।१। ('सहेः साडः सः' से)। मूर्धन्यः।१।१। ('अपदान्तस्य मूर्धन्यः' से)। वा इत्यव्ययपदम् ('सिवादीनां वाड्०' से)। अर्थः—(निर्-नि-विभ्यः) निर् नि अथवा वि उपसर्ग से परे (स्फुरति-स्फुलत्योः) स्फुर् और स्फुल् के अवयव (सः) सकार के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धन्य आदेश हो जाता है (वा) विकल्प से। ईषद्विवृत सकार के स्थान पर आन्तरतम्य से मूर्धन्य षकार ही आदेश होता है।

'निस्+स्फुरति' यहां निस् के सकार को रुँत्व-विसर्ग होकर या निर् उपसर्ग के रेफ को ही विसर्ग होकर 'निः+स्फुरति' इस दशा में प्रकृतसूत्र से स्फुर् धातु के सकार को विकल्प से षकार करने पर 'निःष्फुरति, निःस्फुरति' दो रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार—निष्फुरति-निस्फुरति; विष्फुरति-विस्फुरति; निःष्फुलति-निःस्फुलति; विष्फुलति-विस्फुलति आदि रूप समझने चाहियें। निस् या निर् की विसर्ग का **'खपरे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः'** वार्त्तिक से पाक्षिक लोप भी हो जाता है।

[लघु०] णू स्तवने॥३१॥ परिणूत-गुणोदयः। नुवति। नुनाव। नुविता॥

**अर्थः**—णू (नू) धातु 'स्तुति करना—प्रशंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है। यह धातु उदन्त नहीं, ऊदन्त है, तभी तो **'परिणूत-गुणोदयः'** प्रयोग में 'परिणूत' पद प्रयुक्त किया गया है[2]।

---

१. धातु के रेफान्त या वान्त न होने से **'हलि च'** (६१२) द्वारा उपधादीर्घ नहीं होता। **'रलयोरभेदः'** पाणिनीयव्याकरण में नहीं चलता। तभी तो मुनि ने **'अतो ऌरान्तस्य'** (७.२.२) में दोनों का ग्रहण किया है।

२. परिणूतः=स्तुतः गुणानाम् उदयो यस्येति बहुव्रीहिः। इस वचन का मूल हमें नहीं मिल सका। श्रीमद्भागवत (१.८.४) में इसी प्रकार का **'परिणूताखिलोदयः'** पाठ उपलब्ध होता है। शायद वह पाठ यहां भ्रष्ट हो गया हो। श्रीधरी-टीका में वहां 'दीर्घश्छन्दोऽनुरोधेन' लिखा है।

व्याख्या—णू धातु के णकार को 'णो न' (४५८) से नकार होकर 'नू' बन जाता है। ऊदन्त होने से यह धातु 'ऊदृदन्तै०' के अनुसार सेट् तथा आत्मनेपद के लक्षणो से हीन होने के कारण परस्मैपदी है। कुटादि होने के कारण इस मे भी 'गाङ्कुटादिभ्य०' (५८७) सूत्र की प्रवृत्ति होती है। आत्रेय आदि कुछ प्राचीन वैयाकरण इस धातु को ह्रस्वान्त (नु) पढते हैं (देखें इसी धातु पर माधवीयधातुवृत्ति)। परन्तु यह मत ठीक नही क्योकि 'गाङ्कुटादि०' (१ २ १) सूत्र के महाभाष्य मे स्पष्ट कहा है—तस्माद् नूत्वा धूत्वा इत्येव भवितव्यम्। इस से प्रमाणित होता है कि यह धातु दीर्घान्त ही है ह्रस्वान्त नही। लघुकौमुदीकार श्रीवरदराज ने इस की पुष्टि में किसी काव्य का वचन उद्धृत किया है। उन का आशय यह है कि धातु यदि ह्रस्वान्त होती तो क्तप्रत्यय मे 'श्वयुक क्ङिति' (६५०) द्वारा इण्निषेध होकर 'परिणुत' प्रयोग बनना चाहिये था न कि 'परिणूत'। परन्तु वहा 'परिणूत' के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह धातु दीर्घान्त ही है ह्रस्वान्त नही। यहा लकारों मे धातु को ह्रस्वान्त मानें या दीर्घान्त दोनों अवस्थाओ मे एक से रूप बनते हैं कोई अन्तर नही आता[1]—यह सोचकर वरदराज जी ने क्तान्त का उदाहरण दिया है किसी लकार का नही।

लँट्—मे 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा शविकरण के ङिद्वत् हो जाने से कहीं गुण नहीं होता, 'अचि श्नु०' (१९९) से सर्वत्र उवँङ् आदेश हो जाता है—नुवति, नुवत, नुवन्ति।

लिँट्—मे णल् के णित् होने से 'गाङ्कुटादिभ्य०' (५८७) से ङिद्भाव नहीं होता अत ऊकार को औकार वृद्धि तथा उसे आवादेश होकर—नुनाव। इसी प्रकार उ० पु० के णल् के णित्वपक्ष मे समझना चाहिये। अन्यत्र निर्बाध ङिद्भाव हो जाता है—नुनाव, नुनुवतु, नुनुवु। नुनुविथ, नुनुवथु, नुनुव। नुनाव-नुनुव, नुनुविव, नुनुविम।

लुँट्—नुविता, नुवितारौ, नुवितार। लृँट्—नुविष्यति, नुविष्यत, नुविष्यन्ति। लोँट्—नुवतु-नुवतात्, नुवताम्, नुवन्तु। लँङ्—अनुवत्, अनुवताम्, अनुवन्। वि० लिँङ्—नुवेत्, नुवेताम्, नुवेयु। आ० लिँङ्—नूयात्, नूयास्ताम्, नूयासु। लुँङ्—अनुवीत्, अनुविष्टाम्, अनुविषु। लृँङ्—अनुविष्यत्, अनुविष्यताम्, अनुविष्यन्।

---

१ क्योकि धातु के सेट् होने से वलादि आर्धधातुक प्रत्ययो मे सर्वत्र इट् का आगम होकर कुटादित्वात् ङित् होने से ह्रस्व या दीर्घ दोनों उकारों को उवँङ् आदेश करने पर 'नुविता, नुविष्यति' आदि एक से प्रयोग बन जाते हैं। आ० लिँङ् मे 'अकृत्सार्व०' (४८३) से दीर्घ होकर ह्रस्वान्त का भी 'नूयात्' प्रयोग बन सकता है। किञ्च लँट्, लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् मे भी शविकरण के ङित् होने से दोनो मे उवँङ् होकर एक समान रूप बनेगा।

**उपसर्गयोग**—धातु के णोपदेश होने के कारण 'परि+नूतः=परिणूतः इत्यादियों में 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (४५६) से णत्व हो जाता है।

(यहां पर लघुकौमुद्यन्तर्गत कुटादि धातु समाप्त होते है)।

[लघु०] **टुमस्जो शुद्धौ ॥ ३२ ॥** मज्जति । ममज्ज । **मस्जिनशोः० (६३६)** इति नुम् ।

**अर्थः**—टुमस्जो (मस्ज्) धातु 'शुद्ध होना—नहाना—डुबकी लगाना' आदि अर्थों में प्रयुक्त होती है।

**व्याख्या**—इस धातु के 'टु' की 'आदिर्ञिटुडवः' (४६२) से तथा अन्त्य ओकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। अतः उन दोनों का लोप कर 'मस्ज्' ही अवशिष्ट रहता है। 'टु' के इत् करने का प्रयोजन 'ट्वितोऽथुच्' (८५६) द्वारा अथुच् प्रत्यय करना है—मज्जथुः (स्नान)। ओदित् करने का प्रयोजन 'ओदितश्च' (८२०) द्वारा निष्ठा के तकार को नकार करना है—मग्नः, मग्नवान्। उदात्तेत् होने से यह धातु परस्मैपदी तथा जकारान्त अनुदात्तों में पठित होने से अनिट् है। लिट् में क्रादिनियम से इट् हो जाता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में श विकरण करने पर 'मस्ज्+अ+ति' इस स्थिति में 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) से सकार को शकार तथा 'झलां जश्झशि' (१६) से शकार को जश्त्व-जकार करने पर 'मज्जति' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—मज्जति, मज्जतः, मज्जन्ति।

लिँट्—में द्वित्व, हलादिशेष तथा पूर्ववत् श्चुत्व और जश्त्व होकर—ममज्ज, ममज्जतुः, ममज्जुः। थल् में भारद्वाजनियम से इट् का विकल्प हो जाता है। इट्पक्ष में—ममज्जिथ। इट् के अभाव में 'मस्ज्+थ' यहां 'मस्जिनशोर्झलि' (६३६) से मस्ज् को नुम् का आगम करना है। नुम् मित् है अतः 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (२४०) से वह अन्त्य अच् से परे होना चाहिये। परन्तु इस प्रकार करने से इष्ट रूप सिद्ध नहीं हो सकता। अतः इस के लिये अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] **वा०—(४३) मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम् वाच्यः ॥**

**संयोगादिलोपः (३०६)**— ममङ्क्थ-ममज्जिथ। मङ्क्तः। मङ्क्ष्यति। अमाङ्क्षीत्, अमाङ्क्तम्, अमाङ्क्षुः ॥

**अर्थः**—मस्ज् धातु के अन्त्य वर्ण अर्थात् जकार से पूर्व नुम् का आगम कहना चाहिये।

**व्याख्या**—इस वार्त्तिक से नुम् का आगम मस्ज् के अकार से परे न होकर उसके अन्त्य जकार से पूर्व अर्थात् सकार से परे हो जाता है—मस्नज्+थ। द्वित्व तथा हलादिशेष होकर—ममस्नज्+थ। **'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च'** (३०६) द्वारा

संयोग (सन्ज्) के आदि सकार का लोप करने पर—ममन्ज्+थ। अब 'ष्टुना ष्टुः' (२०६) सूत्र से जकार को टुत्व गकार, 'खरि च' (७४) से गकार को ककार तथा अपदान्त नकार को अनुस्वार-परसवर्ण करने पर 'ममङ्क्थ' प्रयोग सिद्ध होता है। लिट् में रूपमाला यथा—ममज्ज, ममज्जतु, ममज्जु। ममज्जिथ-ममङ्क्थ, ममज्जथु, ममज्ज। ममज्ज, ममज्जिव, ममज्जिम।

लुँट्—मे पूर्ववत् अन्त्य वर्ण से पूर्व नुम् का आगम होकर 'मस्न्ज्+ता' इस स्थिति मे संयोगादि सकार का लोप, टुत्व, चर्त्व तथा नकार को अनुस्वार और परसवर्ण करने पर—मङ्क्ता, मङ्क्तारौ, मङ्क्तार।

लृँट्—मे भी पूर्ववत् नुम् होकर 'मस्न्ज्+स्य+ति' इस स्थिति मे संयोगादिलोप, टुत्व, 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) से स्य के सकार को षकार, चर्त्व तथा अपदान्त नकार को अनुस्वार और परसवर्ण करने पर—मङ्क्ष्यति, मङ्क्ष्यतः, मङ्क्ष्यन्ति।

लोँट्—मज्जतु-मज्जतात्, मज्जताम्, मज्जन्तु। लेँट्—अमज्जत्, अमज्जताम्, अमज्जन्। वि० लिँङ्—मज्जेत्, मज्जेताम्, मज्जेयुः। आ० लिँङ्—मज्ज्यात्, मज्ज्यास्ताम्, मज्ज्यासुः।

लुँङ्—मे 'अमस्ज्+स्+ईत्' इस स्थिति मे नुम् का आगम तथा हलन्त-लक्षणा वृद्धि करने पर— अमास्न्ज्+स्+ईत्। अब संयोगादिलोप, टुत्व, षत्व, चर्त्व तथा नकार को अनुस्वार-परसवर्ण करने पर—अमाङ्क्षीत्। ताम् मे भी इसी तरह नुम् और वृद्धि होकर 'अमास्न्ज्+स्+ताम्' इस स्थिति मे 'झलो झलि' (४७८) से सकार का लोप, संयोगादिलोप, टुत्व, चर्त्व तथा नकार को अनुस्वार-परसवर्ण करने पर—अमाङ्क्ताम्। रूपमाला यथा—अमाङ्क्षीत्, अमाङ्क्षताम्, अमाङ्क्षुः। अमाङ्क्षीः, अमाङ्क्षतम्, अमाङ्क्त। अमाङ्क्षम्, अमाङ्क्ष्व, अमाङ्क्ष्म।

लृँङ्—अमङ्क्ष्यत्, अमङ्क्ष्यताम्, अमङ्क्ष्यन्।

उपसर्गयोग—उद्√मस्ज्=पानी से बाहर आना, उभरना, ऊपर आना (वन्य सरित्तो गज उन्मज्ज—रघु० ५ ४३)।

नि√मस्ज्=डूबना, अन्तर्लीन होना। कालिदास की उक्ति यथा—

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिम न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवाङ्कः॥

(कुमार० १ ३) की इस सुन्दर उक्ति पर किसी कवि की सुन्दर चुटकी यथा—

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोरिति यो बभाषे।
नूनं न दृष्टं कविनाऽपि तेन दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी॥

[लघु०] रुजोँ भङ्गे॥३३॥ रुजति। रोक्ता। रोक्ष्यति। अरौक्षीत्॥

अर्थ—रुजोँ (रुज्) धातु 'तोड़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

---

१ तोड़ना अर्थ यथा—नदी कूलानि रुजति (नदी किनारों को तोड़ती है,

**व्याख्या**—रुजो में अनुनासिक ओकार इत्सञ्ज्ञक है अतः लोप होकर 'रुज्' ही अवशिष्ट रहता है। उदात्तेत् होने से यह धातु परस्मैपदी तथा जकारान्त अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र (थल् में भी) इट् हो जाता है। धातु को ओदित् करने का प्रयोजन 'ओदितश्च' (८२०) द्वारा निष्ठा में तकार को नकार करना है—रुग्णः, रुग्णवान्।

लँट्—रुजति, रुजतः, रुजन्ति। लिँट्—रुरोज, रुरुजतुः, रुरुजुः। रुरोजिथ, रुरुजथुः, रुरुज। रुरोज, रुरुजिव, रुरुजिम। लुँट्—रोक्ता, रोक्तारौ, रोक्तारः। लृँट्—रोक्ष्यति, रोक्ष्यतः, रोक्ष्यन्ति। लोँट्—रुजतु-रुजतात्, रुजताम्, रुजन्तु। लँङ्—अरुजत्, अरुजताम्, अरुजन्। वि० लिँङ्—रुजेत्, रुजेताम्, रुजेयुः। आ० लिँङ्—रुज्यात्, रुज्यास्ताम्, रुज्यासुः। लुँङ्—में हलन्तलक्षणा वृद्धि होकर कुत्व पत्व और चर्त्व हो जाते हैं—अरौक्षीत्, अरौक्ताम् (झलो झलि), अरौक्षुः। लृँङ्—अरोक्ष्यत्, अरोक्ष्यताम्, अरोक्ष्यन्।

[लघु०] भुजोँ कौटिल्ये ॥३४॥ रुजिवत् ॥

**अर्थः**—भुजोँ (भुज्) धातु 'टेढ़ा करना, मरोड़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

**व्याख्या**—यह धातु भी 'रुजोँ भङ्गे' धातु की तरह ओदित्, परस्मैपदी तथा अनिट् है। ओदित् करने का फल भी पूर्ववत् 'ओदितश्च' (८२०) द्वारा निष्ठा के तकार को नकार करना है—भुग्नः, भुग्नवान्। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया वा रूपमाला रुज्धातु की तरह होती है—

लँट्—भुजति, भुजतः, भुजन्ति। लिँट्—बुभोज, बुभुजतुः, बभुजुः। लुँट्—भोक्ता, भोक्तारौ, भोक्तारः। लृँट्—भोक्ष्यति, भोक्ष्यतः, भोक्ष्यन्ति। लोँट्—भुजतु-भुजतात्, भुजताम्, भुजन्तु। लँङ्—अभुजत्, अभुजताम्, अभुजन्। वि० लिँङ्—भुजेत्, भुजेताम्, भुजेयुः। आ० लिँङ्—भुज्यात्, भुज्यास्ताम्, भुज्यासुः। लुँङ्—अभौक्षीत्, अभौक्ताम्, अभौक्षुः। लृँङ्—अभोक्ष्यत्, अभोक्ष्यताम्, अभोक्ष्यन्।

**उपसर्गयोग**—विभुजति=मर्दन करता है, लताड़ता है (**मूलानि विभुजति**=**विमर्दयतीति मूलविभुजो रथः**—देखें ३.२.५ पर वार्त्तिक)।

---

महाभाष्य २.३.५४); **वायु-रुग्णान्**—वायुना भग्नान् (रघु० ९.६३ पर मल्लिनाथ)। 'तोड़ना' के लाक्षणिक अर्थ—दुःख देना, सताना, रोगयुक्त करना आदि भी यहां ग्रहण किये जाते हैं, यथा—**रावणस्येह रोक्ष्यन्ति कपयो भीमविक्रमाः** (भट्टि० ८.१२०), **तस्य धर्मरते रोगा न रुजन्ति प्रजामपि** (हलायुधवचन, श्रीदुर्गादास द्वारा कविकल्पद्रुम में उद्धृत)। इस धातु की विशेष चर्चा 'रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः' (२.३.५४) सूत्र पर देखनी चाहिये। रोग, रुज्, रुजा आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं।

१. प्रयोग यथा—**भुजति लतां वायुः** (दुर्गादास)। **पीने भटस्योरसि बोध्य भुग्नान्** (भट्टि० ११. ८; भुग्नान्=कुञ्चितान् इति जयमङ्गला)।

[लघु०] विश प्रवेशने ॥३५॥ विशति ॥

अर्थ—विश (विश्) धातु 'प्रवेश करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु पूर्ववत् परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिंट् में कादिनियम से सर्वत्र (पत् में भी) इट् हो जाता है—

लँट्—विशति, विशतः, विशन्ति। लिंट्—विवेश, विविशतुः, विविशुः। लुंट्—में लघूपधगुण होकर 'अदभ्रस्व०' (३०७) से षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से ष्टुत्व हो जाता है—वेष्टा, वेष्टारौ, वेष्टारः। लृंट्—में लघूपधगुण तथा षत्व करने पर 'षढो० क सि' (५४८) से षकार को ककार और 'आदेशप्रत्यययो०' (१५०) से स्य के सकार को षकार हो जाता है—वेक्ष्यति, वेक्ष्यतः, वेक्ष्यन्ति। लोंट्—विशतु-विशतात्, विशताम्, विशन्तु। लँङ्—अविशत्, अविशताम्, अविशन्। वि० लिंङ्—विशेत्, विशेताम्, विशेयुः। आ० लिंङ्—विक्षीष्ट, विक्षीयास्ताम्, विक्षीरन्। लुंङ्—में 'शल इगुप०' (५६०) से च्लि को क्स (स) आदेश होकर षत्व, कत्व, तथा क्स के सकार को भी षत्व हो जाता है—अविक्षत्, अविक्षताम्, अविक्षन्। लृँङ्—अवेक्ष्यत्, अवेक्ष्यताम्, अवेक्ष्यन्।

उपसर्गयोग—प्र+√विश्=प्रवेश करना (न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगा—हितोप० प्रस्तावना ३७)।

उप√ विश्=बैठना (इहाऽऽसन उपविशन्तु भवन्तः, उपवेश्य तु तान् विप्रानासनेष्वङ्गुप्सितान्—मनु० ३ २०६)।

आ√विश्=प्राप्त करना (शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च। दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्—हितोप० १ ३)।

उप+आ√विश्=बैठना (रथोपस्थ उपाविशत्—गीता १ ४७)।

नि√विश्=प्रविष्ट होना—चुभना [निविशते यदि शुक्तिशिला पदे—नैषध ४ ११; यहा पर 'नेर्विशः' (७३३) से आत्मनेपद हो जाता है]।

अभि+नि√विश्=आग्रह रखना, प्रवेश करना, कदम रखना आदि [अभिनिविशते सम्मार्गम्—सि० कौ०, अथ तावत्तेष्वादभिनिविशते सेवकजनम्—मुद्रा० ५, संप्रति धन्या गणिकादारिका यामेव भवन्मनोऽभिनिविशते—दश०कुमार० ५७, 'अभिनिविशश्च' (१ ४ ४७) से इस के आधार कारक की कर्मसंज्ञा हो जाती है]।

सम्√विश्=मैथुन करना (सकर्मक, तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्—मनु० ३ ४८)। शयन करना (नाश्नीयान् संविवेलायां न सन्ध्येष्वादि संविशेत्—मनु० ४ ५५)।

अनु+प्र√विश्=अनुसरण करना (अनुप्रविश्य मेधावी शिष्यमात्मवशं नयेत्—हितोप० २ ५४)।

निर्√विश्=भोगना—अनुभव करना (एवमिन्द्रियमुक्तानि निर्विशन्नात्मकर्मभिः। विमुक्त स पार्थिव—रघु० १६ ४७)।

[लघु०] **मृश आमर्शने ॥३६॥** आमर्शनं स्पर्शः। **अनुदात्तस्य चर्दुपधस्याऽन्यतरस्याम् (६५३)**—अम्राक्षीत्-अमार्क्षीत्, अमृक्षत् ॥

**अर्थः**—मृश (मृश्) धातु 'छूना—स्पर्श करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

**व्याख्या**—आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिट् में क्रादिनियम से सर्वत्र (थल् में भी) इट् हो जाता है।

लँट्—मृशति, मृशतः, मृशन्ति। लिँट्—ममर्श, ममृशतुः ममृशुः। ममर्शिथ, ममृशथुः, ममृश। ममर्श, ममृशिव, ममृशिम। लुंट्—में धातु के अनिट् होने से इट् का निषेध होकर 'मृश्+ता' इस स्थिति में झलादि प्रत्यय परे होने के कारण 'अनुदात्तस्य चर्दुप०' (६५३) द्वारा विकल्प से अम् का आगम, अनुबन्धलोप तथा 'इको यणचि' (१५) से ऋकार को रेफ आदेश करने से—अर्श्+ता। अव 'अश्चभ्रस्ज०' (३०७) से षत्व और अन्त में ष्टुत्व करने पर 'अर्ष्टा' रूप बनता है। अम् के अभाव में लघूपधगुण, षत्व और ष्टुत्व करने पर—मर्ष्टा। रूपमाला यथा—(अम्पक्षे) अर्ष्टा, अर्ष्टारौ, अर्ष्टारः।(अमोऽभावे) मर्ष्टा, मर्ष्टारौ, मर्ष्टारः। लृँट्—में भी पूर्ववत् विकल्प से अम् आगम, अम्पक्ष में यण्, षत्व, 'षढोः कः सि' (५४८) से षकार को कत्व तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से स्य के सकार को षकार करने पर—अर्क्ष्यति। अम् के अभाव में लघूपधगुण होकर—मर्क्ष्यति। रूपमाला यथा—(अम्पक्षे) अर्क्ष्यति, अर्क्ष्यतः, अर्क्ष्यन्ति। (अमोऽभावे) मर्क्ष्यति, मर्क्ष्यतः, मर्क्ष्यन्ति। लोँट्—मृशतु-मृशतात्, मृशताम्, मृशन्तु। लँङ्—अमृशत्, अमृशताम्, अमृशन्। वि० लिँङ्—मृशेत्, मृशेताम्, मृशेयुः। आ० लिँङ्—मृक्षीत्, मृक्षीस्ताम्, मृक्षीसुः। लुंङ्—में 'स्पृश-मृश-कृष०' (वा० ४२) वार्त्तिक द्वारा क्स का बाध कर च्लि के स्थान पर वैकल्पिक सिच् आदेश हो जाता है। सिच्पक्ष में अम् का विकल्प तथा यण् आदेश होकर—अम्रर्श्+स्+ईत्। अव हलन्तलक्षणा वृद्धि, षत्व, कत्व तथा उस से परे सिच् के सकार को भी षत्व करने से—अम्राक्षीत्। अम् के अभाव में वृद्धि होकर—अमार्क्षीत्। सिच् के अभाव में 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (५९०) से च्लि को क्स आदेश हो जाता है। क्स के कित् होने से अम् का आगम नहीं होता। इसी प्रकार लघूपधगुण का भी निषेध हो जाता है[1]—अमृक्षत्। रूपमाला यथा—(सिच्पक्षे) अमागमे—अम्राक्षीत्, अम्राक्ष्टाम्, अम्राक्षुः। अम्राक्षीः, अम्राक्ष्टम्, अम्राक्ष्ट। अम्राक्षम्, अम्राक्ष्व, अम्राक्ष्म। अमोऽभावे—अमार्क्षीत्, अमार्ष्टाम्, अमार्क्षुः। अमार्क्षीः, अमार्ष्टम्, अमार्ष्ट। अमार्क्षम्, अमार्क्ष्व, अमार्क्ष्म। (क्सपक्षे) अमृक्षत्, अमृक्षताम्, अमृक्षन् आदि। लृँङ्—(अम्पक्षे) अम्रक्ष्यत्, अम्रक्ष्यताम्, अम्रक्ष्यन्। (अमोऽभावे) अमर्क्ष्यत्, अमर्क्ष्यताम्, अमर्क्ष्यन्।

---

१. ध्यान रहे कि हलन्तलक्षणा वृद्धि सिच् परे होने पर ही हुआ करती है अतः यहां उसका प्रसङ्ग नहीं।

उपसर्गयोग—वि√मृश्=भली भांति विचार करना (वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धा स्वयमेव सम्पदः—किरात० १ ३०, इति विमृशन्त सन्त सन्तप्यन्ते न विप्लुता लोके—नीति० ७६)।

परा√मृश्=छूना-स्पर्श करना (परामृशन् हर्षजडेन पाणिना—रघु० ३ ६८), सोचना-विचारना-चिन्ता करना (किमवितेति सशङ्कं पङ्कजनयना परामृशति—भामिनी० २ ५३), ध्यान करना—स्तुति करना (ग्रन्थारम्भे इष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति—काव्यप्रकाश १), व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान परामर्श—तर्कसंग्रह।

आ√मृश्=छूना (शरासनज्यां मुहुराममर्श—कुमार० ३ ६४), आक्रमण करना (आमृष्ट न परं पदम्—कुमार० २ ३१)।

अभि√मृश्=अनैतिक व्यभिचार करना (परदाराभिमर्शेषु—मनु० ८ ३५२)।

[लघु०] षद्लृ विशरण-गत्यवसादनेषु ॥३७॥ सीदतीत्यादि ॥

अर्थ—षद्लृ (सद्) धातु 'विशीर्ण होना, जाना, नाश होना' अर्थों में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—इस धातु के आदि षकार को 'धात्वादेः ष सः' (२५५) से सकार हो जाता है। इस का अन्त्य लृकार उदात्त तथा अनुनासिक होने से इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है। उदात्तेत् होने से यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प। लृदित् होने से लुङ् में च्लि को अङ् आदेश हो जाता है।

---

१ विशरणम् अवयवानां विश्लेषः, अवसादनं नाशः इति ज्ञानेन्द्रस्वामी। अवसादनं विषादः आकुलीभावः इति दुर्गादासो रामतारणः शिरोमणिश्च। अवसादोऽनुत्साहः (शिथिल होना)—इति क्षीरस्वामी। इस धातु के कुछ प्रयोग यथा—

दुःखी होना—सीदति राधा वासगृहे (गीतगोविन्द ६ ५)।

शिथिल होना—सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति (गीता १ २९)।

नाश होना—विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सीदति जगत् (हितोप० २ ७७)।

निमग्न होना, फंसना—तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौरिव सीदसि (हितोप० २५)।

जाना-गमन करना—सीदन्ति=गच्छन्ति अवश्यम् इति सादिनः (अश्वारोहाः)।

बैठना—अमरा सेदुरेकस्मिन्नितम्बे निखिला गिरेः (भट्टि० ७ ५८)।

धातुपाठ के भ्वादिगण में भी इस धातु का पाठ आया है। इस का यहां पुनः पाठ स्वरभेद के लिये तथा नुम् के विकल्प के लिये किया गया है—सीदतीसीदती (पीछे तुद् धातु पर एतद्विषयक टिप्पण देखें)।

लँट्—सार्वधातुक लकारों में श प्रत्यय के परे होने पर 'पाघ्राध्मा०' (४८७) सूत्र से सद् को सीद् आदेश हो जाता है—सीदति, सीदतः, सीदन्ति ।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में उपधावृद्धि होकर—ससाद । अतुस् आदि कित्प्रत्ययों मे 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) से एत्त्वाभ्यासलोप हो जाता है—सेदतुः, सेदुः । थल् के इट्पक्ष मे 'थलि च सेटि' (४६१) से एत्त्वाभ्यासलोप हो जाता है—सेदिथ । इट् के अभाव में चर्त्व होकर—ससत्थ । रूपमाला यथा—ससाद, सेदतुः, सेदुः । सेदिथ-ससत्थ, सेदथुः, सेद । ससाद-ससद, सेदिव, सेदिम ।

लुँट्—में चर्त्व हो जाता है—सत्ता, सत्तारौ, सत्तारः । लृँट्—सत्स्यति, सत्स्यतः, सत्स्यन्ति । लोँट्—सीदतु-सीदतात्, सीदताम्, सीदन्तु । लँङ्—असीदत्, असीदताम्, असीदन् । वि० लिँङ्—सीदेत्, सीदेताम्, सीदेयुः । आ० लिँङ्—सद्यात्, सद्यास्ताम्, सद्यासुः । लुँङ्—में 'पुषादिद्युता०' (५०७) सूत्र से च्लि को अङ् आदेश हो जाता है—असदत्, असदताम्, असदन् । लृँङ्—असत्स्यत्, असत्स्यताम्, असत्स्यन् ।

उपसर्गयोग—उद्√सद्=नष्ट होना (उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्—गीता ३.२४) ।

प्र√सद्=प्रसन्न होना, स्वच्छ होना (प्रसीद देवेश ! जगन्निवास !—गीता ११.२५; दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः—रघु० ३.१४) ।

नि√सद्=बैठना [उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी—विक्रमो० २.२२; 'सदिरप्रतेः' (८.३.६६) इति षत्वम्] ।

वि√सद्=दुःखी होना [विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः—गीता २.१; 'सदिरप्रतेः' (८.३.६६) इति षत्वम् ] ।

अव√सद्=दुःखी होना (न हीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदति—किरात० ४.२०); नष्ट होना (सर्वमस्मत्कुटुम्बमवसीदेत्—दशकुमार० ६०) ।

उप√सद्=गुरु मान कर सेवा करना (उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्—महाभाष्य ३.२.१०८); निकट जाना (उपसेदुर्दशग्रीवं गृहीत्वा राक्षसाः कपिम्—भट्टि० ६.६२) ।

आ√सद्=निकट जाना, पाना (आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यम्—पञ्च० १.३६; हिमालयस्यालयमाससाद—कुमार० ७.६६) ।

प्रति+आ√सद्=अतिनिकट आना (प्रत्यासीदति परीक्षा त्वञ्च पाठेऽनवहितः) ।

## [लघु०] शद्लृँ शातने ॥३८॥

अर्थः—शद्लृँ (शद्) धातु 'नष्ट होना, बरबाद होना, मुरझाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1] ।

---

१. णिजन्त शद् धातु से भाव में ल्युट् करने पर 'शातन' शब्द सिद्ध होता

व्याख्या—उदात्तेत् होने से यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तो मे परिगणित होने से अनिट् है। लिंट् मे क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु थल् मे भारद्वाजनियम से विकल्प। लृदित् करने का फल लुंङ् मे च्लि को अङ् करना है। विकरण (श) मे अग्रिमसूत्र द्वारा इस धातु से आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६५९) शदे शित ।१।३।६०॥

शिद्भाविनोऽस्मात्तडानौ स्त । शीयते । शीयताम् । अशीयत । शीयेत । शशाद । शत्ता । शत्स्यति । अशदत् । अशत्स्यत् ॥

अर्थ —शिद्भावी अर्थात् जब शित्प्रत्यय आने वाला हो तब शद् धातु से तङ् और आन प्रत्यय हो।

व्याख्या—शदे ।५।१। शित ।६।१। आत्मनेपदम् ।१।१। ('अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से)। श् इत् यस्य स शित्, तस्य शित, बहुव्रीहि०। अर्थ —(शित) शित्प्रत्ययसम्बन्धी (शद) शद् धातु से परे (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो। शित्प्रत्यय के साथ शद् धातु का सम्बन्ध दो प्रकार से हो सकता है—या तो शित्प्रत्यय परे हो अथवा शित्प्रत्यय का विषय हो। यहा दूसरा सम्बन्ध ही सम्भव है पहला नहीं, क्योंकि शित्प्रत्यय (श) तब आता है जब सार्वधातुक (लिङ्) परे हो यदि सार्वधातुक परे आ गया तो पदव्यवस्था हो चुकी पुन उस के लिये आत्मनेपद लाने का यत्न कैसा ? अत जब शित्प्रत्यय परे न आया हो किन्तु उस का विषय हो तब इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। यहां तुदादिगण मे 'तुदादिभ्य श' (६५१) से होने वाला श-प्रत्यय शित् है अत जब वह आने वाला होगा तब शद् धातु से आत्मनेपद किया जायेगा। श विकरण लॅट्, लोँट्, लँङ् और वि० लिंङ् इन चार लकारों मे किया जाता है अत इन लकारो मे शद् धातु से परे लकार के स्थान पर आत्मनेपद (तडानावात्मनेपदम् ३७७) प्रत्यय किये जायेंगे।

---

है ('शदेरगतौ त' ७ ६ ४२ इति तकारादेश)। यहां णिच् का प्रयोग स्वार्थ में समझना चाहिए अत 'शातन' का अर्थ 'नाश करना' न होकर 'नष्ट होना, बरबाद होना, विशीर्ण होना' आदि समझना चाहिये। इस अर्थ में शातन शब्द का प्रयोग देखा भी जाता है, यथा—वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्त्रशातनम् (सारमञ्जरी)। अत एव यह धातु सकर्मक न होकर अकर्मक ही है। धातुपाठ के भ्वादिगण में पठित इस धातु का पुन यहा पाठ स्वरभेद के लिये ही समझना चाहिये। ध्यान रहे कि नुम् के विकल्प के लिये यहा इसका पाठ नहीं किया गया, क्योंकि 'शदे शित' (६५९) द्वारा इससे शतृ न होकर शानच् ही हुआ करता है। 'शदेरगतौ त' (७ ३ ४२) मे 'अगतौ' ग्रहण के कारण इस धातु का गत्यर्थ में भी प्रयोग अनुमत है, यथा—गां शादयति गोपालक' (काशिका ७ ३ ४२)। इसी धातु से ही शत्रु, शद, शाद, शाद्वल आदि शब्द बनते हैं।

लँट्—में णित्प्रत्यय (श) किया जाता है अतः प्रकृतसूत्र द्वारा शिद्भावी शद् से परे आत्मनेपदप्रत्यय 'त' आकर उस की सार्वधातुकसञ्ज्ञा और तन्निमित्तक श प्रत्यय किया तो—शद्+अ+त। अब 'पा-घ्रा-ध्मा०' (४८७) सूत्र से शद् को शीय् आदेश तथा टि को एत्व (५०८) करने पर 'शीयते' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् मे प्रक्रिया समझनी चाहिये। लँट् में रूपमाला यथा—शीयते[1], शीयेते, शीयन्ते। शीयसे, शीयेथे, शीयध्वे। शीये, शीयावहे, शीयामहे।

लिँट्—मे षद्लृ धातु की तरह प्रक्रिया होती है—शशाद, शेदतुः, शेदुः। शेदिथ-शशत्थ, शेदथुः, शेद। शशाद-शशद, शेदिव, शेदिम। लुँट्—मे 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो जाता है—शत्ता, शत्तारौ, शत्तारः। लृँट्—शत्स्यति, शत्स्यतः, शत्स्यन्ति। लोँट्—शीयताम्, शीयेताम्, शीयन्ताम्। लँङ्—अशीयत, अशीयेताम्, अशीयन्त। वि० लिँङ्—शीयेत, शीयेयाताम्, शीयेरन्। आ० लिँङ्—शधात्, शधात्ताम्, शधासुः। लुँङ्—मे च्लि को अङ् हो जाता है (५०७)—अशदत्, अशदताम्, अशदन्। लृँङ्—अशत्स्यत्, अशत्स्यताम्, अशत्स्यन्।

[लघु०] कॄ विक्षेपे ॥३६॥

अर्थः—कॄ धातु 'बखेरना, फेंकना, आच्छादित करना, व्याप्त करना' अर्थों मे प्रयुक्त होती है[2]।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा ऋदन्त होने से सेट् है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में 'श' विकरण लाने पर 'कॄ+अ+ति' इस स्थिति में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा शप्रत्यय के ङित् हो जाने से गुण का निषेध हो जाता है। अब अग्रिमसूत्र से ऋकार के स्थान पर इर् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६०) ऋत इद् धातोः ।७।१।१००॥

ऋदन्तस्य धातोरङ्गस्य इत् स्यात्। किरति। चकार, चकरतुः, चकरुः। करीता-करिता। कीर्यात् ॥

अर्थः—अङ्गसञ्ज्ञक ऋदन्त धातु को ह्रस्व इकार आदेश हो।

व्याख्या—ऋतः ।६।१। इत् ।१।१। धातोः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह

---

१. वैरायते महद्भिश्च शीयते दृढिमानपि—भट्टि० १८.६।

२. बखेरना यथा—किरति मकरन्दं दिशि दिशि (साहित्यदर्पण ८); फेंकना—किरति शरतुषारं कोऽप्ययं वीरपोतः (उत्तर० ५.२); आच्छादित करना या व्याप्त करना—सौमित्रिमकिरद् बाणैः परितो रावणिस्ततः (भट्टि० १७.४२); दिशश्च पुष्पैश्चकरुर्विचित्रैः (भट्टि० ३.५)।

अधिकृत है)। 'ऋत' यह 'धातो' का विशेषण है अतः तदन्तविधि होकर 'ऋदन्तस्य धातो' बन जायेगा। अर्थ—(ऋत=ऋदन्तस्य) दीर्घ ऋकार जिस के अन्त में हो ऐसी (अङ्गस्य) अङ्गसञ्ज्ञक (धातो) धातु के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार आदेश होता है। अलोऽन्त्य-परिभाषा से यह इकारादेश ऋदन्त धातु के अन्त्य अल् ऋकार के स्थान पर ही किया जाता है। ध्यान रहे कि इत्त्व और उत्त्व (६११) को परत्व के कारण अथवा 'इत्त्वोत्त्वाभ्यां गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन' इस वार्त्तिक के कारण गुण और वृद्धि बाध लेते हैं अतः गुण और वृद्धि के अविषय में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

'कृ+श+ति' यहाँ गुण का विषय नहीं है अतः प्रकृतसूत्र से कृ के ऋकार को इकार और साथ ही 'उरण्परः' (२६) से रपर करने पर 'किरति' प्रयोग सिद्ध होता है। लँट् में रूपमाला यथा—किरति, किरतः, किरन्ति। किरसि, किरथः, किरथ। किरामि, किरावः, किरामः।

लिँट्—प्र० पु० के एकवचन में तिप् को णल्, द्वित्व, अभ्यासह्रस्व, उरत्, रपर, हलादिशेष और 'कृतोऽतु' (४५४) से सकार को चकार होकर—चकृ+अ। अब 'ऋच्छ्यृताम्' (६१४) से गुण तथा 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि करने पर 'चकार' रूप सिद्ध होता है। अतुस् आदियों में भी इसी प्रकार गुण हो जाता है। रूपमाला यथा—चकार, चक्रतुः, चक्रुः। चकर्थ, चक्रथुः, चक्र। चकार-चकर, चकृव, चकृम।

लुँट्—में गुण होकर 'वृतो वा' (६१५) से इट् को वैकल्पिक दीर्घ हो जाता है। (दीर्घपक्षे) करीता, करीतारौ, करीतारः। (दीर्घाभावे) कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः। लृँट्—(दीर्घपक्षे) करीष्यति, करीष्यतः, करीष्यन्ति। (दीर्घाभावे) करिष्यति, करिष्यतः, करिष्यन्ति। लोँट्—किरतु किरतात्, किरताम्, किरन्तु। लँङ्—अकिरत्, अकिरताम्, अकिरन्। वि० लिँङ्—किरेत्, किरेताम्, किरेयुः।

आ० लिँङ्—यासुट् के कित्त्व के कारण गुण का विषय नहीं अतः प्रकृतसूत्र से इत्त्व तथा रपर होकर 'हलि च' (६१२) से दीर्घ हो जाता है—कीर्यात्, कीर्यास्ताम्, कीर्यासुः।

लुँङ्—में इगन्तलक्षणा वृद्धि होकर 'सिचि च परस्मैपदेषु' (६१६) द्वारा इट् को दीर्घ करने का निषेध हो जाता है। अकारीत्, अकारिष्टाम्, अकारिषुः। लृँङ्—(दीर्घपक्षे) अकरीष्यत्, अकरीष्यताम्, अकरीष्यन्। (दीर्घाभावे) अकरिष्यत्, अकरिष्यताम्, अकरिष्यन्।

उपसर्गयोग—वि√कृ=विकीर्ण करना, फैलाना (तस्मुसकान् विकीर्य—हितोप० १); उखाड़ कर फेंकना (द्रुमान् विचकरस्तथा—भट्टि० १४ २५)।

उद्√कृ=ऊपर फेंकना (रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैः—रघु० १ ४१), पत्थर आदि पर खोदना (उत्कीर्णा इव वासगृहेषु निशानिष्ठाक्षता वर्हिणः—विक्रमो० ३ २)।

सम्√कृ=संकीर्ण करना, मिलाना (वर्णाः संकीर्णाः—मनु० १.११६; क्षत्रिया वैश्या सकीर्यन्ते परस्परम्—महाभारत)।

अव√कृ=आच्छादित करना (कपिं वाणैरवाकिरत्—भट्टि० ६.३४; अवाकिरन् तं लाजैः—रघु० ४.२८)। अवस्करः=कूड़ा-करकट ('वर्चस्केऽवस्करः' ६.१.१४३)। अपस्करः=पहियों को छोड़ रथ का कोई अङ्ग ('अपस्करो रथाङ्गम्' ६.१.१४४)। विष्किरः-विकिरः=मुर्गा-तित्तिर-बटेर जाति का पक्षी Gallinaceous bird ('विष्किरः शकुनौ वा' ६.१.१४५)।

अप+कृ—नखों से खरोच कर बखेरना (अपस्किरते वृषभो हृष्टः, अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी, अपस्किरते श्वाऽऽश्रयार्थी[1], गजोऽपकिरति, छायाऽपस्किरमाण-विष्किर-मुख-व्याकृष्ट-फीट-त्वचः—उत्तर० २.६)।

उप√कृ—काटना, हिंसा करना। यहां अग्रिमसूत्रों से विशेष कार्य का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६१) किरतौ लवने ॥६।१।१३५॥

उपात् किरतेः सुट् छेदने। उपस्किरति॥

अर्थः—'उप' से परे कृ धातु को सुट् का आगम हो जाता है काटने का विषय हो तो।

व्याख्या—किरतौ ।७।१। लवने ।७।१। उपात् ।५।१। ('उपात्प्रतियत्न०' से) सुट् ।१।१। कात् ।५।१। पूर्वः ।१।१। ('सुट् कात् पूर्वः' से)। अर्थः—(उपात्) 'उप' से (किरतौ) कृ धातु परे हो तो (कात्) उस के ककार से (पूर्वः) पूर्व (सुट्) सुट् हो जाता है (लवने) काटने अर्थ का विषय हो तो। सुट् में टकार इत्सञ्ज्ञक (१) तथा उकार उच्चारणार्थ है अतः 'स्' ही अवशिष्ट रहता है।

'उप+किरति' यहां कृ धातु काटना अर्थ के विषय में प्रयुक्त है अतः प्रकृत सूत्र से कृ धातु के ककार से पूर्व सुट् आ कर 'उपस्किरति' प्रयोग सिद्ध होता है। उपस्किरति=काटता है[2]।

इस सूत्र को 'उपस्किरति' आदियों मे सीधा 'उप' से परे ककार मिल जाता है अतः वह 'उप+अकिरत्, उप+चकार' आदियों में अट् या अभ्यास के व्यवधान में प्रवृत्त नहीं हो सकता। अतः इस के लिये अग्रिमवार्तिक द्वारा यत्न करते हैं—

---

१. 'अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने' (६.१.१३७) इति कात्पूर्वः सुट्। 'किरतेर्हर्ष-जीविका-कुलायकरणेष्विति वाच्यम्' इति वार्तिकेनात्मनेपदम्। मुडभ्यत्रैवेष्टः, तेन 'गजोऽपकिरति' इत्यादौ न।

२. वस्तुतः ससुट्कस्य किरतेर्लवनं नार्थः। लवने विषये सुट् विधीयते। अत एव 'उपस्कारं काश्मीरका लुनन्ति, विक्षिप्य लुनन्तीत्यर्थ इति वृत्तिग्रन्थः संगच्छते।

[लघु०] वा०—(४४) अडभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्वं इति वक्तव्यम् ॥

उपास्किरत् । उपचस्कार ॥

अर्थ —अट् अथवा अभ्यास के व्यवधान मे भी ककार से पूर्व यथाविहित सुट् हो जाता है—ऐसा कहना चाहिये ।

व्याख्या—यह वार्तिक 'सुट् कात्पूर्वं' (६ १ १३१) सूत्र पर पढा गया है। अट् से यहा 'लुंङ्लेंङ्लुंङ्क्ष्वडुदात्त' (४२३) वाला अट् ही लिया जाता है न कि अट्-प्रत्याहार । अट् के व्यवधान का उदाहरण यथा—'उप+अकिरत्' यहा प्रकृतवार्तिक की सहायता से 'किरतौ लवने' (६६१) द्वारा अट् के व्यवधान मे भी ककार से पूर्व सुट् आ कर—उप+अस्किरत्—'उपास्किरत्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार अभ्यास के व्यवधान मे भी उप+चकार='उपचस्कार' रूप बनता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६२) हिंसाया प्रतेश्च ।६।१।१३६॥

उपात् प्रतेश्च किरते सुट् स्याद् हिंसायाम्। उपस्किरति । प्रतिस्किरति ॥

अर्थ —'उप' अथवा 'प्रति' उपसर्ग से परे कृ धातु को सुट् का आगम हो हिंसा अर्थ मे ।

व्याख्या—हिंसायाम् ।७।१। प्रते ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। उपात्।५।१। ('उपात्प्रतियत्न०' से)।किरतौ ।७।१। ('किरतौ लवने' से)।'सुट् कात् पूर्व' का अधिकार आ रहा है । अर्थ —(प्रते उपात् च) प्रति या उप उपसर्ग से परे (हिंसायाम्) हिंसा अर्थ मे (किरतौ) कृ धातु हो तो (कात्) उस के ककार से (पूर्वं) पूर्व (सुट्) सुट् का आगम हो जाता है । उदाहरण यथा—उप+किरति—उपस्किरति (हिंसा करता है) । प्रति+किरति—प्रतिस्किरति (हिंसा करता है ) । ध्यान रहे कि यहा सकार को षकार करने वाला कोई सूत्र नहीं है ।

यह सूत्र भी पूर्ववार्तिक की सहायता से अट् या अभ्यास के व्यवधान मे भी प्रवृत्त होता है—उप+अकिरत्—उपास्किरत्, प्रति+अकिरत्—प्रत्यस्किरत्, उप+चकार—उपचस्कार, प्रति+चकार— प्रतिचस्कार[1] ।

[लघु०] गॄ निगरणे ॥४०॥

अर्थ —गॄ धातु 'निगलना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2] ।

---

१ उरोविदार प्रतिचस्करे नखैं —माघ १ ४७ । प्रतिचस्करे=हृत , कर्मणि लिट् । विधानमानुषाविक गृहेषु न प्रतिस्किरन्ती किमियं प्रतीक्ष्यते—अनर्घ० २.५६ । प्रतिस्किरन्ती=नाशयन्ती ।

२ उच्चारण करना या बोलना अर्थ मे भी इस का प्रयोग देखा जाता है—

**व्याख्या**—यह धातु भी कृ धातु की तरह परस्मैपदी तथा सेट् है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया कृ धातु की तरह होती है परन्तु अग्रिमसूत्र द्वारा लत्व ही इस में विशेष है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६३) **अचि विभाषा ।८।२।२१॥**

गिरते रेफस्य लोऽजादौ प्रत्यये। गिरति-गिलति। जगार-जगाल। जगरिथ-जगलिथ। गरीता-गरिता, गलीता-गलिता[1] ॥

**अर्थः**—अजादि प्रत्यय परे होने पर गृ धातु के रेफ को विकल्प से लकार हो।

**व्याख्या**—अचि ।७।१। विभाषा ।१।१। ग्रः ।६।१। ('ग्रो यङि' से) रः ।६।१। लः ।१।१। ('हलो रो लः' से; लकारादकार उच्चारणार्थः)। 'धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति' इस परिभाषा से यहां 'प्रत्यये' पद प्राप्त हो जाता है। 'अचि' को 'प्रत्यये' का विशेषण बना कर तदादिविधि करने से 'अजादौ प्रत्यये' बन जाता है। अर्थः—(अचि=अजादौ प्रत्यये) अजादि प्रत्यय परे होने पर (ग्रः) गृ धातु के (रः) रेफ के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से (लः) ल् आदेश हो जाता है[2]।

**लँट्**—प्र० पु० के एकवचन में शविकरण करने पर 'ऋत इद् धातोः' (६६०) से इत्व तथा 'उरण्रपरः' (२६) से रपर करने पर 'गिरति' बना। अब

---

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थ-नीडान्तर — सन्निरुद्धा
जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः ॥ (शङ्करदिग्विजय ८.६)

हिन्दी की 'गिरना' क्रिया का मूल भी सम्भवतः यही धातु रही होगी।

१. यहां मूल में लत्वघटित रूप पहले और रेफघटितरूप बाद में लिखे जाने चाहियें जैसा कि कौमुदीकार सर्वत्र करते आये हैं।

२. प्रश्न—पीछे हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में आप क्विबन्त गिर् (वाणी) शब्द को इसी गृ धातु से निष्पन्न बता चुके हैं। 'क्विबन्ता विडन्ता विजन्ता धातुत्वं न जहति' परिभाषा के अनुसार उस का धातुत्व अक्षुण्ण है। तो भला 'गीः, गिरौ, गिरः' में 'औ' आदि अजादि प्रत्ययों के परे रहते प्रकृत सूत्र से वैकल्पिक लत्व क्यों नहीं होता?

उत्तर—'धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति' (जब धातु को कोई कार्य विधान करें तो वह कार्य उस धातु से विहित प्रत्ययों के परे होने पर हुआ करता है) इस परिभाषा से यह सूत्र 'गिरौ' आदि में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि यहां 'औ' आदि प्रत्यय धातु से परे नहीं आये किन्तु प्रातिपदिक से परे आये हैं।

प्रकृतसूत्र से अजादिप्रत्यय श (अ) के परे रहते रेफ को लत्व होकर—'गिलति, गिरति' दो रूप बन जाते हैं। इसी प्रकार आगे भी सर्वत्र प्रक्रिया समझनी चाहिये। 'अजादौ प्रत्यये' इसलिये कहा है कि 'गीर्यात्' आदि मे हलादि प्रत्ययो के परे रहते लत्व न हो जाये। लँट् म रूपमाला यथा—(लत्वपक्षे) गिलति, गिलत, गिलन्ति। (लत्वाभावे) गिरति, गिरत, गिरन्ति।

लिँट्—(लत्वपक्षे) जगाल, जगलतु, जगलु। (लत्वाभावे) जगार, जगरतु, जगरु। लुँट्—म 'वृतो वा' (६१५) से इट् को वैकल्पिक दीर्घ होकर पुन लत्व का भी विकल्प करने से चार चार रूप बन जाते हैं—(दीर्घे लत्वपक्षे) गलीता, गलीतारौ, गलीतार। (दीर्घे लत्वाऽभावे) गरीता, गरीतारौ, गरीतार। (दीर्घाऽभावे लत्वपक्षे) गलिता, गलितारौ, गलितार। (दीर्घाभावे लत्वाभावपक्षे) गरिता, गरितारौ, गरितार। लृँट्—(दीर्घे लत्वपक्षे) गलीष्यति, गलीष्यत, गलीष्यन्ति। (दीर्घे लत्वाऽभावे) गरीष्यति, गरीष्यत, गरीष्यन्ति। (दीर्घाऽभावे लत्वे) गलिष्यति, गलिष्यत, गलिष्यन्ति। (दीर्घाऽभावे लत्वाभावे) गरिष्यति, गरिष्यत, गरिष्यन्ति। लोँट्—(लत्वे) गिलतु गिलतात्, गिलताम्, गिलन्तु। (लत्वाभावे) गिरतु-गिरतात्, गिरताम्, गिरन्तु। लँङ्—(लत्वे) अगिलत्, अगिलताम्, अगिलन्। (लत्वाभावे) अगिरत्, अगिरताम्, अगिरन्। वि० लिँङ्—(लत्वे) गिलेत्, गिलेताम्, गिलेयु। (लत्वाभावे) गिरेत्, गिरेताम्, गिरेयु। आ० लिँङ्—गीर्यात्, गीर्यास्ताम्, गीर्यासु। लुँङ्—(लत्वे) अगालीत्, अगालिष्टाम्, अगालिषु। (लत्वाभावे) अगारीत्, अगारिष्टाम्, अगारिषु। लृँङ्—(दीर्घे लत्वे) अगलीष्यत्, अगलीष्यताम्, अगलीष्यन्। (दीर्घे लत्वाभावे) अगरीष्यत्, अगरीष्यताम्, अगरीष्यन्। (दीर्घाभावे लत्वे) अगलिष्यत्, अगलिष्यताम्, अगलिष्यन्। (दीर्घाभावे लत्वाभावे) अगरिष्यत्, अगरिष्यताम्, अगरिष्यन्।

उपसर्गयोग—उद्√गृ=बाहर निकालना, वमन करना (उद्गीर्णदर्भकवला मृगी—शाकुन्तल ४ १४, सहाम्भसैवापदमुद्गिरन्ति—पञ्च० ५ ६७), अनिच्छापूर्वक मुँह से निकालना (महीपते शासनमुज्जगार—रघु० १४ ५३)।

नि√गृ=निगलना (सर्वानेव गुणान् इव निगिरति ओलण्ड ! ते सुन्दरान्। उज्झन्ती खलु कोटरेषु गरलज्वालां द्विजिह्वावली—भामिनी० १ ३८)।

अव√गृ=निगलना, हडप्प करना ('अवाद् ग्र' १ ३ ५१ से आत्मने०। तथाऽवगिरमाणश्च पिशाचैर्मांसशोणितम्—भट्टि० ८ ३०)।

सम्√गृ=प्रतिज्ञा करना (नित्य शब्द सङ्गिरन्ते वैयाकरणा—माधवीयधातुवृत्ति पृष्ठ ३४०, 'सम प्रतिज्ञाने' १ ३ ५२ से आत्मने०।)

[लघु०] प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्[1] ॥ ४१ ॥ ग्रहिज्या० (६३४) इति सम्प्रसा-

१ ज्ञपयितुम्=ज्ञातुम् इच्छा ज्ञीप्सा। ज्ञपिरत्र ज्ञानार्थे वर्तते।

रणम्—पृच्छति । पप्रच्छ, प्रप्रच्छतुः, प्रप्रच्छुः । प्रष्टा । प्रक्ष्यति । अप्राक्षीत् ॥

अर्थः—प्रच्छ (प्रछ्) धातु 'पूछना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—इस धातु का वास्तविक रूप 'प्रछ्' है । अन्तरङ्ग होने से सब से पहले 'छे च' (१०१) द्वारा तुक् का आगम होकर श्चुत्व करने से 'प्रच्छ्' रूप बन जाता है । आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण अथवा उदात्तेत् होने से यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है । लिँट् में ऋदिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प ।

लँट्— प्र० पु० के एकवचन मे 'प्रच्छ्+अ+ति' इस स्थिति में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा श (अ) के ङित् हो जाने से 'ग्रहिज्या०' (६३४) सूत्र द्वारा रेफ को सम्प्रसारण ऋकार तथा 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'पृच्छति' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार लोँट्, लँङ् और विधिलिँङ् मे सम्प्रसारण की प्रक्रिया समझनी चाहिये । लँट् मे रूपमाला यथा—पृच्छति, पृच्छतः, पृच्छन्ति ।

लिँट्—मे सर्वत्र द्वित्व होकर 'लिँटचभ्यासस्योभयेषाम्' (५४६) से अभ्यास के रेफ को सम्प्रसारण ऋकार, पूर्वरूप, उरत्, रपर तथा हलादिशेष हो जाता है—पप्रच्छ, पप्रच्छतुः[1], पप्रच्छुः । पप्रच्छिथ-पप्रष्ठ[2], पप्रच्छथुः, पप्रच्छ । पप्रच्छ, पप्रच्छिव, पप्रच्छिम । लुँट्—मे 'प्रच्छ्+ता' इस स्थिति में 'व्रश्चभ्रस्ज०' (३०७) सूत्र से षत्व, तुगागम का अपाय (नाश)[3] तथा 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से ष्टुत्व करने पर—प्रष्टा, प्रष्टारौ, प्रष्टारः । लृँट्—में 'प्रच्छ्-+स्य+ति' इस स्थिति में छकार को षत्व, तुगागम का अपाय 'षढोः कः सि' (५४८) से षकार को ककार तथा उस से परे 'स्य' के सकार को मूर्धन्य हो जाता है—प्रक्ष्यति, प्रक्ष्यतः, प्रक्ष्यन्ति । लोँट्—पृच्छतु-पृच्छतात्, पृच्छताम्, पृच्छन्तु । लँङ्—अपृच्छत्, अपृच्छताम्, अपृच्छन् । वि० लिँङ्—पृच्छेत्, पृच्छेताम्, पृच्छेयुः । आ० लिँङ्—में यासुट् के कित् होने से 'ग्रहिज्या०' (६३४) द्वारा सम्प्रसारण होकर पूर्वरूप हो जाता है—पृच्छ्यात्, पृच्छ्यास्ताम्, पृच्छ्यासुः ।

---

१. यहां संयोग से परे अतुस् आदि कित् नहीं होते अतः 'ग्रहिज्या०' (६३४) से सम्प्रसारण नही होता । अभ्यास सम्प्रसारण में कित् ङित् की शर्त नहीं है अतः वह निर्बाध हो जाता है ।

२ अनिट्पक्ष में 'पप्रच्छ्+थ' इस स्थिति में 'व्रश्च-भ्रस्ज०' (३०७) से छकार को षकार होकर 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' से तुक् के चले जाने पर ष्टुत्व हो जाता है—पप्रष्ठ ।

३. कई वैयाकरण तुक्सहित छकार को 'व्रश्च-भ्रस्ज०' सूत्रद्वारा षकारादेश किया करते हैं (देखें वृ० शब्देन्दुशेखर पृ० १७८९) ।

लुंङ्—प्र० पु० के एकवचन मे 'अप्रच्छ्+स्+ईत्' इस स्थिति में हलन्त-लक्षणा वृद्धि होकर छकार को षकार, त्व तथा सिच् के सकार को भी षत्व करने पर—अप्राक्षीत्। द्विवचन में 'अप्रच्छ्+स्+ताम्' यहा वृद्धि होकर 'झलो झलि' (४७८) से सकार का लोप तथा षत्व और ष्टुत्व करने पर—अप्राष्टाम्। रूपमाला यथा—अप्राक्षीत्, अप्राष्टाम्, अप्राक्षुः। अप्राक्षीः, अप्राष्टम्, अप्राष्ट। अप्राक्षम्, अप्राक्ष्व, अप्राक्ष्म। लृंङ्—अप्रक्ष्यत्, अप्रक्ष्यताम्, अप्रक्ष्यन्।

यह धातु द्विकर्मक है। जिस से पूछा जाये तथा जो पूछा जाय उन दोनों की कर्मसञ्ज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हो जाती है—माणवक पन्थान पृच्छति (लडके से मार्ग पूछता है, देखें कारकप्रकरण सूत्र ८९२)।

उपसर्गयोग—आ√प्रच्छ्=श्रीमन्! मैं जाता हू' इस प्रकार कह कर जाने के लिये विदाई लेना[1] (आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य सानुम्—मेघदूत १०, 'आङि नु-प्रच्छ्योः' वार्त्तिक से आत्मने०)। सम्√प्रच्छ्=निश्चय करना (सम्पृच्छते, कर्मणोऽविवक्षाया 'विविदिषिच्छिस्वरतीनामुपसङ्ख्यानम्' इत्यात्मनेपदम्)।

यहा पर तुदादिगण की परस्मैपदी धातुओ का विवेचन समाप्त होता है।

अब आत्मनेपदी धातुओ का वर्णन किया जायेगा—

[लघु०] मृङ् प्राणत्यागे ॥४२॥

अर्थ—मृङ् (मृ) धातु 'प्राणो को छोडना अर्थात् मरना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है[2]।

व्याख्या—ङित् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा 'ऋदन्तं०' मे परिगणित न होने से अनुदात्त अर्थात् अनिट् है। लिट् मे आदिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु ऋदन्त होने से थल् मे उसका सर्वथा निषेध हो जाता है, भारद्वाजनियम प्रवृत्त नही होता। इस धातु से सर्वत्र आत्मनेपद प्रत्यया के प्राप्त होने पर अग्रिम-सूत्र से नियम का विधान करते हैं—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—(६६४) म्रियतेर्लुङ्-लिङोश्च ।१।३।६१॥

लुंङ्-लिंङो शितश्च प्रकृतिभूताद् मृङस्तङ्[3] नाऽन्यत्र। रिङ्(५४३), इयँङ् (१९९)—म्रियते। ममार। मर्त्ता। मरिष्यति। मृषीष्ट। अमृत॥

अर्थ—लुंङ् लिंङ् वा शित्प्रत्यय की प्रकृतिभूत जो मृङ् धातु, उस से परे आत्मनेपद प्रत्यय ही हो अन्यत्र न हो।

---

१ देखें मेघदूत श्लोक १० पर मल्लिनाथटीका।

२ यहा 'प्राण' कर्म धात्वर्थ के अन्तर्गत आ जाते हैं अत धातु सकर्मक न होकर अकर्मक ही रहती है।

३ 'तङ्' इत्यात्मनेपदस्योपलक्षणम्। तेन 'म्रियमाण' इत्यत्र शानोऽपि सिध्यति।

व्याख्या—ञ्रियतेः ।५।१। लुँङ्-लिँङोः ।६।२। च इत्यव्ययपदम् । ञितः ।६।१। ('शदेः शितः' से) आत्मनेपदम् ।१।१।('अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से)। 'प्रकृतिभूतात्' पद का यहां अध्याहार किया जाता है। अर्थः—(लुँङ्-लिँङोः) लुँङ् और लिँङ् की (च) अथवा (ञितः) ञित्प्रत्यय की (प्रकृतिभूतात्) प्रकृति बनी हुई (ञ्रियतेः) मृङ् धातु से परे (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद प्रत्यय हों। मृङ् धातु ङित् है, 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (३७८) द्वारा उस से परे आत्मनेपद स्वतः सिद्ध है अतः 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' के अनुसार यह सूत्र नियमार्थ है—जब मृङ् धातु से लुँङ् लिँङ् या ञित्प्रत्यय करना हो तभी आत्मनेपद हो अन्यथा उससे परस्मैपद। लँट्, लोँट्, लँङ् और विधिलिँङ् इन चार लकारों में ञित्प्रत्यय (श) किया जाता है, इस प्रकार इन चार लकारों तथा लुँङ् और लिँङ् (आशीर्लिँङ्) कुल मिला कर छः लकारों में मृङ् धातु से आत्मनेपद तथा अन्यत्र (लिँट्, लुँट्, लृँट्, लृँङ्) परस्मैपद प्रत्यय होंगे।

लँट्—में आत्मनेपद तथा शविकरण होकर 'मृ+अ+त' इस स्थिति में 'रिङ् शयग्लिँङ्क्षु' (५४३) सूत्र से ऋकार को रिङ् आदेश, 'अचि श्नु०' (१९९) से रिङ् के इकार को इयँङ् आदेश तथा टि को एत्व करने पर 'ञ्रियते' रूप सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—ञ्रियते[1], ञ्रियेते, ञ्रियन्ते। ञ्रियसे, ञ्रियेथे, ञ्रियध्वे। ञ्रिये, ञ्रियावहे, ञ्रियामहे।

लिँट्—में पूर्वोक्त नियमानुसार परस्मैपद का प्रयोग होता है—ममार[2], मम्रतुः, मम्रुः। ममर्थ, मम्रथुः, मम्र। ममार-ममर, मम्रिव, मम्रिम। लुँट्— में परस्मैपद का प्रयोग होता है—मर्ता, मर्तारौ, मर्तारः। मर्तासि—। लृँट्—में परस्मैपद होकर 'ऋदृशोः स्यै' (४९७) से स्य को इट् का आगम हो जाता है—मरिष्यति, मरिष्यतः, मरिष्यन्ति। लोँट्—में आत्मने० का प्रयोग तथा रिङ् और इयँङ् हो जाते हैं—ञ्रियताम्, ञ्रियेताम्, ञ्रियन्ताम्। ञ्रियस्व, ञ्रियेथाम्, ञ्रियध्वम्। ञ्रियै, ञ्रियावहै, ञ्रियामहै। लँङ्—में आत्मनेपद—अञ्रियत, अञ्रियेताम्, अञ्रियन्त। अञ्रियथाः, अञ्रियेथाम्, अञ्रियध्वम्। अञ्रिये, अञ्रियावहि, अञ्रियामहि। वि०लिँङ्—ञ्रियेत, ञ्रियेयाताम्, ञ्रियेरन्। आ० लिँङ्—में आत्मनेपद का प्रयोग होकर 'उश्च' (५४४) द्वारा सलादि लिँङ् के ङिदत् हो जाने से गुण नहीं होता—मृषीष्ट, मृषीयास्ताम्, मृषीरन्। लुँङ्—अमृत (उश्च, ह्रस्वादङ्गात्), अमृषाताम्, अमृषत। अमृथाः, अमृषाथाम्, अमृढ्वम्। अमृषि, अमृष्वहि, अमृष्महि। लृँङ्—अमरिष्यत्, अमरिष्यताम्, अमरिष्यन्।

[लघु०] मृङ् व्यायामे ॥४३॥ प्रायेणायं व्याङ्पूर्वः। व्याम्रियते। व्यामृषे,

---

१. 'ञ्रियते' में यकार इयँङ् का है। यकार को देखकर धातु को दिवादिगणीय समझने की भूल नहीं करनी चाहिये। मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति। अपि निर्वाणमायाति नानलो याति शीतताम् (हितोप० १.१३३)।

२. पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति—अथर्ववेद १०.८.३२।

व्यापप्राते । व्यापरिप्यते । व्यापृत, व्यापृषाताम् ॥

अर्थ—पृङ् (पृ) धातु 'प्रवृत्त होना, चेष्टा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]। इस का प्रयोग प्राय वि और आङ् इन दो उपसर्गों को पूर्व में लगा कर किया जाता है।

व्याख्या—ङित् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा 'ऊदन्तै०' में परिगणित न होने से अनुदात्त अर्थात् अनिट् है। लिट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। इस की प्रक्रिया प्राय मृड धातु की तरह होती है।

लॅट्—व्यापृियते, व्यापृियेते, व्यापृियन्ते। लिट्—व्यापप्रे, व्यापप्राते, व्यापप्रिरे। लुट्—व्यापर्ता, व्यापर्तारौ, व्यापर्तार । व्यापर्तासे—। लृट—व्यापरिष्यते, व्यापरिष्येते, व्यापरिष्यन्ते । लोट्—व्यापृियताम्, व्यापृियेताम, व्यापृियन्ताम् । लङ्—व्यापृियत, व्यापृियेताम्, व्यापृियन्त । वि० लिङ्—व्यापृियेत, व्यापृियेयाताम्, व्यापृियेरन् । आ० लिङ्—व्यापृषीष्ट, व्यापृषीयास्ताम्, व्यापृषीरन् । लुङ्—व्यापृत, व्यापृषाताम्, व्यापृषत । लृङ्—व्यापरिष्यत, व्यापरिष्येताम्, व्यापरिष्यन्त ।

इसी प्रकार—दृङ् आदरे (प्रायेण आङ्पूर्वं, आदर करना, तुदा०, आत्मने०, अनिट्, सकर्मक) धातु के प्रयोग बनते हैं। लॅट्—आद्रियते। लिट्—आदृदे। लुट्—आदर्ता। लृट्—आदरिष्यते। लोट्—आद्रियताम्। लङ्—आद्रियत। वि० लिङ्—आद्रियेत। आ० लिङ्—आदृषीष्ट। लुङ्—आदृत। लृङ्—आदरिष्यत। वाक्य आद्रियते च वाग्वजन—वैराग्य० ७३। इस के कर्मणिप्रयोग बहुत प्रचलित हैं, यथा—द्वितीयाऽद्रियते सदा—हितोप० प्रस्तावना।

[ लघु० ] जुषीं प्रीति-सेवनयो ॥४४॥ जुषते। जुजुषे ॥

अर्थ—जुषीं (जुष्) धातु 'प्रसन्न होना और सेवन करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है[2]।

---

१ व्यायाम उद्योग (क्षीरस्वामी)। यहां 'व्यायाम' का अर्थ उद्यम करना, चेष्टा करना, लगना, प्रवृत्त होना आदि है। इस धातु के साथ प्राय सप्तमी का प्रयोग देखा जाता है—'अधिज्यमिदमस्मिन् कर्मणि व्यापृतं धनु' (शाकुन्तल ६ ३२)। इस के णिजन्त प्रयोगों का साहित्य में खूब प्रचलन है—'उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि' (कुमार० ३ ६७), 'व्यापारितं शूलभृता विधाय तिहत्व-मङ्गागतसत्त्ववृत्ति' (रघु० २ ३८), 'व्यापारितं शिरसि शस्त्रमशस्त्रपाणे' (वेणी० ३ १६)।

२ 'प्रसन्न होना' अर्थ में यह अकर्मक है, यथा—यत्र देवासो अजुषन्त विश्वे (यजु० ४ १, अजुषन्त=अप्रीयन्त इति महीधर)। इस अर्थ में इस के विरल प्रयोग हैं। 'सेवन करना' ही इसका सुप्रसिद्ध अर्थ है। 'सेवन करना' का भी व्यापक अर्थों में प्रयोग देखा जाता है। रथ पर बैठना भी रथ का सेवन करना है—रथञ्च जुजुषे

**व्याख्या**—इस धातु का अन्त्य ईकार अनुदात्तानुनासिक होने से इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाता है। 'जुष्' मात्र ही अवशिष्ट रहता है। अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। इसे ईदित् करने का प्रयोजन 'ष्वीदितो निष्ठायाम्' (७.२.१४) द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध करना है—जुष्टः, जुष्टवान्। अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन—गीता २.२।

लँट्—जुषते, जुषेते, जुषन्ते। लिँट्—जुजुषे, जुजुषाते, जुजुषिरे। लुँट्—जोषिता, जोषितारौ, जोषितारः। जोषितासे—। लृँट्—जोषिष्यते, जोषिष्येते, जोषिष्यन्ते। लोँट्—जुषताम्, जुषेताम्, जुषन्ताम्। लँङ्—अजुषत, अजुषेताम्, अजुषन्त। वि०लिँङ्—जुषेत, जुषेयाताम्, जुषेरन्। आ०लिँङ्—जोषिषीष्ट, जोषिषीयास्ताम्, जोषिषीरन्। लुँङ्—अजोषिष्ट, अजोषिषाताम्, अजोषिषत। लृँङ्—अजोषिष्यत, अजोषिष्येताम्, अजोषिष्यन्त।

इसी प्रकार—लस्जृँ व्रीडायाम् (लज्जित होना, तुदा० आत्मने० सेट् अकर्मक) धातु के रूप बनते हैं। इस में मस्ज् धातु की तरह ष्टुत्व से सकार को शकार तथा जश्त्व से शकार को जकार हो जाता है। लँट्—लज्जते। लिँट्—ललज्जे। लुँट्—लज्जिता। लृँट्—लज्जिष्यते। लोँट्—लज्जताम्। लँङ्—अलज्जत। वि० लिँङ्—लज्जेत। आ० लिँङ्—लज्जिषीष्ट। लुँङ्—अलज्जिष्ट। लृँङ्—अलज्जिष्यत।

[लघु०] **ओँविजीँ भय-चलनयोः** ॥४५॥ प्रायेणायमुत्पूर्वः। उद्विजते॥

**अर्थः**—ओँविजीँ (विज्) धातु 'डरना या डर से कांपना' अर्थों में प्रयुक्त होती है। इस धातु का प्रायः 'उद्' उपसर्ग पूर्व में लगाकर प्रयोग किया जाता है[1]।

**व्याख्या**—ओँविजीँ का आदि ओकार तथा अन्त्य ईकार दोनों इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाते हैं, अतः 'विज्' ही शेष रहता है। अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। इसे ईदित् करने का प्रयोजन 'ष्वीदितो निष्ठायाम्' (७.२.७४) से निष्ठा में इट् का निषेध करना तथा ओदित करने का प्रयोजन 'ओदितश्च' (८२०) द्वारा निष्ठा के तकार को नकार करना है—उद्विग्नः, उद्विग्नवान्।

---

शुभम् (भट्टि० १४.६५), किसी स्थान का निवास या गमन भी सेवन ही है—जुषन्ते पर्वतश्रेष्ठमृषयः पर्वसन्धिषु (महाभारत), दुःख को पाना भी दुःख का सेवन करना है—पौलस्त्योऽजुषत शुचं विपन्नबन्धुः (भट्टि० १७.११२), परलोक में जाना भी परलोक का सेवन करना है—परलोकजुषाम् (रघु० ८.८५), रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये (कादम्बरी १)।

१. 'प्रायः' इस लिये कहा है कि कहीं कहीं इसका उल्लङ्घन भी देखा जाता है। यथा—चक्रन्द विग्ना कुररीव दीना—रघु० १४,६८, विग्ना=उद्विग्ना। आयधेन्वो विजमानः प्राङ्डेर्वेति—ऐ० आ० ७.१६। विजमानः=उद्विजमानः।

लँट्—उद्विजते[1], उद्विजेते, उद्विजन्ते। लिँट्—उद्विविजे, उद्विविजाते, उद्विविजिरे। लुँट्—मे इट् का आगम होकर 'विज्+इता' इस स्थिति मे लघूपधगुण प्राप्त होता है। इस का अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(६६५) विज इट्।१।२।२॥

विज पर इडादिप्रत्ययो ङिद्वत्। उद्विजिता॥

अर्थ—विज् (भ्वो॰विजृँ) धातु से परे इडादि प्रत्यय ङिद्वत् हो।

व्याख्या—विज १।१।१। इट १।१।१। ('गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' से)। विज् से यहा भ्वो॰विजृँ धातु तथा इट् से इडादिप्रत्यय अभिप्रेत हैं [देखें—न्यास पदमञ्जरी आदि]। अर्थ—(विज) भ्वो॰विजृँ धातु से परे (इट्) इडादि प्रत्यय (ङित्) ङिद्वत् होता है। ङिद्वत् करने का प्रयोजन गुण का निषेध करना है।

'विज्+इता' यहा प्रकृतसूत्र से इडादि प्रत्यय के ङिद्वत् हो जाने से 'क्ङिति च' (४३३) द्वारा लघूपधगुण का निषेध हो जाता है—विजिता=उद्विजिता[2]। लुँट् मे रूपमाला यथा—उद्विजिता, उद्विजितारौ, उद्विजितार। उद्विजितासे—। लृँट्—मे भी इडादि प्रत्यय के ङिद्वत् हो जाने से गुण का निषेध हो जाता है—उद्विजिष्यते, उद्विजिष्येते, उद्विजिष्यन्ते। लोँट्—उद्विजताम्, उद्विजेताम्, उद्विजन्ताम्। लँङ्—उदविजत, उदविजेताम्, उदविजन्त। वि॰ लिँङ्—उद्विजेत[3], उद्विजेयाताम्, उद्विजेरन्। आ॰ लिँङ्—उद्विजिषीष्ट, उद्विजिषीयास्ताम्, उद्विजिषीरन्। लुँङ्—उदविजिष्ट, उदविजिषाताम्, उदविजिषत। लृँङ्—उदविजिष्यत, उदविजिष्येताम्, उदविजिष्यन्त।

## अभ्यास (१२)

(१) सोदाहरण स्पष्ट व्याख्या करें—

(क) व्यचे कुटादित्वमनसीति तु नेह प्रवर्त्तते०।

(ख) द्विहल्ग्रहणस्यानेकहल्लक्षणत्वान्नुट्—आनर्च्छ।

(ग) आदिशब्द प्रकारे, तेन येऽत्र नकारानुबन्धास्ते तृम्फादय।

(घ) मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम् वाच्य।

(ङ) अङभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्व इति वक्तव्यम्।

(च) स्थानषष्ठीनिर्देशाद् रोपधयोर्निवृत्ति।

(छ) *व्याघ्रमुलिमते सेट्, आध्यमतेऽनिट्।*

(२) निम्न प्रश्नों का सप्रमाण उत्तर दीजिए—

(क) उद्विजिता और कुटिता मे लघूपधगुण क्यो नहीं होता?

१ यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य—गीता १२ १५।

२ 'उद्वेजिता वृष्टिमिराश्रयन्ते' इत्यादियो मे णिजन्त का प्रयोग है। णिच् इडादिप्रत्यय नही है अत उस के परे रहते गुण निर्बाध हो जाता है।

३ सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव—मनु॰ २ १६२।

(ङ) मुचादि कौन कौन से हैं और उन में क्या विशिष्ट कार्य होता है ?
(ञ) 'मुञ्चति' में 'अनिदितां हल:०' से नकारलोप क्यों नहीं होता ?
(घ) 'स्फूर्याद्' की तरह 'स्फूल्यात्' क्यों नहीं बनता ?
(ङ) 'णू' धातु को दीर्घान्त मानने का क्या प्रयोजन है ?
(च) 'अकृक्षत' यह एकवचन है या बहुवचन, अथवा दोनों ? कैसे ?

(३) शप् और श विकरण में प्रधानतया क्या अन्तर पड़ता है ? स्पष्ट करें।

(४) कर्तृवाच्य में मृड् और शद्लृ धातु के किस किस लकार में कौन कौन सा पद होता है ? क्या कर्मवाच्य में भी इसी प्रकार व्यवस्था होगी ?

(५) सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
भ्रस्जो रोपध०, अनुदात्तस्य चर्दुप०, ऋत इद् धातोः, म्रियतेर्लुङ्लिङोः, शदेः शितः, स्फुरतिस्फुलत्यो०, अचि विभाषा।

(६) लुङ् के प्र० पु० के एकवचन में रूप सिद्ध करें—
प्रच्छ्, मृड्, गृ, मृश्, रुज्, मस्ज्, इष्, व्यच्, व्रश्च्, सिच्, कृप्, भ्रस्ज्।

(७) थल् में रूप सिद्ध करें—
भ्रस्ज्, व्रश्च्, इष्, गृ, मस्ज्, कुट्।

(८) मुचादियों को रुधादियों में ही क्यों नहीं पढ़ देते, जिस से नुमागम करना ही न पड़े ?

(९) सार्वधातुक लकारों में रूपमाला लिखें—
शद्, षद्, मृड्, व्रश्च्, भ्रस्ज्, प्रच्छ्, इष्।

(१०) आर्धधातुक लकारों में रूपमाला लिखें—
कुट्, मस्ज्, गृ, व्रश्च्, भ्रस्ज्, प्रच्छ्, इष्।

## इति तिङन्ते तुदादयः

(यहां पर तुदादिगण की धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

## अथ तिङन्ते रुधादयः

अब तिङन्तप्रकरण में रुधादिगण की धातुओं का निरूपण किया जाता है—

[लघु०] रुधिँर् आवरणे ॥१॥

अर्थः—रुधिँर् (रुध्) धातु 'रोकना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

---

१. 'आवरणे' का यहां व्यापक अर्थों में प्रयोग हुआ है। यथा—
(१) आच्छादन करना—रुध्यते (आव्रियते) चर्मणेति रुधिरम् (उणा०१.५१)।
(२) घेरना—अरुणद् यवनः साकेतम् (महाभाष्य ३.२.१११)।

व्याख्या—रुधिँर् धातु में 'इर इत्सञ्ज्ञा वाच्या' (वा० ३८) द्वारा इर् की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है तब उस का लोप होकर 'रुध्' मात्र अवशिष्ट रहता है। इर् में इकार स्वरित है अत स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी है। इसे इरित् करने का प्रयोजन परस्मैपद के लुँङ् मे 'इरितो वा' (६२८) द्वारा च्लि को वैकल्पिक अङ् करना है। अनुदात्तों मे परिगणित होने से यह धातु अनिट् है। लिँट् मे आदिनियम से सर्वत्र (थल् मे भी) नित्य इट् हो जाता है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में 'रुध्+ति' इस अवस्था मे सार्वधातुक परे होने से 'कर्तरि शप्' (३८७) द्वारा शप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६६) रुधादिभ्य श्नम् ।३।१।७८॥

शपोऽपवाद । रुणद्धि । श्नसोरल्लोप (५७४) रुन्ध, रुन्धन्ति । रुणत्सि, रुन्ध, रुन्ध । रुणद्धि, रुन्ध्व, रुन्ध्म । रुन्धे, रुन्धाते, रुन्धते । रुन्त्से, रुन्धाथे, रुन्ध्वे । रुन्धे, रुन्ध्वहे, रुन्ध्महे । रुरोध; रुरुधे । रोद्धासि, रोद्धासे । रोत्स्यति; रोत्स्यते । रुणद्धु-रुन्धातु, रुन्धाम्, रुन्धन्तु । रुन्धि । रुणधानि, रुणधाव, रुणधाम । रुन्धाम्, रुन्धाताम, रुन्धताम् । रुन्त्स्व । रुणधै, रुणधावहै, रुणधामहै । अरुणत्-अरुणद्, अरुन्धाम्, अरुन्धन् । अरुण-अरुणत्-अरुणद् । अरुन्ध, अरुन्धाताम्, अरुन्धत । अरुन्धा । रुन्ध्यात्, रुन्धीत । रुध्यात्, रुत्सीष्ट । अरुधत्-अरौत्सीत् । अरुद्ध, अरुत्साताम्, अरुत्सत । अरोत्स्यत्; अरोत्स्यत ॥

अर्थ —कर्तृवाचक सार्वधातुक परे हो तो रुधादि धातुओं से परे श्नम् प्रत्यय हो। यह शप् का अपवाद है।

व्याख्या—रुधादिभ्य ।५।३। श्नम् ।१।१। कर्तरि ।७।१। ('कर्तरि शप्' से)। सार्वधातुके ।७।१।('सार्वधातुके यक्' से)। रुध् आदिर्येषान्ते रुधादय[1], तद्गुणसविज्ञान-बहु०। अर्थ —(कर्तरि) कर्ता अर्थ मे (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो (रुधादिभ्य) रुध् आदि धातुओं से परे (श्नम्) श्नम् होता है। 'प्रत्यय' (३।१।१) के अधिकार मे आने से श्नम् एक प्रत्यय है अत 'लशक्वतद्धिते' (१३६) द्वारा इस के आदि

---

(३)बान्धना—व्याल बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते(नीति० ५)।

(४)रोकना—अहो विधे ! त्वं करुणा रुणद्धि नो (नैषध १।१३५)।

(५) बन्द करना—अजम् अवरुणद्धि गाम् (देखें कारकप्रकरण)।

(६) थामना—सद्य पाति प्रणयि हृदय विप्रयोगे रुणद्धि (मेघदूत ६)।

इन सब अर्थों में कुछ न कुछ 'रोकने' का भाव विद्यमान है।

१ जश्त्वमाचरित नाऽत्र सुस्पष्टप्रतिपत्तये।

णकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है[1]। मकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा होती है। इत्सञ्ज्ञकों का लोप करने पर 'न' मात्र अवशिष्ट रहता है। ध्यान रहे कि श्नम् में नकारोत्तर अकार अनुनासिक न होने से इत्सञ्ज्ञक नहीं होता। मित् होने से श्नम् 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (२४०) द्वारा अन्त्य अच् से परे किया जाता है। यह सूत्र 'कर्तरि शप्' (३८७) द्वारा प्राप्त शप् का अपवाद है।

'रुध् + ति' यहां 'ति' यह कर्तृवाचक सार्वधातुक परे विद्यमान है अतः प्रकृत सूत्र से शप् का बाध कर श्नम् प्रत्यय हो जाता है। श्नम् मित् है अतः रुध् के अन्त्य अच् उकार से परे होकर 'रुनध् + ति' हुआ। अब 'झषस्तथोर्धोऽधः' (५४९) से 'ति' के तकार को धकार, 'झलां जशोऽन्ते' (१९) से धातु के धकार को जश्त्व-दकार तथा 'अट्कुप्वाङ्०' (१२८) से नकार को णकार करने पर 'रुणद्धि' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र० पु० के द्विवचन तस् में श्नम् होकर—रुनध् + तस्। 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा तस् ङित् है। अतः सार्वधातुक ङित् के परे रहते 'श्नसोरल्लोपः' (५७४) से श्नम् के अकार का लोप होकर—रुन्ध् + तस्। 'झषस्तथोः०' (५४९) से तस् के तकार को धकार करने पर—रुन्ध् + धस्। अब णत्व (८.४.२) के असिद्ध होने से अपदान्त नकार को अनुस्वार (८.३.२४), जश्त्व से धातु के धकार को दकार तथा परसवर्ण से अनुस्वार को पुनः नकार होकर—रुन्द् + धस्। परसवर्ण के असिद्ध होने से 'अट्कुप्वाङ्०' (१३८) द्वारा पुनः णत्व की प्राप्ति नहीं होती। तब 'झरो झरि सवर्णे' (७३) से द् का वैकल्पिक लोप करने पर लोपपक्ष में 'रुन्धः' और लोप के अभाव में 'रुन्द्धः' इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं।

प्र० पु० के बहुवचन झि में श्नम् तथा 'झोऽन्तः' (३८९) से झ् को अन्त् आदेश होकर—रुनध् + अन्ति। अब पूर्ववत् श्नम् के अकार का लोप तथा अनुस्वार और परसवर्ण करने पर 'रुन्धन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है। णत्व का कारण यहां भी पहले की तरह समझ लेना चाहिये। लँट् के परस्मैपद में आगे भी इसी तरह यथा-सम्भव प्रक्रिया होती है। आत्मने० में श्नम् होकर सर्वत्र ङिद्वद्भाव के कारण श्नम् के अकार का लोप करने पर पूर्ववत् प्रक्रिया होती है—रुन्धे-रुन्द्धे। लोट् के दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) रुणद्धि, रुन्धः-रुन्द्धः, रुन्धन्ति। रुणत्सि, रुन्धः-रुन्द्धः, रुन्ध-रुन्द्ध। रुणध्मि, रुन्ध्वः, रुन्ध्मः,। (आत्मने०) रुन्धे-रुन्द्धे, रुन्धाते, रुन्धते,। रुन्त्से, रुन्धाथे, रुन्ध्वे-रुन्द्ध्वे,। रुन्धे, रुन्ध्वहे, रुन्ध्महे।

लिँट्—(परस्मै०) ररोध, ररुधतुः, ररुधुः। ररोधिथ, ररुधथुः, ररुध। ररोध,

---

१. श्नम् का शित्करण 'श्नसोरल्लोपः' (५७४), 'श्नान्नलोपः' (६६८) आदि में श्नम् की पहचान के लिये है सार्वधातुक-सञ्ज्ञा के लिये नहीं, क्योंकि सार्व-धातुकसञ्ज्ञा का रुधादियों में कुछ उपयोग नहीं। श्नम् के परे रहने पर 'र' आदि के अङ्ग न होने से गुण प्राप्त ही नहीं हो सकता।

रुरुधिव, रुरुधिम। (आत्मने०) रुरुधे, रुरुधाते, रुरुधिरे। लुंट्—मे लघूपधगुण होकर धत्व और जश्त्व हो जाता है— (परस्मै०) रोद्धा, रोद्धारौ, रोद्धार। रोद्धासि—। (आत्मने०) रोद्धा, रोद्धारौ, रोद्धार। रोद्धासे—। लृट्—मे लघूपधगुण होकर चर्त्व हो जाता है— (परस्मै०) रोत्स्यति, रोत्स्यतः, रोत्स्यन्ति। (आत्मने०) रोत्स्यते, रोत्स्येते, रोत्स्यन्ते।

लोट्— (परस्मै०) रुणद्धु रुन्धात्-रुन्द्धात्, रुन्धाम्-रुन्द्धाम्, रुन्धन्तु। रुन्धि रुन्द्धि-रुन्धात्-रुन्द्धात्[1], रुन्धम्-रुन्द्धम्, रुन्ध-रुन्द्ध। रुणधानि, रुणधाव, रुणधाम। (आत्मने०) रुन्धाम्-रुन्द्धाम्, रुन्धाताम्, रुन्धताम्। रुन्त्स्व, रुन्धायाम्, रुन्ध्वम्-रुन्द्ध्वम्। रुणधै[2], रुणधावहै, रुणधामहै।

लंड्—परस्मै० प्र० पु० के एकवचन मे 'अरुनध्+त्' इस स्थिति मे 'हलन्ताच्च०' (१७९) से अपृक्त तकार का लोप होकर पदान्त मे जश्त्व(६७) तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर 'अरुणत्-अरुणद्' दो रूप सिद्ध होते हैं। म० पु० के एकवचन सिप् मे भी इसी प्रकार अपृक्त सकार का लोप तथा जश्त्व होकर 'अरुणद्' इस स्थिति मे प्रत्ययलक्षणद्वारा सिप् को मान कर 'दश्च' (५७३) सूत्र से पदान्त दकार को विकल्प से रुँत्व हो जाता है। रुँत्वपक्ष मे रेफ को विसर्ग होकर—अरुणः, रुँत्वाभाव मे वैकल्पिक चर्त्व करने पर—अरुणत्-अरुणद्। परस्मै० मे अन्यत्र तथा आत्मने० मे कुछ विशेष नहीं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अरुणत् अरुणद्, अरुन्धाम् अरुन्द्धाम्, अरुन्धन्। अरुणः-अरुणत् अरुणद्, अरुन्धम्-अरुन्द्धम्, अरुन्ध-अरुन्द्ध। अरुणधम्, अरुन्ध्व, अरुन्ध्म।(आत्मने०) अरुन्ध-अरुन्द्ध, अरुन्धाताम्, अरुन्धत। अरुन्धाः-अरुन्द्धाः, अरुन्धायाम्, अरुन्ध्वम् अरुन्द्ध्वम्। अरुन्धि, अरुन्ध्वहि, अरुन्ध्महि।

वि० लिंड्—(परस्मै०) रुन्ध्यात्, रुन्ध्याताम, रुन्ध्युः। रुन्ध्याः, रुन्ध्यातम्,

---

१. लोट् के म० पु० के एकवचन मे सिप् को 'हि' आदेश, श्नम् तथा 'हुझल्भ्य०' (५५६) से 'हि' को 'धि' आदेश होकर—रुनध्+धि। 'हि' के अपित् होने से उसके स्थान पर होने वाला 'धि' आदेश भी अपित् है, अत 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से वह ङिद्वत् हो जाता है। ङित सार्वधातुक के परे रहते 'श्नसोरल्लोपः' (५७४) से श्नम् के अकार का लोप हो जाता है—रुन्ध्+धि। अब अपदान्त नकार को अनुस्वार, जश्त्व तथा परसवर्ण करने पर सवर्ण झर् का वैकल्पिक लोप किया तो 'रुन्धि-रुन्द्धि' दो रूप सिद्ध हुए। आ० लोट् मे 'हि' को तातङ् होकर श्लोप, चत्व, अनुस्वार, जश्त्व, परसवर्ण तथा झर् का वैकल्पिक लोप करने पर 'रुणधात्-रुन्द्धात्' दो रूप सिद्ध होते हैं।

२ लोट के उ० पु० मे आट् आगम के पित् होने से ङिद्भाव नहीं होता अत अकार का लोप नहीं होता।

रुन्ध्यात । रुन्ध्याम्, रुन्ध्याव, रुन्ध्याम । (आत्मने०) रुन्धीत, रुन्धीयाताम्, रुन्धीरन् । रुन्धीथाः, रुन्धीयाथाम्, रुन्धीध्वम् । रुन्धीय, रुन्धीवहि, रुन्धीमहि ।

आ० लिँङ्—(परस्मै०) रुध्यात्, रुध्यास्ताम्, रुध्यासुः । (आत्मने०) रुत्सीष्ट, रुत्सीयास्ताम्, रुत्सीरन् ('लिँङ्सिँचावात्मनेपदेषु' ५८६) ।

लुँङ्—परस्मै० में 'इरितो वा' (६२८) से च्लि को विकल्प से अङ् आदेश हो जाता है । अङ् के ङित् होने से लघूपधगुण नहीं होता—अरुधत् । अङ् के अभाव में च्लि को सिँच् होकर हलन्तलक्षणा वृद्धि तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो जाता है—अरौत्सीत् । आत्मने० में च्लि को केवल सिँच् होता है । 'अरुध्+स्+त' इस स्थिति में सकार का झलोझलिलोप होकर धत्व और जश्त्व करने पर—अरुद्ध । ध्यान रहे कि आत्मने० में 'लिँङ्सिँचावात्मनेपदेषु' (५८६) से सिँच् के कित् होने के कारण लघूपधगुण नही होता । रूपमाला यथा—(परस्मै०) अङ्पक्षे—अरुधत्, अरुधताम्, अरुधन् । सिँच्पक्षे—अरौत्सीत्, अरौद्धाम्, अरौत्सुः । (आत्मने०) अरुद्ध, अरुत्साताम्, अरुत्सत । अरुद्धाः, अरुत्साथाम्, अरुद्ध्वम् । अरुत्सि, अरुत्स्वहि, अरुत्स्महि ।

लृँङ्—(परस्मै०) अरोत्स्यत्, अरोत्स्यताम्, अरोत्स्यन् । (आत्मने०) अरोत्स्यत, अरोत्स्येताम्, अरोत्स्यन्त ।

उपसर्गयोग—सम्√रुध्=काबू करना, वश में करना (अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् माऽवमंस्थास्तृणमिव लघुलक्ष्मीर्नैव तान् संरुणद्धि—नीति० १३) ।

अव√रुध्=वन्द करना (व्रजमवरुणद्धि गाम्—कारकप्रकरण); धारण करना (शोकं चित्तमवारुधत्—भट्टि० ६.६, शोक को चित्त में धारण किया); अवरोधः=घेरा (दुर्गावरोधः—पञ्च०), राजा की स्त्रियां (अवरोधे महत्यपि—रघु० १.३२) ।

उप√रुध्=आग्रह करना, अनुरोध करना (अभ्युत्सहे सम्प्रति नोपरोद्धुमल्पेतरत्वाच्छ्रुतनिष्क्रयस्य—रघु० ५.२२); घेरना (उपरुध्यारिमासीत—मनु० ७.१६५); विघ्न डालना (ममान्वेषिणः सैनिकास्तपोवनमुपरुन्धन्ति—शाकुन्तल प्रथमाङ्क); रोकना (उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिम्—शाकुन्तल ४.१७) ।

आ√रुध्=दूर करना, हटाना (बन्धुता शुचमारुणत्—भट्टि० १७.४६, बन्धुसमूह ने शोक को दूर भगाया) ।

नि√रुध्=निरोध करना, नियमन करना, रोकना (न्यरुन्धन्नस्य पन्थानम्—भट्टि० १७.४६) ।

वि√रुध्=विरोध करना (श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी—स्मृति) ।

प्रति√रुध्=प्रतिरोध करना, मुकाबला करना, विरुद्ध आचरण करना (प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव—मनु० ३.१५३) ।

नोट—शत्रन्त रुध् का स्त्रीलिङ्ग में—रुन्धती, नुम् नहीं होता । इसी प्रकार

अदादि (हलन्त), जुहोत्यादि, स्वादि, रुधादि, तनादि एव क्रयादिगण मे समझ लेना चाहिये—अदती, जुह्वती, सुन्वती, रुन्धती, कुर्वती, जानती आदि। इसी तरह इन गणो की धातुओं के शानच् में मुक् (८३२) नहीं होता—आचक्षाण, ददान, अश्नुवान, रुन्धान, कुर्वाण, जानान आदि।

[लघु०] भिदिँर् विदारणे ॥२॥

अर्थ—भिदिँर् (भिद्) धातु 'तोडना-फाडना-चीरना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—भिदिँर् मे भी पूर्ववत् इर् इत्सञ्ज्ञक है, अत भिद् ही अवशिष्ट रहता है। स्वरितेत् होन से यह धातु उभयपदी तथा अनुदात्तो म परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् मे क्रादिनियम से सर्वत्र इट् का आगम हो जाता है। इस की प्रक्रिया रुध् धातु की तरह होती है परन्तु झपन्त न होने से इस में 'झषस्तथोर्धोऽध' (५४९) सूत्र की प्रवृत्ति नही होती। इसी प्रकार जश्त्व की भी अप्रवृत्ति समझ लेनी चाहिये। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) भिनत्ति[2], भिन्त-भिन्त, भिन्दन्ति। भिनत्सि, भिन्थ-भिन्त्थ, भिन्थ भिन्त्थ। भिनद्धि, भिन्द्व, भिन्द्म। (आत्मने०) भिन्ते भिन्त्ते, भिन्दाते, भिन्वते। भिन्त्से, भिन्दाथे, भिन्ध्वे-भिन्द्ध्वे। भिन्दे, भिन्द्वहे, भिन्द्महे। लिँट्—(परस्मै०) बिभेद, बिभिदतु, बिभिदु। (आत्मने०) बिभिदे, बिभिदाते, बिभिदिरे। लुँट्—(परस्मै०) भेत्ता, भेत्तारौ, भेत्तार। भेत्तासि—। (आत्मने०) भेत्ता, भेत्तारौ, भेत्तार। भेत्तासे—। लृँट्—(परस्मै०) भेत्स्यति, भेत्स्यत, भेत्स्यन्ति। (आत्मने०) भेत्स्यते, भेत्स्येते, भेत्स्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) भिनत्तु-भिन्तात्-भिन्तात्, भिन्ताम् भिन्ताम्, भिन्दन्तु। भिन्धि-भिन्द्धि-भिन्तात् भिन्तात्, भिन्तम्-भिन्तम्, भिन्त भिन्त। भिनदानि, भिनदाव, भिनदाम। (आत्मने०) भिन्ताम्-भिन्ताम्, भिन्दाताम्, भिन्दताम्। भिन्त्स्व, भिन्दायाम्, भिन्ध्वम्-भिन्द्ध्वम्। भिनदै, भिनदावहै, भिनदामहै। लँङ्—(परस्म०) अभिनत्-अभिनद्, अभिन्ताम्-अभिन्ताम्, अभिन्दन्। अभिन-अभिनत्-अभिनद्, अभिन्तम्-अभिन्तम् अभिन्त-अभिन्त। अभिनदम्, अभिन्द्व, अभिन्द्म। (आत्मने०) अभिन्त अभिन्त, अभिन्दाताम्, अभिन्दत।

---

१ इस धातु का लाक्षणिक अर्थों मे भी खूब प्रयोग होता है—(१) षट्कर्णो भिद्यते मन्त्र—हितो०। (२) तेषां कथ न हृदय न भिनत्ति सज्ञा—मुद्रा० ३ ३३। (३) सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्—कुमार० १ ३२। (४) शुष्ककाष्ठञ्च मूर्खश्च भिद्यते न तु नम्यते—सुभाषित। (५) दूत एव हि सन्धत्ते भिनत्त्येव च सहतान्—मनु० ७ ६६। (६) भिन्न-सारङ्ग-यूथ—शाकु० १ ३५। (७) सुभग! त्वत्कथारम्भे भिनत्त्यङ्गानि साऽङ्गना—साहित्यदर्पण ३ ११९।

२ अतिशीतलमप्यम्भ किं भिनत्ति न भूभृत—सुभाषित।

अभिन्त्याः, अभिन्दायाम्, अभिन्ध्वम्-अभिन्द्ध्वम् । अभिन्दि, अभिन्द्हि, अभिन्ध्हि । वि० लिङ्—(परस्मै०) भिन्द्यात्, भिन्द्याताम्, भिन्द्युः । (आत्मने०) भिन्दीत, भिन्दीयाताम्, भिन्दीरन् । आ० लिङ्—(परस्मै०) भिद्यात्, भिद्यास्ताम्, भिद्यासुः । (आत्मने०) भित्सीष्ट, भित्सीयास्ताम्, भित्सीरन् । लुँङ्—(परस्मै०) अङ्पक्षे—अभिदत्, अभिदताम्, अभिदन् । सिच्पक्षे—अभैत्सीत्, अभैत्ताम्, अभैत्सुः ।(आत्मने०) अभित्त, अभित्साताम्, अभित्सत । लृँङ्—(परस्मै०) अभेत्स्यत्, अभेत्स्यताम्, अभेत्स्यन् । (आत्मने०) अभेत्स्यत, अभेत्स्येताम्, अभेत्स्यन्त ।

उपसर्गयोग—सम्√भिद्=भली भाति भेदन करना (भ्रुवोर्मध्यं तु सम्भिद्य याति शीतांशुमण्डलम्—योगकुण्ड्ल्युपनिषत् १.६६); मिलाना (कदम्बसम्भिन्नः पवनः—भट्टि० ७.५, कदम्बगन्धसश्लिष्ट इति जयमङ्गला; अन्योऽन्यसम्भिन्नदृशां सखीनाम्—मालती० १.३६) ।

निर्√भिद्=तोड़ना (निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः—विक्रमो० २.२२); खोलना-प्रकट करना (निर्भिन्नप्रायं रहस्यम्—दशकुमार०) ।

प्रति√भिद्=भर्त्सना करना—निराकरण करना—तिरस्कार करना (प्रत्यभैत्सुरवदन्त्य एव तम्—रघु० १६.२२, प्रत्यभैत्सुः=तिरश्चक्रुरिति मल्लिनाथः) ।

उद्√भिद्=(कर्मणि) उभरना-ऊपर आना-उठना (उद्भिन्नपयोधरया—कादम्बरी; यावन्नोद्भिद्यते स्तनौ—स्मृति) ।

## [लघु०] छिदिँर् द्वैधीकरणे[1] ॥३॥

अर्थः—छिदिँर् (छिद्) धातु 'दो टुकड़े करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—यह धातु पूर्ववत् इरित् है । स्वरितेत् होने से इसे उभयपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् समझना चाहिये । आदिनियम से लिँट् में सर्वत्र इट् हो जायेगा । इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया भिद् धातु की तरह होती है । रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) छिनत्ति, छिन्तः-छिन्दन्ति[2] । छिनत्सि, छिन्त्थः-छिन्त्थ, छिन्म्य-छिन्त्य । छिनद्धि, छिन्द्धः, छिन्द्मः । (आत्मने०) छिन्ते-छिन्दते,

---

१. 'द्वैधीकरणे' में च्विप्रत्यय का अभूततद्भाव मे प्रयोग किया गया है । जो द्वैध (द्विविध) नहीं उसे द्विविध अर्थात् टुकड़े करने का नाम 'द्वैधीकरण' है । इस धातु का लाक्षणिक अर्थों में भी खूब प्रयोग होता है—

(१) तृष्णां छिन्धि भज क्षमाम्—नीति० ६६ ।

(२) छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत—गीता ४.४२ ।

(३) न नः किञ्चिच्छिद्यते—हमारी कुछ भी हानि नहीं होती—श्रीभाष्य । हिन्दी का 'छीनना' भी इसी धातु का विकृत रूप है ।

२. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि—गीता २.२३ ।

छिन्दाते, छिन्दते। छिन्त्से, छिन्दाथे, छिन्ध्वे-छिन्द्ध्वे। छिन्दे, छिन्द्वहे, छिन्महे। लिट्—(परस्मै०) चिच्छेद, चिच्छिदतु, चिच्छिदु। (आत्मने०) चिच्छिदे, चिच्छिदाते, चिच्छिदिरे। 'छे च' (१०१) से सर्वत्र तुक् का आगम हो जाता है[1]। लुट्—(परस्मै०) छेत्ता, छेत्तारौ, छेत्तार। छेत्तासि—। (आत्मने०) छेत्ता, छेत्तारौ, छेत्तार। छेत्तासे—। लृट्—(परस्मै०) छेत्स्यति, छेत्स्यत, छेत्स्यन्ति। (आत्मने०) छेत्स्यते, छेत्स्येते, छेत्स्यन्ते। लोट्—(परस्मै०) छिनत्तु-छिन्तात्-छिन्तात्, छिन्ताम्-छिन्ताम्, छिन्दन्तु। छिन्धि-छिन्द्धि-छिन्तात्-छिन्तात्, छिन्तम्-छिन्तम्, छिन्त-छिन्त। छिनदानि, छिनदाव, छिनदाम। (आत्मने०) छिन्ताम्-छिन्ताम्, छिन्दाताम्, छिन्दताम्। छिन्त्स्व, छिन्दायाम्, छिन्ध्वम्-छिन्द्ध्वम्। छिनदै, छिनदावहै, छिनदामहै। लेट्—(परस्मै०) अच्छिनत्-अच्छिनद्, अच्छिन्ताम्-अच्छिन्ताम्, अच्छिन्दन्। अच्छिन-अच्छिनत्-अच्छिनद्, अच्छिन्तम्-अच्छिन्तम्, अच्छिन्त-अच्छिन्त। अच्छिनदम्, अच्छिन्द्व, अच्छिन्द्म। (आत्मने०) अच्छिन्त-अच्छिन्त, अच्छिन्दाताम्, अच्छिन्दत। अच्छिन्था-अच्छिन्त्था, अच्छिन्दाथाम्, अच्छिन्ध्वम्-अच्छिन्द्ध्वम्। अच्छिदि, अच्छिन्द्वहि, अच्छिन्महि। वि० लिङ्—(परस्मै०) छिन्द्यात्, छिन्द्याताम्, छिन्दु। (आत्मने०) छिन्दीत, छिन्दीयाताम्, छिन्दीरन्। आ० लिङ्—(परस्मै०) छिद्यात्, छिद्यास्ताम्, छिद्यासु। (आत्मने०) छित्सीष्ट, छित्सीयास्ताम्, छित्सीरन्। लुङ्—(परस्मै०) अङ्पक्षे—अच्छिदत्, अच्छिदताम्, अच्छिदन्। सिचपक्षे—अच्छैत्सीत्, अच्छैत्ताम्, अच्छैत्सु। (आत्मने०) अच्छित्त, अच्छित्साताम्, अच्छित्सत। लृङ्—(परस्मै०) अच्छेत्स्यत, अच्छेत्स्यताम्, अच्छेत्स्यन्। (आत्मने०) अच्छेत्स्यत, अच्छेत्स्येताम्, अच्छेत्स्यन्त।

उपसर्गयोग—आ√छिद्=छीनना (मातुर्हस्तादाच्छिद्य—शिवराज० पृष्ठ १४), काटना (आच्छेत्स्याम्येतस्य धनुर्ज्याम्—महाभारत, 'आङ्माङोश्च' इति तुक्)।

उद्√छिद्=उच्छेद करना—काटना—नष्ट करना—जड से उखाडना (नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलम्—मनु० ७ १३६, कि वा रिपूस्तव गुरु स्वयमुच्छिनत्ति—रघु० ५ ७१, एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन—मनु० ३ १०१, कर्मकर्तरि प्रयोग)।

वि√छिद्=विच्छेद करना—अलग करना—काटना (यदपि विच्छिन्न भवति कृतसन्धानमिव तत्—शाकुन्तल १ ३२, विच्छिद्यमानेऽपि कुले परस्य पुत्र कथ स्या-दिह पुत्रकाम्या—भट्टि० ३ ५२)।

सम्√छिद्—उच्छेद करना (ज्ञानसञ्छिन्नसशय—गीता ४ ४१)।

अव√छिद्—सीमित करना (दिक्कालाद्यनवच्छिन्नाऽनन्तचिन्मात्रमूर्तये—

---

१ अभ्यास का हलादिशेष करने पर 'चि+छिद्+अतुस्' इस स्थिति में 'छे च' द्वारा तुक् का आगम होता है। ध्यान रहे कि यह तुक् ह्रस्व का अवयव बनता है न कि 'चि' का। अत एव अभ्यास का अवयव न होने से उस का पुन हलादिशेष से लोप नही होता (देखें ६ १ ७१ सूत्र पर काशिका)।

नीति० १); निश्चय करना (शब्दार्थस्याऽनवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः—वाक्यपदीय २.३१६); नव्यन्याय के अवच्छेदक, अवच्छिन्न (देखें न्यायकोष)।

परि√छिद्—इयत्ता का निश्चय करना (परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः—मालती० १.३३); निश्चय करना—अवधारण करना—निर्णय करना (परात्मनोः परिच्छिद्य शक्त्यादीनां बलाऽबलम्—रघु० १७.५९; परिच्छेदो हि पाण्डित्यं यदापन्ना विपत्तयः । अपरिच्छेदकर्तॄणां विपदः स्युः पदे पदे—हितोप० १.१४८)।

## [लघु०] युजिँर् योगे ॥४॥

अर्थः—युजिँर् (युज्) धातु 'जोड़ना-मिलाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—युजिँर् में इर् की इत्सञ्ज्ञा होकर 'युज्' शेष रहता है। स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी तथा अनुदात्तो में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में ऋदिनियम से नित्य इट् हो जाता है। इस की प्रक्रिया मे कुछ विशेष नहीं। यथास्थान 'चोः कुः' (३०६) की प्रवृत्ति कर लेनी चाहिये। किञ्च सवर्ण झर् परे न रहने के कारण इस मे 'झरो झरि सवर्णे' (७३) की प्रवृत्ति नहीं होती। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) युनक्ति, युङ्क्तः, युञ्जन्ति । युनक्षि, युङ्क्थः, युङ्क्थ । युनज्मि, युञ्ज्वः, युञ्ज्मः । (आत्मने०) युङ्क्ते, युञ्जाते, युञ्जते । युङ्क्षे, युञ्जाथे, युङ्ग्ध्वे । युञ्जे, युञ्ज्वहे, युञ्ज्महे । लिँट्—(परस्मै०) युयोज, युयुजतुः, युयुजुः । युयोजिथ—। (आत्मने०) युयुजे, युयुजाते, युयुजिरे । लुँट्—(परस्मै०) योक्ता, योक्तारौ, योक्तारः । योक्तासि—। (आत्मने०) योक्ता, योक्तारौ, योक्तारः । योक्तासे—। लृँट्—(परस्मै०) योक्ष्यति, योक्ष्यतः, योक्ष्यन्ति । (आत्मने०) योक्ष्यते, योक्ष्येते, योक्ष्यन्ते । लोँट्—(परस्मै०)युनक्तु-युङ्क्तात्, युङ्क्ताम्, युञ्जन्तु । युङ्ग्धि-युङ्क्तात्, युङ्क्तम्, युङ्क्त । युनजानि, युनजाव, युनजाम । (आत्मने०) युङ्क्ताम्, युञ्जाताम्, युञ्जताम् । युङ्क्ष्व, युञ्जाथाम्, युङ्ग्ध्वम् । युनजै, युनजावहै, युनजामहै । लँङ्—(परस्मै०) अयुनक्-अयुनग्, अयुङ्क्ताम्, अयुञ्जन् । अयुनक्-अयुनग्[1], अयुङ्क्तम्, अयुङ्क्त । अयुनजम्, अयुञ्ज्व, अयुञ्ज्म । (आत्मने०) अयुङ्क्त, अयुञ्जाताम्, अयुञ्जत । अयुङ्क्थाः, अयुञ्जाथाम्, अयुङ्ग्ध्वम् । अयुञ्जि, अयुञ्ज्वहि, अयुञ्ज्महि । वि० लिँङ्—(परस्मै०) युञ्ज्यात्, युञ्ज्याताम्, युञ्ज्युः । (आत्मने०) युञ्जीत, युञ्जीयाताम्, युञ्जीरन् । आ०लिँङ्—(परस्मै०) युज्यात्, युज्यास्ताम्, युज्यासुः । (आत्मने०) युक्षीष्ट, युक्षीयास्ताम्, युक्षीरन् । लुँङ्—(परस्मै०) अङ्पक्षे—अयुजत्, अयुजताम्, अयुजन् । सिँच्पक्षे—अयौक्षीत्, अयौक्षताम्, अयौक्षुः । (आत्मने०) अयुक्त, अयुक्षाताम्, अयुक्षत । लृँङ्—(परस्मै०) अयोक्ष्यत्, अयोक्ष्यताम्, अयोक्ष्यन् । (आत्मने०) अयोक्ष्यत, अयोक्ष्येताम्, अयोक्ष्यन्त ।

---

१. ध्यान रहे कि यहां दकार न होने से 'दश्च' (५७३) सूत्र की प्रवृत्ति नही होती।

उपसर्गयोग—प्र√युज्=प्रयोग करना (वस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद्व्यवहारकाले—महाभाष्य पस्पशा०)।

अनु√युज्=पूछना (किं वस्तु विद्वन्! गुरवे प्रदेय त्वया क्रियदेति तमन्व युङ्क्त—रघु० ५ १८)।

उप√युज्=उपयोग करना (याङ्गुण्यमुपयुञ्जीत—माघ २ ९३), भोगना (फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीते —रघु० १३ ४६)।

वि√युज्=वियुक्त करना—अलग करना—छोड़ना (मदयानसमुद्धत नृप न वियुङ्क्ते नियमेन मूढता—किराता० २ ४८)।

नि√युज्=नियुक्त करना (कार्ये गुरुण्यात्मसम नियोक्ये—कुमार० ३ १३)।

वि+नि√युज्=लगाना—प्रवृत्त करना (यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते—प्रश्नोपनिषद् ३ ४)।

उद्√युज्=उद्यम करना—प्रयत्न करना (भवन्तमभियोक्तुम् उद्युङ्क्ते—दशकुमार०)।

अभि√युज्=ढूढना, आक्रमण करना (मन्त्रिण्यसनम् अभियुञ्जानस्य शत्रुम् अभियोक्तुर्नैकान्तिकी सिद्धिर्भवति—मुद्रा० ४)।

आ√युज्=नियुक्त करना, लगाना (आयुक्तो द्यूतकर्मणि—मट्टि० ८ ११५)।

सम्√युज्=मिलाना, युक्त करना (स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु—श्वेता० उप० ३ ४)।

नोट—यज्ञपात्रो का विषय न हो तो अजादि वा अजन्त उपसर्ग से परे युज् धातु से सदा आत्मनेपद होता है—स्वराद्यन्तोपसर्गादिति वक्तव्यम् (वा०)।

[लघु०] रिचिँर् विरेचने ॥५॥ रिणक्ति, रिङ्क्ते। रिरेच। रेक्ता। रेक्ष्यति। अरिणक्। अरिचत्। अरैक्षीत्, अरिक्त॥

अर्थ—रिचिँर् (रिच्) धातु 'निकालना वा खाली करना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है[1]।

---

१ विरेचन निस्सारणम् इति क्षीरस्वामी। कुछ आचार्यों ने 'विरेक—पौन पुन्येन पुरीषोत्सर्ग' (इति चतुर्भुज—देखें कविकल्पद्रुमटीका) अर्थात् 'बार बार टट्टी करना' इस का अर्थ माना है। उन के मतानुसार यह धातु अकर्मक है—रिणक्ति रिङ्क्ते वा अतिसारकी (वही टीका)। परन्तु भट्टि आदियो ने इस का 'खाली करना, निकालना' अर्थ मे सकर्मकतया प्रयोग किया है—रिणचिम जलधेस्तोयम् (मैं समुद्र को जलरहित करता हू—भट्टि० ६ ३६)। कमवाच्य में इस के प्रयोग बहुधा उपलब्ध होते हैं—आविर्भूते शशिनि तमसा रिच्यमानेव रात्रि (विक्रमो० १ ९), रिक्ता भवन्ति भरिता भरिताश्च रिक्ता (सुभाषित)। आयुर्वेद में प्रसिद्ध विरेचन, विरेचक, विरेच्य आदि शब्द इसी धातु से निष्पन्न होते हैं। पाणिनीय धातुपाठ के चुरादिगणान्तर्गत आयुर्वेदीयों में भी यह धातु पढ़ी गई है—रिच विमोजन-सम्पर्चनयो।

व्याख्या—रिचिँर् में इर् इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाता है, रिच् ही अवशिष्ट रहता है। स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी तथा चकारान्त अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से सर्वत्र (थल् में भी) इट् का आगम हो जाता है। इस की प्रक्रिया भी युज् धातु की तरह समझनी चाहिये। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) रिणक्ति, रिङ्क्तः, रिञ्चन्ति। (आत्मने०) रिङ्क्ते, रिञ्चाते, रिञ्चते। लिँट्—(परस्मै०) रिरेच, रिरिचतुः, रिरिचुः। (आत्मने०) रिरिचे, रिरिचाते, रिरिचिरे। लुँट्—(परस्मै०)रेक्ता, रेक्तारौ, रेक्तारः। रेक्तासि—। (आत्मने०) रेक्ता, रेक्तारौ, रेक्तारः। रेक्तासे—। लृँट्—(परस्मै०) रेक्ष्यति, रेक्ष्यतः, रेक्ष्यन्ति। (आत्मने०) रेक्ष्यते, रेक्ष्येते, रेक्ष्यन्ते। लोँट्—(परस्मै०) रिणक्तु-रिङ्क्तात्, रिङ्क्ताम्, रिञ्चन्तु। (आत्मने०) रिङ्क्ताम्, रिञ्चाताम्, रिञ्चताम्। लँङ्—(परस्मै०) अरिणक्-अरिणग्, अरिङ्क्ताम्, अरिञ्चन्।(आत्मने०) अरिङ्क्त, अरिञ्चाताम्, अरिञ्चत। वि० लिँङ्—(परस्मै०)रिञ्च्यात्, रिञ्च्याताम्, रिञ्च्युः। (आत्मने०) रिञ्चीत, रिञ्चीयाताम्, रिञ्चीरन्। आ० लिँङ्—(परस्मै०) रिच्यात्, रिच्यास्ताम्, रिच्यासुः। (आत्मने०) रिक्षीष्ट, रिक्षीयास्ताम्, रिक्षीरन्(लिँङ्सिचावात्मनेपदेषु)। लुँङ्—(परस्मै०) अङ्पक्षे—अरिचत्, अरिचताम्, अरिचन्। सिँच्पक्षे—अरैक्षीत्, अरैक्ताम्, अरैक्षुः। (आत्मने०) अरिक्त, अरिक्षाताम्, अरिक्षत। लृँङ्—(परस्मै०) अरेक्ष्यत्, अरेक्ष्यताम्, अरेक्ष्यन्। (आत्मने०) अरेक्ष्यत, अरेक्ष्येताम्, अरेक्ष्यन्त।

उपसर्गयोग—अति√रिच्(कर्मणि)=बढ-चढ कर होना, लाङ्घा हुआ होना, अधिक होना, (प्रायः पञ्चम्यन्त के साथ प्रयोग देखे जाते हैं। यथा—अश्वमेध-सहस्रेभ्यः सत्यमेवाऽतिरिच्यते—हितोप० ४.१३१)। अतिरेकः=अधिकता, अतिशय। व्यतिरेकः=आधिक्य (उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः—काव्यप्रकाश १०)। अतिरिक्त=अतिशयाधिक्ययुक्त (सर्वाऽतिरिक्तसारेण—रघु० १.१४)।

[लघु०] विचिँर् पृथग्भावे ॥६॥ विनक्ति; विङ्क्ते॥

अर्थः—विचिँर् (विच्) धातु 'अलग करना, पृथक् करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इस धातु को पूर्णतया रिचिँर् धातुवत् समझना चाहिए। रूप-माला यथा—

लँट्—(परस्मै०) विनक्ति, विङ्क्तः, विञ्चन्ति। (आत्मने०) विङ्क्ते, विञ्चाते, विञ्चते। लिँट्—(परस्मै०) विवेच, विविचतुः, विविचुः। (आत्मने०) विविचे, विविचाते, विविचिरे। लुँट्—(परस्मै०) वेक्ता, वेक्तारौ, वेक्तारः। वेक्तासि—। (आत्मने०) वेक्ता, वेक्तारौ, वेक्तारः। वेक्तासे—। लृँट्—(परस्मै०) वेक्ष्यति, वेक्ष्यतः, वेक्ष्यन्ति।(आत्मने०) वेक्ष्यते, वेक्ष्येते, वेक्ष्यन्ते। लोँट्—

(परस्मै०) विनक्तु-विङ्क्तात्, विङ्क्ताम्, विञ्चन्तु । (आत्मने०) विङ्क्ताम्, विञ्चाताम्, विञ्चताम् । लँङ्—(परस्मै०) अविनक्-अविनग्, अविङ्क्ताम्, अविञ्चन् । (आत्मने०) अविङ्क्त, अविञ्चाताम्, अविञ्चत । वि० लिङ्—(परस्मै०) विञ्च्यात्, विञ्च्यास्ताम्, विञ्च्यु । (आत्मने०) विञ्चीत, विञ्चीयास्ताम्, विञ्चीरन् । आ० लिङ्—(परस्मै०) विच्यात्, विच्यास्ताम्, विच्यासु । (आत्मने०) विक्षीष्ट, विक्षीयास्ताम्, विक्षीरन् । लुँङ्—(परस्मै०) अङ्पक्षे—अविचत्, अविचताम्, अविचन् । सिच्पक्षे—अवैक्षीत्, अवैक्षताम्, अवैक्षुः । (आत्मने०) अविक्षत, अविक्षाताम्, अविक्षत । लृँङ्—(परस्मै०) अवेक्ष्यत्, अवेक्ष्यताम्, अवेक्ष्यन् । (आत्मने०) अवेक्ष्यत, अवेक्ष्येताम्, अवेक्ष्यन्त ।

नोट—इस धातु का लोक और वेद मे प्राय 'वि' पूर्वक प्रयोग ही उपलब्ध होता है । यथा—विविञ्चन्ति वनस्पतीन्—ऋग्वेद १ ३६ ५, विविनक्तु देवो व सविता—यजु० १ १६, विविनक्मि दिव सुरान्—भट्टि० ६ ३६ । विवेक, विवेकिन्, विवेचन, विवेचना आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं ।

[लघु०] क्षुदिँर् सम्पेषणे ॥ ७ ॥ क्षुणत्ति, क्षुन्ते । क्षोता । अक्षुदत्-अक्षौत्सीत्; अक्षुत्त ॥

अर्थ—क्षुदिँर् (क्षुद्) धातु 'मसलना—पीसना—रौंदना—चूर्ण करना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है[1] ।

व्याख्या—यह धातु भी इरित् तथा स्वरितेत् है । स्वरितेत् होने से इसे उभयपदी, तथा अनुदात्तो मे परिगणित होने से अनिट् समझना चाहिये । लिँट् मे आदिनियम से सर्वत्र (थल् मे भी) इट् हो जाता है । इस की समग्र प्रक्रिया तथा रूपमाला 'छिदिँर्' धातुवत् चलती है—

लँट्—(परस्मै०) क्षुणत्ति, क्षुन्त-क्षुन्तः, क्षुन्दन्ति । (आत्मने०) क्षुन्ते-क्षुन्तो, क्षुन्दाते, क्षुन्दते । लिँट्—(परस्मै०) चुक्षोद, चुक्षुदतुः, चुक्षुदुः । (आत्मने०) चुक्षुदे, चुक्षुदाते, चुक्षुदिरे । लुट्—(परस्मै०) क्षोता, क्षोतारौ, क्षोतारः । क्षोतासि—। (आत्मने०) क्षोता, क्षोतारौ, क्षोतारः । क्षोतासे— । लृँट्—(परस्मै०) क्षोत्स्यति, क्षोत्स्यतः, क्षोत्स्यन्ति । (आत्मने०) क्षोत्स्यते, क्षोत्स्येते, क्षोत्स्यन्ते । लोँट्—(परस्मै०) क्षुणत्तु-क्षुन्तात्-क्षुन्तात्, क्षुन्ताम्-क्षुन्तान्, क्षुन्दन्तु । (आत्मने०) क्षुन्ताम्-क्षुन्ताम्, क्षुन्दाताम्, क्षुन्दताम् । लँङ्—(परस्मै०) अक्षुणत-अक्षुणद्, अक्षुन्ताम्-अक्षुन्ताम्, अक्षुन्दन् । (आत्मने०) अक्षुन्त अक्षुन्त, अक्षुन्दाताम्, अक्षुन्दत । वि० लिङ्—(परस्मै०) क्षुन्द्यात्, क्षुन्द्याताम्, क्षुन्द्यु । (आत्मने०) क्षुन्दीत, क्षुन्दीयाताम्,

---

१ इसी धातु से क्षोद (धूलि), क्षुण्ण (कूटा गया, पीसा गया), क्षुद्र, क्षौद्र (क्षुद्राभि सरघाभिर्निर्वृत्त क्षौद्र मधु, अण्), क्षोदीयस् (ईयसुन्), क्षोदिष्ट (इष्ठन्), क्षोदिमन् (पु०, क्षुद्रता, सूक्ष्मता) आदि शब्द सिद्ध होते हैं ।

क्षुन्वीरन्। आ० लिङ्—(परस्मै०) क्षुद्यात्, क्षुद्यास्ताम्, क्षुद्यासुः। (आत्मने०) क्षुत्सीष्ट, क्षुत्सीयास्ताम्, क्षुत्सीरन्। लुङ्—(परस्मै०) अङ्पक्षे—अक्षुवत्, अक्षुदताम्, अक्षुदन्। सिच्पक्षे—अक्षौत्सीत्, अक्षौत्ताम्, अक्षौत्सुः। (आत्मने०) अक्षुत्त, अक्षुत्साताम्, अक्षुत्सत। लृङ्—(परस्मै०) अक्षोत्स्यत्, अक्षोत्स्यताम्, अक्षोत्स्यन्। (आत्मने०) अक्षोत्स्यत, अक्षोत्स्येताम्, अक्षोत्स्यन्त।

[लघु०] **उँच्छृदिँर् दीप्ति-देवनयोः॥ ८॥** छृणत्ति; छृन्ते। चच्छर्द। **सेऽसिँचि० (६३०)** इति वेट्—चच्छृदिषे-चच्छृत्से। छर्दिता। छर्दिष्यति-छर्त्स्यति। अच्छृदत्-अच्छर्दीत्; अच्छर्दिष्ट॥

अर्थः—उँच्छृदिँर् (छृद्) धातु 'चमकना और खेलना' अर्थों मे प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—उँच्छृदिँर् के आदि में उकार अनुनासिक होने से इत्सञ्ज्ञक है। अन्त्य इर् की भी पूर्ववत् इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। अतः 'छृद्' मात्र अवशिष्ट रहता है। स्वरितेत् होने से इसे उभयपदी समझना चाहिये। इसे उदित् करने का प्रयोजन **'उदितो वा'** (८८२) द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प करना है—छृत्वा-छर्दित्वा [इट्पक्षे **'न क्त्वा सेट्'** (८८०) इति कित्त्वनिषेधाद् गुणः]। अनुदात्तों में परिगणित न होने से यह धातु सेट् है, परन्तु सिँच्भिन्न सकारादि आर्धधातुक प्रत्ययों में **'सेऽसिँचि कृतचृत०'** (६३०) द्वारा इट् का विकल्प हो जाता है।

लँट्—(परस्मै०) छृणत्ति, छृन्तः-छृन्तः, छृन्दन्ति। (आत्मने०) छृन्ते-छृन्ते, छृन्दाते, छृन्दते। लिँट्—(परस्मै०) चच्छर्द, चच्छृदतुः, चच्छृदुः। (आत्मने०) चच्छृदे, चच्छृदाते, चच्छृदिरे। चच्छृदिषे-चच्छृत्से[2], चच्छृदाथे, चच्छृदिध्वे। चच्छृदे, चच्छृदिवहे, चच्छृदिमहे। लुँट्—(परस्मै०) छर्दिता, छर्दितारौ, छर्दितारः। छर्दितासि—। (आत्मने०) छर्दिता, छर्दितारौ, छर्दितारः। छर्दितासे—। लृँट्—(परस्मै०) छर्दिष्यति-छर्त्स्यति। (आत्मने०) छर्दिष्यते-छर्त्स्यते। लोँट्—(परस्मै०) छृणत्तु-छृन्तात्-छृन्तात्, छृन्ताम्-छृन्ताम्, छृन्दन्तु। (आत्मने०) छृन्ताम्-छृन्ताम्, छृन्दाताम्, छृन्दताम्। लँङ्—(परस्मै०) अच्छृणत्, अच्छृन्ताम्-अच्छृन्ताम्, अच्छृन्दन्। (आत्मने०) अच्छृन्त-अच्छृन्त, अच्छृन्दाताम्, अच्छृन्दत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) छृन्द्यात्, छृन्द्याताम्, छृन्द्युः। (आत्मने०) छृन्दीत, छृन्दीयाताम्, छृन्दीरन्। आ०

---

१. शाकटायन, बोपदेव, तथा हेमचन्द्र आदि आचार्य इस धातु का 'वमन करना' अर्थ भी मानते है। आयुर्वेद के छर्दि (वमन) आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं।

२. **'सेऽसिँचि०'** (६३०) से इट् का विकल्प हो जाता है, परन्तु जो लोग 'वा' के विषय में क्रादिनियम की प्रवृत्ति स्वीकार करते है उन के मत में केवल एक ही रूप बनेगा—चच्छृदिषे। ध्यान रहे कि लिँट्, लँङ्, लुँङ् और लृँङ् में **'छे च'** (१०१) द्वारा तुक् का आगम होकर श्चुत्व करने पर उसे चकार हो जाता है।

लिंङ्—(परस्मै०) छृद्यात्, छृद्यास्ताम्, छृद्यासु । (आत्मने०) मे 'सेऽसिंचि०' से इट् का विकल्प, इट् के अभाव में 'लिंङ्सिचावात्मने०' (५८६) से मन्नादि लिंङ् के कित्त्व के कारण लघूपधगुण नहीं होता । इट्पक्ष में मन्नादि न रहने से कित्त्व नहीं होता अतः गुण निर्बाध हो जाता है । इट्पक्षे—छर्दिषीष्ट, छर्दिषीयास्ताम्, छर्दिषीरन् । इटोऽभावे—छृत्सीष्ट, छृत्सीयास्ताम्, छृत्सीरन् । लुंङ्—(परस्मै०) अङ्पक्षे—अच्छृदत्, अच्छृदताम्, अच्छृदन् । सिच्यक्षे—अच्छर्दीत्, अच्छर्दिष्टाम्, अच्छर्दिषुः । (आत्मने०) अच्छर्दिष्ट, अच्छर्दिषाताम्, अच्छर्दिषत । लृंट् -(परस्मै०) अच्छर्दिष्यत्-अच्छर्त्स्यत् । (आत्मने०) अच्छर्दिष्यत-अच्छर्त्स्यत ।

[लघु०] उँतृदिँर् हिंसाऽनादरयो ॥९॥ तृणत्ति, तृन्ते ॥

अर्थ—उँतृदिँर् (तृद्) धातु हिंसा करना और अनादर करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्वपठित उँच्छृदिँर् धातु की तरह उदित्, इरित्, उभयपदी तथा सेट् है । इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया पूर्ववत् जाननी चाहिये ।

लँट्—(परस्मै०)तृणत्ति । (आत्मने०) तृन्ते । लिँट्—(परस्मै०) ततर्द । (आत्मने०) ततृदे । लुंट्—(परस्मै०) तर्दिता, तर्दितारौ, तर्दितारः । तर्दितासि—। (आत्मने०) तर्दिता, तर्दितारौ, तर्दितारः । तर्दितासे—। लृंट्—(परस्मै०) तर्दिष्यति-तर्त्स्यति' । (आत्मने०) तर्दिष्यते-तर्त्स्यते । लोँट्—(परस्मै०) तृणत्तु-तृन्तात् । (आत्मने०) तृन्ताम् । लँङ्—(परस्मै०) अतृणत्-अतृणद् ।(आत्मने०) अतृन्त-अतृन्त । वि० लिँङ्—(परस्मै०) तृन्यात् । (आत्मने०) तृन्दीत । आ० लिँङ्—(परस्मै०) तृद्यात् । (आत्मने०) तर्दिषीष्ट-तृत्सीष्ट । लुंङ्—(परस्मै०) अतृदत्-अतर्दीत् । (आत्मने०) अतर्दिष्ट । लृंङ्—(परस्मै०) अतर्दिष्यत्-अतर्त्स्यत् । (आत्मने०) अतर्दिष्यत-अतर्त्स्यत ।

यहां तक रुध् के अनुरोध से पहले उभयपदी धातुओं का वर्णन किया गया है। अब परस्मैपदी धातुओं का वर्णन प्रारम्भ होता है—

[लघु०] कृतीँ वेष्टने ॥१०॥ कृणत्ति ॥

अर्थ—कृतीँ (कृत्) धातु वेष्टन करना या लपेटना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[२] ।

---

१ 'सेऽसिंचि०' (६३०) से पूर्ववत् इट् का विकल्प होता है ।

२ यहां 'वेष्टन' का अभिप्राय 'कातना' ही है । कातने में रुई आदि का वेष्टन ही होता है । वर्तमान लौकिकसाहित्य में इसके प्रयोग कम मिलते हैं । पर वैदिक साहित्य में इस का कई स्थानों पर प्रयोग देखा जाता है । यथा—या अकृन्तन् अवयन्—परिधत्त धत्त (अथर्ववेद १४।१।४५) । तर्कु (तकला, कातने के साधन चर्खे की शलाका) शब्द इसी धातु से वर्णव्यत्ययद्वारा निष्पन्न होता है ।

**व्याख्या**—इस धातु का अन्त्य ईकार उदात्त तथा अनुनासिक है, इत्सञ्ज्ञा कर लोप करने से 'कृत्' मात्र अवशिष्ट रहता है। उदात्तेत् होने से यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तों मे परिगणित न होने से सेट् है। परन्तु 'सेऽसिँचि कृतचृत०' (६३०) सूत्र में उल्लेख होने से सिँच्-भिन्न सकारादि आर्धधातुक प्रत्ययों में इस से परे वैकल्पिक इट् हो जाता है।

लँट्—कृणत्ति, कृन्तः-कृन्तः, कृन्तन्ति। लिँट्—चकर्त, चकृततुः, चकृतुः। लुँट्—कर्तिता, कर्तितारौ, कर्तितारः। लृँट्—(इट्पक्षे) कर्तिष्यति, कर्तिष्यतः, कर्तिष्यन्ति। (इटोऽभावे) कर्त्स्यति, कर्त्स्यतः, कर्त्स्यन्ति। लोँट्—कृणत्तु-कृन्तात्-कृन्तात्, कृन्ताम्-कृन्ताम्, कृन्तन्तु। लँङ्—अकृणत्-अकृणद्, अकृन्ताम्-अकृन्ताम्, अकृन्तन्। वि० लिँङ्—कृन्त्यात्, कृन्त्याताम्, कृन्त्युः। आ० लिँङ्—कृत्यात्, कृत्यास्ताम्, कृत्यासुः। लुँङ्—अकर्तीत्, अकर्तिष्टाम्, अकर्तिषुः। लृँङ्—(इट्पक्षे) अकर्तिष्यत्। (इटोऽभावे) अकर्त्स्यत्।

## [लघु०] तृह हिंसिँ हिंसायाम् ॥११॥१२॥

**अर्थः**—तृह (तृह्) और हिंसिँ (हिन्स्) धातु 'हिंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती हैं।

**व्याख्या**—तृह में अन्त्य अकार उच्चारणार्थ अथवा उदात्तानुनासिक है। परन्तु हिंसिँ का अन्त्य इकार उदात्तानुनासिक ही है। इस प्रकार 'तृह्' और 'हिंस्' मात्र अवशिष्ट रह जाता है। आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण दोनों धातुएं परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् हैं। प्रथम तृह् धातु की प्रक्रिया यथा—

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में श्नम् करने पर 'तृनह्+ति' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६७) तृणह इम् ।७।३।९२॥

तृहः श्नमि कृते इमागमो हलादौ पिति सार्वधातुके। तृणेढि, तृण्ढः। ततर्ह। तर्हिता। अतृणेट्॥

**अर्थः**—हलादि पित् सार्वधातुक परे होने पर तृह् धातु से श्नम् कर चुकने पर इम् का आगम हो।

**व्याख्या**—तृणहः।६।१। इम्।१।१। पिति।७।१। सार्वधातुके।७।१। ('नाऽन्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' से)। हलि।७।१। ('उतो वृद्धिर्लुकि हलि' से)। 'हलि' यह 'सार्वधातुके' का विशेषण है अतः तदादिविधि होकर 'हलादौ सार्वधातुके' बन जाता है। 'तृणहः' यह श्नम् की हुई तृह् धातु (तृणह्) का षष्ठ्यन्त रूप है। श्नम्-युक्त के ग्रहण का तात्पर्य यह है कि श्नम् प्रत्यय हो चुकने पर इस सूत्र से इम् का

आगम हो'। अर्थ —(तृणह) श्नम्युक्त जो तृह् उस का अवयव (इम्) इम् हो जाता है (हलादौ पिति सार्वधातुके) हलादि पित् सार्वधातुक परे हो तो। इम् मे मकार इत्सञ्ज्ञक है अत. पित् होने से यह अन्त्य अच् से परे किया जायेगा।

'तृनह्+ति' यहा 'तिप्' यह हलादि पित् सार्वधातुक परे विद्यमान है अत प्रकृतसूत्र से श्नम्युक्त तृह् अर्थात् तृनह् को इम का आगम करने पर—तृन+इम्+ह्+ति। इम् के मकार का लोप कर 'आद् गुण' (२७) स गुण किया तो—तृनेह्+ति। 'हो ढ' (२५१) से हकार को ढकार, 'झषस्तथोर्धोऽध (५४६) से 'ति' के तकार को धकार तथा 'ष्टुना ष्टु' (६४) से ष्टुत्व द्वारा धकार को भी ढकार करने पर—तृनेढ्+ढि। अब 'ढो ढे लोप' (५५०) से प्रथम ढकार का लोप होकर 'ऋवर्णान्नस्य णत्व वाच्यम्' (वा० २१) से णत्व किया तो 'तृणेढि' रूप सिद्ध हुआ।

तस् प्रत्यय पित् नही अत इम के परे रहने तृनह् को इम् का आगम नहीं होता—तृनह्+तस्। 'श्नसोरल्लोप.' (५७४) से श्नम् के अकार का लोप होकर—तृन्ह्+तस्। पूर्ववत् हत्व, धत्व और ष्टुत्व करने पर—तृन्द्+ढस्। अब ढोढेलोप कर नकार को अनुस्वार तथा परसवर्ण किया तो 'तृण्ढ' प्रयोग सिद्ध हुआ।

प्र० पु० के बहु० में झि के झकार को अन्त् आदेश, श्नम् के अकार का लोप तथा नकार को अनुस्वार करने पर—तृन्हन्ति। म० पु० के एक० सिप् मे इम् का आगम होकर 'तृनेह्+सि' इस स्थिति में हत्व, 'धढो ध सि' (५४८) से ढकार को धकार, 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) से सिप् के सकार को षकार तथा क्ष् योग से क्ष् करने पर—तृणेक्षि। इसी प्रकार मिप् मे=तृणेह्मि। लँट् मे रूपमाला यथा—तृणेढि, तृण्ढ, तृन्हन्ति। तृणेक्षि, तृण्ढ, तृण्ढ। तृणेह्मि[1], तृह्व, तृह्म।

लिँट्—ततर्ह, ततृहतु, ततृहु। ततर्हिथ, ततृहथु, ततृह। ततर्ह, ततृहिव ततृहिम। लुँट्—तर्हिता, तर्हितारौ, तर्हितार। लृँट्—तर्हिष्यति, तर्हिष्यत, तर्हिष्यन्ति। लोँट्—तृणेढु[2]-तृण्ढात्[3], तृण्ढाम्, तृन्हतु। तृण्ढि[4]-तृण्ढात्, तृण्ढम्, तृण्ढ।

---

१ यदि श्नम् का बीच मे ग्रहण न करते तो इम् को श्नम् का अपवाद समझा जा सकता था। अथवा अपवाद न भी समझा जाता तो भी पहले इम् और बाद में श्नम् करने पर अनिष्ट रूप बन सकता था। अब श्नम्युक्त निर्देश के कारण पहले श्नम् और बाद मे इम् का होना सुस्पष्ट हो जाता है।

२ न तृणेह्मीति लोकोऽयं मां विन्तं निष्परिग्रहम्—भट्टि० ६ ३६।

३ तृणेढु राम सह सक्ष्मणेन—भट्टि० १.१६।

४ तातङ् ङित् है, अत 'ङिच्च पित्' के अनुसार यह पित् नहीं। पित् परे न होने से इम् का आगम नही होता, 'तृण्ढ' की तरह प्रक्रिया होती है।

५ यहा 'सेर्ह्यपिच्च' (४१५) से 'हि' अपित् है अत इम् का आगम नहीं होता। 'तृण्ढ' की तरह 'तृण्ढि' की सिद्धि होती है।

तृणहानि, तृणहाव, तृणहाम[1]।

लँङ्—में 'अतृनह्+त्' इस स्थिति में 'हलङ्याब्भ्यः०' (१७६) से अपृक्त तकार का लोप हो जाता है। तब प्रत्ययलक्षण द्वारा उसे मान कर इम् का आगम होकर पदान्त में ढत्व, जश्त्व, णत्व तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर 'अतृणेट्-अतृणेड्' दो रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—अतृणेट्-अतृणेड्[2], अतृण्ढाम्, अतृंहन्। अतृणेट्-अतृणेड्, अतृण्ढम्, अतृण्ढ। अतृणहम्, अतृंह्व, अतृंह्म।

वि० लिँङ्—में यासुट् ङित् होता है। 'ङिच्च पित्' के अनुसार वह पित् नहीं होता अतः तिप्, सिप् और मिप् में इम् आगम का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता—तृंह्यात्, तृंह्याताम्, तृंह्युः।

आ० लिँङ्—तृंह्यात्, तृंह्यास्ताम्, तृंह्यासुः। लुँङ्—अतर्हीत्, अतर्हिष्टाम्, अतर्हिषुः। लृँङ्—अतर्हिष्यत्, अतर्हिष्यताम्, अतर्हिष्यन्।

अब 'हिंसिँ' धातु की प्रक्रिया आरम्भ करते हैं। यह धातु इदित् है अतः 'इदितो नुम् धातोः' (४६३) से सर्वप्रथम इसे नुम् का आगम होकर 'हिन्स्' बन जाता है।

लँट्—प्र० पु के एकवचन में 'हिन्स्+ति' इस दशा में 'रुधादिभ्यः श्नम्' (६६६) से श्नम् प्रत्यय होकर 'हिनन्स्+ति' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६८) श्नान्नलोपः ।६।४।२३॥

श्नमः परस्य नस्य लोपः स्यात्। हिनस्ति। जिंहिंस। हिंसिता॥

अर्थः—श्नम् से परे नकार का लोप हो।

व्याख्या—श्नात् ।५।१। नलोपः ।१।१। नस्य लोपः—नलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। श्नम् के मकार अनुबन्ध का लोप होकर 'श्न' रह जाता है, इसी का पञ्चम्यन्तरूप 'श्नात्' कहा गया है। अर्थः—(श्नात्) श्नम् से परे (नलोपः) नकार का लोप हो जाता है।

'हिनन्स्+ति' यहां प्रकृतसूत्र से श्नम् से परे नुम् वाले नकार का लोप होकर 'हिनस्ति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी सार्वधातुक लकारों में श्नम् से परे नकार का लोप हो जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यह सूत्र यहां सार्वधातुक लकारों में 'इदितो नुम् धातोः' (४६३) के किये कार्य पर पानी फेर देता है, वहां नुम् का सर्वथा लोप हो जाता है। लँट् में रूपमाला यथा—

---

१. समग्र उ० पु० में 'आडुत्तमस्य पिच्च' (४१८) द्वारा आट् का आगम पित् तो है परन्तु हलादि नहीं, अतः इम् का आगम नहीं होता।

२. अतृणेट् शक्नुजिच्छत्रून्—भट्टि० १७.१५।

हिनस्ति[1], हिंस्त , हिंसन्ति । हिनस्मि, हिंस्व , हिंस्म ।

लिट्—जिहिंस, जिहिंसतु , जिहिंसु । जिहिंसिथ— । लुट्—हिंसिता, हिंसितारौ, हिंसितार । लृट्—हिंसिष्यति, हिंसिष्यत , हिंसिष्यन्ति । लोट्—हिनस्तु-हिंस्तात्, हिंस्ताम्, हिंसन्तु । हिंन्धि[2]-हिंस्तात्, हिंस्तम्, हिंस्त । हिनसानि, हिनसाव, हिनसाम ।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन मे नुम्, शनम् और नकार का लोप होकर 'अहि-नस्+त्' इस स्थिति में अपृक्त तकार का हल्ङ्यादिलोप करने पर—'अहिनस्' हुआ। अब पदान्त मे 'ससजुषो रुँ' (१०५) से रुँत्व प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६९) तिप्यनस्ते ।८।२।७३॥

पदान्तस्य सस्य द स्यात् तिपि न तु अस्ते । 'ससजुषो रुँ' (१०५) इत्यस्याऽपवाद । अहिनत्-अहिनद्, अहिंस्ताम्, अहिंसन् ॥

अर्थ—तिप् परे होने पर पदान्त सकार को दकार हो परन्तु अस् धातु के सकार को न हो। यह सूत्र 'ससजुषो रुँ' (१०५) का अपवाद है।

व्याख्या—तिपि ।७।१। अनस्ते ।६।१। स ।६।१। ('ससजुषो रुँ' से)। पदस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। द ।१।१। ('वसुस्रसुध्वस्वनडुहां द' से)। दकारादकार उच्चारणार्थ । 'स' यह 'पदस्य' का विशेषण है अत तदन्तविधि होकर 'सान्तस्य पदस्य' बन जाता है। न अस्ति—अनस्ति, तस्य—अनस्ते । अर्थ—(अनस्ते) अस्भिन्न (स=सान्तस्य) सकारान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (द) द् आदेश हो जाता है (तिपि) तिप् परे हो तो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से सकारान्त पद के अन्त्य अल्—सकार के स्थान पर ही दकार आदेश होगा। यह सूत्र 'ससजुषो रुँ' से प्राप्त रुँत्व का अपवाद है।

'अहिनस्' यहा प्रत्ययलक्षण द्वारा तिप् परे मौजूद है। अत पदान्त सकार को प्रकृतसूत्र से दकार तथा 'खरवसानयो' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व-तकार करने पर 'अहिनत् अहिनद्' दो रूप सिद्ध होते है।

'पदान्त' कहने से 'हिनस्ति' आदियो मे दत्व नहीं होता। 'अस्भिन्न' कहने से 'सलिल सर्वम् आ इदम्' (ऋग्वेद १० १२९ ३) इत्यादि वैदिक प्रयोगो में तिप्

---

१ न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मान सतो याति परां गतिम्—गीता १३ २८।
कामादि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मन —मनु० २ १८०।

२ नुम्, शनम्, द्वित्व, धित्व तथा 'हनान्तलोप'(६६८)से नकार का लोप होकर 'हिनस्+धि' इस स्थिति में 'हनसोरल्लोप' (५७४) से अकार का लोप, 'धि द' (५१५) से सकार का लोप तथा अपदान्त नकार को अनुस्वार और परसवर्ण करने पर 'हिन्धि' प्रयोग सिद्ध होता है।

परे रहते दत्व नहीं होता[1]।

लँङ्—प्र० पु० के द्विवचन और बहुवचन में—अहिंस्ताम्, अहिंसन्। यहां पूर्ववत् 'श्नसोरल्लोपः' (५७४) से श्नम् के अकार का लोप होकर नकार को अनुस्वार हो जाता है।

लँङ् म० पु० के एकवचन सिप् में 'अहिनस्+स्' यहां भी अपृक्त सकार का हल्ङ्यादिलोप हो जाता है—अहिनस्। परन्तु यहां सिप् परे नहीं अतः पूर्वसूत्रद्वारा दत्व नहीं हो सकता, रुँत्व ही प्राप्त है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७०) सिपि धातो रुँर्वा ।८।२।७४॥

पदान्तस्य धातोः सस्य रुँः स्याद् वा (सिपि)। पक्षे दः। अहिनः-अहिनत्-अहिनद् ॥

अर्थः—सिप् परे हो तो धातु के पदान्त सकार को विकल्प कर रुँ आदेश हो। पक्षे दः—पक्ष में दकारादेश भी हो।

व्याख्या—सिपि ।७।१। धातोः ।६।१। रुँः ।१।१। वा इत्यव्ययपदम्। पदस्य। ६।१। (इत्यधिकृतम्)।सः ।६।१। ('ससजुषो रुँः' से)। 'सः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि होकर 'सकारान्तस्य धातोः' बन जाता है। अर्थः—(सिपि) सिप् परे होने पर (पदस्य) पदसञ्ज्ञक (सः—सकारान्तस्य) सकारान्त (धातोः) धातु के स्थान पर (वा) विकल्प से (रुँः) रुँ आदेश हो[2]। अलोऽन्त्यपरिभाषा से सकारान्त धातु के अन्त्य अल्-सकार के स्थान पर ही रुँ आदेश किया जायेगा। रुँत्व के अभाव में सकार को दकार आदेश हो जायेगा[3]।

---

१. 'आः' यह वैदिक प्रयोग अस् धातु के लँङ् में प्र० पु० का एकवचन है। यहां अपृक्त तकार को 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (४४५) से ईट् का आगम प्राप्त था जिस का 'बहुलं छन्दसि' (७.३.९७) से निषेध हो गया। तब आट् का आगम, वृद्धि तथा पदान्त सकार को रुँत्व-विसर्ग करने पर 'आः' प्रयोग सिद्ध होता है।

२. यदि यहां 'सिपि वा' सूत्र बना देते तो भी काम चल सकता था, क्योंकि पूर्वसूत्र में जिस दत्व का विधान किया गया था वह सिप् में विकल्प हो जाता और दत्व के अभाव में अपने आप 'ससजुषो रुँः' (१०५) से रुँत्व हो कर यथेष्ट रूप सिद्ध हो सकते थे। इस का उत्तर यह है कि यहां तो काम चल सकता था परन्तु आगे 'दश्च' आदि सूत्रों में 'धातोः' और 'रुँः' पदों के अनुवर्त्तन की आवश्यकता थी अतः मुनि ने वैसा न कर यह मार्ग अपनाया है।

३. मूल में 'पक्षे दः' लिखा है। इस की विद्वान् लोग दो प्रकार से व्याख्या करते हैं। प्राचीन वैयाकरणों के अनुसार यहां 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' (२६२) सूत्र से 'दः' का भी अनुवर्त्तन होता है, अतः सूत्रगत 'वा' को समुच्चयवाचक मानकर 'पर्याय से रुँत्व और दत्व हों' ऐसा अर्थ कर लिया जाता है। परन्तु नागेशभट्ट आदि नवीन

'अहिनस्' यहाँ प्रत्ययलक्षण के द्वारा सिप् प्रत्यय पर विद्यमान है अत प्रकृतसूत्र से पदान्त सकार को विकल्प से रुँत्व होकर उकारानुबन्ध का लोप तथा 'खरवसानयो ०' (९३) से रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'अहिन ' रूप सिद्ध होता है। रुँत्व के अभाव मे 'झला जशोऽन्ते' (६७) से पदान्त मकार को जश्त्व-दकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व-तकार करने पर 'अहिनत्-अहिनद्' रूप सिद्ध होते हैं। लँङ् मे रूपमाला यथा—अहिनत-अहिनद, अहिस्ताम्, अहिसन्। अहिन-अहिनत्-अहिनद्, अहिस्तम्, अहिस्त। अहिनसम्, अहिस्व, अहिस्म।

वि० लिंङ्—हिंस्यात्[1], हिंस्याताम्, हिंस्यु। आ० लिंङ्—धातु के इदित् होने के कारण नुम् के नकार का 'अनिदिता हल ०'(३३४)से लोप नहीं होना—हिंस्यात्[2], हिंस्यास्ताम्, हिंस्यासु। लुंङ्—अहिंसीत्, अहिंसिष्टाम्, अहिंसिषु। लृँङ्—अहिंसिष्यत्, अहिंसिष्यताम्, अहिंसिष्यन्[3]।

[लघु०] उन्दीँ क्लेदने ॥१३॥ उनत्ति, उन्त, उन्दन्ति। उन्दाञ्चकार। औनत्-औनद्, औन्ताम्, औन्दन्। औन-औनत्-औनद्। औनदम् ॥

अर्थ—उन्दीँ (उन्द्) धातु 'गीला करना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है[4]।

व्याख्या—यह धातु ईदित् है। उदात्तेत् होने मे परस्मैपदी तथा अनुदात्तो मे परिगणित न होने से सेट् है। इसे ईदित करने का फल 'इवोदितो निष्ठायाम्'

---

वैयाकरणों का कहना है कि यहा 'द ' के अनुवर्त्तन की आवश्यकता नही, जिस पक्ष मे रुँत्व न होगा वहाँ 'झला जशोऽन्ते' (६७) से अपने आप दत्व हो जायेगा। इस लिये कही कहीं लघुकौमुदी के सस्करणो मे 'पक्षे द ' न होकर 'पक्षे झलां जशोऽन्त इति दत्वम्' ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है।

वेदाङ्गप्रकाश (आप्पातिक) के सशोधकों को यहा महती भ्रान्ति हुई है। वे यहा 'पक्ष मे पूर्वसूत्र (तिप्यनस्ते ) से दकार होता है' ऐसा लिखते हैं जो नितान्त अशुद्ध है। सौभाग्य से श्रीप०युधिष्ठिर मीमासक जी द्वारा सशोधित सस्करण मे वह पाठ हटा कर विद्यार्थियो का परमोपकार किया गया है।

१ मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि—साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी।

२ ध्यान रहे कि विधिलिंङ् के 'हिंस्यात्' मे अनुस्वार श्नम् से उत्पन्न होता है परन्तु आशीर्लिंङ् में नुम् से।

३ इसी धातु से हिंसा, हिंसक, हिंस्र, सिंह (हिनस्तीति सिंह, अच्, पृषोदरादित्वाद् वर्णविपर्यय ) आदि शब्द निष्पन्न होते हैं।

४ इस धातु के निष्पन्न प्रयोग लोक में विरल है (मा पृथिवीं पयसोन्दन्ति—आप्टे, पयसा वस्त्रमुनत्ति—कविकल्पद्रुम) परन्तु इस धातु से बने उदक, उदधि, ओदन, इन्दु आदि शब्द बहुत प्रचलित हैं। इस से बने शब्द भारोपीय भाषाओं मे भी पाये जाते हैं।

(७.२. ४१) द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध करना है—उत्तः, उन्नः ('नुदविदोन्दत्रा-घ्राह्वोन्योऽन्यतरस्याम्' ८.२.५६ इति वा नत्वम्)। सार्वधातुक लकारों में श्नम् करने पर इस के अपने नकार का 'श्नान्नलोपः' (६६८) से लोप हो जाता है।

लँट्—उनत्ति, उन्तः-उन्तः, उन्दन्ति। लिँट्—में 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (५११) से आम् हो जाता है—उन्दाञ्चकार-उन्दाम्बभूव-उन्दामास आदि। लुँट्—उन्दिता, उन्दितारौ, उन्दितारः। लृँट्—उन्दिष्यति, उन्दिष्यतः, उन्दिष्यन्ति। लोँट्—उनत्तु-उन्तात्-उन्ताम्, उन्तात्-उन्ताम्, उन्दन्तु। उन्धि-उन्द्धि-उन्तात्-उन्ताम्—। लँङ्—में आट् का आगम हो कर 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि हो जाती है—औनत्-औनद्[1], औन्ताम्-औन्ताम्, औन्दन्। औनः[2]-औनत्-औनद्, औन्तम्-औन्तम्, औन्त-औन्त। औनदम्, औन्द्व, औन्म। वि० लिँङ्—उन्द्यात्, उन्द्याताम्, उन्द्युः। आ० लिँङ्—यह धातु इदित् नहीं अतः 'अनिदितां हलः०' (३३४) से उपधा के नकार का लोप हो जाता है—उद्यात्, उद्यास्ताम्, उद्यासुः। लुँङ्—औन्दीत्, औन्दिष्टाम्, औन्दिषुः। लृँङ्—औन्दिष्यत्, औन्दिष्यताम्, औन्दिष्यन्।

[लघु०] अञ्जूँ व्यक्ति-म्रक्षण-कान्ति-गतिषु ॥१४॥ अनक्ति, अङ्क्तः, अञ्जन्ति। आनञ्ज। आनञ्जिथ-आनङ्क्थ। अञ्जिता-अङ्क्ता। अङ्ग्धि। अनजानि। आनक्॥

अर्थः—अञ्जूँ (अन्ज्) धातु 'विवेचन करना, स्निग्ध करना, चमकना, गमन करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है[3]।

व्याख्या—यह धातु ऊदित् है अतः 'स्वरतिसूति०' (४७६) द्वारा वेट् है। उदात्तेत् होने से इसे परस्मैपदी समझना चाहिये। ध्यान रहे कि इस धातु की उपधा में नकार है जो श्चुत्व के कारण ञकार बना हुआ है (नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु—देखें पीछे पृष्ठ-२५०)। सार्वधातुक लकारों (लँट्, लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ्) में श्नम् से परे 'श्नान्नलोपः' (६६८) द्वारा इस के अपने नकार का लोप हो जाता है।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन में श्नम् और 'श्नान्नलोपः' (६६८) से नकार

---

१. औनत्-द्—हल्ङ्यादिलोप, श्नान्नलोपः, वाऽवसाने।

२. औनः—'दश्च'(५७३) से वैकल्पिक रुँत्व, पक्ष में 'वाऽवसाने' से चर्त्व।

३. क्षीरस्वामी इस का 'कान्ति' अर्थ नहीं पढ़ते। जैनेन्द्र, शाकटायन और बोपदेव के व्याकरणों में भी यह अर्थ पढ़ा नहीं गया। सम्भवतः वे लोग 'म्रक्षण' में 'कान्ति' का अन्तर्भाव मानते होंगे। इसी धातु से ही अञ्जलि, अञ्जन, अञ्जना, व्यञ्जन, व्यञ्जना, व्यङ्ग्य, व्यक्त, व्यक्ति, आदि शब्द बनते हैं। लेटिन् जर्मन आदि भारोपीय भाषाओं में भी इस धातु के म्रक्षणार्थ मे प्रयोग पाये जाते हैं। हिन्दी के 'आञ्जना' में भी यही धातु काम कर रही है।

का लोप होकर 'चो कु' (३०६) से कुत्व तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व करने पर—अनक्ति। द्विवचन मे 'अनज्+तस्' इस स्थिति मे 'श्नसोरल्लोप' (५७४) से श्न के अकार का लोप, जकार को कुत्व, चर्त्व तथा नकार को अनुस्वार और परसवर्ण करने पर—अङ्क्तः। बहुवचन मे—अञ्जन्ति, कुत्व और चर्त्व नही होता। रूपमाला यथा—अनक्ति, अङ्क्तः, अञ्जन्ति। अनक्षि, अङ्क्थः, अङ्क्थ। अनज्मि, अञ्ज्वः, अञ्ज्मः।

लिट्—मे 'अत आदेः' (४४३) से अभ्यास के अत् को दीर्घ होकर 'आ+अञ्ज्+अ' इस स्थिति मे 'तस्मान्नुड् द्विहलः' (४६४) मे नुट् का आगम हो जाता है—आनञ्ज, आनञ्जतुः, आनञ्जुः। आनक्जिथ-आनङ्क्थ, आनञ्जथुः, आनञ्ज। आनञ्ज, आनक्जिव-आनञ्ज्व, आनक्जिम-आनञ्ज्म'।

लुँट्—(इट्पक्षे) अञ्जिता, अञ्जितारौ, अञ्जितारः। (इटोऽभावे) अङ्क्ता, अङ्क्तारौ, अङ्क्तारः। लृँट्—(इट्पक्षे) अञ्जिष्यति, अञ्जिष्यतः, अञ्जिष्यन्ति। (इटोऽभावे) अङ्क्ष्यति, अङ्क्ष्यतः, अङ्क्ष्यन्ति। लोँट्—अनक्तु-अङ्क्तात्, अङ्क्ताम्, अञ्जन्तु। अङ्ग्धि-अङ्क्तात्—। लँङ्—आनक्-आनग्, आङ्क्ताम्, आञ्जन्। आनक्-आनग्—। वि० लिङ्—अञ्ज्यात्, अञ्ज्यास्ताम्, अञ्ज्यासुः। आ० लिङ्—मे श्नम् नहीं होता। धातु के उपधाभूत नकार का 'अनिदितां हल०' (३३४) से लोप हो जाता है—अज्यात्, अज्यास्ताम्, अज्यासुः।

लुँङ्—मे 'स्वरतिसूति०' (४७६) द्वारा इट् का विकल्प प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से नित्य विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७१) अञ्जे सिँचि ।७।२।७१॥

अञ्जे सिँचो नित्यमिट् स्यात्। आञ्जीत्॥

अर्थ.—अञ्ज् धातु से परे सिँच् को नित्य इट् का आगम हो।

व्याख्या—अञ्जे ।५।१। सिँचि ।७।१। इट् ।१।१। ('इडत्यर्ति०' से)। इट् का आगम बलादि आर्धधातुक को ही हुआ करता है अत 'सिँचि' का विभक्ति-विपरिणाम कर 'सिँच' बना लिया जाता है। अर्थ—(अञ्जे) अञ्ज् धातु से परे (सिँच) सिँच् का अवयव (इट्) इट् हो जाता है। ऊदित् होने से अञ्ज् धातु से परे पाक्षिक इट् तो प्राप्त है ही अत इस के विधानसामर्थ्य से नित्य इट् हो जायेगा।

'अञ्ज्+स्+ईत्' यहा प्रकृतसूत्र से सिँच् को नित्य इट् हो कर 'इट ईटि' (४४६) से सकार का लोप, उस के सिद्धवत् होने से सवर्णदीर्घ, आट् का आगम तथा

---

१ 'स्वरतिसूति०' (४७६) से इट् का विकल्प हो जाता है। जो लोग 'वा' के विषय मे भी क्रादिनियम को बलवान् मानते हैं उन के मत मे अल्, वस् और मस् मे केवल एक एक रूप बनेगा—आनञ्जिव, आनञ्जिव, आनञ्जिम। एतद्विषयक टिप्पण पीछे पृष्ठ ११२ पर देखें।

वृद्धि करने पर[1] 'आञ्जीत्' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—आञ्जीत्, आञ्जिष्टाम्, आञ्जिषुः।

लृँङ्—(इट्पक्षे) आञ्जिष्यत्, आञ्जिष्यताम्, आञ्जिष्यन्। (इटोऽभावे) आङ्क्ष्यत्, आङ्क्ष्यताम्, आङ्क्ष्यन्।

उपसर्गयोग—वि√अञ्ज्=व्यक्त करना, प्रकट करना, ज़ाहिर करना (अकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति—रघु० ५.१६)।

अभि√अञ्ज्=मालिश करना, चुपड़ना, तैलादि से स्निग्ध करना। यथा—

स्नेहाभ्यङ्गाद् यथा कुम्भश्चर्म स्नेहविमर्दनात्।
तथा शरीरमभ्यङ्गाद् दृढं सुत्वक् प्रजायते—चरक सूत्र० अ० ५।

[लघु०] तञ्चूँ सङ्कोचने ॥१५॥ तनक्ति। तङ्क्ता-तञ्चिता॥

अर्थः—तञ्चूँ (तन्च्) धातु 'संकुचित करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् ऊदित्, नकारोपध, परस्मैपदी तथा 'स्वरति-सूति०' (४७६) से वेट् है। इस की प्रक्रिया भी अञ्ज् धातु की तरह होती है, परन्तु 'खरि च' (७४) से चर्त्व तथा लुँङ् में इट् का नित्यत्व नहीं होता। रूपमाला यथा—

लँट्—तनक्ति, तङ्क्तः, तञ्चन्ति[2]। लिँट्—ततञ्च, ततञ्चतुः, ततञ्चुः। लुँट्—तञ्चिता-तङ्क्ता। लृँट्—तञ्चिष्यति-तङ्क्ष्यति। लोँट्—तनक्तु-तङ्क्तात्, तङ्क्ताम्, तञ्चन्तु। तङ्ग्धि-तङ्क्तात्—। लँङ्—अतनक्-अतनग्, अतङ्क्ताम्, अतञ्चन्। वि० लिँङ्—तञ्च्यात्, तञ्च्याताम्, तञ्च्युः। आ० लिँङ्—तच्यात्, तच्यास्ताम्, तच्यासुः। लुँङ्—अतञ्चीत्-अताङ्क्षीत्[3]। लृँङ्—अतञ्चिष्यत्-अतङ्क्ष्यत्।

उपसर्गयोग—आ√तञ्च्=कड़ा करना (सोमेनातनक्मि—यजु० १.४; आतनक्ति [दुग्धं दध्ना]—कात्या० श्रौ० ४.३.२३)।

[लघु०] ओँविजीँ भयचलनयोः ॥१६॥ विनक्ति। 'विज इट्' (६६५) इति डित्त्वम्—विविजिथ। विजिता। अविनक्। अविजीत्॥

अर्थः—ओँविजीँ (विज्) धातु 'डरना या डर से कांपना' अर्थों मे प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—इस धातु का वर्णन तुदादिगण के अन्त में किया जा चुका है। वहाँ यह धातु अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी थी परन्तु यहाँ उदात्तेत् होने से परस्मैपदी

---

१. आटश्च (१९७)। हलन्तलक्षणा वृद्धि का तो 'नेटि' (४७७) द्वारा निषेध हो जाता है— मा भवान् अञ्जीत्।

२. तनक्मि व्योम विस्तृतम्—भट्टि० ६.३८।

३. इट् के अभाव में 'वदव्रज०' (४६५) से वृद्धि हो जाती है, परन्तु इट्पक्ष में 'नेटि' (४७७) से निषेध होता है।

है। सार्वधातुक लकारों को छोड कर इस की प्रक्रिया उसी तरह चलती है। सार्वधातुक लकारों मे श्नम् विकरण विशेष है। ध्यान रहे कि यहा भी पूर्ववत् 'विज इट्' (६६५) द्वारा इडादिप्रत्यय ङिद्वत् हो जाते हैं। अत उन के परे रहते लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। रूपमाला यथा—

लँट्—विनक्ति, विङ्क्तः, विञ्जन्ति। लिँट्—विवेज, विविजतु, विविजु। लुँट्—विजिता। लृँट्—विजिष्यति। लोँट्—विनक्तु-विङ्क्तात्, विङ्क्ताम्, विञ्जन्तु। विङ्ग्धि-विङ्क्तात्—। लँङ्—अविनक्-अविनग्, अविङ्क्ताम्, अविञ्जन्। वि० लिँङ्—विञ्ज्यात्, विञ्ज्यातास् विञ्ज्यु। आ० लिँङ्—विज्यात्, विज्यास्ताम्, विज्यासु। लुँङ्—अविजीत्, अविजिष्टाम्, अविजिषु। लृँङ्—अविजिष्यत।

उपसर्गयोग—इस का प्रयोग भी प्राय उद्पूर्वक हुआ करता है—उद्विनक्ति च ससारात् (कविकल्पद्रुमटीका)।

[लघु०] शिष्लृँ विशेषणे ॥१७॥[1] शिनष्टि, शिष्टः, शिषन्ति। शिनक्षि। शिशेष। शिशेषिथ। शेष्टा। शेक्ष्यति। हेधि—शिण्ढि। शिनषाणि। अशिनट्। शिष्यात्। शिष्यात्। अशिषत्॥

अर्थ—शिष्लृँ (शिष्) धातु 'विशेषित करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है'।

व्याख्या—शिष्लृँ मे अन्त्य लकार अनुनासिक है, अत इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाता है, 'शिष्' मात्र अवशिष्ट रहता है। उदात्तेत् होने से यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तो में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में आदितियम से सर्वत्र (थल् मे भी) इट् का आगम हो जाता है। लृदित् करने का प्रयोजन लुँङ् में 'पुषादि०' (५०७) से च्लि को अङ् आदेश करना है—अशिषत्।

लँट्—प्र० पु० के एकवचन मे तिप्, श्नम्, अनुबन्धलोप और ष्टुत्व करने पर—शिनष्टि। द्विवचन मे तस्, 'श्नसोरल्लोप' (५७४) से श्नम् के अकार का लोप होकर 'शिन्ष्+तस्' इस स्थिति मे ष्टुत्व तथा नकार को अनुस्वार करने पर—शिष्टः। बहुवचन मे झि, श्नम्, 'झोऽन्त.' (३८६) से अत् आदेश, अकार का लोप तथा अनुस्वार होकर—शिषन्ति। सिप् मे 'शिनष्+सि' इस स्थिति में 'षढो क सि' (५४८) से षकार को ककार तथा उस से परे प्रत्यय के सकार को षकार होकर—शिनक्षि। रूपमाला यथा—शिनष्टि, शिष्टः, शिषन्ति। शिनक्षि, शिष्ठः, शिष्ठ। शिनष्मि, शिष्वः, शिष्मः।

लिँट्—शिशेष, शिशिषतु, शिशिषु। शिशेषिथ—। लुँट्—मे लघूपधगुण होकर ष्टुत्व हो जाता है—शेष्टा, शेष्टारौ, शेष्टारः। लृँट्—मे लघूपधगुण, 'षढो क सि' (५४८) से षकार को ककार तथा उससे परे स्य के सकार को मूर्धन्य षकार हो जाता है—शेक्ष्यति, शेक्ष्यतः, शेक्ष्यन्ति।

---

१ यह धातु भ्वादिगण में 'हिंसा करना' अर्थ मे तथा चुरादिगण मे अमवोंगयोग (बाधा पहुचाना) अर्थ मे पढी गई है।

लोँट्—प्र० पु० में लँट् की तरह प्रक्रिया होकर लोँट् के अपने विशिष्ट-कार्य उत्वादि हो जाते हैं—शिनष्टु-शिष्टात्, शिष्टाम्, शिषन्तु । म० पु० के एकवचन में सिप्, श्नम्, सि को हि आदेश तथा हि को अपित् होने के कारण ङिद्वत् मानकर श्नम् के अकार का लोप होकर—शिनष्+हि । अब 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (५५६) से हि को धि आदेश, ष्टुत्व से उसके धकार को ढकार, नकार को अनुस्वार तथा 'झलां जश् झशि' (१८) से षकार को डकार करने पर—शिण्ड्+ढि । अब अनुस्वार को परसवर्ण णकार और अन्त में—'झरो झरि सवर्णे' (७३) से डकार का वैकल्पिक लोप करने पर लोपपक्ष में 'शिण्ढि' तथा लोपाभावपक्ष में 'शिण्ड्ढि' ये दो रूप सिद्ध होते हैं[1] । रूपमाला यथा—शिनष्टु-शिष्टात्, शिष्टाम्, शिषन्तु । शिण्ढि-शिण्ड्ढि-शिष्टात्, शिष्टम्, शिष्ट । शिनषाणि, शिनषाव, शिनषाम ।

लँङ्—प्र० पु० के एकवचन में अपृक्त तकार का हल्ङ्यादिलोप होकर 'अशिनष्' इस स्थिति में 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से पदान्त षकार को डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व-टकार करने पर— 'अशिनट्-अशिनड्' दो रूप सिद्ध होते हैं । इसी प्रकार सिप् में भी समझने चाहियें । रूपमाला यथा—अशिनट्-अशिनड्, अशिष्टाम्, अशिषन् । अशिनट्-अशिनड्, अशिष्टम्, अशिष्ट । अशिनषम्, अशिष्व, अशिष्म ।

वि० लिँङ्—शिष्यात्, शिष्याताम्, शिष्युः । आ० लिँङ्—शिषीयात्, शिषीयास्ताम्, शिषीरन् । लुँङ्—(लृदित्त्वादङ्) अशिषत्, अशिषताम्, अशिषन् । लृँङ्—अशेक्ष्यत्, अशेक्ष्यताम्, अशेक्ष्यन् ।

उपसर्गयोग—वि√शिष्=विशिष्ट करना, विशेषणयुक्त करना (यथा—तमेवाश्वं विशिनष्टि—मल्लिनाथः); युक्त करना (विशिनष्टि स्मरं मूर्त्या—कविकल्पद्रुमटीका); बढ़ाना, तेज करना (पुनरकाण्डविवर्त्तनदारुणो विधिरहो विशिनष्टि मनोरुजम्—मालतीमाधव ४.७; विशेषको वा विशिशेष यस्याः श्रियं त्रिलोकीतिलकः स एव—माघ ३.६३; कर्मणि—श्रेष्ठ होना, उत्तम होना, अच्छा होना (सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते—मनु० ४.२३३; तस्माद् दुर्गं विशिष्यते—हितोप० ३.५०; मौनात्सत्यं विशिष्यते—मनु० २.८३); णिजन्त—लांघना, अतिक्रमण करना (मदनमपि गुणैर्विशेषयन्तौ—मृच्छकटिक ४.४) ।

---

१. अष्टाध्यायी का क्रम छूट जाने के कारण सूत्रों के पूर्वापर का बोध न रहने से अच्छे अच्छे वैयाकरण भी 'शिण्ढि, पिण्ढि' की सिद्धि में सूत्रों का प्रवृत्तिक्रम अशुद्ध कर बैठते हैं । शुद्धक्रम के लिये यह श्लोक कण्ठस्थ कर लेना चाहिये—

धित्वे ष्टुत्वेऽप्यनुस्वारे जश्त्वे परसवर्णता ।
सवर्णे च झरो लोपे शिण्ढि-पिण्ढीति जायते ॥

नागेशभट्ट के मत में यहां अष्टाध्यायी का क्रम कुछ भिन्न है । अतः उन के मत में अनुस्वार को परसवर्ण नहीं होता—णिढि (देखें लघुशब्देन्दुशेखर) ।

अव √शिष् (कर्मणि)=बाकी बचना, पीछे रह जाना, अवशिष्ट होना (पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते—उपनि०, यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते—गीता ७ २)।

उद् √शिष् (कर्मणि)=जूठा किया जाना, उच्छिष्ट होना (नोच्छिष्ट कस्यचिद् दद्यात्—मनु० २ ५६)।

निर् √शिष् (णिजन्त)=निःशेष करना, समाप्त करना (निःशेषयति स्वानेन भाण्डागार दिने दिने—कविकल्पद्रुमटीका)।

[लघु०] एवम्—पिष्लृ सञ्चूर्णने ॥१८॥

अर्थ—पिष्लृ (पिष्) धातु 'पीसना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है। इस के रूप भी 'शिष्लृ' धातु की तरह चलते हैं।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् लृदित्, परस्मैपदी, अनिट् तथा क्रादिनियम से लिट् मे सेट् है। इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया 'शिष्लृ' धातु की तरह होती है कुछ भी विशेष नहीं। रूपमाला यथा—

लट्—पिनष्टि[1], पिंष्टः, पिंषन्ति। लिट्—पिपेष, पिपिषतु, पिपिषु। पिपेषिथ—। लुट्—पेष्टा, पेष्टारौ, पेष्टारः। लृट्—पेक्ष्यति, पेक्ष्यतः, पेक्ष्यन्ति। लोट्—पिनष्टु-पिष्टात्, पिंष्टाम्, पिंषन्तु। पिंड्धि पिंष्ट्हि पिंष्टात्—। लङ्—अपिनट् अपिनड्, अपिंष्टाम्, अपिंषन्। वि० लिङ्—पिंष्यात्, पिंष्याताम्, पिंष्युः। आ० लिङ्—पिंष्यात्, पिंष्यास्ताम्, पिंष्यासुः। लुट्—अपिंषत्, अपिंषताम्, अपिंषन्। लृङ्—अपेक्ष्यत्, अपेक्ष्यताम्, अपेक्ष्यन्।

[लघु०] भञ्जो आमर्दने ॥ १९ ॥ श्नाभ्रलोप (६६८)—भनक्ति। बभञ्जिथ-बभङ्क्थ। भङ्क्ता। भङ्ग्धि। अभाङ्क्षीत्॥

अर्थ—भञ्जो (भञ्ज्) धातु 'तोडना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु ओदित् है, 'भञ्ज्' मात्र अवशिष्ट रहता है। ओदित् करने का फल 'ओदितश्च' (८२०) द्वारा निष्ठा मे तकार को नकार करना है—भग्न, भग्नवान्। उदात्तेत् होने से यह धातु परस्मैपदी तथा अनुदात्तो मे परिगणित होने से अनिट् है। लिट् मे क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु अकार वाली धातु होने के कारण थल् म भारद्वाजनियम से विकल्प होता है। यह धातु नकारोपध है, श्चुत्व से नकार को ञकार हुआ है (नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु—देखें पृष्ठ २५०)। अत सार्वधातुक लकारो म श्नम् करने पर उस से परे 'श्नाभ्रलोप' (६६८) द्वारा इस नकार का लोप हो जाता है।

लट्—भनक्ति, भङ्क्तः, भञ्जन्ति। लिट्—बभञ्ज, बभञ्जतुः[2], बभञ्जुः।

---

१ अथवा भवत प्रवर्तना म कथ पिष्टमिव पिनष्टि म —नैषध २ ९१।

२ धातु सयोगान्त है अत थतुस् आदि कित् नहीं होते। इसलिये 'अनिरितां

यभञ्जिध-यभङ्क्ष्य—। लुँट्—भङ्क्ता। लृँट्—भङ्क्ष्यति। लोँट्—भनक्तु-भङ्क्तात्, भङ्क्ताम्, भञ्जन्तु। भङ्ग्धि[1]-भङ्क्तात्—। लँङ्—अभनक्-अभनग्, अभङ्क्ताम्, अभञ्जन्। वि० लिँङ्—भञ्ज्यात्, भञ्ज्यातम्, भञ्ज्युः। आ० लिँङ्—में 'अनिदितां हल:०' (३३४) से उपधा के नकार का लोप हो जाता है—भज्यात्, भज्यास्ताम्, भज्यासुः। लुँङ्—हलन्तलक्षणा वृद्धि होकर कुत्व और चर्त्व हो जाते हैं—अभाङ्क्षीत्, अभाङ्क्षताम्, अभाङ्क्षुः। लृँङ्—अभङ्क्ष्यत्, अभङ्क्ष्यताम्, अभङ्क्ष्यन्।

[लघु०] **भुज पालनाऽभ्यवहारयोः** ॥२०॥ भुनक्ति। भोक्ता। भोक्ष्यति। अभुनक्॥

**अर्थः**—भुज (भुङ्) धातु 'पालन करना तथा भक्षण करना' अर्थों में प्रयुक्त होती है।

**व्याख्या**—भुज् में अन्त्य अकार उच्चारणार्थ वा उदात्त है। आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी है। परन्तु इस का परस्मैपदित्व केवल 'पालना' अर्थ तक सीमित है। 'भक्षण करना' अर्थ में 'भुजोऽनवने' (६७२) सूत्र द्वारा आत्मनेपद कहेंगे। अनुदात्तों में परिगणित होने से यह धातु अनिट् है परन्तु लिँट् में सर्वत्र (थल् में भी) क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। परस्मै० में समस्त रूपमाला लुँङ् को छोड़ कर अन्यत्र 'युजिँर्' धातु की तरह होती है—

लँट्—भुनक्ति, भुङ्क्तः, भुञ्जन्ति। लिँट्—बुभोज, बुभुजतुः, बुभुजुः। लुँट्—भोक्ता। लृँट्—भोक्ष्यति। लोँट्—भुनक्तु-भुङ्क्तात्, भुङ्क्ताम्, भुञ्जन्तु। लँङ्—अभुनक्-अभुनग्, अभुङ्क्ताम्, अभुञ्जन्। वि० लिँङ्—भुञ्ज्यात्, भुञ्ज्याताम्, भुञ्ज्युः। आ० लिँङ्—भुज्यात्, भुज्यास्ताम्, भुज्यासुः। लुँङ्—में हलन्तलक्षणा वृद्धि हो जाती है—अभौक्षीत्, अभौक्ताम्, अभौक्षुः। लृँङ्—अभोक्ष्यत्, अभोक्ष्यताम्, अभोक्ष्यन्।

यहां तक रुधादिगण की परस्मैपदी धातुओं का वर्णन किया गया है।

अब आत्मनेपदी धातुओं का विवेचन प्रारम्भ होता है। सबसे पहले इसी भुज् धातु से आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७२) **भुजोऽनवने** ।१।३।६६॥

तङानौ स्तः। ओदनं भुङ्क्ते। अनवने किम्? महीं भुनक्ति॥

**अर्थः**—'पालन करना' से भिन्न अर्थ मे भुज् धातु से आत्मनेपद प्रत्यय हो।

---

हल:०' (३३४) से उपधा के नकार का लोप भी नहीं होता।

१. श्नम् तथा उस से परे नकार का लोप होकर 'भनज्+सि' इस अवस्था में 'सि' को 'हि', अकार का लोप, धित्व, कुत्व, अनुस्वार तथा परसवर्ण करने पर 'भङ्ग्धि' रूप सिद्ध होता है।

व्याख्या—भुज ।५।१। अनवने ।७।१। आत्मनेपदम् ।१।१। ('अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से)। अवनम् पालनम्, न अवनम्—अनवनम्, तस्मिन् अनवने। पालन-भिन्नेऽर्थे इति भाव। अर्थ—(अनवने) 'पालन करना' अर्थ से भिन्न अर्थ मे (भुज) भुज् धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो। धातुपाठ मे भुज् धातु के दो अर्थ कहे गये हैं—(१) पालन करना, (२) भक्षण करना। पालन अर्थ से भिन्न अर्थ अर्थात् भक्षण करना आदि अर्थों मे भुज् धातु से आत्मनेपद का प्रयोग होता है। यथा—ओदन भुङ्क्ते (भात खाता है)। यहा भुज् धातु का 'पालन करना' अर्थ नही अपितु 'भक्षण करना' अर्थ है अत आत्मनेपद का प्रयोग हुआ है[1]। 'पालन करना' अर्थ मे यथाप्राप्त परस्मैपद ही होगा। यथा—(नृप) महीं भुनक्ति (राजा पृथिवी को पालता है)। यहा भुज् का 'पालन करना' अर्थ है अत परस्मैपद हुआ है[2]। आत्मनेपद में भुज् की प्रक्रिया युज् के आत्मनेपदवत् होता है—

लँट्—भुङ्क्ते, भुञ्जाते, भुञ्जते[3]। लिँट्—बुभुजे, बुभुजाते, बुभुजिरे। लुट्—भोक्ता, भोक्तारौ, भोक्तार। भोक्तासे—। लृँट्—भोक्ष्यते। लोँट्—भुङ्क्ताम्, भुञ्जाताम्, भुञ्जताम्। भुङ्क्ष्व[4]—। लँङ्—अभुङ्क्त, अभुञ्जाताम्, अभुञ्जत। वि० लिँङ्—भुञ्जीत, भुञ्जीयाताम्, भुञ्जीरन्। आ० लिँङ्—भुक्षीष्ट, भुक्षीयास्ताम्, भुक्षीरन्। लुङ्—अभुक्त, अभुक्षाताम्, अभुक्षत। लृँङ्—अभोक्ष्यत, अभोक्ष्येताम्, अभोक्ष्यन्त।

उपसर्गयोग—उप√भुज्=उपभोग करना (किञ्चित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च—पञ्च० २ ११४), खाना-पीना (दुग्ध्वा पय पत्रपुटे मदीय पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश—रघु० २ ६५), भोग करना (या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते—पञ्च० २ १४१)।

---

१ 'भुजोऽनवने' की बजाय 'भुजोऽदने' भी कह सकते थे, इस मे लाघव भी था। परन्तु आचार्य का यह अभिप्राय है कि धातुओ के अनेक अर्थ होते हैं, पालन से भिन्न चाहे कोई अर्थ हो भुज् से आत्मनेपद ही हो। अत—युद्धो नरो वु शतानि भुङ्क्ते' इत्यादियो मे भुज् के 'सहना' अर्थ मे भी आत्मनेपद सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'बुभुजे पृथिवीपाल पृथिवीमेव केवलाम्' (रघु० १५ १) इत्यादियों मे समझना चाहिये।

२ 'सह नौ भुनक्तु' (स परमात्मा नौ=आवां गुरुशिष्यौ, सह=युगपत्, भुनक्तु=पालयतु) इस औपनिषदप्रयोग मे भी परस्मैपद के कारण पालन अर्थ है खाना या भोगना अर्थ नहीं। 'सह नौ अवतु' मे 'अव्' धातु तृप्ति आदि अर्थों में प्रयुक्त है रक्षणार्थ मे नही। ध्यान रहे कि अव्धातु के धातुपाठ में १९ अर्थ दिये हुए हैं।

३ भुञ्जते ते त्वघ पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्—गीता ३ १३।

४ हरीतकीं भुङ्क्ष्व राजन् मातेव हितकारिणीम्।

[लघु०] णिइन्धीँ दीप्तौ ॥२१॥ इन्धे, इन्धाते, इन्धते। इन्त्से। इन्ध्वे। इन्धाञ्चक्रे। इन्धिता। इन्धाम्, इन्धाताम्। इनधै। ऐन्ध, ऐन्धाताम्। ऐन्धाः॥

अर्थः—णिइन्धीँ (इन्ध्) धातु 'दीप्त होना, चमकना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—णिइन्धीँ के आदि में 'णि' की 'आदिर्ञिटुडवः' (४६२) से तथा अन्त्य अनुनासिक ईकार की 'उपदेशेऽजनु०' (२८) से इत्सञ्ज्ञा होकर लोप हो जाता है। इस प्रकार 'इन्ध्' मात्र अवशिष्ट रहता है। अनुदात्तेत् होने से यह धातु आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। 'णि' को इत् करने का प्रयोजन 'क्तेः क्तः' (३.२.१८७) से वर्त्तमानकाल में क्तप्रत्यय करना तथा ईकार को इत् करने का प्रयोजन 'इदितो निष्ठायाम्' (७.२.१४) द्वारा निष्ठा में इट् का निषेध करना है—इद्धः, समिद्धः आदि। इस धातु में अपना नकार विद्यमान है अतः सार्वधातुक लकारों में श्नम् करने के बाद 'श्नान्नलोपः' (६६८) द्वारा उस नकार का लोप होकर श्नम् के अकार का भी 'श्नसोरल्लोपः' (५७४) से लोप हो जायेगा। तब यथासम्भव धत्व, जश्त्व तथा 'झरो झरि सवर्णे' (७३) से झर् का वैकल्पिक लोप किया जायेगा। रूपमाला यथा—

लँट्—इन्धे-इन्द्धे, इन्धाते, इन्धते। इन्त्से, इन्धाथे, इन्ध्वे-इन्द्ध्वे। इन्धे, इन्ध्वहे, इन्ध्महे। लिँट्—में 'इजादेश्च०' (५११) से आम् हो जाता है—इन्धाञ्चक्रे-इन्धाम्बभूव-इन्धामास आदि। लुँट्—इन्धिता, इन्धितारौ, इन्धितारः। इन्धितासे—। लृँट्—इन्धिष्यते। लोँट्—इन्धाम्-इन्द्धाम्, इन्धाताम्, इन्धताम्। इन्त्स्व, इन्धाथाम् इन्द्धायाम्, इन्ध्वम्-इन्द्ध्वम्। इनधै, इनधावहै, इनधामहै। लँङ्—में आट् का आगम होकर 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि हो जाती है—ऐन्ध-ऐन्द्ध, ऐन्धाताम्, ऐन्धत। ऐन्धाः-ऐन्द्धाः, ऐन्धाथाम्, ऐन्ध्वम्-ऐन्द्ध्वम्। ऐन्धि, ऐन्ध्वहि, ऐन्ध्महि। वि० लिँङ्—इन्धीत, इन्धीयाताम्, इन्धीरन्। आ० लिँङ्—इन्धिषीष्ट, इन्धिषीयास्ताम्, इन्धिषीरन्। लुँङ्—ऐन्धिष्ट, ऐन्धिषाताम्, ऐन्धिषत। लृँङ्—ऐन्धिष्यत, ऐन्धिष्येताम्, ऐन्धिष्यन्त।

नोट—इस धातु का प्रायः सम्पूर्वक प्रयोग देखा जाता है। यथा—यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन—गीता ४.३७; समिन्धानोऽस्त्रकौशलम्—भट्टि० ६.६७।

---

१. यह धातु वैदिकसाहित्य में बहुत प्रसिद्ध है (पुत्र ईधे अथर्वणः—ऋग्वेद ६.१६.१४)। लोक में इस का कहीं कहीं प्रयोग देखा जाता है (असमिध्य च पादकम्—मनु० २.१०७)। इद्ध, समिद्ध, समिध्, समिधा, एधस् (लकड़ी) आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं। हिन्दी के 'ईंधन' शब्द का मूल भी यही धातु है। इस के लोक में अकर्मकतया प्रयोग अन्वेष्टव्य है।

[लघु०] विदृ विचारणे ॥२२॥ विन्ते । वेत्ता ॥

अर्थ —विदृँ (विद्) धातु 'विचार करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—विद् धातु अनुदात्तेत होने से आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित होने से अनिट् है। लिँट् में कादिनियम से सवत्र इट् हो जाता है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया तथा रूपमाला भिद् (आत्मने०) के समान समझनी चाहिये।

लँट्—विन्ते[1]-विन्ते, विन्दाते, विन्दते। लिँट्—विविदे, विविदाते, विविदिरे। लुँट्—वेत्ता, वेत्तारौ, वेत्तार। वेत्तासे—। लृँट्—वेत्स्यते, वेत्स्येते, वेत्स्यन्ते। लोँट्—विन्ताम् विन्ताम्, विन्दाताम्, विन्दताम्। लँङ्—अविन्त अविन्त, अविन्दाताम्, अविन्दत। वि० लिँङ्—विन्दीत, विन्दीयाताम्, विन्दीरन्। आ० लिँङ्—वित्सीष्ट, वित्सीयास्ताम्, वित्सीरन्। लुँङ्—अवित्त, अवित्साताम्, अवित्सत। लृँङ्—अवेत्स्यत, अवेत्स्येताम्, अवेत्स्यन्त।

नोट—ध्यान रहे कि अब तक चार विभिन्न स्थानों पर विद् धातु आ चुकी है। (१) विद ज्ञाने (अदा० परस्मै० सेट्), (२) विदँ सत्तायाम् (दिवा० आत्मने० अनिट्), (३) विद्लृँ लाभे (तुदा० उभय० अनिट्, व्याश्रमूतिमते सेट्), (४) विदृँ विचारणे (रुधा० आत्मने० अनिट्)। इन सब का श्लोकबद्ध सग्रह यथा—

सत्तायां विद्यते, ज्ञाने वेत्ति, विन्ते विचारणे।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ, श्यन्-सुक्-श्नम्-शेप्विद क्रमात्॥

इन सब के उदाहरणों का सुन्दर सग्रह यथा—

वेत्ति सर्वाणि शास्त्राणि, गर्वस्तस्य न विद्यते।
विन्ते धर्मं सदा सद्भिस्तेषु पूजां च विन्दति॥

## अभ्यास (१३)

(१) निम्न-प्रश्नों का समुचित उत्तर दीजिये—

(क) 'दश्च' सूत्र लघुकौमुदी मे कितनी बार कहा कहा आया है?
(ख) 'विद्' धातु लघुकौमुदी मे किस किस अर्थ मे कहां कहां पढ़ी गई है?
(ग) 'रुणद्धि' मे श्नम् को मानकर धातु के उकार को गुण क्यों नहीं होता?
(घ) 'रुत्सोप्ट, युक्षोप्ट' आदि मे लघूपधगुण का कारण कैसे होगा?
(ङ) 'तृणह इम्' मे श्नम्युक्त निर्देश का क्या प्रयोजन है?
(च) 'पक्षे च द' से क्या तात्पर्य है स्पष्ट करें।
(छ) श्नम् को किस लिये ङित् किया गया है?
(ज) भञ्जो और भौविजौ धातुओं को किस लिये ओदित् किया गया है?
(झ) 'भुजोऽनवने' के स्थान पर 'भुजोऽदने' सूत्र क्यों नहीं बनाया गया?

(२) श्नम् से परे धातु के नकार का जब लोप ही करना है तो धातु मे उसके ग्रहण का क्या प्रयोजन?

१ मां विन्ते निष्परोक्षम्—भट्टि० ६ ३६।

(३) 'इन्धे' आदि में जब 'अनिदितां हलः०' से नकार का लोप हो सकता है तो पुनः 'श्नान्नलोपः' से नकार का लोप क्यों ?

(४) सूत्रों को सोदाहरण व्याख्या करें—
सिपि धातो रुर्वा, श्नान्नलोपः, तिप्यनस्तेः, तृणह इम्, भुजोऽनवने ।

(५) निम्न धातुओं के लँङ् के प्र० पु० और म० पु० के एकवचन में रूप सिद्ध करें—
रुध्, भुज्, शिष्, अञ्ज, हिन्स्, तृह्, उन्द्, इन्ध्, भिद् ।

(६) निम्न धातुओं के लुँङ् प्र० पु० के एकवचन में रूप सिद्ध करें—
रुध्, छृद्, हिन्स्, अञ्ज्, विज्, शिष्, भुज् ।

(७) निम्न धातुओं के लोँट् म० पु० के एकवचन में रूप सिद्ध करें—
रुध्, पिष्, शिष्, अञ्ज्, भञ्ज्, भुज्, हिन्स्, छिद् ।

(८) लँट्, लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् में रूपमाला लिखें—
रुध्, अञ्ज्, हिन्स्, शिष्, तृह्, उन्द्, इन्ध्, भुज् ।

(९) निम्न रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
तृणेढि, हिनस्ति, आनङ्क्थ, उनत्ति, शिनष्टि, ऐन्ध, पिष्टः, शिष्यात्, चच्छृत्से, शिण्ढि, अनजानि ।

## इति तिङन्ते रुधादयः

(यहां पर रुधादिगण की धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

## अथ तिङन्ते तनादयः

अब तिङन्तप्रकरण में तनादिगण की धातुओं का निरूपण किया जाता है—

[लघु०] तनुँ विस्तारे ॥१॥

अर्थः—तनुँ (तन्) धातु 'विस्तार करना, फैलाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—यह धातु उदित् भी है और स्वरितेत् भी । स्वरितेत् होने से उभयपद तथा उदित् होने से 'उदितो वा' (८८२) द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प सिद्ध हो जाता है—तनित्वा-तत्वा । अनुदात्तों में परिगणित न होने से इस धातु को सेट् समझना चाहिये । इसी धातु से तनय, तनु, तन्वी, तन्तु, ततउ, तात, सन्तति, सन्तान, वितान, प्रतान आदि शब्द बनते हैं ।

लँट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में 'तन्+ति' यहां सार्वधातुक प्रत्यय के परे होने पर 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् विकरण प्राप्त होता है । इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७३) तनादि-कृञ्भ्य उः ।२।१।७९॥

शपोऽपवाद । तनोति, तनुते । ततान, तेने । तनितासि, तनितासे । तनिष्यति, तनिष्यते । तनोतु, तनुताम् । अतनोत्, अतनुत । तनुयात्; तन्वीत । तन्यात्, तनिषीष्ट । अतानीत्-अतनीत् ॥

अर्थ —कर्ता अर्थ मे सार्वधातुक परे हो तो तनादिगण की धातुओ से तथा कृञ् धातु से 'उ' प्रत्यय होता है । यह शप् का अपवाद है ।

व्याख्या—इस सूत्र की व्याख्या पीछे पृष्ठ ३१५ पर की जा चुकी है । यहां स्मरण कराने के लिये इस का पुनरुल्लेख किया गया है ।

'तन+ति' यहा 'ति' यह कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे विद्यमान है अत प्रकृत सूत्र से शप् का बाध कर 'उ' प्रत्यय किया तो—तन्+उ+ति । तिप पित्सार्वधातुक है अत उसे मान कर उकार को 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' (३८८) से गुण होकर 'तनोति' रूप सिद्ध होता है । द्विवचन मे 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से तस् ङिद्वत् हो जाता है अत गुण का निषेध हो जाता है—तनुत । बहुवचन मे 'तनु+अन्ति' यहा 'इको यणचि' (१५) से यण् होकर[1]—तन्वन्ति । वस् और मस में 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः' (५०२) से उकार का वैकल्पिक लोप हो जाता है—तन्व-तनुव, तन्म-तनुम । आत्मने० मे सब प्रत्यय अपित् होने से ङिद्वत् हो जाते हैं अत गुण का सवत्र निषेध हो जाता है । दोनो पदो मे रूपमाला यथा—(परस्मै०) तनोति[2], तनुतः, तन्वन्ति । तनोषि, तनुथः, तनुथ । तनोमि, तन्व-तनुवः, तन्म-तनुमः । (आत्मने०) तनुते, तन्वाते, तन्वते । तनुषे, तन्वाथे, तनुध्वे । तन्वे, तन्वहे-तनुवहे, तन्महे-तनुमहे ।

लिट्—परस्मै० के णल् मे 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि होकर—ततान । अतुस् मे 'तन्+तन्+अतुस्' इस स्थिति मे कित् लिट् के परे रहते 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) से एत्वाभ्यासलोप होकर—तेनतुः । इसी प्रकार—तेनुः । थल् मे इट् का आगम होकर—'थलि च सेटि' (४६१) से एत्वाभ्यासलोप हो जाता है— तेनिथ । इसी प्रकार आगे भी यथासम्भव समझना चाहिये । आत्मने० में किद्भाव सर्वत्र रहता है अत सब जगह एत्वाभ्यासलोप हो जाता है । दोनों पदो में रूपमाला यथा—(परस्मै०) ततान[3], तेनतुः, तेनुः । तेनिथ, तेनथुः, तेन । ततान ततन, तेनिव, तेनिम । (आत्मने०) तेने, तेनाते, तेनिरे । तेनिषे, तेनाथे, तेनिध्वे । तेने, तेनिवहे, तेनिमहे ।

लुट्—(परस्मै०) तनिता, तनितारौ, तनितारः । तनितासि—। (आत्मने०)

---

१ कई विद्यार्थी यहा 'हुश्नुभ्यो०' (५०१) से यण् किया करते हैं, यह ठीक नही, क्योकि यहा श्नु नही 'उ' है । अत एव यहां 'अचि श्नु०' (१९९) से उवङ् भी प्राप्त नहीं होता ।

२ तनोति भानो परिवेषकर्तृत्वात्—नैषध १ १४ ।

३ पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भक —रघु० ३ २५ ।

तनिता, तनितारौ, तनितारः, तनितासे—। लृट्—(परस्मै०) तनिष्यति, तनिष्यतः, तनिष्यन्ति। (आत्मने०) तनिष्यते, तनिष्येते, तनिष्यन्ते। लोट्—(परस्मै०) तनोतु-तनुतात्, तनुताम्, तन्वन्तु। तनु[1]-तनुतात्, तनुतम्, तनुत। तनवानि, तनवाव, तनवाम। (आत्मने०) तनुताम्, तन्वाताम्, तन्वताम्। तनुष्व, तन्वाथाम्, तनुध्वम्। तनवै, तनवायहै, तनवामहै। लँङ्—(परस्मै०) अतनोत्, अतनुताम्, अतन्वन्। अतनोः, अतनुतम्, अतनुत। अतनवम्, अतन्व-अतनुव, अतन्म-अतनुम। (आत्मने०) अतनुत, अतन्वाताम्, अतन्वत। अतनुथाः, अतन्वाथाम्, अतनुध्वम्। अतन्वि, अतन्वहि-अतनुवहि, अतन्महि-अतनुमहि। वि० लिङ्—(परस्मै०) तनुयात्, तनुयाताम्, तनुयुः। (आत्मने०) तन्वीत, तन्वीयाताम्, तन्वीरन्। आ० लिङ्—(परस्मै०) तन्यात्, तन्यास्ताम्, तन्यासुः। (आत्मने०) तनिषीष्ट, तनिषीयास्ताम्, तनिषीरन्।

लुँङ्—परस्मै० में 'अतन्+इस्+ईत्' इस स्थिति में हलन्तलक्षणा वृद्धि का 'नेटि' (८७७) द्वारा निषेध हो जाता है। तब 'अतो हलादेर्लघोः' (४५७) से वैकल्पिक वृद्धि होकर दोनों पक्षों में सकार का लोप और सवर्णदीर्घ करने पर 'अतानीत्-अतनीत्' दो रूप सिद्ध होते हैं। (परस्मै०) में रूपमाला यथा—(वृद्धिपक्षे) अतानीत्, अतानिष्टाम्, अतानिषुः। (वृद्धयभावे) अतनीत्, अतनिष्टाम्, अतनिषुः।

लुँङ् के आत्मने० में 'अतन्+स्+त' इस स्थिति में इडागम से पूर्व अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७४) तनादिभ्यस्तथासोः।२।४।७९॥

तनादेः सिँचो वा लुक् स्यात् तथासोः। अतत-अतनिष्ट। अतथाः-अतनिष्ठाः। अतनिष्यत्; अतनिष्यत॥

**अर्थः**—तनादिगण की धातुओं से परे सिँच् का विकल्प से लुक् हो, 'त' अथवा 'थास्' परे हो तो।

**व्याख्या**—तनादिभ्यः।५।३। तथासोः।७।२। सिँचः।६।१।('गातिस्था०' से)। लुक्।१।१। ('व्यक्षश्रियार्य०' से)। विभाषा।१।१। ('विभाषा घ्राधेट्०' से)। 'तथासोः' में थास् के साहचर्य के कारण आत्मनेपद के एकवचन 'त' प्रत्यय का ही ग्रहण होता है, परस्मै० म० पु० के बहु० 'थ' के स्थान पर आदेश होने वाले 'त' का नहीं। **अर्थः**—(तनादिभ्यः) तनादिगण की धातुओं से परे (सिँचः) सिँच् का (विभाषा) विकल्प से (लुक्) लुक् हो जाता है (त-थासोः) 'त' या 'थास्' प्रत्यय परे हो तो।

'अतन्+स्+त' यहा 'त' प्रत्यय परे है अतः प्रकृतसूत्र से सकार का वैकल्पिक लुक् हो जाता है। लुक्पक्ष में 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा झलादि ङित् के परे होने से 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (५५९)

---

१. 'तनु+हि' यहा 'उतश्च प्रत्ययादसंयोग०' (५०३) से 'हि' का लुक् हो जाता है।

द्वारा धातु के नकार का भी लोप करने पर 'अतत' प्रयोग सिद्ध होता है। सुक् के अभाव मे सिच् को इट् का आगम होकर षत्व और ष्टुत्व करने पर 'अतनिष्ट' रूप बनता है। इसी प्रकार यास मे—अतया -अतनिष्ठा। लुँङ् आत्मने० मे रूपमाला यथा—अतन-अतनिष्ट, अतनिषाताम, अतनिषत। अतया -अतनिष्ठा, अतनिषाथाम्, अतनिढ्वम्। अतनिषि, अतनिष्वहि, अतनिष्महि।

लृँङ्—(परस्मै०) अतनिष्यत्, अतनिष्यताम, अतनिष्यन्। (आत्मने०) अतनिष्यत, अतनिष्येताम् अतनिष्यन्त।

उपसर्गयोग—प्र√तन्=विस्तृत करना (तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्य प्रतायते—माघ २ ३०)।

वि√तन्=प्रारम्भ करना (तस्य कर्म व्यतानीत्—भट्टि० १ ११, प्रारब्धवान् इत्यर्थ। वितते्वध्वरेषु स—कुमार० २ ४६, प्रवृत्तेष्वित्यर्थ), उत्पन्न करना—पैदा करना (वितनोति च य स्त्रीणा हृदये मन्मथव्यथाम्—कविकल्पद्रुमटीका, चिल्ला चढाना (वितत्य शार्ङ्गं कवच पिनह्य—भट्टि० ३ ४७)।

वि+आ√तन्=निर्माण करना (व्यातेने किरणावलीमुदयन—किरणावली)

आ√तन्=व्याप्त करना (आतेने वनगहनानि वाहिनी सा—किराता० ७ २५), उत्पन्न करना (आनन्दनेन जडतां पुनरातनोति—उत्तर० ३ १२), धनुष पर डोरी चढाना (शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चाततता—रघु० १ १९)।

सम्√तन्=भली भाँति विस्तार करना (यथा—सन्तान, सन्तति, सन्ततम् आदि)।

[लघु०] षणु[1] दाने ॥२॥ सनोति, सनुते ॥

अर्थ—षणु (सन्) धातु 'देना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यह धातु उदित् तथा स्वरितेत् है। स्वरितेत् होने से उभयपद तथा उदित् होने से 'उदितो वा' (८८२) द्वारा क्त्वा मे इट् का विकल्प सिद्ध हो जाता है—सनित्वा-सात्वा। इस के आदि षकार को 'आदेशादे ष स' (२५५) से सकारादेश हो जाता है, तब 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय' के अनुसार णकार को भी नकार होकर 'सन्' बन जाता है। अनुदात्तो में परिगणित न होने से यह धातु सेट् है। आ० लिँङ् और लुँङ् को छोडकर अन्य लकारों मे इसकी प्रक्रिया तन् धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) सनोति, सनुत, सन्वन्ति। (आत्मने०) सनुते, सन्वाते, सन्वते। लिँट्—(परस्मै०) ससान, सेनतु, सेनु। (आत्मने०) सेने, सेनाते, सेनिरे। लुँट्—(परस्मै०) सनिता, सनितारौ, सनितार। सनितासि—। (आत्मने०) सनिता, सनितारौ, सनितार। सनितासे—। लृँट्—(परस्मै०) सनिष्यति, (आत्मने०)

[1] यह धातु प्राय वैदिकसाहित्य मे ही प्रयुक्त देखी जाती है। यथा—अग्नि, सनोति वीर्याणि (ऋग्वेद ३ २५ २)।

सनिष्यते । लोँट्—(परस्मै०) सनोतु-सनुतात्, सनुताम्, सन्वन्तु । सनु-सनुताात्—। (आत्मने०) सनुताम्, सन्वाताम्, सन्वताम् । लँङ्—(परस्मै०) असनोत्, असनुताम्, असन्वन् । (आत्मने०) असनुत, असन्वाताम्, असन्वत । वि० लिँङ्—(परस्मै०) सनुयात्, सनुयाताम्, सनुयुः । (आत्मने०) सन्वीत, सन्वीयाताम्, सन्वीरन् ।

आ० लिँङ्—(परस्मै०) में 'सन्+यास्+त्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७५) ये विभाषा ।६।४।४३॥

जन-सन-खनाम् आत्वं वा यादौ क्ङिति । सायात्-सन्यात् । असानीत्-असनीत् ॥

अर्थः—जन्, सन् और खन् धातुओं के नकार को विकल्प से आकार आदेश होता है यकारादि कित् ङित् प्रत्यय परे हो तो ।

व्याख्या—ये ।७।१। (यकारादकार उच्चारणार्थः)। विभाषा ।१।१। जन-सन-खनाम् ।६।३। ('जनसनखनां सञ्झलोः' से)। आत् ।१।१। ('विड्वनोरनुनासिकस्यात्' से)। क्ङिति ।७।१। ('अनुदात्तोपदेश०' से)। 'ये' यह 'क्ङिति' का विशेषण है अतः तदादिविधि होकर 'यादौ क्ङिति' बन जाता है। अर्थ.—(ये=यादौ, क्ङिति) यकारादि कित् ङित् प्रत्यय परे हों तो (जन-सन-खनाम्) जन्, सन् और खन् धातुओं के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से (आत्) आकार आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह आकारादेश धातु के अन्त्य अल्-नकार के स्थान पर होकर फिर सवर्णदीर्घ हो जाता है। उदाहरण यथा—

जन् (पैदा होना)—जायते-जन्यते (भावे लँट्[1])। यहां 'यक्' यह यकारादि कित् प्रत्यय परे है। जाजायते-जञ्जन्यते—यहां 'यङ्' यह यकारादि ङित् प्रत्यय परे है। इसी प्रकार—सन् (देना)—सायते-सन्यते, सासायते-ससन्यते। खन्(खोदना)—खायते-खन्यते, चाखायते-चङ्खन्यते आदि।

'सन्+यास्+त्' यहां सन् धातु से परे यासुट् प्रत्यय 'किदाशिषि' (४३२) के अनुसार कित् है अतः यकारादि कित् के परे रहते प्रकृतसूत्र से नकार को आकारादेश होकर सवर्णदीर्घ तथा यास् के सकार का संयोगादिलोप करने पर 'सायात्' रूप सिद्ध होता है। आकार के अभावपक्ष में 'सन्यात्' बनता है। आत्मने० में यकारादि प्रत्यय नहीं है अतः आत्व नहीं होता—सनिषीष्ट। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) आत्वपक्षे—सायात्, सायास्ताम्, सायासुः। आत्वाभावे—सन्यात्, सन्यास्ताम्, सन्यासुः। (आत्मने०) सनिषीष्ट, सनिषीयास्ताम्, सनिषीरन्।

---

१. ध्यान रहे कि 'जनी प्रादुर्भावे' के कर्तृवाच्य के लँट् में भी श्यन् प्रत्यय यद्यपि यकारादि ङित् परे स्थित रहता है तथापि वहां इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। 'भ्राजनोर्जी' (६३६) सूत्र निरवकाश होने से इस का बाध कर लेता है।

लुंड्—(परस्मै०) म पूर्ववत् 'अतो हलादेर्लघो' (४५७) से वैकल्पिक वृद्धि हो जाती है। वृद्धिपक्षे—असानीत्, असानिष्टाम्, असानिषु । वृद्धयभावे—असनीत्, असनिष्टाम्, असनिषु ।

(आत्मने०) प्र० पु० के एकवचन मे 'असन्+स्+त' इस अवस्था मे 'तनादिभ्यस्तथासो' (६७४) से सिच् के सकार का वैकल्पिक लोप हो जाता है। लोपपक्ष मे 'असन्+त' इस स्थिति मे 'अनुदात्तोपदेशवनति०' (५५६) से अनुनासिक नकार का लोप प्रसक्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७६) जन-सन-खना सञ्झलो ।६।४।४२॥

एषाम् आकारोऽन्तादेश स्यात् सनि झलादौ ङिति च। असात-असनिष्ट। असाथा-असनिष्ठा ॥

अर्थ—सन् प्रत्यय अथवा झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर जन्, सन् और खन् धातुओं के अन्त्य अल् को आकार आदेश हो।

व्याख्या—जन-सन खनाम् ।६।३। सञ्झनौ ।७।२। आत् ।१।१। ('विड्वनोरनुनासिकस्यात्' से)।ङिति ।७।१। ('अनुदात्तोपदेश०' से)। सन् च झन् च सञ्झनौ, तयो =सञ्झलो । 'सञ्झलो' के अन्तर्गत 'झल्' अश 'ङिति' का विशेषण है अत 'झलादौ ङिति' उपलब्ध हो जाता है। अर्थ—(सञ्झलो, ङिति) सन् प्रत्यय परे हो या झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे हो तो (जन सन-खनाम्) जन्, सन् और खन् धातुओ के स्थान पर (आत्) आकार आदेश होता है'। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह आकारादेश धातु के अन्त्य अल्-नकार के स्थान पर ही होगा। उदाहरण यथा—

'असन्+त' यहा 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से 'त' प्रत्यय ङित् है अत झलादि ङित् के परे रहते प्रकृतसूत्र से सन् धातु के नकार को आकारादेश होकर सवर्णदीर्घ करने मे 'असात' रूप सिद्ध होता है। जहा सिच् का लुक् नहीं होता वहा इट् का आगम होकर—असनिष्ट। इसी तरह आस् मे भी—असाथा-असनिष्ठा। लुंड् आत्मने० मे रूपमाला यथा—असात असनिष्ट, असनिषाताम्, असनिषत। असाथा असनिष्ठा, असनिषायाम्, असनिढ्वम्। असनिषि, असनिष्वहि, असनिष्महि।

लृंड्—(परस्मै०) असनिष्यत्। (आत्मने०) असनिष्यत।

[लघु०] क्षणु हिंसायाम् ॥३॥ क्षणोति, क्षणुते। ह्यन्त० (४६६) इति न वृद्धि—अक्षणीत्, अक्षत-अक्षणिष्ट। अक्षथा-अक्षणिष्ठा ॥

---

१ वस्तुत यहा 'अनुदात्तोपदेशवनति०' सूत्र से 'झलि' की भी अनुवृत्ति आती है। उस का सम्बन्ध 'सनि' से कर लिया जाता है। इस प्रकार झलादि सन् मे ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। 'जिजनिषति' आदि मे सन् झलादि नहीं अत यहां आत्व नहीं होता।

अर्थः—क्षणुं[1] (क्षण्) धातु 'हिंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यह धातु भी उदित् तथा स्वरितेत् है। स्वरितेत् होने से उभयपद तथा उदित् होने से 'उदितो वा' (८८२) द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प सिद्ध हो जाता है—क्षत्वा-क्षणित्वा। अनुदात्तो में परिगणित न होने से इसे सेट् समझना चाहिये। इस की प्रक्रिया लुंङ् के सिवाय अन्य लकारों में 'तनुं विस्तारे' धातु की तरह होती है। लुंङ् के विषय में 'ह्मन्तक्षण०' (४६६) से वृद्धि का निषेध विशेष कार्य है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) क्षणोति, क्षणुतः, क्षण्वन्ति। (आत्मने०) क्षणुते, क्षण्वाते, क्षण्वते। लिँट्—(परस्मै०) चक्षाण, चक्षणतुः[2], चक्षणुः। (आत्मने०) चक्षणे, चक्षणाते, चक्षणिरे। लुँट्—(परस्मै०) क्षणिता, क्षणितारौ, क्षणितारः। क्षणितासि—। (आत्मने०) क्षणिता, क्षणितारौ, क्षणितारः। क्षणितासे—। लृँट्—(परस्मै०) क्षणिष्यति। (आत्मने०) क्षणिष्यते। लोँट्—(परस्मै०) क्षणोतु-क्षणुतात्, क्षणुताम्, क्षण्वन्तु। (आत्मने०) क्षणुताम्, क्षण्वाताम्, क्षण्वताम्। लँङ्—(परस्मै०) अक्षणोत्, अक्षणुताम्, अक्षण्वन्। (आत्मने०) अक्षणुत, अक्षण्वाताम्, अक्षण्वत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) क्षणुयात्, क्षणुयाताम्, क्षणुयुः। (आत्मने०) क्षण्वीत, क्षण्वीयाताम्, क्षण्वीरन्। आ० लिँङ्—(परस्मै०) क्षण्यात्, क्षण्यास्ताम्, क्षण्यासुः। (आत्मने०) क्षणिषीष्ट, क्षणिषीयास्ताम्, क्षणिषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अक्षणीत्, अक्षणिष्टाम्, अक्षणिषुः। (आत्मने०) अक्षत-अक्षणिष्ट, अक्षणिषाताम्, अक्षणिषत। अक्षयाः-अक्षणिष्ठाः—। लृँङ्—(परस्मै०) अक्षणिष्यत्। (आत्मने०) अक्षणिष्यत।

उपसर्गयोग—परा, परि और वि उपसर्गों के साथ भी इस धातु का इसी अर्थ में प्रयोग देखा जाता है।

[लघु०] क्षिणुं[1] च ॥४॥ उप्रत्यये लघूपधस्य गुणो वा—क्षेणोति-क्षिणोति। क्षेणिता। अक्षेणीत्। अक्षित-अक्षेणिष्ट॥

अर्थः—क्षिणुं (क्षिण्) धातु भी 'हिंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है। उप्रत्यये—'उ' प्रत्यय के परे होने पर लघूपधगुण का विकल्प हो जाता है।

व्याख्या—यह धातु भी 'क्षणुं' धातु की तरह उदित्, उभयपदी तथा सेट् है।

---

१. यहां 'हिंसा करना' का व्यापक अर्थों में प्रयोग समझना चाहिये। हानि पहुँचाना, चोट करना, जख्मी करना, तोड़ना, दूर भगाना इत्यादि भी 'हिंसा करना' ही हैं। तोड़ना अर्थ में प्रयोग यथा—मैथिलस्य धनुरन्यपार्थिवैस्त्वं किलाऽनमितपूर्वमक्षणोः (रघु० ११.७२)। इसी धातु से क्षति (हानि), क्षत (जख्मी-लहूलुहान), विक्षत, क्षण (क्षणोति दुःखमिति क्षण उत्सवः) आदि शब्द बनते हैं।

२. यहां अत् के असंयुक्त हलों के मध्य स्थित न रहने से तथा लिँट् को मान कर अभ्यास को आदेश (चुत्व) हो जाने से 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) द्वारा एत्वाभ्यासलोप नहीं होता।

इस की प्रक्रिया प्राय 'तनु विस्तारे' धातु की तरह होती है परन्तु 'उ' प्रत्यय के परे रहने अर्थात् कर्तृवाच्य के लॅट्, लोॅट्, लँङ् और वि० लिङ् मे लघूपधगुण का विकल्प होकर दो दो रूप बनते हैं—क्षिणोति-क्षेणोति, क्षिणुते-क्षेणुते आदि। ध्यान रहे कि 'उ' प्रत्यय 'आर्धधातुक शेष' (४०४) के अनुसार आर्धधातुक है, आर्धधातुक के परे रहते 'पुगन्त-लघूपधस्य च' (४५१) से लघूपधगुण होना चाहिय। परन्तु लघूपध-गुणघटित प्रयोग कहीं उपलब्ध न होने से आत्रेय, मैत्रेय आदि प्राचीन आचार्य 'सञ्ज्ञापूर्वको विधिरनित्य' इस परिभाषा का आश्रय लेकर 'उ' प्रत्यय के परे रहते लघूपधगुण नहीं करते[1]। अन्य वैयाकरणों का कथन है कि महाभाष्य में इस प्रकार का कहीं उल्लेख न होने से 'उ' प्रत्यय के परे होने पर भी लघूपधगुण निर्बाध हो जाता है। इस प्रकार मतभेद के कारण 'उ' प्रत्यय मे लघूपधगुण का विकल्प पर्यवसित होता है। इसी को लघुकौमुदीकार ने 'उप्रत्यये लघूपधस्य गुणो वा' द्वारा निर्दिष्ट किया है। याद रहे कि 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) का यह अनित्यत्व केवल 'उ' प्रत्यय तक ही सीमित है, अन्यत्र तास्, स्य, सीयुट्, सिच् आदियों मे तो नित्य ही लघूपधगुण हो जाता है वहा कोई मतभेद नहीं। रूपमाला यथा—

*लॅट्—(परस्मै०) गुणपक्षे—क्षेणोति, क्षेणुत, क्षेण्वन्ति। गुणाभावे—* क्षिणोति[2], क्षिणुत, क्षिण्वन्ति। (आत्मने०) गुणपक्षे—क्षेणुते, क्षेण्वाते, क्षेण्वते। गुणाभावे—क्षिणुते, क्षिण्वाते, क्षिण्वते। लिट्—(परस्मै०) चिक्षेण, चिक्षिणतु, चिक्षिणु। (आत्मने०) चिक्षिणे, चिक्षिणाते, चिक्षिणिरे। लुट्—(परस्मै०) क्षेणिता, क्षेणितारौ, क्षेणितारः। क्षेणितासि—। (आत्मने०) क्षेणिता, क्षेणितारौ क्षेणितारः। क्षेणितासे—। लृट्—(परस्मै०) क्षेणिष्यति। (आत्मने०) क्षेणिष्यते। लोट्—(परस्मै०)गुणपक्षे—क्षेणोतु-क्षेणुतात्, क्षेणुताम्, क्षेण्वन्तु। गुणाभावे—क्षिणोतु-क्षिणुतात्,

---

१. इस परिभाषा का तात्पर्य यह है कि जो कार्य सीधा विधान न होकर सञ्ज्ञा के द्वारा विधान किया जाये वह अनित्य होता है। यथा—'ओर्गुण' (६ ४ १४६, असञ्ज्ञक उकार के स्थान पर गुण हो) सूत्र की बजाय 'ओरोत्' भी कह सकते थे इसमें लाघव भी था, परन्तु सीधा ओकार का विधान न कर 'गुण' इस सञ्ज्ञा के द्वारा ओकार का विधान किया गया है अत सञ्ज्ञापूर्वक होने से यह कार्य अनित्य है। अनित्यत्व का अभिप्राय यह है कि कहीं कहीं वह नहीं भी होता। जैसे—'धाम स्वायम्भुव ययौ' मे 'स्वयम्भुव इदम्—स्वायम्भुवम्' यहा 'स्वयम्भू+अण्' इस अवस्था में असञ्ज्ञक उकार को 'ओर्गुण' (१००२) से गुण नहीं हुआ किन्तु उवँङ् हो गया है। इसी प्रकार प्रकृत में 'पुगन्तलघूपधस्य च' द्वारा प्रतिपादित कार्य गुणसञ्ज्ञा के द्वारा प्रवृत्त होता है अत वह अनित्य है। इसलिये वह कहीं कहीं प्रवृत्त नहीं भी होगा। इस से 'उ' प्रत्यय के परे रहते लघूपधगुण नहीं होता—'क्षिणोति' आदि रूप बनते हैं।

२ आत्रेय रक्ष यत्नोऽयं न तद् यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति—रघु० २ ४०।

क्षिणुताम्, क्षिण्वन्तु । (आत्मने०) गुणपक्षे—क्षेणुताम्, क्षेण्वाताम्, क्षेण्वताम् । गुणाभावे—क्षिणुताम्, क्षिण्वाताम्, क्षिण्वताम् । लँङ्—(परस्मै०)गुणपक्षे—अक्षेणोत्, अक्षेणुताम्, अक्षेण्वन् । गुणाभावे—अक्षिणोत्, अक्षिणुताम्, अक्षिण्वन् । (आत्मने०) गुणपक्षे—अक्षेणुत, अक्षेण्वाताम्, अक्षेण्वत । गुणाभावे—अक्षिणुत, अक्षिण्वाताम्, अक्षिण्वत । वि० लिँङ्—(परस्मै०) गुणपक्षे—क्षेणुयात्, क्षेणुयाताम्, क्षेणुयुः । गुणाभावे—क्षिणुयात्, क्षिणुयाताम्, क्षिणुयुः । (आत्मने०) गुणपक्षे—क्षेण्वीत, क्षेण्वीयाताम्, क्षेण्वीरन् । गुणाभावे—क्षिण्वीत, क्षिण्वीयाताम्, क्षिण्वीरन् । आ० लिँङ्—(परस्मै०) क्षिण्यात्, क्षिण्यास्ताम्, क्षिण्यासुः । (आत्मने०) क्षेणिषीष्ट, क्षेणिषीयास्ताम्, क्षेणिषीरन् । लुँङ्—(परस्मै०) अक्षेणीत्, अक्षेणिष्टाम्, अक्षेणिषुः । (आत्मने०) अक्षेत-अक्षेणिष्ट, अक्षेणिषाताम्, अक्षेणिषत । लृँङ्—(परस्मै०) अक्षेणिष्यत् । (आत्मने०) अक्षेणिष्यत ।

[लघु०] तृणु॑ अदने ॥५॥ तृणोति-तर्णोति; तृणुते-तर्णुते ॥

अर्थः—तृणु॑ (तृण्) धातु 'खाना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—इस धातु के प्रयोग अन्वेषणीय हैं । तृण (तिनका) शब्द इसी धातु से बनता है । यह धातु भी पूर्ववत् उदित्, उभयपदी तथा सेट् है । इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'क्षिणु॑' धातु की तरह होती है । यहां भी 'उ' प्रत्यय के परे रहते लघूपधगुण का विकल्प हो जाता है ।

लँट्—(परस्मै०) तर्णोति-तृणोति । (आत्मने०) तर्णुते-तृणुते । लिँट्—(परस्मै०) ततर्ण, ततृणतुः, ततृणुः । (आत्मने०) ततृणे, ततृणाते, ततृणिरे । लुँट्—(परस्मै०) तर्णिता-तर्णितारौ, तर्णितारः । तर्णितासि— । (आत्मने०) तर्णिता, तर्णितारौ, तर्णितारः । तर्णितासे— । लृँट्—(परस्मै०) तर्णिष्यति । (आत्मने०) तर्णिष्यते । लोँट्—(परस्मै०) तर्णोतु-तर्णुतात्, तृणोतु-तृणुतात् । (आत्मने०) तर्णुताम्-तृणुताम् । लँङ्—(परस्मै०) अतर्णोत्-अतृणोत् । (आत्मने०) अतर्णुत-अतृणुत । वि० लिँङ्—(परस्मै०) तर्णुयात्-तृणुयात् । (आत्मने०) तर्ण्वीत-तृण्वीत । आ० लिँङ्—(परस्मै०) तृण्यात् । (आत्मने०) तर्णिषीष्ट । लुँङ्—(परस्मै०) अतर्णीत्, अतर्णिष्टाम्, अतर्णिषुः । (आत्मने०) अतृत-अतर्णिष्ट, अतर्णिषाताम्, अतर्णिषत । लृँङ्—(परस्मै०) अतर्णिष्यत् । (आत्मने०) अतर्णिष्यत ।

[लघु०] डुकृञ् करणे ॥६॥ करोति ॥

अर्थः—डुकृञ् (कृ) धातु 'करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—इस धातु के आदि 'डु' की 'आदिर्ञिटुडवः' (४६२) से तथा अन्त्य ऋकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है । इत्सञ्ज्ञकों का लोप करने पर 'कृ' मात्र अवशिष्ट रहता है । 'डु' के इत् हो जाने के कारण 'डुवितः क्त्रिः' (८५७) से क्त्रि प्रत्यय हो कर 'क्त्रेर्मम् नित्यम्' (८५८) से मप्प्रत्यय हो जाता है—कृत्रिमम्

(बना हुआ—बनावटी)। ङित् होने से यह धातु उभयपदी तथा 'ऊदृदन्तै०' के अनुसार अनिट् है। ऋादियो में परिगणित होने से लिट् मे भी यह अनिट् रहती है।

लट्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में 'तनादिकृञ्भ्य उ' (६७३) से 'उ' प्रत्यय होकर 'कृ+उ+ति' इस स्थिति म 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' (३८८) द्वारा उप्रत्यय को मान कर धातु के ऋकार को अर् गुण तथा तिप्प्रत्यय को मान कर उकार को ओकार गुण हो जाता है—करोति।

द्विवचन मे 'कृ+उ+तस्' इस स्थिति मे उप्रत्यय को मानकर तो गुण हो ही जाता है परन्तु तस् को मानकर उकार को गुण नहीं होता कारण कि 'सार्वधातुकमपित्'(५००)से तस् ङिद्वत् है। 'करु+तस्' इस दशा मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७७) अत उत्सार्वधातुके ।६।४।११०॥

उप्रत्ययान्तस्य कृञोऽकारस्य उ स्यात् सार्वधातुके ङिति। कुरुत ॥

अर्थ—सार्वधातुक ङित् वा ङित् परे होने पर उप्रत्ययान्त कृञ् धातु के अकार के स्थान पर ह्रस्व उकार आदेश हो।

व्याख्या—इस सूत्र की व्याख्या पीछे (३१७)पृष्ठ पर कर चुके हैं वहीं देखें।

'करु+तस्' यहां 'तस यह ङित् सावधातुक परे मौजूद है अत उप्रत्ययान्त कृञ् के अकार को प्रकृतसूत्र से उकार होकर पदान्त सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने पर 'कुरुत' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र० पु० के बहुवचन मे उप्रत्यय, झि के झकार को अन्त् आदेश, गुण, अकार को उकार आदेश तथा 'इको यणचि' (१५) से विकरण के उकार को यण् करने पर 'कुर्+व+अन्ति' हुआ। अब यहा धातु के रेफान्त हो जाने से 'हलि च' (६१२) सूत्र द्वारा उपधा को दीर्घ प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(६७८) न भकुर्छुराम् ।८।२।७९॥

भस्य कुर्छुरोरुपधाया न दीर्घ। कुर्वन्ति॥

अर्थ—भसञ्ज्ञको की उपधा को तथा कुर् और छुर् की उपधा को दीर्घ नही होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। भ-कुर्-छुराम् ।६।३। उपधाया ।६।१। दीर्घ। १।१। ('र्वोरुपधाया दीर्घ इक' से)। भ च कुर् च छुर् च—भ-कुर्-छुर, तेषाम्—भकुर्छुराम्, इतरेतरद्वन्द्व। अर्थ—(भ-कुर्-छुराम्) भसञ्ज्ञको की तथा कुर् और छुर् की (उपधाया) उपधा के स्थान पर (दीर्घ) दीर्घ (न) नहीं होता। यथा—

भसञ्ज्ञक—धुर्+य=धुर्य [धुरं वहतीति विग्रहे 'धुरो यड्ढकौ' (११३२) इति यत्। यहां 'यचि भम्' (१६५) से धुर् की भसञ्ज्ञा है]। धुर्—धुर्वति (धुर हिंसने तुदा० परस्मै० इसे सिद्धान्तकौमुदी में देखें)। कुर्[1] का उदाहरण प्रदर्शन है—

---

१ 'कुर्' से यहां 'कुर शब्दे' (तुदा०) धातु का ग्रहण नहीं होता अपितु 'क' में

'कुर्+व्+अन्ति' यहां प्रकृतसूत्र से 'कुर्' की उपधा को दीर्घ का निषेध होकर 'कुर्वन्ति प्रयोग सिद्ध होता है।

म० पु० के एकवचन में गुण होकर—करोषि। द्विवचन और बहुवचन में अकार को उकार होकर—कुरुथः, कुरुथ। उ० पु० के एकवचन में गुण होकर—करोमि। द्विवचन और बहुवचन में अकार को उकार हो कर 'कुरु+वस्, कुरु+मस्' इस स्थिति में 'लोपश्चाऽस्यान्यतरस्यां म्वोः' (५०२) से प्रत्यय उकार का वैकल्पिक लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से लोप का नित्यत्व विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७९) नित्यं करोतेः ।६।४।१०८॥

करोतेः प्रत्ययोकारस्य नित्यं लोपो म्वोः परयोः। कुर्वः, कुर्मः। कुरुते। चकार; चक्रे। कर्त्ता। करिष्यति; करिष्यते। करोतु, कुरुताम्। अकरोत्; अकुरुत॥

**अर्थः**—कृ धातु से परे प्रत्यय के उकार का नित्य लोप हो मकार वकार परे हो तो।

**व्याख्या**—नित्यम् इति क्रियाविशेषणं द्वितीयैकवचनान्तम्। करोतेः ।५।१। प्रत्ययस्य ।६।१। उतः ।६।१। ('उतश्च प्रत्ययाद्०' से विभक्तिविपरिणाम कर के) लोपः ।१।१। ('लोपश्चाऽस्यान्य०' से)। अर्थः—(करोतेः) कृ धातु से परे (प्रत्ययस्य उतः) प्रत्यय के उकार का (नित्यम्) नित्य (लोपः) लोप हो जाता है (म्वोः) मकार या वकार परे हो तो[2]। यह सूत्र 'लोपश्चाऽस्यान्य०' (५०२) का अपवाद है।

'कुर्+उ+वस्, कुर्+उ+मस्' यहां क्रमशः वकार मकार परे हैं अतः कृ धातु से परे उकार का प्रकृतसूत्र से नित्य लोप होकर 'कुर्वः, कुर्मः' रूप सिद्ध होते है[3]।

आत्मने० मे सर्वत्र ङिद्वद्भाव के कारण 'त' आदि प्रत्ययों को मानकर उकार को कहीं गुण नही होता। किञ्च 'अत उत्सार्वधातुके' से सर्वत्र अकार को उकार हो जाता है। दोनों पदों में रूपमाला यथा—(परस्मै०) करोति, कुरुतः, कुर्वन्ति। करोषि, कुरुथः, कुरुथ। करोमि, कुर्वः, कुर्मः। (आत्मने०) कुरुते, कुर्वाते, कुर्वते। कुरुषे, कुर्वाथे, कुरुध्वे। कुर्वे, कुर्वहे, कुर्महे।

लिट्—(परस्मै०) चकार, चक्रतुः, चक्रुः। चकर्थ, चक्रथुः, चक्र। चकार-चकर, चकृव, चकृम। (आत्मने०) चक्रे, चक्राते, चक्रिरे। चकृषे, चक्राथे, चकृढ्वे। चक्रे, चकृवहे, चकृमहे। लुट्—(परस्मै०) कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः। कर्तासि—।

---

वने 'कुर्' का ही ग्रहण अभीष्ट है (देखें सिद्धान्त-कौमुदी तथा उस पर वृ० शब्देन्दु-शेखर)।

२. आरम्भसामर्थ्यादेव नित्यत्वे सिद्धे नित्यग्रहणं स्पष्टार्थम्।

३. यहां पर भी 'हलि च'(६१२)मे प्राप्त उपधादीर्घ का 'न भ-कुर्-छुराम्' (६७८) से निषेध हो जाता है।

(आत्मने०) कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः । कर्तासि—। लृट्—दोनों पदों में 'ऋदृनो स्ये' (४६७) से 'स्य' को इट् का आगम हो जाता है। (परस्मै०) करिष्यति, करिष्यतः, करिष्यन्ति। (आत्मने०) करिष्यते, करिष्येते, करिष्यन्ते। लोट्—(परस्मै०) करोतु-कुरुतात्, कुरुताम्, कुर्वन्तु। कुरु'-कुरुतात्, कुरुतम्, कुरुत। करवाणि, करवाव, करवाम। (आत्मने०) कुरुताम्, कुर्वाताम्, कुर्वताम्। कुरुष्व, कुर्वाथाम्, कुरुध्वम्। करवै, करवावहै, करवामहै। लेंड्—(परस्मै०) अकरोत्, अकुरुताम्, अकुर्वन्। अकरोः, अकुरुतम्, अकुरुत। अकरवम्, अकुर्व, अकुर्म। (आत्मने०) अकुरुत, अकुर्वाताम्, अकुर्वत। अकुरुथाः, अकुर्वाथाम्, अकुरुध्वम्। अकुर्वि, अकुर्वहि, अकुर्महि।

वि० लिंड्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में उविकरण, गुण तथा अकार को उकार करने पर—कुर्+उ+यास्+त्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(६८०) ये च ।६।४।१०६॥

कृञ उलोपो यादौ प्रत्यये परे। कुर्यात्, कुर्वीत। क्रियात्, कृषीष्ट। अकार्षीत्, अकृत। अकरिष्यत्, अकरिष्यत॥

अर्थ—कृञ् धातु से परे 'उ' का लोप हो यकारादि प्रत्यय परे हो तो।

व्याख्या—ये ।७।१। (यकारादकार उच्चारणार्थ)[1] च इत्यव्ययपदम्। करोतेः ।५।१। ('नित्य करोते' से)। प्रत्ययस्य ।६।१। उत ।६।१। ('उतश्च प्रत्ययादसंयोग-पूर्वात्' से)। लोप ।१।१। ('लोपश्चाऽस्यान्य०' से)। 'अङ्गस्य' के अधिकृत होने से 'प्रत्यये' का अध्याहार कर लिया जाता है। तब 'ये' को 'प्रत्यये' का विशेषण बना कर तदादिविधि करने से 'यकारादौ प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है। अर्थ—(करोतेः) कृ धातु से परे (प्रत्ययस्य उत) प्रत्यय के उकार का (लोप) लोप हो जाता है (ये=यकारादौ प्रत्यये) यकारादि प्रत्यय परे हो तो।

'कुर्+उ+यास्+त्' यहां 'यास्' यह यकारादि प्रत्यय परे विद्यमान है अतः कृ धातु से परे उकार का प्रकृतसूत्रद्वारा लोप होकर 'लिंङ् सलोप०' (४२७) से अनन्त्य सकार का लोप करने पर 'कुर्यात्' रूप सिद्ध होता है। वि० लिंड् में रूप-माला यथा—(परस्मै०) कुर्यात, कुर्याताम्, कुर्युः। कुर्याः, कुर्यातम्, कुर्यात। कुर्याम, कुर्याव, कुर्याम। (आत्मने०) कुर्वीत, कुर्वीयाताम्, कुर्वीरन्। कुर्वीथाः, कुर्वीयाथाम्, कुर्वीध्वम्। कुर्वीय, कुर्वीवहि, कुर्वीमहि।

आ० लिंड्—(परस्मै०) में 'रिङ् श-यग्-लिंड्सु' (४४३) से धातु के ऋकार को रिङ् आदेश हो जाता है—क्रियात्, क्रियास्ताम्, क्रियासुः। (आत्मने०) में 'उश्च' (५४४) सूत्र द्वारा भरादि लिंड् के कित् हो जाने से धातु के ऋकार को गुण नहीं होता—कृषीष्ट, कृषीयास्ताम्, कृषीरन्।

लुंड्—(परस्मै०) में 'सिचि वृद्धि०' (४८४) द्वारा इगन्तलक्षणा वृद्धि हो जाती है—अकार्षीत्, अकार्ष्टाम्, अकार्षुः। अकार्षीः, अकार्ष्टम्, अकार्ष्ट। अकार्षम्,

---

१ 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' (५०३) से 'हि' का लुक् हो जाता है।

**अकार्ष्व, अकार्ष्म** । (आत्मने०) में प्र० पु० के एकवचन में 'अकृ+स्+त' इस स्थिति में **'तनादिभ्यस्तथासोः'** (६७४) से सिच् का वैकल्पिक लुक् हो जाता है। लुक्पक्ष में **'सार्वधातुकमपित्'** (५००) द्वारा 'त' के ङिद्वत् होने से गुण नहीं होता—अकृत। लुक् के अभाव में भी **'उश्च'** (५४४) से झलादि सिच् कित् हो जाता है तब **'ह्रस्वादङ्गात्'** (५४५) से उस का लोप करने पर 'अकृत' वैसा रूप बनता है। इसी प्रकार थास् में भी दोनों पक्षों में एक सा रूप बनता है। रूपमाला यथा—**अकृत, अकृषाताम्, अकृषत। अकृथाः, अकृषाथाम्, अकृढ्वम्** (धि च, इणः षीध्वम्०)। **अकृषि, अकृष्वहि, अकृष्महि**। लृङ्—(परस्मै०) अकरिष्यत्। (आत्मने०) अकरिष्यत।

**उपसर्गयोग**—सम् परि और उप उपसर्गों के साथ कृञ् धातु मे विशेष कार्य हुआ करता है। अतः अग्रिम तीन सूत्रों में उसका निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (६८१) **सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे** । ६।१।१३२॥

विधि-सूत्रम्— (६८२) **समवाये च** ।६।१।१३३॥

सम्परिपूर्वस्य करोतेः सुट् स्याद् भूषणे सङ्घाते चार्थे। सँस्करोति—अलङ्करोतीत्यर्थः। संस्कुर्वन्ति—सङ्घीभवन्तीत्यर्थः। सम्पूर्वस्य क्वचिद्-भूषणेऽपि सुट्— **'संस्कृतं भक्षाः'** (१०४०) इति ज्ञापकात्॥

**अर्थः**—सम् और परि उपसर्गों से परे कृञ् धातु को सुट् का आगम हो 'सजाना' या 'इकट्ठा होना' अर्थ हो तो।

**व्याख्या**—इन दोनों सूत्रों का एक ही विषय है अतः इन की एक साथ व्याख्या करते हैं। सम्परिभ्याम् ।५।२। करोतौ ।७।१। भूषणे ।७।१। समवाये ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। **'सुट् कात् पूर्वः'** (६.१.१३१) का अधिकार आ रहा है। अर्थः—(सम्परिभ्याम्) सम् अथवा परि उपसर्ग से परे (करोतौ) कृ धातु हो तो (कात् पूर्वः) उस के ककार से पूर्व (सुट्) सुट् का आगम हो (भूषणे) सजाना (च) तथा (समवाये) इकट्ठा होना अर्थ में। सुट् में टकार इत्सञ्ज्ञक तथा उकार उच्चारणार्थक है। अतः 'स्' ही अवशिष्ट रहता है। सुट् का स्थान ककार से पूर्व निश्चित कर दिया गया है अतः **'आद्यन्तौ टकितौ'** (८५) की सहायता नहीं लेनी पड़ती[1]।

उदाहरण यथा—

'सम्+करोति' यहां सम्पूर्वक कृ धातु का 'सजाना' अर्थ है अतः प्रकृतसूत्र से कृ धातु के ककार से पूर्व सुट् का आगम होकर 'सम्+स्करोति' बना। अब

---

१. यदि **'आद्यन्तौ टकितौ'** (८५) सूत्र की सहायता नहीं लेनी थी तो सुट् को टित् क्यों किया गया है? इस का समाधान यह है कि **'परिनिविभ्यः सेव-सित-सय-सिवु-सह-सुट्-स्तु-स्वञ्जाम्'** (८.३.७०) में सुट् के विशेषणार्थ इसे टित् किया गया है। अन्यथा 'सु' मात्र का ग्रहण करते तो 'सु' धातु समझ ली जाती इस से अनिष्ट हो जाता।

सस्कर्ता' की तरह 'सम सुटि'(९०)से सम् के मकार को रुँत्व, उस से पूर्व वर्ण को अनुनासिक (९१) तथा पक्ष मे अनुस्वार का आगम (९२), रेफ को विसर्ग और 'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्य' (वा० १५) से विसर्ग को सकार करने पर 'संस्करोति-सस्करोति' ये दो रूप[1]सिद्ध होते हैं'। संस्करोति=सजाता है। इसी प्रकार—सम्+कुर्वन्ति=संस्कुर्वन्ति-सस्कुर्वन्ति (इकट्ठे होते हैं), परि+करोति=परिष्करोति (सजाता है, यहा 'परिनिविभ्य सेव-सित०' ८ ३ ७० से सुट् के सकार को षकार हो जाता है)। 'अडभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्व इति वक्तव्यम' (वा० ४४) इस वार्तिक से अट् या अभ्यास का व्यवधान होने पर भी कृञ् के ककार से पूर्व सुट् का आगम निर्बाध हो जाता है—समस्कार्षीत्, समस्करोत्, सचस्कार आदि।

कहीं कहीं भूषण (सजाना) आदि अर्थों के विना भी सम्पूर्वक कृ को सुट् का आगम देखा जाता है। इस मे 'सस्कृत मक्षा'(१०३७) यह पाणिनि का सूत्र ज्ञापक है। यहा 'सस्कृतम्' मे 'सजाना' अर्थ नहीं अपितु 'भूनना' आदि अर्थ है, यहां पाणिनिजी ने स्वय सुट् का आगम किया है अत इस से प्रतीत होता है कि भूषण आदि अर्थों के विना भी क्वचित् सुट् हो जाता है। कुछ लोगों का विचार है कि 'भूनना' आदि भी भक्ष्यपदार्थों का एक प्रकार से भूषण है अत यहा भी भूषण अर्थ विद्यमान होने से सुट् हो गया है कुछ नवीन बात नहीं हुई।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६८३) उपात् प्रतियत्न-वैकृत-वाक्याध्याहारेषु च ।६।१।१३४॥

उपात् कृञ सुट् स्याद् एष्वर्थेषु, चात् प्रागुक्तयोरर्थयो । प्रतियत्नो गुणाऽऽधानम् । विकृतमेव वैकृत विकार । वाक्याऽध्याहार आकाङ्क्षितैक-देशपूरणम् । उपस्कृता कन्या । उपस्कृना ब्राह्मणा । एधो दकस्योपस्कुरुते । उपस्कृत भुङ्क्ते । उपस्कृत ब्रूते ॥

अर्थ—'उप' से परे कृञ् के ककार को सुट् का आगम हो प्रतियत्न, वैकृत अथवा वाक्याध्याहार गम्यमान हो तो। चकारग्रहण से पूर्वोक्त 'सजाना' और 'इकट्ठा होना' अर्थों में भी सुट् हो जायेगा।

व्याख्या—उपात् ।५।१। प्रतियत्न-वैकृत-वाक्याध्याहारेषु ।७।३। च इत्यव्यय-पदम् । करोतौ ।७।१। भूषणे ।७।१। ('सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' से)। समवाये ।७।१। ('समवाये च' से)'सुट् कात्पूर्व' यह अधिकृत है। अर्थ—(उपात्) उप से परे

---

१. ये दो सकार वाले रूप हैं। एक सकार वाले रूप भी बनते हैं। 'सम्+स्करोति' मे 'समो वा लोपमेके' इस भाष्यवार्तिक से मकार का लोप हो जाता है। इस लोप के भी रुँप्रकरणस्थित होने से अनुनासिक-अनुस्वार हो जाते हैं। रुँ न होने से विसर्ग और सकार नहीं होता, अत एक सकार वाले रूप होते हैं—सस्करोति-संस्करोति। इस प्रकार 'सस्कृत' आदि एकसकारवाले रूप जान लेने चाहियें।

(करोतौ) कृ धातु हो तो (कात् पूर्वः) उस के ककार से पूर्व (सुट्) सुट् का आगम हो जाता है (प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु) प्रतियत्न, वैकृत, वाक्याध्याहार (च) तथा (भूषणे समवाये) भूषण और समवाय अर्थ गम्यमान हो तो।

**प्रतियत्नो गुणाऽऽधानम्**। किसी वस्तु में नये गुण का आधान करना—उत्पन्न करना 'प्रतियत्न' कहाता है। यथा—**एधो दकस्योपस्कुरुते**[1] (लकड़ी पानी को उपस्कृत करती है अर्थात् उसे गरम या गुणयुक्त करती है[2])—यहां जल में उष्णता न थी, उस के नीचे ईन्धन के जलाने से उस में उष्णतारूप गुण का आधान हुआ है अतः 'कृ' के ककार से पूर्व सुट् का आगम हो गया। इसी प्रकार **काण्डं गुडस्योपस्कुरुते** (भिण्डी आदि की लकड़ी गुड़ को उपस्कृत अर्थात् गुणयुक्त करती है। गुड़ बनाते समय भिण्डी आदि की लकड़ी डालने से विशेष गुण आ जाते हैं ऐसी प्रसिद्धि है), **विभ्रमो रूपस्योपस्कुरुते** (विलास रूप में नया गुण लाता है), **शोधनादिसंस्कारजातं सूतस्योपस्कुरुते** (शोधनादि संस्कारों से पारद मे नया गुण उत्पन्न हो जाता है)।

**विकृतमेव वैकृतम्—विकारः**। विकृतशब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्यय करने पर 'वैकृत' शब्द सिद्ध होता है[3]। इस प्रकार वैकृत का अर्थ है—विकार। उपस्कृतं भुङ्क्ते। उपस्कृतं (सविकारं) यथा भवति तथा भुङ्क्ते। अर्थात् ठीक ढंग से नहीं खाता, विकृत रीति से खाता है। यहां 'उपस्कृत' शब्द क्रियाविशेषण होने से नपुंसकलिङ्ग मे द्वितीया का एकवचनान्त प्रयुक्त हुआ है।

**वाक्याऽध्याहार आकाङ्क्षितैकदेशपूरणम्**। आकाङ्क्षित (अभीष्ट) वाक्य

---

१. एधस् (नपुं०) या एध (पुं०) शब्द ईन्धन के वाचक है। प्रथमाविभक्ति के एकवचन में दोनों का 'एधः' रूप बनता है अतः यहां किसी का भी प्रयोग समझा जा सकता है। 'दक' (नपुं०) शब्द जलवाचक है—जीवनं भुवनं दकम् (अमरकोष)। 'दकस्य' में 'कृञः प्रतियत्ने' (२.३.५३) सूत्रद्वारा कर्म में शेषत्व की विवक्षा होने पर षष्ठीविभक्ति हुई है। 'उपस्कुरुते' में आत्मनेपद का विधान 'गन्धनावक्षेपण०' (१.३.३२) सूत्र से किया गया है अतः परस्मैपद का प्रयोग वर्जित है। यह वाक्य बहुत प्राचीन है। इस का मूल अन्वेष्टव्य है। प्राचीन वैयाकरण 'एधोदकस्य' को समस्त पद मानते हैं। 'एध+उदक' अथवा 'एधस्+दक' दोनों प्रकार से समाहारद्वन्द्व करने पर 'एधोदक' बनता है। उनके मत में अर्थ है—लकड़ी और जल को उपस्कृत अर्थात् शुद्ध करता है (यज्ञ के लिये समिधाओं और जल की शुद्धि का शास्त्र में विधान है)।

२. निम्ब करञ्ज आदि ईन्धनविशेष के परिताप से जल में अनेक प्रकार के गुणों का आधान होना चिकित्साशास्त्र में प्रसिद्ध है। अथवा—क्वाथ के जल में निम्बादि काष्ठौषधों के योग से नाना प्रकार के गुणों का समावेश सर्वविदित है।

३. 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (१२४०) से स्वार्थ में अण् प्रत्यय हुआ है। जिस प्रकार प्रज्ञ से प्राज्ञ, चोर से चौर, बन्धु से बान्धव, मरुत् से मारुत, देवता से दैवत, पिशाच से

के एकदेश अर्थात् पदों के अध्याहार करने को 'वाक्याध्याहार' कहते हैं[1]। उपस्कृतम् (उपस्कृत यथा भवति तथा) ब्रूते। वाक्यगत पदों का अध्याहार करते हुए बोलता है। यहां भी पूर्ववत् 'उपस्कृतम्' को क्रियाविशेषण समझना चाहिये।

भूषण (सजाना) अर्थ यथा—उपस्कृता कन्या (सजी हुई कन्या)। यहां उपपूर्वक कृ धातु का क्तान्त प्रयोग किया गया है।

समवाय (समुदाय—इकट्ठा होना) अर्थ यथा—उपस्कृता ब्राह्मणा (इकट्ठे हुए ब्राह्मण)। यहां भी क्तान्त प्रयोग है।

उपसर्गों के साथ कृ धातु के कुछ अन्य प्रयोग यथा—

अधि√कृ=अधिकारी बनाना, प्रधान नियुक्त करना (पाण्डवेन ह्याय तात ! अश्वेष्वधिकृत पुरा—महाभारत), विषय बनाना (किरातार्जुनौ अधिकृत्य कृत काव्य किरातार्जुनीयम्, 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' ११०३), दबाना, वश मे करना (अधिचक्रे न य हरि—भट्टि० ८ २०, 'अधे प्रसहने' १ ३ ३३ से आत्मनेपद), समर्थ होने पर भी सहन करना (भवादृशाश्चेदधिकुर्वते परान्—पदमञ्जरी १ ३ ३३ पर), प्रारम्भ करना (अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थं प्रयुज्यते—महाभाष्य)।

अनु√कृ=नकल करना, अनुकरण करना (न गुरोरनुकुर्वीत[2] गतिभाषित-चेष्टितम्—मनु० २ १९९), सदृश होना (ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रोष्ठ-पर्यन्तरुच स्मितस्य—कुमार० १ ४४)।

अप√कृ=अपकार करना, बदला चुकाना (आपदि येनाऽपकृत येन च हसित दशासु विषमासु। अपकृत्य तपोरुभयो पुनरपि जात नर मन्ये—पञ्च० ४ १६)।

प्रति√कृ=प्रतिकार करना, हटाने का उपाय करना (आगत तु भय वीक्ष्य प्रतिकुर्याद् यथोचितम्—हितोप० १ ५७, व्याधिमिच्छामि ते शातु प्रतिकुर्या हि तत्र वै—महाभारत)।

वि√कृ=विकृत करना, बिगाडना, दूषित करना (चित्त विकरोति काम—सि० कौ०, विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीरा—कुमार० १ ५९), उच्चारण करना (स्वरान् विकुरुते, उच्चारयतीत्यर्थ। 'वे शब्दकर्मण' १ ३ ३४ इत्यात्मनेपदम्), विकृत होना, व्यर्थ चेष्टा करना (छात्रा विकुर्वते, विकार लभन्त इति सि० कौ०, ओदनस्य पूर्णाश्छात्रा विकुर्वते, निष्फल चेष्टन्त इति काशिका। 'अकर्मकाच्च' १ ३ ३५ इत्यात्मनेपदम्)।

प्र√कृ=करना (जानन्नपि नरो दैवात् प्रकरोति विगर्हितम्—पञ्च०

---

पैशाच, मनस् से मानस आदि शब्द बनते हैं वैसे यहां विकृत से वैकृत शब्द बना है।

१ 'समुदायेषु हि प्रवृत्ता शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते' इस न्याय के अनुसार यहां वाक्यशब्द वाक्यांश मे प्रयुक्त हुआ है। वाक्यांश पद हुआ करते हैं अत पदों के अध्याहार का नाम वाक्याध्याहार है।

२ आत्मनेपदमार्षम्। 'अनुपराभ्यां कृञ' (६४६) इति परस्मैपदविधानात्।

४.३५); कहना (गाथाः प्रकुरुते, जनापवादान् प्रकुरुते, प्रकर्षेण कथयतीति काशिका। '...प्रकथनोपयोगेषु कृञः' १.३.३२ इत्यात्मनेपदम्); दुःसाहस करना, व्यभिचारार्थ वशीभूत करना (परदारान् प्रकुरुते—काशिका। पूर्ववत् १.३.३२ इत्यात्मनेपदम्); उपयोग करना (शतं प्रकुरुते, सहस्रं प्रकुरुते, धर्मार्थं विनियुङ्क्त इत्यर्थ इति काशिका। १.३.३२ इत्यात्मनेपदम्)।

उप√कृ—उपकार करना (सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम्—किरात० ७.२८); लाभ पहुँचाना (न हि दोषो परस्परस्योपकुरुतः—शाङ्करभाष्य); सेवा करना (आचार्यमुपकुरुते। 'गन्धनावक्षेपणसेवन०' १.३.३२ इत्यात्मनेपदम्)।

अप+आ√कृ—नाश करना, दूर भगाना (मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति—नीति० १६)।

वि+आ√कृ—व्याख्या करना, विवेचन करना (ग्रन्थानधीत्य व्याकर्तुमिति दुर्मेधसोऽप्यलम्—माघ २.२७; व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्)।

परा√कृ=परे हटाना, दूर करना, छोड़ना (ता हनूमान् पराकुर्वन्नगमत् पुष्पकं प्रति—भट्टि० ८.५०, 'अनुपराभ्यां कृञः' ७४५ इति परस्मैपदम्)।

आ√कृ (णिजन्त)=पुकारना (रदनिकाम् आकारय—मृच्छ० ३); बुलाना (प्रहितः प्रघनाय माधवान् अहमाकारयितुं महीभृता—माघ १६.५२)।

निर्+आ√कृ=निराकरण करना, हटाना, दूर करना, खण्डन करना (तेन भ्राता निराकृतः—भट्टि० ६.१०१; निराकरिष्णुः—३.२.१३६)।

उपसर्गयोग के अतिरिक्त अन्य निपातों के साथ भी कृ धातु के विविध प्रयोग देखे जाते हैं—

(१) साक्षात्करोति=साक्षात्कार करता है, दर्शन करता है। साक्षात्कृत्य।

(२) ऊरीकरोति=स्वीकार करता है। ऊरीकृत्य=स्वीकार कर के।

(३) उररीकरोति=स्वीकार करता है। उररीकृत्य=स्वीकार कर के।

(४) नमस्करोति=नमस्कार करता है। मुनिव्रतं नमस्कृत्य—मि० को०।

(५) पुरस्करोति=आगे करता है (हते जरति गाङ्गेये पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्—वेणी० २.१८)।

(६) आविष्करोति=प्रकट करता है। आविष्कृत्य=प्रकट कर के।

(७) तिरस्करोति=छिपाता है, निरादर करता है। तिरस्कृत्य=छिपा कर, निरादर कर[1]। (गौर्निगुरुणां परुषाक्षरानिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्—भामिनी०)।

---

१. निरादर भी एक प्रकार से अन्तर्धि है (देखें वामनकाव्यसूत्र ५.२.११)। अतः इस अर्थ में 'तिरोऽन्तर्धौ' (१.४.७०) से 'अन्तर्धौ' की अनुवृत्ति आने पर 'विनापा कृञि' (१.४.७१) से वैकल्पिक गतिसंज्ञा हो जाती है। गतिपक्ष में 'कुगतिप्रादयः' (६४६) से समास तथा 'तिरसोऽन्यतरस्याम्' (८.३.४२) से विसर्ग को विकल्प से सकारादेश हो जाता है।

(८) सत्करोति=सत्कार करता है। सत्कृत्य=सत्कार कर के।

(९) अलङ्करोति=अलङ्कृत करता है, सजाता है। अलङ्कृत्य=सजा कर।

कृ धातु के साथ कुछ च्विप्रत्ययान्त तथा सातिप्रत्ययान्त प्रयोग भी बहुत प्रसिद्ध हैं। यथा—स्वीकरोति=स्वीकार करता है। अङ्गीकरोति=अङ्गीकार करता है (अङ्गीकृतं सुकृतिन परिपालयन्ति—सुभाषित)। आकुलीकरोति=व्याकुल करता है। सनाथीकरोति=सनाथित करता है। सफलीकरोति=सफल करता है। विफलीकरोति=विफल करता है। प्रमाणीकरोति=प्रमाण मानता है। सज्जीकरोति=तैयार करता है। धूलीकरोति=धूलि में मिलाता है। भस्मसात्करोति=भस्म करता है। अग्निसात्करोति=आग लगाता है। आत्मसात्करोति=अपने अधीन करता है[1]।

यहां तक तनादिगण की उभयपदी धातुओं का वर्णन समाप्त हुआ।

अब आत्मनेपदी धातुओं का विवेचन प्रारम्भ करते हैं—

[लघु०] **वनुँ याचने** ॥७॥ वनुते। ववने॥

अर्थ—वनुँ (वन्) धातु 'मांगना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2]।

व्याख्या—यह धातु अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। उदित्करण 'उदितो वा' (८८२) द्वारा क्त्वा में इट् के विकल्प के लिए किया गया है—वत्वा, वनित्वा। इस की प्रक्रिया प्रायः 'तनुँ विस्तारे' के आत्मनेपद की तरह होती है।

लट्—वनुते, वन्वाते, वन्वते। लिट्—में एत्त्वाभ्यासलोप (४६०) का 'न शस-दद-वादि-गुणानाम्' (५४१) से निषेध हो जाता है—ववने, ववनाते, ववनिरे। लुट्—वनिता, वनितारौ, वनितारः। वनितासे—। लृट्—वनिष्यते। लोट्—वनुताम्, वन्वाताम्, वन्वताम्। लङ्—अवनुत, अवन्वाताम्, अवन्वत। वि० लिङ्—वन्वीत, वन्वीयाताम्, वन्वीरन्। आ० लिङ्—वनिषीष्ट, वनिषीयास्ताम्, वनिषीरन्। लुङ्—अवत अवनिष्ट, अवनिषाताम्, अवनिषत। अवथाः-अवनिष्ठाः, अवनिषाथाम्, अवनिढ्वम्। अवनिषि, अवनिष्वहि, अवनिष्महि। लृङ्—अवनिष्यत॥

[लघु०] **मनुँ अवबोधने** ॥८॥ मनुते। मेने। मनिता। मनिष्यते। मनुताम्। अमनुत। मन्वीत। मनिषीष्ट। अमत-अमनिष्ट। अमनिष्यत॥

अर्थ—मनुँ (मन्) धातु 'जानना-मानना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्वोक्त 'वनुँ याचने' धातु की तरह उदित्, आत्मनेपदी तथा सेट् है। उदित् करने का फल 'उदितो वा' (८८२) से क्त्वा में इट् का

---

[1] च्वि तथा साति प्रत्ययों का विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ के तद्धितप्रकरणान्तर्गत स्वार्थिक प्रत्ययों में किया जायेगा।

[2] यह धातु द्विकर्मक है। जिस से मांगा जाये और जो मांगा जाये उन दोनों में द्वितीया विभक्ति आती है—न विना सोपदादितरं वनुते यातको जलम्।

विकल्प करना है—मत्वा-मनित्वा। लिँट् के सिवाय अन्यत्र इस की प्रक्रिया वनुँ धातु की तरह होती है। लिँट् में 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) से एत्त्वाभ्यासलोप हो जाता है।

लँट्—मनुते, मन्वाते, मन्वते। लिँट्—मेने, मेनाते, मेनिरे। लुँट्—मनिता, मनितारौ, मनितारः। मनितासे—। लृँट्—मनिष्यते। लोँट्—मनुताम्, मन्वाताम्, मन्वताम्। लँङ्—अमनुत, अमन्वाताम्, अमन्वत। वि० लिँङ्—मन्वीत, मन्वीयाताम्, मन्वीरन्। आ० लिँङ्—मनिषीष्ट, मनिषीयास्ताम्, मनिषीरन्। लुँङ्—अमत-अमनिष्ट, अमनिषाताम्, अमनिषत। अमयाः-अमनिष्ठाः, अमनिषायाम्, अमनिढ्वम्। अमनिषि, अमनिष्वहि, अमनिष्महि। लृँङ्—अमनिष्यत।

## अभ्यास (१४)

(१) उत्तर दीजिये—
  (क) डुकृञ् में डु को इत् करने का क्या प्रयोजन है ?
  (ख) 'तनुँ' धातु को उदित् करने का क्या प्रयोजन है ?
  (ग) 'कुर्वः, कुर्मः' में 'लोपश्चास्या०' से उकार का वैकल्पिक लोप क्यों नहीं ?
  (घ) 'ववने' में एत्त्वाभ्यासलोप क्यों नहीं होता ?
  (ङ) 'अक्षणीत्' में वृद्धि क्यों नहीं होती ?

(२) सप्रसङ्ग सोदाहरण विस्तृत व्याख्या करें—
  (क) उप्रत्यये लघूपधस्य गुणो वा।
  (ख) क्वचिदभूषणेऽपि सुट्, 'संस्कृतं भक्षाः' इति निर्देशात्।
  (ग) सञ्ज्ञापूर्वको विधिरनित्यः।
  (घ) एधो दकस्योपस्कुरुते।

(३) निम्न रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
  क्रियात्, कृषीष्ट, अतत, सायात्, कुर्वन्ति, क्षिणोति-क्षेणोति, कुर्मः, करिष्यति, उपस्कृतं ब्रूते।

(४) तनादिगण में लुँङ् (आत्मनेपद) प्रथम वा मध्यम पु० के एकवचन में प्रत्येक धातु के दो दो रूप बनते हैं परन्तु कृञ् का एक रूप क्यों ? सहेतुक बताएं।

(५) 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' वाला सुट् कहां करना चाहिये ?

(६) सूत्रों की व्याख्या करें—
  न भकुर्छुराम्, उपात्प्रतियत्न०, नित्यं करोतेः, जनसनखनां सञ्झलोः, तनादिभ्यस्तथासोः, ये विभाषा।

## इति तिङन्ते तनादयः

(यहां पर तनादिगण की धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

# अथ तिङन्ते क्र्यादयः

अब तिङन्तप्रकरण मे क्र्यादिगण की धातुओ का निरूपण किया जाता है—

[लघु०] डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये ॥१॥

अर्थ—डुक्रीञ् (क्री) धातु 'द्रव्यो का परिवर्त्तन करना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—किसी वस्तु को देकर कोई अन्य वस्तु लेना द्रव्यविनिमय कहलाता है। दूसरे शब्दो मे इसे 'खरीदना' कह सकते हैं। यद्यपि 'वेचना' भी द्रव्यविनिमय ही है तथापि उस अर्थ की विवक्षा मे इस धातु से पूर्व 'वि' उपसर्ग लगाया जाता है, शुद्ध धातु खरीदना अर्थ मे ही प्रयुक्त होती है। इस धातु मे 'आदिर्ञिटुडव' (४६२) से 'डु' की तथा 'हलन्त्यम्' (१) से अन्त्य ककार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। दोनो इनो का लोप होकर 'क्री' मात्र अवशिष्ट रहता है। ञित् होने से यह धातु उभयपदी है। डु को इत् करने का प्रयोजन 'डुवित क्त्रि'(८५७) से क्त्रिप्रत्यय कर 'क्त्रेर्मम् नित्यम्' (८५८) द्वारा मप करना है—क्रीत्रिमम् (खरीद से उत्पन्न)। 'ऊदृदन्तै०' के अनुसार अनुदात्त होने से यह धातु अनिट् है। लिट् मे क्र्यादिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु अजन्त होने से थल मे भारद्वाजनियम से विकल्प।

लट्—परस्मैपद प्र० पु० के एकवचन मे 'क्री+ति' इस स्थिति मे 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६८४) क्र्यादिभ्य श्ना।३।१।८१॥

शपोऽपवाद। क्रीणाति। ई हल्यघो (६१८)—क्रीणीतः। श्नाऽभ्यस्तयोरातः (६१९)—क्रीणन्ति। क्रीणासि, क्रीणीथः, क्रीणीथ। क्रीणामि, क्रीणीवः, क्रीणीमः। क्रीणीते, क्रीणाते, क्रीणते। क्रीणीषे क्रीणाथे, क्रीणीध्वे। क्रीणे, क्रीणीवहे, क्रीणीमहे। चिक्राय, चिक्रियतुः, चिक्रियुः। चिक्रयिथ चिक्रेथः। चिक्रिये। क्रेता। क्रेष्यति। क्रेष्यते। क्रीणातु-क्रीणीतात्, क्रीणीताम्। अक्रीणात्। अक्रीणीत। क्रीणीयात्। क्रीणीत। क्रीयात्। क्रेषीष्ट। अक्रैषीत्। अक्रेष्ट। अक्रेष्यत्। अक्रेष्यत॥

अर्थ—कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे हो तो क्री आदि धातुओं से परे श्नाप्रत्यय हो जाता है।

व्याख्या—क्र्यादिभ्य ।५।३। श्ना ।१।१। (लुप्तविभक्तिको निर्देश)। कर्तरि। ७।१। ('कर्तरि शप्' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('सार्वधातुके यक्' से)। 'प्रत्ययः, परश्च' दोनों अधिकृत हैं। क्रीरादिर्येषान्ते क्र्यादयस्तेभ्य =क्र्यादिभ्य, तद्गुणसविज्ञानबहुव्रीहिसमास। अर्थ—(कर्तरि) कर्ता अर्थ मे (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो (क्र्यादिभ्य) क्री आदि धातुओ से (परः) परे (श्ना) श्ना (प्रत्यय)

प्रत्यय हो जाता है। यह सूत्र शप् का अपवाद है। 'श्ना' के शकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है अतः उस का लोप कर 'ना' मात्र अवशिष्ट रहता है। श्ना को शित् करने का प्रयोजन 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' (३८६) से सार्वधातुक-सञ्ज्ञा करना है। सार्वधातुकसञ्ज्ञा के कारण 'ई हल्यघोः' (६१८) आदि सूत्रों की प्रवृत्ति होती है तथा 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङिद्वद्भाव हो कर धातु में गुण का भी निषेध हो जाता है।

'क्री+ति' यहां पर 'ति' यह कर्त्रर्थ सार्वधातुक परे विद्यमान है अतः प्रकृत-सूत्र से श्नाप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से 'क्री+ना+ति' हुआ। श्नाप्रत्यय शित्त्वात् सार्वधातुक है और साथ ही अपित् भी है अतः 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङिद्वद्भाव के कारण इस के परे रहते 'सार्वधातुकाऽऽर्धधातुकयोः' (३८८) द्वारा क्री के ईकार को गुण नहीं होता। अब 'अट्कुप्वाङ्०' (१३८) से श्ना के नकार को णकार आदेश करने पर 'क्रीणाति' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र० पु० के द्विवचन में 'क्री+ना+तस्' इस स्थिति में 'तस्' यह हलादि ङित् सार्वधातुक परे है अतः 'ई हल्यघोः' (६१८) से श्ना के आकार को ईकार आदेश हो जाता है—क्रीणीतः।

प्र० पु० के बहुवचन में झि के झकार को अन्त् आदेश हो जाता है—क्री+ना+अन्ति। अब 'अन्ति' इस अजादि ङित् सार्वधातुक के परे होने से 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' (६१६) द्वारा आकार का लोप हो कर 'क्रीणन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी हलादि ङित् सार्वधातुक के परे रहते ईत्व तथा अजादि ङित् सार्वधातुक के परे होने पर आकार का लोप होता जायेगा। लँट् में रूपमाला यथा—(परस्मै०) क्रीणाति, क्रीणीतः, क्रीणन्ति। क्रीणासि, क्रीणीथः, क्रीणीथ। क्रीणामि, क्रीणीवः, क्रीणीमः। (आत्मने०) क्रीणीते, क्रीणाते, क्रीणते (आत्मनेपदेष्वनतः ५२४) क्रीणीषे, क्रीणाथे, क्रीणीध्वे। क्रीणे, क्रीणीवहे, क्रीणीमहे।

लिँट्—परस्मै० प्र० पु० के एकवचन में णल्, द्वित्व, 'कुहोश्चुः' (४५४) से अभ्यास को चुत्व, 'अचो ञ्णिति' (१८२) से वृद्धि और अन्त में ऐकार को आय् आदेश करने पर 'चिक्राय' प्रयोग सिद्ध होता है। अतुस् आदि 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से कित् है अतः गुण का निषेध होकर 'अचि श्नु०' (१६६) से धातु के ईकार को इयँङ् आदेश हो जाता है—चिक्रियतुः[1]। इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये। थल् में भारद्वाजनियम से इट का विकल्प हो कर दोनों पक्षों में गुण हो जाता है—चिक्रयिथ-चिक्रेथ। रूपमाला यथा—(परस्मै०) चिक्राय, चिक्रियतुः, चिक्रियुः। चिक्रयिथ-चिक्रेथ, चिक्रियथुः, चिक्रिय। चिक्राय-चिक्रय, चिक्रियिव, चिक्रियिम। (आत्मने०) चिक्रिये, चिक्रियाते, चिक्रियिरे। चिक्रियिषे, चिक्रियाथे, चिक्रियिढ्वे-चिक्रियिध्वे (विभाषेटः ५२७)। चिक्रिये, चिक्रियिवहे, चिक्रियिमहे।

१. संयोगपूर्व होने से 'एरनेकाचः०' (२००) से यण् नहीं होता।

लृट्—(परस्मै०) क्रेता, क्रेतारौ, क्रेतार । क्रेतासि—। (आत्मने०) क्रेता, क्रेतारौ, क्रेतार । क्रेतासे—। लृट्—(परस्मै०) क्रेष्यति । (आत्मने०) क्रेष्यते । लोट्—(परस्मै०) क्रीणातु क्रीणीतात्, क्रीणीताम्, क्रीणन्तु । क्रीणीहि-क्रीणीतात्, क्रीणीतम्, क्रीणीत । क्रीणानि, क्रीणाव, क्रीणाम । (आत्मने०) क्रीणीताम्, क्रीणाताम्, क्रीणताम् । क्रीणीष्व, क्रीणायाम्, क्रीणीध्वम् । क्रीणै, क्रीणावहै, क्रीणामहै । ध्यान रहे कि लोट् के उ० पु० मे आट का आगम पित् होता है अत 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङिद्वद्भाव नहीं होता । ङित् न होने से ईत्व अथवा आकारलोप कहीं नहीं होता ।

लङ्—(परस्मै०) अक्रीणात्, अक्रीणीताम्, अक्रीणन् । अक्रीणा , अक्रीणीतम्, अक्रीणीत । अक्रीणाम्, अक्रीणीव, अक्रीणीम । (आत्मने०) अक्रीणीत, अक्रीणाताम्, अक्रीणत । अक्रीणीथा , अक्रीणाथाम्, अक्रीणीध्वम् । अक्रीणि, अक्रीणीवहि, अक्रीणीमहि । वि० लिङ्—(परस्मै०) मे यासुट् के ङित् होने से सर्वत्र ईत्व हो जाता है—क्रीणीयात्, क्रीणीयाताम्, क्रीणीयु । (आत्मने०) मे सर्वत्र अजादि ङित परे होने से आकार का लोप हो जाता है—क्रीणीत, क्रीणीयाताम्, क्रीणीरन् । आ० लिङ्—(परस्मै०) क्रीयात्, क्रीयास्ताम्, क्रीयासु (आत्मने०)क्रेषीष्ट, क्रेषीयास्ताम्, क्रेषीरन् ।

लुङ्—(परस्मै०) म इण तलक्षणा वृद्धि (४८०) हो जाती है—अक्रैषीत्, अक्रैष्टाम्, अक्रैषु । (आत्मने०) मे आर्धधातुकलक्षण गुण (३८८) हो जाता है—अक्रेष्ट, अक्रेषाताम्, अक्रेषत । लुङ्—(परस्मै०) अक्रेष्यत् । (आत्मने०) अक्रेष्यत ।

उपसर्गयोग—परि, वि और अव उपसर्गों के साथ क्री धातु का बहुधा प्रयोग देखा जाता है । तब 'परिव्यवेभ्य क्रिय' (७३४) सूत्रद्वारा केवल आत्मनेपद का ही प्रयोग होता है[1] ।

परि√क्री=नियतसमय के लिये खरीदना (शतेन शताय वा परिक्रीतोऽश्व'—सि० कौमुदी, 'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्' १ ४ ४४ से करण की विकल्प से सम्प्रदानसञ्ज्ञा हो जाती है) ।

वि√क्री=बेचना (राम सीतां लक्ष्मण जीविकार्थं, विक्रीणीते यो नरस्तञ्च धिग्धिक् । अस्मिन्पद्ये योऽपशब्द न वेत्ति, व्यर्थप्रज्ञ पण्डित त च धिग्धिक्[2]) ।

अव√क्री=खरीदना (ब्राह्मण क्षत्रिय वा सहस्रेण शताश्वेनाऽवक्रीय—साङ्ख्यायनश्रौत० १५ १० १) ।

उप√क्री=खरीदना (घटशरावादीन् उपक्रीय—हितोप० देवशर्मकथा)

सम्√क्री=खरीदना (न च मे विद्यते वित्त सक्रेतु पुरुष क्वचित्—महाभारत)।

---

१ 'नाऽकस्माच्छाण्डिलो मातर्विक्रीणाति तिलैस्तिलान्—पञ्चतन्त्र का यह प्रयोग उस के अन्य अनेक प्रयोगों की तरह असाधु ही समझना चाहिये ।

२ अत्र 'इवे प्रतिकृतौ' (१२०८) इति विहितस्य कन 'जीविकार्थे चाऽपण्ये' (५ ३ ९९) इति सुपोऽभावाद् 'दन्तिकान् विक्रीणीते' इत्यादिवद् 'रामक सीतिकां लक्ष्मणकम्' इत्येवं साधुत्वमवसेयम् ।

[लघु०] **प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च ॥२॥** प्रीणाति; प्रीणीते ॥

**अर्थः**—प्रीञ् (प्री) धातु 'तृप्त करना, तृप्त होना, चमकना' अर्थों में प्रयुक्त होती है[1]।

**व्याख्या**—यह धातु भी 'क्रीञ्' धातु की तरह ञित् होने से उभयपदी तथा उदात्तों में परिगणित न होने से अनुदात्त है। लिँट् में क्रादिनियम से इट् हो जाता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प। इस की रूपमाला तथा प्रक्रिया पूर्णतया क्रीञ् धातु की तरह समझनी चाहिये।

लँट्—(परस्मै०) प्रीणाति, प्रीणीतः, प्रीणन्ति। (आत्मने०) प्रीणीते, प्रीणाते, प्रीणते। लिँट्—(परस्मै०) पिप्राय, पिप्रियतुः, पिप्रियुः। पिप्रयिथ-पिप्रेथ—। (आत्मने०) पिप्रिये, पिप्रियाते, पिप्रियिरे। लुँट्—(परस्मै०) प्रेता, प्रेतारौ, प्रेतारः। प्रेतासि—। (आत्मने०) प्रेता, प्रेतारौ, प्रेतारः। प्रेतासे—। लृँट्—(परस्मै०) प्रेष्यति। (आत्मने०) प्रेष्यते। लोँट्—(परस्मै०) प्रीणातु-प्रीणीतात्, प्रीणीताम्, प्रीणन्तु। (आत्मने०) प्रीणीताम्, प्रीणाताम्, प्रीणताम्। लँङ्—(परस्मै०) अप्रीणात्, अप्रीणीताम्, अप्रीणन्। (आत्मने०) अप्रीणीत, अप्रीणाताम्, अप्रीणत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) प्रीणीयात्, प्रीणीयाताम्, प्रीणीयुः। (आत्मने०) प्रीणीत, प्रीणीयाताम्, प्रीणीरन्। आ० लिँङ्—(परस्मै०) प्रीयात्, प्रीयास्ताम्, प्रीयासुः। (आत्मने०) प्रेषीष्ट, प्रेषीयास्ताम्, प्रेषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अप्रैषीत्, अप्रैष्टाम्, अप्रैषुः। (आत्मने०) अप्रेष्ट, अप्रेषाताम्, अप्रेषत। लृँङ्—(परस्मै०) अप्रेष्यत्। (आत्मने०) अप्रेष्यत।

[लघु०] **श्रीञ् पाके ॥३॥** श्रीणाति; श्रीणीते ॥

**अर्थः**—श्रीञ् (श्री) धातु 'पकाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2]।

**व्याख्या**—यह धातु भी पूर्ववत् उभयपदी तथा अनुदात्त है। इस की प्रक्रिया भी क्रीञ् धातु की तरह समझनी चाहिये।

लँट्—(परस्मै०) श्रीणाति। (आत्मने०) श्रीणीते। लिँट्—(परस्मै०) शिश्राय, शिश्रियतुः, शिश्रियुः। शिश्रयिथ-शिश्रेथ—। (आत्मने०) शिश्रिये, शिश्रियाते, शिश्रियिरे। लुँट्—(परस्मै०) श्रेता, श्रेतारौ, श्रेतारः। श्रेतासि—। (आत्मने०)

---

१. 'तर्पण' से यहां 'तृप्त होना और तृप्त करना' दोनों अर्थों का ग्रहण किया जाता है (देखें कविकल्पद्रुम की व्याख्या में श्रीदुर्गादास)। प्रभुः प्रीणातु विश्वभुक्—दुर्गादास; कच्चिन्मनस्ते प्रीणाति वनवासे—महाभारत; प्रीणाति यः सुचरितैः पितरं स पुत्रः—नीति०। 'कान्ति' का भी यहां कई लोग 'चाहना' अर्थ करते हैं परन्तु जैनेन्द्रव्याकरण में इस का 'दीप्ति' अर्थ दिया गया है। 'कान्ति' अर्थ मे इस के प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं।

२. गोभिः श्रीणीत मत्सरम्—ऋग्वेद ७.१.३।

श्येता, श्येतारौ, श्येतार । श्येतासे—। लृट्—(परस्मै०) श्येष्यति । (आत्मने०) श्येष्यते । लोट्—(परस्मै०) श्रीणातु-श्रीणीतात् । (आत्मने०) श्रीणीताम् । लङ्—(परस्मै०) अश्रीणात् । (आत्मने०) अश्रीणीत । वि० लिङ्—(परस्मै०) श्रीणीयात् । (आत्मने०) श्रीणीत । आ० लिङ्—(परस्मै०) श्रीयात् । (आत्मने०) श्रेषीष्ट । लुङ्—(परस्मै०) अश्रैषीत् । (आत्मने०) अश्रेष्ट । लृङ्—(परस्मै०) अश्रेष्यत् । (आत्मने०) अश्रेष्यत ।

## [लघु०] मीञ् हिंसायाम् ॥४॥

अर्थ—मीञ् (मी) धातु 'हिंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् ञित् होने से उभयपदी तथा उदात्तों में परिगणित न होने से अनुदात्त है। लिट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु वल् में भारद्वाजनियम से विकल्प होता है।

लेट्—(परस्मै०) मीनाति, मीनीत, मीनन्ति। (आत्मने०) मीनीते, मीनाते, मीनते।

'प्र+मीनाति' इत्यादियों में णत्व करना अभीष्ट है परन्तु अखण्डपद न होने से वह 'अट्कुप्वाङ्०' (१३८) से प्राप्त नहीं होता, अतः इस के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

## [लघु०] विधि-सूत्रम्—(६८५) हिनु-मीना ।८।४।१५॥

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य एतयोर्नस्य ण स्यात्। प्रमीणाति-प्रमीणीते। मीनाति० (६३८) इत्यात्त्वम्। ममौ, मिम्यतु। ममिथ-ममाथ। मिम्ये। माता। मास्यति। मीयात्, मासीष्ट। अमासीत्, अमासिष्टाम्। अमास्त ॥

अर्थ—उपसर्गस्थ निमित्त से परे हिनु और मीना के नकार को णकार आदेश हो।

व्याख्या—उपसर्गात् ।५।१। ('उपसर्गादसमासेऽपि०' से)। रषाभ्याम् ।५।२। ('रषाभ्यां नो ण०' से)। हिनुमीना ।६।२।(लुप्तविभक्तिको निर्देश)। न ।६।१। ण।१।१। (णकारादकार उच्चारणार्थ)। स्वादिगणीय 'हि गतौ' धातु से नुप्रत्यय करने पर 'हिनु' तथा क्रयादिगणीय प्रकृत मीञ् धातु से श्ना विकरण करने पर 'मीना' रूप बनता है। कृतविकरण इन दोनों धातुओं का ही यहां ग्रहण अभीष्ट है। अर्थ—(उपसर्गात्) उपसर्गस्थ(रषाभ्याम्) रेफ या षकार से परे (हिनु मीना) हिनु और मीना के (न) नकार के स्थान पर (ण) णकार आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

हिनु—प्र+हिनोति=प्रहिणोति। प्र+हिनुत=प्रहिणुत।
मीना—प्र+मीनाति=प्रमीणाति। प्र+मीनीते=प्रमीणीते[1]।

---

१ प्र+हिनोति, प्र+मीनीते इत्यादि में यद्यपि अब हिनु और मीना नहीं हैं

मीञ् धातु से जब एञ्निमित्त प्रत्यय अर्थात् कोई ऐसा प्रत्यय करना होता है जिस के कारण 'मी' के ईकार को एच् (गुण या वृद्धि) प्राप्त होता हो तो **'मीनाति-मिनोति-दीङां ल्यपि च'** (६३८) सूत्रद्वारा मीञ् के ईकार को आकार आदेश होकर 'मा' रूप बन जाता है।

लिट्—(परस्मै०) के प्र० पु० के एकवचन में णल् एञ्निमित्तक प्रत्यय है क्योंकि इस के परे रहते वृद्धि प्राप्त होती है अतः णल् के विषय में आत्व होकर 'मा' बन जाता है। अब 'पपौ' की तरह **'आत औ णलः'** (४८८) द्वारा णल् को औकार आदेश कर द्वित्व और वृद्धि करने पर 'ममौ' रूप सिद्ध होता है। अतुस् के कित् हो जाने से गुण नहीं हो सकता अतः वह एञ्निमित्त नहीं इस लिये उस के विषय में आत्व नहीं होता—'मिमी+अतुस्' इस स्थिति में **'एरनेकाचः०'** (२००) से यण् होकर 'मिम्यतुः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार उस् में—मिम्युः। थल् भी एञ्निमित्त प्रत्यय है क्योंकि उस के परे होने पर गुण हो जाता है अतः आत्व होकर भारद्वाजनियम से इट् का विकल्प तथा आकारलोप (४८९) करने पर—ममिथ-ममाथ। इसी प्रकार आगे भी एञ्निमित्तों में यथासम्भव आत्व कर लेना चाहिये। परस्मैपद में रूपमाला यथा—**ममौ, मिम्यतुः, मिम्युः। ममिथ-ममाथ, मिम्यथुः, मिम्य। ममौ, मिम्यिव, मिम्यिम।** आत्मने० में सर्वत्र कित्त्व के कारण कोई प्रत्यय एञ्निमित्त नहीं अतः वहां आत्व नहीं होता—**मिम्ये, मिम्याते, मिम्यिरे। मिम्यिषे, मिम्याथे, मिम्यिढ्वे-मिम्यिध्वे। मिम्ये, मिम्यिवहे, मिम्यिमहे।**

लुट्—में तास् के परे रहते गुण प्राप्त होता है अतः वह एञ्निमित्त है, उस के विषय में आत्व हो जाता है—(परस्मै०) **माता, मातारौ, मातारः। मातासि —।** (आत्मने०) **माता, मातारौ, मातारः। मातासे—।**

लृट्—में स्यप्रत्यय एञ्निमित्त है अतः आत्व हो जाता है—(परस्मै०) **मास्यति, मास्यतः, मास्यन्ति।** (आत्मने०) **मास्यते, मास्येते, मास्यन्ते।**

लोट्—में श्नाप्रत्यय **'सार्वधातुकमपित्'** (५००) से ङित् है, इस के परे रहते 'मी' को गुण प्राप्त नहीं, अतः एञ्निमित्त न होने से आत्व नहीं होता—(परस्मै०) **मीनातु-मीनीतात्, मीनीताम्, मीनन्तु। मीनीहि—।** (आत्मने०) **मीनीताम्, मीनाताम्, मीनताम्।** लङ्—में श्ना एञ्निमित्त नहीं अतः आत्व नहीं होता—(परस्मै०) **अमीनात्, अमीनीताम्, अमीनन्।** (आत्मने०) **अमीनीत, अमीनाताम्, अमीनत।** वि० लिङ्—(परस्मै०) **मीनीयात्, मीनीयाताम्, मीनीयुः।** (आत्मने०) **मीनीत, मीनीयाताम्, मीनीरन्।** आ० लिङ्—(परस्मै०) यासुट् कित् है वह एञ्निमित्त

---

उन में परिवर्त्तन आ चुका है तथापि **'एकदेशविकृतमनन्यवत्'** से उन को हिनु और मीना मान का णत्व हो जाता है। अथवा—ऐसे स्थलों पर **'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ'** (६९६) से स्थानिवद्भाव के कारण कोई दोष उत्पन्न नहीं होता। विशेषजिज्ञासु **न्यास और पदमञ्जरी** का अवलोकन करें।

नदी अत आत्व नहीं होता—मीयात्, मीयास्ताम्, मीयासु । (आत्मने०) मे सीयुट्-आदियो मे आर्धधातुक गुण प्राप्त है अत एजिनमित्त हो जाने से आत्व हो जाता है—मासीष्ट, मासीयास्ताम् मासीरन ।

लुँट्—(परस्मै०) मे सिच् को मान कर वृद्धि प्राप्त है अत एजिनमित्त मे आत्व हो कर 'मा' बन जाता है । अब 'यम रम-नमाता सक् च' (४६५) द्वारा सक् और इट् का आगम हो कर यथेष्ट रूप सिद्ध होते हैं—अमासीत, अमासिष्टाम्, अमासिषु । (आत्मने०) मे सिच् गुण का निमित्त है अत एजिनमित्त होने से आत्व हो जाता है—अमास्त, अमासाताम्, अमासत ।

लृँङ्—(परस्मै०) अमास्यत् । (आत्मने०) अमास्यत ।

[लघु०] षिञ् बन्धने ॥५॥ सिनाति, सिनीते । सिषाय, सिष्ये । सेता ॥

अर्थ—षिञ् (सि) धातु 'बान्धना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है[1] ।

व्याख्या—धातु के आदि षकार को 'धात्वादे ष स' (२५५) से सकारादेश हो जाता है । षोपदेश का फल 'सिषाय' आदि मे षत्व करना है । जित् होने से यह धातु उभयपदी तथा 'ऊदृदन्तै०' के अनुसार उदात्तो मे परिगणित न होने से अनुदात्त है । लिँट् मे क्रादिनियम मे नित्य इट् का आगम हो जाता है परन्तु थल् मे भारद्वाजनियम से इट् का विकल्प होता है । रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) सिनाति, सिनीत, सिनन्ति । (आत्मने०) सिनीते, सिनाते, सिनते । लिँट्—(परस्मै०) सिषाय, सिष्यतु[2], सिष्यु । सिषयिष सिषेय—। (आत्मने०) सिष्ये, सिष्याते, सिष्यिरे । लुँट—(परस्मै०) सेता, सेतारौ, सेतार । सेतासि—। (आत्मने०) सेता, सेतारौ, सेतार । सेतासे—। लृँट्—(परस्मै०) सेष्यति । (आत्मने०) सेष्यते । लोँट्—(परस्मै०) सिनातु सिनीतात्, सिनीताम्, सिनन्तु । (आत्मने०) सिनीताम्, सिनाताम्, सिनताम् । लँङ्—(परस्मै०) असिनात्, असिनीताम्, असिनन् । (आत्मने०) असिनीत, असिनाताम्, असिनत । वि० लिँङ्—(परस्मै०) सिनीयात्, सिनीयाताम्, सिनीयु । (आत्मने०) सिनीत, सिनीयाताम्, सिनीरन् । आ० लिँङ्—(परस्मै०) सीयात्, सीयास्ताम्, सीयासु । (आत्मने०) सेषीष्ट, सेषीयास्ताम्, सेषीरन् । लुँङ्—(परस्मै०) असेषीत्, असेषिष्टाम्, असेषुः । (आत्मने०) असेष्ट, असेषाताम्, असेषत । लृँङ्—(परस्मै०) असेष्यत् । (आत्मने०) असेष्यत ।

---

१ यह धातु श्नुविकरण स्वादिगण म भी पढी गई है । लोक मे अधिकतर उसी का प्रयोग देखा जाता है । परन्तु इस क्र्यादिक षिञ् के प्रयोग वेद मे अनेक स्थानो पर पाये जाते हैं । उत्सिनाति—ऋग्वेद १ १२५ २ । सिनोथ—ऋग्वेद ७ ८४ २ । सिनामि—अथर्व० ६ १३३ ३ । सिनातु—अथर्व० ३ ६ ५ ।

२ 'एरनेकाच०' (२००) इति यण् ।

[लघु०] स्कुञ् आप्रवणे[1] ॥६॥

अर्थः—स्कुञ् (स्कु) धातु 'कूदना, उछल कर जाना या ऊपर उठाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2]।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् उभयपदी तथा उदात्तों मे परिगणित न होने से अनुदात्त है। लिट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प। इस धातु से श्ना और श्नु दोनों विकरणों का पर्याय से विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६८६) स्तन्भुँ-स्तुन्भुँ-स्कन्भुँ-स्कुन्भुँ-स्कुञ्भ्यः श्नुश्च ।३।१।८२॥

चात् श्ना। स्कुनोति, स्कुनाति। स्कुनुते, स्कुनीते। चुस्काव, चुस्कुवे। स्कोता। अस्कौषीत्। अस्कोष्ट। स्तन्भ्वादयश्चत्वारः सौत्राः। सर्वे रोधनार्थाः परस्मैपदिनः॥

अर्थः—कर्त्रर्थ सार्वधातुक परे हो तो स्तन्भुँ, स्तुन्भुँ, स्कन्भुँ, स्कुन्भुँ और स्कुञ् धातुओं से परे श्नु प्रत्यय होता है और पक्ष में श्ना भी।

व्याख्या—स्तन्भुँ-स्तुन्भुँ-स्कन्भुँ-स्कुन्भुँ-स्कुञ्भ्यः ।५।३। श्नुः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। श्ना ।१।१। ('ऋधादिभ्यः श्ना' से, लुप्तविभक्तिको निर्देशः) कर्तरि ।७।१। ('कर्तरि शप्' से)। सार्वधातुके ।७।१। ('सार्वधातुके यक्' से)। अर्थः—(कर्तरि) कर्ता अर्थ में (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे हो तो (स्तन्भुँ-स्तुन्भुँ-स्कन्भुँ-स्कुन्भुँ-स्कुञ्भ्यः) स्तन्भुँ, स्तुन्भुँ, स्कन्भुँ, स्कुन्भुँ और स्कुञ् धातु से परे (श्नुः) श्नुप्रत्यय (च) तथा (श्ना) श्ना प्रत्यय हो जाते है। दोनों प्रत्ययों का युगपत् होना लोक में कही नही देखा जाता अतः पर्याय हो जाता है। स्कुञ् को छोड़ कर अन्य स्तन्भुँ आदि चारों धातु सौत्र है अर्थात् इन धातुओं का उल्लेख केवल सूत्र मे ही उपलब्ध होता है, धातुपाठ में नही। किञ्च ये चारो धातु लोक मे परस्मैपदी तथा रोधनार्थक (रोकना अर्थ वाली) देखी जाती है। इन चारो का वर्णन आगे आ रहा है।

---

१. 'आप्रवणे' के स्थान पर 'आप्लवने' पाठ भी उपलब्ध होता है।

२. आप्रवणम् उत्प्लवनम्, उत्प्लुत्य गमनं चेति तरङ्गिणी, उद्धरणम् इति भोजः (देखें माधवीय-धातुवृत्ति पृष्ठ ४१)। उद्धरण अर्थात् ऊपर उठाना अर्थ में यह सकर्मक है। आप्रवण अर्थ वाली धातुओं का संग्रह यथा—

स्कुनाति च स्कुनीते च स्कुनोत्याप्लवतेऽपि च।
स्कन्दते स्कुन्दते चापि षडाप्लवनवाचिनः॥ (भट्टमल)

भट्टि ने इस धातु का प्रयोग आवरण (आच्छादित करना) अर्थ मे किया है—'राममभ्यद्रवज्जिष्णुरस्कुनाच्चेषुवृष्टिभिः' (भट्टि० १७.८२), स्कुञ् आवरणे इति जयमङ्गला।

स्कुञ् धातु से श्नुविकरण करने पर स्वादिगणीय षूञ् धातु की तरह रूप चलने लगते हैं। श्नाविकरण करने पर डुकीञ् धातु की तरह। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) श्नुपक्षे—स्कुनोति, स्कुनुत, स्कुन्वन्ति। श्नापक्षे—स्कुनाति, स्कुनीत, स्कुनन्ति। (आत्मने०) श्नुपक्षे—स्कुनुते, स्कुन्वाते, स्कुन्वते। श्नापक्षे—स्कुनीते, स्कुनाते, स्कुनते।

लिँट्—(परस्मै०) चुस्काव[1], चुस्कुवतु, चुस्कुवु। चुस्कविथ चुस्कोथ—। (आत्मने०) चुस्कुवे, चुस्कुवाते, चुस्कुविरे। लुँट्—(परस्मै०) स्कोता, स्कोतारौ, स्कोतार। स्कोतासि—। (आत्मने०) स्कोता, स्कोतारौ, स्कोतार। स्कोतासे—। लृँट्—(परस्मै०) स्कोष्यति। (आत्मने०) स्कोष्यते।

लोँट्—(परस्मै०) श्नुपक्षे—स्कुनोतु-स्कुनुतात्, स्कुनुताम्, स्कुन्वन्तु। श्नापक्षे—स्कुनातु-स्कुनीतात्, स्कुनीताम्, स्कुनन्तु। (आत्मने०) श्नुपक्षे—स्कुनुताम्, स्कुन्वाताम्, स्कुन्वताम्। श्नापक्षे—स्कुनीताम्, स्कुनाताम्, स्कुनताम्। लँङ्—(परस्मै०) श्नुपक्षे—अस्कुनोत्, अस्कुनुताम्, अस्कुन्वन्। श्नापक्षे—अस्कुनात्, अस्कुनीताम्, अस्कुनन्। (आत्मने०) श्नुपक्षे—अस्कुनुत, अस्कुन्वाताम्, अस्कुन्वत। श्नापक्षे—अस्कुनीत, अस्कुनाताम्, अस्कुनत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) श्नुपक्षे—स्कुनुयात्। श्नापक्षे—स्कुनीयात्। (आत्मने०) श्नुपक्षे—स्कुन्वीत। श्नापक्षे—स्कुनीत, स्कुनीयाताम् स्कुनीरन्।

आ० लिँङ्—(परस्मै०) स्कूयात्, स्कूयास्ताम् स्कूयासु (अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ४८३)। (आत्मने०) स्कोषीष्ट, स्कोषीयास्ताम्, स्कोषीरन्। लुङ्—(परस्मै०) अस्कौषीत्, अस्कौष्टाम्, अस्कौषुः। (आत्मने०) अस्कोष्ट, अस्कोषाताम्, अस्कोषत। लृँङ्—(परस्मै०) अस्कोष्यत्। (आत्मने०) अस्कोष्यत।

अब स्तन्भुँ आदि चार सौत्र परस्मैपदी धातुओं का वर्णन करते हैं। ये चारों धातु उदित् तथा सेट् है। उदित् होने से 'उदितो वा' (८८२) द्वारा क्त्वा मे इट् का विकल्प तथा निष्ठा मे 'यस्य विभाषा' (७ २ १५) से इट् का निषेध सिद्ध हो जाता है—स्तम्भित्वा-स्तब्ध्वा, स्तब्ध-स्तब्धवान्। इन धातुओं से परे श्नु या श्ना दोनों विकरण 'सार्वधातुकमपित्' (५००) से ङित् हो जाते हैं तब 'अनिदितां हल उपधाया०' (३३४) सूत्र से इन के उपधाभूत नकार का लोप हो जाता है—

लँट्—(श्नुपक्षे) स्तम्नोति, स्तम्नुत, स्तम्नुवन्ति[2]। (श्नापक्षे) स्तम्नाति, स्तम्नीत, स्तम्नन्ति।

लिँट्—मे 'स्तन्भ्+स्तन्भ्+अ' इस स्थिति मे 'शर्पूर्वाः खयः' (६४८) द्वारा अभ्यास का तकार शेष रहता है। तब उपधा के नकार को अनुस्वार (७८) तथा अनुस्वार को परसवर्ण(७९)करने से 'तस्तम्भ' आदि रूप होते हैं। तस्तम्भ, तस्तम्भतुः,

---

१ शर्पूर्वाः खयः (६४८), कुहोश्चुः (४५४)।

२ संयोगपूर्व होने से 'हुश्नुभ्रुवो०' (५०१) से यण् नहीं होता। एव वस् और मस् में 'लोपश्चास्या०' (५०२) की भी प्रवृत्ति नहीं होती—स्तम्नुवः, स्तम्नुमः।

तस्तम्भुः[1]। तस्तम्भिथ—। लुँट्—अनुस्वार-परसवर्ण हो जाते हैं—स्तम्भिता, स्तम्भितारौ, स्तम्भितारः। स्तम्भितासि—। लृँट्—स्तम्भिष्यति। लोँट्—(श्नुपक्षे) स्तभ्नोतु-स्तभ्नुतात्, स्तभ्नुताम्, स्तभ्नुवन्तु। स्तभ्नुहि[2]-स्तभ्नुतात्—। श्नापक्ष के म० पु० के एकवचन में उपधा के नकार का लोप होकर 'स्तभ्+श्ना+हि' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६८७) हलः श्नः शानज्झौ ।३।१।८३॥

हलः परस्य श्नः शानजादेशः स्याद् झौ परे। स्तभान॥

अर्थः—हल् से परे श्ना के स्थान पर शानच् आदेश हो, 'हि' परे हो तो।

व्याख्या—हलः ।५।१। श्नः ।६।१। शानच् ।१।१। झौ ।७।१। अर्थः—(हलः) हल् से परे (श्नः) श्ना के स्थान पर (शानच्) शानच् आदेश हो जाता है (झौ) 'हि' परे हो तो। शानच् में शकार और चकार इत्सञ्ज्ञक हैं, 'आन' मात्र शेष रहता है। अनेकाल् होने से यह आदेश सम्पूर्ण श्ना के स्थान पर होता है। श्रीहरदत्तमिश्र का कथन है कि श्ना के शित्त्व के कारण स्थानिवद्भाव से आदेश मे स्वतः ही शित्त्व आ जाता है अतः शानच् को शित् करने की आवश्यकता नही[3]।

'स्तभ्+श्ना+हि' यहां 'हि' के परे रहते भकार हल् से परे श्ना को शानच् आदेश होकर अनुबन्धलोप तथा 'अतो हेः' (४१६) से 'हि' का लुक् करने पर 'स्तभान' प्रयोग सिद्ध होता है।

'हल् से परे' कहने के कारण 'क्रीणीहि' आदियों में शानच् आदेश नहीं होता। इसी प्रकार 'हि' परे न होने से 'स्तभ्नाति' आदि में इस की प्रवृत्ति नहीं होती।

लोट्—(श्नापक्षे) स्तभ्नातु-स्तभ्नीतात्, स्तभ्नीताम्, स्तभ्नन्तु। स्तभान-स्तभ्नीतात्, स्तभ्नीतम्, स्तभ्नीत। स्तभ्नानि, स्तभ्नाव, स्तभ्नाम।

लँङ्—(श्नुपक्षे)अस्तभ्नोत्, अस्तभ्नुताम्, अस्तभ्नुवन्। (श्नापक्षे)अस्तभ्नात्, अस्तभ्नीताम्, अस्तभ्नन्। वि० लिँङ्—(श्नुपक्षे) स्तभ्नुयात्। (श्नापक्षे) स्तभ्नीयात्। आ० लिँङ्—में यासुट् के कित् होने से उपधा के नकार का लोप हो जाता है—स्तभ्यात्, स्तभ्यास्ताम्, स्तभ्यासुः।

लुँङ्—मे स्तभ् से परे च्लि को वैकल्पिक अङ् का विधान करते है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (६८८) जॄ-स्तभ्रुँ-स्रुचुँ-म्लुचुँ-ग्रुचुँ-ग्लुचुँ-ग्लुञ्चुँ-श्विभ्यश्च ।३।१।५८॥

च्लेरङ् वा स्यात्॥

---

१. धातु के संयोगान्त होने से अतुस् आदि कित् नहीं हाते अतः उपधा के नकार का लोप प्रसक्त ही नहीं होता।

२. संयोगपूर्व होने से 'उतश्च प्रत्ययाद्०'(५०३)से 'हि' का लुक् नहीं होता।

३. इस स्थान के विशेषस्पष्टीकरण के लिये सि०कौमुदी के स्त्रीप्रत्ययप्रकरण में 'वक्ष्यमाणा' की सिद्धि देखनी चाहिये।

अर्थ —जॄ (जीर्ण होना), स्तन्भुं (रोकना), ष्मुचुं (जाना), ष्मुचुं (जाना), ष्णुचुं (चुराना), ष्णुचुं (चुराना), ष्णुञ्चुं (जाना) ष्वि (जाना, बढ़ना) —इन आठ धातुओं से परे च्लि के स्थान पर विकल्प से अङ् आदेश हो।

व्याख्या—जॄ—ष्वि-म्य ।५।३। च इत्यव्ययपदम्। च्ले ।६।१। (च्ले सिंच्' से) अङ् ।१।१। ('अस्तिवक्ति०' से) वा इत्यव्ययपदम् ('इरितो वा' से)। अर्थ —(जॄ—ष्वि-म्य) जॄ, स्तन्भुं, ष्मुचुं, ष्मुचुं, ष्णुचुं, ष्णुचुं, ष्णुञ्चुं और ष्वि—इन आठ धातुओं से परे (च्ले) च्लि के स्थान पर (वा) विकल्प से (अङ्) अङ् आदेश हो जाता है। च्लि का ल् अवशिष्ट रहता है उस के स्थान पर अङ् आदेश हो जाता है। अङ् में ङकार इत् है, इसे ङित् करने का प्रयोजन 'अस्रुचत्' आदि में उपधा के नकार का लोप करना आदि है। जिस पक्ष में अङ् नहीं होता वहां 'च्ले सिंच्'(४३८)से सिंच् आदेश हो जाता है। इस सूत्र के 'अजरत्' आदि उदाहरण काशिका में देखने चाहियें।

लुंङ्—स्तन्भ् धातु से लुंङ्, तिप्, इकारलोप, च्लि, च्लि के स्थान को प्रकृतसूत्र से अङ् आदेश, अङ् के ङित् होने से 'अनिदितां हल०' (३३४) द्वारा उपधा के नकार का लोप तथा अन्त में अङ्ग को अट् का आगम करने पर 'अस्तभत्' प्रयोग सिद्ध होता है। अङ् के अभाव में च्लि को सिंच्, इट्, ईट्, सकारलोप, सवर्णदीर्घ तथा नकार को अनुस्वार और परसवर्ण करने से 'अस्तम्भीत्' रूप बनता है। रूपमाला यथा—(अङ्पक्षे) अस्तभत्, अस्तभताम्, अस्तभन्। (सिंच्पक्षे) अस्तम्भीत्, अस्तम्भिष्टाम्, अस्तम्भिषु।

लृंङ्—अस्तम्भिष्यत्, अस्तम्भिष्यताम्, अस्तम्भिष्यन्।

उपसर्गयोग—'वि' आदि उपसर्गों के योग में स्तन्भ् के सकार को षत्व का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६८९) स्तन्भे ।८।३।६७॥

स्तन्भे सौत्रस्य सस्य ष स्यात्। व्यष्टभत्। अस्तम्भीत्॥

अर्थ —उपसर्गस्थनिमित्त से परे सौत्रधातु स्तन्भ् के सकार को मूर्धन्य आदेश हो।

व्याख्या—उपसर्गात् ।५।१। ('उपसर्गात् सुनोति०' से)। स्तन्भे ।६।१। स ।६।१। ('सहे साढः स' से)। मूर्धन्य ।१।१। ('अपदान्तस्य मूर्धन्य' से)। षत्वप्रकरण में 'इण्को' (८।३।५७) अधिकृत है। उपसर्गों में कवर्ग सम्भव नहीं अतः केवल 'इण' का ही सम्बन्ध समझना चाहिये। अर्थ —(उपसर्गात्) उपसर्गस्थ निमित्त इण् से परे (स्तन्भे) स्तन्भ् धातु के (स) स् के स्थान पर (मूर्धन्य) मूर्धा स्थान वाला अर्थात् ष् आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—प्रति+स्तम्भति=प्रतिष्टम्भति[1], परिष्टम्भति, विष्टम्भति। षत्व होने पर 'ष्टुना ष्टुः'(६४) से तकार को टकार हो जाता है। इसी प्रकार—वि+अस्तभत्=व्य्+अस्तभत्=व्यष्टभत्। ध्यान रहे कि यहां अट् के व्यवधान में भी षत्व हो जाता है—प्राक् सितादड्व्यवायेऽपि(८।३।६३)। इसी प्रकार

---

१ बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्यु—रघु० २।१२।

अभ्यास के व्यवधान में भी समझ लेना चाहिये (स्थादिष्वभ्यासेन चाऽभ्यासस्य ८.३.६४)—वि+तस्तम्भ=वितष्टम्भ, परितष्टम्भ।

स्तुन्भुं, स्कन्भुं और स्कुन्भुं धातुओं की प्रक्रिया भी लुंङ् और उपसर्गयोग को छोड़ कर स्तन्भुं धातु की तरह होती है। रूपमाला यथा—

स्तुन्भुं—लँट्—स्तुम्नोति-स्तुम्नाति। लिँट्—तुस्तुम्भ। लुंट्—स्तुम्भिता। लृँट्—स्तुम्भिष्यति। लोँट्—स्तुम्नोतु-स्तुभ्नुतात्; स्तुम्नातु-स्तुम्नीतात्। लँङ्—अस्तुभ्नोत्-अस्तुभ्नात्। वि० लिँङ्—स्तुभ्नुयात्-स्तुभ्नीयात्। आ० लिँङ्—स्तुभ्यात्। लुंङ्—अस्तुम्भीत्, अस्तुम्भिष्टाम्, अस्तुम्भिषुः। लृँङ्—अस्तुम्भिष्यत्।

स्कन्भुं—लँट्—स्कभ्नोति-स्कम्नाति। लिँट्—चस्कम्भ। लुंट्—स्कम्भिता। लृँट्—स्कम्भिष्यति। लोँट्—स्कभ्नोतु-स्कभ्नुतात्, स्कम्नातु-स्कम्नीतात्। लँङ्—अस्कभ्नोत्-अस्कभ्नात्। वि० लिँङ्—स्कभ्नुयात्-स्कभ्नीयात्। आ० लिँङ्—स्कभ्यात्। लुंङ्—अस्कम्भीत्। लृँङ्—अस्कम्भिष्यत्।

स्कुन्भुं—लँट्—स्कुम्नोति-स्कुभ्नाति। लिँट्—चुस्कुम्भ। लुंट्—स्कुम्भिता। लृँट्—स्कुम्भिष्यति। लोँट्—स्कुभ्नोतु-स्कुभ्नुतात्, स्कुम्नातु-स्कुम्नीतात्। लँङ्—अस्कुभ्नोत्-अस्कुभ्नात्। वि० लिँङ्—स्कुभ्नुयात्-स्कुभ्नीयात्। आ० लिँङ्—स्कुभ्यात्। लुंङ्—अस्कुम्भीत्। लृँङ्—अस्कुम्भिष्यत्।

[ लघु० ] **युञ् बन्धने** ॥११॥ युनाति, युनीते। योता॥

अर्थः—युञ् (यु) धातु 'बान्धना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् ञित् होने से उभयपदी तथा 'ऊदुदन्तैः०' में परिगणित न होने से अनुदात्त अर्थात् अनिट् है[2]। लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु थल् में भारद्वाजनियम से विकल्प। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'क्री' धातु की तरह होती है।

लँट्—(परस्मै०) युनाति। (आत्मने०) युनीते। लिँट्—(परस्मै०) युयाव, युयुवतुः। युयुवुः। युयविथ-युयोथ—। (आत्मने०) युयुवे, युयुवाते, युयुविरे। लुंट्—(परस्मै०) योता, योतारौ, योतारः। योतासि—। (आत्मने०) योता, योतारौ, योतारः। योतासे—। लृँट्—(परस्मै०) योष्यति। (आत्मने०) योष्यते। लोँट्—(परस्मै०) युनातु-युनीतात्। (आत्मने०) युनीताम्। लँङ्—(परस्मै०) अयुनात्। (आत्मने०) अयुनीत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) युनीयात्। (आत्मने०) युनीत। आ० लिँङ्—(परस्मै०) यूयात् (अकृत्सार्वधातु० ४८३)। (आत्मने०) योषीष्ट। लुंङ्—(परस्मै०) अयौषीत्। (आत्मने०) अयोष्ट। लृँङ्—(परस्मै०) अयोष्यत्। (आत्मने०) अयोष्यत।

---

१. इस धातु के प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

२. ध्यान रहे कि 'ऊदुदन्तैः०' में परिगणित 'यौति' से अदादिगणीय 'यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः' धातु का ग्रहण होता है इस का नहीं।

[लघु०] क्नूञ् शब्दे ॥१२॥ क्नूनाति, क्नूनीते। क्नविता[1] ॥

अर्थ —क्नूञ् (क्नू) धातु 'शब्द करना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है[2]।

व्याख्या—ञित् होने से यह धातु उभयपदी तथा ऊदन्त होने से उदात्त अर्थात् सेट् है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) क्नूनाति। (आत्मने०) क्नूनीते। लिँट्—(परस्मै०) चुक्नाव, चुक्नुवतु, चुक्नुव। चुक्नविथ—। (आत्मने०) चुक्नुवे, चुक्नुवाते, चुक्नुविरे। लुँट्—(परस्मै०) क्नविता, क्नवितारौ, क्नवितार। क्नवितासि—। (आत्मने०) क्नविता, क्नवितारौ, क्नवितार। क्नवितासे। लृँट्—(परस्मै०) क्नविष्यति। (आत्मने०) क्नविष्यते। लोँट्—(परस्मै०) क्नूनातु-क्नूनीतात्। (आत्मने०) क्नूनीताम्। लँङ्—(परस्मै०) अक्नूनात्। (आत्मने०) अक्नूनीत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) क्नूनीयात्। (आत्मने०) क्नूनीत। आ० लिँङ्—(परस्मै०) क्नूयात्। (आत्मने०) क्नविषीष्ट। लुँङ्—(परस्मै०) अक्नाषीत्। (आत्मने०) अक्नविष्ट। लृँङ्—(परस्मै०) अक्नविष्यत्। (आत्मने०) अक्नविष्यत।

[लघु०] द्रूञ् हिंसायाम् ॥१३॥ द्रूणाति, द्रूणीते ॥

अर्थ —द्रूञ् (द्रू) धातु 'हिंसा करना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है[3]।

व्याख्या—यह धातु भी क्नूञ् धातु की तरह उभयपदी तथा सेट् है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) द्रूणाति। (आत्मने०) द्रूणीते। लिँट्—(परस्मै०) दुद्राव, दुद्रुवतु, दुद्रुव। दुद्रविथ—। (आत्मने०) दुद्रुवे, दुद्रुवाते, दुद्रुविरे। लुँट्—(परस्मै०) द्रविता, द्रवितारौ, द्रवितार। द्रवितासि—।(आत्मने०) द्रविता, द्रवितारौ, द्रवितार। द्रवितासे—। लृँट्—(परस्मै०)द्रविष्यति। (आत्मने०) द्रविष्यते। लोँट्—(परस्मै०)

---

१ प्राय सब लघुकौमुदी के सस्करणों में इस के बाद 'दूञ् हिंसायाम्' धातु पढ़ी गई है, जो स्पष्टत प्रमाद है। क्योंकि सिद्धान्तकौमुदी, माधवीयधातुवृत्ति, क्षीरतरङ्गिणी, धातुप्रदीप आदि आकरग्रन्थों में इस प्रकार की किसी धातु का क्रयादिगण में उल्लेख नहीं। गीताप्रेस के सस्करण में सम्पादक ने इसे हटा कर जहां अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है वहां 'पूञ् पवने' धातु के बाद 'दृ विदारणे' धातु का पाठ दे कर अनधिकार चेष्टा भी की है। लघुकौमुदी के सब सस्करणों में 'पूञ् पवने' के बाद 'सूञ् प्रेरणे' ही पढ़ी गई है जो 'ष्वादीनां ह्रस्व'(६९०) सूत्र पर दी गई वृत्ति के क्रम से सर्वथा अनुकूल है। पूञ् और सूञ् के बीच में 'दृ' का पढ़ना अनुचित भी लगता है।

२ इस धातु के प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

३ वैदिक साहित्य मे इस धातु के प्रयोग अनेक स्थानों पर उपलब्ध होते हैं। द्रूणाति—मै० ३ ७ ३, द्रूणान—ऋग्वेद ४ ४ १, द्रूत —काठक० १६ १२। कुछ कोषों मे द्रु (पु०, सुवर्ण), द्रुघण (पु०, मुद्गर), द्रूण (पु०, विष्णु) आदि शब्द इसी धातु से बनाये गये हैं।

ब्रूणातु-ब्रूणीतात्। (आत्मने०) ब्रूणीताम्। लँङ्—(परस्मै०) अब्रूणात्। (आत्मने०) अब्रूणीत। वि० लिङ्—(परस्मै०) ब्रूणीयात्। (आत्मने०) ब्रूणीत। आ० लिङ्—(परस्मै०) ब्रूयात्। (आत्मने०) ब्रविषीष्ट। लुङ्—(परस्मै०) अब्रावीत्। (आत्मने०) अब्रविष्ट। लृँङ्—(परस्मै०) अब्रविष्यत्। (आत्मने०) अब्रविष्यत।

[लघु०] पूङ् पवने ॥१४॥

अर्थः—पूङ् (पू) धातु 'पवित्र करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ङित् होने से यह धातु उभयपदी तथा ऊदन्त होने से 'ऊदृदन्तैः०' के अनुसार सेट् है। श्ना प्रत्यय के परे रहते इसे ह्रस्वविधान करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६९०) प्वादीनां ह्रस्वः ।७।३।८०॥

पूञ्-लूञ्-स्तॄञ्-कॄञ्-वृञ्-धूञ्-शॄ-पॄ-वॄ-भॄ-मॄ-दॄ-जॄ-झॄ-घॄ-नॄ-कॄ-ऋ-गॄ-ज्यारी-ली-व्ली-प्लीनां चतुर्विंशतेः शिति ह्रस्वः। पुनाति; पुनीते। पविता॥

अर्थः—शित् परे होने पर पूङ् आदि चौबीस धातुओं के अन्त्य अच् को ह्रस्व हो जाता है।

व्याख्या—प्वादीनाम् ।६।३। ह्रस्वः ।१।१। शिति ।७।१। ('ष्ठिवु-क्लमु-चमां शिति' से)। पूधातुरादिर्येषान्ते प्वादयः, तेषाम्—प्वादीनाम्। तद्गुणसंविज्ञानबहु०। अर्थः—(प्वादीनाम्) पू आदि धातुओं के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश हो जाता है (शिति) शित् परे हो तो। धातुपाठ के क्र्यादिगण के अन्तर्गत पू आदि चौबीस धातुएं पढ़ी गई हैं, उन का ही यहां ग्रहण अभीष्ट है। 'अचश्च' (१.२.२८) और 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषाओं के बल से पू आदि धातुओं के अन्त्य अच् को ह्रस्व हो जायेगा। पू आदि चौबीस धातुएं निम्नलिखित हैं—

(१) पूङ् पवने (पवित्र करना)।
(२) लूञ् छेदने (काटना)।
(३) स्तॄञ् आच्छादने (ढांपना)।
(४) कॄञ् हिंसायाम् (हिंसा करना)।
(५) वृञ् वरणे (स्वीकार करना)।
(६) धूञ् कम्पने (कम्पाना)।
(७) शॄ हिंसायाम् (हिंसा करना)।
(८) पॄ पालनपूरणयोः (पालना, भरना)
(९) वॄ वरणे (स्वीकार करना)।
(१०) भॄ भर्त्सने (झिड़कना)।
(११) मॄ हिंसायाम् (हिंसा करना)।
(१२) दॄ विदारणे (फाड़ना)।
(१३) जॄ वयोहानौ (जीर्ण होना)।
(१४) झॄ वयोहानौ (जीर्ण होना)।
(१५) घॄ वयोहानौ (जीर्ण होना)।
(१६) नॄ नये (ले जाना)।
(१७) कॄ हिंसायाम् (हिंसा करना)।
(१८) ऋ गतौ (गमन करना)।
(१९) गॄ शब्दे (शब्द करना)।
(२०) ज्या वयोहानौ (बूढ़ा होना)।
(२१) री गतिरेषणयोः (जाना, शब्द करना)।
(२२) ली श्लेषणे (मिलाना)।
(२३) व्ली वरणे (स्वीकार करना)।
(२४) प्ली गतौ (गमन करना)।

लँट्, लोँट्, लँङ् और वि० लिँङ् इन चार लकारों में श्नाविकरण किया जाता है अत इन मे ही शित् सम्भव होने से ह्रस्व की प्रवृत्ति होती है अन्यत्र नहीं।

लँट्—'पू+ना+ति' इस स्थिति मे 'श्ना' इस शित् प्रत्यय के परे रहते प्रकृतसूत्र से 'पू' के ऊकार को ह्रस्व होकर 'पुनाति' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। रूपमाला यथा—(परस्मै०) पुनाति, पुनीत, पुनन्ति। (आत्मने०) पुनीते, पुनाते, पुनते। लिँट्—(परस्मै०) पुपाव, पुपुवतु, पुपुवु। पुपविथ—। (आत्मने०) पुपुवे, पुपुवाते, पुपुविरे। लुँट्—(परस्मै०) पविता, पवितारौ, पवितार। पवितासि—। (आत्मने०) पविता, पवितारौ, पवितार। पवितासे—। लृँट्—(परस्मै०) पविष्यति। (आत्मने०) पविष्यते। लोँट्—(परस्मै०) पुनातु-पुनीतात्, पुनीताम्, पुनन्तु। पुनीहि-पुनीतात्—। (आत्मने०) पुनीताम्, पुनाताम्, पुनताम्। पुनीष्व—। लँङ्—(परस्मै०) अपुनात्, अपुनीताम्, अपुनन्। (आत्मने०) अपुनीत, अपुनाताम्, अपुनत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) पुनीयात्, पुनीयाताम्, पुनीयु। (आत्मने०) पुनीत, पुनीयाताम्, पुनीरन्। आ० लिँङ्—(परस्मै०) पूयात्, पूयास्ताम्, पूयासु। (आत्मने०) पविषीष्ट, पविषीयास्ताम्, पविषीरन्। लुँङ्—(परस्मै०) अपावीत्, अपाविष्टाम्, अपाविषु। (आत्मने०) अपविष्ट, अपविषाताम्, अपविषत। सृँङ्—(परस्मै०) अपविष्यत्। (आत्मने०) अपविष्यत।

[लघु०] सूञ् प्रेरणे ॥१५॥ सुनाति। सुनीते॥

अर्थ—सूञ् (सू) धातु 'काटना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु भी 'षूञ् प्रसवे' धातु की तरह उभयपदी तथा सेट् है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया तथा रूपमाला भी उसी तरह होती है। स्वादियों के अन्तर्गत होने से इसे भी शित्प्रत्ययों मे (६६०) सूत्र से ह्रस्व हो जाता है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) सुनाति, सुनीत, सुनन्ति। (आत्मने०) सुनीते, सुनाते, सुनते। लिँट्—(परस्मै०) सुसाव, सुसुवतु, सुसुवु। (आत्मने०) सुसुवे, सुसुवाते, सुसुविरे। लुँट्—(परस्मै०) सविता, सवितारौ, सवितार। सवितासि—। (आत्मने०) सविता, सवितारौ, सवितार। सवितासे—। लृँट्—(परस्मै०) सविष्यति। (आत्मने०) सविष्यते। लोँट्—(परस्मै०) सुनातु-सुनीतात्, सुनीताम्, सुनन्तु। सुनीहि—। (आत्मने०) सुनीताम्, सुनाताम्, सुनताम्। लँङ्—(परस्मै०) असुनात्, असुनीताम्, असुनन्। (आत्मने०) असुनीत, असुनाताम्, असुनत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) सुनीयात्। (आत्मने०) सुनीत। आ० लिँङ्—(परस्मै०) सूयात्। (आत्मने०) सविषीष्ट। लुँङ्—(परस्मै०) असावीत्। (आत्मने०) असविष्ट। सृँङ्—(परस्मै०) असविष्यत्। (आत्मने०) असविष्यत।

[लघु०] स्तृञ् आच्छादने ॥१६॥ स्तृणाति। शपूर्वा सप० (६४८)—तस्तार, तस्तरतु। तस्तरे। स्तरीता-स्तरिता। स्तृणीयात्। स्तृणीत। स्तीर्यात्॥

अर्थः—स्तृञ् (स्तृ) धातु 'आच्छादन करना, ढांपना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ञित् होने से यह धातु उभयपदी तथा ऋदन्त होने से सेट् है। प्वादियों के अन्तर्गत होने के कारण श्नाविकरण में इसे ह्रस्व हो जाता है।

लँट्—(परस्मै०) स्तृणाति। (आत्मने०) स्तृणीते।

लिँट्—परस्मै० प्र० पु० के एकवचन में 'स्तृ+स्तृ+अ' इस स्थिति में 'ह्रस्वः' (३९७) से अभ्यास को ह्रस्व, 'उरत्' (४७३) से अभ्यास के ऋकार को अर् आदेश तथा 'शर्पूर्वाः खयः' (६४८) से तकार शेष रह कर—त+स्तृ+अ। अब 'ऋच्छत्यृताम्' (६१४) से गुण तथा 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि करने पर 'तस्तार' प्रयोग सिद्ध होता है। अतुस् आदियों मे 'ऋच्छत्यृताम्' (६१४) से गुण हो जाता है। इसी प्रकार आत्मनेपद मे भी सर्वत्र गुण समझना चाहिये। रूपमाला यथा—(परस्मै०) तस्तार, तस्तरतुः, तस्तरुः। तस्तरिथ, तस्तरथुः, तस्तर। तस्तार-तस्तर, तस्तरिव, तस्तरिम। (आत्मने०) तस्तरे, तस्तराते, तस्तरिरे।

लुँट्—में इट्, लघूपधगुण तथा 'वृतो वा' (६१५) से इट् को वैकल्पिक दीर्घ हो जाता है। (परस्मै०) दीर्घपक्षे—स्तरीता, स्तरीतारौ, स्तरीतारः। स्तरीतासि—। दीर्घाभावे—स्तरिता, स्तरितारौ, स्तरितारः। स्तरितासि—। (आत्मने०) दीर्घपक्षे—स्तरीता, स्तरीतारौ, स्तरीतारः। स्तरीतासे—। दीर्घाऽभावे—स्तरिता, स्तरितारौ, स्तरितारः। स्तरितासे—। लृँट्—(परस्मै०) स्तरीष्यति-स्तरिष्यति। (आत्मने०) स्तरीष्यते-स्तरिष्यते। लोँट्—(परस्मै०) स्तृणातु-स्तृणीतात्। (आत्मने०) स्तृणीताम्। लँङ्—(परस्मै०) अस्तृणात्। (आत्मने०) अस्तृणीत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) स्तृणीयात्। (आत्मने०) स्तृणीत।

आ० लिँङ्—(परस्मै०) प्र० पु० के एकवचन में 'स्तृ+यास्+त्' इस स्थिति में यासुट् के कित् होने से गुण का निषेध हो जाता है। तब 'ऋत इद् धातोः' (६६०) से इत्व, रपर और 'हलि च' (६१२) से रेफ की उपधा को दीर्घ हो कर संयोगादि सकार का लोप करने पर—स्तीर्यात्, स्तीर्यास्ताम्, स्तीर्यासुः। आत्मने० में 'स्तृ+सीय्+स्+त' इस स्थिति मे धातु के सेट् होने से इट् का आगम नित्य प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र से विकल्प का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६९१) लिँङ्-सिँचोरात्मनेपदेषु[1] ।७।२।४२॥

वृङ्-वृञ्भ्याम् ऋदन्ताच्च परयोर्लिँङ्सिँचोरिड् वा स्यात्तङि॥

अर्थः—वृङ्, वृञ् और ऋदन्त धातु से परे लिँङ् और सिँच् को विकल्प से इट् हो आत्मनेपद मे।

व्याख्या—लिँङ्-सिँचोः ।६।२। आत्मनेपदेषु ।७।३। वृतः ।५।१।('वृतो वा' से)।

---

१. कई विद्यार्थी इस सूत्र को तथा 'लिँङ्सिँचावात्मनेपदेषु' (५८९) सूत्र को एक समझ कर भूल कर बैठते हैं। अतः यहां दोनों सूत्रों के अन्तर को हृदयंगम कर लेना चाहिये।

इट् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् । ('इट् सनि वा' से)। 'वृतो वा' (६१५) की तरह यहा पर भी 'वृत' पद का 'वृ+ऋत =वृत' इस प्रकार का छेद समझना चाहिये। निरनुबन्धग्रहण के कारण 'वृ' से 'वृङ्' और 'वृञ्' दोनों का ग्रहण होता है। अर्थ —(वृत) वृङ्, वृञ् या ऋदन्त धातु से परे (लिंङ्-सिचो) लिंङ् और सिच् का अवयव (इट्) इट् (वा) विकल्प से हो जाता है (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद प्रत्यय परे हो तो।

'स्तृ+सीय्+स्+त' यहा पर 'स्तृ' धातु ऋदन्त है अत प्रकृतसूत्र से आत्मनेपद के लिंङ् (सीय्+स्+त) को विकल्प से इट् का आगम हो जाता है। इट्पक्ष मे आर्धधातुकगुण होकर सामान्य कार्य करने से 'स्तरिषीष्ट' रूप सिद्ध होता है। इट् के अभाव मे 'उश्च' (५४४) सूत्र द्वारा भलादि लिंङ् कित् हो जाता है अत गुण का निषेध हो जाता है। तब 'ऋत इद् धातो' (६६०) से इत्त्व, रपर और 'हलि च' (६१२) से रेफ की उपधा को दीर्घ करने पर 'स्तीर्षीष्ट' रूप बनता है।

अब इट्पक्ष के 'स्तरिषीष्ट' आदि रूपों मे 'वृतो वा' (६१५) द्वारा इट् को वैकल्पिक दीर्घ प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(६६२) न लिँङि ।७।२।३६॥

वृत इटो लिँङि न दीर्घः । स्तरिषीष्ट। उश्च (५४४) इत्यनेन कित्त्वम्—स्तीर्षीष्ट। सिचि च परस्मैपदेषु (६१६)—अस्तारीत्, अस्तारिष्टाम्, अस्तारिषुः । अस्तरीष्ट-अस्तरिष्ट-अस्तीर्ष्ट ॥

अर्थ —वृङ्, वृञ् और ऋदन्त धातु से परे इट् को दीर्घ न हो लिंङ् परे हो तो।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । लिँङि ।७।१। वत ।५।१। ('वृतो वा' से)। इट् । १।१। ('आर्धधातुकस्येड्०' से)। दीर्घः ।१।१। ('ग्रहोऽलिटि दीर्घः' से)। अर्थ —(वृत) वृङ्, वृञ् और ऋदन्त धातु से परे (इट्) इट् (दीर्घः) दीर्घ (न) नहीं होता (लिँङि) लिंङ् परे हो तो।

'स्तरिषीष्ट' यहा लिंङ् परे विद्यमान है अत ऋदन्त स्तृ धातु से परे इट् को दीर्घ नहीं होता। आ० लिंङ् के आत्मने० में रूपमाला यथा—(इट्पक्षे) स्तरिषीष्ट, स्तरिषीयास्ताम्, स्तरिषीरन्। (इटोऽभावे) स्तीर्षीष्ट, स्तीर्षीयास्ताम्, स्तीर्षीरन्।

लुँङ्—(परस्मै०) मे इगन्तलक्षणा वृद्धि हो जाती है, 'सिचि च परस्मैपदेषु' (६१६) से इट् को दीर्घ नहीं होता—अस्तारीत्, अस्तारिष्टाम्, अस्तारिषुः । आत्मने० में 'लिँङ्सिचोरात्मनेपदेषु' (६६१) से सिच् को विकल्प से इट् का आगम होता है। इट्पक्ष मे आर्धधातुकगुण होकर 'वृतो वा' (६१५) से इट् को वैकल्पिक दीर्घ हो जाता है—अस्तरीष्ट, अस्तरिष्ट। इट् के अभाव में 'उश्च' (५४४) द्वारा सिच् के कित् हो जाने से गुण का निषेध हो जाता है। तब इत्त्व (६६०), रपर और 'हलि च' (६१२) से उपधा को दीर्घ करने पर—अस्तीर्ष्ट। लुँङ् के आत्मने० में रूपमाला यथा—(इट्पक्षे) दीर्घ इते—अस्तरीष्ट, अस्तरीषाताम्, अस्तरीषत। दीर्घाऽभावे—

अस्तरिष्ट, अस्तरिषाताम्, अस्तरिषत । (इटोऽभावे) अस्तीर्ष्ट, अस्तीर्षाताम्, अस्तीर्षत । लृँङ्—(परस्मै०) अस्तरीष्यत्-अस्तरिष्यत् । (आत्मने०) अस्तरीष्यत-अस्तरिष्यत ।

नोट—पीछे स्वादिगण में 'स्तृञ् आच्छादने' धातु आ चुकी है। उस की प्रक्रिया और इस धातु की प्रक्रिया का प्रायः सब लकारों में अन्तर पड़ता है। विद्यार्थियों को यह अन्तर सदा ध्यान में रखना चाहिये।

[लघु०] कॄञ् हिंसायाम् ॥१७॥ कृणाति; कृणीते। चकार; चकरे ॥

अर्थः—कॄञ् (कृ) धातु 'हिंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् उभयपदी, सेट् तथा प्र्याद्यन्तर्गत है। श्ना-विकरण में 'प्र्यादीनां ह्रस्वः' (६९०) से इसे ह्रस्व हो जाता है। इस की प्रक्रिया 'स्तृञ् आच्छादने' धातु की तरह समझनी चाहिये।

लँट्—(परस्मै०) कृणाति। (आत्मने०) कृणीते। लिँट्—(परस्मै०) चकार, चकरतुः, चकरुः। चकरिथ—। (आत्मने०) चकरे, चकराते, चकरिरे। सर्वत्र 'ऋच्छत्यृताम्' (६१४) से गुण हो जाता है। लुँट्—(परस्मै०) करीता-करिता, करीतारौ-करितारौ, करीतारः-करितारः, करीतासि-करितासि—। (आत्मने०) करीता-करिता, करीतारौ-करितारौ, करीतारः-करितारः। करीतासे-करितासे—। लृँट्—(परस्मै०) करीष्यति-करिष्यति। (आत्मने०) करीष्यते-करिष्यते। लोँट्—(परस्मै०) कृणातु-कृणीतात्। (आत्मने०) कृणीताम्। लँङ्—(परस्मै०) अकृणात्। (आत्मने०) अकृणीत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) कृणीयात्। (आत्मने०) कृणीत। आ० लिँङ्—(परस्मै०) कीर्यात्। (आत्मने०) करिषीष्ट-कीर्षीष्ट। लुँङ्—(परस्मै०) अकारीत्, अकारिष्टाम्, अकारिषुः। (आत्मने०) अकरीष्ट-अकरिष्ट-अकृष्ट। लृँङ्—(परस्मै०) अकरीष्यत्-अकरिष्यत्। (आत्मने०) अकरीष्यत-अकरिष्यत।

[लघु०] वॄञ् वरणे ॥१८॥ वृणाति; वृणीते। ववार; ववरे। वरीता-वरिता। उदोष्ठ्य० (५११) इत्युत्वम्—वूर्यात्। वरिषीष्ट-वूर्षीष्ट। अवारीत्, अवारिष्टाम्। अवरीष्ट-अवरिष्ट-अवृष्ट ॥

अर्थः—वॄञ् (वृ) धातु 'वरण करना, स्वीकार करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है

व्याख्या—यह धातु भी ञित् होने से उभयपदी तथा ऋदन्त होने से सेट् है। प्र्याद्यन्तर्गत होने से इसे भी श्नाविकरण में ह्रस्व हो जाता है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'स्तृञ्' धातुवत् होती है परन्तु इस में इतना अन्तर है कि ओष्ठ्यपूर्व होने से ऋकार को यहां इत्व न होकर 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (५११) द्वारा उत्व हो जाता है।

लँट्—(परस्मै०) वृणाति, वृणीतः, वृण्वन्ति। (आत्मने०) वृणीते, वृणाते, वृण्वते। लिँट्—(परस्मै०) ववार, ववरतुः, ववरुः। ववरिथ—। (आत्मने०) ववरे, ववराते, ववरिरे। लुँट्—(परस्मै०) वरीता-वरिता, वरीतारौ-वरितारौ, वरीतारः-

---

१. क्र्यादिक कॄ धातु के प्रयोग अन्वेषणीय हैं। ताण्ड्यमहाब्राह्मण (१२.६.३) में 'कृणोमसि' प्रयोग देखा जाता है।

वरितारः। वरीतासि-वरितासि—। (आत्मने०) वरीता-वरिता, वरीतारौ-वरितारौ, वरीतारः-वरितार। वरीतासे वरितासे—। लृट्—(परस्मै०) वरीष्यति-वरिष्यति। (आत्मने०) वरीष्यते-वरिष्यते। लोट्—(परस्मै०) वृणातु-वृणीतात्। (आत्मने०) वृणीताम्। लङ्—(परस्मै०) अवृणात्, अवृणीताम्, अवृणन्। (आत्मने०) अवृणीत, अवृणाताम्, अवृणत। वि० लिङ्—(परस्मै०) वृणीयात्। (आत्मने०) वृणीत। आ० लिङ्—(परस्मै०) वूर्यात्, वूर्यास्ताम्, वूर्यासुः। (आत्मने०) वरिषीष्ट-वूर्षीष्ट। लुङ्—(परस्मै०) अवारीत्, अवारिष्टाम्, अवारिषुः। (आत्मने०) अवरीष्ट-अवरिष्ट-अवृर्ष्ट। लृङ्—(परस्मै०) अवरीष्यत्-अवरिष्यत्। (आत्मने०) अवरीष्यत-अवरिष्यत।

[लघु०] धूञ् कम्पने ॥१९॥ धुनाति, धुनीते। धविता-धोता। अधावीत्; अधविष्ट-अधोष्ट ॥

अर्थ—धूञ् (धू) धातु 'कम्पाना या हिलाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—ञित् होने से यह धातु उभयपदी तथा ऊदन्त होने से सेट् है। परन्तु 'स्वरतिसूति०' (४७६) सूत्र मे परिगणित होने से यह वेट् हो जाती है। स्वादियों के अन्तर्गत होने से श्नाविकरण मे इसे भी ह्रस्व हो जाता है। सार्वधातुक लकारों मे इस की प्रक्रिया 'धूञ् पवने' धातु की तरह तथा आर्धधातुक लकारो में स्वादिगणोक्त धूञ् धातु की तरह चलती है।

लट्—(परस्मै०) धुनाति। (आत्मने०) धुनीते। लिट्—(परस्मै०) दुधाव, दुधुवतुः, दुधुवुः। (आत्मने०) दुधुवे, दुधुवाते, दुधुविरे। लुट्—(परस्मै०) धविता-धोता, धवितारौ-धोतारौ, धवितारः-धोतारः। धवितासि-धोतासि—। (आत्मने०) धविता-धोता, धवितारौ-धोतारौ, धवितारः-धोतारः। धवितासे-धोतासे—। लृट्—(परस्मै०) धविष्यति-धोष्यति। (आत्मने०) धविष्यते-धोष्यते। लोट्—(परस्मै०) धुनातु-धुनीतात्। (आत्मने०) धुनीताम्। लङ्—(परस्मै०) अधुनात्। (आत्मने०) अधुनीत। वि० लिङ्—(परस्मै०) धुनीयात्। (आत्मने०) धुनीत। आ० लिङ्—(परस्मै०) धूयात्। (आत्मने०) धविषीष्ट धोषीष्ट। लुङ्—(परस्मै०) स्वरत्यादिविकल्प का बाध कर 'स्नुधूञ्भ्य परस्मैपदेषु' (६४६) द्वारा नित्य इट् हो जाता है—अधावीत्, अधाविष्टाम्, अधाविषुः। (आत्मने०) अधविष्ट-अधोष्ट। लृङ्—(परस्मै०) अधविष्यत्-अधोष्यत्। (आत्मने०) अधविष्यत-अधोष्यत।

(लघुकौमुदी में यहां पर स्वादि धातु समाप्त होते हैं)

[लघु०] ग्रहँ उपादाने ॥२०॥ गृह्णाति, गृह्णीते। जग्राह, जगृहे ॥

अर्थ—ग्रहँ (ग्रह्) धातु 'ग्रहण करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[1]।

---

१ 'ग्रहण' यद्यपि मुख्यतया हस्त आदि के द्वारा हुआ करता है तथापि इस के लाक्षणिक प्रयोग भी अत्यन्त प्रचलित हैं—

(क) नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः —मनु० ८ २६।

व्याख्या—ग्रहँ धातु में अन्त्य अकार स्वरितानुनासिक है। अतः 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा होकर इस का लोप हो जाता है, 'ग्रह्' मात्र अवशिष्ट रहता है। स्वरितेत् होने से यह धातु उभयपदी तथा हकारान्त अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है।

लँट्—परस्मै० प्र० पु० के एकवचन में 'ग्रह्+ना+ति' इस स्थिति में श्ना के 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा ङित् होने के कारण 'ग्रहिज्या०' (६३४) से रेफ को ऋकार सम्प्रसारण और 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप एकादेश कर णत्व करने से 'गृह्णाति' सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'गृह्णीतः' आदि। आत्मने० में भी इसी तरह सम्प्रसारण हो जाता है। रूपमाला यथा—(परस्मै०) गृह्णाति, गृह्णीतः, गृह्णन्ति। गृह्णासि, गृह्णीथः, गृह्णीथ। गृह्णामि, गृह्णीवः, गृह्णीमः। (आत्मने०) गृह्णीते, गृह्णाते, गृह्णते। गृह्णीषे, गृह्णाथे, गृह्णीध्वे। गृह्णे, गृह्णीवहे, गृह्णीमहे।

लिँट्—परस्मै० के णल् में द्वित्व, 'लिँटचन्यासस्योभयेषाम्' (५४६) से अभ्यास को सम्प्रसारण, उरत्, हलादिशेष, 'कुहोश्चुः' (४५४) से अभ्यास को चुत्व-जकार तथा 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि करने पर 'जग्राह' रूप सिद्ध होता है। अतुस् आदि अपित् लिँट् में 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से कित्त्व के कारण 'ग्रहिज्या०' (६३४) द्वारा सर्वप्रथम सम्प्रसारण होकर पूर्वरूप हो जाता है—गृह्+अतुस्। अब द्वित्व, उरत्, हलादिशेष और अभ्यास को चुत्व करने पर 'जगृहतुः' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार आत्मने० में सर्वत्र कित्त्व के कारण प्रथम सम्प्रसारण होकर बाद में द्वित्वादि कार्य होते हैं। रूपमाला यथा—(परस्मै०) जग्राह, जगृहतुः, जगृहुः। जग्रहिथ, जगृहथुः, जगृह। जग्राह-जग्रह, जगृहिव, जगृहिम। (आत्मने०) जगृहे, जगृहाते, जगृहिरे। जगृहिषे, जगृहाथे, जगृहिढ्वे-जगृहिध्वे (विभाषेटः ५२७)। जगृहे, जगृहिवहे, जगृहिमहे।

लुँट्—धातु के सेट् होने से इट् का आगम होकर 'ग्रह्+इता' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र द्वारा दीर्घविधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६९३) ग्रहोऽलिँटि दीर्घः ।७।२।३७।।

---

(ख) दत्त्वा कटाक्षमेणाक्षी जग्राह हृदयं मम।
मया तु हृदयं दत्त्वा गृहीतो मदनज्वरः ।। (साहित्यदर्पण)।

(ग) तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी—रघु० १.५७।

(घ) प्राणानग्रहीद् द्विषः—भट्टि० ९.९।

(ङ) न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य च—मनु० ५.१५३।

(च) गृह्णाति चक्षुः सम्बन्धादालोकोद्भूतरूपयोः—भाषापरिच्छेद ५५।

(छ) गुणदोषौ बुधो गृह्णन् इन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः।
शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति ।। (कुवलयानन्द)

(ज) न चेत्स मम गृह्णीयाद्वचः—महाभारत।

एकाचो ग्रहेर्विहितस्य इटो दीर्घः, न तु लिंटि। ग्रहीता। गृह्णातु। हल इन शानज्झौ (६८७)—गृहाण। गृह्यात्। ग्रहीषीष्ट। ह्यधन्त० (४६६) इति न वृद्धि—अग्रहीत्। अग्रहीष्टाम्। अग्रहीष्ट। अग्रहीषाताम्॥

अर्थः—एक अच् वाली ग्रह् धातु से परे विधान किये गये इट् को दीर्घ हो परन्तु लिट् परे होने पर न हो।

व्याख्या—ग्रह ।५।१। अलिंटि ।७।१। दीर्घः ।१।१। इट ।६।१। ('आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से विभक्तिविपरिणाम कर के)। एकाच ।५।१। ('एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से)। 'विहितस्य' का अध्याहार किया जाता है। अर्थः—(एकाच) एक अच् वाली (ग्रह) ग्रह् धातु से परे (विहितस्य) विधान किये गये (इट) इट् के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है (अलिंटि) परन्तु लिट् परे होने पर नहीं होता। इट् के स्थान पर आन्तरतम्य से ईकार ही दीर्घ आदेश होता है। उदाहरण यथा—ग्रह्+इट्+तव्य=ग्रहीतव्यम्। ग्रह्+इट्+तुम्=ग्रहीतुम्। क्त्वा मे सम्प्रसारण हो जाता है—गृहीत्वा। इसी प्रकार निष्ठा मे भी—गृहीत, गृहीतवान्।

'अलिंटि' कहने से 'जग्रहिथ, जगृहिव, जगृहिम, जगृहिवे' आदि में दीर्घ नहीं होता। 'एकाच' कहने से 'जाग्रहिता' आदि यङ्लुगन्तप्रयोगों मे दीर्घ नहीं होता।

'विहितस्य' का अध्याहार करने से 'ग्राहितम्' आदि में इट् को दीर्घ नहीं होता[1]। यहा पर 'ग्रह्' से इट् का विधान नहीं किया गया अपितु 'ग्राहि' इस णयन्त धातु से किया गया है।

'ग्रह्+इता' यहा 'ग्रह्' धातु एकाच् है, लिट् भी परे नहीं है अत इस से परे विधान किये गये इट् को प्रकृतसूत्र से दीर्घ होकर 'ग्रहीता' प्रयोग सिद्ध होता है। लुंट् मे रूपमाला यथा—(परस्मै०) ग्रहीता, ग्रहीतारौ, ग्रहीतारः। ग्रहीतासि—। (आत्मने०) ग्रहीता, ग्रहीतारौ, ग्रहीतारः। ग्रहीतासे। लृट्—मे भी इट् को दीर्घ हो जाता है। (परस्मै०) ग्रहीष्यति। (आत्मने०) ग्रहीष्यते। लोट्—(परस्मै०) गृह्णातु-गृह्णीतात्, गृह्णीताम्, गृह्णन्तु। गृहाण[2]-गृह्णीतात्, गृह्णीतम्, गृह्णीत। गृह्णानि, गृह्णाव, गृह्णाम। (आत्मने०) गृह्णीताम्, गृह्णाताम्, गृह्णताम्। गृह्णीष्व, गृह्णाथाम्, गृह्णीध्वम्। गृह्णै, गृह्णावहै, गृह्णामहै। लेंट्—(परस्मै०) अगृह्णात्, अगृह्णीताम्, अगृह्णन्। अगृह्णाः, अगृह्णीतम्, अगृह्णीत। अगृह्णाम्, अगृह्णीव, अगृह्णीम। (आत्मने०) अगृह्णीत, अगृह्णाताम्, अगृह्णत। अगृह्णीथाः, अगृह्णाथाम्, अगृह्णीध्वम्। अगृह्णि, अगृह्णीवहि, अगृह्णीमहि। वि० लिंट्—(परस्म०) गृह्णीयात्, गृह्णीयाताम्, गृह्णीयुः।

---

१ 'ग्राहि+इट्+क्त' यहा 'निष्ठाया सेटि' (८२४) से णिच् का लोप हो जाता है। न च णिलोपस्य स्थानिवत्त्वेन ग्रहे परस्य इटोऽभावाद् दीर्घत्व मुतरा न भविष्यतीति किमनेन विहितविशेषणनियोजनेनेति वाच्यम्, पूर्वविधावेव स्थानिवत्त्वनियमाद् अथवा दीर्घविधौ स्थानिवत्त्वप्रतिषेधाच्चेत्यत्र विस्तरः।

२ यहा पर 'स्तभान' की तरह 'हल इन शानज्झौ' (६८७) से श्ना को शानच् आदेश होकर 'हि' का लुक् हो जाता है।

(आत्मने०) गृह्णीत, गृह्णीयाताम्, गृह्णीरन् । आ० लिङ्—(परस्मै०) यासुट् के कित् होने से सम्प्रसारण हो जाता है—गृह्यात्, गृह्यास्ताम्, गृह्यासुः । (आत्मने०) में इट् को दीर्घ (६६३) हो जाता है—ग्रहीषीष्ट[1], ग्रहीषीयास्ताम्, ग्रहीषीरन् ।

लुँङ्—(परस्मै०) में हलन्तलक्षणा वृद्धि को 'नेटि' (४७७) रोक देता है । अब 'अतो हलादेर्लघोः' (४५७) से वैकल्पिक वृद्धि प्राप्त होती है, इस का भी 'ह्रस्वान्तक्षण०' (४६६) से निषेध हो जाता है । तब 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' (६६३) से इट् को निर्बाध दीर्घ हो जाता है—अग्रहीत्[2], अग्रहीष्टाम्, अग्रहीषुः । (आत्मने०) अग्रहीष्ट, अग्रहीषाताम्, अग्रहीषत । लृँङ्—(परस्मै०) अग्रहीष्यत् । (आत्मने०) अग्रहीष्यत ।

उपसर्गयोग—आ√ग्रह्=आग्रह करना, हठ करना (इत्याग्रहाद्वदन्तं तं स पिता तत्र नीतवान्—कथासरित्सागर २५.६६) ।

उद्√ग्रह्=ऊपर उठाना (शक्तिञ्चोद्ग्रामुदग्रहीत्—भट्टि० १५.२२) ।

अनु√ग्रह्=अनुग्रह करना, कृपा करना (अनुगृहीतोऽस्म्यहमुपदेशाद् भवतः—विद्धशाल०; महात्मानोऽनुगृह्णन्ति भजमानानरीनपि—माघ २.१०४; कतरत्कुलमनुगृहीतं भगवत्या जन्मना—कादम्बरी); अनुसरण करना (आकृतिमनुगृह्णन्ति गुणाः—विद्धशाल०; क्षात्रधर्मश्चाऽनुगृहीतो भवति—उत्तरराम०); स्वीकार करना (शिलातलैकदेशमनुगृह्णातु वयस्यः—शाकुन्तल) ।

परि√ग्रह्=स्वीकार करना (आसनपरिग्रहं करोतु देवः—उत्तरराम० ३); ब्याहना, विवाह करना (प्रथमपरिगृहीतं स्यान्नवेत्यध्यवस्यन्—शाकुन्तल ५.२०); सञ्चालित करना (राक्षसमतिपरिगृहीतः—मुद्रा०); शिष्यरूप में स्वीकार करना (ज्ञानेन परिगृह्य तान्—मनु० २.१५१, शिष्यान् कृत्वेति कुल्लूकः) ।

प्रति√ग्रह्=दानरूप में किसी वस्तु को स्वीकार करना (ब्रह्मदेयाः प्रतिजग्राह—मनु० १०.१०७; तदहं प्रतिग्रहार्थं ग्रामान्तरं यास्यामि—पञ्च०); विवाहरूप में कन्या को स्वीकार करना (विधिवत् प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम्—मनु०

---

१. यहां पर 'न लिङि' (६६२) से दीर्घ का निषेध नहीं होता क्योंकि वहां 'वृतः' की अनुवृत्ति आती है । ग्रह् धातु वृङ्, वृञ् या ऋदन्तों के अन्तर्गत नहीं आती ।

२. इट् को दीर्घ कर लेने पर 'अग्रह्+ई+स्+ई+त्' इस स्थिति में 'इट ईटि' (४४६) से सकार का लोप कैसे हो सकता है क्योंकि इट् तो अब रहा नहीं, वहां दीर्घ ईकार आ चुका है ? इसका समाधान यह है कि इट् के इकार को ही दीर्घ ईकार किया गया है अतः 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' से वह भी इट् ही है अन्य नहीं । इस प्रकार उससे परे सकार के लोप में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती । इसीलिये तो 'ग्रह ईडलिटि' सूत्र न बना कर 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' इतना बड़ा सूत्र बनाया गया है, अन्यथा ग्रह् से परे ईट् का आगम कर देने से कई मात्राओं का लाघव स्पष्ट था ही । आ० लिङ् के ग्रहीषीढ्वम्-ग्रहीषीध्वम् तथा लुँङ् के अग्रहीढ्वम्-अग्रहीध्वम् में 'विभाषेटः' (५२७) सूत्र की प्रवृत्ति भी इसी प्रकार समझ लेनी चाहिये ।

३७२), मानना, स्वीकार करना (तमेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान् सपरिग्रह —रघु० १.९२), मुकाबले मे युद्ध करना (प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधन —रघु० ४.४०), ग्रहण करना (ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति—पञ्च०)।

नि+ग्रह् =रोकना, नियमन करना (समायंगुह्य निगृहीतयेनुर्मनुष्यवाचा मनुजाकेतुम्—रघु० २ ३३, अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नर पतनमृच्छति—याज्ञवल्क्य०)।

सम्√ग्रह् =सग्रह करना (चतुर्विधांश्च बंधान् वै समुग्रहीयाद् विशेषत —महाभारत शान्ति०), समेटना, सिकोडना, इकट्ठा करना (समुग्रहो कौशिकमुत्तरीयम्—महाभारत वन०)। अहो मल्लस्य सग्राह, सग्रहो धान्यस्य—काशिका ३ ३ ३६।

वि√ग्रह् =झगडा करना, विरोध करना, युद्ध करना (सन्धीयते न खलानां विगृह्णीयान्न बन्धुभि —महाभारत शान्ति० अ० ७९, विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा वशी य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिव दिव —माघ १ ५१), फोडना, अलग अलग करना (विगृह्य शत्रून् कौन्तेय जेष्यसे क्षितिपतिस्तदा—महाभारत आ० अ० ६), विशेष ग्रहण करना (न विगृह्णाति धैर्यस्थम्—श्रीमद्भागवत ३ ३२ २४, अविग्रहा गतादित्या यथा ग्रामादिकर्मभि —वै० भूषणसार १९)। विग्रहो देह (रक्तप्रसाधितमुख क्षतविग्रहाश्च—वेणी० १), विग्रहो युद्धम् (अस्त्रियां समरालीकरणा कलहविग्रहौ—इत्यमर.), विग्रहो वृत्त्यर्थविवरणम् (सि० कौ०)।

प्र√ग्रह् =अच्छी तरह पकडना, खींचना (प्रगृह्यन्तामग्रीषव —शाकुन्तल), प्रगृह्य पदम्, ईदूदेद् द्विवचन प्रगृह्यम् १ १ ११।

यहा तक क्रयादिगण के उभयपदी धातुओं का विवेचन किया गया है।

अब परस्मैपदी धातुओ का वर्णन प्रारम्भ करते हैं—

[लघु०] कुष निष्कर्षे ॥२१॥ कुष्णाति। कोषिता॥

अर्थ —कुष (कुष्) धातु 'बाहर निकालना' अर्थ मे प्रयुक्त होती है[1]।

व्याख्या—आत्मनेपद के लक्षणो से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी तथा षकारान्त अनुदात्तो मे परिगणित न होने से सेट् है। रूपमाला यथा—

लॅट्—कुष्णाति, कुष्णीत, कुष्णन्ति। लिट्—चुकोष, चुकुषतु, चुकुषु। चुकोषिथ—। लुट्—कोषिता। लृट्—कोषिष्यति। लोट्—कुष्णातु-कुष्णीतात्, कुष्णीताम्, कुष्णन्तु। कुषाण[2]-कुष्णीतात्—। लङ्—अकुष्णात्, अकुष्णीताम्, अकुष्णन्।

१ निष्कर्षो बहिर्निस्सारणम् इति माधव, बहिष्करणम् इति क्षीरस्वामी, इयत्तापरिच्छेद इति दुर्गादास। 'बाहर निकालना' अर्थ मे प्रयोग यथा—ततोऽकुष्णाद् दशग्रीव कुक्षे प्राणान् वनौकसाम् (भट्टि० १७ ८०)। परन्तु 'नोचना' अर्थ में यह धातु साहित्य मे अत्यन्त प्रसिद्ध है। यथा—जीवन्तमेव कुष्णाति काकीव कुक्कुटम्बिनी (कथासरित्सागर २३ २७), शिवा कुष्णन्ति मांसानि (भट्टि० १८ १०)। श्रीमद्भागवत में यह धातु 'नोचना' अर्थ मे तौदादिकरूपेण प्रयुक्त हुई है—गृध्रा स्वा मम कुक्षयन्त्यधिदण्डनेतु (भागवत ३ १०)।

२ 'हलन्तः शानजौ' (६७८) से श्ना को शानच् आदेश हो जाता है।

वि० लिङ्—कुष्णीयात् । आ० लिङ्—कुष्यात् । लुङ्—अकोषीत्, अकोषिष्टाम्, अकोषिषुः । लृङ्—अकोषिष्यत् ।

उपसर्गयोग—निस् या निर् उपसर्ग के योग में 'निरः कुषः' (७.२.४६) सूत्र द्वारा कुष् धातु वेट् हो जाती है—निष्कोष्टा, निष्कोषिता; निष्कोष्टुम्, निष्कोषितुम् । परन्तु निष्ठा में 'इण्निष्ठायाम्' (७.२.४७) से नित्य इट् का आगम होता है—निष्कुषितम्, निष्कुषितवान् । निस् या निर् की विसर्ग को 'इवुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य' (८.३.४१) से षत्व हो जाता है । निष्कुष् = भक्षण करना या खण्डित करना (उपान्तयोर्निष्कुषितं विहङ्गैः—रघु० ७.५०, निष्कुषितम् = खण्डितम् इति मल्लिनाथः); कुरेदना (दन्तस्य निष्कोषणकेन नित्यं कर्णस्य कण्डूयनकेन वाऽपि । तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां किमङ्ग ! वाग्हस्तवता नरेण—पञ्च० १.७७); नोचना (कार्फैर्निष्कुषितं श्वभिः कवलितं गोमायुभिर्लुण्ठितम्—गङ्गाष्टक) ।

[लघु०] अश भोजने ॥२२॥ अश्नाति । आश । अशिता । अशिष्यति । अश्नातु । अशान ॥

अर्थः—अश (अश्) धातु 'भोजन करना, खाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा शकारान्त अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है । इस की प्रक्रिया में विशेष अन्तर नहीं । रूपमाला यथा—

लट्—अश्नाति, अश्नीतः, अश्नन्ति । लिट्—में 'अत आदेः' (४४३) से अभ्यास के अत् को दीर्घ होकर सवर्णदीर्घ हो जाता है—आश, आशतुः, आशुः । आशिथ—। लुट्—अशिता । लृट्—अशिष्यति । लोट्—अश्नातु-अश्नीतात्, अश्नीताम्, अश्नन्तु । अशान[1]-अश्नीतात्—। लङ्—आश्नात्, आश्नीताम्, आश्नन् । वि० लिङ्—अश्नीयात् । आ० लिङ्—अश्यात् । लुङ्—आशीत्, आशिष्टाम्, आशिषुः । लृङ्—आशिष्यत् ।

उपसर्गयोग—इस धातु का प्र, सम् अथवा उप उपसर्ग के साथ कई स्थानों पर प्रयोग देखा जाता है परन्तु अर्थ यही रहता है ।

[लघु०] मुष स्तेये ॥२३॥ मोषिता । मुषाण ॥

अर्थः—मुष (मुष्) धातु 'चुराना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2] ।

व्याख्या—यह धातु भी पूर्ववत् परस्मैपदी तथा सेट् है । रूपमाला यथा—

---

१. 'हलः श्नः शानज्झौ' (६८७) से श्ना को शानच् आदेश हो जाता है ।

२. 'प्र' उपसर्ग के साथ इस धातु का 'छीनना और लूटना' अर्थ में प्रयोग देखा जाता है—मा न आयुः प्रमोषीः—ऋग्वेद १.२४.११ (हमारी आयु न छीनिये), हा प्रमुषिताः स्मः (हाय हम लुट गये) । कारकप्रकरण में यह धातु द्विकर्मकों में गिनाई गई है—देवदत्तं (गौणकर्म) शतं (प्रधानकर्म) मुष्णाति—देवदत्त से सौ रु० छीनता है । परन्तु साहित्य में इस का द्विकर्मकत्वेन विरल ही प्रयोग देखा जाता है । ध्यान रहे कि भाष्यकार ने इसे द्विकर्मकों में नहीं गिनाया ।

लँट्—मुष्णाति, मुष्णीत, मुष्णन्ति। लिँट्—मुमोष, मुमुषतु, मुमुषु। मुमोषिथ—। लुँट्—मोषिता। लृँट्—मोषिष्यति। लोँट्—मुष्णातु-मुष्णीतात्, मुष्णीताम्, मुष्णन्तु। मुषाण-मुष्णीतात्। लँङ्—अमुष्णात्, अमुष्णीताम्, अमुष्णन्। वि० लिँङ्—मुष्णीयात्। आ० लिँङ्—मुष्यात्। लुँङ्—अमोषीत्, अमोषिष्टाम्, अमोषिषु। लृँङ्—अमोषिष्यत्।

[लघु०] ज्ञा अवबोधने ॥२४॥ जज्ञौ ॥

अर्थ—ज्ञा धातु 'जानना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—आत्मनेपद के निमित्तों से हीन होने के कारण यह धातु परस्मैपदी है। 'ऋदृदन्तै०' में परिगणित न होने से यह अनुदात्त अर्थात् अनिट् है। लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है परन्तु धातु के अजन्त होने के कारण थल् में भारद्वाजनियम से इट् का विकल्प होता है। 'ज्ञा-जनोर्जा' (६३६) सूत्र द्वारा श्ना-प्रत्यय में इसे 'जा' आदेश हो जाता है। रूपमाला यथा—

लँट्—जानाति, जानीत, जानन्ति। लिँट्—'पा पाने' धातु की तरह प्रक्रिया होती है। जज्ञौ, जज्ञतु, जज्ञु। जज्ञिथ-जज्ञाथ, जज्ञथु, जज्ञ। जज्ञौ, जज्ञिव, जज्ञिम। लुँट्—ज्ञाता। लृँट्—ज्ञास्यति। लोँट्—जानातु-जानीतात्, जानीताम्, जानन्तु। जानीहि जानीतात्, जानानि, जानीत। जानानि, जानाव, जानाम। लँङ्—अजानात्, अजानीताम्, अजानन्। वि० लिँङ्—जानीयात्। आ० लिँङ्—'घाड्यस्य समोगावे' (४६४) से वैकल्पिक एत्व हो जाता है—ज्ञेयात् ज्ञायात्। लुँङ्—'यमरमनमातां सक् च' (४६५) से सक् और इट् हो जाते हैं—अज्ञासीत्, अज्ञासिष्टाम्, अज्ञासिषु। लृँङ्—अज्ञास्यत्।

उपसर्गहीनावस्था में यदि क्रिया का फल कर्ता को मिले तो ज्ञा धातु 'अनुपसर्गाज्ज्ञ' (१ ३ ७६) द्वारा आत्मनेपदी हुआ करती है। आत्मनेपद के अन्य निमित्त आत्मनेपद-प्रक्रिया में देखें। आत्मने० में ज्ञाधातु की रूपमाला यथा—

लँट्—जानीते, जानाते, जानते। लिँट्—जज्ञे, जज्ञाते, जज्ञिरे। लुँट्—ज्ञाता, ज्ञातारौ, ज्ञातार। ज्ञातासे—। लृँट्—ज्ञास्यते। लोँट्—जानीताम्, जानाताम्, जानताम्। जानीष्व—। लँङ्—अजानीत। वि० लिँङ्—जानीत, जानीयाताम, जानीरन्। आ० लिँङ्—ज्ञासीष्ट। लुँङ्—अज्ञास्त, अज्ञासाताम्, अज्ञासत। लृँङ्—अज्ञास्यत।

उपसर्गयोग—वि√ज्ञा=जानना-समझना-बूझना (विजानन्तोऽप्येतद् वयमिह विपज्जालजटिलान्। न मुञ्चामः कामान् अहह गहनो मोहमहिमा—वैराग्य० २०), विशेष जानना (यथा यथा हि पुरुष शास्त्रं समधिगच्छति। तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते—मनु० ४ २०, मावानर्थ उदपाने सर्वत सम्प्लुतोदके। तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत—गीता २ ४६), शिल्पशास्त्रविषयक ज्ञान रखना (मोक्षे धीर्जीवनमप्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोरित्यमर)। णिजन्त (विज्ञापयति)=निवेदन करना, प्रार्थना करना (समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽनूनं गुरुदक्षिणार्थं—रघु० ५ २०)।

**सम्√ज्ञा**=आध्यान करना, उत्कण्ठापूर्वक स्मरण करना (**मातुः सञ्जानाति, पितुः सञ्जानाति**—काशिका १.३.४६; कर्मणः शेषत्वविवक्षायां षष्ठी)। आध्यान से भिन्न अन्य किसी भी अर्थ में सम्पूर्वक ज्ञा धातु से **'सम्प्रतिभ्यामनाध्याने'** (१.३.४६) द्वारा आत्मनेपद का विधान है—अवेक्षा करना, सम्भाल रखना, ख्याल रखना (**शतं सञ्जानीते**—सि० कौ०, अवेक्षत इत्यर्थः[1]); अच्छी तरह मानना या आज्ञा में रहना (**पित्रा पितरं वा सञ्जानीते**—सि० कौ०, पिता को अच्छी तरह मानता है—पिता के साथ एक मत वाला है—पिता की आज्ञा मे रहता है। **'सञ्ज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि'** २.३.२२ इति कर्मणि वा तृतीया); सावधान रहना, चेतना (**सञ्जानानान् परिहरन् रावणानुचरान् बहून्**—भट्टि० ८.२७, सञ्जानानान्=चेतयत इति जयमङ्गला)।

**प्रति√ज्ञा**=प्रतिज्ञा करना (**प्रतिजज्ञे स्वयं चैव सुग्रीवो रक्षसां वधम्**—भट्टि० १४.६४; **शतं प्रतिजानीते**[2]—काशिका १.३.४६, 'सम्प्रतिभ्यामनाध्याने' से आत्मने० हो जाता है)।

**प्र√ज्ञा**=सम्यक् जानना (**स्त्रियं नैव प्रजानाति क्वचिदप्राप्तयौवनः**—महाभारत)।

**परि√ज्ञा**=पहचानना (**सखे! तपस्विभिः कैश्चित् परिज्ञातोऽस्मि**—शाकुन्तल २); भली भांति जानना (**शब्दहेतुं परिज्ञाय**—पञ्च०); जानना (**वृषभोऽयमिति परिज्ञाय**—पञ्च०)।

**अनु√ज्ञा**=अनुज्ञा देना, अनुमति देना (**सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्**—शाकुन्तल ४; **ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्य**—भट्टि० १.२३, कर्मणि लकारः); क्षमा करना (**अनुप्रवेशे यद्वीर कृतवांस्त्वं ममाऽप्रियम्। सर्वं तदनुजानामि**—महाभारत)।

**अभि+अनु√ज्ञा**=अनुमति देना (**पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः**—रघु० २.६६)।

**उप√ज्ञा**=उपदेश के विना स्वयं जानना (**पाणिनिना उपज्ञातं पाणिनीयमकालकं व्याकरणम्**—काशिका ४.३.११५; **अथ प्राचेतसोपज्ञं रामायणमितस्ततः। संथिलेयौ कुशलवौ जगतुर्गुरुचोदितौ**—रघु० १५.६३; **उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्याद्** इत्यमरः)।

**अप√ज्ञा**=छुपाना, इन्कार करना (**शतमपजानीते**—काशिका १.३.४४, 'अपह्नवे ज्ञः' इत्यात्मनेपदम्। **आत्मानमपजानानः शशमात्रोऽनयद् दिनम्**—भट्टि० ८.२६)।

**अव√ज्ञा**=अवज्ञा करना, हीन समझना, अवमान करना, परवाह न करना (**अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति। मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा**—रघु० १.७७; **अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्**—गीता ६.११; **आत्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार**—रघु० २.४१; **भक्तं शक्तं च मां राजन् नाऽवज्ञातुं त्वमर्हसि**—पञ्च० १.१०६)।

---

१. यह भट्टोजिदीक्षित का अर्थ है। परन्तु अन्य लोग इसका अर्थ करते हैं—सौ देने की प्रतिज्ञा करता है।

२. दीक्षितजी इसका अर्थ करते है—शतमङ्गीकरोतीत्यर्थः।

अभि√ज्ञा=पहचानना (नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले। नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्—रामायण), जानना (यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राऽप्यभिज्ञो जन—उत्तरराम० ५ ३५), स्मरण करना (अभिजानासि देवदत्त। काश्मीरेषु वत्स्याम—काशिका, 'अभिज्ञावचने लृट्' ३ २ ११२ इति लृट्)।

प्रति+अभि√ज्ञा=पहचानना (स्वयूथ्यस्वरान् प्रत्यभिजानते—अमर०)।

आ√ज्ञा (णिजन्त=आज्ञापयति)=आज्ञा देना (यथाऽऽज्ञापयत्यायुष्मान्—शाकुन्तल १)।

यहां तक क्रयादिगण की परस्मैपदी धातुओं का विवेचन किया गया है।

अब एक आत्मनेपदी धातु का वर्णन करते हैं—

[लघु०] वृङ् सम्भक्तौ ॥२५॥ वृणीते। ववृषे। ववृढ्वे। वरिता-वरीता। अवरिष्ट-अवरीष्ट-अवृत ॥

अर्थ—वृङ् (वृ) धातु 'पूजा करना, सेवा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह धातु ङित् होने से आत्मनेपदी तथा 'ऋदृदन्तं०' में परिगणित होने से उदात्त अर्थात् सेट् है। रूपमाला यथा—

लँट्—वृणीते, वृणाते, वृणते[1]। लिँट्—में किरत्व के कारण 'अचुक ङिति' (६५०) से इडागम का निषेध हो जाता है। क्रादिनियम से भी इट् नहीं होता क्योंकि क्रादियों में 'वृ' का साक्षात् उल्लेख है। ऋदन्त न होने से 'ऋच्छत्यृताम्' (६१४) द्वारा अजादिप्रत्ययों में गुण नहीं होता, 'इको यणचि' (१५) से यण् ही होता है—वव्रे, वव्राते, वव्रिरे। ववृषे, वव्राथे, ववृढ्वे। वव्रे, ववृवहे, ववृमहे।

लुँट्—में इट् का आगम निर्बाध हो जाता है। 'वृतो वा' में 'वृ' धातु साक्षात् पढ़ी गई है अतः इट् को वैकल्पिक दीर्घ हो जाता है—वरीता-वरिता। लृँट्—वरीष्यते-वरिष्यते।

लोँट्—वृणीताम्, वृणाताम्, वृणताम्। वृणीष्व—। लँङ्—अवृणीत, अवृणाताम्, अवृणत। वि० लिँङ्—वृणीत, वृणीयाताम्, वृणीरन्।

आ० लिँङ्—में 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' (६६१) से इट् का विकल्प हो जाता है। इट्पक्ष में 'न लिङि' (६६२) से इट् को दीर्घ नहीं होता और आर्धधातुकगुण हो जाता है—वरिषीष्ट, वरिषीयास्ताम्, वरिषीरन्। इट् के अभाव में 'उश्च' (५४४) द्वारा किरत्व के कारण गुण नहीं होता। तब धातु के ऋदन्त न होने से 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (६११) द्वारा उत्व भी नहीं होता—वृषीष्ट, वृषीयास्ताम्, वृषीरन्।

लुङ्—में सिच् को भी 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' (६६१) से इट् का विकल्प हो जाता है। इट्पक्ष में 'वृतो वा' (६१५) द्वारा इट् को वैकल्पिक दीर्घ तथा आर्धधातुकगुण हो जाता है। इट् के अभाव में 'उश्च' (५४४) द्वारा सिच् कित् हो जाता

१ सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥(किरात०२.३०)
यहां पर 'वृणुते' लिखने वाले अनभिज्ञों से सावधान रहना चाहिये।

है अतः तन्निमित्तक गुण नहीं होता। तब 'ह्रस्वादङ्गात्' (५४५) से झल् परे रहते सिच् का लुक् हो जाता है। (इट्पक्षे दीर्घे कृते) अवरीष्ट, अवरीषाताम्, अवरीषत। (इट्पक्षे दीर्घाऽभावे) अवरिष्ट, अवरिषाताम्, अवरिषत। (इटोऽभावे) अवृत, अवृषाताम्, अवृषत। अवृथाः—। लृङ्—अवरीष्यत-अवरिष्यत।

## अभ्यास (१५)

(१) निम्न-रूपों में मौलिक अन्तर बताएँ—
वव्रे-ववरे; चक्रतुः-चकरतुः; क्रीणाताम्-क्रीणीताम्; अक्रीणात्-अक्रीणीत।

(२) निम्न-प्रश्नों का उत्तर दीजिये—
(क) 'क्रीणाति' में श्नानिमित्तक गुण क्यों नहीं होता ?
(ख) 'विक्रीणाति' प्रयोग शुद्ध है या अशुद्ध ? सहेतुक लिखें।
(ग) 'पुनाति' की तरह 'क्नूनाति' में ह्रस्व क्यों नही होता ?
(घ) 'स्तभान' की तरह 'क्रीणीहि' में शानच् क्यों नहीं होता ?
(ङ) 'ग्रहीता' की तरह 'जग्रहिथ' में इट् को दीर्घ क्यों नहीं होता ?
(च) 'वव्रे' में 'ऋच्छत्यृताम्' से गुण क्यों न हो ?
(छ) 'प्रमीणीते' में 'मीना' न होते हुए भी णत्व कैसे हो जाता है ?
(ज) 'वरिषीष्ट' में 'वृतो वा' द्वारा इट् को दीर्घ क्यों नहीं होता ?
(झ) श्ना परे होने पर स्तन्भ् के नकार को क्या हो जायेगा ?

(३) 'वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः'—क्या यह उक्ति शुद्ध है ? सहेतुक स्पष्ट करें।

(४) प्वादिधातु कौन कौन सी हैं ? लघुकौमुदी में किस किस का वर्णन किया गया है ?

(५) सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
हलः श्नः शानज्झौ, ग्रहोऽलिटि दीर्घः, हिनुमीना, लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु, जुस्तम्भुं०, स्तम्भुं-स्तुम्भुं०।

(६) निम्न-रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
जगृहे, जानाति, क्रीणन्ति, वूर्यात्, तस्तरतुः, गृहाण, ववृपे, स्तभ्नोति, मिम्यतुः, व्यष्टभत्, अग्रहीत्, गृह्णीते, ग्रहीता, स्तीर्यात्, अवृत।

(७) रूपमाला लिखें—
मीञ्, वृञ्, वृङ्, स्तन्भ्, ग्रह्, ज्या ·····(लुङ् में)।
स्तृञ्, वृञ्, वृङ्, शा ·····(आ० लिङ् में)।
ग्रह्, स्तन्भ्, पूञ्् ·····(लट् और लोट् मे)।
क्री, ग्रह ·····(सब लकारों में)।

## इति तिङन्ते क्र्यादयः

(यहां पर क्र्यादिगण की धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

# अथ तिङन्ते चुरादयः

अब तिङन्तप्रकरण में चुरादिगण की धातुओं का निरूपण किया जाता है—

[लघु०] चुर स्तेये ॥१॥

अर्थ —चुर (चुर्) धातु 'चुराना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—'चुर' में अन्त्य अकार उच्चारण के लिये जोड़ा गया है, इसे इत् करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि इस से पदव्यवस्था नहीं की जाती। पदव्यवस्था के लिये आगे 'णिचश्च' (६६५) सूत्र कहा जायेगा। अब अग्रिमसूत्र द्वारा चुरादियों से स्वार्थ में णिच् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६४) सत्याप-पाश-रूप-वीणा-तूल-श्लोक-सेना-लोम-त्वच-वर्म-वर्ण-चूर्ण-चुरादिभ्यो णिच् ।३।१।२५॥

एभ्यो णिच् स्यात्। चूर्णान्तेभ्य 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे०' (गणसूत्रम्) इत्येव सिद्धे तेषामिह ग्रहण प्रपञ्चार्थम्। चुरादिभ्यस्तु स्वार्थे। पुगन्त० (४५१) इति गुण, सनाद्यन्ता० (४६८) इति धातुत्वम्। तिप्-शबादि, गुणायादेशौ—चोरयति ॥

अर्थ —सत्य (सत्याप्), पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोमन्, त्वच, वर्मन्, वर्ण और चूर्ण—इन बारह प्रातिपदिकों से तथा चुर् आदि धातुओं से परे णिच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—सत्याप—चुरादिभ्य ।५।३। णिच् ।१।१। 'प्रत्यय, परश्च' दोनों का अधिकार आ रहा है। सत्यशब्द से णिच् करने पर सत्यशब्द को आपुक् का आगम निपातन करने के लिये 'सत्याप्' ऐसा कहा गया है। सूत्रगत 'सत्याप' के अन्त्य में अकार उच्चारणार्थ है। 'त्वच' यह अदन्त नपुंसक शब्द यहां गृहीत होता है। अर्थ —(सत्याप—चुरादिभ्य) सत्याप्, पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोमन्, त्वच, वर्मन्, वर्ण, चूर्ण तथा चुर् आदि धातुओं से[1] (पर) परे (णिच्) णिच् (प्रत्यय) प्रत्यय हो। यहां अर्थ का निर्देश नहीं किया गया अतः लोकप्रसिद्धानुसार अर्थ लिया जायेगा। सत्य से लेकर चूर्ण तक प्रथम बारह शब्द प्रातिपदिक हैं, इन से विभिन्न धात्वर्थों में प्रत्यय होता है। यथा—

(१) सत्य करोति आचष्टे वा—सत्यापयति (सत्य को करता व कहता है)।

---

१ यहां पर 'धातोरेकाचो हलादे०' से 'धातो' पद का भी अनुवर्त्तन होता है। वचनविपरिणाम करके इसे 'चुरादिभ्य' से सम्बद्ध कर लिया जाता है। यदि यहां इस का अनुवर्त्तन नहीं करेंगे तो 'धातो' कह कर विहित न होने से चुरादियों से परे णिच् की 'आर्धधातुकं शेषः' (४०४) से आर्धधातुकसञ्ज्ञा न होगी, तब आर्धधातुक-निमित्तक लघूपधगुण न हो सकेगा।

(२) पाशं विमुञ्चति—विपाशयति (पाश को छोड़ता है)[1]।
(३) रूपं पश्यति—रूपयति (रूप को देखता है)।
(४) वीणया उपगायति—उपवीणयति (वीणा द्वारा या वीणा के साथ गाता है)।
(५) तूलेन अनुकुण्णाति—अनुतूलयति (तूल द्वारा तृणाग्र को लपेटता है[2])।
(६) श्लोकैरुपस्तौति—उपश्लोकयति (श्लोकों द्वारा स्तुति करता है)।
(७) सेनया अभियाति—अभिषेणयति (सेना द्वारा अभियान करता है)[3]।
(८) लोमानि अनुमार्ष्टि—अनुलोमयति (लोमों को साफ करता है)।
(९) त्वचं गृह्णाति—त्वचयति (वृक्षादि की त्वचा को ग्रहण करता है)।
(१०) वर्मणा सन्नह्यति—संवर्मयति (कवच से सन्नद्ध होता है)।
(११) वर्णं गृह्णाति—वर्णयति (लाल पीला आदि रंग ग्रहण करता है)।
(१२) चूर्णैरवध्वंसते—अवचूर्णयति (चूर्णों से रोगादि का नाश करता है)।

ये सब नामधातु है। जिस प्रकार धातुओं से लँट् आदि लकार करने पर रूप चला करते है वैसे कुछ शब्दों (प्रातिपदिकों व सुबन्तों) से भी लकार आकर रूप चला करते है। नामधातुओं का विवेचन 'नामधातुप्रक्रिया' में आगे करेंगे। ये सब शब्द आचार्य पाणिनि ने अपने से पूर्ववर्त्ती साहित्य मे से चुने होंगे, इस मे सन्देह नहीं; परन्तु इस समय के उपलब्ध साहित्य में इन में से कुछ शब्दों का ही प्रयोग देखा जाता है[4]।

यहां पर कौमुदीकार (वस्तुतः न्यासकार आदि) का कहना है कि 'प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवत्' (धात्वर्थ में प्रातिपदिक से परे बहुल करके णिच् प्रत्यय हो और उस णिच् को इष्ठन् प्रत्यय की तरह मान कर सब कार्य हों) इस गण-सूत्र से ही 'सत्यापयति' आदि रूप सिद्ध हो सकते है अतः इस सूत्र मे इन के उल्लेख की कोई आवश्यकता नही। इस तरह यहां इसे प्रपञ्चमात्र अर्थात् स्पष्टता के लिये विस्तार मात्र ही समझना उचित है। परन्तु अन्य वैयाकरणों का कहना है कि सत्य आदि सापेक्ष शब्दों से भी णिच्प्रत्यय का विधान करने के लिये इन का विशेषतया पृथक् उल्लेख किया गया है। अन्यथा जैसे 'रमणीयं घटं करोति' इस विग्रह में घट शब्द से णिच् की उत्पत्ति नहीं होती वैसे 'रमणीयं रूपयति' में भी णिच् की उत्पत्ति न हो सकती। इस विषय का विस्तार सिद्धान्तकौमुदी की नामधातु प्रक्रिया में देखना चाहिये।

'चुरादिभ्यो णिच्' (चुर् आदि धातुओं से णिच् प्रत्यय हो) इतना सूत्रांश ही यहां चुरादिगण में उपयोगी है। चुरादियों से णिच् प्रत्यय किसी अर्थविशेष में विधान

१. कही कही पर 'पाशं विमोचयति' ऐसा भी विग्रह देखा जाता है।
२. तृणादि पर कपास लपेट कर कर्ण आदि का मल निकाला जाता है।
३. 'उपसर्गात्सुनोतिसुवति०' (८ ३.६५) इति षत्वम्।
४. यथा—कः सिन्धुराजमभिषेणयितुं समर्थः—वेणी० २.२५।
भैमीमुपावीणयदेत्य यत्र कलिप्रियस्य प्रियशिष्यवर्गः—नैषध ६.६५।
संदर्मयति वज्रेण धैर्यं हि महतां मनः—अनर्घ० ५.१५।
समुत्तेजनसमर्थैः श्लोकैरुपश्लोकयितव्यः—मुद्रा० ४।

नहीं किया गया अपितु 'अनिर्दिष्टार्था प्रत्यया स्वार्थे भवन्ति' के अनुसार स्वार्थ में ही हुआ है। स्वार्थिक प्रत्ययों के आने से प्रकृति के अर्थ में कुछ अन्तर नहीं आया करता किन्तु रूपसिद्धि में परिनिष्ठितता हुआ करती है।

इस प्रकार चुर् धातु से स्वार्थ में णिच् प्रत्यय आकर 'चुर्+णिच्' इस स्थिति में णिच् के णकार की 'चुटू' (१२१) द्वारा तथा चकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा होकर लोप करने से 'चुर्+इ' हुआ। अब 'आर्धधातुकं शेषः' (४०४) से णिच् के आर्धधातुकसञ्ज्ञक होने के कारण 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) से लघूपध-गुण होकर 'चोरि' बन जाता है। 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) से 'चोरि' की नये सिरे से धातुसञ्ज्ञा हो जाती है। अब इस धातु से कर्त्रादिविवक्षा में लँट् आदि लकारों की उत्पत्ति होती है। कर्तृविवक्षा में—चोरि+लँट्=चोरि+ल्, प्र० पु० के एकवचन में 'चोरि+ति' इस स्थिति में 'ति' इस सार्वधातुक के परे रहते 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप्, शप् को मान कर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (३८८) से गुण तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से एकार को अयादेश हो कर 'चोरयति' प्रयोग सिद्ध होता है। परन्तु यहां एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'चोरि' धातु के आगे परस्मैपद और आत्मनेपद में से किस पद का प्रयोग किया जाये? वैसे न्यायानुसार 'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्' (३८०) द्वारा परस्मैपद का ही प्रयोग होना चाहिये। परन्तु लोक में कर्त्रभिप्राय क्रियाफल के होने पर इस से आत्मनेपद का प्रयोग देखा जाता है। अतः इस की सिद्धि के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६९५) णिचश्च ।१।३।७४॥

णिजन्तादात्मनेपदं स्यात्कर्तृगामिनि क्रियाफले। चोरयते। चोरया-मास। चोरयिता। चोरयति। चोरयिषीष्ट। णिश्रि० (५२८) इति चङ्। णौ चङि० (५३०) इति ह्रस्वः। चङि (५३१) इति द्वित्वम्। हलादि शेषः (३९६)। दीर्घो लघोः (५३४)—इत्यभ्यासस्य दीर्घः—अचूचुरत्; अचूचुरत॥

अर्थः—क्रिया का फल कर्त्ता को प्राप्त हो तो णिजन्त धातु से परे आत्मनेपद प्रत्यय हों।

व्याख्या—णिच् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। आत्मनेपदम् ।१।१। ('अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से)। कर्त्रभिप्राये ।७।१। क्रियाफले ।७।१। ('स्वरितञित कर्त्रभिप्राये क्रिया-फले' से)। 'णिच्' एक प्रत्यय है अतः 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तस्य ग्रहणम्' (५०) के अनुसार इस से तदन्तविधि हो कर 'णिजन्तात्' बन जाता है। अर्थः—(णिच=णिज् तात्) णिच् प्रत्यय जिसके अन्त में है ऐसी धातु से परे (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद प्रत्यय हो (कर्त्रभिप्राये क्रियाफले) क्रिया का फल कर्त्ता को मिलता हो तो। इस सूत्र की व्याख्या भी 'स्वरितञित०' (३७९) सूत्र की तरह समझनी चाहिये। इस प्रकार चुरादि धातुओं से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद तथा अन्यत्र परस्मैपद का प्रयोग

होता है[1]। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) चोरयति, चोरयतः, चोरयन्ति । (आत्मने०) चोरयते, चोरयेते, चोरयन्ते ।

लिँट्—चुर् धातु से पूर्ववत् स्वार्थ में णिच् प्रत्यय होकर 'चोरि' धातु बन जाती है । इस से परे लिँट् लकार ला कर धातु के अनेकाच् होने से 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यो लिँटि' (वा० ३४) से आम्, 'अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु' (५२६) से इकार को अयादेश, आम् से परे लिँट् का लुक् तथा लिँट्परक कृ भू और अस् का अनुप्रयोग करने पर चोरयाञ्चकार-चोरयाम्बभूव-चोरयामास आदि रूप बनते है । इसी प्रकार आत्मने० में 'चोरयाञ्चक्रे' आदि समझ लेने चाहियें ।

लुँट्—चुरादिगण में णिच् के आ जाने से सब धातु अनेकाच् होने के कारण सेट् हो जाती हैं । अतः तास् आदि में इट् का आगम निर्बाध हो जाता है । इट् होकर गुण और अयादेश हो जाता है—(परस्मै०) चोरयिता, चोरयितारौ, चोरयितारः । चोरयितासे—। (आत्मने०) चोरयिता, चोरयितारौ, चोरयितारः । चोरयितासे—।

लृँट्—(परस्मै०) चोरयिष्यति । (आत्मने०) चोरयिष्यते । लोँट्—(परस्मै०) चोरयतु-चोरयतात्, चोरयताम्, चोरयन्तु । चोरय-चोरयतात्, चोरयतम्, चोरयत । चोरयाणि, चोरयाव, चोरयाम । (आत्मने०) चोरयताम्, चोरयेताम्, चोरयन्ताम् । लँङ्—(परस्मै०) अचोरयत्, अचोरयताम्, अचोरयन् । (आत्मने०) अचोरयत, अचोरयेताम्, अचोरयन्त । वि० लिँङ्—(परस्मै०) चोरयेत्, चोरयेताम्, चोरयेयुः । (आत्मने०) चोरयेत, चोरयेयाताम्, चोरयेरन् ।

आ० लिँङ्—परस्मै० में 'चोरि+यास्+त्' इस स्थिति में 'णेरनिटि' (५२९) से णि का लोप होकर संयोगादिलोप करने से 'चोर्यात्' रूप सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहां णि का लोप हो जाने पर 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' से लघूपधगुण का अपाय (नाश) नहीं होता । इस का कारण यह है कि प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी प्रत्ययलक्षण में कोई बाधा उपस्थित नही होती । रूपमाला यथा—(परस्मै०) चोर्यात्, चोर्यास्ताम्, चोर्यासुः । (आत्मने०) यहां आर्धधातुक अनिट् नहीं

१. चुरादिगणान्तर्गत 'लक्ष दर्शनाङ्कनयोः' धातु को स्वरितेत् कहा गया है—स्वरितेत् स्याद् ग्रहिः ऋधादौ लक्षिश्चेष्टश्चुरादिषु (क्षीरतरङ्गिणी में उद्धृत प्राचीन वचन)। इस से कुछ वैयाकरण इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'णिचश्च' (६९५) सूत्र चुरादिणिजन्तों के लिये नहीं अपितु हेतुमण्णिजन्तों के लिये बनाया गया है । उन के मतानुसार चुरादि धातुओं से केवल परस्मैपद ही होता है । परन्तु आकरग्रन्थों में इस प्रकार का कहीं निर्देश न होने से बहुत से वैयाकरण इसे अप्रामाणिक मानते हैं । लक्ष धातु का स्वरितेत् पाठ भी अनार्ष समझा जाता है । जैसाकि पदमञ्जरीकार ने कहा है— (दोधकवृत्तम्)

"एष विधिर्न चुरादिणिजन्तात् स्यादिति कश्चन निश्चिनुते स्म ।
आप्तवचोऽत्र न किञ्चिददृष्टं लक्षयतेः स्वरितेत्त्वमनार्षम् ॥"

होता अत णि का लोप न होकर गुण और अयादेश हो जाता है—चोरयिषीष्ट चोरयिषीयास्ताम्, चोरयिषीरन्।

लुंङ्—'चोरि' धातु से लुंङ्, तिप्, च्लि तथा च्लि के स्थान पर 'णिश्रि-स्रुभ्य कर्तरि चङ्' (५२८) से चङ्प्रत्यय होकर 'अचोरि+अ+त्' हुआ। अब 'णेरनिटि' (५२९) से णि का लोप, 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्व' (५३०) से उपधा को ह्रस्व और 'चङि' (५३१) से चुर् को द्वित्व हो जाता है—अचुर्+चुर्+अ+त्। पुन हलादिशेष तथा सन्वद्भाव के विषय में[1] 'दीर्घो लघो' (५३४) से अभ्यास को दीर्घ करने पर 'अचूचुरत्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आत्मनेपद में प्रक्रिया समझनी चाहिये। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अचूचुरत्[2], अचूचुरताम्, अचूचुरन्। अचूचुर, अचूचुरतम्, अचूचुरत। अचूचुरम्, अचूचुराव, अचूचुराम। (आत्मने०) अचूचुरत, अचूचुरेताम्, अचूचुरन्त। अचूचुरथा, अचूचुरेथाम्, अचूचुरध्वम्। अचूचुरे, अचूचुरावहि, अचूचुरामहि।

लुंङ्—(परस्मै०) अचोरयिष्यत्। (आत्मने०) अचोरयिष्यत।

नोट—चुरादिगण में प्राय लुंङ् लकार की प्रक्रिया ही विशेष ध्यातव्य हुआ करती है। इस मे च्लि को चङ्, उपधाह्रस्व तथा द्वित्व आदि कार्य हुआ करते हैं। परन्तु विशेष द्रष्टव्य सन्वद्भाव होता है। वह कहा होता और कहा नहीं होता—इस के लिये 'सन्वल्लघुनि०' (५३२) सूत्र के अर्थ का मनन करना चाहिये। यदि अभ्यास में अकार हो और सन्वद्भाव का विषय (लघुपरक) भी हो तो प्रथम अभ्यास के अकार को 'सन्यत' (५३३) से इत्व और बाद मे उस इकार को 'दीर्घो लघो' (५३४) से दीर्घ हो जाता है। यथा—(तड्) अतीतडत्, (पाल्) अपीपलत् आदि। यदि अभ्यास में अकार नहीं और सन्वद्भाव का विषय है तो इत्व न होकर 'दीर्घो लघो' (५३४) से उस स्वर को दीर्घ हो जाता है। यथा—(चुर्) अचूचुरत्, (तुल्) अतूतुलत् आदि। सन्वद्भाव का विषय न होने पर अभ्यास के अकार वाइकार में कोई परिवर्तन नहीं होता। तथा—(कथ) अचकथत्, (चिन्त्) अचिचिन्तत्, (लक्ष्) अललक्षत्, (भक्ष्) अबभक्षत् आदि।

[ लघु० ] कथ वाक्यप्रबन्धे ॥२॥ अल्लोप ॥

अर्थ—कथ धातु 'कहना, बोलना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[3]।

---

१ यहां पर 'सन्वल्लघुनि०' (५३२) से सन्वद्भाव करने की कोई आवश्यकता नहीं पडती क्योंकि 'दीर्घो लघो' (५३४) सूत्र सन्वद्भाव के विषय मे ही प्रवृत्त हो जाता है उस की अपेक्षा नहीं करता अत एव भट्टोजिदीक्षित ने प्रौढमनोरमा मे लिखा है—प्रसादकृता सन्वल्लघुनीति सन्वद्भाव इत्युक्तम्। तस्य प्रकृते क उपयोग इति स एव प्रष्टव्य (पृष्ठ ६१४)।

२ अचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम्—माघ १ १६।

३ कथित, अकथित, कथा, कथन, कथक आदि शब्द इसी धातु से बनते हैं।

**व्याख्या**—चुरादिगण मे कथ आदि कुछ धातु अदन्त पढे गये हैं। इन में अन्त्य अकार चुर धातु की तरह उच्चारणार्थ नहीं अपितु धातु का अङ्ग है। अनुनासिक न होने से इस की इत्सञ्ज्ञा नही होती। कथ धातु से पूर्ववत् 'सत्यापपाश०' (६९४) से स्वार्थ में णिच् प्रत्यय कर अनुबन्धलोप करने से 'कथ+इ' इस स्थिति में णिच् आर्धधातुक के परे रहते 'अतो लोपः' (४७०) सूत्र से अत् का लोप हो जाता है—कथ्+इ। अब यहां णित् के परे होने से 'अत उपधायाः' (४५५) द्वारा उपधावृद्धि प्राप्त होती है जो अनिष्ट है। अतः इस के वारण के लिये अग्रिमसूत्र द्वारा स्थानिवद्भाव का निरूपण करते है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(६९६) अचः परस्मिन्पूर्वविधौ ।१।१।५६॥

परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत् स्यात् स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्त्तव्ये। इति स्थानिवत्त्वान्नोपधावृद्धिः—कथयति। अग्लोपित्वाद् दीर्घसन्वद्भावौ न—अचकथत्॥

**अर्थः**—पर को निमित्त मान कर हुआ अजादेश (अच् के स्थान पर आदेश) स्थानिवत् हो, यदि उस स्थानिभूत अच् से पूर्व देखे गये के स्थान पर कार्य करना हो तो।

**व्याख्या**—अचः ।६।१। परस्मिन् ।७।१। पूर्वविधौ ।७।१। स्थानिवत् इत्यव्ययपदम्। आदेशः ।१।१। ('स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' से)। 'परस्मिन्' में निमित्तसप्तमी है। पूर्वस्य विधिः, तस्मिन् पूर्वविधौ। 'अचः' का सम्बन्ध 'आदेशः' के साथ है। अर्थः—(परस्मिन्) पर को निमित्त मानकर (अचः) अच् के स्थान पर हुआ (आदेशः) आदेश (स्थानिवत्) स्थानी की तरह होता है (पूर्वविधौ) यदि स्थानी से पूर्व[1] के स्थान पर विधि अर्थात् कार्य करना हो तो। उदाहरण यथा—

'कथ्+इ' यहां पर णिच् को मान कर थकारोत्तर अकार का 'अतो लोपः' (४७०) से लोप किया गया है। यह लोप अच् के स्थान पर होने से अजादेश है। यह अजादेश (लोप) स्थानिवत् अर्थात् स्थानी अच् के तुल्य होगा, उस स्थानी अच् के आश्रय जो जो कार्य सिद्ध होते हैं वे इस लोप के होने पर भी सिद्ध हो जायेंगे। यहां हमें इस स्थानी अच् से पूर्व उपधावृद्धि का निषेधरूप कार्य करना है। इस प्रकार प्रकृतसूत्र के पूरा पूरा घट जाने पर स्थानिवद्भाव के कारण बीच में अच् के आ जाने से व्यवधान पड़ने से णित् परे नहीं रहता अतः 'अत उपधायाः' (४५५) से उपधावृद्धि नही होती, 'कथि' ही रहता है। अब इस की धातुसञ्ज्ञा होकर लँट्, तिप्, शप्, गुण और अयादेश करने पर 'कथयति' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यह स्थानिवद्भाव 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (१४४) से सिद्ध नही होता था क्योंकि वहां 'अनल्विधौ' (स्थानी जो

---

१. यहां 'पूर्व' किस से लिया जाये—स्थानी से, आदेश से या निमित्त से? यहां पर स्थानी से ही पूर्व लिया जाना निर्दुष्ट है, आदेश और निमित्त से नही; इस विषय का विस्तार आकरग्रन्थों में देखें।

अत् उस के आश्रय विधि न करनी हो तो) की गई है। यहा पुन अन्विधि मे स्थानिवद्भाव का प्रतिपादन किया गया है। इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

अवधीत्—लुंङ् लकार मे हन् धातु को 'लुङि च' (५६५) सूत्र से 'वध' यह अदन्त आदेश हो जाता है। 'अवध+इस्+ईत्' इस स्थिति मे पर आर्धधातुक को मान कर 'अतो लोप' (४७०) से वध के अन्त्य अकार का लोप होकर 'अतो हलादेर्लघो' (४५७) से वैकल्पिक वृद्धि प्राप्त होती है परन्तु प्रकृतसूत्र मे परनिमित्तक अजादेश (लोप) के स्थानिवद्भाव के कारण इडादि सिच् परे न रहने से पूर्वविधि (वृद्धि) नही होती, 'अवधीत्' सिद्ध हो जाता है।

वव्रश्च—व्रश्च् धातु से लिट् प्र० पु० के एकवचन मे द्वित्व करने पर 'व्रश्च्+व्रश्च्+अ' इस स्थिति मे 'लिटध्यास्त्योभयेषाम्' (५४६) से अभ्यास के रेफ को ऋकार सम्प्रसारण तथा 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप हो जाता है—वृश्च्+व्रश्च्+अ। 'उरत्' (४७३) सूत्र से अभ्यास के ऋकार को अत्, रपर और हलादिशेष होकर—व+वश्च्+अ। अब यहा लक्ष्यभेद से 'लिटध्यास्त्योभयेषाम्' (५४६) से वकार को भी सम्प्रसारण प्राप्त होता है, परन्तु 'उरत्' (४७३) द्वारा किये अजादेश अकार को प्रकृतसूत्र से स्थानिवत् अर्थात् ऋवर्णवत् मान कर सम्प्रसारण परे होने के कारण 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (२९१) से उसे सम्प्रसारण नही होता निषेध हो जाता है—वव्रश्च।

इस सूत्र की प्रवृत्ति मे मुख्यतया तीन बातों का ध्यान रखना चाहिये—

(१) यह सूत्र अच् के स्थान पर होने वाले आदेश को ही स्थानिवत् करता है, हलादेश को नहीं। यथा—आगत्य। यहा आङ्पूर्वक गम् धातु से परे क्त्वा को ल्यप् आदेश होकर 'वा ल्यपि' (६४३८) से अनुनासिक मकार का वैकल्पिक लोप हो जाता है—आग+य। अब यहा 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (७७७) द्वारा तुक् का आगम कर 'आगत्य' बनाने मे अनुनासिकलोप स्थानिवत् होकर बाधा उपस्थित नहीं कर सकता, क्योंकि वह हलादेश है अजादेश नहीं।

(२) उस अजादेश का परनिमित्तक होना आवश्यक है। यदि वह पर को निमित्त मान कर उत्पन्न नही हुआ तो स्थानिवत् न होगा। यथा—आदीध्ये। यह आङ्पूर्वक अदादिगण की आत्मनेपदी दीधीङ् धातु के लँट् लकार के उ० पु० का एकवचन है। यहा 'आङ्+दीधी+इट्' इस स्थिति मे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (५०८) से उ० पु० के इकार को एकार हो जाता है—आदीधी+ए। अब यहा एकार को स्थानिवत् अर्थात् इकार मान कर 'योवर्णयोर्दीधीवेव्योः' (७४५३) से धातु के ईकार का लोप नही होता, क्योंकि यह एकार अजादेश होने हुए भी पर को निमित्त मान कर उत्पन्न नहीं हुआ। अत 'एरनेकाच०' (२००) से यण् करने पर 'आदीध्ये' प्रयोग सिद्ध होता है।

(३) यदि स्थानिभूत अच् से पूर्व के स्थान पर विधि (कार्य) करनी हो तभी अजादेश स्थानिवत् होगा अन्यथा नहीं। यथा—हे गो ! । यहा गोशब्द से

सम्बुद्धि में 'गोतो णित्' (२१३) से णिद्वद्भाव के कारण ओकार के स्थान पर ओकार वृद्धि होकर सकार को रुँत्व-विसर्ग हो जाते हैं। यदि यहां ओकार के स्थान पर हुए ओकार को स्थानिवत् अर्थात् ओकार मान लें तो 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' (१३४) से सम्बुद्धि का लोप प्राप्त होगा। परन्तु सम्बुद्धि का लोप पूर्वविधि न होकर परविधि है अतः यहां स्थानिवद्भाव न होगा, इस प्रकार अभीष्ट रूप सिद्ध हो जायेगा।

नोट—यह सूत्र व्याकरण का मर्म जानने वालों के लिये बड़े महत्त्व का है। अतः इसे उपर्युक्त उदाहरणों और प्रत्युदाहरणों द्वारा अच्छी तरह हृदयङ्गम कर लेना चाहिये।

कथ धातु की रूपमाला यथा—लँट्—(परस्मै०)कथयति, कथयतः, कथयन्ति। (आत्मने०) कथयते, कथयेते, कथयन्ते। लिँट्—(परस्मै०) कथयाञ्चकार-कथयाम्बभूव, कथयामास आदि। (आत्मने०) कथयाञ्चक्रे आदि। लुँट्—(परस्मै०) कथयिता, कथयितारौ, कथयितारः। कथयितासि—। (आत्मने०) कथयिता, कथयितारौ, कथयितारः। कथयितासे—। लृँट्—(परस्मै०) कथयिष्यति। (आत्मने०) कथयिष्यते। लोँट्—(परस्मै०) कथयतु-कथयतात्, कथयताम्, कथयन्तु। (आत्मने०) कथयताम्, कथयेताम्, कथयन्ताम्। लँङ्—(परस्मै०) अकथयत्। (आत्मने०) अकथयत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) कथयेत्। (आत्मने०) कथयेत। आ० लिँङ्—(परस्मै०) कथ्यात् (अतो लोपः ४७०)। (आत्मने०) कथयिषीष्ट। लुँङ्—यहां 'णि' को मान कर अक्-अकार का लोप हो चुका है अतः सन्वद्भाव न होने से 'सन्यतः' (५३३) से इत्व और 'दीर्घो लघोः' (५३४) से दीर्घ नहीं होता। (परस्मै०) अचकथत्, अचकथताम्, अचकथन्। (आत्मने०) अचकथत, अचकथेताम्, अचकथन्त। लृँङ्—(परस्मै०) अकथयिष्यत्। (आत्मने०) अकथयिष्यत।

नोट—चुरादिगण में धातुओं को अदन्त करने के दो फल ध्यान में रखने चाहियें—(१) गुण वृद्धि का निषेध[1], (२) अन्लोपी हो जाने से सन्वद्भाव का न होना।

[लघु०] गण संख्याने ॥३॥ गणयति ॥

अर्थः—गण धातु 'गिनना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2]।

---

१. गुणनिषेध का उदाहरण—(स्पृह) स्पृहयति। यहां अकारलोप को स्थानिवत् मान लेने से लघूपधगुण नहीं होता। वृद्धिनिषेध के उदाहरण—कथयति, गणयति आदि मूल में ही दिये गये हैं।

२. इस धातु का 'जानना, मानना, समझना, परवाह करना' आदि अर्थों में भी खूब प्रयोग होता है। यथा—

(१) अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्—पञ्च०।

(२) न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम्—नीति० ८।

(३) मनस्वी कार्यार्थी न च गणयति दुःखं न च सुखम्—नीति० ७३।

व्याख्या—यह धातु भी 'कथ' धातु की तरह अदन्त है। स्वार्थ में णिच् करने पर 'अतो लोप' (४७०) से इस के अन्त्य अकार का लोप हो जाता है—गण्+इ। अब यहा 'अत उपधाया' (४५५) से उपधावृद्धि प्राप्त होती है परन्तु 'अच परस्मिन् पूर्वविधौ' (६९६) सूत्र द्वारा अल्लोप के स्थानिवद्भाव के कारण णित् परे न रहने से वह नहीं होती। इस प्रकार 'गणि' की 'सनाद्यन्ता धातव' (४६८) से धातुसञ्ज्ञा होकर 'कथि' धातु की तरह प्राय रूप चलते हैं।

लँट्-(परस्मै०) गणयति, गणयत, गणयन्ति। (आत्मने०) गणयते, गणयेते, गणयन्ते। लिट्-(परस्मै०) गणयाञ्चकार, गणयाम्बभूव, गणयामास। (आत्मने०) गणयाञ्चक्रे आदि। लुँट्-(परस्मै०) गणयिता, गणयितारौ, गणयितार'। गणयितासि-। (आत्मने०) गणयिता, गणयितारौ, गणयितार। गणयितासे। लृँट्-(परस्मै०) गणयिष्यति। (आत्मने०) गणयिष्यते। लोँट्-(परस्मै०) गणयतु-गणयतात्, गणयताम्, गणयन्तु। (आत्मने०) अगणयत्। (आत्मने०) गणयताम्, गणयेताम्, गणयन्ताम्। लँङ्-(परस्मै०)अगणयत्। (आत्मने०) अगणयत। वि० लिँङ्-(परस्मै०) गणयेत्। (आत्मने०) गणयेत। आ० लिँङ्-(परस्मै०) गण्यात्। (आत्मने०) गणयिषीष्ट।

लुँङ्—मे च्लि, चङ्, णिलोप, द्वित्व तथा अभ्यास को चुत्व होकर 'अजगण्+अ+त्' इस स्थिति मे अल्लोपी होने के कारण 'सन्वल्लघुनि०' (५३२) से सन्वद्भाव नहीं हो पाता, इस से इत्वादि नहीं हो सकते। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६९७) ई च गण ।७।३।९७॥

गणयतेरभ्यासस्य ईत् स्याच्चङ्परे णौ, चाद् अत्। अजीगणत्-अजगणत्॥

अर्थ —चङ्परक णि के परे होने पर गणधातु के अभ्यास को ईकार आदेश हो, 'च' के ग्रहण से अत् आदेश भी हो जायेगा।

व्याख्या—ई ।१।१। (लुप्तविभक्तिको निर्देश)। च इत्यव्ययपदम्। गण । ६।१। अभ्यासस्य ।६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। चङ्परे ।७।१। ('सन्वल्लघुनि चङ्परे०' से)। चङ्परो यस्माद् असौ चङ्परस्तस्मिन् चङ्परे। यहा बहु० समास में अन्यपदार्थ 'णि' ही सम्भव है अत 'णौ' का अध्याहार किया जाता है। इस सूत्र से पीछे अष्टाध्यायी में 'अस्मृदृत्वर०' (८।४।९५) सूत्र मे अभ्यास को अत् आदेश करने का विधान चल रहा था अब ईत्व का विधान कर रहे हैं। चकार के ग्रहण से पक्ष म अत् भी हो जायेगा। अर्थ —(चङ्परे णौ) चङ् जिस से परे है ऐसे 'णि'

---

(४) तां भक्तिमेवागणयन् पुरस्तात्—रघु० ५।२०।

(५) प्रणयमगणयित्वा यन्ममापद्गतस्य—विक्रमो० ४।४३।

गणित, गणना, गण, गणक (ज्योतिर्विद्) आदि शब्द इसी धातु से निष्पन्न होते हैं।

के परे होने पर (गणः) गण धातु के (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (ई) ईकार आदेश (च) भी हो जाता है। पक्ष मे अत् भी हो जायेगा। अलोऽन्त्यपरिभाषा से ये दोनों आदेश अभ्यास के अन्त्य अकार के स्थान पर होंगे।

'अजगण्+अ+त्' यहां पर स्थानिवद्भाव से चङ्परक णि परे विद्यमान है अतः अभ्यास 'ज' के अन्त्य अकार को ईकार तथा पक्ष में अकार करने पर 'अजीगणत्-अजगणत्' दो रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार आत्मने० मे भी दो-दो रूप समझ लेने चाहियें। रूपमाला यथा—(परस्मै०) ईत्वपक्षे—अजीगणत्, अजीगणताम्, अजीगणन्। अत्वपक्षे—अजगणत्, अजगणताम्, अजगणन्। (आत्मने०) ईत्वपक्षे—अजीगणत, अजीगणेताम्, अजीगणन्त। अत्वपक्षे—अजगणत, अजगणेताम्, अजगणन्त।

लुँङ्—(परस्मै०) अगणयिष्यत्। (आत्मने०) अगणयिष्यत।

उपसर्गयोग—वि√गण=जानना (अदूरवर्त्तिनीं सिद्धिं राजन् विगणयात्मनः—रघु० १.८७; किमपि विगणयन्तो बुद्धिमन्तः सहन्ते—पञ्च० ३.४१)। अव√गण=अपमान करना, तिरस्कार करना, परवाह न करना (अस्त्रवेदविदयं महीपतिः पर्वतीय इति माऽवजीगणः—किरात० १३.६७)।

लघुकौमुदी के चुरादिगण मे उपर्युक्त तीन धातु ही दिये गये है जो स्पष्टतः विद्यार्थियों की ज्ञानवृद्धि के लिये अपर्याप्त है। हम अनुवादादि के उपयोगार्थ इस गण की कुछ अन्य धातुओं का सार्थ संग्रह प्रस्तुत कर रहे हैं। इन की रूपमाला भी उपर्युक्तप्रकारेण समझनी चाहिये। प्रत्येक धातु के साथ लँट् और लुंङ् का रूप दे रहे है, शेष रूप स्वयं सरलता से समझ में आ सकते हैं—

(१) भक्ष अदने (खाना)। लँट्—भक्षयति-ते[1]। लुंङ्—अबभक्षत्-त।
(२) तड आघाते (पीटना)। ताडयति-ते। अतीतडत्-त।
(३) तुल उन्माने (तोलना)। तोलयति-ते। अतूतुलत्-त।
(४) पूज पूजायाम् (पूजा करना)। पूजयति-ते। अपूपुजत्-त।
(५) श्रण दाने (प्रायेण विपूर्वः, देना)। विश्राणयति-ते। व्यशिश्रणत्-त।
(६) लुण्ठ स्तेये (चुराना-लूटना)। लुण्ठयति-ते। अलुलुण्ठत्-त।
(७) मडिं भूषायाम् (सजाना)। मण्डयति-ते। अममण्डत् त।
(८) क्षल शौचकर्मणि (धोना)। क्षालयति-ते। अचिक्षलत्-त।
(९) पीड अवगाहने (पीड़ित करना, निचोड़ना)। पीडयति-ते। अपिपीडत्-त[2]।
(१०) चिंतिं स्मृत्याम् (चिन्तन करना)। चिन्तयति-ते। अचिचिन्तत्-त।
(११) यत्रि सङ्कोचने (रोकना, नियन्त्रित करना)। यन्त्रयति-ते। अययन्त्रत्-त।
(१२) सान्त्व सामप्रयोगे (शान्त करना, सान्त्वना देना)। सान्त्वयति-ते। असिसान्त्वत्-त।

---

१. 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' (१.३.८७) से आत्मनेपद वर्जित है।

२. 'आजभास०' (७.४.३) इत्युपधाह्रस्वविकल्पः। तेन ह्रस्वपक्षे 'अपीपिडत्-त' इत्यपि बोध्यम्।

(१३) पचिँ विस्तारवचने (विस्तार से कहना)। प्रपञ्चयति-ते। प्रापपञ्चत्-त।
(१४) पाल रक्षणे (पालन करना)। पालयति-ते। अपीपलत्-त।
(१५) मार्ग अन्वेषणे (ढूंढना)। मार्गयति-ते। अममार्गत्-त।
(१६) गर्ह निन्दायाम् (निन्दा करना)। गर्हयति-ते। अजगर्हत्-त।
(१७) वृजीँ वर्जने (छोड़ना)। वर्जयति-वर्जयते। अवीवृजत्-त, अववर्जत्-त[1]।
(१८) लक्ष दर्शनाङ्कनयो (देखना, चिह्नित करना)। लक्षयति-ते। अललक्षत्-त।
(१९) प्रीञ् तर्पणे (प्रसन्न करना)। प्रीणयति-ते[2]। अपिप्रिणत्-त।
(२०) चर संशये (विपूर्व, विचार करना)। विचारयति-ते। व्यचीचरत्-त।
(२१) वच परिभाषणे (वाचना)। वाचयति-ते। अवीवचत्-त।
(२२) मान पूजायाम् (सम्मान करना)। मानयति-ते। अमीमनत्-त।
(२३) चर्च अध्ययने (चर्चा करना)। चर्चयति-ते। अचचर्चत्-त।
(२४) रच प्रतियत्ने (रचना, बनाना)। रचयति-ते। अररचत्-त।
(२५) स्पृह ईप्सायाम् (चाहना)। स्पृहयति-ते। अपस्पृहत्-त।
(२६) सूच पैशुन्ये (सूचित करना)। सूचयति-ते। असूसूचत्-त।
(२७) गवेष मार्गणे (ढूंढना)। गवेषयति-ते। अजगवेषत् त।
(२८) दण्ड दण्डनिपातने (दण्ड देना, जुर्माना करना)। दण्डयति-ते। अददण्डत्-त।
(२९) शील उपधारणे (अभ्यास करना)। शीलयति-ते। अशिशीलत्-त।
(३०) वर्ण वर्णक्रियाविस्तारगुणवचनेषु (वर्णन करना आदि)। वर्णयति-ते। अववर्णत्-त।

## अभ्यास (१६)

(१) क्या कारण है कि चुरादिगण में कोई धातु अनिट् नहीं?
(२) चुरादिगण में कथ आदि धातुओं को अदन्त करने का क्या प्रयोजन है?, लुंङ् और लँट् को दृष्टि में रखते हुए विवेचन करें।
(३) चुरादिगण की पदव्यवस्था पर एक नोट लिखें।
(४) चुरादिगण में णिच् के आने पर भी शप् कैसे हो जाता है? श्यन् आदि में ऐसा क्यों नहीं होता?
(५) 'अच परस्मिन्पूर्वविधौ' की सोदाहरण व्याख्या करते हुए निम्न प्रश्नों का उत्तर दीजिये—
(क) अजादेश को ही स्थानिवत् क्यों किया गया है?
(ख) पूर्वविधि में ही स्थानिवत् क्यों हो?
(ग) परनिमित्तक कौन होना चाहिये, आदेश या विधि?

---

१ 'उश्चः' (७।४।७) उपधाया ऋवर्णस्य स्थाने ऋदा षड्परे णौ।
२ 'भूक्रोशोर्नुग्वक्तव्य' (वा०)।

(६) यदि 'ई च गणः' न होता तो गण धातु का लुँङ् में क्या रूप बनता ?

(७) 'सन्वल्लघुनि०' सूत्र की प्रवृत्ति के बिना 'अचूचुरत्' में 'दीर्घो लघोः' सूत्र प्रवृत्त होता है—इस कथन को स्पष्ट करें।

(८) निम्न रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
अजीगणत्, अचूचुरत्, अचकथत्, चोरयाम्बभूव, कथयति, चोर्यात्, चोरयिता।

(९) 'चोर्यात्' में 'णि' का लोप हो जाने पर लघूपधगुण का अपाय क्यों नहीं होता ?

(१०) 'सत्याप-पाश०' सूत्र में प्रातिपदिकों का ग्रहण क्यों किया गया है? स्पष्ट करें।

## इति तिङन्ते चुरादयः

(यहां पर चुरादिगण का धातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

इति भैमीव्याख्ययोपेतायां
लघु-सिद्धान्त-कौमुद्यां
दशगणी पूर्तिम्
अगात् ॥



❀ विद्वज्जनों से सानुरोध निवेदन ❀

धात्वर्थसम्बन्धी विवेचन के लिये वैयाकरण-भूषण-सार (धात्वर्थप्रकरण) पर इसी ग्रन्थ के लेखक का भैमीभाष्य अवश्य पढ़ें। यह ग्रन्थ मुद्रित हो चुका है। इस में अभिनव वैज्ञानिक रीति का अवलम्बन करते हुए हिन्दी भाषा के माध्यम द्वारा धात्वर्थप्रकरण को स्पष्ट किया गया है॥

# अथ ण्यन्तप्रक्रिया (Causals)

अब तिङन्तप्रकरण मे णिजन्त (सक्षिप्त नाम—ण्यन्त) प्रक्रिया का प्रारम्भ करते हैं। इस प्रक्रिया में पूर्वोक्त दशगणीय धातुओं से प्रेरणा (कराना) अर्थ मे णिच् प्रत्यय किया जाता है। जैसे हिन्दी में पढने से पढ़ाना, लिखने से लिखाना, खाने से खिलाना, देखने से दिखाना, पीने से पिलाना, जाने से भेजना आदि क्रियाएँ बनती हैं वैसे इस प्रकरण मे संस्कृत धातुओं से णिच् प्रत्यय का विधान कर प्रेरणावाचक नई धातु बना ली जाती है। यथा—पठ् धातु का अर्थ है पढना, परन्तु णिच् प्रत्यय करने पर (पठ्+णिच्=पाठि) इस का अर्थ 'पढाना' हो जाता है। अब सर्वप्रथम एतत्प्रकरणोपयोगी हेतुसञ्ज्ञा को समझाने के लिये कर्तृसञ्ज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(६९८) स्वतन्त्र कर्ता ।१।४।५४॥

क्रियाया स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात् ॥

अर्थ—क्रिया की सिद्धि में स्वतन्त्रतया=मुख्यतया विवक्षित (कहा जाने वाला) कारक कर्तृसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—स्वतन्त्र ।१।१। कर्ता ।१।१। पीछे अष्टाध्यायी मे 'कारके' का अधिकार चलाया जा चुका है। क्रियाजनकत्व कारकत्वम्—क्रिया के जनक को कारक कहते हैं। इस प्रकार 'क्रियायाम्' पद उपलब्ध हो जाता है। 'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति'—कारक वक्ता की इच्छा के अधीन हुआ करते हैं, इस से 'विवक्षितोऽर्थः' उपलब्ध हो जाता है। अर्थ—(क्रियायाम्) क्रिया की सिद्धि मे (स्वतन्त्र) स्वतन्त्र-रूपेण (विवक्षितोऽर्थः) कहा जाने वाला कारक (कर्ता) कर्तृसञ्ज्ञक होता है।

क्रिया की सिद्धि (निष्पत्ति) मे जो जो साधक-जनक निमित्त होते हैं उन को कारक कहते हैं। कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण आदि क्रिया के साधक होने से कारक कहाते हैं। परन्तु इन सब कारको (क्रियानिष्पादको) में जो कारक स्वतन्त्रतया-मुख्यतया-प्रधानतया-अगौणतया विवक्षित (वक्ता को अभीष्ट) होता है उस की प्रकृतसूत्र से कर्तृसञ्ज्ञा की जाती है। तात्पर्य यह है कि जैसे अन्य कारक कर्त्ता से प्रेरित होकर क्रिया का निष्पादन करते हैं वैसे कर्ता अन्य कारकों से प्रेरित होकर क्रिया का निष्पादन नही करता अपितु स्वतन्त्रतया क्रिया का जनक होता है। कर्ता के स्वातन्त्र्य पर भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में अत्यन्त सुन्दर कहा है—

प्राप्तशक्तिलाभा यभावापादनादपि ।
तदधीनप्रवृत्तित्वात् प्रयुक्तानां नियर्त्तनात् ॥ (३७१०१)
अदृष्टत्वात् प्रतिनिधे .प्रविवेकेऽपि दर्शनात् ।
प्रारादप्युपकारित्वात् स्वातन्त्र्यं कर्तुरिष्यते ॥ (३७१०२)

अर्थात् अन्य कारक तो कर्त्ता से युक्त होकर क्रिया की सिद्धि मे करणादिशक्ति को प्राप्त करते है परन्तु कर्ता पहले ही उन की अपेक्षा किये विना स्वतन्त्ररूपेण

क्रिया का जनक होता है। अन्य कारकों की प्रवृत्ति वा निवृत्ति कर्त्ता के अधीन होती है परन्तु कर्ता स्वतन्त्र होता है। अन्य कारकों का प्रतिनिधि हो सकता है किन्तु कर्ता का नहीं। अन्य कारकों के न होने पर कर्ता की प्रवृत्ति देखी जाती है (यथा—देवदत्त आस्ते, देवदत्तः शेते आदि) परन्तु कर्ता के अभाव में करणादि की नहीं—इन सब कारणों से कर्ता को 'स्वतन्त्र' कहा जाता है।

**'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति'** अर्थात् कारक वक्ता की इच्छा के अधीन होते हैं। अतः पचनक्रिया में जब देवदत्त की स्वतन्त्रता-प्रधानता विवक्षित होगी तो 'देवदत्तः पचति' में देवदत्त की, स्थाली की स्वतन्त्रता विवक्षित होगी तो 'स्थाली पचति' में स्थाली की कर्तृसञ्ज्ञा हो जायेगी। इसी प्रकार काष्ठ आदियों की प्रधानता विवक्षित होने पर 'काष्ठानि पचन्ति, अग्निः पचति' आदि में काष्ठ आदियों की कर्तृसञ्ज्ञा हो जाती है।

अन्य वैयाकरण क्रिया में स्वातन्त्र्य का अभिप्राय धातु के अर्थ फलानुकूल व्यापार का आश्रय होना मानते हैं। धात्वर्थ व्यापार अनेक व्यापारों का समूह होता है। वक्ता को जिस व्यापार की प्रधानता कहनी अभीष्ट होती है उस व्यापार के आश्रय की कर्तृसञ्ज्ञा हो जाती है। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—**धातूपात्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते**[1]। देवदत्तः पचति, स्थाली पचति, काष्ठानि पचन्ति, अग्निः पचति आदि में तत्तद्व्यापार के भेद से ही कर्तृसञ्ज्ञा का भेद हुआ है।

कर्तृसञ्ज्ञा के कारण 'रामेण बाणेन हतो वाली' आदि में **'कर्तृकरणयोस्तृतीया'** (८६५) द्वारा अनभिहित कर्ता (राम) में तृतीया विभक्ति हो जाती है। प्रकृत में कर्तृसञ्ज्ञा का उपयोग अग्रिमसूत्र द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(६९९) **तत्प्रयोजको हेतुश्च** ।१।४।५५॥

कर्तुः प्रयोजको हेतुसञ्ज्ञः कर्तृसञ्ज्ञश्च स्यात् ॥

**अर्थः**—कर्ता का प्रेरक, हेतु और कर्तृ दोनों सञ्ज्ञक होता है।

**व्याख्या**—तत्प्रयोजकः ।१।१। हेतुः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। कर्ता ।१।१। ('स्वतन्त्रः कर्त्ता' से)। तस्य=कर्तुः प्रयोजकः, तत्प्रयोजकः। षष्ठीतत्पुरुषः[2]। अर्थः—(तत्प्रयोजकः) उस कर्त्ता का प्रेरक (हेतुः) हेतुसञ्ज्ञक (च) तथा (कर्ता) कर्तृसञ्ज्ञक दोनों होता है।

प्रेरणा दे कर किसी से कार्य करवाने वाले को प्रयोजक और प्रेरित होकर

---

१. यह श्लोकार्ध **शब्दकौस्तुभ** (१.३.३) में **भर्तृहरि** के नाम से उद्धृत है। परन्तु वर्तमान **वाक्यपदीय** में उपलब्ध नहीं। **कुमारिलभट्ट** की **मीमांसाश्लोकवार्तिक** (वाक्याधिकरण—श्लोक ७१) में यह अंश उपलब्ध है (देखें चौखम्बा संस्करण पृष्ठ—८६५)।

२. यद्यपि **'तृजकाभ्यां कर्तरि'** (२.२.१५) से षष्ठीसमास का निषेध प्राप्त है, तथापि यहां कृत्यष्ठी न मानकर शेषषष्ठी मानने से उस का निर्वाह करना चाहिये।

कार्य करने वाले को प्रयोज्य कहते हैं। यथा—यज्ञदत्तो देवदत्तेन ओदनं पाचयति (यज्ञदत्त देवदत्त के द्वारा भात पकवाता है) यहां प्रेरणा देने वाला यज्ञदत्त प्रयोजक तथा प्रेरित होने वाला देवदत्त प्रयोज्य है। प्रयोजक (प्रेरणा देने वाले) की इस सूत्र से हेतु और कर्ता दो संज्ञाएं की गई हैं। हेतु संज्ञा के कारण 'हेतुमति च' (७००) सूत्र से प्रयोजक के व्यापार में णिच्प्रत्यय सिद्ध हो जाता है तथा कर्तृसंज्ञा होने से 'स कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः' (३७३) द्वारा कर्त्ता में लॅट् आदि हो जाते हैं।

ध्यान रहे कि प्रयोजक (प्रेरणा देने वाला) यद्यपि चेतन ही हो सकता है क्योंकि उस में ही प्रेरणा देने का सामर्थ्य सम्भव है तथापि औपचारिक रीति से यहां अचेतन को भी प्रयोजक मान लिया जाता है। यथा—भिक्षा वासयन्ति(भिक्षा निवास करवा रही हैं[1]), कारीषोऽग्निरध्यापयति (कण्डों की अग्नि पढ़ाती है[2]) आदि।

प्रश्न—'यज्ञदत्तो देवदत्तेन ओदनं पाचयति' इत्यादि वाक्यों में प्रयोजक (प्रेरक) होने से यज्ञदत्त की हेतु और कर्तृसंज्ञा तो ठीक है परन्तु प्रयोजक से प्रेरित होने के कारण देवदत्त का स्वातन्त्र्य जाता रहेगा क्योंकि वह अपनी इच्छा से नहीं वरन् प्रयोजक की इच्छा से काम कर रहा होगा, कई बार वह भय या डर से भी कार्य करता होगा तो ऐसी अवस्था में 'स्वतन्त्र कर्त्ता' (६९८) से उसकी कर्तृसंज्ञा न होगी। इस से 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (८९५) द्वारा उस में तृतीया विभक्ति न हो सकेगी।

उत्तर—प्रयोजक से प्रेरणा पाकर भी प्रयोज्य कार्य करे या न करे यह उस की इच्छा पर निर्भर है जब वह कार्य करने लगता है तभी 'पाचयति' आदि णिजन्तों का प्रयोग किया जाता है। इसीलिये तो 'पचन्तं प्रेरयति—पाचयति, कुर्वन्तं प्रेरयति—कारयति' इस प्रकार णिजन्तों का विग्रह किया जाता है। अतः प्रयोज्य की प्रवृत्ति पहले होने से उस का स्वातन्त्र्य अक्षुण्ण रहता है इस से उस की कर्तृसंज्ञा करने में कोई दोष नहीं आता।

नोट—यह सूत्र अष्टाध्यायी में 'आकडारादेका संज्ञा' (१।४।१) के अधिकार में पढ़ा गया है। इस अधिकार में एक की एक ही संज्ञा हुआ करती है। परन्तु यहां चकार के बल से दो संज्ञाओं का समावेश सिद्ध हो जाता है।

अब अग्रिमसूत्र में हेतुसंज्ञा का फल दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७००) हेतुमति च ।३।१।२६॥

प्रयोजकव्यापारे—प्रेषणादौ वाच्ये धातोर्णिच् स्यात्। भवन्तं प्रेरयति—भावयति॥

अर्थ—प्रयोजक के व्यापार प्रेषण आदि के वाच्य होने पर धातु से णिच् प्रत्यय होता है।

---

१ भिक्षा हि प्रचुरव्यञ्जनवत्यो लभ्यमाना रसानुकूल तृप्तिविशेषमुपजनयन्त्यो वासहेतव इत्यर्थः।

२ कारीषोऽग्निर्निर्वातप्रदेशेषु सुप्रज्वलितोऽध्ययनविरोधिनं शीतादिकृतमुपद्रव-

व्याख्या—हेतुमति ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । धातोः ।५।१। (धातोरेकाचो हलादेः०' से)।णिच् ।१।१। ('सत्यापपाश०' से)। 'प्रत्ययः' और 'परश्च' दोनों अधिकृत हैं। हेतुः—हेतुसञ्ज्ञोऽस्त्यस्येति हेतुमान्, तस्मिन् हेतुमति। हेतुमत् शब्द से यहाँ व्याख्यानद्वारा हेतु का व्यापार (प्रेरणा) ही अभिप्रेत है, अन्य नहीं। अर्थः—(हेतुमति) हेतु अर्थात् प्रयोजक के व्यापार के वाच्य होने पर (धातोः) धातु से (परः)परे (णिच्) णिच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है।

हेतु अर्थात् प्रयोजक का व्यापार होता है—प्रेरणा देना। वह अपनी प्रेरणा द्वारा प्रयोज्य से कार्य करवाता है[1]। इस प्रेरणा अर्थ में किसी भी धातु से णिच् प्रत्यय आकर चुरादिगणवत् प्रक्रिया चलने लगती है। उदाहरणार्थ भू धातु से प्रेरणा अर्थ में णिच् प्रत्यय होकर णकार-चकार अनुबन्धों का लोप तथा णिच् को निमित्त मान कर 'अचो ञ्णिति' (७।२) से अजन्तलक्षणा वृद्धि करने से 'भावि' बन जाता है। भूधातु का अर्थ था—होना। णिच् के आ जाने से 'भावि' का अर्थ हो गया है—हुवाना। अब 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) से 'भावि' की धातु सञ्ज्ञा होकर लँट् आदियों की उत्पत्ति होती है। कर्तृविवक्षा में लँट्, प्र० पु० के एकवचन की विवक्षा में तिप्, शप्, गुण और अयादेश करने पर 'भावयति' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—भावयति, भावयतः, भावयन्ति। क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर 'णिचश्च' (६६५) सूत्र द्वारा आत्मनेपद का भी प्रयोग होता है—भावयते, भावयेते, भावयन्ते। णिजन्त का विग्रह 'भवन्तं[2] प्रेरयति इति भावयति' इस प्रकार किया जाता है।

लिँट्—(परस्मै०) भावयाञ्चकार[3]-भावयाम्बभूव-भावयामास आदि। (आत्मने०) भावयाञ्चक्रे आदि। लुँट्—(परस्मै०) भावयिता, भावयितारौ, नुपणमयन् अध्ययनानुकूलं सामर्थ्यमादधातीत्यर्थः।

१. प्रेरणा के मुख्यतया प्रेषण, अध्येषण, अनुमति, उपदेश और अनुग्रह ये पाञ्च भेद माने गये हैं। सेवक आदि छोटे को प्रेरित करना 'प्रेषण' कहाता है। गुरु आदि बड़ों को या समानवयस्क मित्र आदि को प्रेरित करना 'अध्येषण' कहलाता है। जब अनुमति से कोई कार्य हो तो वहां अनुमतिरूपा प्रेरणा होती है। जैसे राजा की अनुमतिरूप प्रेरणा से याग आदि होते हैं। 'ज्वर ग्रस्त को क्वाथ पीना चाहिये' इत्यादिप्रकारेण वैद्यवचन आदि उपदेशरूपा प्रेरणा कहलाते हैं। किसी की सहायता रूपी प्रेरणा का नाम अनुग्रहरूपा प्रेरणा है। जैसे किसी घातक के भय से भागते हुए पुरुष को पकड़ कर उसे घातक द्वारा मरवा देना आदि। मूल वृत्ति में 'प्रेषणादौ' पद में आदि शब्द से इन अध्येषण आदियों का संग्रह समझना चाहिये।

२. यहां पर 'भवन्तम्' का अर्थ 'आप को' नहीं है अपितु 'होते हुए को' इस प्रकार जानना चाहिये।

३. 'भावि' के अनेकाच् होने से आम् प्रत्यय हो जाता है (वा० ३४)। आम् अनिटादि आर्धधातुक है, इस से णिलोप(५२६)का बाधकर 'आमन्तात्वाय्येत्निवण्णुषु' (५२६) से णि को अय् हो जाता है।

भावयितार । भावयितासि—[1]। (आत्मने०) भावयिता, भावयितारौ, भावयितार । भावयितासे—। लृट्—(परस्मै०) भावयिष्यति । (आत्मने०) भावयिष्यते । लोट्—(परस्मै०) भावयतु-भावयतात् । (आत्मने०) भावयताम् । लङ्—(परस्मै०) अभावयत् । (आत्मने०) अभावयत । वि० लिङ्—(परस्मै०) भावयेत् । (आत्मने०) भावयेत । आ० लिङ्—(परस्मै०) भाव्यात्[2] । (आत्मने०) भावयिषीष्ट ।

लुङ्—(परस्मै०) भू धातु से प्रेरणा अर्थ में णिच् करने पर 'भू+इ' इस स्थिति में 'णिच्यच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये' (द्वित्व करना हो तो णिच् को मान कर अच् के स्थान पर आदेश नहीं करना चाहिये) इस परिभाषा से सर्वप्रथम द्वित्व करने तक अजन्तलक्षणा वृद्धि (१८२) का निषेध हो जाता है। अब धातुसंज्ञा होकर लुङ् प्र० पु० के एकवचन की विवक्षा में तिप्, च्लि, चङ् (५२८) और द्वित्वादि करने से—'अबु+भू+इ+अ+त्' हुआ। अब अभ्यास से उत्तर 'भू' को वृद्धि और आवादेश होकर—अबु+भाव्+इ+अ+त्। 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (५३०) से उपधा को ह्रस्व तथा 'णेरनिटि' (५२९) से णि का लोप करने पर—अबु+भव्+अ+त्। अब यहा 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' (५३२) द्वारा सन्वद्भाव होकर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७०१) ओ पुयण्ज्यपरे ।७।४।८०॥

सनि परे यदङ्ग तदवयवाभ्यासस्योकारस्य इत् स्यात् पवर्ग-यण्-जकारेषु अवर्णपरेषु परत । अबीभवत् ॥

अर्थ—सन् परे होने पर जो अङ्ग, उस के अवयव अभ्यास के उकार के स्थान पर इकार आदेश हो जाता है यदि पवर्ग यण् जकार में से कोई परे हो और इन से परे भी अकार हो।

व्याख्या—ओ ।६।१। (यह 'उ' शब्द के षष्ठी का एकवचन है)। पु-यण्-जि । ७।१। अपरे ।७।१। अभ्यासस्य ।६।१।('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। इत् ।१।१।('भूसुवोस्तिङि' से)। सनि ।७।१। ('सन्यत' से)। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। पुश्च (पवर्गश्च) यण् च ज् च एषां समाहारः, तस्मिन्=पु-यण्-जि। अ (अकार) परो यस्मात् तस्मिन्=अपरे। 'अपरे' यह 'पु यण् जि' का विशेषण है। अर्थ—(सनि) सन् परे होने पर (अङ्गस्य) जो अङ्ग, उस के अवयव (अभ्यासस्य) अभ्यास के (ओ) उकार के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार आदेश हो जाता है (अपरे पुयण्जि) यदि अकार-परक पवर्ग यण्-जकार परे हो तो।

'अबु+भव्+अ+त्' यहा सन्वद्भाव के कारण सन् परे है, इस के परे रहते अङ्ग है—अबुभव्। इस अङ्ग के अभ्यास 'बु' के उकार के स्थान पर इकार हो जाता है क्योंकि इस से परे भव् का भकार अकारपरक पवर्ग है—अबि+भव्+

---

१ इडादि में गुण और अयादि सन्धि होती है।

२ 'णेरनिटि' (५२९) से णिलोप हो जाता है।

अ+तृ। अब अन्त में 'दीर्घो लघोः' (५३४) से अभ्यास के लघु को दीर्घ करने पर 'अबीभवत्' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। रूपमाला यथा—अबीभवत्, अबीभवताम्, अबीभवन्। अबीभवः, अबीभवतम्, अबीभवत। अबीभवम्, अबीभवाव, अबीभवाम। इसी प्रकार आत्मने० में—अबीभवत, अबीभवेताम्, अबीभवन्त आदि।

तुंड्—(परस्मै०) अभाविषयत्। (आत्मने०) अभाविषयत।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा— (लूञ् छेदने) अलीलवत्। (पूञ् पवने) अपीपवत्।(यु मिश्रणामिश्रणयोः) अयीयवत्। (रु शब्दे) अरीरवत्। अवर्ण-परक न होने से 'बुभूषति' आदि में इत्त्व नहीं होता। 'पुयण्जि' कहने से 'अनूनवत्' आदि में इत्त्व नहीं होता।

प्रश्न—'णिश्च लादेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये' इस परिभाषा को मानने की आवश्यकता ही क्या है? 'भू+इ' में वृद्धि और आव् आदेश कर 'भावि' बना लेने पर तुंड् में चङ्, द्वित्व, उपधाह्रस्व आदि होकर सन्वद्भाव में 'सन्यतः' (५३३) से इत्त्व और 'दीर्घो लघोः' (५३४) से दीर्घ करने से 'अबीभवत्' रूप सुतरां बन जाता है; 'ओः पुयण्ज्यपरे' (७०१) सूत्र के आश्रय की तनिक भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

उत्तर—यदि 'णिश्च लादेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये' परिभाषा न होती तो 'तु' धातु का 'अतूतवत्' तथा 'नु धातु का 'अनूनवत्' आदि न बन सकता। तब 'अतीतवत्, अनीनवत्' इस प्रकार अनिष्ट रूप बनते अतः यह परिभाषा परमावश्यक है। इस प्रकार इस परिभाषा के प्रकाश में मनमाने ढंग से 'अबीभवत्' की सिद्धि नहीं हो सकती थी।

नोट—ध्यान रहे कि णिजन्त धातुओं के दो कर्त्ता होते हैं प्रयोजक और प्रयोज्य। णकार द्वारा प्रयोजक कर्त्ता कहा जाता है अतः उस में प्रथमा विभक्ति होती है। दूसरा प्रयोज्य कर्त्ता णकार द्वारा अनुक्त रहता है, उसमें 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (८६५) से तृतीया विभक्ति हुआ करती है। यथा—देवदत्त ओदनं पचति, तं यज्ञदत्तः प्रेरयति—यज्ञदत्तो देवदत्तेन ओदनं पाचयति। यहां यज्ञदत्त प्रयोजक कर्त्ता और देवदत्त प्रयोज्य कर्त्ता है। परन्तु यदि मूलधातु गत्यर्थक, ज्ञानार्थक, भक्षणार्थक, शब्दकर्मक या अकर्मक हो तो णिजन्तावस्था में प्रयोज्यकर्त्ता में तृतीया न होकर द्वितीया विभक्ति आया करती है ('गतिबुद्धिप्रत्यवसान०' १.४.५२)। यथा—(गत्यर्थक) देवदत्तो ग्रामं

---

१. यदि 'नौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (५३०) द्वारा किये गये परनिमित्तक उपधाह्रस्व को 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' (६६६) से स्थानिवत् मान लें तो लघुपरक न होने से सन्वद्भाव न होगा। जब सन्वद्भाव ही न होगा तो पुनः 'ओः पुयण्ज्यपरे' (७०१) सूत्र द्वारा इत्त्व कैसा? इस का समाधान यह है कि यदि ऐसा करने लगें तो 'ओः पुयण्ज्यपरे' (७०१) सूत्र को कहीं अवकाश ही न मिल सके और वह व्यर्थ हो जावे। अतः इस सूत्र के निर्माणसामर्थ्य से ऐसे स्थानों पर स्थानिवत् नहीं होता—यही समझना चाहिये।

गच्छति, त यज्ञदत्त प्रेरयति—यज्ञदत्तो देवदत्त ग्राम गमयति। (ज्ञानार्थक) ज्ञात्वा वेदार्थं विदन्ति, तान् गुरु प्रेरयति—गुरु ज्ञात्वान् वेदार्थं वेदयति। (भक्षणार्थक) बालो भोजनम् अश्नाति, त माता प्रेरयति—माता बाल भोजनम् आशयति। (शब्द-कर्मक) शिष्यो वेदम् अधीते, त गुरु प्रेरयति—गुरु शिष्य वेदम् अध्यापयति। (अकर्मक) शिशु शेते, त माता प्रेरयति—माता शिशु शाययति। इसमें कुछ अपवाद भी हैं जो व्याकरण के उच्चग्रन्थों में देखे जा सकते हैं।

[लघु०] ष्ठा गतिनिवृत्तौ ॥

अर्थ—ष्ठा (स्था) धातु 'ठहरना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—यह भ्वादिगण की परस्मैपदी धातु है। 'धातवादे ष स' (२५५) से इस के आदि षकार को सकार तथा 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय' से ठकार को थकार हो जाता है—स्था। इस का उल्लेख मूल में पहले नहीं आया। हम इस की रूपमाला तथा प्रक्रिया पीछे पृष्ठ (१८७) पर लिख चुके हैं वहीं देखें। इस धातु से प्रेरणा अर्थ में पूर्ववत णिच् आकर 'स्था+इ' हुआ। अब यहा अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७०२) ऋति-ह्वी-ब्ली-री-क्नूयी-क्ष्माय्याता नुण्णौ ।७।३।३६॥

स्थापयति ॥

अर्थ—ऋ, ह्वी, ब्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी इन धातुओं को तथा आकारान्त धातुओं को पुक् का आगम हो 'णि' परे हो तो।

व्याख्या—अति-ह्वी-ब्ली-री-क्नूयी-क्ष्माय्याताम् ।६।३। पुक् ।१।१। णौ। ७।१। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। अर्थ—(णौ) णि परे होने पर (अति—क्ष्माय्या-ताम्) ऋ, ह्वी, ब्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी और आकारान्त अङ्गों का अवयव (पुक्) पुक् हो जाता है। पुक् मे ककार इत्सञ्ज्ञक तथा उकार उच्चारणार्थक है। उदाहरण यथा—

ऋ गतिप्रापणयो (जाना, पहुचाना, भ्वा० परस्मै०) अथवा ऋ गतौ (जाना, जुहो० परस्मै०)—अर्पयति ('पुगन्तलघूपधस्य च' इति पुगन्तत्वाद् गुणः)। ह्वी स्पर्धा-याम् (स्पर्धाना, जुहो० परस्मै०) ह्वेपयति=स्पर्धा करता है। ब्ली वरणे (स्वीकार करना, क्रया० परस्मै०) ब्लेपयति। री गतिरेषणयो (गमन करना या शब्द द्वारा शब्द करना) अथवा रीङ् श्रवणे (सुनना, दिवा० आत्मने०) रेपयति। क्नूयी शब्दे (शब्द करना, भ्वा० आत्मने०) क्नोपयति ('लोपो व्योर्वलि' इति यकारलोप)। क्ष्मायी विधूनने (काँपना, भ्वा० आत्मने०) क्ष्मापयति। आकारान्त—(डुदाञ्) दापयति, (डुधाञ्) धापयति, (ज्ञा) ज्ञापयति।

'स्था+इ' यहा आकारान्त अङ्ग को प्रकृतसूत्र से पुक् का आगम होकर—स्थापि। अब 'सनाद्यन्ता धातव' (४६८) से पूर्ववत् धातुसञ्ज्ञा होकर लँट् आदियों की उत्पत्ति होती है—स्थापयति (तिष्ठन्तम्प्रेरयतीति स्थापयति=ठहराता है)। लँट्—

(परस्मै०) स्थापयति, स्थापयतः, स्थापयन्ति। (आत्मने०) स्थापयते। लिट्—(परस्मै०) स्थापयाञ्चकार-स्थापयाम्बभूव-स्थापयामास। (आत्मने०) स्थापयाञ्चक्रे आदि। लुट्—(परस्मै०) स्थापयिता, स्थापयितारौ, स्थापयितारः। (आत्मने०) स्थापयिता, स्थापयितारौ, स्थापयितारः। स्थापयितासे—। लृट्—(परस्मै०) स्थापयिष्यति। (आत्मने०) स्थापयिष्यते। लोट्—(परस्मै०) स्थापयतु-स्थापयतात्। (आत्मने०) स्थापयताम्। लङ्—(परस्मै०) अस्थापयत्। (आत्मने०) अस्थापयत। वि० लिङ्—(परस्मै०) स्थापयेत्। (आत्मने०) स्थापयेत। आ० लिङ्—(परस्मै०) स्थाप्यात्। (आत्मने०) स्थापयिषीष्ट। लुङ्—में विशेष कार्य का विधान करने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७०३) तिष्ठतेरित् ।७।४।५॥

उपधाया इदादेशः स्याच्चङ्परे णौ। अतिष्ठिपत् ॥

अर्थः—चङ्परक णि परे हो तो स्था धातु की उपधा के स्थान पर ह्रस्व इकार आदेश हो।

व्याख्या—तिष्ठतेः।६।१। इत्।१।१। णौ।७।१। चङि।७।१। उपधायाः।६।१। ('णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' से)। अर्थः—(चङि) चङ् परे होने पर (णौ) जो णि, उस के परे होने पर (तिष्ठतेः) स्था धातु की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

'स्थापि' इस णिजन्त धातु से लुङ् परस्मै० प्र० पु० के एकवचन में तिप्, च्लि, चङ् तथा णि का लोप होकर—अस्थाप्+अ+त्। अब यहां चङ्परक णि के परे होने से स्था (स्थाप्) की उपधा को ह्रस्व इकार आदेश होकर 'अस्थिप्+अ+त्' हुआ। अब 'चङि' (५३१) से स्थिप् को द्वित्व, 'शर्पूर्वाः खयः' (६४८) से खय्-थकार का शेष तथा चर्त्व करने से—अति+स्थिप्+अ+त्। अन्त में 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सकार को मूर्धन्य-पकार करने पर 'अतिष्ठिपत्' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। रूपमाला यथा—(परस्मै०) अतिष्ठिपत्, अतिष्ठिपताम्, अतिष्ठिपन्। (आत्मने०) अतिष्ठिपत, अतिष्ठिपेताम्, अतिष्ठिपन्त।

लृङ्—(परस्मै०) अस्थापयिष्यत्। (आत्मने०) अस्थापयिष्यत।

[लघु०] घटँ चेष्टायाम् ॥

अर्थः—घटँ (घट्) धातु 'चेष्टा करना, प्रयत्न करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है[2]।

---

१. हम ने लघुकौमुदी की बालोपयोगी शैली का अनुसरण करते हुए इसकी सिद्धि दर्शाई है। नवीन वैयाकरण पहलें द्वित्व कर बाद में इत्त्व किया करते हैं। इस विषय का विस्तार व्याकरण के उच्चग्रन्थों में देखना चाहिये।

२. चेष्टा करना अर्थ यथा—

क्व च स्यातो रघोर्वंशः क्व त्वं परगृहोषिता।
अन्यस्मै हृदयं देहि नाऽनभीष्टे घटामहे ॥ (भट्टि० २०.२४)

व्याख्या—घट्ट धातु भ्वादिगण मे अनुदात्तेत् पढी गई है, अत आत्मनेपदी है। अनुदात्तो मे परिगणित न होने से यह सेट् है। कर्तृवाच्य में इस के रूप यथा—(लँट्) घटते, (लिँट्) जघटे, (लुँट्) घटिता, (लृँट्) घटिष्यते, (लोँट्) घटताम्, (लँङ्) अघटत, (वि० लिँङ्) घटेत, (आ० लिँङ्) घटिषीष्ट, (लुँङ्) अघटिष्ट, (लृँङ्) अघटिष्यत।

यहा प्रयोजक के व्यापार मे 'हेतुमति च' (७००) से णिच् प्रत्यय करने पर घट्+णिच्=घट्+इ इस स्थिति मे 'अत उपधाया' (४५५) से उपधावृद्धि हो जाती है—घाट्+इ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७०४) मिता ह्रस्व ।६।४।९२॥

घटादीना ज्ञपादीना चोपधाया ह्रस्व स्याण्णौ। घटयति॥

अर्थ—णि के परे होने पर मितो अर्थात् घटादियो तथा ज्ञपादियो की उपधा के स्थान पर ह्रस्व आदेश हो।

व्याख्या—मिताम् ।६।३। ह्रस्व ।१।१। उपधाया ।६।१। ('ऊदुपधाया गोह' से)। णौ ।७।१। ('दोषो णौ' से)। अर्थ—(मिताम्) मितो की (उपधाया) उपधा के स्थान पर (ह्रस्व) ह्रस्व आदेश हो जाता है (णौ) णि परे हो तो। धातुपाठ में कुछ धातुओ को दो स्थानो पर मित् अतिदेश किया गया है—(१) घट् आदि धातु। (२) चुरादिगणीय ज्ञप् आदि धातु। अत एव ऊपर वृत्ति मे 'घटादीनां ज्ञपादीनाञ्च' कहा गया है।

'घाट्+इ' यहा पर णि परे मौजूद है अत प्रकृतसूत्र मे घट् (घाट्) की उपधा को ह्रस्व होकर 'घटि' बन जाता है। अब 'सनाद्यन्ता धातव' (४६८) से धातुसञ्ज्ञा होकर चुरादिगणवत् लँट् आदियो की उत्पत्ति होती है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) घटयति[1]। (आत्मने०) घटयते। लिँट्—(परस्मै०) घटयाञ्चकार-घटयाम्बभूव-घटयामास। (आत्मने०) घटयाञ्चक्रे आदि। लुँट्—(परस्मै०) घटयिता, घटयितारौ, घटयितार। घटयितासि—। (आत्मने०) घटयिता, घटयितारौ, घटयितार। घटयितासे—। लृँट्—(परस्मै०) घटयिष्यति। (आत्मने०) घटयिष्यते। लोँट्—(परस्मै०) घटयतु-घटयतात्। (आत्मने०) घटयताम्। लँङ्—(परस्मै०) अघटयत्। (आत्मने०) अघटयत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) घटयेत्। (आत्मने०) घटयेत। आ० लिँङ्—(परस्मै०) घटयात्। (आत्मने०) घटयिषीष्ट। लुँङ्—(परस्मै०)अजीघटत्।(आत्मने०)अजीघटत। लृँङ्—(परस्मै०)अघटयिष्यत्। (आत्मने०) अघटयिष्यत।

---

घटित होना, सम्भव होना, सिद्ध होना—इत्यादि अर्थ भी घट् धातु के बहुत प्रचलित हैं— कृत्य घटेत सुहृदो यदि तत्कृत स्यात्—मालती० १ ९,
उभयथाऽपि घटते—वेणी० ३।

१ कृपा सन्धि भीमो विघटयति यूप घटयत—वेणी० १ १०।

[लघु०] ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने च ॥ ज्ञपयति । अजिज्ञपत् ॥

**अर्थः**—ज्ञप् धातु 'जानना या जनाना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

**व्याख्या**—यह धातु धातुपाठ के चुरादिगण में पढ़ी गई है। वहां 'ज्ञप मित्त्व' (ज्ञप् धातु णि के परे होने पर मित् होती है) इस प्रकार का पाठ आया है, अर्थ-निर्देश नहीं किया गया। मूलोक्त अर्थ प्रयोगों को देखकर निश्चित किया गया है। 'प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्' में ज्ञप् धातु का अर्थ जानना तथा 'श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः' (१.४.३४) सूत्र में इस का अर्थ 'जनाना' देखा जाता है।

कर्तृवाच्य में ज्ञप् धातु से चुरादित्वात् 'सत्यापपाश०' (६९४) द्वारा णिच् प्रत्यय करने पर उपधावृद्धि हो जाती है—ज्ञाप्+इ। मित्त्व के कारण (७०४) से उपधा को ह्रस्व होकर 'ज्ञपि' बन जाता है। अब इस से लँट्, तिप्, शप्, गुण और अयादेश करने पर 'ज्ञपयति' रूप सिद्ध होता है। लुंङ् में च्लि को चङ्, द्वित्व, णिलोप तथा सन्वद्भाव होकर 'सन्यतः' (५२३) से इत्त्व हो जाता है—अजिज्ञपत्। ध्यान रहे कि अभ्यास में लघु न रहने से 'दीर्घो लघोः' (५३४) द्वारा दीर्घ नहीं होता।

लँट्—(परस्मै०)ज्ञपयति।(आत्मने०) ज्ञपयते। लिँट्—(परस्मै०) ज्ञपयाञ्चकार, ज्ञपयाम्बभूव, ज्ञपयामास। (आत्मने०) ज्ञपयाञ्चक्रे। लुँट्—(परस्मै०) ज्ञपयिता, ज्ञपयितारौ, ज्ञपयितारः। ज्ञपयितासि—। (आत्मने०)ज्ञपयिता, ज्ञपयितारौ, ज्ञपयितारः। ज्ञपयितासे—। लृँट्—(परस्मै०) ज्ञपयिष्यति। (आत्मने०)ज्ञपयिष्यते। लोँट्—(परस्मै०) ज्ञपयतु-ज्ञपयतात्। (आत्मने०) ज्ञपयताम्। लँङ्—(परस्मै०) अज्ञपयत्। (आत्मने०) अज्ञपयत। वि० लिँङ्—(परस्मै०) ज्ञपयेत्। (आत्मने०) ज्ञपयेत। आ० लिँङ्—(परस्मै०)ज्ञप्यात्।(आत्मने०)ज्ञपयिषीष्ट। लुँङ्—(परस्मै०)अजिज्ञपत्। (आत्मने०) अजिज्ञपत। लृँङ्—(परस्मै०) अज्ञपयिष्यत्। (आत्मने०) अज्ञपयिष्यत।

**ध्यातव्य**—चुरादिगणीय धातुओं से जब हेतुमण्णिच् किया जाता है तब वहां दो णिच् उपस्थित हो जाते हैं—एक स्वार्थ में आया णिच् और दूसरा प्रयोजक-व्यापरवाचक णिच्। यथा—चुर्+इ+इ=चोर्+इ+इ। परन्तु स्वार्थ वाले णिच् का 'णेरनिटि' (५२९) से लोप होकर पुनः चुरादिगणवत् एक णिच् वाली 'चोरि' धातु बन जाती है। अब इस की रूपमाला तथा प्रक्रिया चुरादिगणवत् चलने लगती है कुछ भी अन्तर नहीं होता[1]। इस प्रकार 'ज्ञप' धातु से हेतुमण्णिच् करने पर भी उपर्युक्तप्रकारेण प्रक्रिया तथा रूपमाला समझनी चाहिये। इसी बात को जनाने के लिये वरदराजजी ने चुरादिगणीय ज्ञप धातु हेतुमण्णिच् प्रकरण के अन्त में दी है।

लघुकौमुदी की ण्यन्तप्रक्रिया में उपर्युक्त चार धातु ही दर्शाए गये हैं जो विद्या-

---

१. लुँङ् में प्रयोजकणिच् को मान कर स्वार्थणिच् का तथा चङ् को मान कर प्रयोजकणिच् का 'णेरनिटि' (५२९) से लोप हो जाता है। दोनों णिचों को एक जाति का मान कर सन्वद्भाव आदि में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। विशेष व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें।

थियों की ज्ञानवृद्धि के लिये स्पष्टत अपर्याप्त हैं अत छात्रों के बोध के लिये हम अत्यन्त प्रसिद्ध सौ धातुओं का ण्यन्तशतक प्रस्तुत कर रहे हैं। इन धातुओं का मूल अर्थ न देकर णिच् करने पर जो अर्थ बनता है वही कोष्ठकों में दिया गया है। यहा लॅट् और लुंङ् के रूप ही दिए गए हैं और वे भी परस्मैपद में। आत्मनेपद तथा अन्य लकारों में रूप स्वय कल्पना कर लेने चाहियें।

अट् (घुमाना) आटयति। आटिटत्।
अद् (खिलाना) आदयति। आदिदत्।
प्र√आप् (प्राप्त कराना) प्रापयति। प्रापिपत्।
अधि√इङ् (पढाना) अध्यापयति। अध्यापिपत्-अध्यजीगपत्।
इण् (भेजना) गमयति। अजीगमत्।
इष् (इच्छा कराना) एषयति। ऐषिषत्।
ऋ (अर्पण करना) अर्पयति। आर्पिपत्।
एध् (बढ़ाना) एधयति। ऐदिधत्।
कम्प् (कम्पाना) कम्पयति। अचकम्पत्।
कुप् (कुपित करना) कोपयति। अचूकुपत्।
कृ (कराना) कारयति। अचीकरत्।
क्री (खरीदवाना) क्रापयति। अचीक्रपत्।
क्रीड् (क्रीडा कराना) क्रीडयति। अचिक्रीडत्।
क्रुध् (क्रुद्ध करना) क्रोधयति। अचुक्रुधत्।
खन् (खुदाना) खानयति। अचीखनत्।
खाद् (खिलाना) खादयति। अचखादत्।
गम् (भिजवाना) गमयति। अजीगमत्।
ग्रह् (ग्रहण कराना) ग्राहयति। अजिग्रहत्।
चल् (चलाना) चलयति। अचीचलत्। कम्पने—चलयति।
जन् (पैदा करना) जनयति। अजीजनत्।
जप् (जप कराना) जापयति। अजीजपत्।
जागृ (जगाना) जागरयति। अजजागरत्।
जि (जिताना) जापयति। अजीजपत्।
जीव् (जिलाना) जीवयति। अजीजिवत्-अजिजीवत्।
ज्ञा (बोध कराना) ज्ञापयति। अजिज्ञपत्।
तप् (तपाना) तापयति। अतीतपत्।
तुष् (प्रसन्न करना) तोषयति। अतूतुषत्।
त्यज् (छुड़ाना) त्याजयति। अतित्यजत्।
दह् (दाघ कराना) दाहयति। अदीदहत्।
दा (दिलवाना) दापयति। अदीदपत्।
दीप् (चमकना) दीपयति। अदीदिपत्।
दृश् (दिखाना) दर्शयति। अदीदृशत्-अददर्शत्।
द्युत् (चमकाना) द्योतयति। अदिद्युतत्।
धा (धारण कराना) धापयति। अदीधपत्।
धे (पिलाना) धापयति। अदीधपत्।
ध्यै (ध्यान कराना) ध्यापयति। अदिध्यपत्।
नम् (झुकाना) नमयति-नामयति। अनीनमत्।
नश् (नष्ट करना) नाशयति। अनीनशत्।
निन्द् (निन्दा कराना) निन्दयति। अनिनिन्दत्।
नी (उठवाना) नाययति। अनीनयत्।
नुद् (प्रेरित कराना) नोदयति। अनूनुदत्।
नृत् (नचाना) नर्तयति। अनीनृतत्-अननर्तत्।
पच् (पकवाना) पाचयति। अपीपचत्।
पठ् (पढ़ाना) पाठयति। अपीपठत्।
पत् (गिराना) पातयति। अपीपतत्।
पा (पिलाना) पाययति। अपीप्यत्।
पा (रक्षा कराना) पालयति। अपीपलत्।
पिष् (पिसवाना) पेषयति। अपीपिषत्।
पुष् (पुष्ट करना) पोषयति। अपूपुषत्।
पू (पवित्र कराना) पावयति। अपीपवत्।
बुध् (बोध कराना) बोधयति। अबूबुधत्।

भाष् (बुलवाना) भाषयति । अबीभषत्-अवभाषत् ।
भिद् (फड़वाना) भेदयति । अबीभिदत् ।
भुज् (खिलाना) भोजयति । अबूभुजत् ।
मिल् (मिलाना) मेलयति । अमीमिलत् ।
मील् (बंद कराना) मीलयति । अमीमिलत्-अमिमीलत् ।
मुच् (छुड़वाना) मोचयति । अमूमुचत् ।
मुद् (प्रसन्न करना) मोदयति । अमूमुदत् ।
मुह् (मुग्ध करना) मोहयति । अमूमुहत् ।
मृ (मरवाना) मारयति । अमीमरत् ।
मृज् (साफ कराना) मार्जयति । अमीमृजत्-अममार्जत् ।
यज् (यज्ञ कराना) याजयति । अयीयजत् ।
यत् (यत्न कराना) यातयति । अयीयतत् ।
या (भेजना) यापयति । अयीयपत् ।
युज् (मिलाना) योजयति । अयूयुजत् ।
युध् (युद्ध कराना) योधयति । अयूयुधत् ।
रक्ष् (रक्षा कराना) रक्षयति । अररक्षत् ।
आ√रभ् (आरम्भ कराना) आरम्भयति । आररम्भत् ।
रम् (रमण कराना) रमयति । अरीरमत् ।
रुच् (पसन्द कराना) रोचयति । अरूरुचत् ।
रुद् (रुलाना) रोदयति । अरूरुदत् ।
रुध् (रुकवाना) रोधयति । अरूरुधत् ।
रुह् (उगाना) रोहयति-रोपयति । अरूरुहत्-अरूरुपत् ।
लभ् (प्राप्त कराना) लम्भयति । अललम्भत् ।
लज्ज् (लज्जित करना) लज्जयति । अललज्जत् ।
लिख् (लिखाना) लेखयति । अलीलिखत् ।
लिप् (लेप कराना) लेपयति । अलीलिपत्
लुभ् (लुभाना) लोभयति । अलूलुभत् ।
लू (कटवाना) लावयति । अलीलवत् ।
वच् (कहलवाना) वाचयति । अवीवचत् ।
वप् (कटवाना) वापयति । अवीवपत् ।
वस् (वास कराना) वासयति । अवीवसत् ।
वह् (उठवाना) वाहयति । अवीवहत् ।
विद् (बोध कराना) वेदयति । अवीविदत् ।
वृध् (बढ़ाना) वर्धयति । अवीवृधत्-अववर्धत् ।
शी (सुलाना) शाययति । अशीशयत् ।
शुच् (शोक कराना) शोचयति । अशूशुचत् ।
शुध् (शुद्ध करना) शोधयति । अशूशुधत् ।
शुष् (सुखाना) शोषयति । अशूशुषत् ।
श्रु (सुनाना) श्रावयति । अशुश्रवत्-अशिश्रवत् ।
सिच् (सिंचवाना) सेचयति । असीषिचत् ।
स्था (ठहराना) स्थापयति । अतिष्ठिपत् ।
स्ना (स्नान कराना) स्नापयति-स्नपयति । असिष्णपत् ।
स्मृ (स्मरण कराना) स्मारयति । असस्मरत् ।
उत्कण्ठापूर्वकस्मरणे—स्मरयति ।
स्वप् (सुलाना) स्वापयति । असूषुपत् ।
हन् (मरवाना) घातयति । अजीघतत् ।
हस् (हँसाना) हासयति । अजीहसत् ।
हा (छुड़वाना) हापयति । अजीहपत् ।
हिंस् (मरवाना) हिंसयति । अजिहिंसत् ।
हृ (हरण कराना) हारयति । अजीहरत् ।

नोट—चुरादिगण के धातु इस तालिका में नहीं दिये गये । हेतुमण्णिच् में उन की रूपमाला चुरादिगणवत् चलती है—यह पीछे बता चुके हैं ।

## इति ण्यन्तप्रक्रिया

(यहां पर ण्यन्त-प्रक्रिया समाप्त होती है)

# अथ सन्नन्तप्रक्रिया (Desideratives)

अब तिङन्तप्रकरण मे सन्नन्तप्रक्रिया का प्रारम्भ किया जाता है। किसी भी धातु से इच्छा अर्थ मे सन् प्रत्यय कर द्वित्वादि करने से नई सन्नन्त धातु बना ली जाती है। जैसे—पठ्+सन्=पिपठिष (पढने की इच्छा), भू+सन्=बुभूष (होने की इच्छा), कृ+सन्=चिकीर्ष (करने की इच्छा) आदि। सर्वप्रथम सन् और उस के अर्थ का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७०५) धातो कर्मण समानकर्तृकादिच्छाया वा ।३।१।७।।

इषिकर्मण इषिणैककर्तृकाद् धातो सन्प्रत्ययो वा स्यादिच्छायाम् ।।

अर्थ—जो इष् धातु का कर्म हो और इष् धातु के साथ समानकर्तृक भी हो उस धातु से इच्छा अर्थ मे विकल्प कर के सन् प्रत्यय हो।

व्याख्या—धातो ।५।१। कर्मण ।५।१। समानकर्तृकात् ।५।१। इच्छायाम्। ७।१। वा इत्यव्ययपदम्। सन् ।१।१। ('गुप्तिज्किद्भ्य सन्' से)। 'प्रत्यय, परश्च' दोनों अधिकृत हैं। इस सूत्र मे 'इच्छायाम्' पद पढा गया है अत इष् धातु का ही कर्म और इष् धातु के साथ ही समानकर्तृकता ग्रहण की जाती है। समान कर्त्ता यस्य स समानकर्तृक, तस्मात्=समानकर्तृकात्। अर्थ—(कर्मण) इष् धातु की कर्म (समानकर्तृकात्) तथा इष् धातु के साथ समान कर्त्ता वाली (धातो) धातु मे परे (इच्छायाम्) इच्छा अर्थ मे (वा) विकल्प से (सन्) सन् प्रत्यय हो जाता है। सन् का नकार इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाता है, 'स' यह सस्वर अवशिष्ट रहता है[1]।

किसी भी धातु से इच्छा (चाहना) अर्थ मे विकल्प से सन् प्रत्यय हो सकता है यदि वह धातु दो शर्तों को पूरा करती हो—

(१) इष् (चाहना) का कर्म होना।

(२) इष् का जो कर्त्ता उस क्रिया का भी वही कर्त्ता होना।

उदाहरण यथा—देवदत्त पठितुमिच्छति इति पिपठिषति देवदत्त (देवदत्त पढ़ने को चाहता है)। यहां पठ् धातु से इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय हुआ है। पठ् धातु यहा अर्थरूप से इष् (इच्छा करना) की कर्म है तथा इष् के साथ समानकर्तृक भी है अर्थात् इष् का जो कर्त्ता है वही पठ् का भी कर्त्ता है (देवदत्त)।

इन दो शर्तों में से किसी एक का भी उल्लङ्घन होने पर सन् प्रत्यय नहीं

---

१ यद्यपि सन् के 'स' को सस्वर मान कर हमे आर्धधातुकों मे 'अतो लोप' (४७०) से उस के अकार का लोप और सार्वधातुकों मे 'अतो गुणे' से परूप करना पड़ता है, तथापि 'प्रत्येतुमिच्छतीति प्रतीषिषति' इत्यादि स्थलों में जहां 'स' को द्वित्व होता है वहां सस्वर माने बिना काम नहीं चल सकता, अत इसे सस्वर माना जाता है।

होता। यथा—पठनेन इच्छति (पढ़ने से सुख आदि की अभिलाषा करता है) यहां पठ् धातु इप् धातु का कर्म नहीं अपितु करण है अतः समानकर्तृकता होते हुए भी पठ् से सन् नहीं होता। इसी प्रकार—शिष्याः पठन्तु इतीच्छति गुरुः (गुरु चाहता है कि शिष्य पढ़ें), यहां पठ् धातु का कर्त्ता शिष्य हैं तथा इप् धातु का कर्त्ता गुरु है, इसलिये भिन्नकर्तृक होने के कारण पठ् धातु से सन् नहीं होता।

सन्नन्त का विग्रह (अर्थ) प्रकट करने के लिये उस धातु को तुमुन्प्रत्ययान्त बना कर उस के आगे 'इच्छति' लगा कर लिखा जाता है। यथा—पठितुम् इच्छति इति पिपठिषति। कर्तुम् इच्छति इति चिकीर्षति। भवितुम् इच्छति इति बुभूषति। बीच में 'इति' पद समता (=) का द्योतक है। यह सन् विकल्प से विधान किया गया है अतः पक्ष में 'पठितुम् इच्छति' आदि वाक्य का भी प्रयोग हो सकता है।

[लघु०] पठ व्यक्तायां वाचि॥

अर्थः—पठ(पठ्)धातु 'व्यक्त वाणी बोलना अर्थात् पढ़ना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—पठ् धातु धातुपाठ के भ्वादिगण में पढ़ी गई है। आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होने के कारण यह परस्मैपदी तथा अनुदात्तों में परिगणित न होने से सेट् है। लघुकौमुदी में पीछे मूल में इसका वर्णन नहीं आया। हम ने कर्तृवाच्य में इसकी रूपमाला पृष्ठ (१२१)पर दी है वहीं देखें। सन्नन्तप्रक्रिया मे 'पिपठिषति' उदाहरण के अत्यन्त प्रसिद्ध तथा सरल होने के कारण ग्रन्थकार ने इस धातु का यहां अवतरण किया है।

पठितुमिच्छति—इस विग्रह में पठ् धातु इप्धातु की कर्म है तथा इप् के साथ समानकर्तृक भी है अतः 'धातोः कर्मणः०' (७०५) सूत्रद्वारा पठ् से सन् प्रत्यय हो कर—पठ्+सन्=पठ्+स। सन् प्रत्यय 'धातोः' इस प्रकार कह कर विधान किया गया है अतः 'आर्धधातुकं शेषः' (४०४) से आर्धधातुक है[1]। 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (४०१) से इसे इट् का आगम हो जाता है—पठ्+इस। अब यहां द्वित्व करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७०६) सन्यङो ।६।१।९॥

सन्नन्तस्य यङन्तस्य च प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेस्तु द्वितीयस्य। सन्यतः (५३३)। पठितुमिच्छति—पिपठिषति। कर्मणः किम्? गमनेनेच्छति। समानकर्तृकात् किम्? शिष्याः पठन्तु इतीच्छति गुरुः। 'वा'—ग्रहणाद् वाक्यमपि। लुङ्सनोर्घस्लृ (५५८)॥

अर्थः—सन्नन्त और यङन्त धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व हो जाता है, यदि वे अजादि हों तो उन के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है।

---

१. इसीलिये तो 'धातोः कर्मणः समान०' (७०५) सूत्र में 'धातोः' पद का ग्रहण किया गया था, अन्यथा उस के विना भी काम चल सकता था।

व्याख्या—सन्यङो ।६।२। 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' तथा 'अजादेर्द्वितीयस्य' का अधिकार आ रहा है। सन् और यङ् दोनो प्रत्यय हैं अत 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' (प०) से सन्नन्त और यङन्त का ग्रहण होता है। अर्थ — (सन्यङो) सन्नन्त तथा यङन्त के (प्रथमस्य एकाच) प्रथम एकाच् भाग के (द्वे) दो रूप हो जाते हैं (अजादे) परन्तु यदि ये अजादि हो तो इन के (द्वितीयस्य) द्वितीय एकाच् भाग के दो रूप होते हैं[1]।

'पठ्+इस' यह सन्नन्त है, अत प्रकृतसूत्र से इस के प्रथम एकाच् भाग 'पठ्' को द्वित्व कर हलादिशेष करने मे—'प+पठ्+इस' हुआ। अब सन् परे होने से 'सन्यत' (५३३) सूत्र द्वारा अभ्यास के अकार को इकार होकर षत्व (१५०) किया तो—'पिपठिष' बना। 'पिपठिष' की 'सनाद्यन्ता धातव' (४६८) से धातु-सञ्ज्ञा है अत इस से लँट् आदियो की उत्पत्ति होती है। लँट् प्र० पु० के एकवचन में 'पिपठिष+ति' इस स्थिति मे शप् होकर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप करने से 'पिपठिषति' प्रयोग सिद्ध होता है। लँट् मे रूपमाला यथा—पिपठिषति, पिपठिषत, पिपठिषन्ति।

लिँट्—'पिपठिष' धातु के अनेकाच् होने से लिँट् परे होने पर आम्प्रत्यय (वा० ३४) हो जाता है। तब 'अतो लोप' (४७०) से अकार का लोप होकर समग्र-प्रक्रिया 'गोपायाञ्चकार' की तरह चलने लगती है—पिपठिषाञ्चकार, पिपठिषाम्बभूव, पिपठिषामास आदि। लुँट् मे भी 'अतो लोप' (४७०) से सन् के अ का लोप हो जाता है—पिपठिषिता, पिपठिषितारौ, पिपठिषितार। लृँट्—पिपठिषिष्यति, पिपठिषिष्यत, पिपठिषिष्यन्ति। लोँट्—पिपठिषतु-पिपठिषतात्। लँङ्—अपिपठिषत्। वि० लिँङ्—पिपठिषेत्। आ० लिँङ्—पिपठिषीष्यात् (अतो लोप ४७०)। लुँङ्—अपिपठिषीत्, अपिपठिषिष्टाम्, अपिपठिषिषु। लृँङ्—अपिपठिषिष्यत्।

नोट—सन्नन्त प्रक्रिया मे सन्नन्त रूप बनाने तक की प्रक्रिया कठिन होती है आगे लकारो की प्रक्रिया सरल होती है। सन्नन्त रूप बनाने मे सब से पहले सन्

---

१ प्रश्न—'सन्यङो' (७०६) मे सप्तमी मानकर 'सन् और यङ् परे होने पर द्वित्व हो' ऐसा सरल अर्थ क्यो नही करते?

उत्तर—यदि ऐसा करें तो 'प्रतीषिषति इति प्रतीषिषति' इत्यादि की सिद्धि न हो सकेगी। यहां पर प्रतिपूर्वक 'इण् गतौ' धातु से सन् किया गया है—इ+स। षष्ठी मानने से 'इस' अजादि के द्वितीय एकाज्भाग 'स' को द्वित्व कर इषिषति=प्रतीषिषति रूप सिद्ध हो जाता है, यदि सप्तमी मानते तो 'इस' में केवल 'इ' को ही द्वित्व होता 'स' को कदापि नहीं, इससे यथेष्ट रूप न बन सकता। किञ्च षष्ठी मानने से ही यङ्लुक्प्रक्रिया मे द्वित्व सिद्ध हो जाता है अन्यथा सप्तमी मान कर प्रत्ययलक्षण का 'न लुमताङ्गस्य' (१६१) से निषेध होकर द्वित्व दुर्लभ हो जाता—यह सब उसी प्रक्रिया में स्पष्ट है वहीं देखें।

प्रत्यय कर इट् का निर्णय करना चाहिये। यदि मूल धातु सेट् हो तो इट्, अन्यथा इट् का निषेध हो जायेगा। सन् आर्धधातुक प्रत्यय है—यह नही भूलना चाहिये। इट् करने के बाद समूचे सन्नन्त को एक धातु मान कर द्वित्व करना मुख्य कार्य होता है। सन्नन्त के प्रथम एकाच् को द्वित्व होता है परन्तु यदि वह अजादि अनेकाच् है तो दूसरे एकाज्भाग को द्वित्व होता है। तब लँट् आदियों की उत्पत्ति होती है। सन्नन्त-प्रक्रिया में पदव्यवस्था मूल धातु के समान होती है, यदि वह परस्मैपदी है तो सन्नन्त से परस्मैपद और यदि वह आत्मनेपदी है तो आत्मनेपद होता है। इस के लिये वक्ष्यमाण (७४२) सूत्र की व्याख्या देखनी चाहिये।

अत्तुम् इच्छति—जिघत्सति (खाने की इच्छा करता है)। यहां अद् धातु इष् धातु की कर्म है तथा इष् के साथ समानकर्तृक भी है अतः 'धातोः कर्मणः' (७०५) द्वारा अद् से सन् प्रत्यय होकर 'अद्+स' हुआ। अब 'लुङ्सनोर्घस्लृ' (५५८) से अद् को घस्लृ आदेश हो जाता हैं—घस्+स। धातु के अनुदात्त होने से इट् का 'एकाच उपदेशे०'(४७५)से निषेध हो जाता है। अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७०७) सः स्यार्धधातुके ।७।४।४९॥

सस्य तः स्यात् सादावार्धधातुके। अत्तुमिच्छति—जिघत्सति। एकाचः० (४७५) इति नेट्॥

अर्थः—सकारादि आर्धधातुक परे हो तो सकार को तकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—सः ।६।१। सि ।७।१। आर्धधातुके ।७।१। तः ।१।१। ('अच उपसर्गात्तः' से। तकारादकार उच्चारणार्थः) 'सि' यह 'आर्धधातुके' का विशेषण है अतः तदादिविधि होकर 'सकारादौ आर्धधातुके' बन जाता है। अर्थः—(सि=सकारादौ) सकारादि (आर्धधातुके) आर्धधातुक परे होने पर (सः) स् के स्थान पर (तः) त् आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—वस्+लृँट्=वस्+स्य+ति=वत्स्यति।

'घस्+स' यहां पर सन् यह सकारादि आर्धधातुक परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से घस् के सकार को तकार आदेश होकर 'घत्स' बना। 'सन्यङोः' (७०६) से सन्नन्त के प्रथम एकाज्भाग 'घत्' को द्वित्व, हलादिशेष, घकार को चुत्व-झकार, पुनः 'अभ्यासे चर्च' (३९९) से उसे जश्त्व-जकार होकर—जघत्स। अब 'सन्यतः' (५३३) से अभ्यास के अकार को इकार होकर 'जिघत्स' यह सन्नन्त धातु बन जाती हैं। अब इससे लँट्, तिप्, शप्, और 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप करने पर 'जिघत्सति' रूप सिद्ध होता है। इस की रूपमाला यथा—

लँट्—जिघत्सति। लिँट्—जिघत्साञ्चकार-जिघत्साम्बभूव-जिघत्सामास। लुँट्—जिघत्सिता। लृँट्—जिघत्सिष्यति। लोँट्—जिघत्सतु-जिघत्सतात्। लँङ्—अजिघत्सत्। वि० लिँङ्—जिघत्सेत्। आ० लिँङ्—जिघत्सेयात्। लुँङ्—अजिघत्सीत्। लृँङ्—अजिघत्स्यत्।

कर्तुमिच्छति—चिकीर्षति (करने की इच्छा करता है)। 'डुकृञ् करणे' धातु

से इच्छा अर्थ में 'धातो कर्मण ०' (७०५) द्वारा सन् प्रत्यय करने पर अनुबन्धलोप करने से 'कृ+स' हुआ। आर्धधातुक होने से सन् को इट् का आगम प्राप्त होता है परन्तु 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (४७५) से उसका निषेध हो जाता है। अब अग्रिम-सूत्र के द्वारा दीर्घ का विधान करते है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(७०८) अज्झनगमां सनि ।६।४।१६॥

अजन्तानां हन्तेरजादेशगमेश्च दीर्घो झलादौ सनि ॥

अर्थ—अजन्त धातुओं को, हन् को तथा अच् (स्वर) के स्थान पर आदेश होने वाली गम् धातु को दीर्घ हो जाता है झलादि सन् परे हो तो।

व्याख्या—अज्झनगमाम् ।६।३। सनि ।७।१। झलि ।७।१। ('अनुनासिकस्य क्विझलो क्ङिति' से)। दीर्घ ।१।१। ('ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण ' से)। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है, इस का सम्बन्ध 'अच्' अंश के साथ जोड कर तदन्तविधि करने से 'अजन्तानामङ्गानाम्' बन जाता है। 'झलि' यह 'सनि' का विशेषण है, इस से तदादि-विधि होकर 'झलादौ सनि' बन जाता है। अच् च हन् च गम् च—अज्झनगम, तेषाम्=अज्झनगमाम्। इतरेतरद्वन्द्व। महाभाष्य मे स्पष्ट किया गया है कि यहा 'गम्' से इण्, इक् आदि के स्थान पर आदेश होने वाले गम् का ही ग्रहण अभीष्ट है 'गम्लृ गतौ' का नही। अर्थ—(झलि=झलादौ) झलादि (सनि) सन् परे होने पर (अज्झनगमाम्) अजन्त अङ्गो तथा हन् और गम् धातुओं के स्थान पर (दीर्घ) दीर्घ आदेश हो जाता है। 'अचश्च' (१ २ २८) परिभाषा के अनुसार इन धातुओं के अच् के स्थान पर ही दीर्घ किया जायेगा। जब सन् को इट् का आगम नहीं होता तब वह झलादि सन् रहता है।

'कृ+स' यहां सन् को इट् के आगम का निषेध हो चुका है अत वह झलादि है। उसके परे रहते प्रकृतसूत्र से अजन्त अङ्ग 'कृ' के ऋकार को दीर्घ होकर 'कृ+स' हुआ। अब सन् आर्धधातुक को मान कर 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' (३८८) से गुण प्राप्त होता है। इस की निवृत्ति के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(७०९) इको झल् ।१।२।९॥

इगन्ताज्झलादि सन् कित् स्यात्। ऋत इद् धातो (६६०)। कर्तु-मिच्छति—चिकीर्षति ॥

अर्थ—इगन्त से परे झलादि सन् कित् हो।

व्याख्या—इक ।५।१। झल् ।१।१। सन् ।१।१। ('इवर्णादेरस्वर०' से)। कित् । १।१। ('असंयोगाल्लिट् कित्' से)। यहां पर सन् के कारण 'धातो' का आक्षेप कर लिया जाता है। 'इक' को 'धातो' का विशेषण बना लेने से 'इगन्ताद् धातो' बन जायेगा। 'झल्' यह 'सन्' का विशेषण है अत तदादिविधि होकर 'झलादि सन्' बन जाता है। अर्थ—(इक=इगन्ताद् धातो) इगन्त धातु से परे (झल्=झलादि) झलादि (सन्) सन् (कित्) कित् अर्थात् कित् होता है। कित् के अन्त में

इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) हों वे इगन्त धातु कहलाते हैं। जि, नु, भू, कृ आदि इगन्त धातु हैं। सन् को कित् करने का प्रयोजन गुण का निषेध करना आदि है।

'कृ+स' यहां इगन्त धातु 'कृ' है, इससे परे भलादि सन् 'स' विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से वह कित् हो जाता है। इस के कित् होने से इसके परे रहते प्राप्त हुए गुण का 'क्ङिति च' (४३३) से निषेध हो जाता है। तब गुण के अविषय में 'ऋत इद् धातोः' (६६०) से ऋकार को इत्त्व, रपर, 'हलि च' (६१२) से उपधा को दीर्घ तथा 'आदेशप्रत्यययोः'(१५०) से षत्व करने पर 'कीर्ष' बना। पुनः 'सन्यङोः' (७०६) से सन्नन्त धातु के प्रथम एकाच् कीर् को द्वित्व, हलादिशेष, ह्रस्व तथा चुत्वादि हो कर 'चिकीर्ष' यह सन्नन्त रूप निष्पन्न होता है। अब इस से लँट्, तिप्, शप् और पररूप करने पर 'चिकीर्षति' सिद्ध होता है। चिकीर्ष धातु की रूपमाला यथा—

लँट्—**चिकीर्षति**। लिँट्—**चिकीर्षाञ्चकार, चिकीर्षाम्बभूव, चिकीर्षामास**। लुँट्—**चिकीर्षिता**। लृँट्—**चिकीर्षिष्यति**। लोँट्—**चिकीर्षतु-चिकीर्षतात्**। लँङ्—**अचिकीर्षत्**। वि० लिँङ्—**चिकीर्षेत्**। आ० लिँङ्—**चिकीर्ष्यात्**। लुँङ्—**अचिकीर्षीत्**। लृँङ्—**अचिकीर्षिष्यत्**। कर्त्रभिप्राय क्रियाफल मे आत्मने० का प्रयोग होगा—**चिकीर्षते**।

भवितुमिच्छति—बुभूषति (होना चाहता है)। 'भू सत्तायाम्' धातु से इच्छा अर्थ में सन् होकर 'भू+स' हुआ। भू धातु ऊदन्त होने से सेट् है। अतः इस से परे सन् को इट् का आगम प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से निषेध प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(७१०) सनि ग्रह-गुहोश्च ।७।२।१२।।

ग्रहेर्गुहेरुगन्ताच्च सन इण्न स्यात्। बुभूषति ।।

अर्थः—ग्रह् (ग्रहण करना), गुह् (छिपाना, आच्छादित करना) तथा उगन्त धातुओं से परे सन् को इट् का आगम नहीं होता।

व्याख्या—सनि ।७।१। ग्रह-गुहोः ।६।२। च इत्यव्ययपदम्। न इत्यव्ययपदम्। इट् ।१।१। ('नेड् वशि कृति' से)। उकः ।६।१। ('अचुकः किति' से)। इट् का आगम सन् को किया जाता है न कि धातु को, अतः 'सनि' का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम कर 'सनः' बना लिया जाता है। इसी प्रकार 'ग्रह-गुहोः' और 'उकः' का पञ्चम्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है। 'अङ्गस्य' का अधिकार होने से 'उकः' को उस का विशेषण बना कर तदन्तविधि करने से 'उगन्तादङ्गात्' बन जाता है। अर्थः—(ग्रह-गुहोः=ग्रह-गुहाभ्याम्) ग्रह् और गुह् धातु से परे तथा (उकः—उगन्ताद् अङ्गात्) उगन्त अङ्ग से परे (सनि—सनः) सन् का अवयव (इट्) इट् (न) नहीं होता। ग्रह् और गुह् के उदाहरण—जिघृक्षति, जुघुक्षति आदि सिद्धान्तकौमुदी या काशिका मे देखें। उगन्त (उक् प्रत्याहार—उ,ऋ,ऌ ये वर्ण जिस के अन्त मे है) का उदाहरण यहां प्रकृत है—

'भू+स' में भू धातु उगन्त है अतः इस से परे सन् को इट् का निषेध हो जाता है। पुनः आर्धधातुकगुण प्राप्त होता है उस का भी 'इको झल्' (७०९) द्वारा

झलादि सन् के कित्त्व के कारण निषेध हो जाता है। अब 'सन्यङो.' (७०६) से द्वित्व तथा ह्रस्व-जश्त्व आदि अभ्यासकार्य होकर 'बुभूष' यह सन्नन्तरूप निष्पन्न होता है। इस से लँट्, तिप्, शप् और पररूप आदि करने से 'बुभूषति' रूप सिद्ध होता है[1]।

लँट्—बुभूषति। लिँट्—बुभूषाञ्चकार- बुभूषाम्बभूव-बुभूषामास। लुँट्—बुभूषिता। लृँट्—बुभूषिष्यति। लोँट्—बुभूषतु-बुभूषतात्। लँङ्—अबुभूषत्। वि० लिँङ्—बुभूषेत्। आ० लिँङ्—बुभूष्यात्। लुँङ्—अबुभूषीत्। लृँङ्—अबुभूषिष्यत्।

लघुकौमुदी मे सन्नन्तप्रक्रिया के उपर्युक्त चार उदाहरण ही दिये गये हैं। यह प्रक्रिया पर्याप्त जटिल है। इस में अनेक प्रकार के उत्सर्गापवाद तथा विशिष्ट कार्य हुआ करते हैं। विशेषजिज्ञासु इस प्रक्रिया का सिद्धान्तकौमुदी मे अवलोकन कर सकते है। हम यहा विशिष्ट कार्यों का उल्लेख किये विना विद्यार्थियों के लिये सन्नन्तरूपों का सार्थ शतक दे रहे हैं—

(अर्च्) अर्चिचिषति=पूजना चाहता है।
(आप्) ईप्सति=पाना चाहता है।
(इङ्) अधिजिगांसते=पढ़ना चाहता है।
(एध्) एदिधिषते=बढना चाहता है।
(कथ) चिकथयिषति-ते=कहना चाहता०
(कम्प्) चिकम्पिषते=कापना चाहता है
(कुप्) चुक्रोपिषति=कोप करना चाहता०
(कृ) चिकीर्षति ते=करना चाहता है।
(कॄ) चिकरिषति=बखेरना चाहता है।
(क्रन्द्) चिक्रन्दिषति=चिल्लाना चाहता०
(क्रीड्) चिक्रीडिषति=खेलना चाहता है
(क्षि) चिक्षीषति=नष्ट होना चाहता है
(खन्) चिखनिषति=खोदना चाहता है।
(खाद्) चिखादिषति=खाना चाहता है
(गण्) जिगणयिषति-ते=गिनना चाहता०
(गद्) जिगदिषति=कहना चाहता है।
(गम्) जिगमिषति=जाना चाहता है
(गुप्) जुगुप्सति-ते=कापना चाहता है।
(गॄ) जिगरि(लि)षति=निगलना चाह०
(ग्रह्) जिघृक्षति-ते=ग्रहण करना चाह०
(घ्रा) जिघ्रासति=सूघना चाहता है।
(चर्) चिचरिषति=चरना चाहता है।
(चल) चिचलिषति=चलना चाहता है।
(चि) चिकी(ची)षति-ते=चुनना चाह०
(छिद्) चिच्छित्सति-ते=काटना चाहता०
(चुर्) चुचोरयिषति-ते=चुराना चाहता०
(जन्) जिजनिषते=पैदा होना चाहता है
(जि) जिगीषति=जीतना चाहता है।
(जीव्) जिजीविषति=जीना चाहता है।
(ज्ञप्) जिज्ञप्सति-ते=जानना चाहता है।
(ज्ञा) जिज्ञासते=जानना चाहता है।
(तन्) तितनिषति ते / तितांसति-ते = विस्तार करना चाहता है।
(तॄ) तितीर्षति=तैरना चाहता है।
(त्यज्) तित्यक्षति=छोडना चाहता है।
(दम्भ्) धिप्सति=दम्भ करना चाहता है
(दह्) दिधक्षति=जलाना चाहता है।
(दा) दित्सति-ते=देना चाहता है।
(दिव्) दिदेविषति / दुद्यूषति = जुआ खेलना चाहता है।
(दुह्) दुधुक्षति-ते=दोहना चाहता है।
(दृश्) दिदृक्षते=देखना चाहता है।

१ ध्यान रहे कि यहां सन् परे है लिँट् नहीं। अत 'अचनेर' (३६८) सूत्र द्वारा अभ्यास के उकार को अकार आदेश नहीं होता।

(धा) धित्सति-ते=धारण करना चाहता०
(वि√धा) विधित्सति-ते=करना चाह०
(धाव्) दिधाविषति=दौड़ना चाहता है।
(ध्यै) दिध्यासति=ध्यान करना चाहता०
(नम्) निनंसति=झुकना चाहता है।
(नश्) निनङ्क्षति=नष्ट होना चाहता है
(नी) निनीषति-ते=ले जाना चाहता है
(नु) नुनूषति=स्तुति करना चाहता है।
(नृत्) निनृत्सति=नाचना चाहता है।
(पच्) पिपक्षति-ते=पकाना चाहता है।
(पठ्) पिपठिषति=पढ़ना चाहता है।
(पत्) पिपतिषति=गिरना चाहता है या उस के गिरने की आशंका है।
(पा) पिपासति=पीना चाहता है।
(पूञ्) पुपूषति-ते=पवित्र करना चाहता०
(प्रच्छ्) पिपृच्छिषति=पूछना चाहता है।
(बुध्) बुभुत्सते=जानना चाहता है।
(ब्रू) विवक्षति-ते=कहना चाहता है।
(भिद्) बिभित्सति-ते=तोड़ना चाहता है
(भुज्) बुभुक्षते=खाना चाहता है।
(भुज्) बुभुक्षति=पालना चाहता है।
(भू) बुभूषति=होना चाहता है।
(भृ) बुभूर्षति-ते=पालना चाहता है।
(भ्रस्ज्) बिभ्रज्जिषति-ते=भूनना चाहता०
(मन्थ्) मिमन्थिषति=मथना चाहता है।
(मुच्) मुमुक्षते=स्वयं छूटना चाहता है।
(मुच्) मोक्षते=स्वयं छूटना चाहता है।
(मुच्) मुमुक्षति-ते=छोड़ना चाहता है।
(मुद्) मुमोदिषते=प्रसन्न होना चाहता०
(मुष्) मुमुषिषति=चुराना चाहता है।
(मृ) मुमूर्षति=मरना चाहता है या उस के मरने की आशंका है।
(यज्) यियक्षति-ते=यज्ञ करना चाहता०
(यत्) यियतिषते=यत्न करना चाहता है
(या) यियासति=जाना चाहता है।
(युज्) युयुक्षति-ते=जोड़ना चाहता है।
(रभ्) आरिप्सते=आरम्भ करना चाहता०
(रम्) रिरंसते=खेलना चाहता है।
(रुद्) रुरुदिषति=रोना चाहता है।
(आ√रुह्) आरुरुक्षति=चढ़ना चाहता०
(लभ्) लिप्सते=पाना चाहता है।
(लिख्) लिलिखिषति=लिखना चाहता०
(लिह्) लिलिक्षति-ते=चाटना चाहता है
(लूञ्) लुलूषति-ते=काटना चाहता है।
(वन्द्) विवन्दिषते=नमना चाहता है।
(वस्) विवत्सति=रहना चाहता है।
(शङ्क्) शिशङ्किषते=शंका करना चाह०
(शीङ्) शिशयिषते=सोना चाहता है।
(शुच्) शुशोचिषति=शोक करना चाहता०
(श्रि) शिश्रीषति=सेवा करना चाहता है
(श्रु) शुश्रूषते=सुनना चाहता है।
(सह्) सिसहिषते=सहना चाहता है।
(सृज्) सिसृक्षति=पैदा करना चाहता है
(स्तु) तुष्टूषति=स्तुति करना चाहता है।
(स्था) तिष्ठासति=ठहरना चाहता है।
(स्वप्) सुषुप्सति=सोना चाहता है।
(हन्) जिघांसति=मारना चाहता है।
(हस्) जिहसिषति=हँसना चाहता है।
(हा) जिहासति=छोड़ना चाहता है।
(हु) जुहूषति=होम करना चाहता है।
(हृ) जिहीर्षति-ते=हरना चाहता है।
(ह्री) जिह्रीषति=लज्जित होना चाह०

## इति सन्नन्तप्रक्रिया

( यहां पर सन्नन्तप्रक्रिया समाप्त होती है )



# अथ यङन्तप्रक्रिया (Intensives)

अब तिङन्तप्रकरण मे यङन्तप्रक्रिया का प्रारम्भ किया जाता है। क्रिया के बार बार करने या अतिशय करने (frequency or intensity of action) मे हलादि एकाच् धातुओ से परे यङ्प्रत्यय किया जाता है। यथा—भू+यङ्=बोभूय (बार बार होना या अतिशय होना), कृ+यङ्=चेक्रीय (बार बार करना या अतिशय करना)। अब सर्वप्रथम यङ्विधायक सूत्र का उल्लेख करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७११)

धातोरेकाचो हलादे क्रियासमभिहारे यङ् ।३।१।२२॥

पौनःपुन्ये भृशार्थे च द्योत्ये धातोरेकाचो हलादेर्यङ् स्यात् ॥

अर्थ—क्रिया के बार बार होने अथवा अतिशय होने के द्योत्य होने पर एकाच् हलादि धातु से परे यङ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—धातो ।५।१। एकाच ।५।१। हलादे ।५।१। क्रियासमभिहारे ।७।१। यङ् ।१।१। 'प्रत्यय, परश्च' दोनों अधिकृत हैं। पौनःपुन्य भृशार्थों वा क्रियासमभिहार, क्रिया के बार बार किये जाने या अतिशय (अत्यन्त) किये जाने को 'क्रियासमभिहार' कहते हैं। अर्थ—(क्रियासमभिहारे) क्रिया का बार बार होना या अतिशय होना द्योत्य हो तो (एकाचो हलादे) एक अच् वाली हलादि धातु से परे (यङ्) यङ् प्रत्यय होता है[1]।

सार यह है कि यङ् प्रत्यय के करने मे तीन बातों का होना आवश्यक है। (१) धातु का एकाच् होना। (२) धातु का हलादि होना। (३) क्रियासमभिहार अर्थ का द्योतित होना। यदि इन तीनो मे से कोई एक भी शर्त पूरी न होगी तो यङ् प्रत्यय न होगा[2]।

यङ् प्रत्यय के अन्त्य ङकार की इत्सञ्ज्ञा होकर 'य' यह सस्वर शेष रहता है। इसे यदि सस्वर न रखेंगे तो 'अटाट्यते' आदि मे द्वितीय एकाच्-भाग 'ट्य' को द्वित्व न हो सकेगा।

---

१ ध्यान रहे कि सन् प्रत्यय इच्छा का वाचक माना गया है परन्तु यहा यङ्प्रत्यय क्रियासमभिहार का द्योतक स्वीकार किया गया है। वाचक स्वीकार करने में प्रत्ययार्थ के प्राधान्य के कारण क्रियासमभिहार की विशेष्यता-प्रधानता माननी पड़ती जो प्रत्यक्षत शाब्दबोध के विरुद्ध है। विस्तृत विवेचन व्याकरण के उच्चग्रन्थों मे देखें।

२ पुन पुन भृश वा जागर्ति—यहा जागृधातु के एकाच् न होने से शेष दोनों शर्तों के पूर्ण होने पर भी यङ् नहीं होता। पौनःपुन्येन भृश वा ईक्षते—यहा 'ईक्ष्' धातु के हलादि न होने से शेष दोनो शर्तों के पूर्ण होने पर भी यङ् नहीं होता। क्रियासमभिहार अर्थ द्योतित न होने पर धातु के एकाच् हलादि होने हुए भी यङ् नहीं होता—भवति, पठति आदि।

**भू सत्तायाम्** (होना) धातु एक अच् वाली है तथा हलादि भी है अतः क्रिया-समभिहार में इस से परे यङ् प्रत्यय होकर—भू+यङ्='भू+य' हुआ। यङ् प्रत्यय **'धातोः'** से विहित होने के कारण आर्धधातुक है अतः इस के परे होने पर **'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'**(३८८)से गुण प्राप्त होता है। परन्तु यङ् के ङित्त्व के कारण **'क्ङिति च'** (४३३) से उसका निषेध हो जाता है। अब **'सन्यङोः'** (७०६) से यङन्त के प्रथम एकाच् 'भू' को द्वित्व और अभ्यास ह्रस्व-जश्त्व होकर—बु+भूय। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७१२) गुणो यङ्-लुकोः ।७।४।८२॥

अभ्यासस्य गुणो यङि यङ्लुकि च परतः। ङिदन्तत्वाद् आत्मनेपदम्। पुनः पुनरतिशयेन वा भवति—बोभूयते। बोभूयाञ्चक्रे। अबोभूयिष्ट॥

**अर्थः**—यङ् या यङ् का लुक् परे होने पर अभ्यास के स्थान पर गुण हो।

**व्याख्या**—गुणः।१।१। यङ्-लुकोः।७।२। अभ्यासस्य।६।१। (**'अत्र लोपोऽभ्यासस्य'** से)। यङ् च लुक् च यङ्लुक्, तस्मिन् यङ्लुकि। यङ् के सन्निहित होने से लुक् भी यहां यङ् का ही लिया जाता है। अर्थः—(यङ्-लुकोः) यङ् या यङ् का लुक् परे होने पर (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (गुणः) गुण हो जाता है। **'इको गुणवृद्धी'** (१.१.३) परिभाषा से गुण और वृद्धि इक् के स्थान पर हुआ करते हैं अतः यहां अभ्यास के इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) को ही गुण होगा। यङ्लुक् के उदाहरण अगली यङ्लुक्प्रक्रिया में आयेंगे, यहां यङ् परे होने के उदाहरण प्रकृत हैं—

'बु+भूय' यहां यङ् परे हैं अतः 'बु' अभ्यास के इक्-उकार को ओकार गुण होकर 'बोभूय' यह यङन्त रूप निष्पन्न होता है। अब **'सनाद्यन्ता धातवः'** (४६८) से 'बोभूय' की धातुसञ्ज्ञा होकर लँट् आदियों की उत्पत्ति होती है। यङ् के ङित् होने के कारण यङन्त धातु ङिदन्त होती है अतः **'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** (३७८) से इस से परे आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं[1]। लँट् प्र० पु० के एकवचन मे त, शप्, **'अतो गुणे'** (२७४) से पररूप तथा टि को एत्व करने पर—**बोभूयते, बोभूयेते, बोभूयन्ते।**

लिँट्—में 'बोभूय' के अनेकाच् होने के कारण आम् प्रत्यय होकर **'अतो लोपः'** (४७०) से अकार का लोप हो जाता है—**बोभूयाञ्चक्रे, बोभूयाम्बभूव, बोभूयामास** आदि।

लुँट्—**'अतो लोपः'** (४७०) से अकार का लोप हो जाता है—**बोभूयिता।**

---

१. पीछे **'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्** (३७८) सूत्र द्वारा अनुदात्तेत् अथवा ङित् धातु से आत्मनेपद का विधान किया गया है परन्तु यहां ङित् तो यङ् है न कि यङन्त, तो भला कैसे यङन्त से आत्मनेपद हो सकेगा ? इस का समाधान यह है कि **'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** सूत्र के ङित् अंश में तदन्तविधि हो कर **'ङित् जिस के अन्त में हो ऐसी धातु से आत्मनेपद हो'** इस प्रकार का अर्थ करने से आत्मनेपद की सिद्धि की जाती है। इसीलिये तो यहां मूल में **'ङिदन्तत्वाद् आत्मनेपदम्'** कहा गया है।

लृट्—बोभूयिष्यते। लोट्—बोभूयताम्। लङ्—अबोभूयत। वि० लिङ्—बोभूयेत। आ० लिङ्—बोभूयिषीष्ट। लुङ्—अबोभूयिष्ट। लृङ्—अबोभूयिष्यत।

सन्नन्तप्रक्रिया की तरह इस प्रक्रिया मे भी यङन्तरूप बनाने तक प्रक्रिया जटिल होती है। आगे लँडादिप्रक्रिया मे कुछ कठिनाई नही होती।

'बोभूयते' आदि का अर्थ प्रकट करने के लिये 'पुन पुनर्भवति, अतिशयेन भवति, पौन पुन्येन भवति, भृश भवति' आदि वाक्यों का प्रयोग किया जाता है[1]।

अब गत्यर्थक धातुओं से अर्थविशेष मे यङ् का विधान करते हैं—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—(७१३) नित्य कौटिल्ये गतौ ।३।१।२३॥

गत्यर्थात् कौटिल्य एव यङ् स्यात्, न तु क्रियासमभिहारे॥

अर्थ—गत्यर्थक धातु से कुटिलगमन अर्थ द्योत्य होने पर ही यङ प्रत्यय हो, क्रियासमभिहार (क्रिया का पुन पुन होना या अतिशय होना) अर्थ मे नही।

व्याख्या—नित्यम् इति द्वितीयैकवचनान्त क्रियाविशेषणम्। कौटिल्ये ।७।१। गतौ ।७।१। धातो ।५।१। यङ् ।१।१। ('धातोरेकाचो हलादे क्रियासमभिहारे यङ्' से)। 'नित्यम्' शब्द यहा अवधारणार्थक अर्थात् 'एव' (ही) अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। अर्थ—(गतौ) गति अर्थ मे जो (धातो) धातु, उस से परे (कौटिल्ये) कुटिलगमन अर्थ मे (नित्यम्=एव) ही (यङ्) यङ प्रत्यय हो। 'एव' कहने से गत्यर्थ धातु से पूर्वसूत्र द्वारा क्रियासमभिहार अर्थ मे यङ् न होगा। अत एव गत्यर्थ धातुओं का 'पुन पुनर्गच्छति, अतिशयेन गच्छति' इत्यादिप्रकारेण विग्रह न होगा[2]।

व्रज गतौ (जाना, भ्वा० परस्मै०)। व्रज् धातु गत्यर्थक है अत कुटिलगमन (टेढा-मेढा चलना) अर्थ में इस से परे यङ होकर 'व्रज+य' हुआ। अब 'सन्यङो' (७०६) से द्वित्व तथा अभ्यासकार्य हलादिशेष करने पर 'व+व्रज्+य' इस स्थिति

---

१ यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'बोभूयते' आदि का विग्रह इन वाक्यों से कैसे प्रकट किया जा सकता है क्योंकि सन्विधायक सूत्र की तरह यङ्विधायकसूत्र मे 'वा' का तो कहीं उल्लेख किया नहीं गया। 'वा' की अनुवृत्ति मान कर भी यङ् से मुक्त होने पर पक्ष मे 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमो' (३।४।२) सूत्र की प्रवृत्ति होकर 'भव भवेति भवति' आदि बनेगा उपर्युक्त विग्रहवाक्य नहीं बन सकेंगे। इस का उत्तर यह है कि 'पुन पुनर्भवति' आदि 'बोभूयते' आदि यङन्तों के विग्रहवाक्य नहीं हैं अपितु अर्थप्रदर्शनमात्र हैं। इस अर्थप्रदर्शन मे 'भू' आदि धातु क्रियासमभिहार का द्योतन नही कर रही, साधारण अर्थ मे प्रयुक्त है। क्रियासमभिहार का प्रकटीकरण हम 'पुन पुन' 'भृशम्' शब्दो से पृथक्श कर रहे हैं।

२ नागेशभट्ट आदि कुछ मूर्धन्यतम वैयाकरण इस मत से सहमत नहीं हैं। वे गत्यर्थकों से क्रियासमभिहार मे भी यङ् मानते है। अत एव लोक मे 'स्थावर' का प्रतियोगी 'जङ्गम' शब्द प्रसिद्ध है। भट्टि ने गत्यर्थक अट धातु का क्रियासमभिहार अर्थ में प्रयोग किया भी है—अटाटयमानोऽरण्यानी ससन्ति सहलक्ष्मण (४.२)।

में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७१४) दीर्घोऽकितः ।७।४।९४॥

अकितोऽभ्यासस्य दीर्घो यङि यङ्लुकि च । कुटिलं व्रजति–वाव्रज्यते॥

अर्थः—अकित् अभ्यास के स्थान पर दीर्घ हो यङ् या यङ्लुक् परे हो तो ।

व्याख्या—दीर्घः ।१।१। अकितः ।६।१। अभ्यासस्य ।६।१।('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। यङ्-लुकोः ।७।२। ('गुणो यङ्लुकोः' से)। नास्ति कित् (किदागमः) यस्य असौ= अकित्, तस्य=अकितः, नञ्बहु० । अर्थः—(यङ्-लुकोः) यङ् या यङ्लुक् परे होने पर (अकितः) जिसे कित् का आगम नहीं हुआ ऐसे (अभ्यासस्य) अभ्यास के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है । 'अचश्च' (१.२.२८) परिभाषा से अभ्यास के अच् को दीर्घ किया जायेगा । अभ्यास को जब नुक् आदि का आगम होता है तब अभ्यास अकित् नहीं रहता, ऐसी स्थिति में प्रकृतसूत्र से अभ्यास को दीर्घ नहीं होता (यथा—यंयम्यते, जंगम्यते आदि) ।

'व+व्रज्+य' यहां यङ् परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से 'व' इस अकित् अभ्यास के अच् को दीर्घ होकर 'वाव्रज्य' यह यङन्त धातु निष्पन्न हो जाती है । अब इस से लँट्, आत्मनेपद प्र० पु० का एकवचन त, शप्, पररूप और एत्व करने पर 'वाव्रज्यते' प्रयोग सिद्ध होता है । कुटिलं व्रजति इति वाव्रज्यते (कुटिल गमन करता है) । लँट्—**वाव्रज्यते, वाव्रज्येते, वाव्रज्यन्ते** ।

लिँट् आदि आर्धधातुकप्रत्ययों में हल् से परे यङ् के लोप का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७१५) यस्य हलः ।६।४।४९॥

यस्येति सङ्ज्ञातग्रहणम् । हलः परस्य यशब्दस्य लोप आर्धधातुके । **आदेः परस्य (७२), अतो लोपः (४७०)**—वाव्रजाञ्चक्रे । वाव्रजिता ॥

अर्थः—हल् से परे 'य' का लोप हो आर्धधातुक परे हो तो ।

व्याख्या—यस्य ('य' शब्द के षष्ठी का एकवचन है) । हलः ।५।१। लोपः । १।१। ('अतो लोपः' से)। आर्धधातुके ।७।१। (यह अधिकृत है) । अर्थः—(हलः) हल् से परे (यस्य) 'य' का (लोपः) लोप हो (आर्धधातुके) आर्धधातुक परे हो तो । यहां सम्पूर्ण 'य' अर्थात् सस्वर यकार का लोप प्राप्त होने पर 'आदेः परस्य' (७२) द्वारा केवल आदि के यकार का ही लोप हो जायेगा ।

लिँट् में 'वाव्रज्य' से 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यो लिँटि' (वा०३४) द्वारा आम् प्रत्यय होकर 'वाव्रज्य+आम्+लिँट्' इस स्थिति में जकार हल् से परे 'य' के आदि यकार का प्रकृतसूत्र से लोप हो जाता है—वाव्रज् अ+आम्+लिँट् । शेष बचे 'अ' का 'अतो लोपः' (४७०) से लोप होकर—वाव्रजाम्+लिँट् । अब 'आमः' (४७१) से लिँट् का लुक् कर लिँट्परक कृ, भू और अस् का अनुप्रयोग करने से—वाव्रजाञ्चक्रे-वाव्रजाम्बभूव-वाव्रजामास आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

इसी प्रकार लुँट् आदि में भी आर्धधातुक प्रत्यय के परे होने पर यकार और

अकार का लोप हो जाता है। लुंट्—वाव्रजिता, वाव्रजितारौ, वाव्रजितार। लृट्—वाव्रजिष्यते। लोट्—वाव्रज्यताम्। लँङ—अवाव्रज्यत। वि० लिंङ्—वाव्रज्येत। आ० लिंङ्—वाव्रजिषीष्ट। लुंङ्—अवाव्रजिष्ट। लृंङ्—अवाव्रजिष्यत।

ध्यान रहे कि हल् से परे 'य' का लोप विधान किया गया है अत 'बोभूयाञ्चक्रे, बोभूयिता' आदि मे यकार का लोप नही होता। वाव्रज्यते, वाव्रज्यताम् आदि मे आर्धधातुक परे न होने से यकार का लोप नही होता।

अब ऋदुपध (ह्रस्व ऋकार जिन की उपधा मे है) धातुओ से यङ करने पर अभ्यास को विशेष कार्य का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७१६) रीगृदुपधस्य च ।७।४।९०॥

ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रीगागमो यङि यङ्लुकि च। वरीवृत्यते। वरीवृताञ्चक्रे। वरीवृतिता॥

अर्थ—उपधा मे ह्रस्व ऋकार वाली धातु के अभ्यास को रीक् का आगम हो जाता है यङ् या यङ्लुक् परे हो तो।

व्याख्या—रीक्।१।१। ऋदुपधस्य।६।१। च इत्यव्ययपदम्। अभ्यासस्य। ६।१। ('अत्र लोपोऽभ्यासस्य' से)। यङ्लुकी।७।२। ('गुणो यङ्लुको' से)। 'अङ्गस्य' के अधिकृत होने से 'धातो' पद उपलब्ध हो जाता है। ऋत् (ह्रस्व ऋकार) उपधा यस्य स ऋदुपध, तस्य ऋदुपधस्य। अर्थ—(ऋदुपधस्य धातो) ह्रस्व ऋकार जिसकी उपधा मे है ऐसी धातु के (अभ्यासस्य) अभ्यास का अवयव (रीक्) रीक् हो जाता है (यङ लुकी) यङ् या यङ्लुक् परे हो तो। 'रीक्' मे ककार इत्सञ्ज्ञक है, 'री' मात्र अवशिष्ट रहता है। कित् होने से रीक् अभ्यास का अन्तावयव बन जाता है।

वृतुं वर्तने (होना, भ्वा० आत्मने०) धातु ऋदुपध है। क्रियासमभिहार मे वृत् धातु से यङ् होकर द्वित्व, उरत् तथा हलादिशेष करने पर—व+वृत्+य। अब यहा अभ्यास को प्रकृतसूत्र से रीक् का आगम होकर वरी+वृत्+य='वरीवृत्य' यह यङन्त धातुरूप निष्पन्न होता है। इस से पूर्ववत् लँट् आदियो की उत्पत्ति होती है। लँट्—वरीवृत्यते, वरीवृत्येते, वरीवृत्यन्ते। पुन पुनरतिशयेन वा वर्त्तत इति वरीवृत्यते (पुन पुन या अत्यन्त होता है)। 'वरीवर्तते' आदि लिखना ठीक नहीं।

लिंट् आदि मे आर्धधातुकप्रत्ययों के परे रहते 'यस्य हल' (७१५) द्वारा हल् मे परे यङ् के यकार का तथा 'अतो लोप' (४७०) से अवशिष्ट अकार का लोप हो जाता है। लिंट्—वरीवृताञ्चक्रे वरीवृताम्बभूव-वरीवृतामास आदि। लुंट्—वरीवृतिता। लृट्—वरीवृतिष्यते। लोट्—वरीवृत्यताम्। लँङ्—अवरीवृत्यत। वि० लिंङ्—वरीवृत्येत। आ० लिंङ्—वरीवृतिषीष्ट। लुंङ्—अवरीवृतिष्ट। लृंङ्—अवरीवृतिष्यत।

नृत् (नाचना) धातु की प्रक्रिया भी वृत् धातु की तरह होती है। यङ्, द्वित्व, उरत्, हलादिशेष तथा रीक् का आगम होकर 'नरीनृत्य' इस स्थिति मे 'अटकुप्वाङ०'

(१३८) से णत्व प्राप्त होता है । इस का अग्रिमसूत्र से निषेध करते है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(७१७) क्षुभ्नादिषु च ।८।४।३८॥

णत्वं न । नरीनृत्यते । जरीगृह्यते ॥

अर्थः—क्षुभ्ना आदि गणपठित शब्दों में नकार को णकार नहीं होता ।

व्याख्या—क्षुभ्नादिषु ।७।३। च इत्यव्ययपदम् । नः ।६।१। णः ।१।१। ('रषाभ्यां नो णः समानपदे' से)। न इत्यव्ययपदम् ('न माभूपू०' से) । क्षुभ्नाशब्द आदिर्येषान्ते क्षुभ्नादयः, तेषु—क्षुभ्नादिषु । तद्गुणसंविज्ञानबहु०। अर्थः—(क्षुभ्नादिषु) क्षुभ्ना आदि शब्दों में (च) भी (नः) न् के स्थान पर (णः) णकार आदेश (न) नहीं होता ।

क्षुभ्नादि एक गण है । क्रैयादिक 'क्षुभ सञ्चलने' धातु से श्नाविकरण करने पर 'क्षुभ्ना' शब्द निष्पन्न होता है । क्षुभ्ना आदि गणपठित शब्दों में किसी न किसी सूत्र से नकार को णकार आदेश प्राप्त होता है परन्तु अब इस सूत्र से उस का निषेध हो जाता है । यथा—क्षुभ्नाति, यहां 'अट्कुप्वाङ्०'(१३८) से णत्व प्राप्त होता था परन्तु अब इस निषेध के कारण नहीं होता[1] ।

'नरीनृत्य' शब्द भी क्षुभ्नादियों में पढ़ा गया है अतः इस में भी प्रकृतसूत्र से णत्व का निषेध हो जाता है । अब इस की रूपमाला 'वरीवृत्य' की तरह चलने लगती है । लँट्—नरीनृत्यते । लिँट्—नरीनृताञ्चक्रे-नरीनृताम्बभूव-नरीनृतामास । लुँट्—नरीनृतिता । लृँट्—नरीनृतिष्यते । लोँट्—नरीनृत्यताम् । लँङ्—अनरीनृत्यत । वि० लिँङ्—नरीनृत्येत । आ० लिँङ्—नरीनृतिषीष्ट । लुँङ्—अनरीनृतिष्ट । लृँङ्—अनरीनृतिष्यत ।

पुनः पुनरतिशयेन वा गृह्णातीति जरीगृह्यते । ग्रह उपादाने (ग्रहणकरना, क्रया० परस्मै०) धातु से क्रियासमभिहार में यङ् करने पर 'ग्रहिज्यावयि०' (६३४) से सम्प्रसारण तथा 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'गृह्+य' इस स्थिति में द्वित्व, उरत्, हलादिशेष, चुत्व और धातु के ऋदुपध हो जाने से 'रीगृदुपधस्य च' (७१६) से अभ्यास को रीक् का आगम करने से 'जरीगृह्य' यह यङन्त रूप निष्पन्न होता है । अब 'सनाद्यन्ता धातवः'(४६८) द्वारा धातुसञ्ज्ञा होकर 'वरीवृत्य'

---

१. क्षुभ्नादिगण यथा—

क्षुभ्ना, नृनमन, नन्दिन्, नन्दन, नगर (नन्दिन् आदि शब्द उत्तरपद में हों तथा वह संज्ञा होनी चाहिये, यथा—हरिनन्दिन्, हरिनन्दन, गिरिनगर) । नरीनृत्य, तृप्नु, नर्त्तन, गहन, नन्दन, निवेश, निवास, अग्नि, अनूप (नर्त्तन आदि शब्द उत्तरपद में होने चाहियें, यथा—परिनर्त्तन, परिगहन, परिनन्दन, शरनिवेश, शरनिवास, शराग्नि, दर्भानूप) । हरिकावन, तिमिरवन, समीरवन, कुबेरवन, हरिवन, कर्मारवन । (आचार्यादणत्वं च) आचार्यभोगीन, आचार्यानी । क्षुभ्नादि आकृतिगण है अर्थात् जिस शब्द में णत्व प्राप्त तो हो पर वह अभीष्ट न हो उसे क्षुभ्नादिगण में समझ लेना चाहिये ।

की तरह रूपमाला चलती है।

लँट्—जरीगृह्यते। लिँट्—जरीगृह्याञ्चक्रे जरीगृह्याम्बभूव-जरीगृह्यामास। लुँट्—जरीगृहिता। लृँट्—जरीगृहिष्यते। लोँट्—जरीगृह्यताम्। लँङ्—अजरीगृह्यत। वि० लिँङ्—जरीगृह्येत। आ० लिँङ्—जरीगृहिषीष्ट। लुँङ्—अजरीगृहिष्ट। लृँङ्—अजरीगृहिष्यत।

यङन्तप्रक्रिया में अभ्यास को प्रायः निम्नलिखित पाञ्च कार्यों में से कोई एक कार्य अवश्य हुआ करता है—

(१) अभ्यास के इकार उकार को गुण हो जाता है। यथा—(भिद्) बेभिद्यते=बार बार या अत्यन्त तोड़ता है, (छिद्) चेच्छिद्यते=बार बार या अत्यन्त काटता है, (भू) बोभूयते, (रुद्) रोरुद्यते आदि।

(२) अभ्यास के ह्रस्व अकार को दीर्घ हो जाता है। यथा—(पच्) पापच्यते=बार बार या अत्यन्त पकाता है, (पठ) पापठ्यते=बार बार या अतिशय पढ़ता है।

(३) ऋदुपध या ऋकार वाली धातु के अभ्यास को रीक् का आगम हो जाता है। यथा—(नृत्) नरीनृत्यते, (वृत्) वरीवृत्यते, (दृश्) दरीदृश्यते, (प्रच्छ्) परीपृच्छ्यते आदि[1]।

(४) अनुनासिकान्त धातुओं के अभ्यास को नुक् का आगम हो जाता है। यथा—(जन्) जञ्जन्यते, (नम्) ननम्यते, (रम्) ररम्यते, (यम्) यंयम्यते, (तन्) तन्तन्यते आदि।

(५) पत्, पद्, सृ, ध्वंसुँ, भ्रंसुँ आदि कुछ विशिष्ट धातुओं को नीक् का आगम हो जाता है। यथा—(पत्) पनीपत्यते, (पद्) पनीपद्यते, (सृ) सनीसर्त्यते आदि।

अब हम नीचे अत्यन्त प्रसिद्ध एक सौ धातुओं के अर्थ सहित यङन्तरूप दे रहे हैं। विद्यार्थी यदि इस शतक का अच्छा अभ्यास कर लेंगे तो अनुवाद आदि में उन को बड़ी सुविधा होगी।

(कम्प्)चाकम्प्यते=बार २ काँपता है।
(काङ्क्ष)चाकाङ्क्ष्यते=बार २ चाहता है
(कूर्द्) चोकूद्यते=बार २ कूदता है।
(क्रन्द्)चाक्रन्द्यते=बार २ चिल्लाता है।
(क्रम्)चंक्रम्यते=बार २ क्रमण करता है।
(कृ)चेकीर्यते=बार २ करता है।
(क्री)चेक्रीयते=बार २ खरीदता है।
(क्रीड्)चेक्रीड्यते=बार २ खेलता है।
(क्षि)चेक्षीयते=बार २ क्षीण होता है।
(खन्)चंखन्यते / चाखायते } बार २ खोदता है।
(खाद्)चाखाद्यते=बार २ खाता है।
(गद्)जागद्यते=बार २ कहता है।
(गम्)जङ्गम्यते=कुटिल गमन करता है।
(गै)जेगीयते=बार २ गाता है।
(ग्रह्)जरीगृह्यते=बार २ लेता है।

[1] परन्तु ऋदन्त धातु हो तो प्रथम रीङ् (रीङ् ऋत १०४२) होकर बाद में द्वित्वादि होते हैं—(कृ) चेकीर्यते, (भृ) बेभ्रीयते आदि।

(घुष्) जोघुष्यते=वार २ घोषणा करता है
(घ्रा) जेघ्रीयते=वार २ सूंघता है।
(चर्) चञ्चूर्यते=बुरी तरह से चरता है।
(चल्) चाचल्यते=कुटिलता से चलता है।
(चि) चेचीयते=वार २ चुनता है।
(छिद्) चेच्छिद्यते=वार २ काटता है।
(जन्) जञ्जन्यते=वार २ पैदा होता है।
(जप्) जञ्जप्यते=बुरी तरह जपता है।
(जि) जेजीयते=वार २ जीतता है।
(जीव्) जेजीव्यते=वार २ जीता है।
(ज्ञा) जाज्ञायते=वार २ जानता है।
(ज्वल्) जाज्वल्यते=वार २ प्रज्वलित होता है।
(तन्) तन्तन्यते=वार २ विस्तार करता है
(तप्) तातप्यते=वार २ तपता है।
(तुद्) तोतुद्यते=वार २ दुःखी करता है।
(तॄ) तेतीर्यते=वार २ तैरता है।
(त्यज्) तात्यज्यते=वार २ छोड़ता है।
(दह्) दन्दह्यते=बुरी तरह से जलाता है
(दा) देदीयते=वार २ देता है।
(दीप्) देदीप्यते=वार २ चमकता है।
(दुह्) दोदुह्यते=वार २ दोहता है।
(दू) दोदूयते=वार २ दुःखी होता है।
(दंश्) दंदश्यते=बुरी तरह डसता है।
(दृश्) दरीदृश्यते=वार २ देखता है।
(द्युत्) देद्युत्यते=वार २ चमकता है।
(द्विष्) देद्विष्यते=वार २ द्वेष करता है।
(धा) देधीयते=वार २ धारण करता है
(धाव्) दाधाव्यते=कुटिलता से दौड़ता है
(धू) दोधूयते=वार २ कम्पाता है।
(ध्यै) दाध्यायते=वार २ ध्यान करता है
(ध्वंस्) दनीध्वस्यते=वार २ नष्ट होता है
(नम्) नंनम्यते=वार २ नमता है।
(पच्) पापच्यते=वार २ पकाता है।
(पठ्) पापठ्यते=वार २ पढ़ता है।
(पत्) पनीपत्यते=वार २ गिरता है।
(पा) पेपीयते=वार २ पीता है।
(पूञ्) पोपूयते=वार २ पवित्र करता है।
(प्रच्छ्) परीपृच्छ्यते=वार २ पूछता है
(बुध्) बोबुध्यते=वार २ जानता है।
(भिद्) बेभिद्यते=वार २ तोड़ता है।
(भुज्) बोभुज्यते=वार २ खाता है।
बोभुज्यते=वार २ पालता है।
(भ्रम्) बम्भ्रम्यते=वार २ घूमता है।
(मन्थ्) मामथ्यते=वार २ मथता है।
(मृज्) मरीमृज्यते=वार २ मांजता है।
(यज्) यायज्यते=वार २ यज्ञ करता है।
(यत्) यायत्यते=पुनः २ यत्न करता है।
(युज्) योयुज्यते=वार २ जोड़ता है।
(रक्ष्) रारक्ष्यते=वार २ बचाता है।
(आ√रभ्) आरारभ्यते=वार २ आरम्भ करता है।
(रम्) रंरम्यते=वार २ रमण करता है।
(राज्) राराज्यते=वार २ चमकता है।
(रुद्) रोरुद्यते=वार २ रोता है।
(रुध्) रोरुध्यते=वार २ रोकता है।
(रुह्) रोरुह्यते=वार २ उगता है।
(लभ्) लालभ्यते=वार २ पाता है।
(लिख्) लेलिख्यते=वार २ लिखता है।
(लिह्) लेलिह्यते=वार २ चाटता है।
(लू) लोलूयते=वार २ काटता है।
(वच्) वावच्यते=वार २ बांचता है।
(वद्) वावद्यते=वार २ बोलता है।
(वन्द्) वावन्द्यते=वार २ झुकता है।
(वप्) वावप्यते=वार २ बोता है।
(वस्) वावस्यते=वार २ रहता है।
(वह्) वावह्यते=वार २ ढोता है।
(वाञ्छ्) वावाञ्छ्यते=वार २ चाहता है
(विश्) वेविश्यते=वार २ प्रविष्ट होता है
(वृत्) वरीवृत्यते=वार २ होता है।

(वृश्च्)वरीवृश्च्यते=बार २ काटता है।
(शङ्क्)शाशङ्क्यते=बार २ शङ्का करता०
(शुच्)शोशुच्यते=बार २ शोक करता है।
(शीङ्) शाशय्यते=बार २ सोता है।
(श्रु) शोश्रूयते=बार २ सुनता है।
(सह्) सासह्यते=बार २ सहता है।
(सिच्) सेसिच्यते=बार २ सींचता है।
(सृज्)सरीसृज्यते=बार २ पैदा करना है
(सृप्)सरीसृप्यते=कुटिलता से रेंगता है।
(स्तु)तोष्टूयते=बार २ स्तुति करता है।
(स्था) तेष्ठीयते=बार २ ठहरता है।
(स्पर्ध्)पास्पर्ध्यते=बार २ स्पर्धा करता०
(स्मृ)सास्मर्यते=बार २ स्मरण करता है।
(स्रस्)सनीस्रस्यते=बार २ स्रस्त होता है
(स्वप्) सोषुप्यते=बार २ सोता है।
(हन्)जेघ्नीयते=बार २ हनन करता है।
जङ्घन्यते=कुटिल गमन करता है।
(हा) जेहीयते=बार २ छोडता है।
(हिंस्)जेहिंस्यते=बार २ हनन करता है

नोट—'चाकम्प्यते' आदि का केवल 'बार बार कांपता है' इतना ही अर्थ नहीं है अपितु 'अतिशय (अत्यन्त) कांपता है' आदि अर्थ भी समझना चाहिये।

## इति यङन्तप्रक्रिया

(यहा पर यङन्तप्रक्रिया समाप्त होती है)



## अथ यङ्लुगन्तप्रक्रिया

अब तिङन्तप्रकरण मे यङ्लुगन्तप्रक्रिया का प्रारम्भ होता है। इस प्रक्रिया में पूर्ववत् किये गये यङ्प्रत्यय का लुक् कर लिया जाता है, अर्थ मे कोई परिवर्तन नहीं होता। क्रियासमभिहार आदि जो यङन्त के अर्थ हैं वे यङ्लुगन्त के भी समझने चाहियें। बोभूयते (यङन्तप्रक्रिया) और बोभवीति (यङ्लुगन्त) के अर्थों मे कुछ भेद नही, दोनो समानार्थक हैं।

यङ्लुगन्तो के प्रयोग के विषय मे वैयाकरणों मे मतभेद है। काशिकाकार तथा उस के अनुयायी यङ्लुगन्तो का लोक वेद दोनो मे प्रयोग मानते हैं। सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित भी इसी मार्ग के अनुयायी हैं। भागवृत्तिकार तथा नागेशभट्ट आदि वैयाकरण यङ्लुगन्तो का केवल वेद मे ही प्रयोग मानते हैं लोक मे नहीं। नागेशभट्ट के अनुसार(६ ४ ८७)सूत्र के महाभाष्यद्वारा केवल 'बेभिदीति' और 'चेच्छिदीति' इन दो रूपो की ही लोक में अनुमति प्राप्त होती है। लघुकौमुदीकार श्रीवरदराजजी ने मध्यम मार्ग अपनाया है। वे इस का क्वचित् प्रयोग ही स्वीकार करते हैं जैसा कि उन्होंने वक्ष्यमाण (७१८) सूत्र पर 'क्वचित्' लिख कर प्रकट किया है।

इस प्रक्रिया को प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम यङ् के लुक् का विधान करते हैं—

[लघु०]विधि सूत्रम्—(७१८) यङोऽचि च ।२।४।७४॥

यङोऽचि प्रत्यये लुक् स्यात्। चकारात्त विनापि क्वचित्॥

**अर्थः**—अच् प्रत्यय परे होने पर यङ् का लुक् हो जाता है। चकारग्रहण से अच् प्रत्यय के विना भी कहीं २ यङ् का लुक् हो जाता है।

**व्याख्या**—यङः ।६।१। अचि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। लुक् ।१।१। ('व्यक्षत्रियार्थलितो यूनि लुगणिञोः' से)। इस सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी में **'बहुलं छन्दसि'** सूत्र पढ़ा गया है। यहां पर 'च' के ग्रहण के कारण 'बहुलम्' की अनुवृत्ति आती है। **अर्थः**—(अचि) अच् प्रत्यय के परे होने पर (यङः) यङ् का (बहुलम्) बहुल कर (लुक्) लुक् हो जाता है। **'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः'** (१९०) के अनुसार प्रत्यय के अदर्शन को लुक् कहते हैं अतः यहां सम्पूर्ण यङ् प्रत्यय का अदर्शन होगा अलोऽन्त्यविधि प्रवृत्त न होगी।

अच् एक प्रत्यय है जो **'अज्विधिः सर्वधातुभ्यः'** वार्त्तिक के अनुसार कर्त्ता अर्थ में सब धातुओं से किया जाता है। यथा—चि+अच्=चे+अ=चयः (चुनने वाला), जि+अच्=जे+अ=जयः (जीतने वाला)। इस अच् प्रत्यय के परे होने पर यङ् का लुक् हो जाता है। उदाहरण यथा—लोलुवः, पोपुवः। लोलूय और पोपूय इन यङन्त धातुओं से परे अच् प्रत्यय करने पर 'लोलूय+अ, पोपूय+अ' हुआ। अब प्रकृतसूत्र से सम्पूर्ण यङ् का लुक् होकर 'लोलू+अ, पोपू+अ' इस स्थिति मे आर्धधातुकगुण (३८८) प्राप्त होता है, पर इस का **'न धातुलोप आर्धधातुके'** (१.१.४) से निषेध हो जाता है। पुनः **'अचि श्नु०'** (१९९) से ऊकार को उवँङ् आदेश कर विभक्ति लाने से 'लोलुवः' (बार बार काटने वाला) और 'पोपुवः' (बार बार पवित्र करने वाला) सिद्ध होते हैं।

इस सूत्र में 'च' के बल से 'बहुलम्' पद का अनुवर्त्तन होता है। **'बहून् अर्थान् लातीति बहुलम्'** इस विग्रह से 'बहुलम्' के कारण अनेक नई बातो का समावेश हुआ करता है[1]। अतः कही कही अच् प्रत्यय के परे रहते हुए भी यङ् का लुक् न होगा तथा कही कही अच् प्रत्यय के विना भी लुक् हो जायेगा[2]।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब अच् प्रत्यय न हो तब यङ् का लुक् कब करना चाहिये? द्वित्वादि से पहले या बाद में? इस का उत्तर देते हुए लघुकौमुदीकार लिखते हैं—

[लघु०] अनैमित्तिकोऽयम् अन्तरङ्गत्वाद् आदौ भवति ॥

**अर्थः**—(अच् प्रत्यय परे न रहने की स्थिति मे) यह लुक् अन्तरङ्ग होने से सब कार्यों से प्रथम हो जाता है।

---

१. 'बहुलम्' पद की विशेष व्याख्या आगे सूत्र (७७२) पर देखें।

२. ध्यान रहे कि यह लुक् कही २ होगा सर्वत्र नही। अतः जो लोग प्रत्येक धातु को यङ्लुगन्त प्रक्रिया में साधते है वे चिन्त्य हैं। कहीं २ शिष्ट प्रयोगों मे ही यङ् का लुक् समझना चाहिये। श्रीहरदत्तमिश्र का यह वचन यहा विशेष अनुसन्धेय है—**प्रयोगश्च पद्ये गद्ये च काव्याऽऽख्यायिकादौ विकटपदोपन्यासप्रधानैरपि कविभिर्न कृतो दृश्यते** (२.४. ७४ पर पदमञ्जरी)।

व्याख्या—जो कार्य किसी का आश्रय नहीं करता या अपेक्षाकृत कम करता है वह कार्य अन्तरङ्ग होता है। अन्तरङ्ग से भिन्न कार्य बहिरङ्ग होता है। **असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे** (५०) अर्थात् अन्तरङ्ग कार्य करना हो तो बहिरङ्ग कार्य असिद्ध हो जाता है। यहा अच् के अभावस्थल मे यङ् का लुक् किसी का आश्रय न करने से अन्तरङ्ग होता है। द्वित्व एकाच्-अनेकाच् आदि कई बातो का आश्रय करने से बहिरङ्ग होता है। इसलिये अन्तरङ्ग होने से यङ्लुक् द्वित्वादि की अपेक्षा पहले होगा, बाद मे द्वित्वादि होंगे।

अब यहा यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि यङ्लुक् पहले कर दिया जाये तो यङ् के परे न होने से 'सन्यङो' (७०६) द्वारा द्वित्व कैसे हो सकेगा? इस का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

[लघु०] तत प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वाद् द्वित्वम् अभ्यासकार्यम्॥

अर्थ—तदनन्तर प्रत्ययलक्षण से यङन्त हो जाने के कारण द्वित्व हो जायेगा। पुन अभ्यासकार्य होगा।

व्याख्या—'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१६०) द्वारा प्रत्यय के चले जाने पर भी प्रत्ययलक्षण (प्रत्यय के आश्रित कार्य) हो सकता है। अत लुक् हुए यङ् को मान कर शेष अश को यङन्त मान लेने से द्वित्व हो जायेगा, कोई दोष नहीं आयेगा।

शङ्का—यहा पर लु वाले 'लुक्' शब्द से यङ् का ग्रहण हुआ है तो क्या 'न लुमताङ्गस्य' (१६१) से प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं हो जायेगा?

समाधान—यदि अङ्ग के स्थान पर कार्य करना हो तभी प्रत्ययलक्षण का निषेध हुआ करता है वरना नही। यहा पर यङ् परे होने पर द्वित्व नहीं करना अपितु सम्पूर्ण यङन्त को द्वित्व करना है अत यह अङ्गकार्य नहीं, इसलिये यहा प्रत्ययलक्षण का निषेध नही होता।

भू धातु से यङ् का लुक् होकर द्वित्व तथा अभ्यासकार्य करने पर 'बोभू' बनता है। अब इस से परे लॅट आदियो को लाना है परन्तु बिना धातुसञ्ज्ञा किये वे आ नहीं सकते। अत ग्रन्थकार कहते हैं—

[लघु०] धातुत्वाल्लॅडादय॥

अर्थ—धातुसञ्ज्ञा होने से लॅट् आदियो की उत्पत्ति होती है।

व्याख्या—'बोभू' की धातुसञ्ज्ञा सिद्ध है। किस से? 'बोभूय' के एक अश 'य' का लुक् हो जाने पर 'बोभू' बना है। यङन्त की 'सनाद्यन्ता धातव'(४६८) से धातुसञ्ज्ञा अशुद्ध थी अत 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' (५०) से 'बोभू' भी धातुसञ्ज्ञक है। अथवा—'**अकर्तरीत च**' (गणसूत्र—पृष्ठ ३६२)द्वारा यङ्लुगन्तों का अदादिगण मे पाठ स्वीकृत होने के कारण 'भूवादयो धातव' (३६) से ही धातुत्व सिद्ध हो जाएगा।

धातुसञ्ज्ञा हो कर 'बोभू' से लॅट् आदियो की उत्पत्ति होती है—बोभू+लॅट्

=बोभू+ल्। अब यङ्लुगन्त से कौन सा पद किया जाये? परस्मैपद या आत्मनेपद ? इस पर ग्रन्थकार लिखते हैं—

[लघु०] शेषात्कर्त्तरि० (३८०) इति परस्मैपदम्। चर्करीतं च (गणसूत्रम्) इत्यदादौ पाठाच्छपो लुक् ॥

अर्थः—'शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्' (३८०) सूत्र से परस्मैपद का प्रयोग होता है। 'चर्करीतञ्च' (गणसूत्र पृष्ठ ३६२) द्वारा यङ्लुगन्त के अदादिगणान्तर्गत होने के कारण शप् का लुक् हो जाता है।

व्याख्या—ग्रन्थकार का कहना है कि यङ्लुगन्तों से 'शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्' (३८०) द्वारा परस्मैपद करना चाहिये। परन्तु यङ्लुगन्त तो प्रत्ययलक्षण से यङन्त है। यङन्त ङिदन्त होगा अतः इस से 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (३७८) द्वारा आत्मनेपद होना चाहिये न कि परस्मैपद—इस शङ्का का समाधान तीन प्रकार से किया जाता है—

(१) प्रत्ययलक्षण द्वारा यङ्लुगन्त को ङिदन्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१६०) द्वारा लुप्त हुए प्रत्यय को मान कर वही कार्य किया जा सकता है जो केवल उस प्रत्यय के आश्रित हो। यहां यङ्प्रत्यय के ङित्त्व को लेकर यङ्लुगन्त को ङिदन्त मानना रूप कार्य है। यह ङित्त्व धर्म केवल प्रत्यय के आश्रित नहीं। ङित् तो प्रत्यय अप्रत्यय कोई भी हो सकता है; यथा—शीङ् आदि धातु ङित् हैं, चित्रङ् आदि प्रातिपदिक ङित् हैं। अतः यहां प्रत्ययलक्षण द्वारा ङित्त्व धर्म नहीं लाया जा सकता। यङ्लुगन्त मे जब ङित्त्व न आया तो 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (३७८) से आत्मनेपद कैसा? अतः आत्मनेपद के निमित्तों से हीन होने के कारण 'शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्' (३८०) से परस्मैपद ही होगा।

(२) धातुपाठ में 'चर्करीतञ्च' यह गणसूत्र परस्मैपदी धातुओं के अन्दर पढ़ा गया है। इसे इन के अन्त में भी पढ़ सकते थे। परन्तु वैसा न करना इस बात का द्योतक है कि 'यङ्लुगन्तों से परस्मैपद होता है, आत्मनेपद नहीं'।

(३) 'दार्धर्ति-दर्धर्ति-दर्धर्षि-बोभूतु-तेतिक्ते०' (७.४.६५) इस सूत्र के द्वारा वेद में 'तेतिक्ते' में आत्मनेपद का निपातन किया गया है। यदि यङ्लुगन्त से आत्मनेपद सिद्ध था तो उस का निपातन कैसा? इससे प्रतीत होता है कि 'तेतिक्ते' के सिवाय अन्यत्र यङ्लुगन्त में आत्मनेपद नहीं होता।

इस प्रकार यङ्लुगन्त से परस्मैपद का ही प्रयोग होता है—यह निश्चित हुआ। अब इस से कौन सा विकरण किया जाये? इसका निश्चय करते हैं। श्यन् आदि विकरण दिवादिगण आदि धातुओं से हुआ करते हैं। यङ्लुगन्त का 'चर्करीतञ्च' (गणसूत्र, पृष्ठ ३६२) द्वारा अदादिगण में पाठ स्वीकार किया गया है। अतः 'कर्त्तरि शप्' (३८७) से शप् हो कर 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (५५२) से उस का लुक् हो जायेगा।

भू धातु से क्रियासमभिहार में 'धातोरेकाचो हलादेः०' (७११) से यङ् होकर

'यङोऽचि च' (७१८) से उस का लुक् हो गया। पुन प्रत्ययलक्षण से उसे मान कर 'सन्यङो'(७०६) से द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा 'गुणो यङ्लुको'(७१२) से अभ्यास को गुण हो कर 'बोभू' बना। अब 'चर्करीतं च' द्वारा यङ्लुगन्त का अदादिगण मे पाठ मानने से भौवादिकत्वात् 'भूवादयो धातव' (३६) से धातुसञ्ज्ञा हो कर लँट् आदियो की उत्पत्ति होती है। 'तेतिक्ते' इस वैदिक आत्मनेपद निपातन के कारण यङ्लुगन्त से परस्मैपद का प्रयोग सिद्ध होता है अत लँट् के स्थान पर प्र० पु० के एकवचन मे तिप् हो कर 'कर्तरि शप्' (३८७) से शप् हो जाता है। यङ्लुगन्त के अदाद्यन्तगत होने के कारण 'अदिप्रभृतिभ्य शप' (५५२) से शप् का लुक् हो जाता है। अब 'बोभू+ति' इस स्थिति मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७१९) यङो वा ।७।३।९४॥

यङ्लुगन्तात् परस्य हलादे पित· सार्वधातुकस्य ईड् वा स्यात्। भूसुवोः० (४४०) इति गुणनिषेधो यङ्लुकि भाषाया न, बोभूतु-तेतिक्ते० (७४६५) इति छन्दसि निपातनात्। बोभवीति-बोभोति। बोभूत.। अदभ्यस्तात् (६०६)—बोभुवति। बोभवाञ्चकार, बोभवामास। बोभविता। बोभविष्यति। बोभवीतु-बोभोतु-बोभूतात्, बोभूताम्, बोभुवतु। बोभूहि। बोभवानि। अबोभवीत्-अबोभोत्, अबोभूताम्, अबोभवु। बोभूयात्, बोभूयाताम्, बोभूयु। बोभूयात्, बोभूयास्ताम्, बोभूयासु। गातिस्था० (४३९) इति सिचो लुक्। यङो वा (७१९) इतीट्पक्षे गुण बाधित्वा नित्यत्वाद् वुक्—अबोभूवीत्-अबोभोत्, अबोभूताम्, अबोभूवु। अबोभविष्यत्॥

अर्थ—यङ्लुगन्त से परे हलादि पित् सार्वधातुक को विकल्प से ईट् का आगम हो जाता है।

व्याख्या—यङ. ।५।१। वा इत्यव्ययपदम्। हलि ।७।१। ('उतो वृद्धिर्लुकि हलि' से) पिति ।७।१। सार्वधातुके ।७।१। ('नाऽभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' से) ईट् ।१।१। ('कुर्व ईट्' से)। 'हलि' यह 'सार्वधातुके' का विशेषण है अत तदादिविधि होकर 'हलादौ पिति सार्वधातुके' बन जाता है। 'यङ' मे पञ्चमी तथा 'हलादौ पिति सार्वधातुके' में सप्तमी है। 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्'(प०)के अनुसार पञ्चमी का निर्देश बलवान् होता है अत 'हलादौ पिति सार्वधातुके' के स्थान पर विभक्तिविपरिणाम से 'हलादे पित सार्वधातुकस्य' बन जायेगा। अर्थ—(यङ )यङ् से परे (हलादे पित सार्वधातुकस्य) हलादि पित् सार्वधातुक का अवयव (ईट्) ईट् (वा) विकल्प से हो जाता है।

यङन्त से सदा आत्मनेपद हुआ करता है अत वहा हलादि पित् सावधातुक का मिलना असम्भव है। इस लिये यङ्लुगन्त के ही उदाहरण सम्भव हैं। अत एव वरदराज जी ने वृत्ति मे 'यङ्लुगतात्०' लिखा है। ध्यान रहे कि यङ् का लुक् हो जाने पर भी प्रत्ययलक्षण से यङ् बना रहता है।

'बोभू+ति' यहां पर 'तिप्' यह हलादि पित् सार्वधातुक परे विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से वैकल्पिक ईट् का आगम होकर 'बोभू+ईति' इस स्थिति में ('यदागमास्तद्गुणीभूताः०' द्वारा ईट् भी पित् का अवयव होने से)'सार्वधातुकाऽऽर्धधातुकयोः' (३८८) से सार्वधातुकगुण होकर ओकार को अवादेश करने पर 'बोभवीति' प्रयोग सिद्ध होता है। जहां ईट् का आगम न होगा वहां भी सार्वधातुकगुण होकर 'बोभोति' रूप बनेगा। अब यहा यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'बोभवीति' या 'बोभोति' मे सार्वधातुकगुण का 'भूसुवोस्तिडि'(४४०) से निषेध क्यों न हो? इस का उत्तर यह है कि अष्टाध्यायी के 'दाधर्ति-दर्धर्ति-दर्धर्षि-बोभूतु०' (७.४.६५) सूत्र मे 'बोभूतु' इस वैदिक रूप मे गुण का अभाव निपातन किया गया है। इस से सिद्ध होता है कि यह निषेध यङ्लुक् मे केवल वेद तक ही सीमित है, लौकिक यङ्लुगन्त रूपो में यह निषेध प्रवृत्त नहीं होता अतः 'बोभवीति-बोभोति' आदि रूपों मे 'भूसुवोस्तिडि' (४४०) से निषेध नहीं हुआ।

प्र० पु० के द्विवचन में—बोभूतः। यहां तस् के हलादि होते हुए भी पित् न होने के कारण ईट् का आगम नहीं होता। ध्यान रहे कि यहां सार्वधातुकगुण का निषेध 'भूसुवोस्तिडि' (४४०) से नही हुआ अपितु 'सार्वधातुकमपित्' (५००) द्वारा डिद्वद्भाव के कारण हुआ है। बहुवचन मे 'बोभू+झि' इस स्थिति मे 'उभे अभ्यस्तम्' (३४४) द्वारा 'बोभू' के अभ्यस्तसञ्ज्ञक होने से 'अदभ्यस्तात्' (६०६) से झि के झकार को अत् आदेश होकर 'अचि श्नु०' (१९९) से ऊकार को उवँङ् आदेश हो जाता है—बोभुवति[1]। सिप् और मिप् मे पूर्ववत् ईट् का विकल्प होकर गुण हो जायेगा। लँट् मे रूपमाला यथा—बोभवीति-बोभोति, बोभूतः, बोभुवति। बोभवीषि-बोभोषि, बोभूथः, बोभूथ। बोभवीमि-बोभोमि, बोभूवः, बोभूमः।

लिँट्—में 'बोभू' धातु के अनेकाच् होने से आम्प्रत्यय, आर्धधातुकगुण तथा अवादेश हो जाता है—बोभवाञ्चकार-बोभवाम्बभूव-बोभवामास आदि।

लुँट्—में भी आर्धधातुकगुण होकर अवादेश हो जाता है—बोभविता, बोभवितारौ, बोभवितारः। बोभवितासि—। लृँट्—बोभविष्यति, बोभविष्यतः, बोभविष्यन्ति। लोँट्—बोभवीतु-बोभोतु-बोभूतात्, बोभूताम्, बोभुवतु (६०६)। बोभूहि-बोभूतात्, बोभूतम्, बोभूत। बोभवानि, बोभवाव, बोभवाम। लँङ्—अबोभवीत्-अबोभोत्, अबोभूताम्, अबोभवुः (अभ्यस्तत्वाज्जुस्, जुसि च)। अबोभवीः-अबोभोः, अबोभूतम्, अबोभूत। अबोभवम्, अबोभूव, अबोभूम। वि० लिँङ्—बोभूयात्, बोभूयाताम्, बोभूयुः। आ० लिँङ्—बोभूयात्, बोभूयास्ताम्, बोभूयासुः।

लुँङ्—'अबोभू+स्+त्' यहा पर 'गातिस्था०'(४३९) से सिच् का लुक् तथा 'यङो वा' (७१९) से वैकल्पिक ईट् का आगम हो कर 'अबोभू+ईत्' इस स्थिति में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (३८८) से सार्वधातुकगुण और 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः'(३९३)

१. यङन्त (बोभूयन्ते)मे यङ् के व्यवधान के कारण अत् आदेश नही होता।

से वुक् का आगम युगपत् प्राप्त होते हैं। परत्व के कारण गुण होना चाहिये। परन्तु वुक् नित्य है और गुण अनित्य है[1]। नित्य और अनित्य कार्यों में नित्य कार्य हुआ करता है, अत भू को वुक् का आगम करने पर अबोभूव्+ईत्='अबोभूवीत्' रूप सिद्ध होता है। ईट् के अभाव मे अजादि न होने से वुक् नहीं हो सकता अत सार्वधातुकगुण हो कर—अबोभोत्। रूपमाला यथा—अबोभूवीत्-अबोभोत्, अबोभूताम्, अबोभूवु[2]। अबोभूवी-अबोभो, अबोभूतम्, अबोभूत। अबोभूवम्, अबोभूव, अबोभूम।

लृट्—अबोभविष्यत्, अबोभविष्यताम्, अबोभविष्यन्।

यङ्लुगन्त धातुओं के रूप प्राय जटिल होते हैं किन्तु इनके प्रयोग भी अत्यन्त विरल होते हैं अत इन का शतक न देकर हम यहा कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध धातुओं के लेट् प्र० पु० के एकवचन मे रूप दे रहे हैं—

१ (गम्) जङ्गमीति-जङ्गन्ति=कुटिलता से जाता है।
२ (पूङ्) पोपवीति-पोपोति=बार बार पवित्र करता है।
३ (लूञ्) लोलवीति-लोलोति=बार बार काटता है।
४ (ग्रह्) जाग्रहीति-जाग्राढि=बार बार ग्रहण करता है।
५ (दा) दादेति-दादाति=बार बार देता है।
६ (प्रच्छ्) पाप्रच्छीति-पाप्रष्टि=बार बार पूछता है।
७ (विश्) वेविशीति[3]-वेवेष्टि=बार बार प्रवेश करता है।
८ (भ्रम्) बम्भ्रमीति-बम्भ्रन्ति=बार बार घूमता है।
९ (चल्) चाचलीति-चाचल्ति=बार बार चलता है।
१० (तन्) तन्तनीति-तन्तन्ति=बार बार विस्तार करता है।
११ (पा पाने) पापेति-पापाति=बार बार पीता है।
१२ (जि) जेजयीति-जेजेति=बार बार जीतता है।
१३ (कृ) चकरीति चरिकरीति चरीकरीति / चर्कर्ति-चरिकर्ति चरीकर्ति } =बार बार करता है।[4]
१४ (नृत्) ननृतीति-नरिनृतीति-नरीनृतीति / ननर्ति-नरिनर्ति-नरीनर्ति } =बार बार नाचता है।

---

१ विरोधी के प्रवृत्त होने पर भी जिस की प्राप्ति बनी रहे उसे नित्य कहते हैं। यथा यहा यदि वुक् का विरोधी गुण प्रवृत्त हो भी जाये तो भी वुक् की प्राप्ति बनी रहती है अत वुक् नित्य है। परन्तु इधर यदि वुक् कर दें तो गुण नहीं हो सकता अत गुण अनित्य है।

२ अभ्यस्ताथयो जुस् (८४७), नित्यत्वाद् वुक् (३९३)।

३ नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके (६२७) इति लघूपधगुणनिषेध।

४ यङ्लुक्प्रक्रिया मे ऋदुपध या ऋदन्त धातुओं के अभ्यास को रर्, रिर् तथा रीर् के आगम हो जाते हैं—हृषिकृ च लुकि (७४९१), ऋतश्च (७४९२)।

१५. (तॄ) तातरीति-तार्तति[1]=वार वार तैरता है।
१६. (वृत्) ववर्तीति-वरिवृतीति-वरीवृतीति, वर्वर्ति-वरिवर्ति-वरीवर्ति =वार वार होता है।
१७. (ज्ञा) जाज्ञेति-जाज्ञाति—वार वार जानता है।
१८. (द्विष्) देद्विषीति-देद्वेष्टि—वार वार द्वेष करता है।
१९. (मुद्) मोमुदीति-मोमोत्ति—वार वार प्रसन्न होता है।
२०. (लिह्) लेलिहीति-लेलेढि—वार वार चाटता है।

## इति यङ्लुगन्तप्रक्रिया

(यहां पर यङ्लुगन्तप्रक्रिया समाप्त होती है)



# अथ नामधातवः

## (Denominatives or Nominal Verbs)

अब तिङन्तप्रकरण में नामधातु प्रक्रिया का प्रारम्भ किया जाता है। इस प्रकरण में नाम अर्थात् सुबन्त या प्रातिपदिक से धातु बनाने की विधि बताई गई है; अतः इस प्रकरण को नामधातुप्रकरण कहते है। जैसे हिन्दी में हाथ से 'हथियाना', पत्थर से 'पत्थराना', धिक्कार से 'धिक्कारना', फिल्म से 'फिल्माना', बड़बड़ से 'बड़बड़ाना', अपना से 'अपनाना' इत्यादि प्रकारेण शब्दों से क्रियाएं बनती हैं वैसे संस्कृत में भी पुत्र से 'पुत्रीयति' (अपने लिये पुत्र चाहता है), जल से 'जलायते' (जल की तरह आचरण करता है), शिला से 'शिलायते' (शिला की तरह आचरण करता है), शब्द से 'शब्दायते' (शब्द करता है), कृष्ण से 'कृष्णति' (कृष्ण की तरह आचरण करता है), विष्णु से 'विष्णूयति' (विष्णु समझ कर व्यवहार करता है) इत्यादिप्रकारेण नाम से तिङन्तरूप बनाये जाते है।

अब सर्वप्रथम नामधातुप्रकरण में सुप्रसिद्ध क्यच् प्रत्यय का विधान करते है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७२०) सुप आत्मनः क्यच् ।३।१।८॥

इषिकर्मण एषितुः सम्बन्धिनः सुबन्ताद् इच्छायामर्थे क्यच् प्रत्ययो वा स्यात् ॥

अर्थः—इष् (चाहना) धातु के कर्म तथा इच्छुक के सम्बन्धी सुबन्त से 'चाहना' अर्थ मे विकल्प से क्यच् प्रत्यय हो।

---

१. कुछ लोग 'तरीतर्ति' रूप लिखा करते हैं वे चिन्त्य है; क्योंकि तॄ धातु न तो ऋदुपध है और न ही ऋदन्त, अतः रुक्-रिक्-रीक् किसी आगम का प्रश्न ही नहीं उठता।

व्याख्या—सुप ।५।१। आत्मन ।६।१। क्यच् ।१।१। 'प्रत्यय, परश्च' दोनों अधिकृत हैं। कर्मण, इच्छायाम्, वा—इन पदों का 'धातो कर्मण०' (७०५) सूत्र से अनुवर्त्तन होता है। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्या' परिभाषा के अनुसार 'सुप' से तदन्तविधि होकर 'सुबन्तात्' बन जाता है। इस सूत्र मे 'आत्मन्' शब्द 'स्व' (अपना) का वाचक है। 'इच्छायाम्' के सन्निहित होने से आत्मन् (स्व=अपना) शब्द से इच्छा करने वाले का तथा 'कर्मण' से इष् धातु के कर्म का ग्रहण किया जाता है। अर्थ—(कर्मण) इष् धातु के कर्म (आत्मन) तथा इच्छा करने वाले के सम्बन्धी (सुप=सुबन्तात्) सुबन्त से (इच्छायाम्) 'चाहना' अर्थ मे (वा) विकल्प से (क्यच् प्रत्यय) क्यच् प्रत्यय हो जाता है। क्यच् प्रत्यय के ककार की 'लशक्वतद्धिते'(१३६) से तथा चकार की 'हलन्त्यम्'(१) से इत्सञ्ज्ञा होकर लोप हो जाता है अत 'य' यह शेष बचता है[1]।

इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि चाहने वाला व्यक्ति यदि अपने लिये कोई वस्तु चाहता है तो इस अर्थ को प्रकट करने के लिये अभीष्ट वस्तु के वाचक सुबन्त से वैकल्पिक क्यच् प्रत्यय हो जाता है। यथा—आत्मन पुत्रम् इच्छति—पुत्रीयति (अपने लिये पुत्र चाहता है), यहा 'पुत्रम्' यह अभीष्ट वस्तुवाचक सुबन्त है, यह सुबन्त 'इच्छति' का कर्म है किञ्च यह चाहने वाले का सम्बन्धी भी है क्योंकि चाहने वाला इसे अपने लिये चाह रहा है अत 'पुत्रम्' से वैकल्पिक क्यच् प्रत्यय हो कर वक्ष्यमाणप्रकार से 'पुत्रीयति' रूप सिद्ध होता है। क्यचप्रत्यय वैकल्पिक है अत पक्ष में 'आत्मन पुत्रमिच्छति' इस वाक्य का भी प्रयोग हो सकेगा। ध्यान रहे कि चाहने वाला यदि दूसरे के लिये किसी वस्तु की कामना करेगा तो क्यच् प्रत्यय न होगा। यथा—राज्ञ पुत्रमिच्छति (राजा के लिये पुत्र चाहता है) यहा पुत्र को राजा के लिये चाहा जाता है अपने लिये नहीं, अत क्यच् नही होता।

'पुत्रम्' इस सुबन्त से क्यच् प्रत्यय करना है। 'पुत्रम्' यह परिनिष्ठित अवस्था में है। व्याकरण की प्रक्रिया अपरिनिष्ठित अवस्था मे हुआ करती है। अत इस के

---

१ 'नः क्ये'(७२३) सूत्र में 'क्य' से क्यच् और क्यङ् दोनों का ग्रहण हो सके इसलिये क्यच् मे ककार अनुबन्ध जोडा गया है। चकार अनुबन्ध जोडने का प्रयोजन यह है कि यह भी दो अनुबन्धो वाला हो जाये अन्यथा 'एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य' (एक अनुबन्ध वाले का ग्रहण हो तो दो अनुबन्ध वाले का ग्रहण नहीं होता) इस परिभाषा से 'न क्ये' में केवल क्यच् का ही ग्रहण होता क्यङ् का नहीं। क्यच् का 'य' यह सस्वर शेष रहता है, अनुनासिक न होने से इस के अकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। यद्यपि सार्वधातुकप्रत्ययो मे 'अतो गुणे' (२७४) से परस्मै तथा आर्धधातुकप्रत्ययो में 'अतो लोप' (४७०) से अकार का लोप करना पडता है तथापि यदि यह सस्वर न होता तो 'आत्मनो मृदमिच्छति स्म—मृद्याञ्चकार' इत्यादि मे 'मृद्' के अनेकाच् न होने से आम् न हो सकता अत इसे सस्वर विधान किया गया है।

कच्चे रूप 'पुत्र+अम्' से क्यच् प्रत्यय किया जायेगा—पुत्र+अम्+क्यच्=पुत्र+अम्+य। अब 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) से समूचे क्यजन्त की धातुसञ्ज्ञा होकर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७२१) सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः।२।४।७१॥

एतयोरवयवस्य सुपो लुक्॥

**अर्थः**—धातु और प्रातिपदिक के अवयव सुँप् का लुक् हो।

**व्याख्या**—सुँपः।६।१। धातु-प्रातिपदिकयोः।६।२। लुक्।१।१।('ण्यक्षत्रियार्ष०' से)। अर्थः—(धातुप्रातिपदिकयोः) धातु अथवा प्रातिपदिक के अवयव (सुँपः) सुँप् का (लुक्) लुक् हो जाता है। 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' (१८६) के अनुसार प्रत्यय के अदर्शन की लुक्सञ्ज्ञा की गई है अतः यहां सम्पूर्ण सुँप् प्रत्यय का लुक् होगा अलोऽन्त्यविधि प्रवृत्त न होगी। प्रातिपदिक के अवयव सुँप् के लुक् के उदाहरण 'राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः' आदि आगे समासप्रकरण में देखें[1]।

'पुत्र+अम्+य' इस समूचे समुदाय की धातुसञ्ज्ञा की जा चुकी है। अतः इस धातु के अवयव 'अम्' का लुक् हो जाता है—पुत्र+य। अब यहां पर 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (४८३) से दीर्घ प्राप्त होता है। इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७२२) क्यचि च।७।४।३३॥

अवर्णस्य ईः। आत्मनः पुत्रमिच्छति—पुत्रीयति॥

**अर्थः**—क्यच् परे होने पर अवर्ण के स्थान पर ईकार आदेश हो जाता है।

**व्याख्या**—क्यचि।७।१। च इत्यव्ययपदम्। अस्य।६।१।('अस्य च्वौ' से) ई। १।१। ('ई घ्याख्योः' से। लुप्तविभक्तिको निर्देशः)। अर्थः—(क्यचि) क्यच् परे हो तो (अस्य) अवर्ण के स्थान पर (ई) ईकार आदेश होता है। यहां 'अस्य' कहा गया है तपर नहीं किया गया अतः ह्रस्व या दीर्घ दोनों प्रकार के अवर्णों के स्थान पर ईकार हो जायेगा (दीर्घ के उदाहरण—आत्मनो मालामिच्छति—मालीयति आदि हैं)।

'पुत्र+य' यहां पर क्यच् परे है अतः पुत्रशब्द के अन्त्य अकार को ईकार होकर 'पुत्रीय' यह क्यजन्त धातु निष्पन्न हुई। अब इस से कर्तृ आदि की विवक्षा में लँट् आदियों की उत्पत्ति होती है। आत्मनेपद के निमित्तों से हीन होने के कारण 'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्' (३८०) से परस्मैपद का प्रयोग होता है। लँट् प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप् और 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप होकर 'पुत्रीयति' रूप सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

---

१. राम+सुँ=रामः, हरि+सुँ=हरिः, इन में प्रातिपदिक से परे सुँप्-सुँ का लुक् क्यों नहीं होता? समाधान स्पष्ट है कि इन में सुँप् प्रत्यय प्रातिपदिक से परे किया गया है प्रातिपदिक का अवयव नहीं, अतः सुँप् का लुक् नहीं हुआ।

लँट्—पुत्रीयति, पुत्रीयत , पुत्रीयन्ति। लिँट्—मे धातु के अनेकाच् होने से आम् प्रत्यय होकर 'अतो लोप.' (४७०) से अकार का लोप हो जाता है—पुत्रीयाञ्चकार-पुत्रीयाम्बभूव-पुत्रीयामास आदि। लुँट्—पुत्रीयिता। लृँट्—पुत्रीयिष्यति। लोँट—पुत्रीयतु-पुत्रीयतात्। लँङ्—अपुत्रीयत्। वि० लिँङ्—पुत्रीयेत। आ० लिँङ्—पुत्रीषीष्यात्। लुङ्—अपुत्रीयीत्। लृँङ्—अपुत्रीयिष्यत्।

नोट—साहित्य मे नामधातुओ के प्राय लँट् लकार के रूप ही पाये जाते हैं।

अब इस प्रकरण मे उपयोगी पदसञ्ज्ञा के नियम का विधान करते हैं—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—(७२३) न क्ये ।१।४।१५॥

क्यचि क्यङि च नान्तमेव पद नान्यत्। नलोप'। राजीयति। नान्त-मेवेति किम्? वाच्यति। हलि च (६१२)—गीर्यति, पूर्यति। धातोरित्येव, नेह—दिवमिच्छति—दिव्यति॥

अर्थ—क्यच् अथवा क्यङ् परे होने पर नकारान्त ही पदसञ्ज्ञक हो अन्य नहीं।

व्याख्या—न ।१।१। (नकारादकार उच्चारणार्थ)। क्ये। ७।१। पदम् ।१।१। ('सुँप्तिङन्त पदम्' से)। शब्दानुशासन का अधिकार होने से 'शब्दस्वरूपम्' उपलब्ध हो जाता है। 'न' को 'शब्दस्वरूपम्' का विशेषण बना कर तदन्तविधि करने से 'नान्त शब्दस्वरूपम्' उपलब्ध हो जाता है। 'क्य' से क्यच्, क्यङ् और क्यष् तीनो का ग्रहण हो सकता है परन्तु क्यष् प्रत्यय से पूर्व कभी नकारान्त शब्द सम्भव नहीं अत उसे छोड शेष क्यच् और क्यङ् का ग्रहण किया जाता है। अर्थ—(क्ये) क्यच् अथवा क्यङ् परे हो तो (नान्त शब्दस्वरूपम्) नकारान्त शब्दस्वरूप (पदम्) पद-सञ्ज्ञक होता है। क्यच अथवा क्यङ् परे होने पर सुँपूविभक्ति का लुक् होने के कारण नकारान्त शब्द स्वत ही प्रत्ययलक्षण द्वारा 'सुँप्तिङन्त पदम्' (१४) से पदसञ्ज्ञक हुआ करता है पुन इस सूत्र से पदसञ्ज्ञा के विधान की आवश्यकता ही क्या है? इस का उत्तर यह है कि 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ' अर्थात् जब कोई कार्य सिद्ध होने पर भी विधान किया जाता है तो वह नियमार्थ हो जाता है। यह सूत्र भी नियमार्थ है—क्यच् या क्यङ् परे होने पर नकारान्त शब्द ही पदसञ्ज्ञक होते हैं अन्य शब्द नहीं—यह नियम यहा उपलब्ध होता है। उदाहरण यथा—

वाच्यति—आत्मनो वाचमिच्छति—वाच्यति (अपने लिये वाणी चाहता है)। यहा 'वाच्+अम्' इस सुँबन्त से 'सुँप आत्मन क्यच्' (७२०) द्वारा क्यच् प्रत्यय, धातुसञ्ज्ञा और धातु के अवयव सुँप् का लुक् करने पर 'वाच्+य' हुआ। अब यहां लुप्त हुई विभक्ति को मान कर यदि 'वाच्' शब्द की पदसञ्ज्ञा करते हैं तो 'चो कु' (३०६) से चकार को ककार तथा 'झषां जशोऽन्ते' (९७) से ककार को गकार हो कर अनिष्ट रूप बन जाता है। परन्तु अब इस नियम के कारण इस की पदसञ्ज्ञा नहीं होती अत कुत्व जश्त्व नहीं होते। तब लँट् प्र० पु० के एक-वचन में 'वाच्यति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार इस नियम के कारण

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७२४) क्यस्य विभाषा ।६।४।५०॥

हल् परयो क्यच्क्यङोर्लोपो वाऽऽर्धधातुके । आदे. परस्य (७२)। अतो लोप (४७०)। तस्य स्थानिवत्त्वाल्लघूपधगुणो न। समिधिता, समिध्यिता ॥

अर्थ—हल् से परे क्यच् और क्यङ् का विकल्प से लोप हो आर्धधातुक परे हो तो।

व्याख्या—क्यस्य ।६।१। विभाषा ।१।१। हलः ।५।१। ('यस्य हल्' से)। लोप । १।१। ('अतो लोप' से)। आर्धधातुके ।७।१। (यह अधिकृत है)। अर्थ—(हल) हल् से परे (क्यस्य) 'क्य' का (विभाषा) विकल्प से (लोप) लोप हो जाता है (आर्धधातुके) आर्धधातुक परे हो तो। 'क्य' यह सामान्य निर्देश है अत क्यच् और क्यङ् दोनों का ग्रहण समझना चाहिये। हल् से परे क्यष् का आना सम्भव नहीं अत ग्रन्थकार ने उस का निर्देश नहीं किया। 'यस्य हल' (७१५) से नित्य लोप प्राप्त था उस का यहा विकल्प किया गया है। यह सूत्र सम्पूर्ण सस्वर 'य' का लोप विधान करता है परन्तु 'आदे. परस्य' (७२) परिभाषा से उस के आदि 'य्' का ही लोप किया जाता है। शेष बचे अकार का भी 'अतो लोप' (२७४) से लोप हो जाता है। इस प्रकार समग्र 'य' लुप्त हो जाता है।

'समिध्+य+इता' यहा हल्-धकार से परे प्रकृतसूत्र से क्यच् के यकार का लोप हो कर अवशिष्ट अकार का भी 'अतो लोप' (२७४) से लोप हो जाता है—समिध्+इता। अब 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) से लघूपधगुण प्राप्त होता है परन्तु अकार के लोप को 'अच परस्मिन् पूर्वविधौ' (६९६) द्वारा स्थानिवत् मान लेने से लघूपध न रहने के कारण वह नहीं हो सकता। अत यकारलोपपक्ष में 'समिधिता' प्रयोग सिद्ध होता है। जहा यकार का लोप नहीं होता वहां पर 'अतो लोप' (२७४) द्वारा केवल अकार का ही लोप हो जाता है—समिध्यिता। इसी प्रकार अन्य आर्धधातुक प्रत्ययो मे प्रक्रिया जाननी चाहिये। 'समिध्य' धातु की रूपमाला यथा—

लँट्—समिध्यति। लिँट्—(यलोपपक्षे) समिधाञ्चकार समिधाम्बभूव समिधामास। (यलोपाभावे) समिध्याञ्चकार समिध्याम्बभूव-समिध्यामास। लुँट्—समिधिता-समिध्यिता। लृँट्—समिधिष्यति समिध्यिष्यति। लोँट्—समिध्यतु-समिध्यतात्। लँङ्—असमिध्यत्। वि० लिँङ्—समिध्येत्। आ० लिँङ्—समिध्यात्, समिध्यात्। लुँङ्—असमिधीत् असमिध्यीत्। लृँङ्—असमिधिष्यत् असमिध्यिष्यत्।

इसी प्रकार आर्धधातुक प्रत्ययो मे पूर्वोक्त वाच्य, गीयँ, पूयँ, दिव्य इन धातुओं के भी यकार का वैकल्पिक लोप हो जायेगा—वाचिता-वाच्यिता, वाचिष्यति-वाच्यिष्यति आदि।

अब नामधातु प्रकरण के दूसरे प्रसिद्ध प्रत्यय काम्यच् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७२५) काम्यच्च ।३।१।९॥

उक्तविषये काम्यच् स्यात्। पुत्रम् आत्मन इच्छति—पुत्रकाम्यति। पुत्रकाम्यिता ॥

**अर्थः**—इष् (चाहना) धातु के कर्म तथा इच्छुक के सम्बन्धी सुबन्त से 'चाहना' अर्थ में विकल्प से काम्यच् प्रत्यय हो।

**व्याख्या**—काम्यच् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। सुँपः ।५।१। आत्मनः ।५।१। ('सुँप आत्मनः क्यच्' से)। कर्मणः ।५।१। इच्छायाम् ।७।१। वा इत्यव्ययपदम् ('धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' से)। इस सूत्र की व्याख्या भी 'सुँप आत्मनः क्यच्' (७२०) सूत्र की तरह समझनी चाहिये। अर्थः—(कर्मणः) इष् धातु के कर्म तथा (आत्मनः) इच्छुक के सम्बन्धी (सुँपः=सुँबन्तात्) सुँबन्त से (इच्छायाम्) 'इच्छा करना' अर्थ में (वा) विकल्प से (काम्यच्) काम्यच् प्रत्यय (च) भी हो जाता है। काम्यच् का अन्त्य चकार 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञक है परन्तु ककार की प्रयोजनाभाव से इत्सञ्ज्ञा नही की जाती। अतः 'काम्य' ही अवशिष्ट रहता है।

**पुत्रकाम्यति**—आत्मनः पुत्रमिच्छति—पुत्रकाम्यति (अपने लिये पुत्र चाहता है)। यहां पर 'पुत्र+अम्' इस सुँबन्त से 'इच्छा करना' अर्थ मे प्रकृत सूत्र से काम्यच् प्रत्यय, 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) से धातुसञ्ज्ञा तथा 'सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः' (७२१) से सुँप्-अम् का लुक् करने पर 'पुत्रकाम्य' यह काम्यच्प्रत्ययान्त धातु निष्पन्न होती है। अब इस से कर्तृवाच्य के लँट् प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप् और पररूप करने से 'पुत्रकाम्यति' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां क्यच् के न होने से 'क्यचि च' (७२२) द्वारा ईत्व नहीं होता। रूपमाला यथा—

लँट्—पुत्रकाम्यति। लिँट्—पुत्रकाम्याञ्चकार-पुत्रकाम्याम्बभूव-पुत्रकाम्यामास आदि। लृँट्—पुत्रकाम्यिता। लृँट्—पुत्रकाम्यिष्यति। लोँट्—पुत्रकाम्यतु-पुत्रकाम्यतात्। लँङ्—अपुत्रकाम्यत्। वि० लिँङ्—पुत्रकाम्येत्। आ० लिँङ्—पुत्रकाम्यात्। लुँङ्—अपुत्रकाम्योत्। लृँङ्—अपुत्रकाम्यिष्यत्।

**नोट**—लृँट् के 'पुत्रकाम्य+इता' आदि में 'क्य' न रहने से 'क्यस्य विभाषा' (७२४) के विकल्प की प्रवृत्ति नही होती। किञ्च 'यस्य हलः' (७१५) से यकार का नित्यलोप भी नहीं होता। इस का कारण यह है कि वहां सङ्घात 'य' का ग्रहण किया गया है। क्यच् और क्यङ् में सङ्घात 'य' अर्थवान् और यहां काम्यच् मे प्रत्यय का एकदेश होने से वह अनर्थक है, जैसा कि कहा है—**समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशोऽनर्थकः**। अर्थवान् और अनर्थक के मध्य अर्थवान् का ही ग्रहण उचित होता है—**'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य'**। अतः यहां यकारलोप न हो कर 'अतो लोपः' (४७०) से अकार का लोप करने पर यथेष्ट रूप सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि 'अपने लिये चाहना' अर्थ को हम तीन प्रकार से प्रकट कर सकते हैं—(१) क्यच् प्रत्यय के द्वारा (यथा—पुत्रीयति); (२) काम्यच् प्रत्यय के द्वारा (यथा—पुत्रकाम्यति); (३) वाक्य के द्वारा (यथा—आत्मनः पुत्रमिच्छति)।

अब आचारार्थक प्रत्ययों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (७२६) उपमानादाचारे ।३।१।१०॥

उपमानात् कर्मण सुँबन्ताद् आचारेऽर्थे क्यच् स्यात्। पुत्रमिवाचरति—पुत्रीयति छात्रम्। विष्णूयति द्विजम्॥

अर्थ—उपमानवाची कर्म सुँबन्त से 'आचार' अर्थ में विकल्प से क्यच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—उपमानात् ।५।१। आचारे ।७।१। सुँप ।५।१। क्यच् ।१।१। ('सुँप आत्मन क्यच्' से)। कर्मण ।५।१। वा इत्यव्ययपदम् ('धातो कर्मण०' से)। अर्थ—(उपमानात्) उपमानवाचक[1] (कर्मण) कर्म (सुँप=सुँबन्तात्) सुँबन्त से (आचारे) आचरण करना—व्यवहार करना—वर्त्ताव करना अर्थ में (वा) विकल्प से (क्यच्) क्यच् प्रत्यय होता है।

पीछे 'सुँप आत्मन क्यच्' (७२०) द्वारा इच्छा अर्थ में क्यच् कहा गया था, अब आचार अर्थ में क्यच् कहा जाता है। प्रत्यय और प्रक्रिया के एक होने पर भी अर्थ का भेद है। अतः पहले को इच्छाक्यच् और इसे आचारक्यच् कहा जाता है। प्रकरण में जहां जिस का अर्थ ठीक बैठता है वहां उसी का ग्रहण किया जाता है।

पुत्रमिव आचरति—पुत्रीयति शिष्यम् (शिष्य को पुत्र की तरह आचरण करता है अर्थात् शिष्य के साथ पुत्र का सा व्यवहार करता है)। यहां पर 'पुत्र+अम्' यह उपमानवाचक सुँबन्त है तथा आचरणक्रिया का कर्म भी है अतः प्रकृतसूत्र के द्वारा इस से क्यच् प्रत्यय हो कर पूर्ववत् धातुसंज्ञा, सुँप् का लुक् तथा 'क्यचि च' (७२२) से ईत्व करने पर लँट् प्र० पु० के एकवचन में 'पुत्रीयति' प्रयोग सिद्ध होता है। 'वा' का अनुवर्त्तन करने से पक्ष में वाक्य भी रहेगा [ ध्यान रहे कि मूलवृत्ति में 'वा' लिखना छूट गया है ]।

विष्णुमिव आचरति—विष्णूयति द्विजम् (ब्राह्मण के साथ विष्णु की तरह आचरण करता है अर्थात् ब्राह्मण को विष्णुभगवान् समझ कर पूजता है)। यहां भी पूर्ववत् 'विष्णु+अम्' यह सुँबन्त उपमानवाचक है तथा आचरणक्रिया का कर्म भी है अतः प्रकृतसूत्र से क्यच् प्रत्यय होकर धातुसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा 'अकृत्सार्वधातु०' (४८३) से दीर्घ करने पर लँट् प्र० पु० के एकवचन में 'विष्णूयति' प्रयोग सिद्ध होता है। याद रहे कि यहां अकार के न होने से 'क्यचि च' (७२२) द्वारा ईत्व नहीं हुआ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण—

मातरमिव आचरति—मात्रीयति[2] परकलत्रम् (दूसरे की स्त्री को माता के

---

१ उपमीयतेऽनेनेत्युपमानम्। जिस से उपमा दी जाती है उसे उपमान कहते हैं। जैसे—छात्रं पुत्रमिवाचरति (छात्र को पुत्र की तरह समझता है) यहां 'पुत्र' उपमान है।

२ 'रीङ् ऋत' (१०४२) से मातृ शब्द के ऋकार को रीङ् आदेश हो जाता है।

नोट—यह क्विप् उपमानवाची कर्म से नहीं हुआ अत 'कृष्णति भक्तम्' आदि प्रयोग अशुद्ध हैं। कृष्णति नट, कृष्णति शिशु इत्यादिप्रकारेण कर्तृप्रयोग ही शुद्ध हैं।

स्व इवाऽऽचरति—स्वति (अपनी तरह आचरण करता है)। यहां पर उपमानवाची कर्तृप्रातिपदिक 'स्व' शब्द से 'आचरण करना' अर्थ मे प्रकृतवार्तिक से क्विप् प्रत्यय, उस का सर्वापहारलोप तथा पूर्ववत् धातुसञ्ज्ञा कर लँट् प्र० पु० के एकवचन मे तिप्, शप् और पररूप करने से 'स्वति' प्रयोग सिद्ध होता है। लिँट् में 'स्व' धातु के अनेकाच् न होने से आम् न होगा। प्र० पु० के एकवचन मे तिप् को णल् तथा अभ्यासकार्य होकर 'स+स्व+अ' इस स्थिति मे 'अचो ञ्णिति'(१८२) से अकार को आकार वृद्धि और 'यात अौ णल' (४८८) से णल् को औकार आदेश कर 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने मे 'सस्वौ' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। अतुस् आदि मे 'सस्व+अतुस्' इस स्थिति मे 'अतो लोप' (४७०) से अकार का लोप हो जाता है—सस्वौ, सस्वतु, सस्वु। सस्विथ, सस्वथु, सस्व। सस्वौ-सस्व, सस्विव, सस्विम। लुँट् आदि आर्धधातुक प्रत्ययों मे सर्वत्र 'अतो लोप' (४७०) से अत् का लोप हो जाता है। लुँट्—स्विता। लृँट्—स्विष्यति। लोँट्—स्वतु स्वतात्। लँङ्—अस्वत्। वि० लिँङ्—स्वेत्। आ० लिँङ्—स्व्यात्। लुँङ्—अस्वीत्, अस्विष्टाम्, अस्विषु। लृँङ्—अस्विष्यत्।

इदम् इवाऽऽचरति—इदामति (इस की तरह आचरण करता है)। 'इदम्' शब्द से पूर्वोक्त वार्तिक द्वारा आचार अर्थ मे क्विप्प्रत्यय होकर उस का सर्वापहारलोप हो जाता है। इस प्रकार 'इदम्' यह क्विबन्त धातु बन जाती है अब इस मे अग्रिमसूत्र द्वारा उपधादीर्घ का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—

(७२७) अनुनासिकस्य क्विझलो क्ङिति ।६।४।१५॥

अनुनासिकान्तस्योपधाया दीर्घः स्यात् क्वौ झलादौ च क्ङिति। इदमिवाऽऽचरति—इदामति। राजेव (आचरति)—राजानति। पन्था इव (आचरति)—पथीनति॥

अर्थ—क्विँ या झलादि कित् ङित् परे होने पर अनुनासिकान्त की उपधा के स्थान पर दीर्घ हो।

व्याख्या—अनुनासिकस्य ।६।१। क्विझलो ।७।२। क्ङिति ।७।१। उपधायाः।

---

१ वस्तुत 'सस्व+अ' यहां पर 'अचश्लोपो इयंङ् यण्-गुण वृद्धि-दीर्घेभ्य पूर्वविप्रतिषेधेन' इस वार्तिक से पर वृद्धि (७ २ ११५) का भी बाध कर 'अतो लोप' (६ ४४८) से अत् का लोप करने से 'सस्व' प्रयोग बनता है। ध्यान रहे कि नागेश भट्ट प्रत्ययान्त धातुओं के अनेकाच् न रहने पर भी लिँट् मे उन से परे आम् का विधान मानते हैं। अत उनके मत मे—स्वाञ्चकार-स्वाम्बभूव, स्वामास आदि रूप बनते हैं।

६।१। ('नोपधायाः' से)। दीर्घः ।१।१। ('ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से)। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। 'अनुनासिकस्य' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि होकर 'अनुनासिकान्तस्य अङ्गस्य' बन जायेगा। इसी प्रकार 'क्विझलोः' में 'झल्' अंश 'क्ङिति' का विशेषण है अतः तदादिविधि होकर 'झलादौ किति ङिति' हो जायेगा। अर्थः—(अनुनासिकान्तस्य अङ्गस्य) अनुनासिक वर्ण जिस के अन्त में है ऐसे अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है (क्विँझलोः क्ङिति) क्विँ परे हो या झलादि कित् ङित् परे हो।

झलादि कित् के उदाहरण—शम्+क्त=शम्+त=शाम्+त=शान्तः। शान्तवान्। झलादि ङित् के उदाहरण काशिका मे देखें।

'इदम्' यह अनुनासिकान्त क्विँबन्त है। प्रत्ययलक्षण द्वारा इस से परे 'क्विँ' विद्यमान है। अतः प्रकृतसूत्र से इस की उपधा को दीर्घ होकर 'इदाम्' बन जाता है। अब धातुत्वात् लँट्, तिप्, शप् करने पर 'इदामति' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—लँट्—इदामति। लिँट्—इदामाञ्चकार-इदामाम्बभूव-इदामामास। लुँट्—इदामिता। लृँट्—इदामिष्यति। लोँट्—इदामतु। लँङ्—ऐदामत्। वि० लिँङ्—इदामेत्। आ० लिँङ्—इदामीत्। लुँङ्—ऐदामीत्। लृँङ्—ऐदामिष्यत्।

पन्था इवाचरति—पथीनति (मार्ग की तरह आचरण करता है अर्थात् जैसे मार्ग उपकार करता है वैसे उपकार करता है)। यहां पर 'पथिन्' शब्द से आचार अर्थ में 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विँब्वा वक्तव्यः' (वा० ४६) से क्विँप्, उस का सर्वापहार-लोप तथा 'अनुनासिकस्य क्विँझलोः क्ङिति' (७२७) से अनुनासिकान्त की उपधा को दीर्घ करने पर 'पथीन्' यह क्विँबन्त धातु निष्पन्न होती है। इस से लँट्, तिप्, शप् हो कर 'पथीनति' प्रयोग सिद्ध होता है।

अब क्यङ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७२८) कष्टाय क्रमणे ।३।१।१४॥

चतुर्थ्यन्तात् कष्टशब्दादुत्साहेऽर्थे क्यङ् स्यात्। कष्टाय क्रमते—कष्टायते। पापं कर्त्तुमुत्सहत इत्यर्थः॥

अर्थः—चतुर्थ्यन्त कष्टशब्द से 'उत्साह करना' अर्थ में क्यङ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—कष्टाय ।४।१। क्रमणे ।७।१। क्यङ् ।१।१। ('कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' से)।वा इत्यव्ययपदम् ('धातोः कर्मणः०' से)। 'प्रत्ययः, परश्च' दोनों अधिकृत है। 'कष्टाय' मे चतुर्थ्यन्तनिर्देश के कारण चतुर्थ्यन्त कष्टशब्द से प्रत्यय का विधान माना जाता है। अर्थः—(कष्टाय) चतुर्थ्यन्त कष्ट शब्द से परे (क्रमणे) उत्साह करना अर्थ में (वा) विकल्प से (क्यङ्) क्यङ् प्रत्यय होता है। क्यङ् में ककार और ङकार इत्मञ्ज्ञक है, 'य' मात्र शेष रहता है। क्यङ् के ङित्त्व के कारण क्यङन्त धातु से आत्मनेपद का प्रयोग होता है।

कष्टाय क्रमते'—कष्टायते (पाप करने के लिये उत्साह करता है)। यहा पर 'कष्ट+ङे' इस चतुर्थ्यन्त से 'उत्साह करना' अर्थ मे प्रकृतसूत्र से क्यङ्प्रत्यय, धातुत्वात् सुँब्लुक् तथा 'अकृत्सार्व०' (४८३) से दीर्घ करने पर 'कष्टाय' यह क्यङन्त धातुरूप निष्पन्न होता है। ङिदन्त होने से इस से आत्मनेपद होता है। लॅट् प्र० पु० के एकवचन मे त, शप्, परस्मै तथा टि को एत्व (५०८) करने से 'कष्टायते' प्रयोग सिद्ध होता है।

अग्रिमसूत्रद्वारा पुन क्यङ् प्रत्यय का विधान करते है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—

(७२६) शब्द-वैर-कलहाऽभ्र-कण्व-मेघेभ्य करणे।३।१।१७॥

एभ्य कर्मभ्य करोत्यर्थे क्यङ् स्यात्। शब्द करोति—शब्दायते॥

अर्थ—शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व और मेघ इन छ कर्मों से परे 'करना' अर्थ मे क्यङ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—शब्द-वैर-कलहाऽभ्र-कण्व मेघेभ्य ।५।३। करणे ।७।१। कर्मभ्य । ५।३। ('कर्मणो रोमन्थ०' से वचनविपरिणाम कर)। क्यङ् ।१।१। ('कर्तु क्यङ् सलोपश्च' से)। वा इत्यव्ययपदम् ।('धातो कर्मण०' से)। अर्थ—(कर्मभ्य) कर्मकारक (शब्द वैर-कलहाऽभ्र-कण्व मेघेभ्य) शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व और मेघ इन छ शब्दो मे परे (करणे) 'करना' अर्थ मे (वा) विकल्प से (क्यङ्) क्यङ् प्रत्यय होता है। विकल्प होने से पक्ष मे वाक्य रहेगा। क्यङ् के ङित्त्व के कारण आत्मनेपद का प्रयोग होगा।

शब्द करोति—शब्दायते (शब्द करता है)। यहा 'शब्द' कर्मकारक है, इस से 'करना' अर्थ मे क्यङ् प्रत्यय होकर अनुबन्धलोप तथा 'अकृत्सार्व०' (४८३) से दीर्घ करने पर 'शब्दाय' यह क्यङन्त धातुरूप निष्पन्न होता है। लॅट प्र० पु० के एकवचन मे त, शप्, परस्मै तथा टि को एत्व करने पर 'शब्दायते' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार—वैर करोति—वैरायते (वैर करता है), कलह करोति—कलहायते (झगडा करता है), अभ्र करोति—अभ्रायते (बादल बनाता है), कण्व करोति—कण्वायते (पाप करता है), मेघ करोति—मेघायते (बादल बनाता है)।

नोट—कई लोग यहा 'शब्द+अम' इस प्रकार सुँबन्त से प्रत्यय कर 'सुँपो धातुप्रातिपदिकयो'(७२१)मे सुँप् का लुक् करते हैं। परन्तु यहा 'सुँप' की अनुवृत्ति न होने से हम ने शब्दमात्र से प्रत्यय दिखलाया है सुँबन्त से नही। सुँबन्त से करने का यहाँ कुछ प्रयोजन भी नहीं है।

---

१ कष्टशब्द का यहा तात्पर्य 'पाप' से है। 'क्रमते' मे 'वृत्ति-सर्ग-तायनेषु क्रम' (१ ३ ३८) द्वारा सर्ग अर्थात उत्साह अर्थ मे आत्मनेपद का प्रयोग हुआ है। 'कष्टाय' मे 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन' (२ ३ १४) से चतुर्थी विभक्ति हुई है। इस का अर्थ है—कष्ट कर्तुम्।

अब आगे एतत्प्रकरणोपयोगी दो गणसूत्रों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] गण-सूत्रम्——तत्करोति तदाचष्टे ॥

इति णिच् ॥

अर्थः—'उसे करता है' तथा 'उसे कहता है' इन अर्थों मे प्रातिपदिक से परे णिच् प्रत्यय हो[1]।

व्याख्या—पाणिनीय धातुपाठ के चुरादिगणान्तर्गत यह गणसूत्र पढ़ा गया है। इस से पूर्व वक्ष्यमाण गणसूत्र पढ़ा गया है—'प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' (प्रातिपदिक से परे धातुओं के अर्थ में बहुल कर णिच् प्रत्यय हो और वह इष्ठवत् हो)। इस गणसूत्र में 'धात्वर्थे' कहा गया है। उसी धात्वर्थ को बतलाने के लिये प्रकृतसूत्र रचा गया है। अतः दोनों गणसूत्र एक दूसरे के पूरक हैं। इनके उदाहरण आगे देखें।

[लघु०] गण-सूत्रम्——प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च ॥

प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे णिच् स्यात्। इष्ठे यथा प्रातिपदिकस्य पुंवद्भाव-रभाव-टिलोप-विन्मतुब्लोप-यणादिलोप-प्रस्थ-स्फाद्यादेश-भसञ्ज्ञा-स्तद्वण्णावपि स्युः। इत्यल्लोपः, घटं करोत्याचष्टे वा—घटयति ॥

अर्थः—प्रातिपदिक से परे धातु के अर्थ में बहुल (विकल्प) कर णिच् प्रत्यय हो जाता है। किञ्च इष्ठन् प्रत्यय के परे होने पर जैसे प्रातिपदिक के स्थान पर पुंवद्भाव आदि कार्य होते है वैसे इस णिच् प्रत्यय के परे होने पर भी हों।

व्याख्या—प्रातिपदिकात् ।५।१। धात्वर्थे ।७।१। बहुलम् ।१।१। णिच् ।१।१। ('चुरादिभ्यो णिच्' इस प्रकरण से प्राप्त)। इष्ठवत् इत्यव्ययपदम्। इष्ठे इव—इष्ठवत्, सप्तम्यन्ताद्वतिः। अर्थः—(प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (धात्वर्थे) धातुओं के अर्थ में (बहुलम्) विकल्प से (णिच्) णिच् प्रत्यय हो जाता है किञ्च (इष्ठवत्) इष्ठन् प्रत्यय मे जैसे कार्य होते हैं वैसे यहां प्रातिपदिक को कार्य होते हैं।

किन किन धातुओं के अर्थों में णिच् होता है? इस के लिये 'तत्करोति तदाचष्टे' यह पीछे कह चुके हैं। 'उसे करता हैं और 'उसे कहता है' इन धात्वर्थों में प्रातिपदिक से परे णिच् प्रत्यय किया जायेगा। पाणिनीयधातुपाठ मे इन के अतिरिक्त कुछ अन्य धात्वर्थ भी दिये गये हैं उन को सिद्धान्तकौमुदी मे देखें।

इस णिच् को इष्ठवत् अतिदेश किया गया है। तात्पर्य यह है कि इष्ठन् प्रत्यय के परे होने पर जो जो कार्य होते है वे यहा णिच् प्रत्यय के परे होने पर भी

---

१. यहां पर 'करोति' और 'आचष्टे' में लँट् के प्रयोग से यह समझने की भूल नही करनी चाहिये कि यह णिच् केवल वर्त्तमानकाल में ही होता है। यहा पर लँट् का अर्थ विवक्षित नही वह केवल निदर्शनार्थ है। अतः वर्त्तमानकाल की तरह भूत और भविष्यत् काल में भी इस णिच् का निर्बाध प्रयोग होता है।

हो। इष्ठन् एक तद्धितप्रत्यय है जो 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (१२१८) सूत्रद्वारा आगे तद्धितप्रकरण मे विधान किया गया है। इष्ठन् प्रत्यय के परे रहते निम्नलिखित सात कार्य हुआ करते हैं—

(१) प्रातिपदिक को पुवद्भाव हो जाता है। यथा—अतिशयेन पटवी—पटिष्ठा। यहा पटवीशब्द से इष्ठन् प्रत्यय करने पर 'भस्याढे तद्धिते' (वा०) से उसे पुवद्भाव होकर 'पटु+इष्ठ' बन जाता है। पुन 'टे' (११५७) से टि का लोप करने पर टाप् लाकर 'पटिष्ठा' रूप सिद्ध होता है।

(२) प्रातिपदिक को 'र' भाव हो जाता है। यथा—दृढशब्द से इष्ठन् प्रत्यय करने पर 'द्रढिष्ठ' बनता है। यहा 'र ऋतो हलादेर्लघो' (११५६) से दृढशब्द के ऋवर्ण को 'र' आदेश हो जाता है।

(३) प्रातिपदिक की टि का लोप हो जाता है। यथा—अतिशेयन साधु—साधिष्ठ। यहा 'साधु' शब्द से इष्ठन् प्रत्यय करने पर साधुशब्द की टि का 'टे' (११५७) से लोप हो जाता है।

(४) विन् और मतुँप् प्रत्ययो का 'विन्मतोर्लुक्' (१२२९) से लुक् हो जाता है। यथा—अतिशयेन स्रग्वी—स्रजिष्ठ। यहा स्रग्विन् शब्द म विन् प्रत्यय का इष्ठन् परे होने पर लुक् हो गया है। इसी प्रकार—अतिशयेन गोमान्—गविष्ठ यहा गोमत् शब्द के मतुँप्प्रत्यय का लुक् हो जाता है।

(५) यणादि(यण् जिस के आदि मे है ऐसे)भाग का लोप हो कर पूर्व को गुण हो जाता है(६ ४ १५६)। यथा—अतिशयेन स्थूल—स्थविष्ठ। यहा इष्ठन् प्रत्यय के परे रहते स्थूल शब्द का यणादि-भाग(ल)लुप्त होकर पूर्व ऊकार को गुण हो जाता है।

(६) प्रिय, स्थिर, स्फिर आदि शब्दों के स्थान पर प्र, स्थ, स्फ आदि आदेश हो जाते हैं—प्रिय स्थिर० (६ ४ १५७)। यथा—अतिशयेन प्रिय—प्रेष्ठ। अतिशयेन स्थिर—स्थेष्ठ। अतिशयेन स्फिर—स्फेष्ठ (अत्यन्त अधिक)।

(७) भसञ्ज्ञा। यथा—अतिशयेन स्रग्वी—स्रजिष्ठ। यहा विन् का लुक् (१२२५) होकर 'स्रज्+इष्ठ' इस स्थिति मे 'यचि भम्' (१६५) से भसञ्ज्ञा हो जाती है, अत 'चो कु' (३०६) द्वारा पदनिबन्धन कुत्व नहीं होता।

घट करोति, घटमाचष्टे वा घटयति (घड़े को करता-बनाता है या घड़े को कहता है)। यहां घटशब्द से 'करना-बनाना या कहना' अर्थ मे प्रकृतगणसूत्रो से णिच् प्रत्यय कर 'घट+इ' हुआ। णिच् के इष्ठवद्भाव के कारण पूव की 'यचि भम्' (१६५) से भसञ्ज्ञा होकर 'यस्येति च' (२३६) से इकारोत्तर अकार का लोप करने से 'घटि' यह णिजन्त धातुरूप निष्पन्न हुआ। ध्यान रहे कि यहा णिच् के णित्त्व को मान कर 'अत उपधाया' (४५५) से उपधावृद्धि नहीं होती। इस का कारण यह है कि अकारलोप को 'अच परस्मिन् पूर्वविधौ' (६६६) से स्थानिवत् मान लेने से णित परे नहीं रहता। अब 'घटि' धातु मे लँट्, तिप्, शप, सार्वधातुकगुण तथा एकार को अयादेश करने पर 'घटयति' प्रयोग सिद्ध होता है। क्रियाफल के कर्त्रभिप्राय होने

पर 'णिचश्च' (६६५) द्वारा आत्मनेपद भी हो जायेगा—घटयते। तुंड्—में अनुपधा होने से सन्वद्भाव न होकर 'अजघटत्' रूप बनेगा।

इसी प्रकार—प्रकटं करोति प्रकटयति (तुंड् में—प्राचकटत्, अनुपधा होने से सन्वद्भाव नहीं होता), उत्तरम् आचष्टे—उत्तरयति (तुंड् में—उदततरत्) आदि जानने चाहियें। तुंड् में अट् आगम के विषय में विशेष बात सिद्धान्तकौमुदी की नामधातुप्रक्रिया में देखें।

प्रकृत णिच् में इष्ठवद्भाव के कारण हुए उपर्युक्त कार्यों के उदाहरण यथा—

(१) पुंवद्भाव। पट्वीम् आचष्टे—पटयति (पट्वी—चतुरा को कहता है)। यहां पर 'पट्वी' शब्द से 'आचष्टे-कहता है' अर्थ में प्रकृतगणसूत्रों से णिच् कर उसे इष्ठवत् मानने से 'अत्याढे तद्धिते' (वा०) से पट्वी को पुंवद्भाव अर्थात् 'पटु' होकर टि का 'टेः' (११५७) से लोप हो जाता है।

(२) 'र' भाव। दृढं करोति—द्रढयति (दृढ़ करता है)। यहां पर 'दृढ' शब्द से 'करना' अर्थ में णिच् होता है। णिच् को इष्ठवत् मान कर 'र ऋतो हलादेर्लघोः' (११५६) से दृढ शब्द के ऋकार को 'र' आदेश हो जाता है।

(३) टिलोप का पूर्वोक्त 'पटयति' उदाहरण है।

(४) विन् और मतुप् का लुक्। स्रजमाचष्टे—स्रजयति (माला वाले को कहता है)। यहां पर णिच् के इष्ठवद्भाव के कारण 'विन्मतोर्लुक्' (१२२९) से विन् का लुक् हो गया है। श्रीमन्तं करोति—श्रीणयति (श्रीसम्पन्न करता है)। यहां पर मतुँप् का लुक् होकर ईकार को ऐकार वृद्धि तथा ऐकार को आयादेश हो जाता है।

(५) यणादि भाग का लोप होकर पूर्व को गुण। स्थूलमाचष्टे करोति वा—स्थवयति (स्थूल को कहता है अथवा स्थूल करता है); दूरं करोति—दवयति (दूर करता है)। यहां पर णिच् को इष्ठवत् मान कर स्थूलशब्द के 'ल' भाग तथा दूर शब्द के 'र' भाग का लोप हो कर पूर्व ऊकारों को गुण हो जाता है ('स्थूल-दूर-युव-ह्रस्व-क्षिप्र-क्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः' ६.४.१५६)।

(६) प्र, स्थ आदि आदेश। प्रियमाचष्टे—प्रीणयति (प्रिय कहता है)। यहां पर णिच् को इष्ठवत् मानकर 'प्रिय-स्थिर-स्फिरोरुo' (६.४.१५७) सूत्र से प्रियशब्द को 'प्र' आदेश हो जाता है। अब 'अचो ञ्णिति' (१८२) से वृद्धि हो कर आकार को पुक् का आगम (७०२) हो जाता है।

(७) भसञ्ज्ञा। स्रजमाचष्टे—स्रजयति। यहां णिच् को इष्ठवत् मान कर सुँबन्त से विहित विन् का लुक् (१२२५) होकर अन्तर्वर्तिनी विभक्ति का आश्रय कर पदत्व के कारण 'चोः कुः' (३०६) से कुत्व प्राप्त था पर अब 'यचि भम्' (१६२) से भसञ्ज्ञा के कारण नहीं हुआ।

## इति नामधातवः

(यहां पर नामधातुओं का विवेचन समाप्त होता है)

# अथ कण्ड्वादयः

अब तिङन्तप्रकरण मे कण्डू आदि शब्दो का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। कण्डू+आदि=कण्ड्वादि। पाणिनीय गणपाठ मे कण्ड्वादि एक गण है। कण्ड्वाद्यन्तर्गत शब्दो को धातु और प्रातिपदिक दोनों प्रकार का माना जाता है। प्रातिपदिक मान कर इन के रूप षड्लिङ्गी के नियमानुसार सातो विभक्तियो मे चला करते है। परन्तु जब इन को धातु मानते हैं तब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७३०) कण्ड्वादिभ्यो यक् ।३।१।२७॥

एभ्यो धातुभ्यो नित्य यक् स्यात् स्वार्थे ॥

अर्थ—कण्ड्वादि धातुओ से स्वार्थ मे नित्य यक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—कण्ड्वादिभ्य ।५।३। यक् ।१।१। धातुभ्य ।५।३। ('धातोरेकाचो०' से वचनविपरिणाम कर)। 'प्रत्यय, परश्च' दोनो अधिकृत हैं। कण्डूशब्द आदिर्येषान्ते कण्ड्वादय, तेभ्य =कण्ड्वादिभ्य। अर्थ—(कण्ड्वादिभ्य) कण्डू आदि (धातुभ्य) धातुओं से परे (यक्) यक् प्रत्यय हो जाता है। यहा अर्थ का निर्देश नहीं किया गया अत 'अनिर्दिष्टार्था प्रत्यया स्वार्थे भवन्ति' के अनुसार यक् प्रत्यय स्वार्थ मे किया जायेगा। तात्पर्य यह है कि कण्डू आदि धातुओ से यक् के आ जाने पर भी अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं आयेगा। यक् का ककार इत् होकर लुप्त हो जाता है।

अब सर्वप्रथम कण्डू धातु का वर्णन करते है—

[लघु०] कण्डूञ् गात्रविघर्षणे ॥१॥ कण्डूयति, कण्डूयते, इत्यादि ॥

अर्थ—कण्डूञ् (कण्डू) धातु 'शरीर को रगडने अर्थात् खुजलाने' अर्थ मे प्रयुक्त होती है।

व्याख्या—गणपाठ मे कण्डू आदि शब्दों का अर्थनिर्देश नहीं किया गया। साहित्य में प्रयोगो को देख कर पूर्व वैयाकरणो ने इन का अर्थनिर्देश किया है। कण्ड्वादि शब्दो को धातु और प्रातिपदिक उभयविध मानने में निम्न दो प्रमाण दिये जाते हैं—

(१) कण्ड्वादियों से यक् का विधान किया गया है। यक् कित् है। गुण-निषेध के लिये इसे कित् किया गया है। यदि प्रातिपदिक से यक् किया जाता तो उस की आर्धधातुकसञ्ज्ञा न होती क्योकि वहा 'धातो' से विहित प्रत्ययो की ही आर्धधातुकसञ्ज्ञा कही गई है। तब आर्धधातुक न होने से गुण की प्राप्ति स्वत ही न होती, पुन उस की निवृत्ति के लिये यक् को कित् क्यो करते? इस से प्रतीत होता है कि आचार्य कण्ड्वादियों को धातु मानते हैं।

(२) यदि कण्ड्वादियों को केवल धातु ही मानें तो इन मे कही कहीं (जैसे—कण्डू, मही, हूणी आदि) दीर्घ पढा गया है वह व्यर्थ हो जायेगा। क्योकि यक् करने पर 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घ' (४८३) से दीर्घ अपने आप सिद्ध हो सकता है।

इस से प्रतीत होता है कि ये प्रातिपदिक भी हैं। प्रातिपदिक अवस्था में यक् के न होने से इन को दीर्घ रखने के लिये तत्तत्स्थानों में इन को दीर्घ पढ़ा गया है।

इस प्रकार कण्ड्वादि, धातु और प्रातिपदिक उभयविध है—यह निश्चित होता है। जैसा कि महाभाष्य में कहा है—

धातुप्रकरणाद्धातुः कस्य चासञ्ज्ञनादपि।
आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातुविभाषितः॥

[पीछे धातु का प्रकरण चल रहा है अतः 'धातोः' की अनुवृत्ति आ रही है तथा यक् प्रत्यय में गुणनिषेध के लिये ककार अनुबन्ध लगाया गया है—इस से प्रतीत होता है कि कण्ड्वादि धातुसञ्ज्ञक हैं। परन्तु इन शब्दों को जो कहीं कहीं दीर्घ पढ़ा गया है इस से सिद्ध होता है कि इन की धातुसञ्ज्ञा वैकल्पिक है, ये पक्ष में प्रातिपदिक भी हैं]।

कण्ड्वादियों को जब धातु स्वीकार किया जायेगा। तब इन से प्रकृतसूत्र द्वारा नित्य यक् प्रत्यय हो जायेगा। यथा—कण्डूञ् + यक् = कण्ड् + य। यक् आर्धधातुक है, इस के परे होने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (३८८) से ऊकार को ओकार गुण प्राप्त होता है परन्तु यक् के कित्त्व के कारण 'क्ङिति च' (४३३) से उस का निषेध हो जाता है इस प्रकार 'कण्ड्य' यह यगन्त रूप निष्पन्न होता है। अब इस की 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) से धातुसञ्ज्ञा होकर कर्त्रादिविवक्षा में लँडादियों की उत्पत्ति होती है। लँट् प्र० पु० के एकवचन में तिप्, शप् और 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप करने पर 'कण्डूयति' प्रयोग सिद्ध होता है। कण्डूञ् धातु ञित् विधान की गई है अतः ञित् के विधानसामर्थ्य से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में इस से आत्मनेपद का भी प्रयोग होगा—कण्डूयते। आर्धधातुकप्रत्ययों में 'अतो लोपः' (४७०) से यक् के अकार का लोप हो जाता है। रूपमाला यथा—

लँट्—(परस्मै०) कण्डूयति। (आत्मने०) कण्डूयते[1]। (लिँट्)—(परस्मै०) कण्डूयाञ्चकार-कण्डूयाम्बभूव-कण्डूयामास। (आत्मने०) कण्डूयाञ्चक्रे-कण्डूयाम्बभूव-कण्डूयामास। लुँट्—(परस्मै०) कण्डूयिता, कण्डूयितारौ, कण्डूयितारः। कण्डूयितासि—। (आत्मने०) कण्डूयिता, कण्डूयितारौ, कण्डूयितारः। कण्डूयितासे—। लृँट्—(परस्मै०) कण्डूयिष्यति। (आत्मने०) कण्डूयिष्यते। लोँट्—(परस्मै०) कण्डूयतु-कण्डूयतात्। (आत्मने०) कण्डूयताम्। लँङ्—(परस्मै०) अकण्डूयत्। (आत्मने०) अकण्डूयत[2]। वि० लिँङ्—(परस्मै०) कण्डूयेत्[3]। (आत्मने०) कण्डूयेत। आ० लिँङ्—(परस्मै०) कण्डूय्यात्। (आत्मने०) कण्डूयिषीष्ट। लुँङ्—(परस्मै०) अकण्डूयीत्। (आत्मने०) अकण्डूयिष्ट। लृँङ्—(परस्मै०) अकण्डूयिष्यत्। (आत्मने०) अकण्डूयिष्यत।

१. कण्डूयन्ते जन्यहरिणाः स्वाङ्गसङ्गे मदीये—वैराग्य० ६८।
२. मृगोमकण्डूयत कृष्णसारः—कुमार० ३.३६।
३. न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः—मनु० ४.८२।

जब कण्डू (खुजलाहट) शब्द प्रातिपदिक होगा तब वह नित्यस्त्रीलिङ्ग होगा। इस का उच्चारण 'वधू' शब्द की तरह चलेगा—

| विभक्ति | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|---|---|---|---|
| प्रथमा | कण्डूः | कण्ड्वौ | कण्ड्वः |
| द्वितीया | कण्डूम् | ,, | कण्डूः |
| तृतीया | कण्ड्वा | कण्डूभ्याम् | कण्डूभिः |
| चतुर्थी | कण्ड्वै | ,, | कण्डूभ्यः |
| पञ्चमी | कण्ड्वाः | ,, | ,, |
| षष्ठी | ,, | कण्ड्वोः | कण्डूनाम् |
| सप्तमी | कण्ड्वाम् | ,, | कण्डूषु |
| सम्बोधन | हे कण्डूः ! | हे कण्ड्वौ ! | हे कण्ड्वः ! |

कण्ड्वादिगण के कुछ प्रसिद्ध शब्दों की तालिका यथा—

| कण्ड्वादिशब्द | धात्ववस्था मे रूप व अर्थ | प्रातिपदिकावस्था में रूप व अर्थ |
|---|---|---|
| (१) कण्डू (ञ्) | कण्डूयति-ते = रगडता है। | कण्डूः = (स्त्री० वधूवत्) खुजलाहट। |
| (२) मन्तु | मन्तूयति = क्रुद्ध करता व होता है | मन्तुः = (पु भानुवत्) दोष, अपराध। |
| (३) वल्गु | वल्गूयति = सुन्दर होना है। पूजा करता है। प्रशसा करता है। | वल्गु (विशेषण) = सुन्दर, मनोज्ञ। |
| (४) सपर | सपर्यति = पूजा करता है। | सपर(?) = पूजा, सेवा आदि[1]। |
| (५) मही (ङ्) | महीयते = पूजित होना है। | मही (स्त्री० नदीवत्) पृथ्वी, भूमि। |
| (६) खेला | खेलायति = खेलता है। प्रसन्न होता है। | खेला (स्त्री० रमावत्) = खेल। |
| (७) ह्रणी (ङ्) | ह्रणीयते = लज्जित होता है। | ह्रणी (स्त्री० नदीवत्) = लज्जा। |
| (८) सुख | सुख्यति = सुखी होता है। | सुखम् (नपु० ज्ञानवत्) सुख, आनद |
| (९) दुःख | दुःख्यति = दुःखी होता है। | दुःखम् (नपु० ज्ञानवत्) दुःख, कष्ट। |
| (१०) भिषज् | भिषज्यति = चिकित्सा करता है | भिषक् (पु० ऋत्विग्वत्) = वैद्य। |
| (११) मेधा | मेधायति = शीघ्र समझता है। | मेधा (स्त्री रमावत्) धारणावती बुद्धि |
| (१२) उषस् | उषस्यति = प्रात होता है। | उषा (स्त्री० वेधोवत्) = उष काल |
| (१३) उरस् | उरस्यति = बलवान् होता है। | उर (नपु० पयोवत्) = छाती, वक्ष। |
| (१४) पयस् | पयस्यति (गौ) = गाय दूध देती है। (गणरत्न०) | पय (नपु० यशोवत्) = दूध व जल। |
| (१५) लेट् | लेटयति = लेटता है। | लेट्(?) |
| (१६) लोट | लोटयति = लोटना है। | लोट्(?) |

१ इस अर्थ मे 'सपर्या' शब्द बहुत प्रसिद्ध है। यथा—
(१) सपर्यया माधु स पर्यपूपुजत्—माघ० १ १४।
(२) सोऽह सपर्याविधिभाजनेन—रघु० ५ २२।

नोट—कण्ड्वादिगण में प्रायः तीन प्रकार की धातुएं पाई जाती हैं—

(१) अदन्त धातु। यथा—सपर, सुख, दुःख आदि। इन से यक् करने पर **'अतो लोपः'** (४७०) से अकार का लोप हो जाता है—सपर्यति, सुख्यति, दुःख्यति आदि।

(२) उदन्त धातु। जैसे असु, मन्तु, वल्गु आदि। इन से यक् करने पर **'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः'** (४८३) से दीर्घ हो जाता है—असूयति, मन्तूयति आदि।

(३) दीर्घान्त और हलन्त। यथा—खेला, कण्डू, भिषज् आदि। इन में यक् के परे रहते कुछ परिवर्त्तन नहीं होता—खेलायति, कण्डूयते, भिषज्यति आदि।

## इति कण्ड्वादयः

(यहां पर कण्ड्वादियों का विवेचन समाप्त होता है)



# अथ आत्मनेपदप्रक्रिया

संस्कृतव्याकरण में आत्मनेपद और परस्मैपद दो पद हुआ करते हैं—यह पीछे (३७६, ३७७) सूत्रों पर स्पष्ट कर चुके है। पदव्यवस्था के लिये साधारणतया तीन मुख्य नियम हैं—

(१) **अनुदात्तङित आत्मनेपदम्** (३७८)। अनुदात्तेत् या ङित् धातुओं से आत्मनेपद का विधान होता है। अनुदात्तेत् यथा—(एधृँ=बढ़ना) एधते, एधेते, एधन्ते। ङित् यथा—(शीङ्=सोना) शेते, शयाते, शेरते।

(२) **स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले** (३७९)। स्वरितेत् या ञित् धातुओं से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद का विधान किया जाता है। स्वरितेत् यथा—(वहँ=ले जाना) वहते, वहेते, वहन्ते। ञित् यथा—(डुकृञ्=करना) कुरुते, कुर्वाते, कुर्वते।

(३) **शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्** (३८०)। आत्मनेपद का कोई निमित्त न हो तो उस धातु से परस्मैपद का विधान होता है। यथा—(भू=होना) भवति, भवतः, भवन्ति।

अब इस प्रक्रिया में आत्मनेपद विधान के कुछ अन्य नियम बतलाये जाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७३१) **कर्तरि कर्मव्यतिहारे**। १।३।१४॥

क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्तरि आत्मनेपदम्। व्यतिलुनीते। अन्यस्य योग्यं लवनं करोतीत्यर्थः॥

**अर्थः**—क्रिया का विनिमय द्योत्य हो तो कर्तृवाच्य में आत्मनेपद होता है।

**व्याख्या**—कर्तरि। ७।१। कर्मव्यतिहारे। ७।१। आत्मनेपदम्। १।१। (**'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'** से)। कर्मणो व्यतिहारः—कर्मव्यतिहारः, तस्मिन्—कर्मव्यतिहारे। 'कर्म' पद से यहां 'क्रिया' का ग्रहण अभीष्ट है। अर्थः—(कर्मव्यतिहारे) क्रिया के

व्यतिहार के द्योत्य होने पर (कर्तरि) कर्तृवाच्य में (आत्मनेपदम्) धातु से परे आत्मनेपद होता है। कर्मव्यतिहार या क्रियाव्यतिहार के निम्न तीन स्थान समझे जाते हैं—

(१) एक के योग्य कार्य को यदि दूसरा करने लगे तो उसे 'कर्मव्यतिहार' कहते हैं। जैसे खेत काटना मजदूरों का काम है इसे यदि कोई बुद्धिजीवी ब्राह्मण आदि करने लगे तो यह 'कर्मव्यतिहार' होगा। यथा—ब्राह्मण क्षेत्र व्यतिलुनीते।

(२) एक दूसरे के साथ एक जैसी पारस्परिक क्रिया को भी 'कर्मव्यतिहार' कहते हैं। जैसे—सम्प्रहरन्ते राजान (राजा लोग एक दूसरे पर प्रहार करते हैं)। व्यतिलुनते क्षेत्र कृषका (किसान एक दूसरे का खेत काटते हैं)।

(३) किसी एक विषय में एक दूसरे से बढ चढ कर होना भी 'कर्मव्यतिहार' कहाता है। यथा नैषध (२ २२) मे—

अपि लोकयुग दृशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि।
श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते सुतरा धरापते! ॥

यहा पर दमयन्ती के मातृ व पितृ दोनों कुलों का एक दूसरे से बढ़-चढ कर प्रसिद्ध होना बताया गया है अत कर्मव्यतिहार मे वि और अति पूर्वक भा (चमकना) धातु का 'व्यतिभाते' प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार उसके नेत्रों और स्त्रियोचित गुणों के विषय में भी समझना चाहिये। [ध्यान रहे कि 'व्यतिभाते' प्रयोग लॅट् आत्मने० ३ प्र० पु० के तीनो वचनों में एक समान बनता है]

व्यतिलुनीते (अन्य के योग्य काटने की क्रिया को कोई अन्य करता है)। यहा पर वि और अति पूर्वक 'लूञ् छेदने' (क्रया० उभय०) धातु काटने के व्यतिहार में प्रयुक्त हुई है। ञित् होने से अकर्त्रभिप्राय (परगामी) क्रियाफल में इस से परस्मैपद प्राप्त है परन्तु अब प्रकृतसूत्र से उसका बाध होकर आत्मनेपद का प्रयोग होता है। 'लुनीते' की सिद्धि पीछे क्रयादिगण में देखें।

अब अग्रिमसूत्र द्वारा कर्मव्यतिहार में आत्मनेपद का अपवाद प्रस्तुत करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(७३२) न गति-हिंसार्थेभ्य ।१।३।१५॥

व्यतिगच्छन्ति। व्यतिघ्नन्ति॥

अर्थ—कर्मव्यतिहार मे गति (चलना) और हिंसा (मारना) अर्थ वाली धातुओं से आत्मनेपद न हो।

व्याख्या—*न इत्यव्ययपदम्। गतिहिंसार्थेभ्य ।१।३। कर्मव्यतिहारे ।७।१।* ('कर्तरि कर्मव्यतिहारे' से)। *आत्मनेपदम् ।१।१।* ('अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से)। गतिश्च हिंसा च गतिहिंसे, *गतिहिंसे अर्थौ येषा ते गतिहिंसार्थास्तेभ्य —गतिहिंसार्थेभ्य*, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहि०। अर्थ—(गतिहिंसार्थेभ्य.) गमनार्थक और हिंसार्थक धातुओं से (कर्मव्यतिहारे) कर्मव्यतिहार में (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद (न) नहीं होता। उदाहरण यथा—

व्यतिगच्छन्ति (एक-दूसरे की ओर जाते हैं)। यहा वि और अति इन दो उपसर्गपूर्वक गमनार्थक गम् (गम्लृ गतौ, भ्वा० परस्मै०) धातु से कर्मव्यतिहार में

'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' (७३१) से आत्मनेपद प्राप्त होता था परन्तु प्रकृतसूत्र से उस का निषेध होकर पुनः 'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्' (३८०) से परस्मैपद हो जाता है—व्यतिगच्छन्ति ।

व्यतिघ्नन्ति (एक दूसरे की हिंसा करते हैं) । यहां भी पूर्ववत् हिंसार्थक हन् (हन हिंसागत्योः, अदा० परस्मै०) धातु से आत्मनेपद का निषेध होकर परस्मैपद हो जाता है—व्यतिघ्नन्ति ।

इसी प्रकार—व्यतिसर्पन्ति, व्यतिहिंसन्ति, व्यतिधावन्ति आदियों में जानना चाहिये । वार्तिककार ने यहां हस् आदि कुछ अन्य धातुओं से भी कर्मव्यतिहार में आत्मनेपद का निषेध स्वीकार किया है[1]—व्यतिहसन्ति, व्यतिजल्पन्ति, व्यतिपठन्ति ।

नोट—कर्मव्यतिहार को प्रकट करने के लिये प्रायः धातु से पूर्व वि और अति उपसर्गद्वय का प्रयोग किया जाता है । कहीं-कहीं इन के विना या अन्य उपसर्गों के साथ भी प्रयोग मिलते हैं—प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्बे (कालिदास)[2] ।

विश प्रवेशने (प्रवेश करना) यह तुदादिगण की परस्मैपदी धातु है । अतः इस से आत्मनेपद प्राप्त नहीं । परन्तु निपूर्वक होने पर इस से अग्रिमसूत्र के द्वारा आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७३३) नेर्विशः ।१।३।१७॥

निविशते ॥

अर्थः—'नि' पूर्वक विश् धातु से आत्मनेपद हो ।

व्याख्या—नेः ।५।१। विशः ।५।१। आत्मनेपदम् ।१।१। ('अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से) । अर्थः—(नेः) 'नि' से परे (विशः) जो विश् धातु, उस से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है । यथा—निविशते । नैषधकार श्रीहर्ष का प्रयोग भी है—निविशते यदि शूकशिखा पदे—(नैषध ४.११)। अट् का व्यवधान भी बाधक नहीं होता—न्यविशत ।

नोट—'मधुनि विशन्ति भ्रमराः' यहां पर भी 'नि' से परे विश् धातु है । परन्तु 'मधुनि' शब्द का अङ्ग होने से यहां 'नि' अनर्थक है अतः उस का ग्रहण न होने से विश् से आत्मनेपद नहीं होता (अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य)[3] ।

'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' धातु ञित् है । कर्तृगामी क्रियाफलमें इससे आत्मनेपद सिद्ध है, परन्तु परगामी क्रियाफल में 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्'(३८०) द्वारा परस्मैपद प्राप्त होता है । इस पर इस के अपवाद अग्रिमसूत्र के द्वारा आत्मनेपद का विधान करते हैं—

---

१. प्रतिषेधे हसादीनामुपसङ्ख्यानम् (वा०) ।

२. मुग्धबोधव्याकरण की टीका में श्रीदुर्गादासद्वारा उद्धृत ।

३. 'इत्युक्त्वा मैथिलीं भर्तुरङ्के निविशतीं भयात्' (रघु० १२.३८) ।

कालिदास का यहां परस्मैपद प्रयोग चिन्त्य है । भट्टोजिदीक्षित यहां 'अङ्कानि विशतीं भयात्' पाठ मानते हैं (देखें १.३.३७ पर शब्दकौस्तुभ) ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७३४) परिव्यवेभ्य क्रिय ।१।३।१८॥

परिक्रीणीते । विक्रीणीते । अवक्रीणीते ॥

अर्थ—परि, वि और अव उपसर्गों से परे 'क्री' धातु से आत्मनेपद हो।

व्याख्या—परिव्यवेभ्य ।५।३। क्रिय ।५।१। आत्मनेपदम् ।१।१।('अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से) । परिश्च विश्च अवश्च—परिव्यवा, तेभ्य—परिव्यवेभ्य । इतरेतरद्व०द्व० । अर्थ—(परिव्यवेभ्य) परि, वि, अव इन उपसर्गों से परे (क्रिय) क्री धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो। उदाहरण यथा—परिक्रीणीते (नियत समय के लिये खरीदता है), विक्रीणीते (बेचता है), अवक्रीणीते (खरीदता है)। इन के प्रयोग पीछे डुक्रीञ् धातु के उपसर्गयोग में देखें।

जि जये (जीतना भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु पीछे मूल में नहीं पढी गई। हम ने इस की रूपमाला तथा प्रक्रिया पृष्ठ (१७०) पर दी है। इस धातु से 'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्' (३८०) द्वारा परस्मैपद प्राप्त है। इस पर अग्रिमसूत्र द्वारा विशिष्ट उपसर्गों के योग में आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७३५) विपराभ्या जे ।१।३।१९॥

विजयते । पराजयते ॥

अर्थ—'वि' अथवा 'परा' उपसर्ग से परे जि धातु से आत्मनेपद हो।

व्याख्या—विपराभ्याम् ।५।२। जे ।५।१। आत्मनेपदम् ।१।१। ('अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से)। अर्थ—(विपराभ्याम्) वि अथवा परा उपसर्ग[1] से परे (जे) जि धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है। यथा—वि√जि=विजयते (जीतता है या सर्वोत्कर्ष से रहता है), परा√जि=पराजयते (जीतता है या घबराता है)। इन के प्रयोग यथा—प्रायस्त्वन्मुखसेवया विजयते विश्वं स पुष्पायुध (गीतगोविन्द १० ६), रहस्य साधूनामनुपधि विशुद्ध विजयते (उत्तररामा० २ २), चैद्य परान् पराजिग्ये (माघ० १९ ८२), न पराजयसे मृधा (याज्ञवल्क्यस्मृति २ ७५), अध्ययनात् पराजयते (अध्ययन से घबराता या जी चुराता है। देखें काशिका १,४ २६)।

विपूर्वक 'जि' धातु के कर्तरि रूप यथा—

लँट्—विजयते, विजयेते, विजयन्ते। लिँट्—विजिग्ये, विजिग्याते, विजिग्यिरे। विजिग्यिषे—[2]। लुँट्—विजेता। लृँट्—विजेष्यते। लोँट्—विजयताम्, विजयेताम्, विजयन्ताम्। विजयस्व—। लँङ्—व्यजयत। वि० लिँङ्—विजयेत। आ० लिँङ्—

१ व्याख्यान से यहां 'वि' और 'परा' उपसर्गों का ही ग्रहण माना जाता है। अत एव इन स्थलों पर आत्मनेपद नहीं होता—बहुवि जयति वनम् (बहवो वय = पक्षिणो यस्मिंस्तद् बहुवि वन जयतीत्यर्थ), परा जयति सेना (परा=उत्कृष्टा सेना जयतीत्यर्थ)।

२ 'सस्सिँटोर्जे' (७ ३ ५७) से कुत्व तथा आदिनियम से सर्वत्र इट् हो जाता है।

विजेषीष्ट। लुंङ्—व्यजेष्ट, व्यजेषाताम्, व्यजेषत। लृँङ्—व्यजेष्यत। इसी प्रकार परा√जि के रूप जानने चाहियें।

ष्ठा गतिनिवृत्तौ (ठहरना, भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु पीछे मूल में नहीं पढ़ी गई। हम ने इस की व्याख्या तथा रूपमाला पृष्ठ (१८७) पर दी है। इस धातु से 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (३८०) द्वारा परस्मैपद प्राप्त है। इस पर अग्रिमसूत्र द्वारा विशिष्ट उपसर्गों के योग में आत्मनेपद का विधान करते है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७३६) समवप्रविभ्यः स्थः।१।३।२२॥

सन्तिष्ठते। अवतिष्ठते। प्रतिष्ठते। वितिष्ठते॥

अर्थः—सम्, अव, प्र, वि—इन उपसर्गों से परे स्था धातु से आत्मनेपद हो।

व्याख्या—समवप्रविभ्यः।५।३। स्थः।५।१। आत्मनेपदम्।१।१। ('अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से)। अर्थः—(सम्-अव-प्र-विभ्यः) सम्, अव, प्र, वि—इन उपसर्गों से परे (स्थः) स्था धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो।

सम्√स्था—सन्तिष्ठते (रहना, निवास करना, ठहरना—तीक्ष्णादुद्विजते मृदौ परिभवत्रासान्न सन्तिष्ठते—मुद्रा० ३.५; दारिद्र्योपहतस्य बान्धवजनो वाक्ये न सन्तिष्ठते—मृच्छ० १.३६। समाप्त होना—सन्तिष्ठते यज्ञः। मरना—संस्थास्ये विषमुपभुज्य पश्यतस्ते—चम्पूरामायण २.२०, संस्थास्ये=मरिष्यामि)।

अव√स्था—अवतिष्ठते (रुकना, प्रतीक्षा करना—क्षणं भद्रावतिष्ठस्व—भट्टि० ८.११। ठहरना, स्थिर होना—अनीत्वा पङ्कतां धूलिमुदकं नाऽवतिष्ठते—माघ २.३४, न शासनेऽवास्थित यो गुरूणाम्—भट्टि० ३.१४)।

प्र√स्था—प्रतिष्ठते (प्रस्थान करना, रवाना होना, चल पड़ना—पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे रथवर्त्मना—रघु० ४.६०, आश्रमाय प्रतस्थे—भट्टि० २.२४)।

वि√स्था—वितिष्ठते (ठहरना, स्थिर होना—पादैर्भुवं व्याप्य वितिष्ठमानम्—माघ ४.४)।

निदर्शनार्थ प्र√स्था की आत्मनेपद में रूपमाला यथा—

लँट्—प्रतिष्ठते, प्रतिष्ठेते, प्रतिष्ठन्ते। लिँट्—प्रतस्थे। लुँट्—प्रस्थाता। लृँट्—प्रस्थास्यते। लोँट्—प्रतिष्ठताम्। लँङ्—प्रातिष्ठत। वि० लिँङ्—प्रतिष्ठेत। आ० लिँङ्—प्रस्थासीष्ट। लुँङ्—प्रास्थित, (स्थाघ्वोरिच्च ६२४; ह्रस्वादङ्गात् ५४५), प्रास्थिषाताम्, प्रास्थिषत। लृँङ्—प्रास्थास्यत।

ज्ञा अवबोधने (जानना) धातु क्र्यादिगण में परस्मैपदी पढ़ी गई है। अतः 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (३८०) द्वारा इस से परस्मैपद प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्रद्वारा आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७३७) अपह्नवे ज्ञः।१।३।४४॥

शतमपजानीते, अपलपतीत्यर्थः॥

अर्थः—'छिपाना, इन्कार करना' अर्थ में ज्ञा धातु से आत्मनेपद हो।

व्याख्या—अपह्नवे ।७।१। ज्ञ ।५।१। आत्मनेपदम् ।१।१। ('अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से)। अर्थ —(अपह्नवे) छिपाना या इन्कार करना अर्थ मे (ज्ञ) ज्ञा धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है। उपसर्गरहित अवस्था मे ज्ञा धातु का 'छिपाना इन्कार करना-मुकर होना' अर्थ नही हुआ करता, यह अर्थ अपपूर्वक ज्ञा का ही होता है। अत अपपूर्वक ज्ञा धातु से इस अर्थ मे क्रियाफल के कर्तृगामी या परगामी किसी के भी होने पर आत्मनेपद विधान किया जाता है। उदाहरण यथा—

शतम् अपजानीते—(सौ को छिपाता या इन्कार करता है)। यहा अपपूर्वक ज्ञा धातु अपह्नव अर्थ मे वर्तमान है अत इस से आत्मनेपद हो गया है। आत्मनेपद मे ज्ञा धातु की रूपमाला पीछे क्र्यादिगण मे इसी धातु पर लिख आये हैं वही देखें। अन्य उदाहरण यथा—

आत्मानमपजानान शशमात्रोऽनयद् दिनम् (भट्टि० ८ २६) अर्थात् हनुमान् जी ने अपने आप को छिपाते हुए अपनी आकृति शशक की तरह बना कर सारा दिन वहा लङ्का मे व्यतीत किया। यहा अपपूर्वक ज्ञा धातु अपह्नव अर्थ मे स्थित है अत आत्मनेपद शानच् प्रत्यय हुआ है।

पुन ज्ञा धातु से आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७३८) अकर्मकाच्च ।१।३।४५॥

सर्पिषो जानीते, सर्पिषोपायेन प्रवर्त्तत इत्यर्थ ॥

अर्थ —अकर्मक ज्ञा धातु से आत्मनेपद हो।

व्याख्या—अकर्मकात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। ज्ञ ।५।१। ('अपह्नवे ज्ञ' से)। आत्मनेपदम् ।१।१। ('अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से)। अर्थ —(अकर्मकात्) अकर्मक (ज्ञ) ज्ञा धातु से (च) भी (आत्मनेपदम) आत्मनेपद हो। उदाहरण यथा—

सर्पिषो जानीते (घृत द्वारा भोजनादि मे प्रवृत्त होता है)। यहा पर ज्ञा धातु का अर्थ 'जानना' नही अपितु 'प्रवृत्त होना' है अत वह अकर्मक है। इस से प्रकृतसूत्र द्वारा आत्मनेपद हुआ है। ध्यान रहे कि यहा 'सर्पिष्' (घृत) करण है अत एव इस का अर्थ करते हुए वृत्तिकार ने 'सर्पिषा उपायेन' कहा है। यहा करण में शेष की विवक्षा मे 'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे'(२ ३ ५१, जानना अर्थ न होने पर ज्ञा धातु के करण मे षष्ठी विभक्ति होती है) सूत्रद्वारा षष्ठी विभक्ति हो कर 'सर्पिष' बना है।

इसी प्रकार—'मधुनो जानीते' आदि समझने चाहियें।

प्रश्न—'सर्पिषो जानीते' आदि मे तो 'अनुपसर्गाज्ज्ञ' (१ ३ ७६, उपसर्गहीन ज्ञा धातु से कर्त्राभिप्राय क्रियाफल मे आत्मनेपद हो) सूत्र से ही आत्मनेपद सिद्ध था पुन इस सूत्र की क्या आवश्यकता ?

उत्तर—यह सत्य है, परन्तु 'सर्पिषोऽनुजानीते, मधुनोऽनुजानीते' इत्यादि सोपसर्ग स्थानो पर आत्मनेपद के विधान के लिये यह सूत्र आवश्यक है।

चर गतौ भक्षणे च (गमन करना या खाना भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु का

वर्णन पीछे मूल में नहीं आया, हम ने इस की व्याख्या पृष्ठ (१२२) पर की है। इस से 'शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्'(३८०) द्वारा परस्मैपद प्राप्त है। इस पर अग्रिमसूत्रद्वारा आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७३९) उदश्चरः सकर्मकात् ।१।३।५३॥

धर्ममुच्चरते। उल्लङ्घ्य गच्छतीत्यर्थः ॥

**अर्थः**—उद्पूर्वक सकर्मक चर् धातु से आत्मनेपद हो।

**व्याख्या**—उदः ।५।१। चरः ।५।१। सकर्मकात् ।५।१। आत्मनेपदम् ।१।१। ('अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से)। अर्थः—(उदः) उद् उपसर्ग से परे (सकर्मकात्) सकर्मक (चरः) चर् धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो। यथा—

**धर्ममुच्चरते** (धर्म का उल्लङ्घन कर चलता है)। यहां पर उद्पूर्वक चर् धातु सकर्मक है, 'धर्मम्' इस का कर्म है। अतः इस से आत्मनेपद हो गया है। इसी प्रकार गुरुवचनमुच्चरते, कुटुम्बमुच्चरते आदि जानने चाहियें। उद्+चरते=उज्+चरते(स्तोः श्चुना श्चुः ६२)=उच्चरते(खरि च ७४)। उद्√चर् की रूपमाला यथा—

लँट्—उच्चरते। लिँट्—उच्चेरे, उच्चेराते, उच्चेरिरे। लुँट्—उच्चरिता। लृँट्—उच्चरिष्यते। लोँट्—उच्चरताम्। लँङ्—उदचरत। वि० लिँङ्—उच्चरेत। आ० लिँङ्—उच्चरिषीष्ट। लुँङ्—उदचरिष्ट। लृँङ्—उदचरिष्यत।

'सकर्मकात्' कहने से—**बाष्पमुच्चरति** (बाष्प ऊपर जाता है) इत्यादि स्थानों पर जहां उद्पूर्वक चर् धातु अकर्मक है, आत्मनेपद नहीं होता।

अग्रिमसूत्रद्वारा पुनः चर् धातु से आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७४०) समस्तृतीयायुक्तात् ।१।३।५४॥

रथेन सञ्चरते ॥

**अर्थः**—सम्पूर्वक चर् धातु यदि तृतीयान्त से युक्त हो तो उस से आत्मनेपद होता है।

**व्याख्या**—समः ।५।१। तृतीयायुक्तात् ।५।१। चरः ।५।१।('उदश्चरः सकर्मकात्' से)। आत्मनेपदम् ।१।१। अर्थः—(समः) सम् उपसर्ग से परे (तृतीयायुक्तात्) तृतीयान्त से युक्त (चरः) चर् धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है। तृतीयान्त के साथ चर् का योग आर्थिक होता है। उदाहरण यथा—

**रथेन सञ्चरते** (रथ से सञ्चरण करता है)। यहां पर 'चर्' धातु 'रथेन' इस तृतीयान्त से अर्थद्वारा युक्त है तथा सम्पूर्वक भी है, अतः प्रकृतसूत्र से इस से आत्मनेपद हुआ है। कालिदास का प्रयोग—क्वचित् पथा सञ्चरते सुराणाम् (रघु० १३.१९)।

तृतीयान्त का प्रयोग न होने पर आत्मनेपद न होगा—**उभौ लोकौ सञ्चरसि इमं चामुं च देवल !** (काशिका)।

दाण् दाने(देना. भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु पीछे मूल में नहीं आई। हम इस की प्रक्रिया तथा रूपमाला पृष्ठ(१८७)पर लिख चुके हैं। इस से 'शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्'

(३८०) से परस्मैपद प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७४१) दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे ।१।३।५५॥

सम्पूर्वाद् दाणस्तृतीयान्तेन युक्तादुक्त स्यात्, तृतीया चेच्चतुर्थ्यर्थे। दास्या सयच्छते कामी ॥

अर्थ —सम्पूर्वक दाण् धातु यदि तृतीयान्त से युक्त हो तो उस से आत्मनेपद होता है परन्तु वह तृतीया चतुर्थी के अर्थ मे प्रयुक्त होनी चाहिये।

व्याख्या—दाण ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। सा ।१।१। चेत् इत्यव्ययपदम्। चतुर्थ्यर्थे ।७।१। सम ।५।१। तृतीयायुक्तात् ।५।१। ('समस्तृतीयायुक्तात्' से) आत्मनेपदम् ।१।१। ('अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से)। अर्थ —(सम) सम् उपसर्ग से परे (तृतीयायुक्तात् दाण) तृतीयान्त से युक्त दाण् धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो जाता है (चेत्) यदि (सा) वह तृतीया (चतुर्थ्यर्थे) चतुर्थी के अर्थ मे प्रयुक्त हो।

अशिष्टव्यवहार मे चतुर्थी के अर्थ मे तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ करता है। यथा—दास्या (रतिं) सयच्छते कामी (कामी पुरुष दासी को रति देता है)। दासी के साथ कामुकसम्बन्ध रखना अशिष्ट व्यवहार है, ऐसा शिष्ट घरानो मे वर्जित है। यहा पर दासी को रति दी जा रही है अत वह सम्प्रदान है, उस मे 'चतुर्थी सम्प्रदाने' (८९७) से चतुर्थी विभक्ति आनी चाहिये थी परन्तु 'अशिष्टव्यवहारे दाण प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया' इस वार्त्तिक से उस में तृतीया का प्रयोग हुआ है। ऐसे प्रयोगो मे सम्पूर्वक दाण् धातु से प्रकृतसूत्र से आत्मनेपद का प्रयोग होता है। जैसा कि यहां किया गया है।

सम्√दाण् धातु की आत्मनेपद मे रूपमाला यथा—

लॅट्—सयच्छते[1]। लिट्—सन्ददे, सन्ददाते, सन्ददिरे। सन्ददिषे—। लुट्—सदाता। लृट्—सदास्यते। लोट्—सयच्छताम्। लङ्—समयच्छत। वि० लिङ्—सयच्छेत। आ० लिङ्—सदासीष्ट। लुङ्—समदित (गातिस्था० ४३९, स्थाघ्वोरिच्च ६२४, हस्वादङ्गात् ५४५), समदिषाताम्, समदिषत। समदिषा—। लृङ्—समदास्यत।

नोट—'उदश्चर सकर्मकात्' (७३९) तथा 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे' (७४१) ये दो दोनो सूत्र किसी अन्य उपसर्ग के व्यवधान मे भी प्रयुक्त होते हैं। यथा—धर्मम् उदाचरते, यहा उद् और चर के बीच मे आङ् उपसर्ग का व्यवधान है तो भी (७३९) सूत्र से आत्मनेपद हो गया है। दास्या सप्रयच्छते कामी, यहा सम् और दाण् धातु के बीच मे 'प्र' उपसर्ग का व्यवधान है तो भी (७४१) सूत्र से आत्मनेपद हो गया है। इस का विशेष विवेचन काशिका वा सिद्धान्तकौमुदी मे देखें।

अब सन्नन्त से आत्मनेपद का विधान करते हैं—

---

१ लॅट्, लोट्, लॅङ् और विधिलिङ् मे शप् शित् के परे रहते 'पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्०' (४८७) सूत्र से दाण् को यच्छ् आदेश हो जाता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७४२) पूर्ववत्सनः ।१।३।६२॥

सनः पूर्वो यो धातुस्तेन तुल्यं सन्नन्तादप्यात्मनेपदं स्यात् । एदिधिषते॥

अर्थः—सन् से पूर्व जो धातु, उस के समान सन्नन्त से भी आत्मनेपद हो ।

व्याख्या—पूर्ववत् इत्यव्ययपदम् । सनः ।५।१। आत्मनेपदम् ।१।१। ('अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से) । पूर्वेण तुल्यम्—पूर्ववत्, 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (११४८) इति वतिप्रत्ययः । किस के पूर्व ? निकट में सन् का उल्लेख है अतः सन् से पूर्व का ग्रहण किया जाता है । अर्थः—(पूर्ववत्) सन् प्रत्यय से पूर्व जो धातु, उस के समान (सनः=सन्नन्तात्) सन्नन्त से भी (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो जाता है । तात्पर्य यह है कि सन् की प्रकृतिभूत धातु यदि आत्मनेपदी होगी तो सन्नन्त से भी आत्मनेपद होगा अन्यथा नहीं । उदाहरण यथा—

एदिधिषते (बढ़ने की इच्छा करता है) । यहां पर एध् धातु से सन् प्रत्यय किया गया है। एध् धातु अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी थी तो सन्नन्त से भी आत्मनेपद हुआ है[1] ।

इसी प्रकार शीङ् आदि धातुओं मे सन् प्रत्यय करने पर सन्नन्त से भी आत्मनेपद हो जाता है—शिशयिषते । पूर्व धातु के ङित् होने पर सन्नन्त से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल मे ही आत्मनेपद होता है अन्यत्र नही—(कृञ्) चिकीर्षते । परगामी क्रियाफल में—चिकीर्षति । यदि पूर्व धातु आत्मनेपद के लक्षणों से हीन होगी तो सन्नन्त से आत्मनेपद न होकर परस्मैपद ही होगा—(भू) बुभूषति, (गम्) जिगमिषति आदि ।

यदि किसी उपसर्ग के योग में किसी धातु से आत्मनेपद का विधान होगा तो उस उपसर्ग के योग में सन्नन्त से भी आत्मनेपद हो जायेगा । यथा—निविविक्षते (प्रवेश करने की इच्छा करता है) । निपूर्वक विश् धातु से 'नेर्विशः' (७३३) द्वारा आत्मनेपद का विधान है । अब निपूर्वक सन्नन्त से भी आत्मनेपद हो गया है । पराजिगीषते (पराजित करने की इच्छा करता है ) । परापूर्वक जि धातु से 'विपराभ्यां जेः' (७३५) द्वारा आत्मनेपद का विधान है अब सन्नन्त से भी आत्मनेपद हो गया है । इसी प्रकार—विजिगीषते आदि मे भी जानना चाहिये ।[2]

---

१. एध् धातु से सन् प्रत्यय करने पर सन् को इट् का आगम हो जाता है—एधिष । अब यहां 'सन्यङोः' (७०६) से अजादि सन्नन्त धातु के द्वितीय एकाच् 'धिष्' को द्वित्व तथा अभ्यास-कार्य करने पर 'एदिधिष' यह सन्नन्त रूप बना । अब 'पूर्ववत्सनः' द्वारा इस सन्नन्त से पूर्व धातु (एध्) के तुल्य आत्मनेपद होता है । सन् से पूर्व धातु 'एध्' आत्मनेपदी है अतः सन्नन्त से भी आत्मनेपद हो गया । लँट्, त, शप्, पररूप तथा टि को एत्व करने पर 'एदिधिषते' प्रयोग सिद्ध हुआ ।

२. इस सूत्र का 'ज्ञा-श्रु-स्मृ-दृशां सनः' (१.३.५७) सूत्र अपवाद है । ज्ञा आदि धातुओं के सन्नन्त से आत्मनेपद का ही विधान है—धर्मं जिज्ञासते, गुरुं शुश्रूषते, नष्टं सुस्मूर्षते, नृपं दिदृक्षते ।

अब प्रसङ्गवश 'निविविक्षते' की सिद्धि मे उपयोगी अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(७४३) हलन्ताच्च ।१।२।१०॥

इक्समीपाद् हल परो झलादि सन् कित् । निविविक्षते ॥

अर्थ —इक् के समीप हल् से परे झलादि सन् कित् हो ।

व्याख्या—हल् ।५।१। (लुप्तविभक्तिको निर्देश)।अन्तात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । इक् ।६।१। झल् ।१।१। ('इको झल्' से) । 'इक्' का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है)।सन् ।१।१। ('हृद विद-मुष ग्रहि-स्वपि-प्रच्छ सश्च' से)। कित् ।१।१। ('असयोगाल्लिट् कित्' से) । सूत्र मे पठित 'अन्त' शब्द समीप का वाचक है । 'झल्' यह 'सन्' का विशेषण है अत तदादिविधि होकर 'झलादि सन्' बन जाता है । अर्थ —(इक) इक् के (अन्तात्) समीप (हल) जो हल्, उस से परे (झलादि सन्) झलादि सन् (कित्) कित् हो जाता है । विश्+स, गुह्+स, भिद्+स—इत्यादि स्थानों मे इक् के समीप हल् से परे झलादि सन् कित् हो जाता है अत तन्निमित्तक लघूपधगुण का 'क्ङिति च' (४३३) से निषेध हो जाता है ।

निविविक्षते—निपूर्वक विश् धातु से सन्, विश् के अनुदात्त होने से इट् का 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (४७५) से निषेध तथा लघूपधगुण के प्राप्त होने पर 'हलन्ताच्च' (७४२) से झलादि सन् के कित्त्व के कारण उस का भी निषेध हो जाता है । पुन द्वित्व, अभ्यासकार्य, 'व्रश्चभ्रस्ज०' (३०७) से शकार को षकार तथा 'षढो क सि' (५४८) से षकार को ककार तथा अन्त मे सन् के सकार को षत्व करने पर 'निविविक्ष' यह सन्नन्तरूप सिद्ध होता है । अब यहा 'पूर्ववत्सन' (७४२) के अनुसार पूर्व धातु की तरह आत्मनेपद होकर लँट् प्र० पु० के एकवचन मे 'निविविक्षते' प्रयोग सिद्ध होता है ।

डुकृञ् करणे (करना लना० उभय०) धातु क्रियाफल के कर्त्राभिप्राय होने पर आत्मनेपदी है । परन्तु क्रियाफल के परगामी होने पर भी इस से अग्रिमसूत्रद्वारा विशिष्ट अर्थों मे आत्मनेपद का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्— (७४४) गन्धनाऽवक्षेपण-सेवन-साहसिक्य-प्रतियत्न-प्रकथनोपयोगेषु कृञ ।१।३।३२॥

गन्धनम्—सूचनम्, उत्कुरुते—सूचयतीत्यर्थ । अवक्षेपणम्—भर्त्सनम्, श्येनो वर्त्तिकामुत्कुरुते—भर्त्सयतीत्यर्थ । हरिम् उपकुरुते—सेवत इत्यर्थ । परदारान् प्रकुरुते—तेषु सहसा प्रवर्त्तते । एधो दकस्योपस्कुरुते—गुणमाधत्ते । कथा प्रकुरुते—कथयतीत्यर्थ । शतं प्रकुरुते—धर्मार्थं विनियुङ्क्ते । एषु किम् ? कट करोति ॥

अर्थ —(१) गन्धन, (२) अवक्षेपण, (३) सेवन, (४) साहसिक्य, (५) प्रति-

यत्न, (६) प्रकथन और (७) उपयोग—इन सात अर्थों में वर्त्तमान कृञ् धातु से आत्मनेपद हो।

**व्याख्या**—गन्धनावक्षेपण—प्रकथनोपयोगेषु।७।३। कृञः।५।१। आत्मनेपदम्। १।१।('अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से)।अर्थः—(गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्न-प्रकथनोपयोगेषु) गन्धन, अवक्षेपण, सेवन, साहसिक्य, प्रतियत्न, प्रकथन और उपयोग—इन सात अर्थों में (कृञः) कृञ् धातु से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद होता है।

(१) **गन्धन**—सूचित करना, दूसरे के दोष को प्रकट करना, चुगली करना आदि[1]। यथा—उत्कुरुते (सूचित करता है, चुगली करता है, दोष प्रकट करता है)। पूरा वाक्य बनेगा—स तमुत्कुरुते।

(२) **अवक्षेपण**—भर्त्सना करना, झिड़कना, काबू में करना आदि। यथा—श्येनो वर्तिकाम् उत्कुरुते[2] (बाज बटेर को काबू मे करता है)। इसी प्रकार—दुर्वृत्तान् अवकुरुते (दुष्टों की भर्त्सना या तिरस्कार करता है)—पाल्यकीर्ति।

(३) **सेवन**—सेवा करना, आज्ञा मानना आदि। यथा—हरिमुपकुरुते (हरि की सेवा करता है)। इसी प्रकार—गणकान् प्रकुरुते, महापात्रान् प्रकुरुते—पाल्यकीर्ति।

(४) **साहसिक्य**—सहसा (बलेन) प्रवर्त्तते इति साहसिकः, 'ओजः सहोऽम्भसा वर्त्तते' (४.४.२७) इति ठक्। तस्य कर्म—साहसिक्यम्, ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्। बलपूर्वक किये गये निन्दित कर्म को 'साहसिक्य' कहते हैं[3]। यथा—परदारान् प्रकुरुते (पराई स्त्रियों में बलपूर्वक प्रवृत्त होता है)।

---

१. गन्ध अर्दने (हिंसा करना) धातु से 'गन्धन' शब्द बना है। अत एव काशिका में कहा है—गन्धनम् अपकारप्रयुक्तं हिंसात्मकं सूचनम्। दूसरे की हिंसा हो जाये या उसे नुक्सान पहुँचे अथवा उस का अपकार हो—इस प्रकार की दुर्भावना को लेकर जो सूचन, चुगलखोरी या निन्दा की जाती है उसे यहां 'गन्धन' कहा गया है।

२. यह उदाहरण बहुत प्राचीन है। श्येन (बाज) वर्त्तिका (बटेर)को मार कर खाया करता है। वह बटेर की क्या भर्त्सना करेगा? यह समझ में नहीं आता। किसी शकुनिविशेषज्ञ से पूछने का अवसर नहीं मिला। हम ने अव+क्षेपण का अर्थ 'नीचे फेंकना-दबाना-काबू में करना' आदि किया है, यह अर्थ यहां उचित प्रतीत होता है।

३. हिंसा करना, चोरी करना, दूसरे की स्त्री को वशीभूत करना, झूठ बोलना आदि निन्दित कर्मों को 'साहस' कहते है। जैसा कि नारदस्मृति में कहा है—

मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराभिमर्षणम्। पारुष्यमनृतञ्चैव साहसं पञ्चधा स्मृतम्।

आजकल हिन्दीभाषा में 'साहस' शब्द अच्छे भाव को प्रकट करता है परन्तु संस्कृत-साहित्य में यह बुरे भाव को ही प्रकट करता है। जिस प्रकार राक्षस (रक्षतीति राक्षसः) आदि शब्द समय की थपेड़ों से अपने अच्छे अर्थ 'रक्षक' को खोकर बुरे अर्थ 'भक्षक' में प्रयुक्त होने लगे हैं इसी प्रकार ठीक इसके विपरीत साहस शब्द बुरे अर्थ को छोड़कर अच्छे अर्थ को ग्रहण कर चुका है।

(५) प्रतियत्न—किसी वस्तु में नये गुण का आधान करना—उत्पन्न करना 'प्रतियत्न' कहाता है। यथा—एधो दकस्योपस्कुरुते (लकडी पानी को उपस्कृत करती है अर्थात् उसे गरम या गुणयुक्त करती है)। ध्यान रहे कि यहा 'उपात् प्रतियत्न०' (६८३) से कृ के ककार से पूर्व सुट् का आगम हो जाता है।

इसी अर्थ मे 'कृञ प्रतियत्ने' (२ ३ ५३) से षष्ठी विभक्ति भी होती है। इस उदाहरण का विशेष विवेचन पीछे (६८३) सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें।

(६) प्रकथन—प्रकर्षेण कथनम् प्रकथनम्—भली भाति कहना। यथा—कथा प्रकुरुते (कथाओं को भली भाति कहता है), गाथा प्रकुरुते (वैदिक कथाओं को भली भाति कहता है)। जनापवादान् प्रकुरुते (लौकिक निन्दाओ को कहता है—पाल्यकीर्ति)।

(७) उपयोग—उपयोग करना, लगाना, व्यय करना आदि। यथा—शत प्रकुरुते (सौ रु० खर्च करता है)। यह उपयोग अच्छे बुरे दोनो प्रकार के कार्यों मे हो सकता है।

इन अर्थों के अतिरिक्त अन्य अर्थों मे यह सूत्र आत्मनेपद का विधान नहीं करता। यथा—कट करोति (चटाई बनाता है)। ध्यान रहे कि कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में यहा भी आत्मनेपद हो सकता है।

अब ग्रन्थकार पूर्वप्रतिपादित एक सूत्र का स्मरण दिलाते हैं—

[लघु०] भुजोऽनवने (६७२)। ओदन भुङ्क्ते। अनवने किम्? महीं भुनक्ति॥

व्याख्या—पीछे रुधादिगण के अन्त मे 'भुजोऽनवने' (६७२) सूत्र मूल में आ चुका है। इस का अर्थ है—पालन-भिन्न अर्थ मे भुज् धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—ओदन भुङ्क्ते (भात खाता है), यहाँ भुज् धातु का पालन करना अर्थ नहीं अपितु भक्षण करना अर्थ है अत इस से आत्मनेपद होकर 'भुङ्क्ते' रूप बना है। इसी प्रकार—'वृद्धो नरो वु खशतानि भुङ्क्ते' आदि में जानना चाहिये। पालन अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता, वहां 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' (३८०) से परस्मैपद होता है। यथा—महीं भुनक्ति (राजा पृथ्वी को पालता है), यहाँ पालन अर्थ होने से भुज् से परस्मैपद हुआ है। इस सूत्र की विस्तृत व्याख्या पीछे इसी सूत्र पर कर चुके हैं, वहीं देखें।

लघुकौमुदी मे आत्मनेपद के कुल इतने ही निमित्त दिये गये हैं। इस के अन्य निमित्त काशिका प्रथमाध्याय के तृतीयपाद मे या सिद्धान्तकौमुदी की आत्मनेपद-प्रक्रिया में देखने चाहियें।

## इति आत्मनेपदप्रक्रिया

(यहा पर आत्मनेपदप्रक्रिया का विवेचन समाप्त होता है)

# अथ परस्मैपदप्रक्रिया

अब परस्मैपदप्रक्रिया प्रारम्भ की जाती है। परस्मैपद विधान के लिये **'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्'** (३८०) यह साधारणनियम पहले बताया जा चुका है। जब किसी धातु से आत्मनेपद का विधान नहीं होता तब उस से परस्मैपद किया जाता है। यथा—भवति, जयति आदि। अब इस प्रक्रिया में ऐसे सूत्रों का उल्लेख किया जायेगा जो या तो उभयपद धातुओं से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में प्राप्त आत्मनेपद का निषेध करेंगे या फिर आत्मनेपदी धातुओं से आत्मनेपद का सीधा बाध करेंगे।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७४५) **अनुपराभ्यां कृञः** ।१।३।७९॥

कर्तृगे च फले गन्धनादौ च परस्मैपदं स्यात्। अनुकरोति। पराकरोति॥

**अर्थः**—क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर या गन्धन आदि पूर्वोक्त (सूत्र ७४४) अर्थों में अनु अथवा परा उपसर्गों से परे कृञ् धातु से परस्मैपद हो।

**व्याख्या**—अनु-पराभ्याम् ।५।२। कृञः ।५।१। परस्मैपदम् ।१।१। (**'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्'** से)। अर्थः—(अनुपराभ्याम्) अनु तथा परा उपसर्ग से परे (कृञः) कृञ् धातु से (परस्मैपदम्) परस्मैपद हो।

कृञ् धातु ञित् है। क्रियाफल के परगामी होने पर इस से परस्मैपद सिद्ध है ही, अतः यह सूत्र कर्त्रभिप्राय क्रियाफल के लिये समझना चाहिये। किञ्च गन्धन आदि अर्थों में पीछे (७४४) परगामी क्रियाफल में भी जो आत्मनेपद का विधान किया गया है उस का भी यह अपवाद समझना चाहिये।

अनु√कृ=अनुकरोति (नकल करता है, अनुकरण करता है)। **ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य**—कुमार० १.४४।

परा√कृ= पराकरोति (दूर करता है—परे हटाता है)। **ता हनुमान् पराकुर्वन्नगमत् पुष्पकं प्रति**—भट्टि० ८.५०।

ध्यान रहे कि इस सूत्र में **'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्'** (३८०) सूत्र से **'कर्तरि'** की अनुवृत्ति आती है। अतः कर्तृवाच्य में ही इसकी प्रवृत्ति होती है। कर्मवाच्य आदि[1] में **'भावकर्मणोः'** (७५१) से आत्मनेपद ही होता है—**अनुक्रियते साध्वी पद्धतिः, पराक्रियते समुपस्थिता बाधा**।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७४६) **अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः** ।१।३।८०॥

---

१. 'आदि' शब्द से कर्मकर्ता में भी इस से आत्मनेपद समझना चाहिये। यहां पर **'कर्तरि कर्मव्यतिहारे'** (७२१) से दूसरे **'कर्तरि'** की अनुवृत्ति आकर **'कर्त्तैव यः कर्ता न तु कर्मकर्ता'** इस प्रकार व्याख्यान कर लिया जाता है। **अनुक्रियते स्वयमेव, पराक्रियते स्वयमेव**।

क्षिपँ[1] प्रेरणे । स्वरितेत् । अभिक्षिपति ॥

अर्थ —अभि, प्रति अथवा अति उपसर्गों से पर क्षिप धातु से परस्मैपद हो।

व्याख्या—अभिप्रत्यतिभ्य ।५।३। क्षिप ।५।१। परस्मैपदम् ।१।१।('शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' से)। अर्थ —(अभिप्रत्यतिभ्य ) अभि, प्रति अथवा अति उपसर्गों से परे (क्षिप ) क्षिप् धातु से (परस्मैपदम्) परस्मैपद हो जाता है।

क्षिपँ[1] प्रेरणे (फेंकना) धातु पाणिनीय धातुपाठ के तुदादिगण में स्वरितेत् पढी गई है'। क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर इस से 'स्वरितञित ०' (३७६) द्वारा आत्मनेपद प्राप्त था। परन्तु अब प्रकृतसूत्र से अभि, प्रति और अति उपसर्गों से परे इस से परस्मैपद का विधान किया जाता है। उदाहरण यथा—

अभि √ क्षिप्=अभिक्षिपति (अभिभूत करता है—दबाता है—निवारण करना है)। अभिक्षिप्तमैक्षिष्ट रावण पर्वतश्रियम्—भट्टि० ८ ५१।

प्रति √ क्षिप्=प्रतिक्षिपति (हटाता है—दूर करता है)।

अति √ क्षिप्=अतिक्षिपति (दूर करता है—निवारण करता है)।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७४७)प्राद्वह् ।१।३।८१॥

प्रवहति ॥

अर्थ —'प्र' उपसर्ग से परे वह् धातु से परस्मैपद हो।

व्याख्या—प्रात् ।५।१। वह ।५।१। परस्मैपदम् ।१।१। ('शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' से)। अर्थ —(प्रात्) 'प्र' उपसर्ग से परे (वह ) वह् धातु से (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है।

वहँ[1] प्रापणे (ले जाना) धातु पीछे भ्वादिगण मे स्वरितेत् पढी गई है। अत कर्त्रभिप्राय क्रियाफल मे 'स्वरितञित ०' (३७६) से आत्मनेपद प्राप्त होता था। उस का अपवाद यह सूत्र जानना चाहिये। उदाहरण यथा—

---

१ यह धातु अनुदात्त होने से अनिट् है परन्तु लिट् मे क्रादिनियम से सेट् हो जाती है। वर्तरि रूपमाला यथा (परस्मैपदे)—लँट्—क्षिपति। लिट्—चिक्षेप, चिक्षिपतु, चिक्षिपु। चिक्षेपिथ —। लुँट्—क्षेप्ता। लृँट्—क्षेप्स्यति। लोँट्—क्षिपतु-क्षिपतात्। लँङ्—अक्षिपत्। वि० लिङ्—क्षिपेत्। आ० लिङ्—क्षिप्यात्। लुङ्—अक्षैप्सीत, अक्षैप्ताम्, अक्षैप्सु। लृँङ्—अक्षेप्स्यत्। (आत्मनेपदे) लँट्—क्षिपते। लिट्—चिक्षिपे। लुट्—क्षेप्ता। लृँट्—क्षेप्स्यते। लोँट्—क्षिपताम्। लँङ्—अक्षिपत। वि० लिङ्—क्षिपेत। आ० लिङ्—क्षिप्सीष्ट (लिङर्सिचावात्मनेपदेषु ५८६)। लुँङ्—अक्षिप्त, अक्षिप्साताम्, अक्षिप्सत। लृँङ्—अक्षेप्स्यत। उत्क्षिपति=ऊपर फेंकता है। प्रक्षिपति=फेंकता है। सङ्क्षिपति=सक्षेप करता है। आक्षिपति=आक्षेप करता है। निक्षिपति=पटकता है, अमानत रखता है। विक्षिपति=दूर फेंकता है। अधिक्षिपति=आक्षेप करता है।

प्र√वह्=प्रवहति (बहती है)। आस्वाद्यतोयाः प्रवहन्ति नद्यः—हितोप०। अतः 'प्रवहमाणः स नद्यां निमग्नः' ऐसे प्रयोग नहीं करने चाहियें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७४८) परेर्मृषः ।१।३।८२॥

परिमृष्यति ॥

अर्थः—परिपूर्वक मृष् धातु से परस्मैपद हो।

व्याख्या—परेः ।५।१। मृषः ।५।१। परस्मैपदम् ।१।१। ('शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' से)। अर्थः—(परेः) परि उपसर्ग से परे (मृषः) मृष् धातु से (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है।

मृषँ तितिक्षायाम् (सहना) धातु पीछे दिवादिगण में स्वरितेत् पढ़ी गई है। कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में इस से आत्मनेपद प्राप्त था, उस का यह सूत्र अपवाद है।

परि√मृष्=परिमृष्यति=असूया करता है। मघोने परिमृष्यन्तम् आरमन्तं परं स्मरे—भट्टि० ८.५२।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७४९) व्याङ्परिभ्यो रमः ।१।३।८३॥

रमुँ क्रीडायाम्। विरमति ॥

अर्थः—वि पूर्वक, आङ् पूर्वक तथा परि पूर्वक रम् धातु से परस्मैपद हो।

व्याख्या—व्याङ्परिभ्यः ।५।३। रमः ।५।१। परस्मैपदम् ।१।१। ('शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' से)। अर्थः—(व्याङ्परिभ्यः) वि, आङ् और परि उपसर्गों से परे (रमः) रम् धातु से (परस्मैपदम्) परस्मैपद होता है।

रमुँ क्रीडायाम् (खेलना, रमण करना, आनन्द मनाना) धातु पाणिनीय धातु-पाठ के भ्वादिगण में अनुदात्तेत् पढ़ी गई है। 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (३७८) द्वारा इस से नित्य आत्मनेपद प्राप्त था। अब यहां इस सूत्र से परस्मैपद का विधान किया जाता है।[1]

वि√रम्=विरमति (रुकता है, विरत होता है)। विरम विरमायासाद् अस्माद् दुरध्यवसायतः—नीति० ८९; आत्मनीनमुपतिष्ठते गुणाः सम्भवन्ति विरमन्ति

---

१. रम् धातु अनुदात्त होने से अनिट् है। परन्तु लिँट् में क्रादिनियम से सेट् हो जाती है। यल् में भारद्वाजनियम से इट् का विकल्प होता है। आत्मनेपद में रूपमाला यथा—(लँट्) रमते। (लिँट्) रेमे, रेमाते, रेमिरे। रेमिषे—(लुँट्) रन्ता। लृँट्—रंस्यते। लोँट्—रमताम्। लङ्—अरमत। वि० लिँङ्—रमेत। आ० लिँङ्—रंसीष्ट। लुँङ्—अरंस्त, अरंसाताम्, अरंसत। लृँङ्—अरंस्यत। विपूर्वक रम् की परस्मैपद में रूपमाला यथा—(लँट्) विरमति। लिँट्—विरराम, विरेमतुः, विरेमुः। विरेमिथ-विररन्थ—। लुँट्—विरन्ता। लृँट्—विरंस्यति। लोँट्—विरमतु-विरमतात्। लँङ्—व्यरमत्। वि० लिँङ्—विरमेत्। आ० लिँङ्—विरम्यात्। लुँट्—व्यरंसीत्, व्यरंसिष्टाम्, व्यरंसिषुः (यमरमनमातां सक् च ४९५)। लृँङ्—व्यरंस्यत्।

प्रयोग—किरात० १३ ६६, अविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्—उत्तरराम० १ २७।

आङ्√रम्=आरमति (सर्वत रमण करता है)। आरेमुरित्वा पुलिनान्यशङ्कया सभाधित्य विशश्रमुश्च—भट्टि० ३ ३८।

परि√रम्=परिरमति (प्रसन्न होता है, आनन्द मनाता है)। क्षण पपरमत् तस्य दर्शने मारुतात्मज—भट्टि० ८ ५३॥

[लघु०] विधि सूत्रम्—(७५०) उपाच्च ।१।३।८४॥

यज्ञदत्तमुपरमति। उपरमयतीत्यर्थं। अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम्॥

अर्थ—उपपूर्वक रम् धातु से परस्मैपद हो।

व्याख्या—उपात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। रम ।१।१। ('व्याङ्परिभ्यो रम' से)। परस्मैपदम् ।१।१। ('शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्' से)। अर्थं—(उपात्) उप उपसर्ग से परे (च) भी (रम) रम् धातु से (परस्मैपदम्) परस्मैपद हो।

इस सूत्र से आगे अष्टाध्यायी मे 'विभाषाऽकर्मकात्' (१ ३ ८५) सूत्र द्वारा उपपूर्वक अकर्मक रम् धातु से परस्मैपद का विकल्प विधान किया गया है (अध्ययनाद् उपरमति उपरमते वा—पढने से विरत होता है), अत प्रकृतसूत्र सकर्मक रम् धातु के विषय मे समझना चाहिये। परन्तु उपपूर्वक रम् धातु अकर्मक होती है। इसलिये यहा अन्तर्भावित णिजर्थ का आश्रय कर प्रकृतसूत्र की सङ्गति लगाई जाती है। तात्पर्य यह है कि उपपूर्वक रम् धातु के अर्थ में णिच् प्रत्यय का अर्थ (प्रयोज्य-प्रयोजक-भाव)भी सम्मिलित हो जाता है[1]। उपपूर्वक रम् का अर्थ है—विरत होना, हटना, मरना आदि। णिच् के अर्थ के अन्तर्भावित हो जाने से अब इस का अर्थ हो जायेगा विरत करना, हटाना, मारना आदि। इस सूत्र का उदाहरण यथा—

यज्ञदत्तम् उपरमति (यज्ञदत्त को हटाता है वा मारता है) यहा उपरम् के अर्थ में णिच् का अर्थ भी अन्तर्भूत है अत यह धातु सकर्मक हो गयी है। इस का कर्म 'यज्ञदत्तम्' है।

इस प्रक्रिया में मूलोक्त नियमों के अतिरिक्त निम्न चार नियम विद्यार्थियों के लिये अनुवादादि में परम उपयोगी होने से नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) बुध-युध-नश-जनेङ्-प्रु द्रु-स्रु भ्यो णे. ।१।३।८६॥ बुध्, युध्, नश्, जन्, इङ्, प्रु, द्रु, स्रु—इन आठ धात्वो से परस्मैपद हो। यह 'णिचश्च' (६९५) सूत्र का अपवाद है। उदाहरण यथा—बोधयति पद्मम्। योधयति काष्ठानि। नाशयति दु खम्। जनयति सुखम्। अध्यापयति। प्रावयति (प्राप्त कराता है)। द्रावयति (पिघलाता है)। स्रावयति (टपकाता है)।

(२) निगरणचलनार्थेभ्यश्च ।१।३।८७॥ भक्षणार्थक तथा कम्पनार्थक धात्व

---

१ णिच् प्रत्यय न करने पर भी धातुओं के अनेकार्थक होने के कारण कहीं कहीं धात्वर्थ के अन्दर णिच् का अर्थ (प्रेरणा) भी सम्मिलित हो जाता है। इसी का नाम 'अन्तर्भावितण्यर्थ' होता है।

धातुओं से परस्मैपद होता है। यह भी 'णिचश्च' (६९५) का अपवाद है। भक्षणार्थक यथा—खादयति, आदयति, भोजयति[1], निगारयति (निगलवाता है) आदि[2]। कम्पनार्थक यथा—कम्पयति। चलयति[3]। आदि।

(३) अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात् ।१।३।८७॥ जो धातु अण्यन्त अवस्था में अकर्मक हो तथा साथ ही चेतन कर्ता वाली हो तो ण्यन्त अवस्था मे उस से परस्मैपद होता है। यह भी 'णिचश्च'(६९५) का अपवाद है। देवदत्तः शेते—देवदत्तं शाययति। आस्ते देवदत्तः—आसयति देवदत्तम्।

(४) न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः ।१।३।८९॥ पा (पाने), दम्, आङ्√यम्, आङ्√यस्, परि√मुह्, रुच्, नृत्, वद्, वस्—इन ण्यन्तों से पूर्वोक्त दोनों सूत्रों द्वारा परस्मैपद नही होता। 'णिचश्च' (६९५) सूत्र द्वारा ही इन की व्यवस्था होगी। पाययते (पिलाता है), दमयते (दमन कराता है), आयामयते, आयासयते (फिकवाता है), परिमोहयते (भली भांति मोहित करता है), रोचयते (पसन्द कराता है), नर्त्तयते (नचाता है), वादयते (कहलाता है या बजाता है), वासयते (बसाता है)।

## इति परस्मैपदप्रक्रिया

(यहां पर परस्मैपदप्रक्रिया का विवेचन समाप्त होता है)

## इति पदव्यवस्था

(यहां पर आत्मने० और परस्मै० पदों की व्यवस्था भी समाप्त होती है)



# अथ भावकर्मप्रक्रिया

# (Impersonal and Passive Voices)

'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः' (३७३) सूत्र में लकारों के तीन अर्थ बताये गये थे—कर्त्ता, कर्म और भाव। सकर्मक धातुओं से लकार कर्म और कर्त्ता अर्थ में तथा अकर्मक धातुओं से लकार भाव और कर्त्ता अर्थ में विधान किये गये थे। पीछे सकर्मक-अकर्मक दोनों से अब तक लकार केवल कर्त्ता अर्थ मे दिखाए गये थे। अब अकर्मकों से भाव और सकर्मको से कर्म अर्थ में इनको दर्शाने के लिये यह प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। अतः इस प्रकरण को 'भावकर्म-प्रक्रिया' कहते है। यह प्रकरण

१. अतएव 'भुङ्क्ते भोजयते चैव'—यह पञ्चतन्त्र (४.१३) का पाठ ठीक नहीं है।

२. इन भक्षणार्थों में अद् धातु का निषेध है—अदेः प्रतिषेधः (वा०) आदयते देवदत्तेन (देवदत्त को खिलाता है)।

३. घटादित्वात् 'मितां ह्रस्वः' (७०४) से उपधाह्रस्व हो जाता है।

अनुवादादि के लिये अतीव उपयोगी है। कर्तृप्रयोगों की अपेक्षा कर्मणिप्रयोग अधिक सुन्दर तथा सरल भी होते हैं। अतः विद्यार्थियों को दत्तचित्त होकर इस प्रक्रिया का सम्यक्प्रकारेण अभ्यास करना चाहिये।

भाववाच्य और कर्मवाच्य में धातु से कौन सा पद किया जाये—इस का सर्व-प्रथम विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७५१) भाव-कर्मणो ।१।३।१३॥

लस्यात्मनेपदम् ॥

अर्थ—भाव और कर्म में हुए लकार के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय हों।

व्याख्या—भाव-कर्मणो ।७।२। आत्मनेपदम् ।१।१। ('अनुदात्तङित आत्मने-पदम्' से)। अर्थ—(भावकर्मणो) भाव और कर्म मे (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं। आत्मनेपद-परस्मैपद सब प्रत्यय पीछे (३७५) सूत्र द्वारा लकार के स्थान पर आदेश किये गये हैं अतः यहां भाव और कर्म वाच्य मे लकार के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय समझने चाहियें।

ध्यान रहे कि भाववाच्य और कर्मवाच्य मे परस्मैपद का नितान्त अभाव होता है। धातु चाहे परस्मैपदी हो या आत्मनेपदी अथवा उभयपदी भी क्यों न हो, भाववाच्य और कर्मवाच्य मे आत्मनेपद ही का प्रयोग होगा परस्मैपद का नहीं।

पीछे लकारो के स्थान पर तिङ् प्रत्ययो के करने के बाद धातु और सार्वधातुक तिङ् के बीच मे शप् श्यन् आदि विकरण आ जाया करते थे। परन्तु वे सब कर्तृ-वाच्य मे विहित होने से यहां नहीं होते। यहां भाववाच्य और कर्मवाच्य के लिये अग्रिम-सूत्र द्वारा नये विकरण का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७५२) सार्वधातुके यक् ।३।१।६७॥

धातोर्यक् भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके ॥

अर्थ—भाव या कर्म के वाचक सार्वधातुक परे होने पर धातु से यक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—सार्वधातुके ।७।१। यक् ।१।१। भावकर्मणो ।७।२। ('चिण्भावकर्मणो' से)। 'प्रत्यय, परश्च' दोनो अधिकृत हैं। धातो ।५।१। ('धातोरेकाचो०' से)। अर्थ—(भावकर्मणो) भाव या कर्म अर्थ में (सार्वधातुके) सार्वधातुक पर होने पर (धातो) धातु से (पर) परे (यक्) यक् (प्रत्यय) प्रत्यय हो जाता है। यक् मे ककार इत्सञ्ज्ञक होकर लुप्त हो जाता है, 'य' यह सस्वर शेष रहता है। यक् मे ककार जोड़ने का प्रयोजन गुण-वृद्धि का निषेध करना तथा सम्प्रसारण करना है। यथा—'भूयते' मे यक् के कित्त्व के कारण आर्धधातुकगुण का निषेध हो जाता है। 'भूज्यते' मे 'भूनेर्वृद्धि' (७।३।११४) से वृद्धि का निषेध हो जाता है। 'इज्यते' मे यक् के कित्त्व के कारण यज् धातु के यकार को 'वचिस्वपि०' (५४७) से सम्प्रसारण हो जाता है।

भाववाच्य और कर्मवाच्य क्या होते हैं? इस का क्रमशः विवेचन करते हुए ग्रन्थकार प्रथम भाववाच्य (Impersonal Voice) को स्पष्ट करते हैं—

[लघु०] भावः क्रिया, सा च भावार्थक-लकारेणाऽनूद्यते। युष्मदस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्याऽभावात् प्रथमः पुरुषः। तिङ्वाच्यक्रियाया अद्रव्यरूपत्वेन द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादि। किन्त्वेकवचनमेवोत्सर्गतः। त्वया मयाऽन्यैश्च भूयते। बभूवे॥

**अर्थः**—धातु के अर्थ क्रिया को 'भाव' कहते हैं। भावार्थक लकार उसी धात्वर्थ का अनुवाद करता है। भाववाच्य में लकार की युष्मद् और अस्मद् के साथ समानाधिकरणता नहीं होती अतः प्रथमपुरुष का प्रयोग होता है। भाव अद्रव्य होता है, उस में द्वित्व आदि की प्रतीति नहीं होती इसलिये भाववाच्य में द्विवचन और बहुवचन नहीं होते। केवल एकवचन का ही प्रयोग होता है क्योंकि वह औत्सर्गिक (उत्सर्गसिद्ध) होता है। यथा—**त्वया भूयते, मया भूयते, अन्यैश्च भूयते** आदि।

**व्याख्या**—भाववाच्य में लकार द्वारा धातु का अर्थ कहा जाता है कर्त्ता वा कर्म नहीं। धातु जिस क्रिया को कहता है लकार भी उसी क्रिया को कहता है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब धातुद्वारा क्रिया कही जा चुकी है तो लकारद्वारा पुनः उसे कहने का क्या प्रयोजन? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि लकार किसी नई क्रिया को नहीं कहता, वह तो धातुद्वारा कही जा चुकी क्रिया का अनुवाद करता है। अर्थात् उसे दोहराता है। दोहराना स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये हुआ करता है अतः कोई दोष नहीं आता।

भाववाच्य में लकार का वाच्य धातुप्रोक्त क्रिया होती है युष्मद् वा अस्मद् नहीं अतः मध्यम और उत्तम पुरुषों के होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। 'शेषे प्रथमः' (३८५) से युष्मद्-अस्मद् के अविषय में केवल प्रथमपुरुष का ही प्रयोग होता है।

भाववाच्य में लकारद्वारा क्रिया का अनुवाद किया जाता है। क्रिया द्रव्यरूप नहीं होती, उस का कोई मूर्तरूप नहीं होता अतः उस में संख्या की प्रतीति न होने से द्विवचन और बहुवचन का प्रयोग नहीं होता। एकवचन को भाष्यकार ने अनैमित्तिक तथा औत्सर्गिक माना है, वह एकत्व संख्या की अपेक्षा नहीं करता, द्वित्वादि के अभाव में वह निर्बाध सर्वत्र हो सकता है[1]। इससे भाववाच्य में केवल एकवचन का ही प्रयोग होता है। सार यह है कि भाववाच्य में प्रत्येक लकार का प्रथमपुरुष के एकवचन में ही प्रयोग होता है। उदाहरण यथा—

---

१. 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने'(१.४.२२)इस योग का विभाग कर 'एकवचनम्, द्वयोर्द्विवचनम्' तदनन्तर 'बहुषु बहुवचनम्' इस प्रकार पाठ कर के एकवचन को निर्निमित्तक सिद्ध किया जाता है। **'एकवचनम्'**—प्रत्येक शब्द से एकवचन हुआ करता है। **'द्वयोर्द्विवचनम्'**—द्वित्व की विवक्षा में द्विवचन होता है। **'बहुषु बहुवचनम्'**—बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन होता है। इस प्रकार संख्या की अपेक्षा के विना एकवचन को औत्सर्गिक-स्वाभाविक सिद्ध कर लिया जाता है। **(वैयाकरण-भूषणसार के भैमीभाष्य से उद्धृत)**।

त्वया मया अन्यैश्च भूयते (तुझ से, मुझ से या अन्यों से हुआ जाता है)। यहां अकर्मक भू धातु से वर्तमानकाल की विवक्षा मे भाव मे लँट् प्रत्यय हुआ है। इस भाव के 'युष्मद्, अस्मद् या अन्य' कर्त्ता तो हैं परन्तु लकार द्वारा वे उक्त नहीं अत. 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (८६५) द्वारा उन अनुक्त कर्त्ताओं में तृतीया विभक्ति हो जाती है। युष्मद् वा अस्मद् के साथ लकार का सामानाधिकरण्य न होने से मध्यम वा उत्तम पुरुष नहीं हो सकता। 'शेषे प्रथम'(३८५) से केवल प्रथम पुरुष हो जाता है। भाव के अमूर्तरूप होने से द्वित्वादि की प्रतीति न होने से केवल औत्सर्गिक एकवचन का ही प्रयोग होता है। भाववाच्य मे 'भावकर्मणो' (७५१) द्वारा आत्मनेपद का विधान होने से लँट् के स्थान पर 'त' आदेश हो कर 'तिङशित्सार्वधातुकम्' (३८६) से उसकी सार्वधातुकसञ्ज्ञा हो जाती है। अब सार्वधातुक के परे रहते 'सार्वधातुके यक्' (७५२) द्वारा यक् विकरण आ जाता है—भू+यक्+त=भू+य+त। 'आर्धधातुक शेष'(४०४) से यक् आर्धधातुक है, इस को मान कर 'भू' अङ्ग को गुण (३८८) प्राप्त होता है परन्तु यक् के कित्त्व के कारण 'क्ङिति च' (४३३) से उस का निषेध हो कर 'टित आत्मनेपदां टेरे' (५०८) से टि को एत्व करने पर 'भूयते' प्रयोग सिद्ध होता है। भाववाच्य के लँट् में भू धातु का केवल यही एक रूप बनता है अन्य रूप नहीं। इसी प्रकार अन्य लकारो का भी भाववाच्य में केवल एक एक प्रयोग बनेगा।

नोट—'भूयते' में लकार भाव का वाचक है कर्त्ता का नहीं, अत कर्त्ता का तथा उस के वचन एकवचन द्विवचन बहुवचन का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अत एव—तेन भूयते, ताभ्या भूयते, तै. भूयते, त्वया भूयते, युवाभ्यां भूयते, युष्माभि भूयते, मया भूयते, आवाभ्या भूयते, अस्माभि भूयते—इत्यादियों मे 'भूयते' अपरिवर्तित रहता है।

लिँट्—लिँडादेश आर्धधातुक होता है अत यक् नहीं होना। 'त' को एश् आदेश (३१३), वुक् का आगम (३६३) तथा द्वित्व आदि कार्य करने पर 'बभूवे' प्रयोग सिद्ध होता है।

लुँट्—मे 'त' आदेश तथा यक् का अपवाद तास् प्रत्यय हो कर—भू+तास्+त। अब इस स्थिति मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७५३) स्य-सिँच्-सीयुट्-तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झन-ग्रह-दृशां वा चिण्वदिट् च।६।४।६२॥

उपदेशे योऽच् तदन्तानां हनादीनां च चिणीव अङ्गकार्यं वा स्यात् स्यादिषु भावकर्मणोर्गम्यमानयो, स्यादीनामिडागमश्च। चिण्वद्भावपक्षेऽयमिट्। चिण्वद्भावाद् वृद्धि—भाविता, भविता। भाविष्यते, भविष्यते। भूयताम्। अभूयत। भूयेत। भाविषीष्ट, भविषीष्ट॥

अर्थ—भाव का कर्म गम्यमान हों तो उपदेश में जो अच् तदन्त धातुओं को

तथा हन्, ग्रह् और दृश् धातुओं को स्य, सिँच्, सीयुट् या तास् परे होने पर विकल्प से चिण्वत् कार्य होते है; चिण्वत्पक्ष मे स्य आदियों को इट् का आगम भी हो जाता है।

व्याख्या—स्य-सिँच्-सीयुट्-तासिषु ।७।३। भावकर्मणोः ।७।२। उपदेशे ।७।१। अज्झनग्रहदृशाम् ।६।३। वा इत्यव्ययपदम् । चिण्वत् इत्यव्ययपदम् । इट् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । 'उपदेशे' पद का 'अच्' अंश के साथ सम्बन्ध होता है। 'अङ्गस्य' के अधिकृत होने से तदन्तविधि हो कर—'उपदेशे योऽच् तदन्तानाम् अङ्गानाम्' बन जाता है। वह अङ्ग धातु ही हो सकता है। अतः 'धातूनाम्' समझ लेना चाहिये। चिणि इव चिण्वत्, सप्तम्यन्ताद्वतिः। अर्थः—(भाव-कर्मणोः) भाव और कर्म के विषय में (स्य-सिँच्-सीयुट्-तासिषु) स्य, सिँच्, सीयुट्[1] वा तास् के परे होने पर (उपदेशे, अज्झनग्रहदृशाम्) उपदेश मे जो अच् तदन्त धातुओं के तथा हन्, ग्रह् और दृश् धातुओं के स्थान पर (चिण्वत्) चिण् परे होने की तरह (वा) विकल्प से अङ्गकार्य हो जाते हैं (इट् च) किञ्च स्य आदियों को इट् का आगम भी हो जाता है।

ध्यान रहे कि **'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः'** इस परिभाषा के बल से जिस पक्ष मे चिण्वद्भाव होगा प्रकृतसूत्र द्वारा इट् का आगम भी उसी पक्ष में होगा। परन्तु चिण्वद्भाव अङ्ग को होगा और इट् का आगम स्य आदियों को—यह नहीं भूलना चाहिये। क्योंकि महाभाष्य (६.४.६२) में कहा है—**यावान् इण् नाम स सर्वं आर्धधातुकस्यैव भवति।**

चिण्वद्भाव का अभिप्राय यह है कि जैसे चिण् परे होने पर अङ्गकार्य होते हैं वैसे यहां स्य आदियों के परे होने पर भी अङ्गकार्य हों। चिण् णित् प्रत्यय है इस के परे होने पर प्रायः निम्न चार अङ्गकार्य होते हैं वे यहां भाववाच्य और कर्मवाच्य में स्य आदियों के परे होने पर भी होंगे—

(१) चिण् परे होने पर **'अचो ञ्णिति'** (१८२) या **'अत उपधायाः'**(४५५) से णिन्निमित्तक वृद्धि होती है वह यहां स्य आदियों में भी होगी। यथा—भू+इट्+स्य+ते=भौ+इ+स्य+ते=भाविष्यते। ग्रह्+इट्+स्य+ते=ग्राहिष्यते।

(२) चिण् परे होने पर **'आतो युक् चिण्कृतोः'**(७५७) सूत्र से आदन्त धातुओं को युक् का आगम हो जाता है वह यहां स्य आदियों में भी हो जायेगा। यथा—दा+इट्+स्यते=दा+युक्+इट्+स्यते=दायिष्यते।

(३)चिण् के णित् होने से उस के परे रहते **'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु'** (७.३.५४) से हन् धातु के हकार को घकार होता है वह यहां स्य आदियों मे भी हो जायेगा। यथा—हन्+इट्+स्यते=घन्+इ+स्यते=घान्+इ+स्यते=घानिष्यते।

(४) चिण् परे होने पर **'चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्'**(६.४.९३) द्वारा मित् अङ्ग की उपधा को वैकल्पिक दीर्घ होता है वह इन स्य आदियों मे भी होगा। यथा—शम्+इ+स्यते=शामिष्यते-शमिष्यते।

---

१. यह सूत्र 'आर्धधातुके' (६.४.४६) के अधिकार में पढ़ा गया है अतः आ० लिँङ् के सीयुट् का ही यहां ग्रहण होता है, सार्वधातुक वि०लिँङ् के सीयुट् का नहीं।

महाभाष्य—(६४६२) में चिण्वद्भाव के इन प्रयोजनों को अत्यन्त सुन्दर शालिनी छन्द द्वारा प्रतिपादित किया गया है—

चिण्वद् वृद्धिर्युक् च हन्तेश्च घत्वं दीर्घश्चोक्तो यो मितां वा चिणीति ।
इट् चाऽसिद्धस्तेन मे लुप्यते णिर्नित्यश्चाय बल्निमित्तो विधातौ ॥

चिण् परे होने पर जैसे वृद्धि, युक् का आगम, हन् को घत्व तथा मितो वा वैकल्पिक दीर्घ होता है वैसे यहा चिण्वद्भाव में भी समझना चाहिये। इस चिण्वद्भाव के साथ विधीयमान इट् (आभीयत्वेन) असिद्ध होता है अत 'णेरनिटि' (५२६) से णि का लोप हो जाता है। यह इट नित्य तथा बलादिलक्षण वाला इट अनित्य होता है। [कारिका के उत्तरार्ध का स्पष्टीकरण आगे किया गया है—वहीं देखें]

'भू+तास्+त' यहा भू धातु उपदेश मे अजन्त है तथा इस से परे तास् विद्यमान है अत प्रकृतसूत्र से चिण्वद् + इट् हो जाता है—भू+इतास्+त। चिण्वद्भाव के कारण 'अचो ञ्णिति' (१८२) से ऊकार को औकार वृद्धि हो जाती है—भौ+इतास्+त। अब औकार को आव् आदेश, त को ड आदेश तथा टि का लोप करने पर 'भाविता' प्रयोग सिद्ध होता है। जिस पक्ष मे चिण्वद् + इट् नहीं होता वहा 'आर्धधातुकस्येड् वलादे' (४०१) से बलादिलक्षण इट् होकर आर्धधातुकगुण और अवादेश करने से 'भविता' प्रयोग बनता है। इस प्रकार लुँट् मे 'भाविता-भविता' दो रूप सिद्ध होते हैं।

लृट्—मे 'भू+स्य+ते' इस स्थिति मे पूर्ववत् चिण्वद् + इट् करने पर वृद्धि और आवादेश करने से 'भाविष्यते' प्रयोग सिद्ध होता है। पक्ष मे बलादिलक्षण इट् होकर गुण हो जाता है—भविष्यते। इस प्रकार 'भाविष्यते-भविष्यते' दो रूप सिद्ध होते हैं।

लोँट्—यहा सावधातुकत्वात् यक् हो जाता है—भूयताम्। इसी प्रकार लेँट् और विधिलिँङ् मे भी। लँङ्—अभूयत। वि० लिँङ्—भूयेत। आ० लिँङ्—मे सीयुट् के होने से चिण्वद् + इट् होकर वृद्धि हो जाती है—भाविषीष्ट। पक्ष में बलादिलक्षण इट होकर गुण हो जाता है—भविषीष्ट।

लुँङ्—मे च्लिप्रत्यय तथा अट् का आगम करने पर 'अभू+च्लि+त' इस स्थिति मे 'च्ले सिच्' (४३८) का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७५४) चिण् भाव-कर्मणोः ।३।१।६६॥

च्लेश्चिण् स्याद् भावकर्मवाचिनि तशब्दे परे। अभावि। अभाविष्यत, अभविष्यत ॥

अर्थ—भाववाचक या कर्मवाचक 'त' शब्द परे हो तो च्लि के स्थान पर चिण् आदेश हो।

व्याख्या—चिण् ।१।१। भावकर्मणोः ।७।२। ते ।७।१। ('विच्ने पद' से) च्लेः । ६।१। ('च्ले सिच्' से)। अर्थ—(भाव कर्मणो) भाव और कर्म मे (ते) 'त' शब्द

परे हो तो (च्लेः)च्लि के स्थान पर(चिण्) चिण् आदेश हो जाता है। चिण् में चकार-णकार इत् हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'इ' मात्र शेष रहता है।

'अभू+च्लि+त' यहां पर भाव का वाचक 'त' शब्द परे विद्यमान है। अतः प्रकृतसूत्र से च्लि के स्थान पर चिण् आदेश होकर—अभू+इ+त। चिण् के णित्त्व के कारण 'अचो ञ्णिति' (१८२) से वृद्धि तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से औकार को आव् आदेश हो जाता है—अभावि+त। अब 'चिणो लुक्' (६४१) से 'त' प्रत्यय का लुक् करने पर 'अभावि' प्रयोग सिद्ध होता है।

लृँङ्—में चिण्वद्+इट् हो जाता है—अभाविष्यत। पक्ष में वलादिलक्षण इट् हो कर गुण और अवादेश हो जाते हैं—अभविष्यत।

अब ग्रन्थकार कर्मवाच्य (Passive Voice) का वर्णन करते हैं—

[लघु०] अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात् सकर्मकः। अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण त्वया मया च। अनुभूयेते। अनुभूयन्ते। त्वम् अनुभूयसे। अहमनुभूये। अन्वभावि। अन्वभाविषाताम्, अन्वभविषाताम्॥

व्याख्या—अकर्मक धातु भी उपसर्गयोग के कारण कई बार सकर्मक हो जाती है। जैसे 'भू' धातु का अर्थ है—होना, इस अर्थ में यह अकर्मक है। परन्तु 'अनु' उपसर्ग लगाने से इसका अर्थ 'अनुभव करना—महसूस करना' हो जाता है। अब यह सकर्मक है। अकर्मकों से भाववाच्य और सकर्मकों से कर्मवाच्य में लकार आता है यह पीछे (३७३) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं। अनु√भू से सकर्मकत्वात् कर्म में लँट् की उत्पत्ति होती है। जब लकार कर्म में आता है तब कर्म के उक्त होने से उस में प्रथमा विभक्ति आती है। किञ्च कर्म के एक-द्वि-बहु वचनों के अनुसार तङ् में भी वचन होते हैं। इसलिये भाववाच्य में जहां प्रत्येक लकार के प्र० पु० के एकवचन में ही रूप बनते हैं वहां कर्मवाच्य में सब पुरुषों के सब वचनों में रूप बनते हैं।

उदाहरण यथा—

**तेन आनन्दोऽनुभूयते** (उस से आनन्द अनुभव किया जाता है)।
**ताभ्याम् आनन्दोऽनुभूयते** (उन दो से आनन्द अनुभव किया जाता है)।
**तैरानन्दोऽनुभूयते** (उन सब से आनन्द अनुभव किया जाता है)।
**त्वयाऽऽनन्दोऽनुभूयते** (तुझ से आनन्द अनुभव किया जाता है)।
**युवाभ्यामानन्दोऽनुभूयते** (तुम दो से आनन्द अनुभव किया जाता है)।
**युष्माभिरानन्दोऽनुभूयते** (तुम सब से आनन्द अनुभव किया जाता है)।
**मयाऽऽनन्दोऽनुभूयते** (मुझ से आनन्द अनुभव किया जाता है)।
**आवाभ्यामानन्दोऽनुभूयते** (हम दो से आनन्द अनुभव किया जाता है)।
**अस्माभिरानन्दोऽनुभूयते** (हम सब से आनन्द अनुभव किया जाता है)।

इन सब में कर्म 'आनन्द' है। उस के एकवचनान्त होने से कर्मवाच्य की क्रिया 'अनुभूयते' में भी एकवचन का प्रयोग हुआ है। यदि कर्म द्विवचनान्त वा बहुवचनान्त

होगा तो उस मे भी द्विवचन बाबहुवचन का प्रयोग होगा। यथा—मया सुखदुःखे अनुभूयेते। त्वया शीतवर्षातिपादयोऽनुभूयन्तें। इसी प्रकार यदि कर्म युष्मद् वा अस्मद् होगा तो क्रिया के साथ भी क्रमश मध्यमपुरुष और उत्तमपुरुष का प्रयोग किया जायेगा। यथा—तेन त्वम् अनुभूयसे, तेन युवाम् अनुभूयेथे, तेन यूयम् अनुभूयध्वे। तेन अहम् अनुभूये, तेन आवाम् अनुभूयावहे। तेन वयम् अनुभूयामहे। ध्यान रहे कि कर्मवाच्य मे कर्म ता उक्त रहता है परन्तु कर्त्ता अनुक्त, अत 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (८९५) से अनुक्त कर्त्ता म तृतीया विभक्ति होती है।

भाववाच्य और कर्मवाच्य की प्रक्रिया मे प्राय कोई भेद नही। दोनों मे यक्, चिण्वद्भाव+इट् और आत्मनेपद समान हैं। इन दोनों मे अन्तर केवल इतना है कि जहां भाववाच्य मे केवल प्र० पु० के एकवचन मे ही रूप बनते हैं वहां कर्मवाच्य में सब पुरुषों के सब वचनों में रूप चलते हैं।

अनु√भू की कर्मवाच्य मे रूपमाला यथा—

लॅट्—अनुभूयते, अनुभूयेते, अनुभूयन्ते। अनुभूयसे, अनुभूयेथे, अनुभूयध्वे। अनुभूये, अनुभूयावहे, अनुभूयामहे। लिट्—अनुबभूवे, अनुबभूवाते, अनुबभूविरे। अनुबभूविषे, अनुबभूवाथे, अनुबभूविढ्वे-अनुबभूविध्वे (विभाषेट ५२७)। अनुबभूवे, अनुबभूविवहे, अनुबभूविमहे। लुट्—अनुभाविता-अनुभविता[1], अनुभावितारौ-अनुभवितारौ, अनुभावितार -अनुभवितार। अनुभावितासे-अनुभवितासे—। लृट्—अनुभाविष्यते-अनुभविष्यते—। लोट्—अनुभूयताम्, अनुभूयेताम्, अनुभूयन्ताम्। अनुभूयस्व—। लॅङ्—अन्वभूयत, अन्वभूयेताम्, अन्वभूयन्त। वि० लिङ्—अनुभूयेत, अनुभूयेयाताम्, अनुभूयेरन् इत्यादि। आ० लिङ्—अनुभाविषीष्ट-अनुभविषीष्ट आदि। लुङ्—अन्वभावि[2], अन्वभाविषाताम्-अन्वभविषाताम्[3], अन्वभाविषत अन्वभविषत। अन्वभाविष्ठा -अन्वभविष्ठा, अन्वभाविषायाम् अन्वभविषायाम्, अन्वभाविढ्वम्-अन्वभाविध्वम्-अन्वभविढ्वम्-अन्वभविध्वम्। अन्वभाविषि-अन्वभविषि, अन्वभाविष्वहि-अन्वभविष्वहि, अन्वभाविष्महि अन्वभविष्महि। लृङ्—अन्वभाविष्यत-अन्वभविष्यत इत्यादि।

भू धातु से 'हेतुमति च' (७००) द्वारा हेतुमण्णिच् करने पर अनुबन्धलोप, वृद्धि तथा आवादेश करने पर 'भावि' (हुवाना) यह णिजन्तरूप निष्पन्न होता है। 'सनाद्यन्ता धातव' (४६८) से 'भावि' की धातुसञ्ज्ञा है। सकर्मक होने से 'भावि' से कर्मणि लकार हो जायेंगे। अब इस की प्रक्रिया का वर्णन करते हैं—

---

१ 'स्यसिच्सीयुट०' से वैकल्पिक चिण्वद्+इट् हो जाता है। चिण्वत्पक्ष मे वृद्धि तथा तद्भाव मे आर्धधातुकगुण होता है।

२ 'चिण्भावकर्मणो' (७२४) से च्लि को चिण्, अजन्तलक्षणा वृद्धि (१९२) आवादेश तथा 'चिणो लुक्' (६४१) से 'त' का लुक् हो जाता है।

३ च्लि को सिच् होकर वैकल्पिक चिण्वद्+इट् हो जाता है। चिण्वत्पक्ष में वृद्धि तथा अभावपक्ष मे आर्धधातुकगुण होकर रूप सिद्ध होते है।

[लघु०] णिलोपः—भाव्यते । भावयाञ्चक्रे, भावयाम्बभूवे, भावयामासे । चिण्वदिट्—भाविता, आभीयत्वेनाऽसिद्धत्वाण्णिलोपः । भावयिता । भावयिषीष्ट । अभावि । अभाविषाताम्, अभावयिषाताम् ॥

व्याख्या—'भावि' इस हेतुमण्णिजन्त से कर्मवाच्य में लँट्, प्र० पु० के एकवचन की विवक्षा में 'भावकर्मणोः' (७५१) से 'त' प्रत्यय तथा 'सार्वधातुके यक्' (७५२) से यक् विकरण करने पर 'भावि+य+त' इस स्थिति में अनिडादि आर्धधातुक यक् के परे रहते 'णेरनिटि' (५२६) से णि का लोप करने पर 'भाव्यते' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—भाव्यते, भाव्येते, भाव्यन्ते आदि।

लिँट्—में 'भावि' धातु से अनेकाच् होने के कारण 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यो लिँटि' (वा०३४) से आम्प्रत्यय तथा णिलोप का बाध कर 'अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु' (५२६) से णि के इकार को अयादेश कर 'भावयाम्+लिँट्' हुआ। अब 'आमः' (४७१) से लिँट् का लुक् होकर 'कृञ्चानु०' (४७२) से लिँट्परक कृ-भू-अस् का अनुप्रयोग हो जाता है। 'भाव-कर्मणोः' (७५१) द्वारा इन सब से आत्मनेपद का प्रयोग होकर रूपसिद्धि होती है—भावयाञ्चक्रे-भावयाम्बभूवे-भावयामासे आदि।

लुँट्—में तास् होकर प्र० पु० के एकवचन में 'भावि+तास्+त' इस स्थिति में 'स्य-सिँच्-सीयुट्०' (७५३) सूत्र की प्रवृत्ति होती है। वहां की वृत्ति में 'उपदेश में जो अच् तदन्त धातु' के अनुसार 'भावि' का भी ग्रहण हो जाता है[1]। अतः इस से चिण्वद्+इट् होकर 'भावि+इतास्+त' हुआ। चिण्वद् के साथ हुआ इट् आभीय कार्य है; इधर 'णेरनिटि' (५२६) दूसरा आभीय कार्य है। दोनों समानाश्रय कार्य हैं। अतः प्रथम किया गया आभीय इडागम 'असिद्धवदत्राऽऽभात्' (५६२) से 'णेरनिटि' (५२६) की दृष्टि में असिद्ध है, उसे सामने इट् दिखाई नहीं देता अपितु अनिटादि आर्धधातुक दिखाई देता है। इस से णि का लोप होकर 'भाव्+इताम्+त' हो जाता है। अब लुँट् की प्रक्रिया के अनुसार 'त' को टा आदेश तथा डित्वसामर्थ्य से भसञ्ज्ञा न होते हुए भी टि का लोप करने से 'भाविता' प्रयोग सिद्ध होता है[2]। चिण्वद्+

---

१. सीधा 'उपदेश में अजन्त धातु' न कह कर 'उपदेश में जो अच् तदन्त धातु' इसलिये कहा गया था कि णिजन्तों से ताम् आदि करने पर चिण्वदिट् हो सके। तथाहि—यदि 'उपदेश में अजन्त धातु' कहते तो 'भावि' आदि णिजन्त धातुओं का कहीं उपदेश न होने से उनका ग्रहण न हो सकता। परन्तु अब 'उपदेश में जो अच् तदन्त धातु' कहने से उन का निर्बाध ग्रहण हो जाता है, क्योंकि इ(णिच्) प्रत्यय का 'हेतुमति च' (७००) द्वारा उपदेश किया गया है और तदन्त धातु 'भावि' आदि स्पष्ट हैं ही।

२. यदि कहें कि 'भावि+तास्+त' इस स्थिति में चिण्वदिट् (६.४.६२) और वलादिलक्षण इट् (७.२.३५) के युगपत् प्राप्त होने पर परत्व के कारण वलादि-लक्षण इट् ही क्यों नहीं करते—तो यह ठीक नहीं। क्योंकि वलादिलक्षण इट् अनित्य और चिण्वदिट् नित्य है। जो कार्य विरोधी के होने या न होने दोनों प्रकार की

इट् के अभावपक्ष मे 'भावि+तास्+त' इस स्थिति मे 'आर्धधातुकस्येड् वलादे'(४०१) द्वारा वलादिलक्षण इट् हो जाता है। यह इट् आभीय न होने से 'गेरनिटि' (५२६) की दृष्टि मे असिद्ध नहीं होता, उसे सामने इडादि आर्धधातुक दीखता है, अनिडादि नहीं, इसलिये णि का लोप नही होता। अब 'सावधातुकाऽऽर्धधातुकयो' (३८८) से आर्धधातुकगुण होकर अयादेश करने पर 'भावयिता' प्रयोग सिद्ध होता है। इस प्रकार लुँट् मे 'भाविता-भावयिता' दो रूप बनते हैं। तस् आदियो मे भी इसी तरह प्रक्रिया समझनी चाहिये।

लृँट्—मे भी लुँट् की तरह प्रक्रिया होती है। (चिण्वदिट्पक्षे) भाविष्यते, भाविष्येते, भाविष्यन्ते आदि। (तदभावे) भावयिष्यते, भावयिष्येते, भावयिष्यन्ते। लोँट्—भाव्यताम्, भाव्येताम्, भाव्यन्ताम्। लङ्—अभाव्यत, अभाव्येताम्, अभाव्यन्त। वि० लिँङ्—भाव्येत, भाव्येयाताम्, भाव्येरन्। आ० लिँङ्—(चिण्वदिट्पक्षे) भाविषीष्ट, भाविषीयास्ताम्, भाविषीरन्,। (तदभावे) भावयिषीष्ट, भावयिषीयास्ताम्, भावयिषीरन्। लुँङ्—अभावि, (चिण्वदिट्पक्षे) अभाविषाताम्, अभाविषत। (तदभावे) अभावयिषाताम्, अभावयिषत। लृँङ्—(चिण्वदिट्पक्षे) अभाविष्यत। (तदभावे) अभावयिष्यत।

भू धातु से इच्छा अर्थ मे 'धातो कर्मण०' (७०५) से सन् प्रत्यय होकर 'सन्यङो' (७०६) से द्वित्वादि करने पर 'बुभूष' (होने की इच्छा) यह सन्नन्त रूप निष्पन्न होता है। 'सनाद्यन्ता०'(४६८) से इसकी धातुसञ्ज्ञा है। यह अकर्मक धातु है अत इस से 'न कर्मणि०'(३७३) के अनुसार कर्त्ता या भाव मे लकार हो सकते हैं। कर्तृप्रयोग सन्नन्तप्रक्रिया मे दिखाये जा चुके हैं, अब भाव मे प्रक्रिया दिखाते हैं—

[लघु०]बुभूष्यते। बुभूषाञ्चक्रे। बुभूषिता। बुभूषिष्यते॥

व्याख्या—'बुभूष' इस सन्नन्त धातु से भाव मे लँट् करने पर प्र० पु० के एकवचन मे 'त' आदेश, यक् तथा 'अतो लोप' (४७०) से सन् के अकार का लोप कर टि को एत्व (५०८) करने से 'बुभूष्यते' प्रयोग बनता है। तेन बुभूष्यते (उस से होने की इच्छा की जाती है)। भाव म लकार होने से आगे रूप नहीं बनते।

लिट्—मे धातु के अनेकाच् होने से आम् हो कर 'अतो लोप (४७०) से

---

अवस्थाओ मे प्राप्त हो उसे नित्य कहते हैं—कृताऽकृतप्रसङ्गी यो विधि स नित्य'। यहा पर वलादिलक्षण इट् चाहे प्रवृत्त भी हो जाये तो भी चिण्वदिट् की प्राप्ति बनी रहती है परन्तु यदि चिण्वदिट् कर दें तो वलादि न रहने से वलादिलक्षण इट् की प्राप्ति नहीं हो सकती। अत चिण्वदिट् नित्य तथा वलादिलक्षण इट् अनित्य है—ऐसा निश्चय होता है। नित्य और अनित्य कार्यों का विरोध होने पर सदा नित्य कार्य ही हुआ करता है। इस प्रकार प्रथम चिण्वदिट् हो जायेगा और उपर्युक्तप्रकार से कोई दोष नहीं आयेगा। पीछे चिण्वद्भाव के प्रयोजनो को बतलाने वाली महाभाष्य की कारिका के उत्तरार्ध का भी यही आशय था—इट् सादिसिद्धस्तेन मे लुप्यते णिनित्यश्चाम वलिनिमित्तो विधातो (वलिनिमित्त इट विधातो=प्रवृत्त्ययोग्य इत्यर्थ)।

अत् का लोप, 'आमः' (४७१) से लिँट् का लुक् तथा 'कृञ्चानु०'(४७२)से लिँट्परक कृ-भू-अस् का अनुप्रयोग होकर आत्मनेपद लाने से 'बुभूषाञ्चक्रे-बुभूषाम्बभूवे-बुभूषामासे' ये तीन प्रयोग सिद्ध होते है।

लुँट्—में 'बुभूष+तास्+त' इस स्थिति मे धातु के उपदेश में अजन्त होने के कारण 'स्यसिँच्सीयुट्०' (७५३) से वैकल्पिक चिण्वदिट् होकर 'अतो लोपः' (४७०) से अकार का लोप तथा लुँट् की सामान्य प्रक्रिया करने पर 'बुभूषिता' प्रयोग सिद्ध होता है। चिण्वदिट् के अभाव मे भी वलादिलक्षण इट् करने पर यही रूप सिद्ध होता है कोई अन्तर नही आता।

लृँट्—मे भी पूर्ववत् अल्लोप हो जाता है—बुभूषिष्यते।

लोँट्—बुभूष्यताम्। लँङ्—अबुभूष्यत। वि० लिँङ्—बुभूष्येत। आ० लिँङ्—बुभूषिषीष्ट। लुँङ्—अबुभूषि (चिण्भावकर्मणोः ७५४, अतो लोपः ४७०, चिणो लुक् ६४१)। लृँङ्—अबुभूषिष्यत।

भू धातु से क्रियासमभिहार मे 'धातोरेकाचो हलादेः०' (७११) से यङ्, 'सन्यङोः' (७०६) से द्वित्व तथा 'गुणो यङ्लुकोः' (७१२) से अभ्यास को गुण करने पर 'बोभूय' (बार बार होना या अतिशय होना) यह यङन्त रूप निष्पन्न होता है। 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) से इस की धातुसञ्ज्ञा होती है। 'बोभूय' यह अकर्मक धातु है। अकर्मकों स कर्त्ता और भाव मे लकार होते हैं। कर्तरिप्रयोग यङन्तप्रक्रिया मे दिखाये जा चुके हैं। अब यहा भाववाच्य की प्रक्रिया दिखाते हैं—

[लघु०] बोभूय्यते ॥

व्याख्या—'बोभूय' इस यङन्त धातु से भाव में लँट् करने पर प्र० पु० के एकवचन में 'त' आदेश, यक् तथा 'अतो लोपः' (४७०) से यङ् के अकार का लोप कर टि को एत्व करने से 'बोभूय्यते' रूप सिद्ध होता है। तेन बोभूय्यते (उस से बार बार या अतिशय हुआ जाता है)।

लिँट्—मे धातु के अनेकाच् होने से आम् हो कर 'अतो लोपः' (४७०) से अकार का लोप हो जाता है—बोभूयाञ्चक्रे, बोभूयाम्बभूवे, बोभूयामासे।

लुँट्—में धातु के उपदेश मे अजन्त होने से 'स्यसिँच्०'(७५३) द्वारा वैकल्पिक चिण्वदिट् हो कर अकार का लोप (४७०) हो जाता है—बोभूयिता। तदभावपक्ष में भी वलादिलक्षण इट् हो कर अल्लोप करने से यही रूप बनता है।

लृँट्—बोभूयिष्यते। लोँट्—बोभूय्यताम्। लँङ्—अबोभूय्यत। वि० लिँङ्—बोभूय्येत। आ० लिँङ्—बोभूयिषीष्ट। लुँङ्—अबोभूयि (च्लि को चिण्, अल्लोप तथा चिणो लुक् ६४१)। लृँङ्—अबोभूयिष्यत।

भू धातु से क्रियासमभिहार में यङ् करने पर 'यङोऽचि च' (७१८) से उस यङ् का अनैमित्तिक लुक् कर प्रत्ययलक्षण से उसे यङन्त मान कर 'सन्यङोः' (७०६) से द्वित्व तथा अभ्यासगुण आदि कार्य करने पर 'बोभू' (बार बार होना या अतिशय

होना) यह यङ्लुगन्त धातु निष्पन्न होती है। यह धातु अकर्मक है अत इस से कर्त्ता और भाव मे लकार होते हैं। कर्त्तरि प्रयोग पीछे यङ्लुगन्तप्रक्रिया मे दिखा चुके हैं अब भाववाच्य की प्रक्रिया दिखाते हैं—

[लघु०] बोभूयते ॥

व्याख्या—'बोभू' इस यङ्लुगन्त धातु से भाव में लॅट् कर प्र० पु० के एकवचन में त आदेश तथा यक् विकरण करने से—'बोभूयते' प्रयोग सिद्ध होता है। तेन बोभूयते (उस से बार बार या अतिशय हुआ जाता है)। ध्यान रहे कि यङ्लुगन्त मे यद्यपि परस्मैपद होता है तथापि वह केवल कर्तृवाच्य के लिये ही है। यहा भाववाच्य मे 'भावकर्मणो' (७५१) से आत्मनेपद ही होता है।

लिट्—बोभवाञ्चक्रे—बोभवाम्बभूवे—बोभवामासे।

लुट्—मे 'स्यसिच्०' (७५३) से पक्षिक चिण्वदिट् होकर वृद्धि और आवादेश हो जाते है—बोभाविता। पक्ष में वलादिलक्षण इट् होकर गुण अवादेश हो जाता है—बोभविता। इसी प्रकार—लृट्—बोभाविष्यते बोभविष्यते। लोट्—बोभूयताम्। लङ्—अबोभूयत। वि० लिङ्—बोभूयेत। आ० लिङ्—बोभाविषीष्ट-बोभविषीष्ट। लुङ्—अबोभावि (चिण्, वृद्धि, आवादेश तथा 'त' का लुक्)। लृङ्—अबोभाविष्यत-अबोभविष्यत।

नोट—यङन्त या यङ्लुगन्त धातु अपनी मूल धातु की तरह सकर्मक या अकर्मक होती हैं। यथा—भू धातु अकर्मक है तो बोभूय (यङन्त) और बोभू (यङ्लुगन्त) भी अकर्मक है, कृ धातु सकर्मक है तो चेक्रीय (यङन्त) और चर्कृ (यङ्लुगन्त) भी सकर्मक है। सकर्मक धातुओ से कर्मवाच्य मे लकार होगा। यथा—मया घटश्चेक्रीय्यन्ते, त्वया पटश्चर्क्रियन्ते।

ष्टुञ् स्तुतौ (स्तुति करना) धातु पाणिनीय धातुपाठ के अदादिगण मे उभयपदी पढी गई है। यह धातु सकर्मक है अत इस से कर्त्ता और कर्म मे लकार होते हैं। कर्तृवाच्य मे इस के 'स्तौति, स्तुत, स्तुवन्ति' आदि रूप बनते हैं। अब यहां इस के कर्मवाच्य मे रूप दिखाये जाते हैं—

[लघु०] अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घं (४८३)—स्तूयते विष्णु। स्ताविता, स्तोता। स्ताविष्यते, स्तोष्यते। अस्तावि। अस्ताविषाताम्, अस्तोषाताम्॥

व्याख्या—स्तु (ष्टुञ्) धातु से कर्मणि लॅट् होकर प्र० पु० के एकवचन की विवक्षा मे लकार को 'त' आदेश तथा 'सार्वधातुके यक्' (७५२) से यक करने पर 'स्तु+य+त' इस स्थिति मे 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घं' (४८३) से दीर्घ हो जाता है—स्तू+य+त। अब 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (५०८) से टि को एत्व करने से 'स्तूयते' प्रयोग सिद्ध है। भक्तेन स्तूयते विष्णु (भक्त से विष्णु की स्तुति की जाती

है) । रूपमाला यथा—स्तूयते, स्तूयेते, स्तूयन्ते । स्तूयसे, स्तूयेथे, स्तूयध्वे । स्तूये, स्तूयावहे, स्तूयामहे ।

लिंट्—में धातु के अनेकाच् न होने से आम् नहीं होता । द्वित्व होकर 'शर्पूर्वाः खयः' (६४८) से शर्पूर्व खय्—तकार के शेष रहने पर 'अचि श्नु०'(१९९) से उकार को उवँङ् आदेश हो जाता है—तुष्टुवे, तुष्टुवाते, तुष्टुविरे । तुष्टुषे, तुष्टुवाथे, तुष्टुढ्वे । तुष्टुवे, तुष्टुवहे, तुष्टुमहे । ध्यान रहे कि स्तु धातु 'ऊदृदन्तैः०' के अनुसार अनुदात्त होने से अनिट् है । क्रादियों में स्तु का साक्षात् उल्लेख है अतः लिंट् में भी क्रादिनियम द्वारा इट् नहीं होता ।

लुंट्—में 'स्यसिच्सीयुट्०' (७५३) से पाक्षिक चिण्वदिट् होकर 'अचो ञ्णिति' (१८२) से वृद्धि हो जाती है—स्ताविता, स्तावितारौ, स्तावितारः । स्तावितासे आदि । तदभाव में—धातु के अनुदात्त होने से वलादिलक्षण इट् का 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (४७५) से निषेध होकर आर्धधातुकगुण हो जाता है—स्तोता, स्तोतारौ, स्तोतारः । स्तोतासे— । इसी प्रकार लृंट्—स्ताविष्यते, स्तोष्यते ।

लोंट्—स्तूयताम्, स्तूयेताम्, स्तूयन्ताम्, । स्तूयस्व— । लँङ्—अस्तूयत, अस्तूयेताम्, अस्तूयन्त । वि० लिंङ्—स्तूयेत, स्तूयेयाताम्, स्तूयेरन् । आ० लिंङ्—स्ताविषीष्ट, स्तोषीष्ट आदि । लुंङ्—अस्तावि (च्लि को चिण्, वृद्धि, आवादेश तथा 'त' का लुक्), अस्ताविषाताम्-अस्तोषाताम्, अस्ताविषत-अस्तोषत । लृँङ्—अस्ताविष्यत, अस्तोष्यत ।

ठीक इसी प्रकार श्रु श्रवणे (सुनना. स्वा० परस्मै० अनिट्) धातु के कर्मवाच्य में रूप बनते हैं । लँट्—श्रूयते, श्रूयेते, श्रूयन्ते । लिंट्—शुश्रुवे, शुश्रुवाते, शुश्रुविरे । शुश्रुषे (पूर्ववद् इण्निषेध)—। लुंट्—श्राविता-श्रोता । लृंट्—श्राविष्यते-श्रोष्यते । लोंट्—श्रूयताम्, श्रूयेताम्, श्रूयन्ताम् । लँङ्—अश्रूयत, अश्रूयेताम्, अश्रूयन्त । वि० लिंङ्—श्रूयेत । आ० लिंङ्—श्राविषीष्ट-श्रोषीष्ट । लुँङ्—अश्रावि, अश्राविषाताम्-अश्रोषाताम्, अश्राविषत-अश्रोषत । लृँङ्—अश्राविष्यत-अश्रोष्यत ।

ऋ गतौ (जाना) धातु पाणिनीय धातुपाठ के जुहोत्यादिगण में परस्मैपदी पढ़ी गई है । यह सकर्मक है अतः इस से कर्ता व कर्म में लकार आते हैं । कर्तृवाच्य में 'इर्यात, इयृतः, इयृति' आदि रूपमाला सिद्धान्तकौमुदी में देखें । यहां कर्मवाच्य में प्रक्रिया दिखाते हैं—

[लघु०] ऋ गतौ । गुणोऽर्ति० (४९८) इति गुणः—अर्यते । स्मृ स्मरणे[1] । स्मर्यते । सस्मरे । उपदेशग्रहणाच्चिण्वदिट्—आरिता, अर्ता । स्मारिता, स्मर्ता ॥

व्याख्या—ऋ धातु से कर्मवाच्य में लँट् आने पर प्र० पु० के एकवचन में त और यक् होकर 'ऋ+य+त' हुआ । यक् के कित्त्व के कारण गुण का निषेध होकर

---

१. यहां पर 'स्मृ चिन्तायाम्' पाठ उचित था ।

'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' (५४३) से ऋ को रिङ् आदेश प्राप्त था। इस पर 'गुणोऽर्ति-संयोगाद्यो' (४६८) से ऋ को गुण अर् होकर टि को एत्व करने से 'अर्यते' प्रयोग सिद्ध होता है। अर्यते मया गृहम् (मुझ से घर जाया जाता है) रूपमाला यथा—अर्यते, अर्येते, अर्यन्ते।

लिट्—प्र० पु० के एकवचन मे 'त' को एश् आदेश होकर द्वित्व करने पर 'ऋ+ऋ+ए' इस स्थिति मे अभ्यास के ऋवर्ण को 'उरत्' (४७३) से अत्, रपर, हलादिशेष तथा 'अत आदे' (४४३) से अभ्यास के अत् को दीर्घ करने से 'आ+ऋ+ए' हुआ। अब 'असंयोगाल्लिट् कित्' (४५२) से एश् के कित्त्व के कारण आर्धधातुक-गुण का निषेध होकर 'इको यणचि' (१५) से यण् आदेश करने से 'आरे' प्रयोग सिद्ध होता है। आरे, आराते, आरिरे। आरिषे (आदिनियम से इट्), आराथे, आरिढ्वे-आरिध्वे (विभाषेट ५२७)। आरे, आरिवहे, आरिमहे।

लुट्—'ऋ+तास्+त' यहा 'स्यसिच्सीयुट्०' (७५३) से पार्षिक चिण्वदिट् तथा 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' (३८८) से गुण युगपत् प्राप्त होते हैं। दोनों अपने अपने स्थानों पर सावकाश हैं। चिण्वदिट् को 'दायिता' आदि मे तथा गुण को 'कर्तव्यम्, करणीयम्' आदि में अवकाश प्राप्त है। 'विप्रतिषेधे पर कार्यम्' (११३) से परकार्य गुण हो जाता है—अर्+ताम्+त। अब यहा धातु के अजन्त न रहने से चिण्वद्-इट् प्राप्त नहीं हो सकता परन्तु वहा 'उपदेश में अजन्त' कहने से यहा चिण्वदिट् करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, क्योंकि चाहे अब यह धातु हलन्त हो गई है लेकिन उपदेश (आद्योच्चारण) मे तो यह अजन्त थी। इस प्रकार चिण्वदिट् होकर उपधावृद्धि और डा आदि साधारण कार्य करने पर 'आरिता' प्रयोग सिद्ध होता है। चिण्वदिट् के अभाव मे धातु के अनिट् होने से इण्निषेध हो जाता है—अर्ता।

लृट्—मे भी लुट् की तरह प्रक्रिया समझनी चाहिये। चिण्वदिट्पक्ष में—आरिष्यते। तदभाव मे 'ऋद्धनो स्ये' (४६७) से इट् का आगम हो जाता है—अरिष्यते।

लोट्—अर्यताम्। लेट्—आर्यत। वि० लिङ्—अर्येत। आ० लिङ्—आरिषीष्ट-ऋषीष्ट (चिण्वदिट् के अभाव मे 'उश्च' ५४४)। लुङ्—आरि (च्लि को चिण्, गुण, उपधावृद्धि, 'त' का लुक्, आट् का आगम तथा 'आटश्च' से वृद्धि), आरिषाताम्-आर्षाताम्, आरिषत-आर्षत। लृङ्—आरिष्यत-आरिष्यत (दोनों की सिद्धि मे अन्तर है)।

इसी प्रकार स्मृ चिन्तायाम् (स्मरण करना अदा० परस्मै० अनिट्) धातु की कर्मवाच्य में प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—लट्—स्मर्यते, स्मर्येते, स्मर्यन्ते। लिट्—सस्मरे (ऋतश्च संयोगादेर्गुण ४६६) सस्मराते, सस्मरिरे। सस्मरिषे—। लुट्—स्मारिता स्मर्ता। लृट्—स्मारिष्यते स्मरिष्यते। लोट्—स्मर्यताम्। लेट्—अस्मर्यत। वि० लिङ्—स्मर्येत। आ० लिङ्—स्मारिषीष्ट स्मृषीष्ट। लुङ्—अस्मारि,

अस्मारिषाताम्-अस्मृषाताम्, अस्मारिषत-अस्मृषत। लृँङ्—अस्मारिष्यत-अस्मरिष्यत।

स्रंसुं अवस्रंसने (नीचे गिरना) धातु पीछे भ्वादिगण के आत्मनेपद में व्याख्यात है। यह धातु अकर्मक है अतः इस से कर्त्ता और भाव में लकार होते हैं। कर्तृवाच्य का विवेचन पीछे पृष्ठ (२४६) पर कर चुके हैं वहीं देखें। अब भाववाच्य का प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] अनिदिताम्० (३३४) इति नलोपः—स्रस्यते। इदितस्तु नन्द्यते। सम्प्रसारणम्—इज्यते॥

व्याख्या—स्रंस् धातु नोपध है यह पीछे पृष्ठ (२५०) पर स्पष्ट कर चुके हैं। इस से भाव में लँट् करने पर प्र० पु० के एकवचन में 'त' आदेश होकर यक् हो जाता है—स्रंस्+य+त। अब यक् के कित् होने के कारण 'अनिदितां हल उपधायाः०' (३३४) द्वारा उपधा के नकार का लोप होकर 'स्रस्यते' प्रयोग सिद्ध होता है।

लिँट्—धातु के संयोगान्त होने से 'असंयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) द्वारा लिँट् कित् नहीं होता। अतः उपधा के नकार का लोप नहीं होता—सस्रंसे।

लुँट्—इस धातु का परिगणन 'स्यसिच्सीयुट्०' (७५३) सूत्र में नहीं किया गया अतः चिण्वदिट् का प्रसंग नहीं, धातु सेट् है इसलिये वलादिलक्षण इट् होकर—स्रंसिता।

लृँट्—स्रंसिष्यते। लोँट्—स्रस्यताम्। लँङ्—अस्रस्यत। वि० लिँङ्—स्रस्येत। आ० लिँङ्—स्रंसिषीष्ट। लुँङ्—अस्रंसिष्ट। लृँङ्—अस्रंसिष्यत।

अनिदितां हलः० (३३४) सूत्र द्वारा कित् ङित् परे होने पर अनिदित् धातु की उपधा के नकार का लोप हो जाता है। यदि धातु इदित् होगी तो लोप न होगा। यथा—टुनदिँ समृद्धौ (समृद्ध होना. भ्वा० परस्मै० सेट्) यह धातु इदित् है। 'इदितो नुम् धातोः' (४६३) से इसे नुम् का आगम होकर अनुस्वार और परसवर्ण करने से 'नन्द्' बन जाता है। अब इस से भाव में लँट् करने पर प्र० पु० के एकवचन में 'त' आदेश और यक् विकरण लाने पर 'नन्द्+य+त' हुआ। यहां पर यक् कित् के परे होने पर भी धातु के अनिदित् न होने के कारण 'अनिदितां हलः०' (३३४) से उपधा के नकार का लोप नहीं होता—नन्द्यते। लिँट्—ननन्दे। लुँट्—नन्दिता। लृँट्—नन्दिष्यते। लोँट्—नन्द्यताम्। लँङ्—अनन्द्यत। वि० लिँङ्—नन्द्येत। आ० लिँङ्—नन्दिषीष्ट। लुँङ्—अनन्दि। लृँङ्—अनन्दिष्यत।

यज् (देवताओं को पूजना आदि) धातु 'यजन्ते सात्त्विका देवान्, यस्तिलैर्यजते पितॄन्, तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्' इत्यादि प्रयोगों के अनुसार सकर्मक है। अतः इस से कर्मवाच्य में लँट्, प्र० पु० के एकवचन में 'त' आदेश और यक् विकरण करने पर 'यज्+य+त' हुआ। यक् के कित्त्व के कारण 'वचिस्वपियजादीनां किति' (५४७) से यकार को सम्प्रसारण इकार होकर 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप करने पर – इज्यते, इज्येते, इज्यन्ते।

लिंट्—मे 'असयोगाल्लिंट् कित्' (४५२) से लिडादेश कित् है अत 'सम्प्रसारण तदाश्रयञ्च कार्यं बलवत्' इस परिभाषा के अनुसार द्वित्व से भी पहले सम्प्रसारण और पूर्वरूप हो जाता है—इज्+ए। अब द्वित्व, हलादिशेष तथा सवर्णदीर्घ करने पर—ईजे, ईजाते, ईजिरे।

लुंट्—मे चिण्वदिट् का प्रसङ्ग नहीं। धातु के अनुदात्त होने से वलादिलक्षण इट् का भी निषेध हो जाता है। 'ग्रहिज्यावयि०' (३०७) से षत्व तथा 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से ष्टुत्व करने पर—यष्टा, यष्टारौ, यष्टार। यष्टासे—।

लृट्—मे षत्व कर 'यढो ध सि' (५४८) से धत्व और प्रत्यय के सकार को षत्व करने पर—यक्ष्यते, यक्ष्येते, यक्ष्यन्ते।

लोंट्—इज्यताम्। लंड्—ऐज्यत[1]। वि० लिंड्—इज्येत। आ० लिंड्—यक्षीष्ट। लुंड्—अयाजि, अयक्षाताम्[2], अयक्षत। लृंड्—अयक्ष्यत।

तनादिगण की प्रथम धातु 'तनु विस्तारे' (विस्तार करना) सकर्मक है। अत इस से कर्मणि लट्, त आदेश और यक् विकरण करने पर तन्+य+त। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७५५) तनोतेर्यकि ।६।४।४४॥

आकारान्तादेशो वा स्यात्। तायते, तन्यते॥

अर्थ—यक् परे होने पर तन् धातु के नकार को विकल्प से आकार आदेश हो।

व्याख्या—तनोते ।६।१। यकि ।७।१। आत् ।१।१। ('विड्वनोरनुनासिकस्यात्' से)।विभाषा ।१।१। ('ये विभाषा' से)। अर्थ—(यकि) यक् परे होने पर (तनोते) तन् धातु के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से (आत्) आकार आदेश हो। अनोऽन्त्य-परिभाषा से तन् के नकार को ही आकार आदेश होता है।

'तन्+य+त' यहां यक् परे है अत प्रकृतसूत्र से तन् के नकार को विकल्प से आकार आदेश होकर सवर्णदीर्घ तथा टि को एत्व करने से 'तायते' प्रयोग सिद्ध होता है। आत्व के अभाव में—तन्यते। रूपमाला यथा—(आत्वपक्षे) तायते[3], तायेते, तायन्ते। (आत्वाभावे) तन्यते, तन्येते, तन्यन्ते।

लिंट्—में 'अत एकहल्मध्ये०' (४६०) से ऐत्वाभ्यासलोप हो जाता है—तेने, तेनाते, तेनिरे। लुंट्—धातु के सेट् होने से वलादिलक्षण इट् हो जाता है—

---

१ आ+इज्यत=ऐज्यत (आटश्च १६७)। सम्प्रसारण करने के बाद ही आट् का आगम करना चाहिये। एतद्विषयक टिप्पण पीछे सूत्र (४२३) पर लिख चुके हैं वहीं देखें।

२ कई इस प्रक्रिया का मर्म न जानते हुए 'अयाजिषाताम्, अयाजिषत' का प्रयोग करते हैं वह अशुद्ध है।

३ येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मन शिवसकल्पमस्तु—यजु० ३४।४, तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्य प्रतायते—माघ २।३०।

तनिता। लृँट्—तनिष्यते। लोँट्—तायताम्-तन्यताम्। लँङ्—अतायत-अतन्यत। वि० लिँङ्—तायेत-तन्येत। आ० लिँङ्—तनिषीष्ट। लुँङ्—अतानि, अतनिषाताम्, अतनिषत। लृँङ्—अतनिष्यत।[1]

तप सन्तापे (तपना-तपाना, भ्वा० परस्मैपद अनिट्) धातु अकर्मक और सकर्मक दोनों प्रकार से प्रयुक्त होती है, अतः इस से भाव और कर्म में लकार होते हैं। रूप-माला यथा—लँट्—तप्यते, तप्येते, तप्यन्ते। लिँट्—तेपे, तेपाते, तेपिरे। तेपिषे—। लुँट्—तप्ता। लृँट्—तप्स्यते। लोँट्—तप्यताम्। लँङ्—अतप्यत। वि० लिँङ्—तप्येत। आ० लिँङ्—तप्सीष्ट।

लुँङ्—'अतप्+च्लि+त' इस स्थिति में 'चिण् भावकर्मणोः' (७५४) द्वारा च्लि को चिण् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(७५६) तपोऽनुतापे च ।३।१।६५॥

तपश्च्लेश्चिण् न स्यात् कर्मकर्तरि अनुतापे च। अन्वतप्त पापेन। धुमास्था० (५८८) इतीत्त्वम्—दीयते। धीयते। ददे॥

अर्थः—कर्मकर्ता में अथवा पश्चात्ताप अर्थ में तप् धातु से परे च्लि को चिण् नहीं होता।

व्याख्या—तपः ।५।१। अनुतापे ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। च्लेः ।६।१। ('च्लेः सिँच्' से)। चिण् ।१।१। ('चिण्ते पदः' से)। न इत्यव्ययपदम् ('न रुधः' से)। कर्मकर्तरि। ७।१। ('अचः कर्मकर्तरि' से)। अर्थः—(तपः) तप् धातु से परे (च्लेः) च्लि के स्थान पर (चिण्) चिण् (न) नहीं होता (कर्मकर्तरि) कर्मकर्ता में (च) अथवा (अनुतापे) पश्चात्ताप में। कर्मकर्त्ता का उदाहरण काशिका अथवा सिद्धान्तकौमुदी की कर्मकर्तृ-प्रक्रिया में देखें। यहां भावकर्मप्रक्रिया में पश्चात्ताप का उदाहरण दिया जाता है—

अन्वतप्त पापेन [पापकर्म से (पापी) अनुतप्त-दुःखी किया गया। अथवा—पापी पुरुष से पछताया गया][2]। अनुपूर्वक तप् धातु पश्चात्ताप अर्थ को प्रकट करती है

१. जन् (जनीँ प्रादुर्भावे दिवा० आत्मने० सेट्) धातु का कर्तृवाच्य में 'आजनोर्जा' (६३६) से 'जा' आदेश होकर 'जायते' रूप बनता है, पर भाववाच्य में 'ये विभाषा' (६७५) से नकार को वैकल्पिक आत्व करने से 'जायते-जन्यते' ये दो रूप बनते हैं।

२. पहले अर्थ में पाप कर्त्ता और पापी पुरुष कर्म है। शुद्धकर्म में लकार हुआ है। यहां अनुतप् का अर्थ पश्चात्ताप=बाद में तपाना—दुःखी करना है। पापी पाप कर चुका है परन्तु अब उसे वह पाप कर्म याद आ कर दुःख दे रहा है। दूसरे अर्थ में पाप शब्द का अर्थ है—पापी। यहां भाव में प्रत्यय हुआ है। यहां भी पाप-शब्द कर्त्ता है। ध्यान रहे कि नपुंसकलिङ्ग में पापशब्द पापकर्म का वाचक है। परन्तु मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करने से यह 'पापी' का वाचक हो जाता है—पापमस्यास्तीति पापः। अब यह विशेष्यनिघ्न है—पापः पुरुषः, पापा कुलटा, पापं कुलम्।

अत अनुपूर्वक का उदाहरण दिया गया है। इस से कर्म या भाव मे 'अतप्+च्लि+त' इस स्थिति मे पश्चात्ताप अर्थ होने के कारण प्रकृतसूत्र से च्लि को चिण् का निषेध हो गया। अब 'च्ले सिंच्' (४३८) से च्लि को सिंच् होकर 'झलो झलि' (४७८) से उस का लोप हो जाता है—अतप्त=अनुतप्त। पश्चात्ताप अर्थ न होने पर चिण् हो जायेगा—उदतापि सुवर्णं सुवर्णकारेण (सुनार से सोना तपाया गया)।

लुँङ्—अतप्स्यत।

दा (डुदाञ् दाने, जुहो० उभय० अनिट्) धातु सकर्मक है अत इस से कर्म मे लकार उत्पन्न होते हैं। लँट् प्र० पु० के एकवचन मे यक् विकरण करने पर 'दा+य+त' इस स्थिति मे कित् परे होने के कारण 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (५८८) द्वारा घुसञ्ज्ञक दा के आकार को ईकार होकर टेरेत्व करने से 'दीयते' प्रयोग सिद्ध होता है। दीयते, दीयेते, दीयन्ते।

लिँट्—मे 'असयोगाल्लिँट् कित्' (४५२) से लिँडादेश कित् होते हैं अत. द्वित्व और अभ्यासकार्य करने के बाद 'आतो लोप इटि च' (४८६) से आकार का लोप हो जाता है—ददे, ददाते, ददिरे। ददिषे—। आदिनियम से इट् हो जाता है।

लुँट्—दा धातु अनिट् है अत इस से वलादिलक्षण इट का निषेध प्राप्त है, परन्तु उपदेश में अजन्त होने से 'स्यसिँच्सीयुट्' (७५३) द्वारा इसे पाक्षिक चिण्वदिट् होकर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७५७) आतो युक् चिण्कृतो ।७।३।३३॥

आदन्ताना युगागम स्याच्चिणि ञ्णिति कृति च। दायिता दाता। दायिषीष्ट-दासीष्ट। अदायि। अदायिषाताम् [अदिषाताम्]। भज्यते॥

अर्थ—चिण् प्रत्यय या ञित्-णित् कृत् प्रत्यय परे होने पर आदन्त धातुओं का अवयव युक् हो जाता है।

व्याख्या—आत ।६।१। युक् ।१।१। चिण्कृतो ।७।२। ञ्णिति ।७।१। ('अचो ञ्णिति' से)। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। 'आत' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अत विशेषण से तदन्तविधि होकर 'आदन्तस्य अङ्गस्य' बन जाता है। 'ञ्णिति' को 'चिण्कृतो' के कृत् अश के साथ सम्बद्ध करना चाहिये। अर्थ—(आत=आदन्तस्य) आदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (युक्) युक् हो जाता है (चिणि) चिण् परे हो या (ञ्णिति कृति) ञित् णित् कृत् परे हो। युक् का आगम 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) के अनुसार आदन्त अङ्ग का अन्तावयव हो जाता है। युक् में उकार उच्चारणार्थक तथा ककार उपर्युक्तप्रकारेण स्थान के अवधारण के लिये इत् है। ञित णित् कृत् के उदाहरण आगे कृदन्तप्रकरण मे आयेंगे। यहाँ चिण् का उदाहरण प्रस्तुत है—

दा धातु से लुँट् प्र० पु० के एकवचन मे स्यसिँच्सीयुट्० (७५७) से पाक्षिक चिण्वदिट् होकर 'दा+इतास्+त' इस स्थिति मे सास के चिण्वद्भाव के कारण चिण् परे विद्यमान रहता है, इधर 'दा' यह आदन्त अङ्ग भी है अत प्रकृतसूत्र से दा के

अन्त में युक् (य्) का आगम कर लुंट् के सामान्यकार्य डा आदेश और टि का लोप करने से 'दायिता' प्रयोग सिद्ध होता है। चिण्वदिट् के अभाव में—दाता। इसीप्रकार लृट् में—दायिष्यते-दास्यते।

लोट्—दीयताम्। लँङ्—अदीयत। वि० लिङ्—दीयेत। आ० लिँङ्—दायिषीष्ट-दासीष्ट। लुंङ्—अदायि, अदायिषाताम्-अदिषाताम् ('स्याच्वोरिच्च' ६२४ से दा को इदन्त आदेश तथा सिच् को कित्त्व हो जाता है), अदायिषत-अदिषत।

लृँङ्—अदायिष्यत-अदास्यत।

इसी प्रकार धा (डुधाञ् धारणपोषणयोः, जुहो० उभय० अनिट्) धातु के कर्मवाच्य में रूप बनते है। लँट्—धीयते (घुमास्था० ५८८)। लिँट्—दधे। लुंट्—धायिता-धाता। लृँट्—धायिष्यते-धास्यते। लोँट्—धीयताम्। लँङ्—अधीयत। वि० लिँङ्—धीयेत। आ० लिँङ्—धायिषीष्ट-धासीष्ट। लुंङ्—अधायि, अधायिषाताम्-अधिषाताम्, अधायिषत-अधिषत। लृँङ्—अधायिष्यत-अधास्यत।

भञ्ज् (तोड़ना. रुधा० परस्मै० अनिट्) धातु सकर्मक् है अतः इस से कर्म में लकार आ जायेंगे। लँट् प्र० पु० के एकवचन में त आदेश और यक् विकरण करने पर 'भञ्ज्+य+त' इस स्थिति में कित् परे होने के कारण 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (३३४) से उपधा के नकार का लोप होकर टि को एत्व करने से 'भज्यते' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि भञ्ज् धातु 'नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु' के अनुसार नोपध है।

लिँट्—धातु के संयोगान्त होने से लिँट् कित् नही होता अतः उपधा के नकार का लोप नहीं होता—बभञ्जे, बभञ्जाते, बभञ्जिरे।

लुंट्—भञ्ज् धातु चिण्वदिट् का विषय नहीं। अनिट् होने से वलादिलक्षण इट् भी नहीं होता। कर्तृवाच्य की तरह 'चोः कुः' (३०६) द्वारा कुत्वादिप्रक्रिया हो जाती है—भङ्क्ता। लृँट्—भङ्क्ष्यते। लोँट्—भज्यताम्। लँङ्—अभज्यत। वि० लिँङ्—भज्येत। आ० लिँङ्—भङ्क्षीष्ट।

लुंङ्—प्र० पु० के एकवचन में च्लि को चिण् होकर 'अभञ्ज्+इ+त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७५८) भञ्जेश्च चिणि ।६।४।३३॥

नलोपो वा स्यात्। अभाजि, अभञ्जि। लभ्यते॥

अर्थः—चिण् परे हो तो भञ्ज् धातु के नकार का विकल्प से लोप हो।

व्याख्या—भञ्जेः ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। चिणि ।७।१। विभाषा ।१।१। ('जान्तनशां विभाषा' से)। नलोपः ।१।१। ('इनान्नलोपः' से)। अर्थः—(चिणि) चिण् परे होने पर (भञ्जेः) भञ्ज् धातु के (नलोपः) नकार का लोप (विभाषा) विकल्प से हो जाता है।

'अभञ्ज्+इ+त' यहां चिण् (इ) परे है अतः प्रकृतसूत्र से भञ्ज् के नकार

का विकल्प से लोप हो जाता है। लोपपक्ष मे 'अत उपधाया' (४५५) से उपधावृद्धि होकर 'चिणो लुक्' (६४१) से 'त' का लुक् हो जाता है—अभाजि। लोप के अभाव में केवल 'त' का लुक् होकर—अभाज्जि। रूपमाला यथा—अभाजि-अभाज्जि, अभङ्क्षाताम्, अभङ्क्षत।

लुँङ्—अभङ्क्ष्यत, अभङ्क्ष्येताम्, अभङ्क्ष्यन्त।

लभ्=पाना (डुलभँष् प्राप्तौ) धातु पाणिनीय धातुपाठ के भ्वादिगण के आत्मनेपद मे पढी गई है। यह धातु अनिट् है परन्तु लिँट् में क्रादिनियम से नित्य इट् हो जाता है। सकर्मक होने के कारण इस धातु से कर्ता और कर्म में लकार उत्पन्न होते हैं[1]। कर्मवाच्य के लँट् प्र० पु० के एकवचन में त आदेश, यक् विकरण और टि को एत्व करने से 'लभ्यते' प्रयोग सिद्ध होता है। लभ्यते, लभ्येते, लभ्यन्ते।

लिँट्—में 'अत एकहल्०' (४६०) से एत्वाभ्यासलोप हो जाता है—लेभे, लेभाते, लेभिरे। लेभिषे—।

लुँट्—में चिण्वदिट् तथा वलादिलक्षण इट् में से कोई प्राप्त नहीं। लभ्+तास्+त' इस स्थिति मे 'झषस्तथो०' (५४६) से तास् के तकार को धकार होकर 'झलां जश्झशि' (१६) से जश्त्व हो जाता है—लब्+धास्+त। अब लुँट् की सामान्य प्रक्रियानुसार ङा आदेश तथा टि का लोप करने से 'लब्धा' प्रयोग सिद्ध होता है—लब्धा, लब्धारौ, लब्धार:। लब्धासे—।

लृँट्—मे 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो जाता है—लप्स्यते, लप्स्येते, लप्स्यन्ते।

लोँट्—लभ्यताम्। लँङ्—अलभ्यत। वि० लिँङ्—लभ्येत। आ० लिँङ्—लप्सीष्ट।

लुँङ्—प्र० पु० के एकवचन मे त आदेश तथा च्लि को चिण् आदेश होकर 'अलभ्+इ+त' इस स्थिति मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७५६) विभाषा चिण्णमुलो ।७।१।६६॥

लभेर्नुमागमो वा स्यात्। अलम्भि, अलाभि॥

अर्थ—चिण् या णमुल् परे होने पर लभ् धातु को विकल्प से नुम् का आगम हो।

व्याख्या—विभाषा ।१।१। चिण्णमुलो ।७।२। लभे ।६।१। ('लभेश्च' से)।

---

१ कर्तृवाच्य में लभ् धातु की रूपमाला यथा—

लँट्—लभते, लभेते, लभन्ते। लिँट्—लेभे, लेभाते, लेभिरे। लुँट्—लब्धा। लृँट्—लप्स्यते। लोँट्—लभताम्। लँङ्—अलभत। वि० लिँङ्—लभेत। आ० लिँङ्—लप्सीष्ट। लुँङ्—अलब्ध (झलो झलि ४७८, झषस्तथो० ५४६, झलां जश्० १६), अलप्साताम्, अलप्सत। अलब्धा, अलप्सायाम्, अलब्ध्वम्। अलभि, अलप्स्वहि, अलप्स्महि। सुँङ्—अलप्स्यत। उपसर्गयोग—उपलभते=पाता है। विप्रलभते=ठगता है। आलभते=छूता है या हिंसा करता है। उपालभते=निन्दा करता है (उच्चैरुपालभ्य स कंकणौ च—भट्टि० ३ ३०), उलाहना देता है।

नुम् ।१।१। ('इदितो नुम् धातोः' से)।अर्थः—(चिण्णमुलोः) चिण् या णमुल् परे होने पर (लभेः) लभ् धातु का अवयव (नुम्) नुम् (विभाषा) विकल्प से हो जाता है।

'अलभ्+इ+त' यहां चिण् परे है अतः प्रकृतसूत्र से लभ् को नुम् का वैकल्पिक आगम होकर नकार को अनुस्वार तथा अनुस्वार को परसवर्ण करने पर अलम्भ्+इ+त। अब 'चिणो लुक्' (६४१) से 'त' का लुक् करने से 'अलम्भि' प्रयोग सिद्ध होता है। नुम् के अभाव में उपधावृद्धि होकर 'त' का लोप हो जाता है—अलाभि। रूपमाला यथा—अलम्भि-अलाभि, अलप्साताम्, अलप्सत। अलब्धाः, अलप्साथाम्, अलब्ध्वम्। अलप्सि, अलप्स्वहि, अलप्स्महि।

लुँङ्—अलप्स्यत।

नोट—यहां व्यवस्थितविभाषा का आश्रय कर सोपसर्ग लभ् से नित्य नुम् होता है—उपालम्भि। यहां पर 'उपालाभि' नहीं बनता।

अब हम यहां कुछ प्रसिद्ध धातुओं के कर्म वा भाव-वाच्य के रूप दे रहे हैं। ये रूप लँट् और लुँङ् के प्र० पु० के एकवचन में ही दिये जा रहे हैं। शेष रूपों की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये—

(१) अर्च्—अर्च्यते=पूजा जाता है।*
(२) अस्—अस्यते=फेंका जाता है।
(३) अस्—भूयते=हुआ जाता है।
(४) आप्—आप्यते=पाया जाता है।
(५) आस्—आस्यते=बैठा जाता है।
(६) इङ्—अधीयते=पढ़ा जाता है।
(७) इष्—इष्यते=चाहा जाता है।
(८) उज्झ्—उज्झ्यते=छोड़ा जाता है
(९) कथ—कथ्यते=कहा जाता है।
(१०) कृ—क्रियते=किया जाता है।
(११) कृष्—कृष्यते=जोता जाता है।
(१२) क्री—क्रीयते=खरीदा जाता है।
विक्रीयते=बेचा जाता है।
(१३) क्षिप्—क्षिप्यते=फेंका जाता है।
(१४) खाद्—खाद्यते=खाया जाता है।
(१५) गण्—गण्यते=गिना जाता है।
(१६) गम्—गम्यते=जाया जाता है[1]।
(१७) गै—गीयते=गाया जाता है।
(१८) ग्रन्थ्—ग्रथ्यते=गूंथा जाता है।
(१९) ग्रह्—गृह्यते=ग्रहण किया जाता है
(२०) घ्रा—घ्रायते=सूंघा जाता है।
(२१) चर्—आचर्यते=आचरण किया जाता है।
(२२) चिन्त्—चिन्त्यते=सोचा जाता है
(२३) चुर्—चोर्यते=चुराया जाता है।
(२४) छिद्—छिद्यते=काटा जाता है।
(२५) जॄ—जीर्यते=जीर्ण हुआ जाता है।
(२६) ज्ञा—ज्ञायते=जाना जाता है।

*इन धातुओं के लुँङ् प्र० पु० के एकवचन में रूप यथा—

१. आर्चि। २. आसि। ३. अभावि। ४. आपि। ५. आसि। ६. अध्यगायि-अध्यायि। ७. ऐषि। ८. प्रौज्झि। ९. अकथि। १०. अकारि। ११. अकर्षि। १२. अक्रायि, व्यक्रायि। १३. अक्षेपि। १४. अखादि। १५. अगणि। १६. अगामि। १७. अगायि। १८. अग्रन्थि। १९. अग्राहि। २०. अघ्रायि। २१. आचारि। २२. अचिन्ति। २३. अचोरि। २४. अच्छेदि। २५. अजारि। २६. अज्ञायि।

१. लृँट् में 'गंस्यते' बनेगा, 'गमेरिट् परस्मैपदेषु' (५०६) वाला इट् नहीं होगा।

(२७) तड्—ताड्यते=पीटा जाता है।*
(२८) तन्—तायते-तन्यते=फैलाया जा०
(२९) तॄ—तीर्यते=पार किया जाता है।
(३०) त्यज्—त्यज्यते=छोड़ा जाता है।
(३१) त्रस्—त्रस्यते=डराया जाता है।
(३२) दह्—दह्यते=जलाया जाता है।
(३३) दा—दीयते=दिया जाता है।
(३४) दिश्—दिश्यते=दिया जाता है।
(३५) दुह्—दुह्यते=दोहा जाता है।
(३६) दृङ्—आदृयते=आदर किया जा०
(३७) दृश्—दृश्यते=देखा जाता है।
(३८) द्रुह्—द्रुह्यते=द्रोह किया जाता है
(३९) ध्मा—ध्मायते=फूंका जाता है।
(४०) ध्यै—ध्यायते=ध्यान किया जाता०
(४१) नम्—नम्यते=नमस्कार किया जा०
(४२) निन्द्—निन्द्यते=निन्दा की जाती०
(४३) नी—नीयते=ले जाया जाता है।
(४४) नृत्—नृत्यते=नाचा जाता है।
(४५) पच्—पच्यते=पकाया जाता है।
(४६) पठ्—पठ्यते=पढा जाता है।
(४७) पा—पीयते=पिया जाता है(५८८)
(४८) पा—पायते=रक्षा किया जाता है
(४९) पाल्—पाल्यते=पाला जाता है।
(५०) पुष्—पुष्यते=पुष्ट किया जाता है
(५१) पू—पूयते=पवित्र किया जाता है
(५२) पूज्—पूज्यते=पूजा जाता है।
(५३) पॄ—पूर्यते=पूर्ण किया जाता है।
(५४) प्रच्छ्—पृच्छ्यते=पूछा जाता है।
(५५) बन्ध्—बध्यते=बांधा जाता है।
(५६) ब्रू—उच्यते=कहा जाता है।
(५७) भक्ष्—भक्ष्यते=खाया जाता है।
(५८) भण्—भण्यते=कहा जाता है।
(५९) भाष्—भाष्यते=कहा जाता है।
(६०) भिद्—भिद्यते=तोड़ा जाता है।
(६१) भू—भूयते=हुआ जाता है।
(६२) भृ—भ्रियते=धारण किया जाता है
(६३) भ्रंश्—भ्रंश्यते=नीचे गिराया जा०
(६४) मथ्—मथ्यते=मथा जाता है।
(६५) मृज्—मृज्यते=शुद्ध किया जाता है
(६६) मा—मीयते=मापा जाता है।
अनुमीयते=अनुमान किया जाता०
(६७) यज्—इज्यते=पूजा जाता है।
(६८) याच्—याच्यते=मांगा जाता है।
(६९) युज्—युज्यते=मिलाया जाता है

*२७ अताडि। २८ अतानि। २९ अतारि। ३० अत्याजि। ३१ अत्रासि। ३२ अदाहि। ३३ अदायि। ३४ अदेशि। ३५ अदोहि। ३६ आदारि। ३७. अदर्शि। ३८ अद्रोहि। ३९ अध्मायि। ४० अध्यायि। ४१ अनामि। ४२ अनिन्दि। ४३ अनायि। ४४ अनर्ति। ४५ अपाचि। ४६ अपाठि। ४७ अपायि। ४८ अपायि। ४९ अपालि। ५० अपोषि। ५१. अपावि। ५२ अपूजि। ५३ अपारि। ५४ अप्रच्छि। ५५ अबन्धि। ५६. अवाचि[1]। ५७ अभक्षि। ५८ अभाणि। ५९ अभावि। ६० अभेदि। ६१ अभावि। ६२ अमारि। ६३ अभ्रंशि। ६४ अमन्थि। ६५ अमार्जि। ६६ अमायि, अन्वमायि। ६७ अयाजि। ६८ अयाचि। ६९ अयोजि।

१ दशकुमारचरित आदियों मे 'अवोचि' प्रयोग मिलता है, वह ठीक नहीं, क्योंकि 'वच उम्' (५९८) से उम् का आगम अङ् परे होने पर ही होता है यहां तो चिण् है। कुछ लोग 'वच उम्' (५९८) में अनुवृत्त 'अङि' का अर्थ 'अङ् च इ च' इस प्रकार विग्रह कर 'इ' से चिण् का भी ग्रहण मानते हैं। परन्तु इस प्रकार की व्याख्या महाभाष्य आदि मे उपलब्ध न होने से मान्य नहीं है।

(७०) रभ्—आरभ्यते=आरम्भ किया०*
(७१) रुद्—रुद्यते=रोया जाता है।
(७२) रुध्—रुध्यते=रोका जाता है।
(७३) रुह्—आरुह्यते=चढ़ा जाता है।
(७४) लभ्—लभ्यते=पाया जाता है।
(७५) लिख्—लिख्यते=लिखा जाता है
(७६) लिह्—लिह्यते=चाटा जाता है।
(७७) लू—लूयते=काटा जाता है।
(७८) वन्द्—वन्द्यते=वन्दना किया जा०
(७९) वप्—उप्यते=बोया जाता है।
(८०) वर्ण्—वर्ण्यते=वर्णन किया जा०
(८१) वस्—उष्यते=निवास किया जा०
(८२) वह्—उह्यते=उठाया जाता है।
(८३) विश्—उपविश्यते=बैठा जाता है
(८४) व्यध्—विध्यते=बींधा जाता है।
(८५) शास्—शिष्यते=सिखाया जाता०
शास्—आशास्यते=आशा किया०
(८६) शी—शय्यते=सोया जा०(५८३)।
(८७) श्रु—श्रूयते=सुना जाता है।
(८८) सिच्—सिच्यते=सींचा जाता है।
(८९) सृ—अनुसृयते=अनुसरण किया जाता है।
(९०) स्तु—स्तूयते=स्तुति किया जाता०
(९१) स्था—स्थीयते (५८८) ठहरा जा०
(९२) स्ना—स्नायते=स्नान किया जा०
(९३) स्मृ—स्मर्यते=याद किया जाता०
(९४) स्रंस्—स्रस्यते=नीचे गिराया जा०
(९५) स्वप्—सुप्यते=सोया जाता है।
(९६) हन्—हन्यते=मारा जाता है।
(९७) हा—हीयते=छोड़ा जाता है।
(९८) हु—हूयते=हवन किया जाता है
(९९) हृ—ह्रियते=हरा जाता है।
(१००) ह्री—ह्रीयते=शर्माया जाता है

कर्तृवाच्य से भाववाच्य और कर्मवाच्य के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। विद्यार्थियों को इसी प्रकार वाच्यपरिवर्त्तन का अभ्यास करना चाहिये—

| (कर्तृ-वाच्य) | (कर्म वा भाव वाच्य) |
|---|---|
| (१) स भवति। | (१) तेन भूयते। |
| (२) त्वं चाहं चान्ये च भवामः। | (२) त्वया मयाऽन्यैश्च भूयते। |
| (३) अहं कटं करोमि। | (३) मया कटः क्रियते। |
| (४) युवां पितरौ वन्देथे। | (४) युवाभ्यां पितरौ वन्द्येते। |
| (५) स ग्रामं गच्छति। | (५) तेन ग्रामो गम्यते। |
| (६) बालाः पुष्पाणि चिन्वन्ति। | (६) बालैः पुष्पाणि चीयन्ते। |

*७०. आरम्भि (७.१.६३)। ७१. अरोदि। ७२. अरोधि। ७३ आरोहि। ७४. अलम्भि-अलाभि (७५९)। ७५. अलेखि। ७६. अलेहि। ७७. अलावि। ७८. अवन्दि। ७९. अवापि। ८०. अवर्णि। ८१. अवासि। ८२. अवाहि। ८३. उपावेशि। ८४. अव्याधि। ८५. अशासि, आशासि। ८६. अशायि। ८७. अश्रावि। ८८. असेचि। ८९. अन्वसारि। ९०. अस्तावि। ९१. अस्थायि। ९२. अस्नायि। ९३. अस्मारि। ९४. अस्रंसि। ९५. अस्वापि। ९६. अघानि (२८७)[1]। ९७. अहायि। ९८. अहावि। ९९. अहारि। १००. अह्रायि।

१. रामेण नो वा किमहानि ताटका (१.४३)—यह वासुदेवविजय का पाठ अपपाठ है। चिण् के णित् होने से धत्व (२८७) होगा ही।

| | |
|---|---|
| (७) त्व घट कुरु । | (७) त्वया घट क्रियताम् । |
| (८) ते देवान् यजन्ति । | (८) तैर्देवा इज्यन्ते । |
| (९) कोऽत्र स्थास्यति । | (९) केनात्र स्थास्यते । |
| (१०) भवतो विष्णुं स्तौति । | (१०) भवतेन स्तूयते विष्णु । |
| (११) वटवो मन्त्रो स्मरन्ति । | (११) वटुभिर्मन्त्रो स्मर्यते । |
| (१२) असौ धनम् अलब्ध । | (१२) अमुना धनमलम्भि । |
| (१३) नृपो रूपम् अद्राक्षीत् । | (१३) नृपेण रूपम् अदर्शि । |
| (१४) त्व फलान्यभिन । | (१४) त्वया फलान्यभिद्यन्त । |
| (१५) यूय कार्यम् अकार्ष्ट । | (१५) युष्माभि कार्यम् अकारि । |
| (१६) नाऽह पास्यामि जलम् । | (१६) न मया पास्यते जलम । |
| (१७) कवयो महेश्वरम् अस्ताविषु । | (१७) कविभिमहेश्वरोऽस्तावि । |
| (१८) शृगाल शब्दम् अश्रौषीत् । | (१८) शृगालेन शब्दोऽश्रावि । |
| (१९) स नृप स्तोता । | (१९) तेन नृप स्ताविता । |
| (२०) गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय । | (२०) गम्यता भवता पुनर्दर्शनाय । |
| (२१) स सुष्ठु वेदमधीते । | (२१) तेन सुष्ठु वेदोऽधीयते । |
| (२२) पापम् पापिनम् अन्वतप्सीत् । | (२२) पापेन पापी अन्वतप्त । |
| (२३) पाप पुरुषोऽन्वतप्सीत् । | (२३) पापेन पुरुषेणान्वतप्त । |
| (२४) प्रसिद्ध पुरुषो भवेत् । | (२४) प्रसिद्धेन पुरुषेण भूयेत । |

संस्कृतव्याकरण में दुह्, याच्, पच् आदि कुछ धातु द्विकर्मक हैं। कर्मवाच्य में इन के किस कर्म में लकार किया जाये ? यह प्रश्न उत्पन्न होता है। इस का निर्णय महाभाष्य में इस प्रकार किया गया है—

"गौणे कर्मणि दुह्यादे, प्रधाने नी-हृ-कृष्-वहाम्"

अर्थात् दुह् आदि धातुओं के गौण (अप्रधान) कर्म में तथा नी, हृ, कृष् और वह् धातुओं के प्रधान कर्म में लकार हुआ करते हैं। जिस कर्म में लकार होगा वह कर्म उक्त हो जायेगा तब उस में प्रथमा विभक्ति आयेगी। दूसरा कर्म अनुक्त होने से यथापूर्व रहेगा। उदाहरण यथा—

| कर्तृवाच्य | कर्मवाच्य |
|---|---|
| | अप्रधाने कर्मणि— |
| (१) (स) गां दोग्धि पय । | (१) (तेन) गौर्दुह्यते पय । |
| (२) (स.) बलिं याचते वसुधाम् । | (२) (तेन) बलिर्याच्यते वसुधाम् । |
| (३) (स) तण्डुलानोदन पचति । | (३) (तेन) तण्डुला ओदन पच्यन्ते । |
| (४) (राजा) गर्गान् शत दण्डयति । | (४) (राज्ञा) गर्गा शत दण्ड्यन्ते । |
| (५) (गोप) व्रजमवरुणद्धि गाम् । | (५) (गोपेन) व्रजोऽवरुध्यते गाम् । |
| (६) (स) माणवक पन्थान पृच्छति । | (६) (तेन) माणवक पन्थान पृच्छ्यते । |
| (७) (वटु) वृक्षमवचिनोति फलानि । | (७) (वटुना) वृक्षोऽवचीयते फलानि । |

| | |
|---|---|
| (८) (गुरुः) माणवकं धर्मं ब्रूते । | (८) (गुरुणा) माणवको धर्मम् उच्यते |
| (९) (गुरुः) माणवकं धर्मं शास्ति । | (९) (गुरुणा) माणवको धर्मं शिष्यते । |
| (१०) (सः) शतं जयति देवदत्तम् । | (१०) (तेन) शतं जीयते देवदत्तः । |
| (११) (सः) सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति । | (११) (तेन) सुधां क्षीरनिधिर्मथ्यते । |
| (१२) (चौरः) देवदत्तं शतं मुष्णाति । | (१२) (चौरेण) देवदत्तः शतं मुष्यते । |
| | प्रधाने कर्मणि— |
| (१३) (सः)ग्रामम् अजां नयति । | (१३) (तेन) ग्रामम् अजा नीयते । |
| (१४) (सः)ग्रामम् अजां हरति । | (१४) (तेन) ग्रामम् अजा ह्रियते । |
| (१५) (सः)ग्रामम् अजां कर्षति । | (१५) (तेन) ग्रामम् अजा कृष्यते । |
| (१६) (सः) ग्रामम् अजां वहति । | (१६) (तेन) ग्रामम् अजा उह्यते । |

# इति भावकर्मप्रक्रिया

(यहां पर भावकर्मप्रक्रिया का विवेचन समाप्त होता है)



# अथ कर्मकर्तृप्रक्रिया

**विवक्षातः कारकाणि भवन्ति** (कारक वक्ता की इच्छा के अधीन होते है) यह पीछे ण्यन्तप्रक्रिया में (६९८) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं। कभी कभी वक्ता प्रयोजनवशात् करण, कर्म आदियो को भी कर्ता बना कर प्रयुक्त करता है। यथा— **असिश्छिनत्ति** (तलवार काटती है), **अग्निः पचति** (आग पकाती है), **काष्ठं भिद्यते** (लकड़ी टूटती है), **फलं पच्यते** (फल पकता है), **स्थाली पचति** (बटलोई पकाती है)। यहा तलवार और अग्नि वस्तुतः करण है, काष्ठ और फल कर्म हैं तथा स्थाली अधिकरण है। परन्तु इन में वक्ता की कर्तृविवक्षा है अतः इन का करणादि-रूपेण *प्रयोग न कर कर्तृरूपेण प्रयोग किया गया है। इस प्रकार की विवक्षा में प्रायः* सौकर्यातिशय (अत्यन्त आसानी) आदि का द्योतित कराना ही प्रयोजन होता है। **'असिश्छिनत्ति'** में वक्ता को तलवार की धार के तेज होने से काटने में आसानी का द्योतित कराना अभीष्ट है। यही **'अग्निः पचति'** में अभीष्ट है। **'काष्ठं भिद्यते'** में 'लकड़ी की शुष्कता के कारण उसके तोड़ने में कठिनाई का न होना' वक्ता को विवक्षित है। **'स्थाली पचति'** में बटलोई के पेंदे के पतलेपन के कारण पाक मे अत्यन्त आसानी का होना वक्ता को अभीष्ट है। इस प्रकार के प्रयोग संस्कृत मे ही नहीं, अन्य भाषाओं में भी उपलब्ध होते हैं। हिन्दी में यथा—

(क) कैंची अपने आप कतर रही है।
(ख) उस्तरा अपने आप चल रहा है।
(ग) पैर भूमि में धंसा जा रहा है।
(घ) कपड़ा फटा जा रहा है।
(ङ) तागा अपने आप टूटता चला जा रहा है।

संस्कृतव्याकरणानुसार जब करण या अधिकरण आदि को कर्त्ता बनाया जाता है तब कुछ विशेष परिवर्त्तन नहीं होता, साधारणतया उन को कर्त्ता मानकर उन में लकारों का विधान कर सरलता से प्रयोग निष्पन्न हो जाते हैं। परन्तु जब कर्म को कर्त्ता बनाया जाता है तब उस में कहीं कहीं विशेष परिवर्त्तन होता है। इसी को बताने के लिये 'कर्मकर्तृप्रक्रिया' का यह प्रकरण प्रारम्भ किया गया है।

अब सब से पहले ग्रन्थकार कर्मकर्त्ता का तात्पर्य समझाते हैं—

[लघु०] यदा कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षित तदा सकर्मकाणामपि अकर्मकत्वात् कर्त्तरि भावे च लकार ॥

अर्थ—जब वक्ता को कर्म ही कर्तृत्वेन कहना अभीष्ट होता है तो सकर्मक धातुएं भी (प्राय) अकर्मक बन जाती हैं। तब अकर्मक होने से उन धातुओं से कर्त्ता और भाव में लकार होते हैं।

व्याख्या—कई बार वक्ता सौकर्यातिशय (अत्यन्त आसानी) आदि को प्रकट करने के लिये कर्म को भी कर्त्ता बना कर प्रयोग किया करता है। ऐसी स्थिति में सकर्मक धातु भी अकर्मक हो जाती है। यथा—काष्ठ भिद्यते (लकडी अपने आप टूटती है)[1]। यहां भिद् धातु जो सकर्मक हुआ करती है अब कर्म के कर्त्ता बन जाने से अकर्मक हो गई है। सकर्मक अवस्था में इस का अर्थ होता था—तोडना। अब इस का अर्थ हो गया है—टूटना। अकर्मक धातुओं से 'त कर्मणि०' (३७३) सूत्र के अनुसार कर्त्ता और भाव में लकार हुआ करते हैं, तो यहां भी धातु से कर्त्ता और भाव में लकार होंगे। प्रथम कर्त्ता में लकार लाने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेशसूत्रम्—(७६०) कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रिय ।३।१।८७॥

कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रिय कर्त्ता कर्मवत् स्यात्। कार्यातिदेशोऽयम्। तेन यगात्मनेपदचिण्चिण्वदिट स्यु । पच्यते फलम् । भिद्यते काष्ठम्। अपाचि। अभेदि। भावे तु भिद्यते काष्ठेन ॥

अर्थ—कर्म में स्थित क्रिया के साथ तुल्य क्रिया वाला कर्त्ता कर्मवत् हो। यह कार्यातिदेश है अत कर्मवाच्य के यक्, आत्मनेपद, चिण् और चिण्वदिट् कार्य यहां भी हो जाते हैं।

व्याख्या—कर्मवत् इत्यव्ययपदम्। कर्मणा ।३।१। तुल्यक्रिय ।१।१। कर्त्ता। १।१। ('कर्त्तरि शप्' से विभक्तिविपरिणाम करके)। 'कर्मणा' के कर्मशब्द से व्याख्यानद्वारा यहां कर्मस्थ क्रिया का ग्रहण अभीष्ट है। तुल्या क्रिया यस्य स तुल्य-

---

१ यहां सौकर्यातिशय को समझाने के लिये प्राय इस प्रकार कहा जाता है— देवदत्त काष्ठ भिनत्ति। देवदत्त काष्ठ किं भिनत्ति, काष्ठ तु स्वयमेव भिद्यते। कोई कहता है कि देवदत्त लकडी को तोडता है। इस पर दूसरा कहता है कि देवदत्त क्या तोडता है लकडी तो स्वय ही टूटती जा रही है।

क्रियः, बहु० । अर्थः—(कर्मणा) कर्मस्थ क्रिया के साथ (तुल्यक्रियः) तुल्य क्रिया वाला (कर्त्ता) कर्त्ता (कर्मवत्) कर्मवत् होता है । तात्पर्य यह है कि कर्म के कर्त्ता बनने के पूर्व जो क्रिया कर्म में स्थित होती है यदि वही क्रिया अब कर्मकर्तृप्रक्रिया के कर्त्ता में स्थित हो तो कर्त्ता कर्मवत् हो जाता है । यथा—'कालः फलं पचति, देवदत्तः काष्ठं भिनत्ति' इत्यादियों में पच् धातु की विक्लेदन (गलना) क्रिया तथा भिद् धातु की द्वैधीभाव क्रिया जो कर्म में स्थित है वही क्रिया कर्मकर्तृप्रक्रिया के 'फलं पच्यते' तथा 'काष्ठं भिद्यते' वाक्यों के कर्त्ता में भी विद्यमान है, उस में कुछ अन्तर नहीं आया अतः यहां का कर्त्ता कर्मवत् हो जायेगा । कर्त्ता को कर्मवत् अतिदेश करने का अभिप्राय यह है कि कर्म अर्थात् कर्मवाच्य में जो कार्य हुआ करते हैं वे अब कर्मकर्तृप्रक्रिया में कर्म के कर्त्ता बन जाने पर भी होंगे । कर्मवाच्य में आत्मनेपद, यक्, चिण् तथा चिण्वदिट्—ये कार्य सुप्रसिद्ध हैं, वे अब कर्मकर्तृप्रक्रिया में भी होने लगेंगे । सार यह है कि कर्मकर्त्ता का कर्त्ता कर्मवाच्य के समान कार्यभाक् हो जायेगा । उदाहरण यथा—

पच्यते फलम् (फल पकता है) । यहां पर वस्तुतः 'कालः फलं पचति' के स्थान पर वक्ता ने सौकर्यातिशय को प्रकट करने के लिये कर्म को कर्त्ता बना कर 'पच्यते फलम्' का प्रयोग किया है । पूर्व का कर्म 'फल' अब कर्ता बन गया है । पर तब कर्म में पाक (विक्लित्ति) रूप जो क्रिया विद्यमान थी वही क्रिया अब कर्त्ता में भी विद्यमान है अतः उस के कर्ता बन जाने पर भी प्रकृतसूत्र से कर्मवद् अतिदेश के कारण उस में कर्मवाच्य के समान कार्य होंगे । जैसे कर्मवाच्य में 'भावकर्मणोः'(७५१) से आत्मनेपद, 'सार्वधातुके यक्' (७५२) से यक् प्रत्यय, 'स्यसिच्सीयुट्०' (७५३) से चिण्वदिट् तथा 'चिण्भावकर्मणोः' (७५४) से च्लि को चिण् होता है वैसे यहां पर भी होने लगेगा । अतः कर्मकर्तृप्रक्रिया में 'पच्+ल्' इस स्थिति में तङ्, यक् तथा टि को एत्व करने से 'पच्यते' आदि प्रयोग सिद्ध होंगे[1] । रूपमाला यथा—

लँट्—पच्यते, पच्येते, पच्यन्ते । लिँट्—पेचे, पेचाते, पेचिरे । लुँट्—कर्मवद्भाव के होने पर भी 'स्यसिच्सीयुट्०' (७५३) सूत्र में प्रोक्त धातुओं के अन्तर्गत न होने से चिण्वदिट् नही होता—पक्ता । लृँट्—पक्ष्यते । लोँट्—पच्यताम् । लँङ्—अपच्यत । वि० लिँङ्—पच्येत । आ० लिँङ्—पक्षीष्ट । लुँङ्—अपाचि (कर्मवद्भाव के कारण च्लि को चिण् हो कर उपधावृद्धि तथा 'त' का लुक् हो जाता है), अपक्षाताम्, अपक्षत । लृँङ्—अपक्ष्यत ।

इसी प्रकार—भिद्यते काष्ठम् (लकड़ी अपने आप टूटती है)में समझना चाहिये । भिद् धातु की कर्मकर्तृप्रक्रिया में रूपमाला यथा—लँट्—भिद्यते, भिद्येते, भिद्यन्ते । लिँट्—बिभिदे । लुँट्—भेत्ता । लृँट्—भेत्स्यते । लोँट्—भिद्यताम् ।

---

१. भूतपूर्व कर्म के कर्त्ता बन जाने पर उस के लकार द्वारा उक्त होने के कारण उस में प्रथमा विभक्ति आती है । फलं पच्यते, ओदनः पच्यते आदि ।

लुङ्—अभिद्यत । वि० लिङ्—भिद्येत । आ० लिङ्—भित्सीष्ट । लुट्—अभेदि, अभित्साताम्, अभित्सत । लृट्—अभेत्स्यत ।

कर्मकर्तृप्रक्रिया का सुन्दर उदाहरण मुण्डकोपनिषद् (२ ८) का यह श्लोक है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया ।
क्षीयन्ते[1] चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

अर्थात् उस परावर ब्रह्म के साक्षात्कार कर लेने पर हृदय की गाठ खुल जाती है, सब संशय नष्ट हो जाते हैं तथा इस के सब कर्म क्षीण हो जाते हैं ।

विशेष वक्तव्य—ध्यान रहे कि केवल उसी क्रिया का कर्ता कर्मवद्भाव को प्राप्त होता है जिस क्रिया के कर्म मे स्थित होने पर कर्म मे स्पष्टतया कुछ विकार प्रतीत होता है । जैसे पच् के कर्म पके हुए चावलो और भिद् के कर्म चीरी हुई लकड़ियो को देख कर स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन मे पाक व भेदन क्रिया का असर हुआ है । अत इन धातुओ के कर्म के कर्ता बनने पर कर्मस्थक्रिय होने से कर्मवद्भाव हो जाता है—ओदन पच्यते, फल पच्यते, काष्ठ भिद्यते आदि । परन्तु गम्, दृश्, ज्ञा आदि कर्तृस्थक्रिय धातुओ के कर्म मे इस प्रकार का कोई स्पष्ट विकार दिखाई नहीं देता[2] । अत इन धातुओ के कर्म के कर्ता बनने पर भी कर्मवद्भाव नहीं होता शुद्ध कर्तृप्रक्रियावत् रूपसिद्धि होती है । यथा—ग्राम स्वयमेव गच्छति (ग्राम स्वय ही जाता है), घट स्वयमेव पश्यति (घडा स्वय ही दिखाई देता है), श्लोकार्थं स्वयमेव जानाति(श्लोक का अर्थ स्वयमेव ज्ञात होता है)। इसी प्रकार—अधिगच्छति शास्त्रार्थं स्मरति श्रद्दधाति च । यत्कृपालेशतस्तस्मै नमोऽस्तु गुरवे सदा । इस विषय का विशेष विवेचन वैयाकरणभूषणसार पर हमारे भैमीभाष्य की सातवी कारिका पर देखें ।

इस प्रक्रिया मे अब तक के सब उदाहरण कर्म के कर्ता बन जाने पर 'स कर्मणि०' (३७३) द्वारा कर्ता में लकार करने पर ही दिये गये हैं । यदि कर्मकर्तृप्रक्रिया मे भाव में लकार करेंगे तो उस कर्ता के अनुक्त होने से 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (८६५) द्वारा उस मे तृतीया विभक्ति हो जायेगी । यथा—भिद्यते काष्ठेन (लकडी से अपने आप टूटा जाता है) । यहा काष्ठ कर्म के कर्ता बन जाने पर भी उस के अनुक्त होने से उस मे तृतीया विभक्ति हुई है ।

शङ्का—भिद्यते काष्ठेन' मे यद्यपि काष्ठ अब कर्म नहीं रहा कर्ता बन गया है परन्तु 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रिय' (७६०) द्वारा उस मे कर्मवद्भाव अक्षुण्ण है तभी तो 'भिद्यते' में आत्मनेपद तथा यक् प्रयुक्त हुआ है । तो इस प्रकार उस के कर्मवत् हो जाने पर उस अनुक्त कर्म में 'कर्मणि द्वितीया' (८६१) द्वारा द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये थी न कि तृतीया ?

---

१ यहां पर अन्तर्भावितण्यर्थ क्षि धातु का कर्मकर्ता मे प्रयोग समझना चाहिये ।

२ किसी के ग्राम को जाने से ग्राम मे बाह्यत कोई परिवर्तन दिखाई नहीं देता, घट के देख लेने से घट मे बाह्यत कोई परिवर्तन नहीं आता, श्लोकार्थ के जान लेने पर उस अर्थ में स्पष्टत कोई परिवर्तन नहीं होता ।

**समाधान**—'कर्मवत्कर्मणा०' (७६०) सूत्र में पीछे से 'लः' की अनुवृत्ति आती है। अतः यदि कर्त्ता लकारसम्बन्धी अर्थात् लकार द्वारा उक्त होता है तभी उस में कर्मवद्भाव हुआ करता है अन्यथा नहीं। यहां 'भिद्यते काष्ठेन' में लकार के भाव में होने के कारण कर्त्ता लकार द्वारा उक्त नहीं अतः कर्मवद्भाव की प्राप्ति नहीं होती, इस से उस में द्वितीया का प्रसंग ही नहीं उठता। आत्मनेपद और यक् यहां कर्मवद्भाव के कारण नहीं आये अपितु भाववाच्य के कारण आये हैं।

## इति कर्मकर्तृप्रक्रिया

(यहां पर कर्मकर्तृप्रक्रिया का विवेचन समाप्त होता है)

## अथ लकारार्थप्रक्रिया

तिङन्तप्रकरण के आरम्भ में 'वर्त्तमाने लँट्' (३७४) आदि सूत्रों के द्वारा लकारों के सामान्य अर्थ बताये जा चुके हैं। अब उत्सर्गापवादपूर्वक उन के कुछ विशेष अर्थ बतलाने के लिये यह प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७६१) अभिज्ञावचने लृँट् ।३।२।११२॥

स्मृतिबोधिन्युपपदे भूताऽनद्यतने धातोर्लृँट्। लँङोऽपवादः। **वस निवासे**। स्मरसि कृष्ण ! गोकुले वत्स्यामः। एवं बुध्यसे, चेतयसे इत्यादि-प्रयोगेऽपि ॥

अर्थः—स्मृतिबोधक पद समीप हो तो भूत अनद्यतन काल में धातु से लृँट् होता है।

व्याख्या—अभिज्ञावचने ।७।१। लृँट् ।१।१। भूते ।७।१।(यह अधिकृत है) अनद्यतने ।७।१।('अनद्यतने लँङ्' से) धातोः ५।१।(यह अधिकृत है)। अभिज्ञा स्मृतिः, सा उच्यतेऽनेनेत्यभिज्ञावचनम्, करणे ल्युट्। अभिज्ञावचन इति सप्तिसप्तम्यन्तम्। अर्थः—(अभिज्ञावचने) स्मृतिबोधक पद निकट पढ़ा हो तो (भूते) भूत (अनद्यतने) अनद्यतन अर्थ में (धातोः) धातु से (लृँट्) लृँट् हो जाता है। भूत अनद्यतन अर्थ में 'अनद्यतने लँङ्' (४२२) द्वारा लँङ् का विधान है, यह उस का अपवाद है। उदाहरण यथा—

**स्मरसि कृष्ण ! गोकुले वत्स्यामः** (हे कृष्ण ! तुम्हें याद है कि हम गोकुल में रहते थे[1])। यहां 'स्मरसि' यह स्मृति-बोधक पद निकट पढ़ा है अतः 'अनद्यतने लँङ्' (४२२) से प्राप्त लँङ् का बाध कर प्रकृतसूत्र से भूतानद्यतन में लृँट् हो गया है। **वस निवासे** (रहना. भ्वा० परस्मै० अनिट्)धातु के लृँट् में स्य प्रत्यय करने पर ('सः स्यार्धधातुके'(७०७)से धातु के सकार को तकार आदेश हो जाता है—वत्स्यति, वत्स्यतः, वत्स्यन्ति आदि। यहां उ० पु० के बहुवचन में 'वत्स्यामः' का प्रयोग किया गया है[2]।

१. यहां पर 'पश्य मृगो धावति'की तरह 'स्मरसि' का अर्थ सम्पूर्ण वाक्यार्थ है।

२. वस् धातु की रूपमाला यथा—

इसी प्रकार—बुध्यसे कृष्ण ! गोकुले वत्स्याम । चेतयसे[1] कृष्ण । गोकुले वत्स्याम । अभिजानासि देवदत्त ! कश्मीरेषु वत्स्याम (काशिका)। साहित्य के उदाहरण यथा—

(१) नाऽभिज्ञा ते महाराज ! जेष्याव शक्रपालितम्—भट्टि० १६ ३६ (हे महाराज ! क्या आप को याद नहीं कि हम ने इन्द्र-पालित सुरालय को जीता था ?)। (२) सम्भविष्याव एकस्यामभिजानासि मातरि—भट्टि० ६ १४१ (हम एक ही माता में पैदा हुए हैं—क्या यह तुम्हें स्मरण है ?)। (३) माघ (१ ६८) का उदाहरण यथा—

स्मरत्यदो दाशरथिर्भवन्भवानमुं वनान्ताद्धृनितापहारिणम् ।
पयोधिमाविद्धचलज्जलाविलं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति ॥

: (आप दशरथ के पुत्र राम बन कर समुद्र पर पुल बाध, उस के जल को :
: अस्थिर तथा गदला कर के उस पार गये थे। वहा पहुँच कर लङ्कापुरी के :
: निकट, वन मे से सीतादेवी को चुराने वाले उस रावण को आप मार चुके :
: हैं—क्या यह बात आप को स्मरण है ?)

नोट—इस प्रकार के सस्कृत वाक्यो का हिन्दी मे अनुवाद करते समय बडी सावधानी की आवश्यकता है। लृट् को देखकर भविष्यत्कालिक अर्थ नहीं करना चाहिये। सस्कृत की यह अपनी शैली (style) है।

अब 'यद्' शब्द के योग मे इस सूत्र के द्वारा प्राप्त लृट् का अपवाद प्रस्तुत करते हैं—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—(७६२) न यदि ।३।२।११३॥

यद्योगे उक्त न । अभिजानासि कृष्ण ! यद्वने अभुञ्जमहि ॥

अर्थ —'यद्' शब्द के योग में स्मृतिबोधक पद के निकट रहने पर भी भूतानद्यतन अर्थ मे लृट् नहीं होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। यदि ।७।१। 'अभिज्ञावचने लृट्' (७६१) इस पूर्व-सूत्र का तथा पूर्ववत् 'भूते', 'अनद्यतने' तथा 'धातो' पदों का अनुवर्त्तन होता है। 'यदि' यह भावसप्तम्यन्त है। अर्थ —(यदि अभिज्ञावचने) 'यद्' शब्द से युक्त स्मृतिबोधक पद

---

लँट्—वसति। लिँट्—क्विप्रत्ययों मे यजादित्वात् 'वचिस्वपि०' (५४७) से सम्प्रसारण होकर द्वित्व हो जाता है। अकितो मे 'लिटयभ्यासस्योभयेषाम्' (५४६) से अभ्यास को सम्प्रसारण होता है। उवास, ऊषतु, ऊषु। उवक्षिथ-उवस्थ—। लुँट्—वस्ता। लृँट्—वत्स्यति। लोँट्—वसतु-वसतात्। लँङ्—अवसत्। वि० लिँङ्—वसेत्। आ० लिँङ्—उष्यात् (५४७)। लुँङ्—अवात्सीत्, (४६५) अवात्साम् (४७८), अवात्सु। लृँङ्—अवत्स्यत्। भावे—उष्यते। णिचि—वासयते-वासयति (१ ३ ८६)। सनि—विवत्सति। यङि—वावस्यते। यङ्लुकि—वावसीति-वावस्ति।

१ बुध्यसे, चेतयसे आदि यद्यपि स्मृतिवाचक नहीं हैं तथापि प्रकरणादि के बल से स्मृतिबोधक बन जाते हैं।

निकट पढा हो तो (भूते अनद्यतने) भूत अनद्यतन अर्थ में (धातोः) धातु से परे (लृँट्) लृँट् (न) नहीं होता। यह पूर्वसूत्र का निषेध करता है। अतः लृँट् से मुक्त होने पर 'अनद्यतने लँङ्' (४२२) द्वारा औत्सर्गिक लँङ् हो जाता है। उदाहरण यथा—

**अभिजानासि कृष्ण ! यद् वने अभुञ्ज्महि** (कृष्ण ! क्या तुम्हें याद है कि हम ने वन में खाया था)। यहा 'यद्' शब्द का योग है अतः 'अभिजानासि' इस स्मृतिबोधक पद के उपपद रहते हुए भी प्रकृतसूत्र से पूर्वप्राप्त लृँट् का निषेध हो जाता है। तब 'अनद्यतने लँङ्' (४२२) से लँङ् होता है। 'अभुञ्ज्महि' यह भक्षणार्थक भुज् धातु के आत्मनेपद लँङ् के उ० पु० का बहुवचन है। यहां 'भुजोऽनवने' (६७२) से आत्मनेपद हुआ है।

इसी प्रकार—**अभिजानासि देवदत्त ! यत्कश्मीरेषु अवसाम**।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७६३) **लँट् स्मे** ।३।२।११८॥

**लिँटोऽपवादः। यजति स्म युधिष्ठिरः॥**

**अर्थः**—'स्म' शब्द उपपद हो तो भूतानद्यतन परोक्ष अर्थ में धातु से परे लँट् प्रत्यय होता है।

**व्याख्या**—लँट् ।१।१। स्मे ।७।१। भूते ।७।१। धातोः ।५।१। (अधिकृत है) अनद्यतने ।७।१।('अनद्यतने लङ्' से) परोक्षे ।७।१। ('**परोक्षे लिँट्**' से)। अर्थः—(स्मे) 'स्म' शब्द का योग हो तो (भूते अनद्यतने परोक्षे) भूत अनद्यतन परोक्ष अर्थ में वर्तमान (धातोः) धातु से (लँट्) लँट् प्रत्यय होता है। भूतानद्यतन परोक्ष अर्थ में '**परोक्षे लिँट्**' (३९१) से लिँट् प्राप्त था उस का यह अपवाद है। उदाहरण यथा—

**यजति स्म युधिष्ठिरः** (युधिष्ठिर यज्ञ करते थे)। यहां 'स्म' शब्द का योग है अतः भूतानद्यतन परोक्ष अर्थ में '**परोक्षे लिँट्**' (३९१) से प्राप्त लिँट् का बाध कर प्रकृतसूत्र से लँट् हो गया है। यहां आत्मनेपद का प्रयोग होता तो अच्छा था।

इस सूत्र से आगे अष्टाध्यायी में '**अपरोक्षे च**' (३.२.११९) सूत्र आता है। उस से स्म के योग में भूतानद्यतन अपरोक्ष में भी लँट् का विधान किया गया है। इस प्रकार स्म के योग में भूतानद्यतन मात्र में चाहे वह परोक्ष हो या अपरोक्ष लँट् का विधान समझना चाहिये। यथा—**एवं स्म पिता ब्रवीति** (पिताजी ऐसा कहते थे) **इति स्मोपाध्यायः कथयति** (इस प्रकार उपाध्याय कहते थे)। 'स्म' के योग के कुछ साहित्यिक उदाहरण—

(१) **कस्मिंश्चिद्वने भासुरको नाम सिंहः प्रतिवसति स्म**—पञ्च०।

(२) **क्षीणन्ति स्म प्राणमूल्यैर्यशांसि**—माघ १८.१५।

(३) **अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युरित्युच्यते तामिरुमा स्म नम्रा** (कुमार० ७.२८)

नोट—ध्यान रहे कि 'मा स्म' के योग में लँट् नहीं होता। वहां भूतानद्यतन काल सम्भव नहीं होता। किंच 'स्मोत्तरे लँङ् च' (४३६) से लुँङ् या लँङ् वहां प्रवृत्त होते हैं—**भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः** (शाकुन्तल ४.१७)।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—

(७६४) वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा ।३।३।१३१॥

वर्त्तमाने ये प्रत्यया उक्तास्ते वर्तमानसामीप्ये भूते भविष्यति च वा स्यु । कदाऽऽगतोऽसि? अयमागच्छामि; अयमागम वा । कदा गमिष्यसि? एष गच्छामि; गमिष्यामि वा ॥

अर्थ —वर्तमान काल में जो प्रत्यय जिस जिस अर्थ मे कहे गये है वे प्रत्यय वर्तमान काल के समीपवर्ती भूत और भविष्यत् काल में विकल्प से हों ।

व्याख्या—वर्त्तमानसामीप्ये ।७।१। वर्त्तमानवत इत्यव्ययपदम् । वा इत्यव्यय पदम् । 'प्रत्यय' यह अधिकृत है । समीपमेव सामीप्यम् । 'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसङ्ख्यानम्' इस वार्तिक से स्वार्थ में ष्यञ् हुआ है[1] । वर्तमानकाल के समीप भूत और भविष्यत् ही हो सकते हैं अत उन का ग्रहण होता है । अर्थ — (वर्त्तमानसामीप्ये) वर्त्तमानकाल के समीपवर्ती भूत और भविष्यत् काल में (वर्त्तमानवत्) वर्त्तमान-काल की तरह प्रत्यय[2] (वा) विकल्प से हो जाते हैं ।

भूतकाल मे यथा—किसी ने पूछा—कदाऽऽगतोऽसि ? (तुम कब आये ?) भूतकाल मे प्रश्न है । उत्तर मिलता है—अयम् आगच्छामि (यह मैं आ रहा हूँ ) । उत्तर वर्त्तमानकाल में दिया गया है । कारण कि यह भूतकाल वर्त्तमानकाल के निकटवर्ती है अत भूतकाल में भी प्रकृत सूत्र की सहायता से 'वर्त्तमाने लट्' (३७४)

---

१ यहा ष्यञ् लगाने की आवश्यकता ही क्या है ? सीधा 'वर्त्तमानसमीपे वर्त्तमानवद्वा' ऐसा सरल सूत्र ही क्यों नही बनाया ? इस का समाधान करते हुए काशिकाकार कहते हैं कि इस से यह ज्ञापित कराना अभीष्ट है कि कुछ शब्दों से स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय हो जाता है । यथा—चतुर्वर्ण एव—चातुर्वर्ण्यम्, चतुराश्रमा एव—चातुराश्रम्यम्, सेना एव—सैन्यम्, षड्गुणा एव—षाड्गुण्यम्, सन्निधिरेव—सान्निध्यम्, उपमा एव—औपम्यम्, त्रिस्वरा एव—त्रैस्वर्यम् । 'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसङ्ख्यानम्' वार्तिक का यही मूल है ।

२ 'वर्त्तमानकालिक प्रत्यय हों' ऐसा न कह कर 'वर्त्तमानकाल की तरह प्रत्यय हों' ऐसा कहा गया है । इन दोनों कथनों मे बडा अन्तर है । यदि वर्त्तमानकालिक प्रत्ययों का विधान करते तो अष्टाध्यायी के वर्त्तमानकालिक सब प्रत्यय सब धातुओं से होने लगते । 'भूदृशिभ्यो शानन्' (३ २ १२८) से विधीयमान वर्त्तमानकालिक शानन् प्रत्यय आसन्नभूत और आसन्नभविष्यत् में अन्य धातुओं से भी होने लग जाता इस से बडा घोटाला हो जाता । परन्तु अब 'वर्त्तमानकाल की तरह प्रत्यय हों' इस कथन से जिस जिस धातु से जिस जिस उपाधि के साथ जो जो वर्त्तमानकालिक प्रत्यय विधान किया गया है वह वह वैसा ही होगा । इस से भू और दृश् धातु से ही आसन्नभूत और आसन्न भविष्यत् मे शानन् होने से कोई दोष नहीं आयेगा । सूत्र में 'वत्' लगाने का यही प्रयोजन महाभाष्य और काशिका आदि में स्पष्ट किया गया है ।

द्वारा लँट् हो गया है। 'वा' कहने से पक्ष में भूतकाल का भी प्रयोग हो सकता है—**अयम् आगमम्** (यह मैं आया था) यहां लुँङ् का प्रयोग किया गया है।

भविष्यत्काल में यथा—किसी ने पूछा—**कदा गमिष्यसि ?** (कब जायेगा ?)। उत्तर मिला—**एष गच्छामि** (यह मैं अभी जा रहा हूं)। भविष्यत्कालिक प्रश्न का उत्तर वर्त्तमानकाल में दिया गया है। यहां पर भविष्यत्काल वर्त्तमानकाल के निकट है वह अभी जाने ही वाला है अतः प्रकृतसूत्र की सहायता से **'वर्त्तमाने लँट्'** (३७४) द्वारा भविष्यत्काल में भी लँट् का प्रयोग किया गया है। **'वा'** कहने से लृँट् का भी प्रयोग होगा—**एष गमिष्यामि** (मैं अभी जाऊँगा)।

इसी प्रकार वर्त्तमानकालिक शतृ, शानच्, इष्णुच् आदि प्रत्ययों के विषय में भी समझना चाहिये—**देवदत्त ! कदाऽऽगतः ? आगच्छन्तमेव मां विद्धि। यज्ञदत्त ! कदा गमिष्यसि ? गच्छन्तमेव मां विद्धि।**

वर्त्तमानकाल की समीपता में ही यह सूत्र प्रवृत्त होता है विप्रकृष्टता में नहीं। यथा—**कदाऽऽगतो भवान् ? अस्मान्मासात् पूर्वस्मिन् मासे आगच्छम्। कदा गमिष्यति भवान् पाटलिपुत्रम् ? वर्षेण गमिष्यामि।**

**नोट**—हिन्दी में भी इसी प्रकार आसन्नभूत और आसन्नभविष्यत् में वर्त्तमानकालवत् वैकल्पिक व्यवहार होता है यथा—तुम कब आये ? अभी आ ही रहा हूँ या अभी आया हूँ। कब जाओगे ? जा ही रहा हूँ या अभी जाऊँगा। इस प्रकार का व्यवहार प्रायः बोलचाल में ही हुआ करता है; इस से यह भी सिद्ध होता है कि संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा थी।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७६५) हेतुहेतुमतोर्लिँङ् ।३।३।१५६॥

वा स्यात्। कृष्णं नमेच्चेत् सुखं यायात्। कृष्णं नंस्यति चेत् सुखं यास्यति। भविष्यत्येवेष्यते—नेह, हन्तीति पलायते॥

**अर्थः**—हेतुहेतुमद्भाव अर्थात् कारणकार्यभाव में धातु से विकल्प से लिँङ् हो। **भविष्यत्येवेष्यते**—इस सूत्र की भविष्यत्काल में ही प्रवृत्ति अभीष्ट है।

**व्याख्या**—हेतु-हेतुमतोः।७।२। लिँङ् ।१।१। विभाषा ।१।१। (**'विभाषा धातौ सम्भावन०'** से)। धातोः ।५।१। (यह अधिकृत है)। कारण को 'हेतु' तथा कार्य को 'हेतुमत्' कहते हैं—यह पीछे (४४२) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं। यहां पूर्वसूत्रों से लिँङ् की अनुवृत्ति आने पर भी पुनः 'लिँङ्' का ग्रहण इस बात का द्योतक है कि यह लिँङ् किसी विशेष काल में ही होता है। महाभाष्यानुसार वह विशेषकाल यहां भविष्यत् ही अभीष्ट है। अर्थः—(हेतुहेतुमतोः) हेतु और हेतुमत् अर्थात् कारणकार्यभाव के द्योत्य होने पर (भविष्यति) भविष्यत्काल में (धातोः) धातु से परे (विभाषा) विकल्प से (लिँङ्) लिँङ् प्रत्यय हो जाता है। लिँङ् के अभाव में भविष्यत्सामान्य में **'लृँट् शेषे च'** (४०८) से लृँट् हो जायेगा। उदाहरण यथा—

**कृष्णं नमेच्चेत् सुखं यायात्** (यदि वह कृष्ण को नमस्कार करेगा तो सुख

पायेगा)। यहा 'कृष्ण को नमस्कार करना' हेतु तथा 'सुख को पाना' हेतुमत् अर्थात् कार्य है। अत हेतुहेतुमद्भाव में नम् और या दोनों धातुओं से[1] लिङ् होकर यह वाक्य निष्पन्न हुआ है। पक्ष मे भविष्यत्सामान्य मे लृट् (४०८)का प्रयोग होगा—कृष्ण नंस्यति चेत् सुख यास्यति।

इसी प्रकार—गुरु प्रणमेच्चेच्छास्त्रान्त गच्छेत्। गुरु प्रणस्यति चेच्छास्त्रान्त गमिष्यति। वृष्टिर्भवेच्चेत् सुभिक्ष स्यात्, वृष्टिर्भविष्यति चेत सुभिक्ष भविष्यति। गुरुपूजा यदि कुर्वीत स्वर्गमारोहेत्, गुरुपूजां यदि करिष्यति स्वर्गम आरोक्ष्यति।

हेतुहेतुमद्भाव में लिंङ् भविष्यत्काल मे ही आता है अन्य कालों में नहीं। यथा—हन्तीति पलायते (वह मारता है इसलिये दूसरा भागता है)। यहा पर 'मारना' हेतु तथा 'भागना' हेतुमत् है, परन्तु वर्त्तमानकाल मे स्थित होने से लिंङ् का प्रयोग न होकर 'वर्त्तमाने लट्' (३७४) से लट् हो गया है। 'पलायते' में परा-पूर्वक 'अय गतौ' धातु का प्रयोग हुआ है। 'उपसर्गस्यायतौ'(५३५) से उपसर्गस्थ रेफ को लत्व हो गया है। इसीप्रकार—'धर्यतीति धावति' आदि में समझना चाहिये।

इसी भविष्यत्कालिक हेतुहेतुमद्भाव में जब वक्ता को प्रमाणान्तर से क्रिया की असिद्धि का निश्चय हो जाता है तो इस लिंङ् का अपवाद लृङ् विधान किया जाता है—यह सब पीछे (४४२) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

अब ग्रन्थकार पूर्वोक्त 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्ट०' (४२५) सूत्र का स्मरण कराते हुए 'विधि' आदि शब्दो की व्याख्या करते हैं—

[लघु०] विधिनिमन्त्रणा०(४२५) इति लिंङ्। विधि =प्रेरणम्=भृत्या-देर्निकृष्टस्य प्रवर्त्तनम्—यजेत। निमन्त्रणम्=नियोगकरणम्=आवश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादे प्रवर्त्तनम्—इह भुञ्जीत। आमन्त्रणम्=काम-चाराज्ञा—इहासीत। अधीष्टम्=सत्कारपूर्वको व्यापार—पुत्रमध्याप-येद् भवान्। सम्प्रश्न =सम्प्रधारणम्—किं वेदमधीयीय उत तर्कम्। प्रार्थनम्=याच्ञा—भो भोजन लभेय। एव लोंट्॥

व्याख्या—इस स्थल की व्याख्या हम विस्तारपूर्वक इसी सूत्र पर पृष्ठ (६४-६५) पर कर चुके हैं, वहीं देखें। लकारार्थप्रक्रिया काशिका तथा सिद्धान्तकौमुदी में पर्याप्त लम्बी है। वरदराजजी ने यहा अत्यन्त सक्षेप से काम लिया है। हम बालको-पयोगी कुछ अन्य सूत्रो का यहा सोदाहरण चयन कर रहे हैं—

(१) यावत्पुरानिपातयोर्लंट् (३ ३ ४) यावत् और पुरा निपातों के प्रयोग

---

१ ध्यान रहे कि हेतुहेतुमद्भाव या कारणकार्यभाव में दो धातुएँ होती है। एक धातु से हेतु (कारण) तथा दूसरी धातु से हेतुमत् (कार्य) द्योतित होता है। हेतुहेतुमद्भाव मे लिंङ् का विधान होने से दोनो धातुओं से ही लिंङ् किया जाता है। हेतुहेतुमद्भाव को प्रकट करने के लिए ऐसे वाक्यो मे 'चेत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है, परन्तु 'चेत्' शब्द कभी वाक्य के आदि मे नही आता।

में भविष्यत्काल में भी लँट् प्रयुक्त होता है। 'यावत्' और 'पुरा' दोनों निपात निश्चय अर्थ को प्रकट करते है—यावद् भुङ्क्ते (निश्चय है कि वह खायेगा); आलोके ते निपतति पुरा सा वलिव्याकुला वा (वलिकर्म में व्यापृत वह तुझे निश्चित दृग्गोचर होगी —मेघदूत ८५)।

(२) विभाषा कदा-कर्ह्योः (३.३.५)—कदा और कर्हि (कब) के प्रयोग में भविष्यत्काल में भी विकल्प से लँट् हो जाता है। कदा गच्छन्ति गुरवः—कदा गमिष्यन्ति गुरवः (गुरुजी कब जायेंगे); कर्हि भुङ्क्ते—कर्हि भोक्ष्यते (वह कब खायेगा)।

(३) ननौ पृष्टप्रतिवचने (३.२.१२०)—ननु के योग में प्रश्न के उत्तर में भूतकाल में भी लँट् प्रयुक्त होता है। अकार्षीः किम् ; ननु करोमि भोः।

(४) नन्वोर्विभाषा (३.२.१२१)—'न' अथवा 'नु' का योग होने पर प्रश्न के उत्तर में भूतकाल में विकल्प से लँट् प्रयुक्त होता है—अकार्षीः कटं देवदत्त ! (देवदत्त क्या तूंने चटाई बनाई)—न करोमि, न अकार्षं वा (मैंने नही बनाई)। इसी प्रकार—नु करोमि, न्वकार्षं वा।

(५) पुरि लुङ् चाऽस्मे (३.२.१२२)—पुरा (पूर्वकाल में) के योग में भूत अनद्यतनकाल में विकल्प से लँट् और लुङ् दोनों का प्रयोग होता है। पक्ष में यथाप्राप्त प्रत्यय हो जाते हैं। वसन्तीह पुरा छात्राः—अवात्सुरिह पुरा छात्राः। अवसन्निह पुरा छात्राः। ऊषुरिह पुरा छात्राः[1]। 'स्म' के योग मे केवल लँट् ही होता है—यजति स्म पुरा।

(६) शकि लिङ् च (३.३.१७२)—यदि धातु के अर्थ की शक्तता (हो सकना) गम्यमान हो तो धातु से लिङ् और कृत्यप्रत्यय हो जाते हैं—त्वं भारं वहेः, त्वया भारो वोढव्यो वहनीयो वा (तुम भार उठा सकते हो)। कुर्या हरस्यापि पिनाकपाणेः धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये (मैं पिनाकधारी शिव का भी धैर्य लुप्त कर सकता हूं अन्य धनुर्धारी मेरे सामने हैं ही क्या ? —कुमार० ३.१०)।

(७) अर्हे कृत्यतृचश्च (३.३.१६९)—योग्य कर्त्ता वाच्य हो तो धातु से लिङ् कृत्य और तृच् प्रत्यय हो जाता है। यथा—त्वं कन्यां वहेः, त्वया कन्या वोढव्या, त्वं कन्यायाः वोढा (तुम कन्या को व्याहने योग्य हो)।

(८) आशंसायां भूतवच्च (३.३.१३२)—आशंसा (अप्राप्त की इच्छा) गम्यमान हो तो भविष्यत्काल में भी भूतवत् या वर्तमानवत् प्रत्यय होते हैं। यथा—मेघश्चेद् अवर्षीद् धान्यम् अवप्स्याम, मेघश्चेद् वर्षति धान्यं वपामः, मेघश्चेद् वर्षिष्यति धान्यं वप्स्यामः (यदि मेघ बरसेगा तो धान्य बोएंगे)।

(९) क्षिप्रवचने लृट् (३.३.१३३)—यदि शीघ्रवाचक कोई शब्द उपपद हो तो आशंसा गम्यमान होने पर भी भविष्यत्काल में लृट् ही प्रयुक्त होता है। यथा—वृष्टिश्चेद् आशु आयास्यति शीघ्रं वप्स्यामः।

---

१. इस का उदाहरण यह स्मार्तवचन भी सम्भव हो सकता है—'पुरा कल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते'। 'पुरा' के योग में 'इष्यते' लिँट् के अर्थ में है।

(१०) आशसावचने लिंङ् (३ ३ १३४)—आशसावाचक शब्द यदि उपपद हो तो भविष्यत्काल मे लिंङ् का ही प्रयोग होता है। यथा—उपाध्यायश्चेदागच्छेत् आशसे व्याकरणमधीयीय (यदि उपाध्यायजी आ जायेंगे तो आशा है व्याकरण पढ़ूगा)।

# इति लकारार्थप्रक्रिया

(यहा पर लकारार्थप्रक्रिया का विवेचन समाप्त होता है)

## अभ्यास (१७)[1]

(१) निम्न शकाओं का समाधान कीजिये—
(क) 'परा जयति सेना' मे 'विपराभ्या जे' द्वारा आत्मनेपद क्यो नहीं होता ?
(ख) 'मधुनि विशन्ति भ्रमरा' मे 'नेविश' द्वारा आत्मनेपद क्यो नहीं होता ?
(ग) 'वाष्पम् उच्चरति' मे 'उदश्चर०' द्वारा आत्मनेपद क्यों नहीं होता ?
(घ) 'व्यतिहिसन्ति योधा' में 'कर्तरि कर्म०' से आत्मनेपद क्यों नहीं होता ?
(ङ) 'राम' मे 'सुँपो धातु०' द्वारा सुँप् का लुक् क्यो नही होता ?
(च) 'वाच्यति' मे पदनिबन्धन कुत्व क्यो नही होता ?
(छ) 'गीयति, पूर्यति' की तरह 'दिव्यति' में दीर्घ क्यो नहीं होता ?

(२) सक्षिप्त उत्तर दीजिये—
(क) भाववाच्य मे प्र० पु० के एकवचन का ही सदा प्रयोग क्यों होता है ?
(ख) 'विष्णूयति' मे 'क्यचि च' द्वारा ईत्व क्यों नहीं होता ?
(ग) द्विकर्मक धातुओ के कर्मवाच्य मे किस कर्म में लकार होते हैं ?
(घ) यङ् के लुक् को अनैमित्तिक क्यो कहा जाता है ?
(ङ) एकवचन को भाष्यकार ने किस प्रकार औत्सर्गिक सिद्ध किया है ?
(च) यङ्लुगन्त को कई वैयाकरण वैदिक क्यो मानते हैं ?
(छ) 'हन्तीति पलायते' मे 'हेतुहेतुमतोर्लिंङ्' द्वारा लिंङ् क्यों नहीं होता ?

(३) निम्न विषयो पर सक्षिप्त नोट लिखें—
(क) अन्तर्भावित-ण्यर्थ।
(ख) 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' मे वत्करण।
(ग) यङन्त से आत्मनेपद तथा यङ्लुगन्त से परस्मैपद का होना।
(घ) कर्मकर्तृप्रक्रिया मे सकर्मक धातुओ का भी अकर्मक हो जाना।
(ङ) कण्ड्वादियो को धातु और प्रातिपदिक उभयावध मानना।
(च) सन्नन्त और णिजन्त की पदव्यवस्था।

(४) कर्मकर्तृप्रक्रिया के अनुसार सस्कृत मे अनुवाद कीजिये—
(क) घट अपने आप जाना जाता है।
(ख) पुस्तक अपने आप पढ़ी जाती है।

---

१ यह अभ्यास पूर्वोक्त ग्यारह प्रक्रियाओ का समुदितरूपेण बनाया गया है।

(ग) लकड़ियां अपने आप टूटती हैं।
(घ) ग्राम अपने आप आता है।

(५) कर्मव्यतिहार किसे कहते हैं ? इस में किस पद का प्रयोग होता है ? गत्यर्थकों और हिंसार्थकों से भी क्या यही पद प्रयुक्त होगा ?

(६) चतुर्थी के अर्थ में कव तृतीया का प्रयोग होता है ? तव दाण् धातु से कौन सा पद किया जाता है ?

(७) स्वार्थणिजन्त चुरादियों से हेतुमण्णिच् करने पर भी रूप में कोई अन्तर नहीं आता—इस का कारण क्या है ?

(८) निम्न-वचनों की व्याख्या करें—
(क) विवक्षातः कारकाणि भवन्ति।
(ख) भावः क्रिया, सा च भावार्थकलकारेणानूद्यते।
(ग) युष्मदस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्याभावात् प्रथमः पुरुषः।
(घ) णिच्यच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्त्तव्ये।
(ङ) प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च।
(च) भूसुवोरिति गुणनिषेधो यङ्लुकि भाषायां न०।
(छ) यङो वेतीट्पक्षे गुणं बाधित्वा नित्यत्वाद् वुक्।

(९) 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' में 'स्वतन्त्रः' का क्या अभिप्राय है स्पष्ट करें।

(१०) सप्रमाण शुद्ध करें—

१. वृद्धो दुःखशतानि भुनक्ति। २. अयजत् स्म युधिष्ठिरः। ३. सत्यमेव विजयति नाऽनृतम्। ४. गुरुं शुश्रूषति। ५. रामायणं प्रकरोति (प्रकथयति)। ६. परदारान् प्रकुर्वन्ति। ७. कार्यान्नि विरमते। ८. वायुमार्गेण सञ्चरति। ९. वस्त्राणि विक्रीणाति। १०. पराकुरुते बाधाम्। ११. न गुरोरनुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् (मनु० २.१९९)। १२. व्यतिलुनन्ति ब्राह्मणाः। १३. आरामेऽत्रारमामहे। १४. स्मरसि देवदत्त ! यद्वने निवत्स्यामः। १५. सन्मार्गमभिनिविशन्ति सन्तः। १६. गुरवश्चेद् आगमिष्यन्ति आशंसे व्याकरणमध्येष्यामहे। १७. मया भूये। १८. अद्य संस्थास्यति यज्ञः। १९. शतमपजानाति। २०. परेषामनुकुरुते। २१. भुङ्क्ते भोजयते चैव। २२. पुस्तकं स्वयमेव पठयते। २३. देवदत्त एदिधिषति। २४. विक्रीणाति तिलैस्तिलान्।

(११) सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. कर्मवत्कर्मणा०। २. श्रोः पुयण्ज्यपरे। ३. कर्तरि कर्मव्यतिहारे। ४. धातोरेकाचो हलादेः०। ५. धातोः कर्मणः०। ६. तत्प्रयोजको हेतुश्च। ७. स्यसिच्०। ८. सुँप आत्मनः क्यच्। ९. नः क्ये। १०. पूर्ववत्सनः। ११. उपाच्च। १२. तपोऽनुतापे च। १३. वर्त्तमानसामीप्ये०। १४. हेतुहेतुमतोर्लिङ्। १५. तत्करोति तदाचष्टे। १६. हेतुमति च। १७. यस्य हलः। १८. सन्यङोः। १९. अतिह्रीब्ली०। २०. क्यस्य विभाषा। २१. हलन्ताच्च।

(१२) निम्न-रूपों की सिद्धि करें—

१ भावयति। २ अबीभवत्। ३ अतिष्ठिपत्। ४ घटयति। ५ ज्ञपयति। ६ अजिज्ञपत्। ७ पिपठिषति। ८ जिघत्सति। ९ चिकीर्षति। १० बुभूषति। ११ बोभूयते। १२ वाव्रज्यते। १३ वाव्रजिता। १४ जरीगृह्यते। १५ बोभवीति-बोभोति। १६ अबोभूवीत्। १७ पुत्रीयति। १८ राजीयति। १९ समिधिता-समिध्यिता। २० पुत्रीयति छात्रम्। २१ कृष्णति। २२ सस्वौ। २३ इदामति। २४ कष्टायते। २५ शब्दायते। २६ घटयति। २७ निविविक्षते। २८ बोभूयते। २९ बोभूय्यते। ३० भारिता-भर्ता। ३१ अन्वतप्त पापेन। ३२ तायते-तन्यते। ३३ दीयते। ३४ अदायि। ३५ लस्यते। ३६ अलम्मि। ३७ अभाजि। ३८ भिद्यते काष्ठेन। ३९ इज्यते। ४० स्मर्यते।

(१३) रूपमाला लिखें—

प्र√स्था, वि√रम्, सम्√दा (आत्मने०)—लँट्, लिँट्, लुँट् में।

लभ्, भञ्ज्, स्मृ, यज्, स्तु, अनुभू, श्रु—(कर्मणि) लँट, लुँट्, लुँङ् में।

(१४) निम्न-धातुओं से कौन सा पद होगा सप्रमाण लिखें—

आ√रम्, प्र√वह्, अनु√कृ, अभि√क्षिप्, वि√जि, वि√क्री, वि√स्था, परि√मृष्, नि√विविक्ष, एदिधिष, बोभूय, बोभू, बुभूष, चिकीर्ष, भावि, भुज् (भोजने), भुज् (पालने), उद्√कृ (भर्त्सने), अनु√भू (कर्मणि), पठ् (कर्मकर्तरि), भिद् (कर्मकर्तरि)।

(१५) 'क्विब्वृत्तिर्युक् च०' कारिका की व्याख्या करें।

(१६) 'सर्वप्रातिपदिकेभ्य क्विँब्वा वक्तव्य' वाले क्विँप्रत्यय का सुँबन्तों से विधान क्यों नहीं किया गया?

## इति तिङन्तप्रकरणं समाप्तम्

(यहां पर तिङन्तप्रकरण का विवेचन समाप्त होता है।)

इति भूतपूर्वाऽखण्डभारतान्तर्गत-सिन्धुतटवर्त्ति-डेराइस्माईलखाना-स्थनगरवास्तव्य-भाटियावंशावतंस-स्वर्गत-श्रीमद्रामचन्द्र-वर्म-सूनुना एम्० ए० साहित्यरत्नेत्याद्यनेकोपाधिभृता वैद्येन भीमसेनशास्त्रिणा विरचितायां लघुसिद्धान्तकौमुद्या भैमीव्याख्याया तिङन्ताख्यो द्वितीयो भाग पूर्तिमगात्

लघु-सिद्धान्त-कौमुद्या भैमीव्याख्याविभूषितः ।
तिङन्ताख्यो द्वितीयेऽर्धे भागोऽकारि मया मुदा ॥१॥

मामकीनं श्रमं वीक्ष्य नूनमन्वेषणप्रियाः ।
मोदम्परमवाप्स्यन्ति पठकाः पाठका अपि ॥२॥

करुणेश–कृपा–लेश–शिथिलाऽज्ञान–बन्धनः ।
कथञ्चिज्जातसामर्थ्यः पारं प्राप्तास्मि विस्मितः ॥३॥

ईदृक्षोऽनुग्रहश्चेत्स्यात् सर्वभूताधिवासिनः ।
अस्या भागस्तृतीयोपि व्याख्यायाः प्राप्स्यतेऽचिरात् ॥४॥

वसु-पक्ष-ख-नेत्राब्दे वैक्रमे शुभवत्सरे ।
भैमीव्याख्यायुतो भागो द्वितीयः पूर्त्तिमागतः ॥५॥

(२०२८ वैक्रमाब्द, सन् १९७१)

●

[ शुभं भूयादध्यायकानामध्यापकानां च ॥ ]

# (१) परिशिष्ट—अष्टाध्यायीसूत्रतालिका

(यहां हम लघुकौमुदीस्थ तिङन्तप्रकरणान्तर्गत अष्टाध्यायीसूत्रों की वर्णानुक्रम से सूची दे रहे हैं। इन के आगे पृष्ठ संख्या दी गई है)


[अ]

अकर्मकाच्च ६६७
अकृत्सार्वधातु० १६८
अचस्तास्वत्य० १६३
अच परस्मिन्० ६०२
अचि विभाषा ५१२
अज्झनगमा० ६२५
अञ्जे सिंचि ५४१
अत आदे ६२
अत उत्सार्वधातुके ३१७
,, ,, ,, ५५६
अत उपधाया ११२
अत एकहल्मध्ये० ११७
अतो दीर्घो यञि २४
अतो येयः ६८
अतो लोप १३७
अतो हलादेर्० ११३
अतो हे ५३
अदभ्यस्तात् ३७२
अद सर्वेषाम् २८६
अदिप्रभृतिभ्य० २८३
अनद्यतने लँङ् ६०
,, लुँट् ४०
अनुदात्तङित० ११
अनुदात्तस्य चर्दुप० ४७०
अनुदात्तोपदेश० २६२
अनुनासिकस्य क्वि० ६५३
अनुपराभ्यां० ६७४
अपह्नवे ज्ञ ६६६
अभिज्ञावचने० ७०६
अभिप्रत्यतिभ्य० ६७४
अभ्यासस्या० ३२७
अभ्यासाच्च २६५
अभ्यासे चर्च ३६
अयामन्ताल्वा० २२६
अर्तिपिपर्त्योश्च ३७८
अर्तिह्री०नीरी० ६१५
असयोगाल्लिँट्० १०४
असिद्धवदत्राभात् २६७
अस्तिसिचोऽपृक्ते ६४
अस्तेर्भूः ३२२
अस्मद्युत्तम १६
अस्यतिवक्ति० ३६१

[आ]

आ च हौ ३८६
आडजादीनाम् ६३
आडुत्तमस्य० ५५
आत औ णल १७६
आतो ङित २०८
आतो युक्० ६६५
आतो लोप इटि० १७७
आत १८०
आत्मनेपदेष्वनत २२३
आत्मनेपदेष्वन्य० ४७६
आदिर्ञिटुडव १२२
आदेच उपदेशे० १८२
आनि लोँट ५७
आम १३६
आमेत २१८
आम्प्रत्ययवत्० २११
आयादय आर्धे० १३५
आर्धधातुकस्येड्० ३६
आर्धधातुक शेष ४२
आर्धधातुके २६६
आशिषि लिँङ्० ४६
आहस्थ ३५७

[इ]

इको झल ६२५
इजादेश्च गुरु० २१०
इट ईटि ६७
इटोऽत् २२१
इडत्यर्तिव्य० २८६
इण षीध्वम्० २१४
इणो गा लुँङि ३३२
इणो यण् ३२६
इतश्च ६२
इदितो नुम धातो १२३
इरितो वा ४०६
इयुगमियमा छ १६६

[ई]

ई च गण ६०५
ई हल्यघो ३८७

[उ]

उतश्च प्रत्ययाद्० १६७
उतो वृद्धिर्लुकि० ३०१
उदश्चर सकर्म० ६६८
उदोष्ठ्यपूर्वस्य ३७६
उपदेशेऽत्वत १६४
उपमानादाचारे ६५१
उपसर्गप्रा० ३२१
उपसर्गस्यायतौ २८०
उपसर्गादसमासे० ११५
उपाच्च ६७७
उपात्प्रतियत्न० ३६३
उरत् १४१
उश्च २६५

उपविदजागृ० ३११३
उस्यपदात्तात् १८१
[ऊ]
ऊर्णोतेर्विभाषा ३६३
,, ३६६
[ऋ]
ऋच्छत्यृताम् ३८२
ऋतश्च संयोगादेर्० १८८
ऋतश्च संयोगादेः ४५६
ऋतो भारद्वाजस्य १६५
ऋदृनोः स्ये १८६
[ऋ]
ऋत इद्धातोः ५०८
[ए]
एकाच उपदेशेऽनु० १४६
एत ऐ २१६
एतेर्लिङि ३३०
एरः ४६
एर्लिङि १७६
[ओ]
ओः पुयण्० ६१३
ओतः श्यनि ४१७
[क]
कण्ड्वादि० ६५६
कर्मणिण् २२८
कर्तरि कर्म० ६६२
कर्तरि शप् २१
कर्मवत् कर्मणा० ७०३
कष्टाय क्रमणे ६५४
काम्यच्च ६४६
किदाशिषि ७१
किरतौ लवने ५१०
कुहोश्चुः १९०
कृञ्चानुप्र्यु० १४०
कृमृदृरुहिभ्यः० १६१
क्किन्प्रत्ययं च ७२
क्यचि च ६४६
क्यस्य विभाषा ६४६
क्रमः परस्मै० १७३
क्र्यादिभ्यः श्ना ५६६
क्षुम्नादिषु च ६३४
क्षसच्यावि ३५०
[ग]
गत्यनादरेषण० ६७१
गमहनजनखन० २००
गमेरिट् परस्मै० २०२
गाङ्कुटादिभ्यः० ३४१
गाङ् लिटि ३३६
गातिस्थाघु० ८०
गुणोऽपृक्ते ३६७
गुणो यङ्लुकोः ६३०
गुणोऽर्तिसंयो० १८०
गुर्वृषलिच्छि० १३३
ग्रहिज्यावयि० ४२१
ग्रहोऽलिटि० ५८८
[घ]
घुमास्थागापा० ३४२
घ्वसोरेद्धा० ३२३
[च]
चङि २३५
चिणो लुक् ४३६
चिस्ते पदः ४३६
चिण्भावकर्मणोः ६८३
चिन तूदि ७८
च्वेः सिचि ७६
[ज]
जनसनखनाम्० ५५५
जनिवध्योश्च ४३७
जहातेश्च ३८६
जुसि च ३७४
जुहोत्यादिभ्यः० ३७१
जृस्तम्भुम्रुचु० ५७८
ज्ञाजनोर्जा ४३५
[झ]
झलो झलि १५८
झषस्तथोर्० २७७
झस्य रन् २२०
झेर्जुस् ६६
झोऽन्तः २३
[ट]
टित आत्मने० २०८
[ढ]
ढो ढे लोपः २७७
[ण]
णलुत्तमो वा ११२
णिश्रिद्रुस्रुभ्यः० २३२
णेरनिटि २३३
णौ चङ्युपधाया० २३५
[त]
तङानावात्मने० १०
तत्प्रयोजको० ६१०
तनादिकृञ्भ्य उः ३१५
,, ५५०
तनादिभ्यस्तथासोः ५५२
तनोतेर्यकि ६६३
तपोऽनुतापे च ६६४
तस्यस्थमिपां० ५२
तस्माच्छसो० १२६
तान्येकवचन० १६
तामन्योर्लोपः ४५
तिङन्तं पदं० १५
तिङ्शित्सार्व० २०

तिप्तस्झि० ६
तिप्यनस्ते ५३७
तिष्ठतेरित् ६१६
तीषसह० ४६०
तुदादिभ्य श ४६१
तुह्योस्तातङ्० ५०
तृणह इम् ५३४
तृफलभज० २५८
ते प्राग्धातो ५६
[थ]
थलि च सेटि १२०
थास से २०६
[द]
दधस्तथोश्च ४०१
दयायासश्च २४१
दश्च ३१६
दाणश्च सा० ६६६
दाधा घ्वदाप् ३६७
दिवादिभ्य० ४१२
दीङो युडचि० ४३०
दीपजनबुध० ४३६
दीघ इण० ३२८
दीर्घं च १०२
दीर्घोऽकित ६३२
दीर्घो लघो २३८
द्युतिस्वाप्यो० २४३
द्युद्भ्यो लुंङि २४३
द्विर्वचनेऽचि १४२
[ध]
धातोरेकाचो० ६२६
धातो कर्मण० ६२१
धि च २१६
[न]
न गतिहिंसा० ६६३
न न्द्रा सयो० ३६५
न भकुर्छुराम् ५५६
न माङ्योगे ८३
न यदि ७०७
न लिंङि ५८५
न वृद्भ्यश्चतु० २५३
न शसदद० २५६
न क्ये ६४७
नाभ्यस्तस्याचि० ४०८
नित्य करोते ५६०
नित्य कौटिल्ये० ६३१
नित्य ङित ५६
नेटि १५७
नेगदनदपत० १०८
नेविश ६६४
[प]
परस्मैपदाना० २७
परिव्यवेभ्य० ६६५
परेर्मृष ६७६
परोक्षे लिंट् २५
पाघ्राध्मास्था० १७४
पुगन्तलघूप० १०३
पुषादिद्युताद्य० २०३
पूर्ववत्सन ६७०
पूर्वोऽभ्यास ३३
प्राद्वह ६७५
प्वादीना ह्रस्व ५८२
[ब]
ब्रुव ईट् ३५८
ब्रुव पञ्चाना० ३५६
ब्रुवो वचि ३५६
[भ]
भञ्जेश्च चिणि ६६६
भवतेर ३५
भावकर्मणो ६७६
भियोऽन्यतर० ३७६
भीह्रीभृहुवा० ३७३
भुजोऽनवने ५४६
भुवो वुग्लुंङ्० २६
भूसुवोस्तिङि ८१
भूवादिभ्य ३६१
भ्रस्जो रोप० ४६५
[म]
मस्जिनशोर्झलि ४२७
माङि लुंङ् ७७
मिता ह्रस्व ६१७
मीनाति-मिनोति० ४३१
मेनि ५४
स्रियनेलुंङ्० ५१५
[य]
यङोऽचि च ६३७
यङो वा ६४१
यमरमनमाता० १८५
यस्य हल ६३२
यासुट् परस्मै० ६६
युष्मद्युपपदे० १७
ये च ५६१
ये विभाषा ५५४
[र]
रधादिभ्यश्च ४२६
रिङ् शयग्० २६३
रि च ४५
रीगृदुपधस्य च ६३३
रुधादिभ्य० ५२१
[ल]
लँङ शाकटा० ३०५
लँट् स्मे ७०८
ल कर्मणि च० ३
ल परस्मै० १०
लिंङ सलोपो० ६७
लिंङ सीयुट् २२०

लिङाशिषि ७१
लिङ्निमित्ते० ८४
लिङ्सिचावा० ३४७
लिङ्सिचोरा० ५८४
लिटस्तझयोर्० २१३
लिटि धातोरन० ३०
लिट् च ३८
लिटयन्यतर० २८४
लिटयभ्यास० २७३
लिपिसिचि० ४७८
लुग्वा दुहदिह० ३४९
लुङि च ३००
लुङ् ७६
लुङ्लङ्लृङ्० ६१
लुङ्सनोर्० २९१
लुटः प्रथमस्य० ४३
लृट् शेषे ४६
लोट् च ४९
लोटो लङ्वत् ५२
लोपश्चास्या० १९५
लोपो यि ३९०
लोपो व्योर्वलि ६९

[व]

वच उम् ३६१
वचिस्वपि० २७४
वदव्रजहल० १२७
वर्तमानसामीप्ये० ७०९
वर्तमाने लट् ६
वा जॄभ्रमुत्रसाम् ४१६
वान्यस्य संयो० १८४
वा भ्राशम्लाश० १७२
विच इट् ५१९
विदाङ्कुर्वन्ति० ३१४
विदो लटो वा ३११
विधिनिमन्त्रणा० ६४
विपराभ्यां जेः ६६५
विभाषा घ्राधेट्० ४१८
विभाषा चिण्० ६९७
विभाषा चेः ४५२
विभाषा लुङ्लृङोः ३४१
विभाषेटः २३१
विभाषोर्णो. ३६६
वृद्भ्यः स्य० २५३
वृतो वा ३८३
व्याङ्परि० ६७६

[श]

शदेः शितः ५०७
शब्दवैरकल० ६५५
शर्पूर्वाः खयः ४५४
शल इगुपधा० ३४८
शासिवसि० २८५
शीङः सार्व० ३३५
शीङो रुट् ३३६
शृदृप्रां ह्रस्वो वा ३८१
शे मुचादीनाम् ४७४
शेषात्कर्तरि० १४
शेषे प्रथमः १९
श्नसोरल्लोपः ३२०
श्नान्नलोपः ५३६
श्नाभ्यस्तयो० ३८८
श्रुवः शृ च १९१
श्वयुकः किति ४५७
श्लौ ३७२

[ष]

षढोः कः सि २७५

[स]

सत्यापपाश० ५९७
सनाद्यन्ता० १३४
सनिग्रहगुहोश्च ६२९
सन्यङोः ६२२
सन्यत. २३८
सन्वल्लघुनि० २३६
समवप्रवि० ६६६
समवाये च ५६२
समस्तृतीया० ६६८
सम्परिभ्यां० ५६२
सवाभ्यां वामौ २१८
सहिवहोरो० २७८
संयोगे गुरु १०१
सः स्यार्धधातुके ६२४
सार्वधातुकमपित् १९२
सार्वधातुकार्ध० २२
सार्वधातुके यक् ६७९
सिचि च परस्मै० ३८५
सिचि वृद्धिः० १६९
सिजभ्यस्त० ९८
सिपि धातो रुर्वा ५३८
सुट् तिथोः २२१
सुप आत्मनः० ६४४
सुपो धातु० ६४६
सृजिदृशोर्० ४४४
सेऽसिचि० ४१४
सेर्ह्यपिच्च ५३
स्तन्भुं-स्तुन्भुं० ५७६
स्तन्भेः ५७९
स्तुसुधूञ्भ्यः० ४५१
स्यार्धधातोरिच्च ३९९
स्फुरतिस्फुल० ४९८
स्मोत्तरे लङ् च ७८
स्यतासी० ४१
स्यसिच्० ६८१
स्वतन्त्रः कर्ता ६०९
स्वरतिसूति० १५५
स्वरितञितः १२
स्वादिभ्यः श्नुः ४४९

[ह]

ह एति २१७
हनो वध लिंङि ३००
हन्तेर्जः २९६
हलन्ताच्च ६७१
हल श्ना० ५७८
हलादि शेष ३३
हलि च ३८०
हिनुमीना ५७३
हिंसाया प्रतेश्च ५११
हुझल्भ्यो० २८७
हुश्नुवो० १९३
हेतुहेतुमतो० ७१०
हेतुमति च ६११
ह्यन्तक्षण० १२९
ह्रस्व ३५
ह्रस्व लघु १००
ह्रस्वादङ्गात् २६६


## (२) परिशिष्ट—वार्तिकगणसूत्रतालिका

इस परिशिष्ट में तिङन्तभाग के वार्तिकों तथा गणसूत्रों की वर्णानुक्रमणी दी जा रही है। आगे पृष्ठसंख्या दी गई है।


अडभ्यासव्यवायेऽपि० ५११
अन्तशब्दस्यान्धिविधि० ५८
इर इत्संज्ञा वाच्या ४०६
ऊर्णोतेराम्नेति वाच्यम् ३६४
कमेश्चलेश्चङ् वक्तव्य २३९
कास्यनेकाच आम्वक्त० १३६
क्ङिति रमागम बाधित्वा० ४६७
चकॅरीत च (गण०) ३६२
तत्करोति तदाचष्टे (गण०) ६५६
दुर धत्वणत्वयोरुप० ५८
प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे० (गण०) ६५६
मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम् ० ५००
युग्युटावुर्दञ्यणो सिद्धो० ४३१
व्यचे कुटादित्वमनसि० ४८६
शे तुम्पादीनां नुम् ० ४९२
सर्वप्रातिपदिकेभ्य ० ६५२
सिजलोप एकादेशे० ९७
स्याश्वोरित्वे दीङ ० ४३३
स्पृशमृशकृशतृपदृप्० ४७१


## (३) परिशिष्ट—धातुतालिका

इस परिशिष्ट में मूललघुकौमुदीस्थ तथा भैमीव्याख्या में उद्धृत धातुओं की सूची दे रहे हैं। मूलोक्त धातुए मोटे टाइप में दी गई हैं। इदित् धातुओं को नुम्सहित पढ़ा गया है। उच्चारणार्थक अकार को छोड कर प्रत्येक धातु का सानुबन्धपाठ कोष्ठक में दिया गया है। धातुओं के आगे पृष्ठसंख्या जाननी चाहिये।


[अ]

अञ्ज् (अञ्जूं) ५४०
अट् १००
अत् ९१
अद् २८३
अप् (अपॄं) २४०
अर्च् १२५
अर्द् १२७
अव् १००
अश् ५९२
अस् ३२०

[आ]

आप (आप्लृं) ४६०
इ (इङ्) ३७८
इ (इणं) ३२६
इन्ध् (त्रिइन्धीं) ५४८
इष् (इषुं) ४९४

[ई]

ईक्ष् (ईक्षृं) २२८
ईह् (ईहृं) २२८

[उ]

उक्ष् ४८९
उञ्छ् (उछिं) ४८७
उन्द् (उन्दीं) ५३९

उरस् ६६१
उषस् ६६१
[ऊ]
ऊर्णु (ऊर्णुञ्) ३६३
[ऋ]
ऋच्छ् ४८८
[ए]
एध् (एधृं) २०७
[क]
कट् (कटृं) १२८
कण्डू (कण्डूञ्) ६५९, ६६१
कथ ६०१
कम् (कमुं) २२८
कम्प् (कपिं) २२७
काङ्क्ष् (काक्षिं) १२५
काश् (काशृं) २२७
कुट् ४९५
कुप् ५९१
कूज् १३१
कृ (डुकृञ्) ५५८
कृत् (कृतीं) ४८१
कृत् (कृतीं) ५३३
कृप् (कृपृं) ४६९
कॄ ५०८
कॄ (कॄञ्) ५८३
क्नू (क्नूञ्) ५८१
क्रन्द् (क्रदिं) १२५
क्रम् (क्रमुं) १७१
क्री (डुक्रीञ्) ५६९
क्रुध् ४२५
क्षण् (क्षणुं) ५५५
क्षल् ६०६
क्षि १६०
क्षिण् (क्षिणुं) ५५६
क्षिप् (क्षिपृं) ६७५
क्षुद् (क्षुदिंर्) ५३१
क्षुभ् (क्षुभृं) २४८
क्ष्विद् (ञिक्ष्विदां) २४६
[ख]
खन् (खनुं) २८२
खाद् (खादृं) १३१
खिद् ४८२
खेल् (खेलृं) १३१
खेला ६६१
ख्या ३१०
[ग]
गण ६०४
गद् १०८
गम् (गम्लृं) १९९
गर्ज् १३१
गर्ह् (गर्हृं) २२७
गर्ह् ६०७
गवेष् ६०७
गुप् (गुपूं) १३३
गॄ ५११
गै १८७
ग्रस् (ग्रसुं) २२७
ग्रह् (ग्रहिं) ५८७
ग्लै १८२
[घ]
घट् (घटृं) ६१९
घुट् (घुटृं) २४७
[च]
चर् १२२, ६०७
चर्च् ६०७
चि (चिञ्) ४५२
चित् (चितीं) १०७
चिन्त् (चिंतिं) ६०६
चुम्ब् (चुबिं) १२५
चुर् ५९७
चूप् १३१
चेष्ट् (चेष्टृं) २२६
[छ]
छिद् (छिदिंर्) ५२६
छुद् (उच्छुदिंर्) ५३२
छो ४१९
[ज]
जन् (जनीं) ४३५
जप् १२१
जि १७०, ६६५
जीव् १३१
जुष् (जुषीं) ५१७
ज्ञप् ६१८
ज्ञा ५९३
[ट]
टी (टीङ्) ४३३
[त]
तञ्च् (तञ्चूं) ५४२
तन् (तनुं) ५५०
तप् १७०
तड् ६०६
तुद् (तुदं) ४६१
तुभ् (तुभृं) २४९
तुल् ६०६
तुप् ४२५
तृण् (तृणुं) ५५८
तृद् (उंतृदिंर्) ५३३
तृप् ४९१
तृम्फ् ४९१
तृह् ५३४
त्यज् १७१
त्रप् (त्रपूंष्) २५७
त्रस् (त्रसीं) ४१५
[द]
दण्ड् ६०७

दद्(ददँ) २५५
दल् १२२
दा (दाण्) १८७
दा (डुदाञ्) ३९६
दा(दाप्) ३१०
दिव(दिवुँ) ४११
दिह (दिहँ) ३५२
दी(दीङ्) ४३०
दीप्(दीपीँ) ४३८
दु(टुदु) ४६०
दु ख ६६१
दुप् ४२५
दुह्(दुहँ) ३४३
दू(दूङ्) ४२९
दो ४२१
द्युत(द्युतँ) ७४२
द्रा ३०८
द्रा(द्रञ्) ५८१

[ध]

धा(डुधाञ्) ४००
धाव्(धावुँ) २८१
धू(धूञ्) ४५७
धू(धूञ्) ५८७
धृ(धृञ्) २६८
ध्मा १८७
ध्यै १८७
ध्वस्(ध्वसुँ) २४९

[न]

नट् (णट्) १२१
नद् (णद्) १९४
नन्द् (टुनदिँ) १२२
नभ (णभँ) २४८
नम्(णम्) २०६
नश(णश) ४२५
नह (णहँ) ४४६
निज्(णिजिँर्) ४८६
निन्द् (णिदिँ) १२५
नी (णीञ्) ६८८
नुद्(णुदँ) ४६३
नू(णू) ४८८
नृत् (नृतीँ) ४१४

[प]

पच् (डुपचँष्) २७०
पञ्च् (णचिँ) ६०७
पठ् १२१,६२२
पद् (पदँ) ४३९
पयस् ६६१
पा १७४
पा ३१०
पाल् ६०७
पिश् ४८२
पिश् (पिशँ) ५४५
पी (पीङ्) ४३४
पीड् ६०६
पुट् ४९६
पुष् ४२३
पू (पूञ्) ५८२
पूज् ६०६
पृ (पृङ्) ५१६
पृड् ४९३
प्री (प्रीञ्) ४७२
प्री (प्रीञ्) ६०७
प्सा ३०९

[ब]

बुध् १०७
बुध (बुध) ८४१
बू (बूञ्) २८६

[भ]

भक्ष २०६
भज् (भजँ) २७२
भञ्ज् (भञ्जोँ) ५४५
भा ३०७
भाष् (भाषँ) २२६
भास् (भासृँ) २२६
भिक्ष (भिक्षँ) २२७
भिद (भिदिँर) ५२५
भिषज ६६१
भी (ञिभी) ३७५
भुज् (भुजोँ) ५०२
भुज् ५४६
भू ८
भृ (भृञ्) २६३
भृ (डुभृञ्) ३९३
भ्रस (भ्रसुँ) २४९
भ्रस्ज् (भ्रस्जँ) ४६४

[म]

मण्ड्(मडिँ) ६०६
मन् (मनुँ) ५६७
मन्तु ६६१
मन्थ १३१
मस्ज् (टुमस्जोँ) ५००
मही ६६१
मा (माङ्) ३९१
मा (माङ्) ४३४
मान् ६०७
माङ् ६०७
मिद (ञिमिदाँ) २४५
मिल (मिलँ) ४७२
मी (मीञ्) ५७३
मुद (मुदँ) २२७
मुच (मुचॢँ) ४७३
मुष ५९२
मेधा ६६१
मृ (मृङ्) ५१५
मृड् ४९३

मृश् ५०४
मृष् (मृषँ) ४४६
म्ना १८६
म्ले १८६

[य]

यज् (यजँ) २७३
यत् (यतीँ) २२७
यन्त्र् (यन्त्रिँ) ६०६
यम् २०५
या ३०४
याच् (टुयाचृँ) २८१
यु ३०१
यु (युल्) ५८०
युज् (युजिँर्) ५२८
यृध् (युधँ) ४४३

[र]

रक्ष् १३१
रच् ६०७
रट् १२२
रद् १२१
रम् (रमुँ) ६७६
रा ३०६
राज् (राजृँ) २८१
रिच् (रिचिँर्) ५२६
रुच् (रुचँ) २४६
रुज् (रुजोँ) ५०१
रुध् (रुधिँर्) ५२०

[ल]

लक्ष् ६०७
लङ्घ् (लघिँ) २२८
लप् १२१
लभ् (डुलभृँप्) ६६७
ला ३०६
लिप् (लिपँ) ४८०
लिह् (लिहँ) ३५३
लुप् (लुप्लृँ) ४७६
लुण्ठ् ६०६
लुभ् ४६०
लू (लूल्) ५८३
लेट् ६६१
लोक् (लोकृँ) २२६
लोट् ६६१
लोच् (लोचृँ) २२६

[व]

वच् ६०७
वन् (वनुँ) ५६७
वन्द् (वदिँ) २२८
वप् (डुवपँ) २८१
वर्ण् ६०७
वल्गु ६६१
वह् (वहँ) २७६
वा ३०६
वाञ्छ् (वाछिँ) १२५
विच् (विचिँर्) ५३०
विज् (विजिँर्) ४१०
विज् (श्रोविजीँ) ५१८
विज् (,,) ५४२
विद् ३११
विद् (विदँ) ४४१
,, (,,) ५४६
विद् (विद्लृँ) ४७६
विश् ५०३
वृ (वृङ्) ५६५
वृज् (वृजीँ) ६०७
वृत् (वृतुँ) २५२
वृध् (वृधुँ) २५५
वृ (वृल्) ५८६
वेप् (टुवेपृँ) २२६
वेष्ट् (वेष्टृँ) २२६
व्यच् ४८५
व्यध् ४२१
व्रज् १२७
व्रश्च् (श्रोव्रश्चूँ) ४८३

[श]

शक् (शकॢँ) ४६०
शङ्क् (शकिँ) २२७
शद् (शद्लृँ) ५०६
शप् (शपँ) २८२
शिक्ष् (शिक्षँ) २२७
शिष् (शिष्लृँ) ५४३
शी (शीङ्) ३३५
शील् ६०७
शुच् १०७
शुध् ४२५
शुन् ४६४
शुष् ४२४
शो ४१७
श्रण् ६०६
श्रा ३०८
श्रि (श्रिल्) २६१
श्री (श्रील्) ५७२
श्रु १६१
श्लाघ् (श्लाघृँ) २२७
श्वित् (श्वितॢँ) २४४

[स]

सद् (षद्लृँ) ५०५
सन् (षणुँ) ५५३
सपर ६६१
सान्त्व् (पान्त्व्) ६०६
सि (षिल्) ५७५
सिच् (षिचँ) ४७८
सिध् (षिध्) १००
सिध् (षिधृँ) ४२५
सिव् (षिवुँ) ४१३
सु (षुल्) ४४६

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| सुख | ६६१ | स्था (ष्ठा) | १८७ | [ह] | |
| सू (षूङ्) | ४२८ | | ६१५ | हन् | २६२ |
| सूच् | ६०७ | | ६६६ | हस् (हसें) | १३१ |
| स्कम्भ् (स्कम्भु) | ५८० | स्ना (ष्णा) | ३०७ | हा (ओंहाक्) | ३८५ |
| स्कु (स्कुञ्) | ५७६ | स्पृह | ६०७ | हा (ओंहाङ्) | ३६३ |
| स्कुन्भ् (स्कुन्भुं) | ५८० | स्फुट् | ४६६ | हिंस् (हिंसि) | ५३४ |
| स्तन्भ् (स्तन्भुं) | ५७७ | स्फुर् | ४६७ | हु | ३७१ |
| स्तुन्भ् (स्तुन्भुं) | ५८० | स्फुल | ४६७ | हु (हुञ्) | २६६ |
| स्तृ (स्तृञ्) | ४५४ | स्मृ | १६१ | हुणी | ६६१ |
| स्तृ (स्तृञ्) | ५८३ | स्रम्भ् (स्रम्भुं) | २५१ | हो | ३७८ |
| | | स्रस (स्रसुं) | २४६ | ह्वृ | १७८ |


## (४) परिशिष्ट—कारिकादि-तालिका

इस परिशिष्ट में हम भैमीव्याख्या तथा मूल मे व्याख्यात व्याकरण-सम्बन्धी विशेष कारिकाओं तथा श्लोकों की तालिका प्रस्तुत कर रहे हैं। आगे पृष्ठसंख्या दी गई है॥


| | | | |
|---|---|---|---|
| अजन्तोऽकारवान् वा० | १६६ | घ्नोति चम्पकवनानि० | ४५७ |
| अदृष्टत्वात्प्रतिनिधे० | ६०६ | घ्वमि ते च वहौ धासि० | ३५२ |
| अनुदात्ता हलन्तेषु० | १४६ | नकारजावनुस्वारपञ्चमौ | २५० |
| अपि लोचयुग दृशावपि० | ६६३ | नाकमिष्टसुख याति० | २३६ |
| आमोऽमित्त्वमदन्तत्वाद्० | १३७ | परोभाव परस्याक्षे | २६ |
| आय ईयङ् च णिङ चेति० | १३६ | प्रागन्यत शक्तिलाभा० | ६०६ |
| उपदेशग्रहोऽप्यत्र० | १६४ | भ्रस्जो रोपधयोर्लोप० | ४६६ |
| उपसर्गेण धात्वर्थो० | ८८ | भ्वाद्यदादी जुहोत्या० | ८ |
| ऊदुदन्तैर्यो ति० | १४७ | मुचुसिचौ लुप्तिपौ० | ४७४ |
| एष विधिर्न चुरादि० | ६०० | यजिर्वपिर्वहिश्चव० | २७४ |
| कर्मधारयपक्षे स्याद्० | ३४ | यस्यार्थस्य प्रसिद्धयर्थ० | १३ |
| गुणभूतैरवयवै समूह० | ७ | राघवस्य शरैर्घोरै० | ४२० |
| तनादिस्वात् कृञ सिद्ध० | ३१६ | लज्जासत्तास्थितिजागरण० | ५ |
| त्रिष्वस्मासु प्रसीणाया० | ३ | वाच्य उर्णोनु वद्भाव० | ३६४ |
| देङ्दाणौ दोदुदात्रौ च० | ३६८ | विधान धर्माणा० | ४०५ |
| धातु प्रकरणाद्धातु० | ६६० | विन्दतिश्चान्द्रदौगादैर० | ४७७ |
| धातूपात्तक्रिये नित्यम० | ६१० | वेत्ति सर्वाणि शास्त्राणि० | ५४६ |
| धिस्वे च्युत्वेऽप्यनुस्वारे० | ५४४ | शिवा शवानुबन्धेन | ११० |

सत्तायां विद्यते ज्ञाने ५४६
सन्-क्यच्-काम्यच्० १३५
सन्ध्यावन्दनवेलायां० ३३०
संयोगे गुरुसञ्ज्ञायां० १०२
स्कुनाति च स्कुनीते च० ५७६
हलोऽनुवर्तनाद्वापि० २८६

---

## (५) परिशिष्ट—विशेष-द्रष्टव्य-स्थल-तालिका

[इस परिशिष्ट में विशेष द्रष्टव्य स्थलों की पृष्ठानुक्रम से सूची दी गई है]

लकारों के क्रम का आधार २
सकर्मक-अकर्मक-व्याख्या ४
क्रिया का लक्षण ७
वर्त्तमानकाल का लक्षण ७
धातुओं का अर्थ उपलक्षणार्थ ६
कर्त्रभिप्राय का विवेचन १३
युष्मद्युपपदे० का पदशः विवेचन १८
अनद्यतन-अद्यतन-विवेचन २६
परोक्ष का विवेचन २६
णल् आदियों की सर्वादेशता २८
लिटि धातोः० का पदशः विवेचन ३१
'तासि' में इकार का इत्त्व ४१
डा-रौ-रस् का यथासंख्यत्व ४३
'परत्वात्सर्वादेशः' का विवेचन ५०
अट्-आट् कब करने चाहियें ६१
इग्लक्षण का विवेचन ७४
सिच् में इकार का इत्त्व ७६
लृङ् का विस्तृत विवेचन ८४
अकार उदात्तेत् या मुखसुखार्थ ६१
अस्तिसिचो० का अनुशीलन ६५
'कुहोश्चुः' पर कोष्ठकचक्र १११
'प्रकटयति' पर विचार १२८
आम् के मित्त्वाभाव पर कारिका १३८
'अतो लोपः' का नवीन अर्थ
'द्विर्वचनेऽचि' का विशेष विवेचन १४५
क्रादिनियम पर विशेष विचार १६२
'आतो लोप इटि च' पर दो मत १७८
'घि च'—बालमनोरमा की भ्रान्ति २१७
'ऐधिढ्वम्' पर विशेष विचार २३७
'अचकमत' पर प्राचीन सुभाषित २३६
'श्वितृ' पर बालमनोरमाकार भ्रान्त २४५
'घुट्' धातु के अर्थ पर विचार २४७
'नभस्' शब्द पर मतभेद २४८
धातुओं में अन्तःसन्धि के नियम २५०
'न शसदद०' का अर्थ भ्रामक २५६
णीञ् धातु के अर्थ की व्यापकता २६८
देवपूजासंगतिकरण० पर विचार २७३
अद् पर भाषावैज्ञानिक टिप्पण २८३
प्रभृतिशब्द का द्वैविध्य २८४
'रुदिहि' में धित्व क्यों नहीं होता २८८
हन् के गमनार्थक प्रयोग २६२
'यान्तु' पर शङ्का-समाधान ३०५
'वा' धातु पर भाषावैज्ञानिक नोट ३०६
'आ पाके' के 'पाक' का अर्थ ३०८
'द्रा कुत्सायां गतौ' का अर्थ विवेचन ३०८
'पुरुषवचने न विवक्षिते'—विवेचन ३१५
'तनादिकृञ्भ्य उः' पर विचार ३१६
अस् धातु प्राचीनाचार्यों की दृष्टि में ३२०
पठन और अध्ययन का भेद ३३८
'ब्रुव ईट्' के अर्थ में प्रमाद ३५८
'अस्यति०' के अर्थ में प्रमाद ३६१
'गातिस्था—भूभ्यः' का अपूर्वपदच्छेद ३७७
'आख्यातिक' में संशोधकप्रमाद ३८४
'आ च हौ' का प्राचीन अर्थ ३८६

| | |
|---|---|
| धुमज्ञा और उसके कार्य | ३६८ |
| धा के अठारह उपसर्गयोग | ४०४ |
| 'धा जृम्भमुंत्रसाम्' पर प्रमाद | ४१६ |
| पुष् धातु की सकर्मक-अकर्मकता | ४२४ |
| वृत्करण का प्रयोजन | ४२६ |
| वृक्षों का प्राणित्व | ४२८ |
| 'बुध्' धातु के अर्थ का विवेचन | ४४१ |
| युध् सम्प्रहारे' का अर्थ विवेचन | ४४३ |
| 'धून् कम्पने' का अर्थ विवेचन | ४५७ |
| भ्रस्ज् के पाक की विशेषता | ४६४ |
| मुच्लृ में मोचन की व्यापकता | ४७३ |
| मुचादियों का सग्रहश्लोक | ४७४ |
| लुप्लृ के लाक्षणिक अर्थ | ४७६ |
| 'लिपिसिचिह्वश्च' का समास | ४७६ |
| 'खिद परिघाते' की दुर्दशा | ४८२ |
| वृचे वुटा० फक्किका का रहस्य | ४८७ |
| उपलक्षण का विवेचन | ४८६ |
| 'लुभ विमोहने' का विमोहन | ४६० |
| दृधृ का उदित्त्व अनार्ष | ४६४ |
| परिभूतगुणोदय —पर टिप्पण | ४६८ |
| 'निमज्जति' पर चुटकी | ५०१ |
| 'शदॢ शातने' का विवेचन | ५०६ |
| 'जुषी प्रीतिसेवनयो' का 'सेवन' | ५१७ |
| रुधिर् के आवरण की व्यापकता | ५२० |
| 'भिदिर् विदारणे' की लाक्षणिकता | ५२५ |
| छिदिर् के द्वैधीकरण का विवेचन | ५२६ |
| रिचिर् के विरेचन का विवेचन | ५२६ |
| उच्छृदिर् के अर्थ पर नोट | ५३२ |
| 'कृती वेष्टने' का वेष्टन | ५३३ |
| 'पसे दः' पर दो मत | ५३८ |
| अञ्जू के अर्थ पर टिप्पण | ५३० |
| 'शिण्टि' की सिद्धि में शुद्ध क्रम | ५४४ |
| 'भुजोऽनवने' या 'भुजोऽदने' | ५४७ |
| क्षणु के हिंसा अर्थ की व्यापकता | ५५६ |
| सञ्ज्ञापूर्वको विधिरनित्य विवेचन | ५५७ |
| 'सस्कृत' शब्द पर टिप्पणी | ५६३ |
| एधादक्स्योपस्कुरुते—विवेचन | ५६४ |
| 'प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च' पर विचार | ५७२ |
| 'आप्रवणे' पर टिप्पणी | ५७६ |
| लघुकौमुदी के पाठ की भ्रष्टता | ५८१ |
| ग्रह् धातु के लाक्षणिक अर्थ | ५८७ |
| 'वृष निष्कर्षे' का अर्थविवेचन | ५६१ |
| अच् परस्मिन्०—पदश विवेचन | ६०२ |
| गण धातु के अर्थ | ६०४ |
| चुरादिण्.तुसमह | ६०६ |
| कारक किसे कहते हैं ? | ६०६ |
| कर्त्ता का स्वातन्त्र्य | ६०८ |
| प्रयोजक के रहते कर्त्ता का स्वातन्त्र्य | ६११ |
| प्रेरणा के पाञ्च भेद | ६१२ |
| णिच्यच आदेशो० की उपयोगिता | ६१४ |
| ण्यन्त-शतक | ६१६ |
| 'सन्यङो ' का सरलार्थ क्यों नहीं ? | ६२३ |
| सन्नन्त-शतक | ६२७ |
| 'क्रीमूयते' के विग्रह पर आपत्ति | ६३१ |
| 'नित्य कौटिल्ये गतौ' पर मतभेद | ६३१ |
| यङन्त के अभ्यास के पाच कार्य | ६३५ |
| यङन्त-शतक | ६३५ |
| क्या यङ्लुगन्त वैदिक है ? | ६३७ |
| नामधातुओं का हिन्दी में प्रयोग | ६४४ |
| 'सन्वो' की सिद्धि पर मतभेद | ६५३ |
| इष्ठवत् का सोदाहरण विवेचन | ६५७ |
| कण्ड्वादियों का उभयविधत्व | ६५६ |
| कण्ड्वादियों का कोष्ठकचक्र | ६६१ |
| कर्मव्यतिहार के तीन स्थान | ६६३ |
| 'साहस' का विवेचन | ६७२ |
| एकवचन का औत्सर्गिकत्व | ६८० |
| विच्वभाव के प्रयोजन | ६८३ |
| 'अवतप्त पापेन' के दो अर्थ | ६६४ |

भावकर्मशतक ६९८
द्विकर्मक धातुओं का कर्मवाच्य ७०१
हिन्दी में भी कर्मकर्तृप्रक्रिया ७०२
कर्मकर्तृप्रक्रिया का सुन्दर उदाहरण ७०५

## (६) परिशिष्ट—परिभाषादितालिका

[इस परिशिष्ट में भैमीव्याख्या वा मूलगत व्याख्यातपरिभाषाओं न्यायों तथा विशेषवचनों की वर्णानुक्रमणी दे रहे हैं। इन के आगे पृष्ठसंख्या दी गई है।]

अनन्तरस्य विधिर्वा० १६२
अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः० १३३
अन्योन्याश्रयाणि कार्याणि न० १८३
अपवादो वचनप्रामाण्यात् ७२
अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ६५०
असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ६८
आगमा अनुदात्ता भवन्ति ६६
उभयत आश्रयणे नान्तादिवत् ३३०
उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो० ९५
एकदेशविकृतमनन्यवत् ३०
एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनु० ६४५
कृताकृतप्रसङ्गी यो विधिः० ३०
क्रियाजनकत्वं कारकत्वम् ६०९
क्विँबन्ता विँजन्ता० २१
गापोर्ग्रहणे इण्पिबत्योर्ग्रहणम् ८०
गामादाग्रहणेष्वविशेषः ३४२
णिच्यच आदेशो न स्याद० ६१४
धातोः कार्यमुच्यमान० ५१२
धात्वर्थं बाधते कश्चित् ३४४
नानर्थकेऽलोन्त्यविधि० ३६
नित्यत्वादयं गुणवृद्धी बाधते २९
निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः २२५
निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति २८८
पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः ३६
पिच्च ङिन्न ङिच्च पिन्न ३०२
पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानाम्० ३०
प्रकल्प्य चापवादविषयम्० ३४९
प्रकृतिग्रहणे विकृतेर्ग्रहणं० २३९
प्रकृतिवदनुकरणं भवति ४८३
प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः १३०
फलव्यधिकरणव्यापार० ५
फलसमानाधिकरणव्यापार० ५
बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति ९
मध्येऽपवादाः पूर्वान्विधीन्० ३२६
यदागमास्तद्गुणीभूताः० ४३
यस्मिन्विधिस्तदावल्ग्रहणे २९३
यावान् इण्नाम स सर्वः० ६८२
येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि १०४
लक्ष्ये लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्तिः ३३२
लुग्विकरणालुग्विकरणयोर्० १८०
वार्णादाङ्गं बलीयः ३२८
विवक्षातः कारकाणि भवन्ति ६०९
वृक्षः प्रचलन् सहावयवैः प्रचलति ३२
व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद्भवन्ति ३२
सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं० २८९
सञ्ज्ञापूर्वको विधिरनित्यः ५५७
सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे० १३४
सन्नियोगशिष्टानां सह वा० ३५७,६८२
समुदायो ह्यर्थवान्० ११,६५०
समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा० ५६५
सम्प्रसारणं तदाश्रयं च० २७४
सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्० २९३
सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः १६२
स्वप्रतिपादकत्वे सति० ४८९

# (७) परिशिष्ट—विशेषस्मरणीय पद्य वा वचन

[भैमीव्याख्या के इस तिङन्तप्रकरण मे उद्धृत सैंकड़ो वचनो मे से कुछ विशेष स्मरणीय पद्य वा वचन यहां संगृहीत किये गये हैं।]

(१) त्रिष्वस्मासु प्रक्षीणाया सद्यो मृत्यर्जातोऽम्बायाः ।
प्रासोष्ट द्राक् पुत्रं जाया 'इस का बट्टा उस मे आया' ॥ (पृष्ठ ३)

(२) फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्व सकर्मकत्वम् ॥ (पृष्ठ ५)

(३) फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वम् अकर्मकत्वम् ॥ (पृष्ठ ५)

(४) लज्जा-सत्ता-स्थिति-जागरणं वृद्धि-क्षय-भय-जीवित-मरणम् ।
शयन-क्रीडा-रुचि-दीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः ॥ (पृष्ठ ५)

(५) गुणभूतैरवयवै समूहः क्रमजन्मनाम् ।
बुद्ध्या प्रकल्पितोऽभेद क्रियेति व्यपदिश्यते ॥ (पृष्ठ ७)

(६) भ्वाद्यदादी जुहोत्यादिर्दिवादिः स्वादिरेव च ।
तुदादिश्च रुधादिश्च तन-क्र्यादि-चुरादयः ॥ (पृष्ठ ८)

(७) यस्यार्थस्य प्रसिद्ध्यर्थमारभ्यन्ते पचादय ।
तत्प्रधान फलं तेषां न लाभादि प्रयोजकम् ॥ (पृष्ठ १३)

(८) अहरुभयतोऽर्धरात्रमेषोऽद्यतन काल इति पूर्वे वैयाकरणाः । (पृष्ठ २६)

(९) परोभाव परस्याक्षे परोक्षे लिटि दृश्यताम् ।
उत्व वाऽऽदेः परादक्ष्ण सिद्धं वाऽस्मान्निपातनात् ॥ (पृष्ठ २६)

(१०) कथं जातीयकं पुनः परोक्षं नाम ? केचित्त्वाहु —वर्षशतवृत्त परोक्षमिति । अपर आहु —वर्षसहस्रवृत्तं परोक्षमिति । अपर आहुः—कुड्य-कटान्तरितं परोक्षमिति । अपर आहु —द्व्यहवृत्तं त्र्यहवृत्तं चेति । (पृष्ठ २७)

(११) वृक्ष प्रचलन् सहावयवै प्रचलति । (पृष्ठ ३२)

(१२) व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति । तद्यथा नटानां स्त्रियो रङ्गगता यो य पृच्छति कस्य यूयमिति तं तं तव तवेत्याहुः । एव व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्याच कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते । (पृष्ठ ३२)

(१३) कर्मधारयपक्षे स्यादादिशब्दस्य पूर्वता ।
षष्ठीसमासे त्वानक्षेत्यादौ शेषः प्रसज्यते ॥ (पृष्ठ ३४)

(१४) इक्ष्तपौ धातुनिर्देशे । (पृष्ठ ३५)

(१५) अप्यहमन्तरायाण्यार्य ? (क्या मैं अन्दर आ सकता हूं श्रीमन्)। (पृष्ठ ५९)

(१६) उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
प्रहाराऽऽहार-संहार-विहार-परिहारवत् ॥ (पृष्ठ ८८)

(१७) संयोगे गुरुसञ्ज्ञायां गुणो भेत्तुर्न सिध्यति ।
क्नु-सनोर्यत्कृतं कित्त्वं ज्ञापकं स्याल्लघोर्गुणे ॥ (पृष्ठ १०२)

(१८) श्तिपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च ।
यत्रैकाज्ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि ॥ (पृष्ठ ११०)

(१९) णोपदेशास्तु अनर्द-नाटि-नाथ्-नाध्-नन्द-नक्क-नृ-नृतः ।
(पृष्ठ ११५)

(२०) सन्-क्यच्-काम्यच्-क्यङ्-क्यषोऽथाऽऽचारक्विब्-णिज्यङस्तथा ।
यगाय ईयङ् णिङ् चेति द्वादशाऽमी सनादयः ॥ (पृष्ठ १३५)

(२१) आय ईयङ् च णिङ् चेति, त्रय आयादयः स्मृताः । (पृष्ठ १३६)

(२२) आमोऽमित्त्वमदन्तत्वाद् अगुणत्वं विदेस्तथा ।
आस्कासोराम्विधानाच्च पररूपं कतन्तवत् ॥ (पृष्ठ १३७)

(२३) ऊदृदन्तैर्यौति-रु-क्ष्णु-शीङ्-स्नु-नु-क्षु-श्वि-डीङ्-श्रिभिः।
वृङ्-वृञ्भ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः ॥ (पृष्ठ १४७)

(२४) अनुदात्ता हलन्तेषु धातवस्त्र्यधिकं शतम् । (पृष्ठ १४९)

(२५) उपदेशग्रहोऽप्यत्र वक्ष्यमाणोऽपकृष्यते ।
गुणे नित्ये कृतेऽप्येष ऋदन्ते प्राप्नुयात्कथम् ॥ (पृष्ठ १६४)

(२६) अजन्तोऽकारवान् वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम् ।
ऋदन्त ईदूदङ् नित्याऽनिट् क्रयघन्यो लिटि सेट् भवेत् ॥ (पृष्ठ १६६)

(२७) नाकमिष्टसुखं यान्ति सयुक्तैर्वडवारथैः।
अथ पत्काषिणो यान्ति येऽचीकमतभाषिणः ॥ (पृष्ठ २३९)

(२८) नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु ।
सकारजः शकारश्चे षाट् टवर्गस्तवर्गजः ॥ (पृष्ठ २५०)

(२९) यजिर्वपिर्वहिश्चैव वसिर्वेञ् व्येञ् इत्यपि ।
हेञ्वदी श्वयतिश्चैव यजाद्याः स्युरिमे नव ॥ (पृष्ठ २७४)

(३०) हलोऽनुवर्त्तनाद्वापि निर्दिश्यमानतोऽथवा ।
हस्य धत्वं भवेच्चेति रुदिहीति न दोषभाक् ॥ (पृष्ठ २८९)

(३१) सन्ध्यावन्दनवेलायां तन्तडागं द्विजोत्तमैः ।
अत्र क्रियापदं गुप्तं यो जानाति स पण्डितः ॥ (पृष्ठ ३३०)

(३२) इङ्काबध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः । (पृष्ठ ३३८)

(३३) ध्वमि ते च वहौ थासि दन्त्ये क्सो लुप्यतेऽखिलम् ।
दुहदिहोर्लिहगुहोश्चैव नान्यत्रेति विनिर्णयः ।
लोपोऽजादौ तदन्तस्याऽविशेषेणाभिधीयते ॥ (पृष्ठ ३५२)

(३४) वाच्य ऊर्णोर्णुवद्भावो यङ्प्रसिद्धिः प्रयोजनम् ।
आमश्च प्रतिषेधार्थम् एकाचश्चेडुपग्रहात् ॥ (पृष्ठ ३६४)

(३५) देङ्-दाणौ दो-डुदाञौ च, धेट्-डुधाञावुभावपि ।
पाणिनीये महातन्त्रे, प्रोक्ता घुसञ्ज्ञका अमी ॥ (पृष्ठ ३९८)

(३६) निधानं धर्माणां किमपि च विधानं नवमुदा
प्रधानं तीर्थानाममलपरिधानं त्रिजगतः ।
समाधान बुद्धेरथ खलु तिरोधानमधियां
श्रियामाधानं नः परिहरतु तापं तव वपुः ॥ (पृष्ठ ४०५)

(३७) राघवस्य शरैर्घोरैर्घोरारावणमाहवे ।
अत्र क्रियापद गुप्त मर्यादा दशवार्षिकी ॥ (पृष्ठ ४२०)

(३८) ब्राह्मणस्य महत्पापं सन्ध्यावन्दनतर्पणैः । (पृष्ठ ४२०)

(३९) परयापि तृषा विबाधितो न हि रथ्यागतमम्बु पीयते । (पृष्ठ ४३४)

(४०) धूनोति चम्पकवनानि धुनोत्यशोकं
चूतं धुनाति धुवति स्फुटितातिमुक्तम् ।
वायुर्विधूनयति चम्पकपुष्परेणून्
यत्कानने धवति चन्दनमञ्जरीश्च ॥ (पृष्ठ ४५७)

(४१) मुच्-सिचौ लुप्-लिपौ धेति विद्-खिदौ कृत् - पिशौ तथा ।
नुम्भाजः शे भवन्त्यष्टौ मुञ्चतीति निदर्शनम् ॥ (पृष्ठ ४७४)

(४२) विन्दतिश्चान्द्रदौर्गादिरिष्टो भाष्येऽपि दृश्यते ।
व्याघ्रभूत्यादयस्त्वेनं नेह पेदुरिति स्थितम् ॥ (पृष्ठ ४७७)

(४३) उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम् ॥ (पृष्ठ ४८७)

(४४) अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्क ॥

(४५) एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोरिति यो बभाषे ।
नूनं न दृष्ट कविनापि तेन दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी ॥ (पृष्ठ ५०१)

(४६) स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति ।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनपण्डितौघः ॥ (पृष्ठ ५१२)

(४७) धित्वे ष्टुत्वेऽप्यनुस्वारे जश्त्वे परसवर्णता ।
सवर्णे च झरो लोपे शिण्ढि-पिण्ढीति जायते ॥ (पृष्ठ ५४४)

(४८) सत्तायां विद्यते, ज्ञाने वेत्ति, वित्ते विचारणे ।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ, श्यन्-लुक्-श्नम्-शेष्विदं क्रमात् ॥
(पृष्ठ ५४९)

(४९) वेत्ति सर्वाणि शास्त्राणि गर्वस्तस्य न विद्यते ।
वित्ते धर्मे सदा सद्भिस्तेषु पूजां च विन्दति ॥ (पृष्ठ ५४९)

(५०) स्कुनाति च स्कुनीते च स्कुनोत्याप्लवतेऽपि च ।
स्कन्दते स्कुन्दते चापि षडाप्लवनवाचिनः ॥ (पृष्ठ ५७६)

(५१) एष विधिर्न चुरादिणिजन्तात् स्यादिति कश्चन निश्चिनुते स्म ।
आप्तवचोऽत्र न किञ्चिद् दृष्टं लक्षयतेः स्वरितेत्त्वमनार्षम् ॥ (पृष्ठ ६००)

(५२) प्रागन्यतः शक्तिलाभान्न्यग्भावापादनादपि ।
तदधीनप्रवृत्तित्वात् प्रवृत्तानां निवर्त्तनात् ॥
अदृष्टत्वात् प्रतिनिधेः प्रविवेकेऽपि दर्शनात् ।
आरादप्युपकारित्वात् स्वातन्त्र्यं कर्तुरिष्यते ॥ (पृष्ठ ६०९)

(५३) धातुप्रकरणाद् धातुः कस्य चासञ्जनादपि ॥
आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातुर्विभाषितः ॥ (पृष्ठ ६६०)

(५४) अपि लोकयुगं दृशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि ।
श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते सुतरां धरापते ॥ (पृष्ठ ६६३)

(५५) मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराभिमर्षणम् ।
पारुष्यमनृतञ्चैव साहसं पञ्चधा स्मृतम् ॥ (पृष्ठ ६७२)

(५६) चिण्वद् वृद्धिर्युक् च हन्तेश्च घत्वं दीर्घश्चोक्ते यो मितां वा चिणीति ।
इट् चासिद्धस्तेन मे लुप्यते णिर्नित्यश्चायं वल्लिमित्तो विधाती ॥
(पृष्ठ ६८३)

(५७) गौणे कर्मणि दुह्यादेः, प्रधाने नी-हृ-कृ ष्-वहाम् । (पृष्ठ ७०१)

(५८) भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ (पृष्ठ ७०५)

(५९) अधिगच्छति शास्त्रार्थः स्मरति श्रद्दधाति च ।
यत्कृपालेशतस्तस्मै नमोऽस्तु गुरवे सदा ॥ (पृष्ठ ७०५)

(६०) पश्य मृगो धावति । (पृष्ठ ७०६)

●●●●

## ※ भैमी प्रकाशन के ग्रन्थों की नवीन सूची ※

### (१) लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (प्रथम भाग)

यह भाग पञ्च-सन्धि-पड्लिङ्ग-अव्ययप्रकरणात्मक है। यह द्वितीय बार मुद्रित हुआ है। इस नवीनतम संस्करण में लेखक ने अनेक नये संशोधन वा परिवर्धन किये हैं। विषय को परिमार्जित तथा स्पष्ट करने के लिये सैकड़ों नये उदाहरण तथा दो सौ से अधिक नये शोधपूर्ण फुटनोट तथा टिप्पण दिये गये हैं। अव्ययप्रकरण को पहले से लगभग दुगना कर दिया है। इस प्रकार प्राय दो सौ पृष्ठों की ठोस सामग्री पूर्वनिक्षया इस संस्करण में अधिक संगृहीत है। अन्य भागों की तरह इस भाग को भी समानरूप में परिणत किया गया है। चार प्रकार के नवीन आधुनिक टाइपों के द्वारा सुन्दर शुद्धतम छपाई, अंग्रेजी पक्की सिलाई, स्क्रीनप्रिंटिड आकर्षक मजबूत जिल्द। (२३ × ३६)—१६ साइज के लगभग सादे छ सौ पृष्ठों का मूल्य केवल एक सौ पचास रुपये (Rs 150/-)।

### (२) लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (द्वितीय भाग)

इस भाग में दस गण और एकादश प्रक्रियाओं की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है। तिङन्तप्रकरण व्याकरण की पृष्ठास्थि (Backbone) समझा जाता है। क्योंकि धातुओं से ही विविध शब्दों की सृष्टि हुआ करती है। अतः इस भाग की व्याख्या में विशेष श्रम किया गया है। प्रत्येक सूत्र के पदच्छेद, विभक्तिवचन, समासविग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्य वैशिष्ट्य, अर्थनिष्पत्ति, उदाहरण-प्रत्युदाहरण और सारसंक्षेप के अतिरिक्त प्रत्येक धातु के दसों लकारों की रूपमाला सिद्धिसहित दिखाई गई है। चार सौ से अधिक सार्थ उपसर्गयोग तथा उनके लिये विशाल संस्कृतसाहित्य से चुने हुए एक सहस्र से अधिक उदाहरणों का अपूर्व संग्रह प्रस्तुत किया गया है। लगभग डेढ हजार रूपों की समूल सिद्धि और एक सौ के करीब शास्त्रार्थ और शङ्का-समाधान इस में दिये गये हैं। अनुवादादि के सौकर्य के लिये छात्रोपयोगी णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, भावकर्म आदि प्रक्रियाओं के अनेक शतक और संग्रह भी अर्थसहित दिये गये हैं। अन्त में अनुसन्धानोपयोगी छह प्रकार के परिशिष्ट दिये गये हैं। सुन्दर, बढिया, जिल्द तथा पक्की सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है। यह भाग (२३ × ३६)—१६ आकार के ७५० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। मूल्य केवल तीन सौ रुपये (Rs 300/- Only)

### (३) लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या (तृतीय भाग)

इस भाग में कृदन्त और कारक प्रकरणों का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सुप्रसिद्ध कृत्प्रत्ययों के लिये कई विशाल शब्दसूचियां अर्थ तथा समूल-

टिप्पणों के साथ बड़े यत्न से गुम्फित की गई हैं, जिनमें अढ़ाई हजार से अधिक शब्दों का अपूर्व संग्रह है। प्रायः प्रत्येक प्रत्यय पर संस्कृतसाहित्य में से अनेक सुन्दर सुभाषितों या सूक्तियों का संकलन किया गया है। कारकप्रकरण लघुकौमुदी में केवल सोलह सूत्रों तक ही सीमित है जो स्पष्टतः बहुत अपर्याप्त है। भैमीव्याख्या में इन सोलह सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करते हुए अन्त में अत्यन्त उपयोगी लगभग पचास अन्य सूत्र-वार्तिकों की भी सोदाहरण सरल व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार कुल मिलाकर कारकप्रकरण ५६ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। अनेक प्रकार के उपयोगी परिशिष्टों सहित यह भाग लगभग चार सौ पृष्ठों में समाश्रित हुआ है। पूर्ववत् अङ्ग्रेजी पक्की सिलाई, स्क्रीनप्रिंटिड आकर्षक जिल्द। मूल्य केवल एक सौ बीस रुपये (Rs. 120/-)।

## (४) लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या (चतुर्थ भाग)

भैमीव्याख्या के इस चतुर्थ भाग में समासप्रकरण का अत्यन्त विस्तार के साथ लगभग तीन सौ पृष्ठों में विवेचन प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थगत प्रत्येक प्रयोग के लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के विग्रह निर्दिष्ट कर उस की सूत्रों द्वारा अविकल साधनप्रक्रिया दर्शाई गई है। मूलोक्त उदाहरणों के अतिरिक्त सैकड़ों अन्य नवीन उदाहरणों को विशाल संस्कृतसाहित्य से चुन-चुन कर इस व्याख्या में गुम्फित किया गया है। इस प्रकार इस व्याख्या में बारह सौ से अधिक समासोदाहरण सगृहीत किये गये हैं। साहित्यिक उदाहरणों के स्थलनिर्देश भी यथासम्भव दे दिये गये हैं। प्रबुद्ध विद्यार्थियों के मन में स्थान स्थान पर उठने वाली दो सौ से अधिक शङ्काओं का भी इस में यथास्थान समाधान किया गया है। जगह जगह उपयोगी पादटिप्पण (फुटनोट्स) दिये गये हैं। मूलगत सूत्रवार्तिक आदियों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी कई अन्य सूत्रवार्तिक आदियों का भी इसमें सोदाहरण व्याख्यान किया गया है। लघुकौमुदी के अशुद्ध या भ्रष्ट पाठों पर भी अनेक टिप्पण दिये गये हैं। व्याख्याकार की सूक्ष्मेक्षिका, स्वाध्याय-निपुणता तथा कठिन से कठिन विषय को भी नपे-तुले शब्दों में समझा देने की अपूर्व क्षमता इस व्याख्या में पदे पदे परिलक्षित होती है। समासप्रकरण पर इतनी विस्तृत व्याख्या आज तक लिखी ही नहीं गई। इस से विद्यार्थिवर्ग और अध्यापकवृन्द दोनों जहां लाभान्वित होंगे वहां अनुसन्धानप्रेमियों को भी प्रचुर अनुसन्धानसामग्री प्राप्त होगी। विद्वान् लेखक ने सततोद्योगी हो कर दो वर्षों के कठोर परिश्रम से सैकड़ों ग्रन्थों का मन्थन कर इस भाग को तैयार किया है। अन्त में विविध परिशिष्टों से इस ग्रन्थ को विभूषित किया गया है। व्याख्यागत बारह सौ उदाहरणों की समासनामनिर्देशसहित बनी वर्णानुक्रमणी इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषताओं में एक समझी जायेगी। इस के सहारे सम्पूर्ण समासप्रकरण की आवृत्ति करने में विद्यार्थियों को बहुत सुविधा रहेगी। ग्रन्थ में यथास्थान अनेक अभ्यास दिये गये हैं। समीक्षकों का कहना है कि यदि इन अभ्यासों को सुचारु रूप में हल कर लिया जाये तो विद्या-

विषयों को सिद्धान्तकौमुदी या काशिका में समासप्रकरण को समझने का स्वत सामर्थ्य प्राप्त हो सकता है। (२३×३६)—१६ साइज के लगभग तीन सौ पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है। साफ सुथरी शुद्ध छपाई, पक्की सिलाई तथा सुन्दर स्क्रीन प्रिंटिड जिल्द से यह ग्रन्थ और भी अधिक आकर्षक बन गया है। मूल्य एक सौ बीस रुपये मात्र (Rs 120/-)।

## (५) लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या (पञ्चम भाग)

इस भाग में लघुसिद्धान्तकौमुदी के तद्धितप्रकरण की अतीव सरल ढंग से सविस्तार व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रत्येक सूत्र की व्याख्या के बाद हर एक उदाहरण का विग्रह, अर्थ तथा विशद सिद्धि इस में दर्शाई गई है। मूलगत उदाहरणों के अतिरिक्त साहित्यगत विविध उदाहरणों से भी यह ग्रन्थ विभूषित है। पठन-पाठन में उठने वाली प्रत्येक शङ्का का इस में समाधान किया गया है। मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त भी छात्रोपयोगी अनेक सूत्रों की इस में व्याख्या दर्शाई गई है। यत्र-तत्र यत्न से अभ्यास निबद्ध किये गये हैं जिन की सहायता से सारा प्रकरण दोहराया जा सकता है। अन्त में अनेक परिशिष्टों के अतिरिक्त उदाहरणसूची वाला परिशिष्ट इस ग्रन्थ का विशेष आकर्षण है। मूल्य दो सौ पचास रुपए।

## (६) लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या (षष्ठ भाग)

इस भाग में लघुकौमुदी के स्त्रीप्रत्ययप्रकरण की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रत्येक सूत्र की विशद व्याख्या के अनन्तर तद्गत प्रत्येक प्रयोग की विस्तृत सिद्धि तथा अनेकविध उदाहरण प्रत्युदाहरणों एवं शङ्कासमाधानों से यह भाग विभूषित है। मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी अन्य भी अनेक सूत्र और वार्तिक इस में सोदाहरण व्याख्यात किये गये हैं। जगह जगह साहित्यिक उदाहरण ढूंढ ढूंढ कर सकलित किये गये हैं। 'स्वाङ्ग' और 'जाति' सरीखे पारिभाषिक शब्दों तथा अन्य कठिन स्थलों की सरलभाषा में विस्तार के साथ विवेचना की गई है। दूसरे शब्दों में ग्रन्थ का कोई भी व्याख्येयांश बिना व्याख्या के अछूता छोड़ा नहीं गया। पठितविषय की आवृत्ति के लिये यत्र-तत्र अनेक अभ्यास दिये गये हैं। नानाविध सूचीपरिशिष्टों विशेषत प्रत्ययनिर्देशसहित दी गई उदाहरणसूची से इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। अन्त में स्त्रीप्रत्ययसम्बन्धी एक सौ से अधिक पद्यबद्ध अशुद्धियों का सहेतुक शोधन दर्शा कर सूत्रों के प्रति विद्यार्थियों की जागरूकता को प्रबुद्ध करने का विशेष प्रयत्न किया गया है। अनुसन्धानप्रेमी जनों के लिये भी दर्जनों महत्त्वपूर्ण टिप्पण जहां तहां दिये गये हैं। कई स्थानों पर पाणिनीतरव्याकरणों का आश्रय ले कर भी विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। वस्तुत इतनी विशद सर्वाङ्गीण व्याख्या स्त्रीप्रत्ययप्रकरण पर पहली बार प्रकाशित हुई है। (२३×३६)—१६ साइज के डेढ़ सौ से अधिक पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है। सुन्दर शुद्ध छपाई, बढ़िया स्क्रीन-प्रिंटिड जिल्द तथा पक्की सिलाई से यह ग्रन्थ और भी चमत्कृत हो उठा है। मूल्य

साठ रुपये मात्र (Rs. 160/-)।

नोट—अब लघुकौमुदी भैमीव्याख्या के सब खण्ड मुद्रित हो चुके हैं।

(७) अव्ययप्रकरणम्। लघुकौमुदी का अव्ययप्रकरण भैमीव्याख्यासहित पृथक् भी छपवाया गया है। इसमें लगभग सवा पाञ्च सौ अव्ययों का सोदाहरण साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक अव्यय पर वैदिक वा लौकिक संस्कृतसाहित्य से अनेक सुन्दर सुभाषितों वा सूक्तियों का संकलन किया गया है। कठिन सूक्तियो का अर्थ भी साथ में दे दिया गया है। आज तक इतना शोधपूर्ण परिश्रम इस प्रकरण पर पहली वार देखने में आया है। साहित्यप्रेमी विद्यार्थियों तथा शोध में लगे जिज्ञासुओं के लिये यह ग्रन्थ विशेष उपादेय है। सुन्दर अंग्रेजी सिलाई, आकर्षक जिल्द। मूल्य केवल पैंच्चीस रुपये। (Rs. 25/-)

(८) **वैयाकरण-भूषणसार (धात्वर्थनिर्णय) भैमीभाष्य**। इस हिन्दी भाष्य से इस ग्रन्थ की दुरूहता समाप्त हो गई है। अब परीक्षा में भूषणसार की पंक्तियों को रटने की कोई आवश्यकता नहीं रही। सरल भाषा में लिखे इस ग्रन्थ का एक वार पारायण करना ही पर्याप्त है। देश-विदेश में समानरूप से आदृत यह ग्रन्थ विद्वत्समाज में अपना गौरवपूर्ण स्थान पा चुका है। मूल्य : डेढ़ सौ रुपये (Rs 150/- Only)

(९) **बालमनोरमा-भ्रान्ति-दिग्दर्शन**। यह निवन्ध विद्वत्समाज की आंखों को खोलने वाला विलक्षण शोधपत्र है। एक वार पढ़ जाइये, ज्ञानवृद्धि के साथ-साथ आप का मनोरञ्जन भी होगा। मूल्य केवल दस रुपये। (Rs. 10/-)

(१०) **प्रत्याहारसूत्रों का निर्माता कौन ?** इति माहेश्वराणि सूत्राणि—के अन्धविश्वासरूप तिमिर से मुक्त होने के लिये यह शोधपत्र प्रत्येक जिज्ञासु के लिये संग्रहणीय, मननीय तथा अभ्यसनीय है। अश्रुतपूर्व अनेक प्रमाणों के आलोक में निश्चय ही वर्षों से छाया इस विषय का अज्ञान मिट जायेगा। मूल्य केवल पच्चीस रुपये (Rs. 25/-)। 102321

(११) **न्यास-पर्यालोचन**। यह ग्रन्थ व्याकरणसम्बन्धी सैकड़ों अश्रुतपूर्व विषयों का आगार है। इस प्रकार का शोधपूर्ण प्रयत्न व्याकरणविषय पर प्रथम वार प्रकाशित हुआ है। इस के विषयवार वैशिष्ट्य के लिये पुस्तकसूची देखें। स्क्रीन प्रिंटिड सुन्दर जिल्द, पक्की अङ्ग्रेजी सिलाई। मूल्य केवल एक सौ पचास रुपये।

संस्कृत के छात्र, विद्वज्जन एवं अध्यापक लघुसिद्धान्तकौमुदी (भैमीव्याख्या) के सभी छह भाग 25% की विशेष छूट के साथ 750.00+25.00 (डाकव्यय) = 775.00 का मनीआर्डर भेजकर सीधे हमसे मंगवा सकते हैं—




**भैमी प्रकाशन**
**५३७, लाजपतराय मार्केट,**
**दिल्ली-११०००६**